भारत में

अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद

खण्ड · दो

रामविलास शर्मा

भूमिका

अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध से लेकर बीसवीं सदी मे प्रथम विश्वयुद्ध तक दुनिया का सबमे विकसित पूँजीवादी देश ब्रिटेन था। यूरप के देशों मे ब्रिटेन का साम्राज्य दुनिया का सबसे बडा साम्राज्य था और इस साम्राज्य का सबमे महत्वपूर्ण देश था भारत। मार्क्स ने जिस पूँजीवाद का विवेचन किया था, वह मुख्यतः ब्रिटिश पूँजीवाद था। इससे जाहिर है कि मार्क्सवाद को समझने के लिए भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों का ज्ञान आवश्यक है और इन सम्बन्धों के ज्ञान के लिए मार्क्सवाद की जानकारी आवश्यक है।

ब्रिटेन ने कारखानों मे भाप से चलनेवाली मशीनें लगाकर जब आधुनिक उद्योगधन्धों का विकास किया, तब उसके पास एक विशाल साम्राज्य पहले से मौजूद था। इस साम्राज्य के सबसे महत्वपूर्ण देश भारत की लूट से औद्योगिक विकास के लिए उसे आवश्यक पूँजी सुलभ हुई, कारखानों के लिए आवश्यक कच्चे माल के स्रोत उसे भारत मे सुलभ हुए और तैयार माल की खपत के लिए यहाँ उसे बाजार भी सुलभ हुआ। ब्रिटेन का साम्राज्य उद्योगपतियो ने नही, वहाँ के व्यापारियों और जमीदारो ने कायम किया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापारियों की कम्पनी थी किन्तु वह ब्रिटिश राज्यसत्ता की सहायता के बिना साम्राज्य का निर्माण न कर सकती थी और राज्यसत्ता पर अधिकार मुख्य रूप से जमीदारों का था। इसलिए यह कहना सही है कि साम्राज्य का निर्माण ब्रिटिश व्यापारियो और जमीदारों ने किया। ब्रिटेन ने जब औद्योगिक पूँजीवाद के युग में प्रवेश किया, तब जमींदारों का वर्ग समाज का फालतू वर्ग बन गया। सामान्य विकास की दशा में उद्योगपति जमीदार वर्ग के विशेषाधिकार समाप्त करके उसे राज्यसत्ता से अलग कर देते पर ऐसा हुआ नहीं। कारण यह था कि ब्रिटिश जमीदार साम्राज्य के मालिक थे और इस मिल्कियत के बल पर वे उद्योगपतियों को छोटी-मोटी रिआयतें देकर सन्तुष्ट कर देते थे, राज्यसत्ता पर अधिकार करने का उन्हें अवसर न देते थे। चर्च, फौज और साम्राज्य, इन तीनों मे शक्ति के मुख्य सूत्र जमीदारों के हाथ मे थे।

ब्रिटेन की राज्यसत्ता को जनतान्त्रिक रूप देने के लिए १८३५ में वहाँ के मज़दूरों ने अपना शक्तिशाली चार्टिस्ट आन्दोलन शुरू किया। उद्योगपतियों ने इस आन्दोलन का उपयोग जमींदारों पर दबाव डालने के लिए किया। मज़दूरों के साथ मिलकर उन्होंने प्रतिक्रियावादी जमींदार वर्ग को परास्त नहीं किया, उन्होंने राज्यसत्ता में भागीदार बनने के लिए कुछ और रिआयतें प्राप्त कीं और उस वर्ग से उन्होंने समझौता किया। इस पर मज़दूरों से उनका अन्तर्विरोध बढ़ता और मज़दूर ज़मींदार वर्ग को सत्ता से हटाने के साथ-साथ उसके पूँजीपति-सहयोगियों को भी पंगु बना देते। किन्तु सत्तासम्बन्धी रिआयतें पाने के साथ उद्योगपतियों ने साम्राज्य की लूट में हिस्सा बँटाना शुरू किया और अपनी लूट से एक छोटा हिस्सा मज़दूरों में बाँटना शुरू किया। नतीजा यह कि १८४८ में जब फ्रान्स और जर्मनी में क्रान्तिकारी उभार आया, तब ब्रिटेन के मज़दूर शान्त रहे। मार्क्स ने पता लगाया था कि ब्रिटिश मज़दूरों में भ्रष्टाचार की शुरूआत १८४८ में हुई थी। यदि साम्राज्य न होता तो चार्टिस्ट आन्दोलन और भी शक्तिशाली होता और ब्रिटेन में क्रान्ति अवश्य होती किन्तु पूँजीपतियों की लूट में यदि मज़दूर भी हिस्सा पाने लगे हों तो क्रान्ति कौन करे? जब तक साम्राज्य था, तब तक ब्रिटेन में क्रान्ति की कोई सम्भावना नहीं थी। ब्रिटिश मज़दूरों की मुक्ति के लिए पराधीन देशों की जनता का मुक्त होना ज़रूरी था।

साम्राज्य का मालिक ब्रिटेन का ज़मींदार वर्ग था, इसका प्रमाण १८५३ में लिखा हुआ मार्क्स का 'इण्डिया' शीर्षक लेख है। ब्रिटेन का शासक जमींदार वर्ग ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर जल्दी ही बहाल कर लेना चाहता था। कारण यह था कि उसके मन में यह प्रबल इच्छा थी कि "यदि उसके कमज़ोर और लोभी हाथों से इंग्लैण्ड जल्दी निकल भी जाय, तो उसे और उसके साथियों को यह विशेष अधिकार रहे कि वे बीस साल की अवधि तक भारत को लूटते रहें।" इस ज़मींदार वर्ग पर मज़दूर आन्दोलन का दबाव डालकर ही उद्योगपति अपने लिए अधिकार प्राप्त कर सकते थे, इसका प्रमाण १८८५ में लिखा हुआ एंगेल्स का लेख है जो उनकी पुस्तक **इंग्लैण्ड के मज़दूर वर्ग की दशा** में उद्धृत है। इसमें एंगेल्स ने लिखा था कि उद्योगपति यह सीख गये हैं और बराबर सीखते जा रहे हैं कि "मध्यवर्ग [उद्योगपति] जाति (नेशन) के ऊपर पूरी सामाजिक और राजनीतिक प्रभुता मज़दूर वर्ग की सहायता के बिना कभी प्राप्त नहीं कर सकता।"

ज़मींदार पूँजीपतियों को किस तरह रिआयतें देते हैं, इसके बारे में मार्क्स ने इंग्लैण्ड के चुनावों का विश्लेषण करते हुए १८५२ में लिखा था: अंग्रेज़ भूसम्पत्ति का [अर्थात् ज़मींदारों का] सबसे पुराना, घमण्डी, अमीर, हिस्सा ह्विग पार्टी में है। यह पार्टी चाहती है कि शासन का इजारा उसके हाथ में रहे, पूँजीपतियों को वह ऐसी रिआयतें दे जिन्हें दिये बिना अब काम नहीं चल सकता। १८५५ में ब्रिटिश मज़दूरों ने एक विशाल चर्च-विरोधी प्रदर्शन किया था। मार्क्स ने इसका जो आँखों देखा हाल लिखा था, उसमें उन्होंने जमींदारों, पूँजीपतियों और पादरियों के गठबन्धन की आलोचना की थी।

अनेक मार्क्सवादी और गैरमार्क्सवादी विद्वान् १८५७ की लड़ाई में भारत की

पराजय का विवेचन करते हुए यह मानकर चलते हैं कि ब्रिटेन में उद्योगपतियों का शासन था और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राज उद्योगपतियों का राज था। किन्तु मार्क्स नवम्बर १८६६ में कुगेलमन को लिख रहे थे, मज़दूरों के उद्धार की पहली शर्त है अंग्रेज़ ज़मींदारों के गुट को पराजित करना। यदि ब्रिटेन में सत्ता उद्योगपतियों के हाथ में होती तो मार्क्स ज़मींदारों के गुट को पराजित करने की बात क्यों लिखते ? ब्रिटेन के मज़दूरों का नैतिक पतन भ्रष्टाचार के दौर में १८४८ से होता गया, यह बात मार्क्स ने १८७८ में लीब्कनेख्ट को लिखी थी। भ्रष्टाचार थोड़े-से मज़दूरों में नहीं लगभग पूरे मज़दूर वर्ग में है, यह बात १८८५ के उस लेख में एंगेल्स ने कही थी जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है। ब्रिटिश मज़दूरों की मुक्ति आयरलैण्ड की राष्ट्रीय स्वाधीनता पर निर्भर है, यह बात मार्क्स ने १८६७ से १८७० तक अनेक पत्रों में कही थी।

ब्रिटेन में राज्यसत्ता मुख्य रूप से ज़मींदार वर्ग के हाथ में है, उद्योगपति मज़दूर आन्दोलन का दबाव डालकर उससे रिआयतें हासिल करते हैं, उससे सत्ता नहीं छीन लेते, ज़मींदारों और पादरियों से वे गठबन्धन करते हैं, साम्राज्य की लूट में ज़मींदारों और उद्योगपतियों का बड़ा हिस्सा है, छोटा हिस्सा मज़दूरों को मिलता है, ब्रिटिश मज़दूर क्रान्ति नहीं कर सकते, उनकी मुक्ति के लिए आयरलैण्ड जैसे देशों का स्वाधीन होना ज़रूरी है—ये मान्यताएँ मार्क्स और एंगेल्स की प्रसिद्ध रचना **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में नहीं हैं किन्तु वे मार्क्स और एंगेल्स की बहुत महत्वपूर्ण स्थापनाएँ हैं। उन्हें मार्क्सवाद की बुनियादी स्थापनाओं के रूप में स्वीकार करना चाहिए। **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** मार्क्स और एंगेल्स के चिन्तन की एक मंज़िल है, वह उसकी अन्तिम मंज़िल नहीं है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने पिछड़ी हुई जातियों के बारे में लिखा था : जैसे पूँजीपति वर्ग ने देहात को शहर के अधीन कर दिया है, वैसे ही उसने किसानों की जातियों को पूँजीपतियों की जातियों के अधीन कर दिया है, पूर्व को पश्चिम के अधीन कर दिया है। अपनी इसी धारणा के अनुरूप मार्क्स ने १८५३ में भारत के बारे में लिखा था कि अंग्रेज़ों ने यहाँ के ग्राम-समाजों का पुराना ढाँचा तोड़ा, व्यक्तिगत भूसम्पत्ति का चलन किया; भारतीय साधनों का उपयोग करने के लिए ब्रिटिश पूँजीवाद बाध्य है कि यातायात और परिवहन-व्यवस्था का विकास करे, कुछ मशीनी उद्योग कायम करे, कच्चा माल जुटाने के लिए सिंचाई आदि की व्यवस्था करे। ये सामाजिक विकास के नये साधन होंगे जिनका उपयोग स्वतन्त्र होने पर भारत कर सकेगा। मार्क्स ने आगे चलकर ये स्थापनाएँ बदल दीं। १८५८ में उन्होंने भारत की करव्यवस्था पर लेख लिखा और बताया कि ऊपर से जो करव्यवस्था हल्की जान पड़ती है, वह आम भारतीय जनता को कुचलकर धूल में मिला देती है; टैक्सों के ज़रिये जो रकम वसूल की जाती है, उसका कोई हिस्सा सार्वजनिक उपयोग के कामों पर [सिंचाई-व्यवस्था आदि पर] खर्च नहीं किया जाता।

मार्क्स ने करव्यवस्था का जो विवेचन किया, उससे निष्कर्ष यह निकला कि अंग्रेज़ भारत के सामाजिक विकास के लिए आवश्यक सार्वजनिक उपयोग के कामों

पर यहाँ की जनता से वसूल किया हुआ धन खर्च न कर रहे थे। अंग्रेज़ों ने भारत की लूट को सुगम बनाने के लिए यहाँ रेलतार की व्यवस्था कायम की। इस उपलब्धि का डंका डलहौज़ी ने पीटा था। १८८० के लगभग भारतीय इतिहास पर टिप्पणियों में मार्क्स ने लिखा था : इस डींग हाँकने का जवाब थी सिपाही क्रान्ति। कच्चा माल निर्यात करनेवाले देशों में रेल चलायी जाय तो जनता की मुसीबतें बढ जाती है, यह बात मार्क्स ने १८७६ मे दानियलसन को लिखी थी। फिर उन्होने भारत के विशेष सन्दर्भ मे दानियलसन को ही १८८१ में लिखा था कि अंग्रेज़ रेलो से सालाना लाभांश प्राप्त करते हैं पर ये रेलें हिन्दुओं के लिए बेकार हैं। इस प्रकार अंग्रेज़ जिस कारगुज़ारी का डंका सबसे ज्यादा पीटते थे, उसी को मार्क्स ने भारतीय जनता के लिए हानिकर और व्यर्थ बताया था।

भारतीय जनता स्वयं अपना औद्योगिक विकास न कर पा रही थी क्योंकि उसकी सम्पदा का अपहरण साल दर साल अंग्रेज बहुत बड़े पैमाने पर करते जा रहे थे। सम्पदा का अपहरण रोको, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में यह भारतीय राजनीतिज्ञों की मुख्य माँग थी। मार्क्स ने इस अपहरण का ब्यौरा देते हुए १८८१ मे दानियलसन को लिखा था : भारत के छह करोड़ खेतिहर और औद्योगिक मजदूरों की कुल आय जितनी होती है, उससे यह अपहरण की जानेवाली सम्पदा ज्यादा होती है। कोई आश्चर्य नही कि मार्क्स ने १८८१ में वीरा ज़सूलिच को (पत्र के तीसरे मसौदे मे) लिखा कि अंग्रेज़ो ने भारतवासियों को प्रगति की राह पर आगे बढाने के बदले पीछे ठेल दिया है। भारत मे साम्राज्यविरोधी क्रान्ति हो तो इससे ब्रिटेन और यूरुप के मज़दूरों को लाभ होगा, इस बारे मे एंगेल्स ने सन्देह की गुंजाइश नही छोड़ी। १८८२ में उन्होंने काट्स्की को लिखा था : भारत शायद क्रान्ति करेगा; सचमुच इसकी सम्भावना बहुत है। अनेक प्रकार के विनाश के बिना वह क्रान्ति सम्पन्न न होगी पर इस तरह की चीजें सभी क्रान्तियों में होती हैं। यह बात अन्यत्र भी हो सकती है यथा अल्जीरिया और मिस्र मे, और हमारे लिए वह सबसे बढ़िया चीज़ होगी।

मार्क्स की धारणाएँ जैसे भारत के बारे में बदली थीं, वैसे ही आयरलैंण्ड के बारे में बदली थी। एंगेल्स ने इंग्लैण्ड के मजदूर वर्ग की दशा (१८४५) पुस्तक मे लिखा था : अशिक्षित आइरिश जनों को अपने सबसे बड़े शत्रु अंग्रेज जान पड़ते हैं और सुधार की आशा उन्हें सबसे पहले राष्ट्रीय स्वाधीनताप्राप्ति मे दिखायी देती है। आयरलैंण्ड की मुसीबत [ब्रिटेन से] गँठबन्धन को रद्द करनेवाले किसी कानून से दूर न होगी। इससे ठीक उल्टी बात मार्क्स ने १८६७ मे एंगेल्स को लिखी थी : [ब्रिटेन और आयरलैंण्ड के] गँठबन्धन को रद्द करना अंग्रेज़ मजदूरों की घोषणा का मुद्दा होना चाहिए। मार्क्स इस समस्या पर बरसों तक सोचते रहे थे और बहुत सोच विचार के बाद उन्होंने अपनी धारणा बदली थी, यह बात उन्होने १८७० मे मेयर और फ़ोग्ट को लिखी थी : "अनेक वर्षों तक आयरलैण्ड के प्रश्न का अध्ययन करने के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि अंग्रेज़ शासक वर्गों पर निर्णायक प्रहार (और वह सारी दुनिया के मजदूर आन्दोलन के लिए निर्णायक होगा), इग्लैण्ड मे नही, केवल आयरलैण्ड मे किया जा सकता है।" यदि विश्व

मजदूर आन्दोलन के लिए आयरलैण्ड के स्वाधीनता संग्राम का यह महत्व हो सकता था, तो भारत के स्वाधीनता सग्राम का महत्व उसके लिए कम निर्णायक न हो सकता था।

विश्व मजदूर आन्दोलन के लिए जो बात निर्णायक महत्व की हो, उसे मार्क्स-वाद की केन्द्रीय विषयवस्तु मानना उचित होगा। होना यह चाहिए था कि पूंजी-पतियों के विरुद्ध ब्रिटिश मजदूरों के संघर्ष का महत्व निर्णायक हो, कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे ऐसे ही संघर्ष के महत्व को निर्णायक माना गया है, किन्तु हुआ यह कि साम्राज्य की लूट मे हिस्सा पाकर मजदूर संघर्ष से दूर भागने लगे, तब निर्णायक महत्व के संघर्ष की भूमि भी बदल गयी। ऐसा होना अनिवार्य था। क्योंकि औद्योगिक पूंजीवाद साम्राज्य के आधार पर पनपा था, उसके भरोसे टिका हुआ था और उसके बल पर मजदूरों को क्रान्तिविमुख करने में सफल हो रहा था। मार्क्स और एंगेल्स ने आयरलैण्ड और भारत से सम्बन्धित अपनी स्थापनाओं मे जो परिवर्तन किया, वह ऐसा परिवर्तन नही है जो मार्क्सवादी विचारधारा के केन्द्र से दूर किन्ही गौण मुद्दों को लेकर हो रहा हो, उसका सीधा सम्बन्ध औद्योगिक पूंजी-वाद से है जिसके विवेचन में मार्क्स ने जीवन का अधिकांश समय लगाया था।

सिद्धान्त की बात यह है कि पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति सामन्ती उत्पादन-पद्धति से बढकर है, इस पद्धति को चालू करके पूंजीपति वर्ग पुराने समाज का ढाँचा बदलता है। सामाजिक विकास के नियम ऐसे है कि वे पूंजीपति वर्ग को बाध्य करते हैं कि वह सर्वहारा क्रान्ति के लिए परिस्थितियाँ तैयार करे और जब ये परिस्थितियाँ तैयार हो जाती है, तब सर्वहारा वर्ग क्रान्ति द्वारा पूंजीवादी-व्यवस्था को समाप्त कर देता है। किन्तु व्यवहार मे पूंजीपति वर्ग काफी निकम्मा साबित हुआ, १८४८ मे ही पूंजीवादी क्रान्ति के उभार के दौरान जर्मन पूंजीपतियो ने साबित कर दिया कि वे अपने वर्गहित के खिलाफ जमींदारो से समझौता करने को तैयार है। उन्हे डर था कि फ्रान्स के मजदूरो की देखादेखी कही जर्मन मजदूर भी सत्ता के लिए संघर्ष न शुरू कर दें। अपने अभ्युदयकाल में औद्योगिक पूंजी-पतियो ने अपने वर्गहित के खिलाफ शत्रु से समझौता करने की प्रवृत्ति दिखायी थी, यह बात भारतीय पूंजीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सम्बन्धो का विवेचन करते समय याद रखनी चाहिए। यदि उद्योगपति जमींदारो से समझौता करेंगे तो सामन्ती अवशेष कायम रहेगे, समाज मे वह व्यापक परिवर्तन न होगा जिससे सर्वहारा क्रान्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार होती है, सर्वहारा वर्ग समाज का बहुसंख्यक वर्ग न बन पायेगा, वह जो क्रान्ति करेगा वह विशुद्ध समाज-वादी क्रान्ति न होगी, उसका लक्ष्य पूंजीवादी क्रान्ति के बचे हुए कार्यों को भी पूरा करना होगा, यह क्रान्ति वह अकेले पूरी न कर सकेगा, उसे पूरा करने मे किसानों का सहयोग आवश्यक होगा।

घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने किसानों के लिए लिखा था कि वे मध्य-वर्ग के अग है, अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए वे पूंजीपति वर्ग से लड़ते हैं, वे इतिहास के रथ को पीछे ठेल देना चाहते है, इसलिए वे प्रतिक्रियावादी हैं। घोषणा-पत्र के दो साल बाद एंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक जर्मनी में किसानयुद्ध लिखी।

जिस किसानयुद्ध का वर्णन उन्होंने किया है, वह सोलहवीं सदी में सामन्तों के विरुद्ध हुआ था। १८४८ के क्रान्तिकारी उभार की असफलता के बाद देश में फैली हुई पस्ती दूर करने के लिए एंगेल्स ने 'महान् किसानयुद्ध' के 'अनगढ किन्तु जबर्दस्त जीवटवाले वीरों' का चित्रण किया था। १८५६ में इसी किसानयुद्ध को स्मरण करते हुए मार्क्स ने एंगेल्स को लिखा था : "जर्मनी में सबकुछ इस सम्भावना पर निर्भर है कि सर्वहारा क्रान्ति की पिछली पाँति की रक्षा किसानयुद्ध के दूसरे संस्करण से हो पाती है या नहीं।" घोषणापत्र लिखने के कुछ ही समय बाद मार्क्स और एंगेल्स के सामने यह स्पष्ट हो गया था कि किसानों के सहयोग के बिना सर्वहारा क्रान्ति सफल नहीं हो सकती। १८७० में किसानयुद्ध की भूमिका में एंगेल्स ने लिखा कि पूँजीपति वर्ग निकम्मा और कायर है, वह कुछ रिआयतें पाकर सामन्तों से समझौता करता है, मजदूर वर्ग जर्मन समाज का बहुसंख्यक वर्ग नहीं बन पाया, उसे छोटे किसानों और खेत मजदूरों का सहयोग प्राप्त करना चाहिए।

भारत और आयरलैण्ड जैसे पराधीन देशों के प्रति मार्क्स और एंगेल्स के चिन्तन में परिवर्तन हुआ, किसानों के प्रति उनके चिन्तन में परिवर्तन हुआ। दोनों तरह के परिवर्तन आपस में सम्बद्ध थे, दोनों का सम्बन्ध उद्योगपतियों की समझौतावादी नीति से था। जो वर्ग अपने ही देश में सामाजिक क्रान्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ न पैदा कर पाया था, वह दूसरे देशों में यह काम कैसे करता? घोषणापत्र लिखते समय मार्क्स और एंगेल्स की धारणा थी कि एशियाई समाज हजारों साल से स्थिर बने हुए हैं। वे एक ओर ग्राम समाजों में सामूहिक भूसम्पत्ति का चलन, अतः वर्गों का अभाव मानते थे, दूसरी ओर वे उनके ऊपर निरंकुश राज्यसत्ता का अस्तित्व भी मानते थे। वर्गों के बिना राज्यसत्ता का अस्तित्व नहीं होता। एंगेल्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता का उद्भव** में अनेक समाजों के इतिहास से उदाहरण देकर सिद्ध किया कि सामूहिक सम्पत्तिवाले गणसमाजों का विघटन होने पर ही राज्यसत्ता का अभ्युदय होता है और वह वर्ग-शोषण, वर्ग-उत्पीड़न कायम रखने के लिए आवश्यक होती है। उस पुस्तक में एशियाई निरंकुशता का उल्लेख नहीं है।

मार्क्स भारत के आर्थिक विकास के बारे में नये सिरे से सोच रहे थे, इसके प्रमाण उनकी भारतीय इतिहास सम्बन्धी टिप्पणियों में हैं। उन्होंने अकबर के समय की दिल्ली को संसार का सबसे बड़ा और समृद्ध नगर कहा था। दिल्ली शहर अकबर की राजधानी नहीं था, उसकी समृद्धि का कारण व्यापार था। इस टिप्पणियोंवाली पुस्तक में रूसी समाजशास्त्री कवालेव्स्की के आधार पर उन्होंने भारत में व्यक्तिगत भूसम्पत्ति के चलन का उल्लेख भी किया था। मार्क्स ने भारत के बारे में जो कुछ लिखा है, उसे मोटे तौर से तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। पहले हिस्से में १८५३ वाले लेख हैं (मास्को से प्रकाशित **ऑन कोलोनियलिज्म** नाम के संकलन में भारत सम्बन्धी १८५३ में लिखे हुए दस लेख हैं); दूसरे हिस्से में १८५७-५८ में लिखे हुए मार्क्स और एंगेल्स के लेख हैं (ये मास्को से प्रकाशित **दि फ़र्स्ट इण्डियन वार आफ इण्डिपेण्डेन्स** संकलन में हैं), और तीसरे हिस्से में भारतीय इतिहास पर टिप्पणियों की पुस्तक तथा उनके पत्रों और लेखों

में भारत की चर्चा है। मार्क्स और एंगेल्स के भारतसम्बन्धी विचारों का अध्ययन करते समय तीनों हिस्सों की सामग्री पर ध्यान देना जरूरी है। इसके साथ उनके आयरलैण्ड सम्बन्धी विवेचन को भी बराबर याद रखना चाहिए।

मार्क्स ने जहाँ उत्पादन की एशियाई पद्धति की चर्चा की है, वहाँ उन्होंने भारत के साथ आयरलैण्ड का नाम भी लिया है। **अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** पुस्तक में उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि एशियाई पद्धति का चलन एशिया तक सीमित नहीं है; पूँजी के प्रथम खण्ड में अपनी उक्त पुस्तक से एशियाई पद्धति के व्यापक चलनवाला अंश उद्धृत करके उन्होंने उसके प्रसार पर फिर जोर दिया था। अमरीकी आदिवासियों पर मार्गन की पुस्तक पढ़कर वह इस नतीजे पर पहुँचे थे कि एशिया और यूरुप के अलावा इस पद्धति का चलन प्राचीन अमरीका में भी था। सामूहिक सम्पत्तिवाले गणसमाजों की उत्पादन-पद्धति को उन्होंने एशियाई पद्धति का नाम दिया था। राज्यसत्ता के उद्‌भववाली पुस्तक में एंगेल्स ने एशियाई पद्धति की शब्दावली छोड़ दी थी। किन्तु पिछले दस पन्द्रह साल में एशियाई पद्धति की चर्चा काफी ज़ोर-शोर से उठायी गयी है। चर्चा उठानेवालों का मत है कि सामाजिक विकास के कोई सामान्य नियम नहीं हैं जो यूरुप की तरह एशिया पर भी लागू होते हों। यूरुप में भी पश्चिमी यूरुप का रास्ता अलग है, पूर्वी यूरुप का रास्ता अलग है; एशिया में जापान का रास्ता अलग है, बाकी एशिया का रास्ता अलग है। ये लोग जानते हैं कि अंग्रेज़ी राज कायम होने के समय भारतीय गाँवों में सामूहिक खेती न होती थी; सिन्धु घाटी की सभ्यता से लेकर अकबर-शाहजहाँ के ज़माने तक भारतीय सभ्यता की अनेक उपलब्धियों से वे परिचित हैं। वे भारतीय ग्राम-समाजों को (सामूहिक सम्पत्ति के बिना भी) निरंकुश राज्यसत्ता का आधार मान लेते हैं, भारत में सामन्तवाद का अस्तित्व अस्वीकार करते हैं, मानते हैं कि समाज का पुराना ढाँचा तोड़नेवाली शक्तियाँ भारत में नहीं थीं, पुराना ढाँचा तोड़ने और भारत को प्रगति की राह पर आगे ढकेलने का काम अंग्रेज़ों ने किया। मार्क्स और एंगेल्स ने इस मत के विरोध में जो बातें कही हैं, या तो ये लोग उनकी उपेक्षा करते हैं या फिर कहते हैं कि वे गलत हैं।

ये लोग आमतौर से सामन्तवाद की मार्क्सीय व्याख्या का हवाला नहीं देते। **पूंजी** (खण्ड-१) और **ऐन्टीडूर्यारिंग** में यह बात स्पष्ट कर दी गयी है कि सामन्ती उत्पादन छोटे पैमाने का उत्पादन है जिसका लक्ष्य मुख्य रूप से उपभोग की सामग्री तैयार करना होता है। छोटे पैमाने के उत्पादनवाले समाज में जब तक भूमि का केन्द्रीकरण न होगा, तब तक बड़े भूस्वामी—सामन्त—न होंगे। सामन्त बँधुआ मजदूरों से भी खेती कराते है पर बँधुआ मजदूरों का अस्तित्व अनिवार्य नहीं होता। सामन्ती व्यवस्था में अपनी भूमि के मालिक छोटे किसान हों, यह सम्भव है, ऐसे किसानों का अभाव हो, यह भी सम्भव है। एक ही कुटुम्ब किसानी करे और दस्तकारी भी करे (जैसे यूरुप में), यह सम्भव है; किसान-कुटुम्ब केवल किसानी करे और कारीगर-कुटुम्ब केवल दस्तकारी करे (जैसे भारत में), यह भी सम्भव है। बाप का पेशा बेटा अपनाये, यह सामन्ती व्यवस्था की विशेषता है और यही

जातिप्रथा का आधार है। गणव्यवस्था के टूटने पर समाज लघु जाति (नैशनैलिटी) के रूप में गठित होता है। गणव्यवस्था के सामूहिक सम्पत्तिवाले अवशेष सामन्ती व्यवस्था में कायम रहते हैं। सामन्तवाद की इन सारी विशेषताओं का उल्लेख मार्क्स और एंगेल्स की कृतियों—विशेष रूप से ऐन्टीड्यूरिंग—में देखा जा सकता है। इनके अध्ययन से सामन्तवाद के सामान्य लक्षणों और भिन्न देशों में उसकी पृथक् विशेषताओं का ज्ञान होगा। इस ज्ञान से एशियाई पद्धतिवाले प्रचार का खण्डन होगा, भारत के आर्थिक विकास को समझने में सहायता मिलेगी।

सामन्ती व्यवस्था सीमित विनिमय की व्यवस्था है। विनिमय के प्रसार के साथ वे परिस्थितियाँ पैदा होती हैं जिनमें उत्पादन की पद्धति को बदलना जरूरी हो जाता है। विनिमय का काम सौदागर करता है; अक्सर वह उत्पादन की पद्धति बदलने का निमित्त बनता है। वह कारीगर को पेशगी रुपया देकर माल तैयार होने से पहले ही उसका मालिक बन जाता है। अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भारत में इस ददनी प्रथा का चलन था। कारीगर चाहे पेशगी पैसा लेकर घर पर काम करें चाहे पगार पर कारखाने में काम करें, जब तक भाप से चलनेवाली मशीनों से काम नहीं लिया जाता, तब तक आर्थिक विकास की प्रमुख शक्ति व्यापारी होगा। इसीलिए औद्योगिक क्रान्ति से पहले के पूंजीवाद को व्यापारिक पूंजीवाद कहा जाता है। किन्तु कुछ विद्वानों की राय में पूंजीवाद तभी शुरू होता है जब कारखानों में भाप से चलनेवाली मशीनें लगा दी जाती हैं। इस हिसाब से १८वीं सदी की फ्रान्सीसी क्रान्ति भी पूंजीवादी क्रान्ति न थी क्योंकि उस समय फ्रान्स में मशीनों से उत्पादन शुरू न हुआ था। मार्क्स ने २२ जनवरी १८५८ के भारत सम्बन्धी लेख में 'इण्डियन कैपिटलिस्ट्स' और 'इण्डियन कैपिटल' शब्दों का प्रयोग किया था; यह प्रयोग गलत होना चाहिए क्योंकि तब तक भारत में मशीनोंवाले कारखाने लगाये न गये थे। व्यापारिक पूंजीवाद को 'वास्तविक' पूंजीवाद की परिधि से बाहर रखने का परिणाम यह होता है कि अंग्रेजी राज की वास्तविक विध्वंसकारी भूमिका छिपी रहती है। अंग्रेजों ने यहाँ सामूहिक सम्पत्तिवाले कबीलाई ग्राम समाजों का विध्वंस नहीं किया, उन्होंने यहाँ के प्रतिक्रियावादी सामन्तों से मिलकर उभरते हुए पूंजीवाद का विनाश किया, इस ऐतिहासिक सत्य को छिपाने का प्रयत्न बराबर किया जाता है।

११ जुलाई १८५३ के भारतसम्बन्धी लेख में मार्क्स ने लिखा था, "बहुत पुराने जमाने से भारत दुनिया के लिए सूती माल तैयार करनेवाला विशाल कारखाना था; अब वहाँ अंग्रेजी सूती माल तोप दिया गया है।" ("India, the great workshop of cotton manufacture for the world, since immemorial times, became now inundated with English twists and cotton stuffs.") जो देश सारी दुनिया के लिए सूती माल तैयार करता हो, वह केवल स्वायत्त ग्राम समाजों का देश तो न होगा। उपभोग के अलावा वह काफी बड़े पैमाने पर बिक्री के लिए माल पैदा करेगा, माल पैदा करने के केन्द्र होंगे और इन केन्द्रों में सैकड़ों कारीगर और व्यापारी एकत्र होंगे। व्यापारी होंगे

तो बाज़ार होंगे, घरेलू बाज़ार होंगे और अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार होंगे। बर्नियर ने बड़ी ईर्ष्या से लिखा था, "सोना चाँदी दुनिया के और सभी हिस्सों से घूम-फिरकर आखिर में हिन्दुस्तान में आकर जमा हो जाता है।" सोना चाँदी दुनिया के जिन हिस्सों मे घूमता था, वे सब एक ही अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार के अन्तर्गत थे। यूरुप वालों ने उत्तरी-दक्षिणी अमरीका का पता लगाया, बाकी दुनिया का अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार उनका कायम किया हुआ न था। इस बाज़ार से भारत का सम्बन्ध अंग्रेज़ों ने तोड़ा। बर्नियर ने लिखा था कि "बंगाल को यूरुप और एशिया का सूती रेशमी भण्डार कहा जा सकता है।" बंगाल का घरेलू बाज़ार यूरुप और एशिया के बाज़ारों मे जुड़ा हुआ था, इसलिए बंगाल यूरुप और एशिया का सूती रेशमी-भण्डार था। अंग्रेज़ों ने इस भण्डार को लूटा, बंगाल के उद्योगधन्धों और व्यापार को तबाह किया, बंगाल को भुखमरी का क्षेत्र बना दिया। भारत में जिस समय यूरुप के व्यापारी अपने पैर जमा रहे थे, उस समय आर्थिक विकास मे पिछड़ने की तो बात ही न थी, उद्योग और व्यापार में भारत यूरुप से अधिक विकसित था। विदेशी यात्रियों और व्यापारियों के दस्तावेजों की छानबीन करके अंग्रेज़ी राज के समर्थक मोरलैण्ड ने लिखा था, "मेरे विचार से इस बात मे सन्देह नहीं रह जाता कि उद्योगधन्धों के मामले में आज की तुलना में पश्चिमी यूरुप से भारत अपेक्षाकृत अधिक विकसित था।"

एक समय ऐसा भी था जब अनेक मार्क्सवादी विद्वान् स्वीकार करते थे कि अंग्रेज़ी राज कायम होने से पहले भारत मे पूंजीवादी विकास आरम्भ हो गया था। यह स्थापना मानवेन्द्रनाथ राय के लेखों में है, मेरठ मुकद्दमे के दौरान कम्युनिस्ट बन्दियों के बयान में है, रजनी पाम दत्त की पुस्तक **आज का भारत** मे है। अंग्रेज़ी राज कायम होने से पहले भारत मे आधुनिक जातियों का विकास हो रहा था, यह स्थापना पूरनचन्द जोशी के लेखों मे है। राय, दत्त और जोशी पूँजीवादी विकास के साथ अपरिवर्तनशील ग्राम समाजों की पटरी बिठाने की कोशिश करते थे। इस कोशिश से उनके चिन्तन मे अन्तर्विरोध पैदा हुए हैं। इन अन्तर्विरोधों से मेरठवाला बयान अपेक्षाकृत मुक्त है। जो लोग ग्रामसमाजों की अपरिवर्तनशीलता को भारतीय अर्थतन्त्र की मुख्य विशेषता मानते थे, वे १८५७ की लड़ाई को सामन्तों का प्रतिक्रियावादी संघर्ष भी मानते थे। भारत में जो औद्योगिक विकास हुआ, उसका श्रेय वे अंग्रेज़ों को देते थे। इसी चिन्तनदृष्टि से राय की प्रसिद्ध 'अनुपवेशीकरण' की स्थापना का जन्म हुआ था। इस स्थापना के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत को पिछड़ा हुआ न रखकर उसके औद्योगिक विकास में सहायता कर रहा था। अंग्रेज़ी राज १८५७ से पहले प्रगतिशील था, १८५७ के बाद भी प्रगतिशील बना रहा। पहले उसने समाज का पुराना ढांचा तोड़कर उद्योगीकरण के लिए ज़मीन साफ़ की, फिर साफ ज़मीन पर कारखाने लगाने के काम मे मदद देना भी शुरू कर दिया। इस मत के अनुसार भारत ने जो भी औद्योगिक प्रगति की थी, वह ब्रिटिश पूँजीवाद से अपने सम्बन्ध के कारण की थी; इसलिए यह स्वाभाविक था कि स्वाधीन होने के बाद अपने विकास के लिए भारत मुख्य रूप मे इसी सम्बन्ध का भरोसा करे। १७५७ में

पलासी की लड़ाई से लेकर १८५७ तक, फिर १८५७ से १९४७ तक, पुनः १९४७ से लेकर १९८२ तक, इन तीनों मंजिलों में भारत-ब्रिटेन सम्बन्धों के प्रति जो एक सामान्य धारणा बनी रही है, उसे पहचानना कठिन नहीं है। अतीत को लेकर जिन धारणाओं का प्रतिपादन ज़ोरशोर से किया गया, उनका असर वर्तमान और भविष्य के प्रति हमारी धारणाओं पर पड़ा है। इन धारणाओं का सारतत्व यह है कि भारत ने जो भी प्रगति की है, वह अंग्रेज़ों की सहायता के बल पर ही की है।

मानवेन्द्रनाथ राय ने अवसर परस्पर विरोधी बातें कही हैं किन्तु उनका मुख्य रुझान १९२० से ही राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के विरुद्ध मज़दूरों के वर्ग आन्दोलन को खड़ा करना था। भारतीय पूँजीपतिवर्ग में अनेक स्तर रहे हैं, इन सबको उन्होंने समान रूप से प्रतिक्रियावादी मानकर साम्राज्यविरोधी संघर्ष को गौण स्थान दिया और देशी पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष को मुख्य स्थान दिया। उनकी धारणाएँ सन् ४७ से पहले और बाद को भी अनेक रूपों में उभरकर सामने आयी हैं। कांग्रेस का नेतृत्व सुधारवादी रहा है, सन् २०-२१, सन् ३०-३४ में और सन् ४२-४७ में वह सुधारवादी था, सुसगत रूप से क्रान्तिकारी कभी नहीं था। सुधारवाद की विशेषता है साम्राज्यवाद पर जन-आन्दोलन का दबाव डालना, उसे किसानों की सामन्तविरोधी क्रान्ति न बनने देना, आन्दोलन हाथ से निकलने लगे तो उसका दमन करना, साम्राज्यवाद से रिआयतें पाकर उससे समझौता करना। कहाँ सुधारवाद खत्म होता है, कहाँ क्रान्तिविरोध शुरू होता है, यह भेद करना आसान नहीं होता। इस कारण कुछ मार्क्सवादियों के लिए पूँजीवादी नेतृत्व के सुधारवाद को क्रान्तिविरोध कहकर पेश करना बहुत कठिन नहीं होता। किन्तु इससे साम्राज्यविरोधी संग्राम की रणनीति और कार्यनीति दोनों पर असर पड़ता है।

सुधारवादी नेतृत्व के प्रभाव को खत्म करने का एक सुपरिचित तरीका यह है कि अल्पतम कार्यक्रम के आधार पर उसके साथ संयुक्त मोर्चा बनाया जाय और संघर्ष के दौरान उसकी ढुलमुल, समझौतावादी नीति का बराबर विरोध किया जाय। सुधारवादी नेतृत्व द्वारा चलाये हुए आन्दोलन से अलग रहकर, पूँजीवादविरोधी संघर्ष चलाकर स्वाधीनता-आन्दोलन में सर्वहारा नेतृत्व कायम करने का प्रयास सफल नहीं होता; खासतौर से जब कम्युनिस्ट पार्टी को किसानों का समर्थन प्राप्त न हो, तब ऐसा प्रयास उसे मज़दूरों से भी अलग-थलग कर देता है। ऐसा रुझान कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यवाही में सन् २५ से ३४ तक अक्सर दिखायी दिया था। सन् ३५ से कम्युनिस्ट पार्टी ने देशी पूँजीवाद और कांग्रेस के प्रति सही दृष्टिकोण अपनाया किन्तु सन् ३७ के बाद उसके नेतृत्व में दूसरी तरह का रुझान पैदा हुआ। उसने कांग्रेसी सुधारवाद से संघर्ष न करने, उसके पीछे चलने की प्रवृत्ति दिखायी। अंग्रेज़ों ने सन् ३५ के कानून के अनुसार चुनाव कराये, विभिन्न प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनवाकर उन्होंने कांग्रेस को संवैधानिकता के जाल में फँसाया। इस संवैधानिकता का सबसे महत्त्वपूर्ण और घातक पहलू वह था जो साम्प्रदायिकता और अलगाव की शक्तियों को बढ़ावा देकर स्वाधीनता आन्दोलन और श्रमिक जनता के वर्गसंगठनों को भीतर से तोड़नेवाला था। कांग्रेस के सामने

दो रास्ते थे : किसानों को मुख्य आधार मानकर समझौते की आशा किये बिना साम्राज्यविरोधी संघर्ष चलाये, अथवा पूँजीपतियो और मध्यवर्ग को मुख्य आधार मानकर सीमित आन्दोलन चलाये और साम्राज्यवाद के इशारे पर मुस्लिम लीग से समझौता करने पर विवश हो। कांग्रेस इस दूसरे रास्ते पर चली।

दक्षिणपन्थी और वामपन्थी अवसरवाद की बुनियादी रणनीति एक है, उसका परिणाम भी एक है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता के सघर्ष को रोकना—ऐम. एन. राय की विचारधारा का यह सारतत्व दूसरे महायुद्ध के दौरान अनेक रूपों में प्रकट हुआ। १९४८ मे कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने अनेक पुरानी भूलों की सही आलोचना की किन्तु यह आलोचना काफी नही थी। इस कांग्रेस मे सुधारवादी भटकाव पर अपनी रिपोर्ट मे बी. टी. रणदिवे ने कहा था : "जातियो की और आत्मनिर्णय के अधिकार की पहचान, इस समस्या पर स्पष्ट चिन्तन करने में योगदान पार्टी के लिए अत्यन्त मूल्यवान है। इस समस्या पर, जैसे कि अन्य मसलों पर भी, हमने बुनियादी तौर पर सही क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपनाया था किन्तु दुर्भाग्य से हम अवसरवादी ढंग से अधिकाधिक पूँजीपति वर्ग के पिछलगुए बनते गये, यहाँ तक कि विघटनकारी सुधारवाद के दलदल में गहरे जा फँसे।"

जारशाही रूस मे रूसी जाति उत्पीड़क थी; उसके उत्पीडन के विरुद्ध बोल्शेविकों ने सभी गैररूसी जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया था। भारत मे अंग्रेज जाति उत्पीडक थी; उसके विरुद्ध सभी भारतीय जातियो (अर्थात् समूचे राष्ट्र) के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करना उचित होता। किन्तु यहाँ आत्मनिर्णय के अधिकार की बात उठी थी हिन्दुओं के प्रभुत्व के भय से मुसलमानों की मुक्ति के नाम पर। इस सन्दर्भ मे जातीय आत्मनिर्णय की बात व्यर्थ थी क्योंकि कोई भारतीय जाति किसी अन्य देशी जाति के उत्पीडन से मुक्ति की माँग न कर रही थी। आत्मनिर्णय के अधिकार के समर्थन की परिणति होती थी राष्ट्र और जातियों के विघटन के समर्थन मे। केवल सन् ४२-४७ में नहीं, सन् ४८-४९ में भी सुधारवाद की विस्तृत आलोचना के बाद वैसी ही गलती दोहरायी गयी थी। १९४९ में कम्युनिस्ट पार्टी ने **कश्मीर में साम्राज्यवादी हमला** नाम से एक पुस्तिका प्रकाशित की। इसमे बताया गया है कि अमरीकी साम्राज्यवादी प्रयत्न कर रहे है कि "कश्मीर का बँटवारा किया जाय," "पंचनिर्णय के प्रस्ताव के पीछे असली इरादा कश्मीर का बँटवारा करना है," कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र जनयुग ने नारे बुलन्द किये है : "कश्मीर का बँटवारा न होने पाये, गिलगित न सौपा जाय!" यह सब लिखने पर भी पुस्तिका के अन्त में कहा गया है, "हिन्दुस्तान, पाकिस्तान और कश्मीर की मेहनतकश जनता को माँग करनी चाहिए कि राज्य मे सचमुच स्वतन्त्र मतगणना हो जिससे तै हो कि कौन से इलाके भारत संघ या पाकिस्तान मे शामिल हों।" कुछ इलाके भारत में, कुछ पाकिस्तान में शामिल होंगे तो यह कश्मीर का बँटवारा न होगा तो और क्या होगा?

जारशाही रूस की जगह जब सोवियत संघ का निर्माण हुआ, तब रूसी

जाति के पुराने उत्पीड़क रूप को ध्यान में रखते हुए कम्युनिस्ट पार्टी ने वहाँ संविधान मे जातियों के संघ से अलग होने का अधिकार स्वीकार किया। इस सन्दर्भ मे तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह कि लेनिन और उनके सहयोगियो ने समस्त जारशाही रूस मे मजदूरों का एक ही केन्द्रीय संगठन खड़ा किया, उनकी एक ही केन्द्रबद्ध कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण किया। गृहयुद्ध के दौरान विदेशी हस्तक्षेप के समय और दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हिटलरी आक्रमण के समय मजदूर वर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी की बहुजातीय एकता सोवियत राष्ट्र की एकता का सुदृढ़ आधार बनी। दूसरी बात यह कि उक्रैन जैसे प्रदेशों मे अलगाव के लिए जो प्रयत्न हुए, सोवियत सरकार और कम्युनिस्ट पार्टी ने उनका दमन किया। ये प्रयत्न साम्राज्यवादियों के सकेत पर उनके हित मे किये गये थे, इसलिए उनका दमन उचित था। तीसरी बात यह कि साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और हिटलरी आक्रमण का मुकाबला करके सोवियत संघ की जातियों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की रक्षा करते हुए अपनी राष्ट्रीय एकता मजबूत की। इन तीन बातों को ध्यान मे रखकर भारत मे आत्मनिर्णय के अधिकार की चर्चा होती तो नतीजा कुछ और ही निकलता। दरअसल जोशी, अधिकारी आदि ने आत्मनिर्णय सम्बन्धी सोवियत अनुभव गलत ढंग से पेश किया था। कारण यह था कि रणनीति साम्राज्यवाद से लड़ने की नही थी, उससे समझौता करनेवाले नेतृत्व का समर्थन करने की थी। समझौते के लिए जरूरी था, मुस्लिम लीग की माँग, थोड़े हेर-फेर के साथ, स्वीकार की जाय। इसलिए आत्मनिर्णय के अधिकार की जो व्याख्या की गयी, उससे साम्राज्यवाद का कोई अहित होनेवाला नही था, लाभ ही हो सकता था।

अंग्रेज सम्प्रदायों को ही नहीं, जातियों को भी आत्मनिर्णय का अधिकार देने को तैयार थे। वे भारतीय नेताओं के सामने सौदेबाजी मे नया प्रयोग करते हुए बंगाल, पजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश की स्वाधीनता का प्रस्ताव कर चुके थे। योजना यह थी कि एक दो जातियों के राज्य बनेंगे तो वे अपने आस्तित्व के लिए साम्राज्यवाद पर निर्भर होंगे। अंग्रेजों को आपत्ति जातियों के आत्मनिर्णय पर नही थी, उन्हें आपत्ति थी राष्ट्र के आत्मनिर्णय पर। पूरे राष्ट्र को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाय तो सभी जातियो की सम्मिलित शक्ति साम्राज्यवाद के लिए बहुत बड़ी चुनौती होगी। यह बात अंग्रेजों को पसन्द न थी। राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की जगह जातीय आत्मनिर्णय, जातीय आत्मनिर्णय की जगह साम्प्रदायिक आत्म-निर्णय, यह तर्कयोजना पूँजीवादी नेताओं की थी जिसे वे अंग्रेजों के दबाव से मंजूर कर रहे थे। ए. आई. सी. सी. मे विभाजन-प्रस्ताव का समर्थन करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने यही तर्क दिया था—कांग्रेस की नीति रही है कि बहुसंख्यक मुस्लिम इलाके भारतीय संघ में शामिल न होना चाहें तो उन्हें उसमें शामिल न किया जायेगा। आत्मनिर्णय के अधिकार की इस पूँजीवादी व्याख्या मे क्रान्तिकारी कुछ भी न था। पिछले पन्द्रह-बीस साल मे जिन लोगो ने भारत के उत्तर, दक्खिन या पूरब मे किसी जातीय प्रदेश के अलगाव की माँग की है, उन्होने भी कोई क्रान्तिकारी काम नही किया। जैसे सन् ३७ मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने के बाद जनता मे शासन के प्रति

असन्तोष बढ़ा और उसमे लाभ उठाकर मुस्लिम लीग ने अपना प्रभाव फैलाया और अलगाव की भावना को बढ़ावा दिया, वैसे ही सन् ४७ मे कांग्रेस के सत्तारूढ़ होने के बाद शासन के प्रति असन्तोष बढ़ा और इस असन्तोष से सम्प्रदायवादियों ने लाभ उठाया यथा कश्मीर और पंजाब मे। जातीय भाषा और जातीय अस्मिता की रक्षा के नाम पर अलगाववादी प्रवृत्तियां तमिलनाडु और असम मे उभरी हैं। इनके सिवा भारत के आदिवासी क्षेत्र हैं जहां जनता के असन्तोष को अलगाववादी मोड़ दिया गया है यथा छोटा नागपुर से लेकर मणिपुर और मिजोरम तक पूरब में।

वर्तमान समाज-व्यवस्था को बदले बिना जातीय समस्या का समाधान असम्भव है। सन् ४५-४७ के क्रान्तिकारी उभार को सफलता की मंजिल तक ले जाकर ही उस समय राष्ट्रीय एकता की रक्षा की जा सकती थी। वर्तमान परिस्थिति मे भी जनता का समर्थ क्रान्तिकारी आन्दोलन ही राष्ट्रीय एकता को बहाल कर सकता है, उसे बनाये रख सकता है और उसे सुदृढ कर सकता है। ज़ोर देना है जनता के अखिल भारतीय संयुक्त क्रान्तिकारी आन्दोलन पर, प्रादेशिक अलगाव पर नही। इस आन्दोलन की मुख्य शक्ति मज़दूर और किसान है, उनकी अखिल भारतीय एकता को टूटने नहीं देना, उनके अखिल भारतीय संगठनों को और मज़बूत करना है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए जरूरी है कि पूंजीवादी नेतृत्व के सुधारवाद और सम्प्रदायवादियों के प्रतिक्रियावाद मे भेद किया जाय। पूंजीवादी सुधारवाद ब्रिटिश अमरीकी साम्राज्यवाद तथा भारतीय जनता के बीच ढुलमुल नीति अपनाता है, इसलिए मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी प्रतिनिधि उसके साथ निश्चित साम्राज्यविरोधी कार्यक्रम के आधार पर अस्थायी संयुक्त मोर्चा बना सकते हैं, सन् ४७ से पहले बना सकते थे और सन् ४७ के बाद अब भी बना सकते हैं, किन्तु साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावाद कही भी ढुलमुल नही है, वह ब्रिटिश अमरीकी साम्राज्यवाद का सबसे दृढ़ और सबसे सुसंगत समर्थक है, मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी प्रतिनिधि इस क्रान्तिविरोधी शक्ति के साथ किसी भी बहाने कोई स्थायी या गैर अस्थायी संयुक्त मोर्चा नहीं बना सकते। सन् ४२ से सन् ८२ तक कम्युनिस्ट आन्दोलन के अनेक स्तरों पर यह रुझान बराबर रहा है कि सम्प्रदायवादियों के साथ संयुक्त मोर्चा बनायें और पूंजीवादी सुधारवाद का विरोध करें। इस अवसरवाद का परिणाम यह होता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास और प्रसार में बाधा पड़ती है और जितना ही बाधा पड़ती है, उतना ही साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावादियों और उग्रपन्थी अलगाववादियों को आगे बढने का मौका मिलता है।

कहा जा सकता है कि भारत में अब पूंजीवादी सुधारवाद है कहां, सन् २० और सन् ३० में वह कभी रहा होगा, पर सन् ४७ में तो अंग्रेज़ों से समझौता करके वह समाप्त हो गया, उसका स्थान साम्राज्यवाद के हित में शासनतन्त्र चलानेवाले पूंजीवादी प्रतिक्रियावाद ने ले लिया। यह धारणा सही नही है। जो पूंजीवाद शत्रु से समझौता न करे, वह क्रान्तिकारी होता है, सुधारवादी नही। भारतीय पूंजीवाद ने सन् २०-२१ में, फिर सन् ३०-३४ में अंग्रेज़ों से समझौता किया था; यही काम उसने सन् ४५-४७ में किया था। फर्क यह था कि सन् ४५-४७ के आन्दोलन की

वागडोर उसके हाथ में न थी। वह उसे रोकता था और अंग्रेजों पर दवाव डालकर अधिक रिआयतें लेने के लिए उसका उपयोग भी करता था। अपने अभ्युदयकाल मे यूरुप का पूंजीवाद क्रान्तिकारी था, वह सामन्तवाद से समझौता न करता था, इस गलत धारणा के असर से अनेक मार्क्सवादी यह समझ बैठते हैं कि १९४७ में अंग्रेज़ों से समझौता करके भारत के पूंजीवादी नेताओं ने कोई अनोखा काम किया है। ब्रिटिश उद्योगपतियों ने सन् १८३५ से १८४७ के बीच सत्ताधारी जमींदार वर्ग पर चार्टिस्ट आन्दोलन का दवाव डालकर अपने लिए कैसे रिआयतें प्राप्त की, वह इतिहास सौ साल बाद सन् ४५ से ४७ के बीच भारत में सत्ता के हस्तान्तरण की व्याख्या के लिए दिलचस्प है। चार्टिस्ट आन्दोलन की तुलना में भारत का १९४५-४७ वाला क्रान्तिकारी उभार अधिक शक्तिशाली था; १८३५-४७ मे ब्रिटेन का जमींदारवर्ग उतना कमज़ोर नही था जितना १९४५-४७ मे ब्रिटेन का साम्राज्यवाद कमजोर था। ब्रिटेन मे उद्योगपतियो पर साम्प्रदायिक दंगो के रूप में ज़मीदारो ने ऐसा कोई जवाबी हमला न किया था जैसा अंग्रेज़ों ने मुस्लिम लीग के सहयोग से भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन पर किया। अपने अभ्युदयकाल मे ब्रिटिश उद्योगपतियों ने जमींदारो से समझौता किया। लेनिन ने रूसी क्रान्ति की मिसाल देकर बताया था कि सबसे आगे बढ़े हुए पूंजीवादी देशो मे सामन्ती अवशेषों का सफाया कही नही हुआ, फ्रान्स मे भी नही हुआ, यह काम केवल रूस में पूरा हुआ। भारत का औद्योगिक पूंजीवाद सुधारवादी था और अब भी है। साम्राज्यवाद से भारत का सम्बन्ध पूरी तरह नही टूटा, उसे पूरी तरह तोड़ना ज़रूरी है; भारत मे सामन्ती अवशेष बने हुए है, इन्हे खत्म करना जरूरी है।

साम्राज्यवाद का आर्थिक और राजनीतिक सकट बराबर बढ रहा है, उसके साथ तीसरे विश्वयुद्ध का खतरा बढ रहा है। युद्ध की तैयारी के लिए साम्राज्यवाद नये पुराने तरीकों से पिछडे हुए देशों के साधनों का उपयोग करता है। इनमें एक तरीका उधार दिये हुए ऋण पर ब्याज की वसूली है। जब तक भारत ब्याज के रूप मे साल दर साल करोड़ों रुपये साम्राज्यवादी शक्तियों को देता जाता है, तब तक वह विश्वशान्ति की रक्षा में भरपूर योगदान नही कर सकता। समाजवादी देश भी बडे पूंजीवादी देशो से कर्ज लेते है, इससे यह सिद्ध नही होता कि भारत कर्ज के सहारे आत्मनिर्भर बनेगा। उससे सिद्ध यह होता है कि साम्राज्यवाद अभी इतना शक्तिशाली है कि वह समाजवादी देशों को भी अनेक प्रकार के आर्थिक सम्बन्धो मे लपेट कर विश्वशान्ति के मोर्चे को कमज़ोर करता है।

अब से सत्तर वर्ष पहले प्रसिद्ध क्रान्तिकारी लाला हरदयाल ने अमरीका मे 'लाल झण्डे की बिरादरी' (The fraternity of the red flag) नाम की संस्था बनायी थी। इसका एक उद्देश्य यह था: "कम्युनिज़्म की स्थापना, और औद्योगिक संगठन तथा आम हड़ताल के जरिये भूमि और पूंजी मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का खात्मा। (the establishment of communism, and the abolition of private property in land and capital through industrial organization and the General Strike.)" लाला हरदयाल को इस उद्देश्य की प्रेरणा मार्क्सवाद मे और संसार के पहले समाजवादी राज्य पैरिस कम्यून से प्राप्त

हुई थी। उन्होंने तारीख डालते समय सन् १९१२ से पहले ४१ पी. सी. (पोस्ट कम्यून) लिखा था; आशय यह था कि पेरिस कम्यून के ४१ वर्ष बाद वह उसी उद्देश्य से अपनी संस्था बना रहे हैं (यह विवरण एमिली ब्राउन लिखित लाला हरदयाल की जीवनी में है।) तब से अब तक भारतीय क्रान्तिकारी मार्क्सवाद का अध्ययन करते रहे है। तब से अब तक उनमें अराजकतावादी प्रवृत्तियाँ भी उभरती रही है। भारत मे समाजवादी व्यवस्था के निर्माण के लिए पूँजीवादी व्यवस्था को बदलना जरूरी है, इस व्यवस्था को बदलने के लिए पहले साम्राज्यवाद से आर्थिक-राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ना जरूरी है, सामन्ती अवशेष खत्म करना जरूरी है। यह काम भारत के लिए जरूरी है, पाकिस्तान के लिए जरूरी है। सबसे ज्यादा मुसलमान जनता ठगी गयी है। उसे समझाया गया था कि भारत मे जनतन्त्र कायम हुआ तो अल्पसंख्यक मुसलमानों पर बहुसंख्यक हिन्दुओं का राज होगा। फिर ऐसे बानक बने कि मुसलमानों को उनके इस्लामी राज्य मे जनतन्त्र से वंचित किया गया।

१८५७-५८ के बाद १९४५-४७ का समय भारतीय इतिहास का अतिशय महत्वपूर्ण कालखण्ड है। इस समय इतिहास की चाल तेज थी। यदि उसके अनुरूप सचेत और सुनियोजित प्रयत्न किया जाता तो हम सचमुच छलांग मारकर दूसरे युग में पहुँच जाते। कम्युनिस्ट पार्टी के नेता गलत रणनीति और कार्यनीति अपनाते रहे, फिर भी कुछ बातें वे बहुत सही करते रहे थे। इनमें एक बात मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन की पुस्तकें छापना थी। मार्क्सवाद समाज को बदलने का दर्शन है, समाज को बदलने के लिए संघर्ष करना जरूरी है, यह सामान्य सत्य हजारों पार्टी मेम्बरों और लाखो हमदर्दों के मन मे खूब मजबूती से जमाया गया था। कम्युनिस्ट नेतृत्व एक ओर संघर्षविमुख कार्यनीति अपना रहा था, दूसरी ओर वह ऐसे सिद्धान्तो का प्रचार कर रहा था जिनका अनिवार्य परिणाम था संघर्ष। इसके साथ एक और बात हो रही थी—मार्क्सवाद के झण्डे के नीचे सोवियत जनता का वीरतापूर्ण संग्राम हो रहा था। इस संग्राम की गरिमा को अंग्रेजो ने छिपाने का प्रयत्न बराबर किया है, उस समय किया था और बाद को भी करते रहे। सोवियत जनता के वीरतापूर्ण संग्राम का वास्तविक विवरण संगठित रुप से लाखों आदमियों तक पहुँचाने का काम कम्युनिस्ट पार्टी ने किया। यह विवरण संघर्ष से विमुख करनेवाला नही, उसके लिए प्रेरणा देनेवाला था। भारतीय जनता मे जो साम्राज्यविरोधी चेतना पहले से विद्यमान थी, वह सोवियत जनता के वीरतापूर्ण संग्राम की जानकारी से और पुष्ट हुई, भारत के क्रान्तिकारी नौजवानों मे समाज को बदलने की जो उत्कट आकांक्षा पहले से विद्यमान थी, वह मार्क्सवाद के सामान्य सिद्धान्तो के ज्ञान से और भी तीव्र हुई। यही कारण है कि कांग्रेस के सुधारवादी नेतृत्व को एक तरफ धकियाते हुए सन् ४५-४७ मे भारतीय जनता का क्रान्तिकारी उभार साम्राज्यवाद को ध्वस्त करने की दिशा में तेजी से बढ चला था। इस उभार के लिए, साम्राज्यवाद पर उसके दबाव के लिए श्रेय है भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को और उन कम्युनिस्टो को जो सोवियत संघ मे हिटलर विरोधी संग्राम का सचालन कर रहे थे।

क्रान्तिकारी उभार और सत्ता के हस्तान्तरण के आपसी सम्बन्ध को हम किस तरह समझते हैं, इस पर निर्भर करता है कि १९४७ के बाद सामाजिक आन्दोलन के किसी भी दौर मे कम्युनिस्ट अपनी रणनीति और कार्यनीति कैसे निर्धारित करते हैं। १९६४ मे कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) की कलकत्ता कांग्रेस के प्रस्ताव मे कहा गया है : "संघर्ष का ज्वार उठ रहा था। आशंका थी कि वह व्यापक राष्ट्रीय विद्रोह बन जायेगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने महसूस किया कि अपनी हुकूमत बनाये रखना अब सम्भव नही है। कांग्रेस-नेतृत्व को भी भय था कि साम्राज्यवादियो के खिलाफ संघर्ष बढते-बढते व्यापक विद्रोह बन गया, तो साम्राज्यविरोधी जनआन्दोलन की बागडोर उसके हाथ से निकल जायेगी। ऐसी परिस्थिति मे एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद, दूसरी ओर कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेता, इनमें समझौता हो गया।" स्वाधीनताप्राप्ति के सत्रह साल बाद कम्युनिस्ट पार्टी (मा.) के लिए आवश्यक हुआ कि वह क्रान्तिकारी उभार और सत्ता के हस्तान्तरण के बारे मे अपना मत फिर स्पष्ट करे।

सवाल यह है कि संघर्ष का ज्वार व्यापक राष्ट्रीय विद्रोह बनते-बनते कैसे रह गया। इस ज्वार का नेतृत्व कौन कर रहा था ? या वह नेतृत्वविहीन प्राकृतिक ज्वार था ? कांग्रेस-नेतृत्व को भय था कि साम्राज्यविरोधी संघर्ष व्यापक विद्रोह बन गया तो साम्राज्यविरोधी जनआन्दोलन की बागडोर उसके हाथ से निकल जायेगी। कांग्रेसी नेतृत्व के इस भय से कम्युनिस्ट नेतृत्व परिचित था या नही ? अनेक कम्युनिस्ट दस्तावेजो में यह बात लिखी जा चुकी थी कि कांग्रेसी नेतृत्व ऐसा ही व्यवहार करेगा। इसलिए उसके भय से कम्युनिस्ट नेताओं के अपरिचित होने का सवाल न था। तब सवाल यह है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं को साम्राज्यवाद से समझौता करने से रोकने के लिए कम्युनिस्ट नेतृत्व ने क्या किया ?

ये सवाल करते ही परिस्थिति के दो विरोधी पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं। संघर्ष का ज्वार नेतृत्वविहीन नही था, उसका नेतृत्व कम्युनिस्ट तथा अन्य वामपक्षी दल और नेता कर रहे थे। किन्तु कम्युनिस्ट नेतृत्व ने ऐसी रणनीति अपनायी थी जिससे समझौता रुकना दूर, समझौता करने मे कांग्रेस और लीग के नेताओ को मदद मिलती थी। न केवल जुलाई १९४६ से पहले वरन् उसके बाद भी—संघर्ष का रास्ता अपनाने के बाद भी —आत्मनिर्णय के आधार पर कांग्रेस-लीग एकता की कम्युनिस्ट रणनीति में कोई परिवर्तन न हुआ था। यही कारण है कि १९४७ की गर्मियो मे जब देश के बँटवारे के आधार पर कांग्रेस और लीग ने एकता कायम कर ली, तब कम्युनिस्ट नेताओं के पास देश को इस एकता से—यानी बँटवारे से —बचाने का कोई उपाय न रह गया था।

सवाल यह है कि सत्ता हस्तान्तरण के घटनाक्रम का विवेचन करते हुए साम्राज्यवाद, कांग्रेस और मुस्लिम लीग की भूमिकाएँ बताना और कम्युनिस्ट पार्टी की भूमिका के बारे मे चुप रहना क्या उचित है ?

सन् ४५-४७ मे साम्राज्यविरोधी संघर्ष का ज्वार उठा, इसका श्रेय कम्युनिस्ट पार्टी को है। यह ज्वार राष्ट्रव्यापी विद्रोह न बन सका, इसका श्रेय भी

कम्युनिस्ट पार्टी की है।

संघर्ष का ज्वार देखकर "ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने महसूस किया कि अपनी हुकूमत बनाये रखना अब सम्भव नहीं है।" काफी भोला और मासूम था यह साम्राज्यवाद। क्रान्तिकारी उभार देखकर सहम गया। उससे निपटने के लिए उसने कोई रणनीति पहले से निर्धारित न की थी। मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों का विधान किसने किया था? १९३५ के कानून से लेकर माउण्टबाटन योजना तक कांग्रेस और लीग को देश के विभाजन की ओर किसने धकेला था? बड़े पैमाने पर हिन्दू-मुस्लिम-सिख नरसंहार किसने आयोजित किया था? कांग्रेस देश के पूंजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। बाज़ार विभाजित हो जाय तो क्या इससे पूंजीपतियों को लाभ होगा? जिस योजना से लाभ न हो, उसे स्वीकारने के लिए साम्राज्यवाद ने कांग्रेस पर किसी तरह का दबाव डाला था या नहीं? दबाव डालने का मुख्य साधन मुस्लिम लीग थी या नहीं?

कांग्रेस पर एक ओर क्रान्तिकारी परिस्थिति का दबाव था, दूसरी ओर क्रान्तिविरोधी साम्प्रदायिक अभियान का दबाव भी था। साम्राज्यवाद पर भी क्रान्तिकारी परिस्थिति का दबाव था पर साम्प्रदायिक अभियान से दबने के बदले वह उसका संचालन कर रहा था। इस संचालन के लिए उसने बरसों पहले से तैयारी की थी, बड़े पैमाने के नरसंहार के लिए उसने छोटे पैमाने पर कई बार रिहर्सल की थी। समझौता करनेवाले तीन फरीक थे। इन तीनों की स्थिति एक-सी न थी। क्रान्तिविरोधी दबाव डालनेवाला फरीक था ब्रिटिश साम्राज्यवाद; उसका मुख्य अस्त्र थी मुस्लिम लीग; वह दबाव डालता था कांग्रेस पर। इस परिस्थिति में समझौता हुआ था। समझौते के समय एक और फरीक मौजूद था कम्युनिस्ट-संचालित क्रान्तिकारी जनआन्दोलन। साम्राज्यवाद ने क्रान्तिविरोधी दबाव डालकर इस जनआन्दोलन को विघटित कर दिया। साम्राज्यविरोधी रणनीति निर्धारित करने के लिए जरूरी है कि कम्युनिस्ट नेतृत्व साम्राज्यवाद के क्रान्तिविरोधी दाँवपेंच का विश्लेषण करे। इस विश्लेषण के चौखटे मे ही जोशी के सुधारवाद और रणदिवे के संकीर्णतावाद की आलोचना सार्थक हो सकती है। उस चौखटे के बिना वह गुटबन्दी करनेवाले नेताओं का आपसी झगडा मात्र बनकर रह जायेगी।

कम्युनिस्ट पार्टी (मा.) के उक्त प्रस्ताव मे आगे कहा गया है कि स्वाधीनता सग्राम के दौरान भारत के पूंजीपतिवर्ग ने अपनी दुरंगी चाल का परिचय दे दिया था। एक ओर वह साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता को गोलबन्द करता था, दूसरी ओर वह साम्राज्यवाद से समझौता भी करता था। १९४७ मे और उसके बाद क्या हुआ? "एक ओर साम्राज्यवाद और सामन्तवाद, दूसरी ओर जनता जिसमे पूंजीपतिवर्ग भी शामिल है, इन दोनों के अन्तर्विरोध बढे हैं। इसके बावजूद और नयी समाजवादी विश्वव्यवस्था के उभरने से पैदा होनेवाले बड़े पूंजीपति साम्राज्यवाद और सामन्तवाद पर निर्णायक हमला नहीं करते और उन्हें निर्मूल नहीं करते।" बड़े या छोटे पूंजीपतियों ने सन् ४७ मे पहले साम्राज्यवाद पर निर्णायक हमला कब किया था? ऐसे हमले की तैयारी भी कब की थी? और वे साम्राज्यवाद

और सामन्तवाद को निर्मूल कर देंगे तो कम्युनिस्ट पार्टी क्या करेगी ? विशुद्ध समाजवादी क्रान्ति ?

भारतीय पूंजीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद मे जो अन्तर्विरोध था, वह १९४७ के बाद बढ़ा है, यह स्थापना महत्वपूर्ण है। ऐसा अन्तर्विरोध है किन्तु उसके बावजूद पूंजीपतियों के साथ संयुक्त मोर्चा न बनेगा, यह स्थापना मेरठवाले कम्युनिस्ट बन्दियों के बयान में है। वही स्थापना कम्युनिस्ट पार्टी (मा.) के उक्त प्रस्ताव में है। भारत में अंग्रेजी राज समाप्त हुआ, बड़े पूंजीपतियों की अगुवाई में राज्यसत्ता कायम हुई। भारतीय क्रान्ति की पहली मंजिल समाप्त हुई, वह मंजिल "व्यापक राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे की थी जो मुख्य रूप से विदेशी साम्राज्यवाद की हुकूमत के खिलाफ था।" एक ओर पूंजीपतियों समेत भारतीय जनता से साम्राज्यवाद का अन्तर्विरोध बढ़ता है, दूसरी ओर राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा संकुचित होता जाता है। राज्यसत्ता की अगुवाई करनेवाले बड़े पूंजीपति साम्राज्यवाद और सामन्तवाद से अपने अन्तर्विरोध "दबाव के ज़रिये, भावतोल और समझौते के ज़रिये दूर करना चाहते हैं।" सन् ४७ से पहले पूंजीपति—बड़े और छोटे—इसके अलावा और क्या करते थे ? साम्राज्यवाद पर दबाव डालना, भावतोल करना, समझौता करना, यह नीति पहले भी थी। यदि पूंजीपतियों के साथ संयुक्त मोर्चा सन् ४७ से पहले बन सकता था तो साम्राज्यवाद से उनके अन्तर्विरोध जब बढ़े हों, तब क्यों नहीं बन सकता ?

पते की बात यह है कि "हमारे ज़माने के राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्षों का ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि यदि पूंजीपतिवर्ग स्वाधीनता संग्राम की अगुवाई करता है, तो वह राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को पूर्णता की मंजिल तक नहीं ले जाता।" ब्रिटेन और फ्रान्स के पूंजीपतिवर्ग के बारे में मार्क्स और एंगल्स का ऐतिहासिक अनुभव भी ऐसा ही था कि यह वर्ग सामन्तविरोधी क्रान्ति को पूर्णता की मंजिल तक न ले जा सका था। ऐसा ही अनुभव १९१७ में रूसी पूंजीपतियों की अगुवाई में होनेवाली फरवरी क्रान्ति के बारे में लेनिन का था। भारतीय पूंजीपतियों के व्यवहार ने उस ऐतिहासिक अनुभव को समृद्ध और पुष्ट किया, उसमें कोई नया अध्याय नहीं जोड़ा।

पूंजीपति—बड़े या छोटे—जनवादी क्रान्ति पूरी नहीं करते, इसलिए सन् ४७ से पहले भी यह आवश्यक था कि कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस की पिछलगुआ न बने, जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम के आधार पर उसमें संयुक्त मोर्चा बनाये। साम्राज्यवाद से भारतीय जनता के अन्तर्विरोध और गहरे हो रहे हैं, इस जनता में पूंजीपति शामिल हैं, इसलिए व्यापक राष्ट्रीय मोर्चे की सम्भावना आज भी है। राष्ट्रीय मोर्चे में शामिल होने का अर्थ पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष को तिलांजलि देना नहीं है, उनका पिछलगुआ बनना नहीं है। राष्ट्रीय मोर्चे में पूंजीपतिवर्ग के सभी स्तर शामिल हों, यह आवश्यक नहीं है; सन् ४७ से पहले उसके सभी स्तर राष्ट्रीय मोर्चे में शामिल रहे हों, ऐसा नहीं है। यह मोर्चा जनवादी क्रान्ति के पूरे दौर में स्थायी बना रहे, यह आवश्यक नहीं है। जो वर्ग दबाव डाले, भावतोल करे, फिर साम्राज्यवाद से समझौता करे, उसके साथ कम्युनिस्ट पार्टी स्थायी मोर्चा बना ही

नही सकती। स्थायी मोर्चा किसानों और मजदूरों का ही होगा।

सन् ४७ के बाद सन् ८२ तक साम्राज्यवाद से भारतीय पूंजीपतिवर्ग के अन्तर्विरोध और गहरे हुए हैं। उनका रूप भी बदला है। साम्राज्यवाद महाजन है, भारतीय पूंजीपतिवर्ग उसका कर्जदार है। कर्जदार जितना ही आर्थिक संकट के कारण लड़खड़ाता है, उतना ही वह ज्यादा कर्ज लेकर अपने पैर साधने की कोशिश करता है, उतना ही महाजन के फन्दे मे और मजबूती से फंसता जाता है। महाजन के इस फन्दे से, राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का नेतृत्व करके, मजदूर वर्ग ही भारतीय पूंजीवाद को छुड़ा सकता है। जो पूंजीपति महाजन के फन्दे में फंसकर आत्महत्या करने पर तुले हुए है, उन्हें छोड़ दीजिये। यह स्पष्ट है कि विदेशी पूंजी से गठबन्धन करने पर जहाँ एक पूंजीपति को लाभ होता है, वहाँ दस की हानि होती है। इन दस को राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे मे समेट लेने की कोशिश करनी चाहिए।

सन् ४७ से पहले स्वाधीनता आन्दोलन का एक कारगर अस्त्र था—स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। स्वदेशी आन्दोलन की जितनी जरूरत आज है, उतनी पहले कभी न थी। माल पर भले ही 'मेड इन इण्डिया' लिखा हो, यदि वह विदेशी कम्पनियो द्वारा, अथवा विदेशी पूंजी के सहयोग से तैयार किया गया है, तो उसका बहिष्कार होना चाहिए। विदेशी बैंकों से, बैंकपतियों से कर्ज लेना बन्द हो, भारत साल दर साल करोड़ों रुपया सूद देना बन्द करे, तो भारतीय अर्थतन्त्र मे नयी जान आयेगी, आगे के लिए प्रगति का मार्ग आसान होगा, इसमें किसे सन्देह होगा?

भारत में साम्राज्यवाद के अवशेष हैं, पुराने अवशेषों में इजाफा हुआ है। काले धन में बढ़ती, कर्ज और सूद मे बढ़ती, आम जनता की मुफलिसी मे बढ़ती, यह सारी बढ़ती साम्राज्यवाद से भारत के सम्बन्ध का परिणाम है। अंग्रेजों से शासनतन्त्र का जो ढांचा विरासत में पाकर भारतीय पूंजीपतियों ने राज्यसत्ता का चौखटा बनाया था, आर्थिक संकट के साथ वह चौखटा जगह-जगह से चरमरा उठा है। इसके साथ सांस्कृतिक संकट गहरा न हो, यह असम्भव है। भारतीय जनता के सिर पर जैसे कर्ज का बोझ है, वैसे ही उस पर—उसके छोटे से पढ़े-लिखे हिस्से पर—विदेशी भाषा और संस्कृति का दबाव है। बीस साल पहले कह सकते थे, भारत में अंग्रेजी भाषा साम्राज्यवाद का अवशेष है। अब यह कहना सही न होगा। साम्राज्यवाद और किन्ही क्षेत्रों मे दबाव डालता होगा, भाषा के मामले में दबाव का सवाल नहीं है। अंग्रेजी को हमने स्वेच्छा से अखिल भारतीय राज-नीतिक-सांस्कृतिक कार्यों के लिए अपनी सम्पर्कभाषा बना रखा है। क्या पूंजीपति-वर्ग और क्या मजदूरवर्ग—यहाँ राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा जोरों से कायम है।

स्वदेशी आन्दोलन की एक विशेषता थी देशी भाषाओं के व्यवहार पर जोर, अंग्रेजी के व्यवहार मे यथासम्भव कमी, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का समर्थन। इसकी जरूरत आज भी है और इस दिशा मे पहल करनी चाहिए कम्युनिस्टों को यानी सबसे पहले कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर सभाओं के अखिल भारतीय कार्यालयों से अंग्रेजी निकालनी चाहिए।

सवाल केवल भाषा का नहीं है। हमारी सांस्कृतिक स्थिति के एक छोर पर करोड़ों आदमियों की निरक्षरता है, दूसरे छोर पर हजारों बुद्धिजीवियों पर अमरीकी संस्कृति का प्रभाव है। क्या संगीत और फिल्में, क्या अर्थशास्त्र और भाषा-विज्ञान, मनुष्य को नैतिक पतन और प्रगतिविरोधी मार्ग की ओर ले जानेवाली प्रवृत्तियाँ सब तरफ दिखायी देती है। यदि कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपनी कांग्रेसों में देश की सांस्कृतिक स्थिति के बारे में चुप रहती है, तो इससे साबित यह होता है कि वे साम्राज्यवाद के सास्कृतिक दबाव से बेखबर हैं, उसके राजनीतिक परिणामों से बेखबर है।

अर्थतन्त्र से लेकर भाषा और संस्कृति तक स्वदेशी को धुरी बनाकर एक शक्तिशाली साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय सयुक्त मोर्चे का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा मोर्चा जनवादी क्रान्ति के शेष कर्तव्य पूरे कर सकता है।

पुस्तक के इस खण्ड के पहले दो अध्यायों मे क्रान्ति और सामाजिक विकास से सम्बन्धित मार्क्स की स्थापनाओ का विवेचन है, तीसरे अध्याय में उनकी भारत मे अंग्रेजी राज से सम्बन्धित धारणाओ का विश्लेपण है। भारत के आर्थिक विकास पर बर्नियर से लेकर रजनी पाम दत्त तक अनेक लेखकों ने जो तथ्य दिये हैं, चौथे अध्याय में उनकी चर्चा है। पाँचवें अध्याय मे कम्युनिस्ट आन्दोलन के उतार-चढाव तथा छठे अध्याय मे सत्ता के हस्तान्तरण तथा भारत कामनवेल्थ सम्बन्धो का विवेचन है। पुस्तक तैयार करने में अनेक मित्रों से सहयोग मिला है, इसके लिए उन्हे हार्दिक धन्यवाद है।

रामविलास शर्मा

नयी दिल्ली,
२१ जुलाई १९८२

विषय-सूची in the yea

भारत में अंग्रेजी राज
और मार्क्सवाद

खण्ड २

१
मार्क्स और क्रान्ति

१. क्रान्ति और मजदूर वर्ग

मार्क्स और एंगेल्स ने १८४७-४८ में कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र तैयार करते हुए शुरूआत इस वाक्य से की थी : "यूरप को एक भूत सता रहा है, यह भूत कम्युनिज़्म का है।" घोषणापत्र की समाप्ति उन्होंने इन वाक्यों से की थी : "कम्युनिस्ट क्रान्ति के भय से शासक वर्ग काँपें। सर्वहारा के पास अपनी ज़ंजीरों के अलावा खोने को और कुछ नहीं है। पाने को सारी दुनिया है। **सभी देशों के मज़दूरो, एक हो !**"

यह कम्युनिस्ट क्रान्ति किन देशों मे होनेवाली थी ? एक साथ होनेवाली थी या अलग-अलग ? इसे केवल मज़दूर करनेवाले थे या उनके साथ अन्य वर्ग भी थे ?

मार्क्स और एंगेल्स ने अपने देश जर्मनी के बारे मे इसी घोषणापत्र में लिखा था : "जर्मनी में वे [अर्थात् कम्युनिस्ट] निरंकुश बादशाही, सामन्ती नम्बरदारी और निम्न पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर—जहाँ भी यह वर्ग क्रान्तिकारी ढंग से काम करता है—लड़ते हैं।"

क्या इस तरह की क्रान्ति को कम्युनिस्ट क्रान्ति कहा जा सकता था ? स्पष्ट ही इस प्रश्न का उत्तर होगा—नहीं। जर्मनी में जो क्रान्ति होनेवाली थी, वह पूंजीवादी थी। कम्युनिस्ट क्रान्ति की नौबत उसके बाद आती। सत्ता अभी सामन्त वर्ग के हाथ में थी, यह निरंकुश सत्ता थी, सत्ताधारी वर्ग का अगुवा था बादशाह, उसके नीचे छोटे-बड़े सामन्तों का विशाल समुदाय था। पूंजीपतियों को अभी सामन्तशाही से सत्ता छीननी थी, कम्युनिस्ट क्रान्ति उसके बाद होती। मार्क्स और एंगेल्स जर्मन कम्युनिस्टों और मजदूरों से कह रहे थे : पूंजीपति वर्ग जहाँ भी सामन्तशाही के विरुद्ध क्रान्तिकारी ढंग से संघर्ष चलाये, उसका साथ दो। क्रान्तिकारी ढंग से संघर्ष न चलाये तो उसका साथ देने का सवाल न था; यदि वह सामन्तशाही से समझौता कर ले तो उसका विरोध करना भी जरूरी हो सकता था। मार्क्स और एंगेल्स के विचार से सामन्तशाही के विरुद्ध यह पूंजीवादी क्रान्ति

मजदूरों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण रही होगी; तभी वे कम्युनिस्टों और मजदूरों से उसमे आगे बढ़कर हिस्सा लेने को कह रहे थे, सामन्तशाही को खतम करने का ऐतिहासिक कार्य पूंजीपतियो को सौंपकर उन्होने मजदूरों को इस दायित्व से मुक्त न कर दिया था।

पूंजीपति वर्ग जहां क्रान्तिकारी ढंग से सामन्तशाही के विरुद्ध संघर्ष चलायेगा, वहां मजदूर वर्ग उसका साथ देगा, कम्युनिस्ट उसका साथ देंगे। संघर्ष के दौरान और उसके बाद कम्युनिस्ट किस तरह मजदूरो को कम्युनिस्ट क्रान्ति के लिए तैयार करेंगे, इसके बारे मे मार्क्स और एंगेल्स ने घोषणापत्र मे लिखा था: कम्युनिस्ट बराबर मजदूर वर्ग को सजग करते रहेगे कि पूंजीपति और सर्वहारा वर्गो मे शत्रुतापूर्ण विरोध है। पूंजीपतियो की प्रभुता कायम होते समय उनके द्वारा जो सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियां लाजमी तौर से लायी जायेंगी, उन्हे पूंजीवादी क्रान्ति के तुरत बाद जर्मन मजदूर हथियारों की तरह पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध इस्तेमाल करेगे। मजदूरो को पूंजीपति वर्ग के प्रति सजग करते रहना इसलिए जरूरी था कि "जर्मनी मे प्रतिक्रियावादी वर्गो के पतन के बाद स्वयं पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध लड़ाई तुरत शुरू की जा सके।"

जर्मनी मे दो क्रान्तियां होने को थी, पहली पूंजीवादी क्रान्ति, दूसरी सर्वहारा क्रान्ति। दोनो मे मजदूरो को आगे बढ़कर हिस्सा लेना था। पहली क्रान्ति मे मजदूरों के साथ सामन्तविरोधी पूंजीपति हो सकते थे, दूसरी मे वे अकेले थे।

घोषणापत्र मे जर्मनी से पहले पोलैण्ड के बारे मे उन्होने लिखा: कम्युनिस्ट वहां उस पार्टी का समर्थन करते है जो राष्ट्रीय उद्धार की मुख्य शर्त के रूप मे किसान क्रान्ति पर जोर देती है। उन्होंने उदाहरणस्वरूप बताया कि इस पार्टी ने क्राकाउ नगर मे १८४६ मे विद्रोह उभारा था। पूंजीवादी क्रान्ति की तरह यह किसान क्रान्ति भी सामन्तविरोधी थी।

पोलैण्ड की इस क्रान्ति की विशेषता यह थी कि राष्ट्रीय उद्धार की वह मुख्य शर्त थी। राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए जरूरी था कि पोलैण्ड मे किसान सामन्तवाद से लड़ें। और इस सामन्तविरोधी लड़ाई मे कम्युनिस्टों की जिम्मेदारी थी कि वे किसानों का साथ दें। आशय यह कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए सामन्तविरोधी सग्राम जरूरी था और इस सग्राम मे मजदूरो को किसानो का साथ देना था।

क्राकाउ के विद्रोह के बारे मे मार्क्स और एगेल्स के **सेलेक्टेड वर्क्स** के संपादको ने बताया है कि १८४६ मे समस्त पोलैण्ड मे राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए विद्रोह की तैयारी की गयी थी। पोलिश सामन्तों के एक अंश ने गद्दारी की और प्रुशिया (अर्थात् जर्मनी के एक प्रदेश) की पुलिस ने विद्रोह के नेताओं को पकड लिया। क्राकाउ पर आस्ट्रिया, रूस और प्रुशिया का सयुक्त अधिकार था। यहां विद्रोही सफल हुए और राष्ट्रीय सरकार उन्होंने कायम की। इसने घोषणापत्र जारी किया कि अभी तक सामन्त किसानो से जबरन काम कराते थे, वे काम अब कोई न करेगा। विद्रोह कुछ ही समय बाद दबा दिया गया था।

क्राकाउ विद्रोह दबा दिया गया किन्तु मार्क्स और एगेल्स ने उसे अगले

संघर्षों के लिए एक नमूने के तौर पर कम्युनिस्टों के सामने पेश किया। पोलैण्ड जैसे पिछड़े हुए पराधीन देश को राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करनी है; उसका स्वाधीनता संग्राम सामन्तविरोधी संघर्षों से जुड़ा हुआ है। सर्वहारा क्रान्ति की नौबत उसके बाद कभी आयेगी।

स्विट्ज़रलैण्ड मे कम्युनिस्ट परस्परविरोधी तत्वोवाली रैडिकल पार्टी का समर्थन करते थे। इस पार्टी मे डिमोक्रैटिक सोशलिस्ट थे और पूंजीपतियो का रैडिकल अश था। मार्क्स और एंगेल्स ने रैडिकल पार्टी का समर्थन करने की बात इसलिए कही थी कि वहाँ भी जनवादी क्रान्ति के लिए मजदूरों के साथ अन्य समुदायों को एकजुट करना था। इनमे मज़दूरो के समर्थक समाजवादी थे, और इनमे भिन्न समाजवाद के विरोधी पूँजीपति थे। ये पूँजीपति गरमदली इसलिए थे कि वे सामन्तविरोधी संघर्ष चलाने के पक्ष मे थे।

जर्मनी, पोलैण्ड और स्विट्ज़रलैण्ड मे सामन्तविरोधी अर्थात् जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम पूरा करना था। अब यूरुप मे एक मुख्य देश बचा फ्रान्स और यूरुप के बाहर एक महत्वपूर्ण देश था इग्लैण्ड। इन दोनो देशों मे सर्वहारा क्रान्ति की सम्भावना थी।

कुछ देशो मे सर्वहारा क्रान्ति, कुछ मे पूँजीवादी क्रान्ति, कुछ अन्य मे जनवादी क्रान्ति के साथ स्वाधीनता सग्राम। यूरुप के ही विभिन्न देशो मे सामाजिक विकास एकसा न हुआ था, इन देशों मे एक ही तरह की क्रान्ति होनेवाली नही थी। क्रान्ति सभी देशो मे एक साथ सफल होगी, इसकी सम्भावना और भी कम थी। क्रान्तिकारी संघर्षों का एक लम्बा सिलसिला शुरू होनेवाला था, कई देशों में वह शुरू हो चुका था। इसलिए इन सभी संघर्षों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ एक ही कार्यनीति अपनायें, यह न आवश्यक था, न उचित था। मार्क्स और एगेल्स ने कम्युनिस्टों से अपने-अपने देश की परिस्थितियो के अनुरूप कार्यनीति अपनाने को कहा। उन्होने लिखा : "वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध कम्युनिस्ट हर जगह हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करते हैं।" एक ही छलाँग में क्रान्ति पूरी होनेवाली नही थी, संघर्षों का एक लम्बा सिलसिला सामने था, इसलिए मार्क्स और एगेल्स ने तात्कालिक और दूरगामी उद्देश्यों मे भेद किया। दोनो तरह के उद्देश्य आपस मे जुड़े हुए हैं, तात्कालिक उद्देश्य सिद्ध करते समय दूरगामी उद्देश्यों को बराबर ध्यान मे रखना चाहिए। इस बारे मे उन्होने लिखा : "कम्युनिस्ट मज़दूर वर्ग के तात्कालिक उद्देश्यो की सिद्धि के लिए लड़ते हैं, उसके अस्थायी हितों को मनवाने के लिए लड़ते है। किन्तु वर्तमान काल के आन्दोलन के दौरान वे उस आन्दोलन का भविष्य भी सँभाले रहते हैं, उसका प्रतिनिधित्व करते है।" तात्कालिक और दूरगामी उद्देश्यों की सिद्धि के लिए कम्युनिस्ट मजदूर वर्ग की गैरकम्युनिस्ट पार्टियो से सहयोग करते है, मजदूरो के अलावा अन्य वर्गों की पार्टियो से भी करते है।

२. जर्मनी की अधूरी क्रान्ति

पूँजीपति वर्ग की एक विशेषता यह है कि वह पूँजीवादी क्रान्ति पूरी नही कर पाता।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा था कि इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों ने १७वीं सदी मे और फ्रान्स के पूंजीपतियो ने १८वी सदी में पूंजीवादी क्रान्ति की थी। जर्मनी के पूंजीपति १६वी सदी में ऐसी ही क्रान्ति करनेवाले थे। फर्क यह था कि इंग्लैण्ड और फ्रांस की अपेक्षा १६वीं सदी के जर्मनी मे पूंजीवादी क्रान्ति के लिए परिस्थितियां ज्यादा अनुकूल थीं। यूरप की सभ्यता १७वी और १८वी सदियों की अपेक्षा अब अधिक विकसित हो चुकी थी और जर्मनी का सर्वहारा वर्ग भी अधिक विकसित था। इसलिए पूंजीवादी क्रान्ति के तुरत बाद सर्वहारा क्रान्ति भी शुरू हो जायेगी। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में ही उन्होंने लिखा था कि सम्पत्ति के सामन्ती सम्बन्धों की जगह स्वच्छन्द होड ने ले ली है। उसके साथ सामाजिक और राजनीतिक संविधान बना। पूंजीपति वर्ग ने अपनी आर्थिक और राजनीतिक सत्ता कायम की। मार्क्स और एंगेल्स ने घोषणा की कि पूंजीपति वर्ग ने ऐतिहासिक रूप मे अत्यन्त क्रान्तिकारी भूमिका निबाही है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र फरवरी १८४८ में प्रकाशित हुआ था। मार्च में जर्मनी की सामन्तवादी पार्टी को सत्ता से हटा दिया गया किन्तु पूंजीपति वर्ग ने उससे एका कायम किया। १८४८ के अन्त मे मार्क्स ने 'पूंजीपति वर्ग और क्रान्ति-विरोध' लेख मे बताया कि जर्मन क्रान्ति यूरोपियन क्रान्ति नही हो पायी। वह एक पिछडे हुए देश मे यूरोपियन क्रान्ति के बाद का कुंठित परिणाम मात्र थी। अपने युग से आगे होने के बदले वह आधी शताब्दी के फासले पर उसके पीछे घिसटती आ रही थी। (**सेलेक्टेड वर्क्स**, खण्ड १, पृ. १४०)। १८५० में मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट लीग की केन्द्रीय समिति के लिए एक भाषण तैयार किया। इसमें उन्होंने बताया कि १८४८ के मार्च-आन्दोलन के बाद पूंजीपति वर्ग ने राज्यसत्ता पर अधिकार किया। अन्त मे उसने सामन्ती निरंकुशतावादी दल के हाथों मे फिर सत्ता सौंप दी। उसने अपने लिये ऐसी स्थिति बना ली कि भविष्य मे अपना शासन बनाये रखने के लिए उसे जनता के विरुद्ध हिंसात्मक कदम उठाकर स्वयं को घृणास्पद बनाने की जरूरत न होगी क्योकि ऐसे सभी हिंसात्मक कदम सामन्ती क्रान्ति-विरोध पहले ही उठा चुका है। (उप. १७६)। यहाँ शासन बनाये रखने की जो बात है, वह तब के लिए है जब पूंजीपतियों के हाथ मे सत्ता आयेगी; अभी तो वहाँ सामन्तवाद का बोलबाला था।

१८५० में एंगेल्स ने १६वी सदी के जर्मन किसानों के संघर्ष पर अपनी पुस्तक **जर्मनी में किसान युद्ध** लिखी। इसमे उन्होने बताया कि १८४८ की क्रान्ति से बड़े राजाओं ने तथा आस्ट्रिया और प्रुशिया ने फायदा उठाया। इनके पीछे आधुनिक बड़े पूंजीपति खड़े थे जो राष्ट्रीय ऋण के माध्यम से उन्हे तेजी से अपने अधीन बनाते जा रहे थे। यह बात उन्होने १८५० में लिखी थी। २० साल बाद अपनी भूमिका में उन्होने इस पर टिप्पणी की कि—"मुझे यह कहते हुए खेद होता है कि इस पैराग्राफ मे जर्मन पूंजीपति वर्ग को बहुत अधिक सम्मान दिया गया है। आस्ट्रिया और प्रुशिया मे उसे यह अवसर अवश्य मिला कि वह बादशाही को राष्ट्रीय ऋण के द्वारा अपने अधीन कर ले किन्तु कहीं भी उसने इसका उपयोग नही किया।" (एंगेल्स, **दि पेजेंटवार इन जर्मनी**, मास्को, पृष्ठ ६)।

उन्होंने आगे लिखा कि १८६६ की लड़ाई से आस्ट्रिया पूंजीपति वर्ग को आसानी से प्राप्त हो गया। आस्ट्रिया स्वतन्त्र राज्य है किन्तु जर्मनी की तरह वहाँ की भाषा भी जर्मन है। प्रुशिया जर्मनी का एक प्रदेश था, वहाँ के मूल निवासी स्लाव थे। प्रुशिया ने आस्ट्रिया को हरा दिया और आस्ट्रिया के शासकों को कुछ पूंजीवादी सुधार करने पड़े। किन्तु पूंजीपति वर्ग शासन करना नहीं जानता, वह निकम्मा है और किसी मसरफ का नहीं है। मजदूरों ने जहाँ जरा हाथ-पैर हिलाये, वहाँ यह वर्ग उन पर जबर्दस्त हमला अवश्य कर सकता है। प्रुशिया में राष्ट्रीय ऋण बढ़ रहा था। पूंजीपतियों के प्रतिनिधियों का बहुमत विधान सभा में था, उनकी अनुमति के बिना न और रुपया उधार लिया जा सकता था, न टैक्स लगाये जा सकते थे। एंगेल्स ने पूछा : "राज्यसत्ता पर उनका प्रमुत्व कहाँ है ?" (उप.)। यह वर्ग सरकार से छोटी-मोटी रियायतें पाकर सन्तुष्ट हो जाता था। जर्मन पूंजीपति वर्ग को उन्होंने कायर बताया। जर्मनी में जो थोड़े-बहुत सुधार हुए थे, वे भी उस स्तर के न थे जिस स्तर के सुधार पश्चिमी यूरुप के देशों में हो चुके थे।

१८४८ की क्रान्ति के बारे मे एंगेल्स ने इसी भूमिका में लिखा कि जर्मनी के पूंजीपति जर्मन मजदूरो की अपेक्षा फ्रांसीसी मजदूरों से ज्यादा डर रहे थे। जून १८४८ मे फ्रांसीसी मजदूरों ने पैरिस में संघर्ष किया। उससे पूंजीपति सहम गये और सोचने लगे कि जर्मन मजदूर यहाँ भी यही सब करेंगे। तब से उनकी अपनी राजनीतिक कार्यवाही ठण्डी हो गई। "पूंजीपति वर्ग ने सहयोगियों की तलाश में चारो तरफ निगाह डाली; जो भी कीमत मिली, उसने उनके हाथ अपने को बेच दिया और आज भी वह एक कदम आगे नहीं बढ़ा है।" (उप. १३)। १८४८ की पूंजीवादी क्रान्ति १८७० तक पूरी न हुई थी। पूंजीपतियों को जिन सहयोगियों की तलाश थी, वे सब प्रतिक्रियावादी थे। एंगेल्स ने बताया कि एक सहयोगी है बादशाही जिसके पास फौज है और नौकरशाही है। इसके अलावा बड़े सामन्ती अभिजात (big feudal nobility) है। इनके अलावा छोटे-मोटे जमींदार हैं और पुरोहित भी है। इन सबके साथ पूंजीपतियों ने मोल-भाव किया, गठबन्धन किया। जितना ही सर्वहारा वर्ग का विकास हुआ, उतना ही पूंजीपति वर्ग ने कायरता दिखाई। एंगेल्स ने जिन्हें सामन्ती अभिजात कहा है, वे बड़े भूस्वामी थे जो सामन्त काल से अब तक चले आ रहे थे। इनके साथ ऐसे किसान थे जो अपने मालिक के लिए अतिरिक्त श्रम (कोर्वे) करते थे। पूंजीपति वर्ग ने इन्हें सामन्ती दासता से मुक्त करने का अपना कर्तव्य पूरा न किया था। एंगेल्स ने १८६६ के प्रथम इण्टरनेशनल की कांग्रेस का जिक्र किया जिसने यह प्रस्ताव पास किया था कि भू-सम्पत्ति को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना लेना चाहिए। इस प्रस्ताव पर टिप्पणी करते हुए एंगेल्स ने कहा कि जर्मनी मे अब भी बड़े-बड़े भूस्वामी हैं और वे निर्वाचित होकर पार्लियामेण्ट में बैठते है।

चार साल बाद लिखे हुए भूमिका के दूसरे अंश में एंगेल्स ने बताया कि औद्योगिक विकास के साथ-साथ पूंजीपतियों और मजदूरों मे संघर्ष बढ़ा, सामन्तों और पूंजीपतियो का संघर्ष पीछे रह गया। बादशाही का ह्रास १८४० से हो रहा था। अभिजात वर्ग और पूंजीपतियों के संघर्ष में बादशाही दोनो के बीच सन्तुलन

बनाये रखती थी। जब सामन्तो को पूंजीपतियों के हमले का भय न रहा और मज़दूरो के हमले से सभी सम्पत्तिशाली वर्गों को बचाना जरूरी हो गया, तब पुरानी बादशाही ने नया रूप धारण किया। १८४८ के बाद प्रुशिया ने यही सबसे बड़ी प्रगति की थी। प्रुशिया अभी अर्धसामन्ती राज्य था। (पृ. १८)। उसके लिए जरूरी था कि सामंतवाद के अनगिनत अवशेष समाप्त करे। यह काम हो रहा था पर बड़ी नज़ाकत से। किसी एक रियासत में जमींदार के सामन्ती विशेषाधिकार खत्म कर दिये गये किन्तु समूचे जनपद में बड़े भूस्वामियों के समुदाय के लिये विशेषाधिकार बहाल किये गये। "भीतरी तत्व बना रहा; केवल सामंती बोली से पूंजीवादी बोली मे उसका अनुवाद कर दिया गया। प्रुशिया का पुराना जमींदार बलपूर्वक ऐसे व्यक्ति में बदला जा रहा है जो अंग्रेज नंबरदार (स्क्वायर) से मिलता-जुलता है। और उसे इतना विरोध करने की जरूरत न थी क्योंकि एक उतना ही मूर्ख है जितना दूसरा।" (पृष्ठ १९)। एंगेल्स ने व्यंग्यपूर्वक लिखा कि सबकुछ ठीक-ठाक रहा तो शायद १९०० मे प्रुशिया वहाँ पहुँच जायेगा जहाँ फ्रांस १७९२ में था।

उन्होने आगे लिखा कि सामतवाद को खत्म करने का मतलब है पूंजीवादी परिस्थितियाँ कायम करना। सरकार को मजबूर होकर छोटे-मोटे सुधार करने पड़ते हैं। सरकार यह दिखाती है कि वह पूंजीपतियो के लिए त्याग कर रही है। बादशाह से हर रिआयत बड़ी मुश्किल से प्राप्त की जाती है। इसके बदले मे पूंजीपतियों से आशा की जाती है कि वे भी उसे कुछ देंगे। 'पूंजीपति सब कुछ जानते हुए भी बेवकूफ बनने को तैयार हो जाते हैं। सरकार पूंजीपतियों के हित मे नौ दिन चले अढाई कोस की रफ्तार से सुधार करती है, उद्योगधन्धों की राह से सामंती रुकावटें दूर करती है, रियासतों की बहुतायत से जो रुकावट पैदा हुई थी, उसे दूर करती है, एक से सिक्के, तौलने के एक से बाँट और नापने के लिए एक से पैमाने चालू करती है।' (पृष्ठ १९)। (अकबर के जमाने मे नापने, तौलने के लिए एक से बाँटों और पैमानों का चलन किया गया था, उद्योग और व्यापार की प्रगति के लिए राज्य मे सामान्य मुद्रा का चलन किया गया था। यह कार्य जर्मनी में १९वी सदी के उत्तरार्ध में हो रहा था।) सरकार से सुविधाएँ प्राप्त करने के बावजूद पूंजीपति वर्ग ने वास्तविक राजनीतिक सत्ता सरकार के हाथ में छोड़ दी थी। "राजनीतिक सत्ता का तात्कालिक त्याग वह मूल्य है जिसे देकर पूंजीपति वर्ग अपना क्रमिक सामाजिक उद्धार खरीदता है।" (पृष्ठ २०)। एंगेल्स ने इसका कारण बताया कि पूंजीपतियों को सरकार से भय नही है, भय है मज़दूरों से।

'कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखने से पहले मार्क्स और एंगेल्स के लेखों में पूंजीपति वर्ग के ढुलमुलपन और कायरता के प्रति वही दृष्टिकोण है जो १८७० और ७४ में लिखी हुई उक्त भूमिका में दिखाई देता है। १८४२ में मार्क्स ने लिखा था कि पूंजीपतियों के प्रतिनिधि प्रेस की स्वाधीनता से भय खाते हैं। फैसला न कर पाना, आधेमन से काम करना, यह इनके प्रतिनिधियों की विशेषता है। (मार्क्स और एंगेल्स, कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड-१, मास्को, पृष्ठ १७०-७१)। १८४५ मे प्रकाशित इंगलैण्ड के मजदूर वर्ग की दशा में एंगेल्स ने लिखा था कि "मैंने इतना ज्यादा

पस्त, स्वार्थपरता के कारण लाइलाज रूप से इतना गिरा हुआ, भीतर से इतना खोखला, प्रगति करने में ऐसा असमर्थ वर्ग नही देखा जैसा अंग्रेज पूंजीपति वर्ग है।" (ऑन ब्रिटेन, पृ. ३११)। मार्क्स और एंगेल्स अच्छी तरह जानते थे कि पूंजीपति वर्ग ढुलमुल और कायर है, अवसरवादी है, मौका पाते ही मजदूरों पर हमला करता है। जिस समय वह पूंजीपतियों को पूंजीवादी क्रान्ति करने के योग्य मानते थे, उस समय वह यह भी सोचते थे कि सर्वहारा क्रान्ति शीघ्र होगी। जब पूंजीवादी क्रान्ति पूरी न हुई, सामन्ती अवशेष काफी मजबूत बने रहे, तब सर्वहारा क्रान्ति की सम्भावना भी दूर चली गयी। यह याद रखना जरूरी है कि १८४७-४८ मे मार्क्स और एंगेल्स ने पूंजीवादी विकास का जो जायजा लिया था, उसी के अनुसार उन्होने अनेक देशों मे एक साथ सर्वहारा क्रान्ति होने की बात कही थी। अक्तूबर १८४७ में एंगेल्स ने **कम्युनिज्म के सिद्धान्त** नाम का लेख लिखा था। इसमें उन्होंने प्रश्न किया था : क्या एक ही देश मे कम्युनिस्ट क्रान्ति हो सकती है? और उन्होने इसका उत्तर दिया था : नही। बड़े पैमाने के उद्योगधन्धो ने विश्व बाजार कायम करके दुनिया के सभी लोगों को, खासतौर से सभ्य लोगों को, एक दूसरे से जोड दिया है। एक देश मे जो कुछ होता है, उसका असर दूसरे देश के लोगो पर पडता है। सभी सभ्य देशों मे बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धो ने सामाजिक विकास को एक-सा बना दिया है। नतीजा यह कि इन सभी देशो मे पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग समाज के दो निर्णायक वर्ग बन गये है। इनका संघर्ष आज का मुख्य संघर्ष है। "इसलिए कम्युनिस्ट क्रान्ति केवल राष्ट्रीय क्रान्ति न होगी, वह ऐसी क्रान्ति होगी जो एक साथ सभी सभ्य देशो मे होगी यानी कम-से-कम इंग्लैण्ड, अमरीका, फ्रांस और जर्मनी मे होगी।" (**कलेक्टेड वर्क्स**, खण्ड ६, पृष्ठ ३१२)। एंगेल्स ने यह भी लिखा था कि "जिस देश मे उद्योग-धन्धो का विकास अधिक हुआ होगा, सपदा अधिक होगी, उत्पादक शक्तियों का समुदाय काफी ज्यादा होगा, वहाँ उसका (क्रान्ति का) विकास जल्दी होगा, दूसरे देश मे धीरे होगा। इस कारण जर्मनी मे वह सबसे धीमी और सबसे कठिन होगी, सबसे आसान और तेजी से इंग्लैण्ड मे होगी।" (उप.)।

विश्वक्रान्ति के बारे मे मार्क्स और एंगेल्स के बाद काफी बहस हुई। इस बहस के सिलसिले मे यह याद रखना जरूरी है कि जर्मनी मे पूंजीपति वर्ग १८७४ तक पूंजीवादी क्रान्ति पूरी न कर पाया था। १८९५ में १८४८ के क्रान्तिकारी उभार पर विचार करते हुए एंगेल्स ने मार्क्स की पुस्तक **फ्रांस के वर्गसंघर्ष** की भूमिका में लिखा था : इतिहास ने हमे और हमारी तरह सोचने वाले अन्य सभी लोगों को गलत साबित किया है। उसने स्पष्ट कर दिया है कि उस समय तक यूरुप का आर्थिक विकास बहुत काफी अपरिपक्व था। इस कारण पूंजीवादी उत्पादन को निर्मूल न किया जा सकता था। (**सेलेक्टेड वर्क्स**, खण्ड १, पृ. १९१-९२)। किन्तु सर्वहारा क्रान्ति के लिए स्थिति अनुकूल नही थी तो इससे निष्कर्ष यह निकालना चाहिए कि वह जनवादी क्रान्ति के अनुकूल थी और पूंजीपतियों की जगह मजदूर इसकी बागडोर अपने हाथ मे ले सकते थे।

३. इंग्लैण्ड की पूंजीवादी क्रान्ति और किसान

पूंजीपति जब सामन्तविरोधी क्रान्ति करते है, तब इसमें सामन्तों के हितों का बलिदान नही होता, बलिदान होता है किसानों के हितो का। कम-से-कम इंग्लैण्ड की पूंजीवादी क्रान्ति की यही विशेषता है। वहां की पूंजीवादी क्रान्ति को सामन्त-विरोधी क्रान्ति कहने के बदले किसान-विरोधी क्रान्ति कहें तो अनुचित न होगा। पूंजीवादी क्रान्ति में उत्पादन का तरीका किसानों और सामन्तो दोनों के लिए बदलता है किन्तु इस बदलने की प्रक्रिया से सामन्तों को पहले से भी ज्यादा लाभ होता है और किसान बरबाद हो जाते हैं। किसी भी पूंजीवादी क्रान्ति में सामन्तों पर जो बीतती है, और किसानों पर जो बीतती है, उसका असर मज़दूरों के संगठन और भविष्य की सर्वहारा क्रान्ति पर पडता है।

पूंजी के पहले खण्ड मे मार्क्स ने बताया है कि जिस क्रान्ति ने उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति की नीव डाली, उसकी शुरूआत पन्द्रहवी सदी के उत्तरार्ध और सोलहवी के पूर्वार्ध मे हुई थी। *उस समय के बड़े-बड़े सामन्त बादशाह और* पार्लियामेंट दोनों से टक्कर ले रहे थे। इन सामन्तों ने बलपूर्वक किसानों की ज़मीन छीन ली। इस ज़मीन पर किसानों का वैसा ही सामन्ती हक था जैसा खुद सामन्तो का था। सामन्तों ने किसानों की सामुदायिक भूमि भी हथिया ली। ये सामन्त आपस में लड़ते-लड़ते नबाह हो चुके थे। इंग्लैण्ड मे जब ऊन का भाव चढ गया था, तब सामन्तों ने सोचा कि खेती की ज़मीन को भेडों के चराने की भूमि बना दिया जाय तो लाभ होगा। किसानों के घर और झोंपड़े गिरा दिये गये। उस समय की दशा का वर्णन करते हुए हैरिसन नाम के लेखक ने गाँवों के साथ शहरो और कस्बो की तबाही का चित्र भी खीचा था। इनमे बहुतों की आबादी आधी या तिहाई छँट गयी; कई जगह कस्बों का सफाया करके वहां चरागाह बना दिये गये। प्रसिद्ध लेखक बेकन ने लिखा था कि १४७९ के करीब जमीन का घेराव और ज्यादा होने लगा। जो किसान वर्षो से जमीन जोतते आये थे, वे अब अपनी जमीन से हाथ धो बैठे। इससे कस्बे, गिरजाघर, जनता सब ह्रास की दशा में पहुँच गये।

धार्मिक सुधार के नाम पर सामन्तों ने चर्च की भूमि हथिया ली। बादशाह ने चर्च की बहुत सी भूमि अपने मुसाहबों मे बांट दी। (भारत में औरंगज़ेब ने ज़मीन देकर नये सामन्त बनाये थे, इस पर फ्रांसीसी यात्री बर्नियर को बड़ी आपत्ति थी। उससे मिलती-जुलती क्रिया इंग्लैण्ड के बादशाह कर चुके थे।) चर्च की ज़मीन नामचार की कीमत लेकर सट्टेबाजों के हाथ बेची गयी। इन सट्टेबाजों ने मौरूसी आसामियो को निकाल बाहर किया। चर्च की जमीन का एक भाग कानून द्वारा गरीबो के लिए सुरक्षित था, वह भी छीन लिया गया। सत्रहवी सदी के अन्त तक स्वाधीन किसानों की संख्या काफी थी। क्रामवेल की सेना मे यही लोग सामन्तों से लड़े थे। १७५० तक छोटे किसानो का यह वर्ग लगभग समाप्त हो गया। १८वी सदी के अन्त तक किसानो की सारी सामुदायिक सम्पत्ति, भूमिहीन किसानो की चरी की भूमि सामन्तो के हाथ आ गयी। मार्क्स ने सामुदायिक सम्पत्ति के लिए लिखा है कि यह जर्मन कबीलो मे बहुत समय से चली आ रही थी, और सामन्त-

वाद के समय भी कायम रही। इसे छीनने के खिलाफ कानून बनाये गये थे किन्तु सामन्तों ने उन्हें तोड़ा था और वे हिंसात्मक तरीके से जमीन पर अधिकार करते रहे थे। १८वी सदी मे कानून के द्वारा वे जनता की भू-सम्पत्ति की चोरी करने लगे। पार्लियामेंट मे सामन्तों का बोलबाला था। सामुदायिक भूमि घेरने के लिए उन्होने कानून बनाये, जमीदारो ने जनता की भूमि को अपनी निजी सम्पत्ति बना लिया।

इस सारी प्रक्रिया का नतीजा यह हुआ कि इंग्लैण्ड मे भिखारियों, मुफलिसों और खानाबदोशों की भरमार हो गयी। बड़े जमीदारों ने अपने लिये बड़े-बड़े शिकारगाह आरक्षित कर लिये थे। वहाँ से कोई भूखा किसान एक खरगोश भी मार ले तो उसे सख्त सजा दी जाती थी। बहुत-से लोग अमरीका चले गये; जो न जा सकते थे वे शहरों की तरफ भागे। जिन्हें काम मिल गया, वे भाग्यशाली रहे, जिन्हें न मिला वे भूखों मरे। इस सिलसिले में पहले जिस सवाल पर विचार करना है, वह यह है कि किसानो की भूमि छीननेवाले ये बड़े जमीदार पूँजीवाद के विकास में सहायता कर रहे थे या बाधा डाल रहे थे। ये लोग भेड़ें पालकर ऊन बेचने के लिए जमीन का घेराव कर रहे थे। पुराने सामन्तो ने चौदहवी सदी के पहले यह सब न किया था। ऊन बेचकर सामन्त अब मुनाफा कमाते। इसलिए इन्हें पूँजीपति क्यों न कहा जाय?

मार्क्स और एंगेल्स का विचार था कि ये जमीदार पुराने जमीदारों से भिन्न है, वे कहने भर को जमीदार हैं, दरअसल वे भी पूँजीपति है या पूँजीपति वर्ग का हिस्सा हैं। १८४५ मे प्रकाशित **इंग्लैण्ड के मजदूर वर्ग की दशा** मे एंगेल्स ने लिखा था कि ब्रिटिश सविधान मे जो बादशाही और अभिजात वर्ग के तत्व है, वे स्वयं को केवल इसलिए बनाये हुए है कि पूँजीपति वर्ग को उनका मिथ्या अस्तित्व बनाये रखने से दिलचस्पी है—इन दोनों में किसी का भी अस्तित्व अब मिथ्या ही है। (**ऑन ब्रिटेन**, पृ. २६४)। आगे उन्होंने लिखा: "पूँजीपति वर्ग की बात करते समय मैं उसमे तथाकथित अभिजात वर्ग (ऐरिस्टोक्रैसी) को शामिल कर लेता हूँ। पूँजीपति वर्ग के मुकाबले ही यह वर्ग अभिजात है, विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग है। सर्वहारा वर्ग को देखते वह ऐसा नही है। सर्वहारा दोनों में ही सम्पत्ति के मालिक अर्थात् पूँजीपति को देखता है। सम्पत्ति के विशेषाधिकार के सामने और सभी विशेषाधिकार गायब हो जाते है।" (पृष्ठ ३१०-११)। जो पूँजीपति है, वह औद्योगिक मजदूर वर्ग के सम्पर्क में आता है; जो अभिजात वर्ग का जमीदार है, वह खेत-मजदूरों के सम्पर्क में आता है। इतना ही फर्क है। १८५० में फ्रांसीसी लेखक गीजो की एक पुस्तक की आलोचना करते हुए मार्क्स ने लिखा कि बड़े जमीदारो की रियासतें सामन्ती नही, पूँजीवादी सम्पत्ति थी। एक ओर जमीदारों ने उद्योगपतियों के लिए मजदूरों की जमात खड़ी कर दी थी जो उनके कारखानों मे काम करे, दूसरी तरफ वे (जमीदार) ऐसी स्थिति में थे कि व्यापार और उद्योग-धन्धों की हालत के अनुरूप खेती का विकास करें। इसीलिए पूँजीपतियो से उनके हित मिलते-जुलते थे, इसीलिए उनमें सहयोग था। (उप. ३४७)।

मार्क्स और एंगेल्स जमीदारों को उद्योगपतियों से [illegible]

अर्थ में उन्हें पूँजीपति वर्ग मे शामिल करते थे। उद्योगपतियों के लिए मार्क्स ने लिखा कि यह वर्ग इतना शक्तिशाली हो गया है कि सुधार कानून के जरिये प्रत्यक्ष राजनीतिक सत्ता पाने के पहले ही वह अपने विरोधियों को बाध्य करता है कि उसके हितों मे वे कानून बनायें। यह वर्ग पार्लियामेण्ट में अपने लिये प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व की माँग मनवा लेता है और भू-सम्पत्ति (यानी ज़मीदारों) के पास वास्तविक सत्ता का जो अन्तिम अवशेष है, उसे खत्म करने के लिए वह उसका उपयोग करता है। (उप)।

अभिजात वर्ग और पूँजीपतियों के आपसी सम्बन्धों के बारे मे मार्क्स और एंगेल्स की धारणाएँ क्रमशः बदलती गयी। १८५२ मे इंग्लैण्ड के चुनावों में टोरी और ह्विग नामक दो दलों की विवेचना करते हुए मार्क्स ने टोरी जमीदारों से पूँजीपतियों का भेद करते हुए लिखा कि जैसे ज़मीन का भाड़ा उद्योग और व्यापार के मुनाफे से भिन्न है, वैसे ही टोरी भी उद्योगपतियों से भिन्न है। ज़मीन का भाड़ा पुरानपन्थी है, मुनाफा प्रगतिशील है; भाड़ा राष्ट्रीय है, मुनाफा अन्तरराष्ट्रीय है। भाड़ा चाहता है कि चर्च राजकीय संस्था हो, मुनाफा जन्म से ही असहमतिवादी है। (उप. ३५०)। बड़े-बड़े जमीदार अपनी जमीन पूँजीवादी काश्तकारों को भाड़े पर उठाते थे। उद्योगपति जहाँ कारखाने लगाते थे, वह ज़मीन भी अक्सर उन्हे जमीदारों से भाड़े पर या पट्टे पर मिलती थी। सामन्ती व्यवस्था में भूमि पर ज़मीदारों का जो मौरूसी हक था, उसी के अधीन वे ज़मीन मे पूँजी लगाये बिना भाड़े के रूप मे उससे कमाई कर रहे थे। इसीलिये मार्क्स ने भाड़े को मुनाफे से अलग बताया, भाड़े को पुरानपन्थी और मुनाफे को प्रगतिशील कहा। जो पूँजीवादी काश्तकार ज़मीदार की ज़मीन पर गल्ला पैदा करते थे, वे उसे ऊँची कीमत पर बेचते थे और ज़मीदार को अच्छा भाड़ा देते थे। बाहर गल्ला सस्ता था पर ज़मीदार विदेशी गल्ला आने न देते थे। इसके विरुद्ध जनता ने प्रबल आन्दोलन किया और १८४६ मे विदेशी गल्ले की आमद से पाबन्दी हटा ली गयी। मार्क्स ने कहा कि जो हकीकत समाज में पहले से थी, वह अब कानून से भी स्वीकार कर ली गयी, यानी ज़मीदारी हित महाजनी हित के अधीन हो गया है। टोरी दल की ताकत का आधार जमीन का भाड़ा था। भाड़ा कितना मिलता है, यह गल्ले की कीमत पर निर्भर था। विदेशी गल्ले की आमद पर पाबन्दी हटा देने पर गल्ला सस्ता हो गया, इससे भाड़े की दर मे गिरावट आयी। पूँजीवादी काश्तकार जब गल्ला महँगा बेचते थे, तब ज़मीदारों को भाड़ा भी ज्यादा देते थे। गल्ला सस्ता हुआ तो भाड़ा भी कम हुआ। मार्क्स ने लिखा कि भाड़े में कमी आने से टोरी दल की राजनीतिक शक्ति का असली आधार टूट गया। अब वे अपनी राजनीतिक सत्ता बनाये रखने के लिये क्या करना चाहते है? उस सत्ता का सामाजिक आधार तो खत्म हो गया। केवल क्रान्ति-विरोध (काउण्टर रिवोल्यूशन) के द्वारा वे सत्ता बनाये रख सकते हैं। मार्क्स ने क्रान्ति-विरोध की व्याख्या की और बताया कि समाज के खिलाफ राज्यसत्ता का उपयोग करके वे अपनी शक्ति कायम रख सकते है। देहात की आबादी से शहरों की आबादी तीन गुना ज्यादा बढ़ गयी है। इसी से ज़ाहिर है कि अब देहात के ज़मीदार सत्ताधारी नही बने रह सकते किन्तु वे ज़ोर-

ज़बर्दस्ती से पुरानी संस्थाएँ कायम रखना चाहते है। उनके इस प्रयत्न से उन्ही का नाश होगा। पूँजीवादी काश्तकार इन जमीदारो के पीछे चलते हैं। परम्परा से उन्हें वे अपने मे बडा मानते आये है, उनके पीछे चलने की आदत पडी हुई है। बहुत से पूँजीवादी काश्तकार आर्थिक रूप से उन पर निर्भर है और "वे यह नही देखते कि ज़मीदार और काश्तकार के हित उसी तरह एक जैसे नही है जैसे कर्ज़-दार और साहूकार के हित एक जैसे नही है।" (उप., पृष्ठ ३५१)। यहाँ मार्क्स ने स्पष्ट पूँजीवादी हितो और ज़मीदारी हितो मे भेद बताया है। यह भेद औद्योगिक पूँजीपतियो और जमीदारों मे ही नही है, वह पूँजीवादी काश्तकारों और जमीदारों मे भी है। पूँजीवादी काश्तकार जमीदार की भूमि भाडे पर लेकर जोतता-बोता है। जहाँ ज़मीन व्यक्तिगत सम्पत्ति होगी, बेची और खरीदी जायेगी, वहाँ पूँजी-पति उसे खरीद लेगा और उस पर खेती करायेगा। यहाँ ज़मीदार पूँजीवादी ढंग से खेती करनेवालों को भाडे पर ज़मीन उठाते थे। खेती करने का ढंग पूँजीवादी था लेकिन मिल्कियत सामन्ती थी, इसलिए कर्जदार और साहूकार वाली उपमा बहुत सटीक है। पूँजीवादी काश्तकार और जमीदार दो भिन्न वर्गों के लोग थे और इनमे तगडी आपसी टक्कर थी। पूँजीपति वर्ग जमीदारों को दबाने की कोशिश करता था किन्तु उसी का एक हिस्सा उनसे समझौता करता था। महाजन, पूँजीवादी काश्तकार, उद्योगपति, कई तरह के पूँजीपति थे और इन सबकी नीति एक सी नही थी। उद्योगपति आर्थिक रूप मे शक्तिशाली थे किन्तु राजनीतिक सत्ता १८५२ तक पूरी तरह उनके हाथ मे न आयी थी। पूँजीवादी काश्तकार आर्थिक रूप से कमज़ोर थे, वे ज़मीदारों पर निर्भर थे। पूँजीवादी काश्तकारों के अलावा उपनिवेशी हित, जहाज़रानी के हित, राजकीय चर्च पार्टी टोरी दल के पीछे चलते थे यानी "वे सब तत्व उनके पीछे चलते है जो यह जरूरी समझते हैं कि आधुनिक उद्योग-धन्धों के अनिवार्य परिणाम से उन्हें अपने हितों की रक्षा करनी चाहिए, आधुनिक उद्योग-धन्धों से जिस सामाजिक क्रान्ति की तैयारी होती है, उससे अपनी रक्षा करनी चाहिए।" (पृष्ठ ३५१)।

यहाँ बात बिलकुल साफ हो गयी है। एक तरफ है आधुनिक उद्योग-धन्धे जो पूँजीवादी उत्पादन के फलस्वरूप नयी सामाजिक क्रान्ति की तैयारी कराते हैं; दूसरी तरफ हैं जमीदार, ज़मीदारो का क्रान्ति-विरोध, इनके साथ सरकारी चर्च का गठबन्धन, जहाज़रानी के हित जो माल पैदा करने से नही, माल ढोने से मुनाफा कमाते है, और उपनिवेशी हित जो दूसरे देशों मे पूँजीवादी उत्पादन नही शुरू करा रहे, वहाँ उसे रोक रहे हैं और खुद इंग्लैण्ड का औद्योगिक विकास रोक रहे हैं। पूँजीवादी क्रान्ति के विरोध में ये सारी शक्तियाँ खडी है। इसलिए १८५२ तक इंग्लैण्ड में पूँजीवादी क्रान्ति पूरी हो गयी थी, यह नही कहा जा सकता।

पूँजीवादी क्रान्ति का एक तरीका यह भी हो सकता है कि सामन्तो की ज़मीन किसानों में बाँट दी जाय। फ्रास की पूँजीवादी क्रान्ति मे यही हुआ था। गीज़ो की पुस्तक-समीक्षावाले लेख मे मार्क्स ने लिखा था कि इंग्लैण्ड की क्रान्ति का स्वरूप पुरानपन्थी था और इसका कारण यह था कि अधिकाश बड़े ज़मीदारों और पूँजी-पतियों के बीच पक्का समझौता था। इस समझौते से पता चलता है कि अंग्रेज़ी

क्रान्ति बुनियादी तौर से फ्रांसीसी क्रान्ति से भिन्न थी। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने जमीन का बंटवारा करके बड़ी जमीदारियां खत्म की थीं। मार्क्स के अनुसार फ्रांस के बड़े जमीदारों के विपरीत इंग्लैण्ड के बड़े जमीदार पूंजीपतियो से मिल गये थे, वे पूंजीपति वर्ग की जीवन की परिस्थितियों के विरोधी नहीं थे, उन्हें पूरी तरह अपने अनुकूल पाते थे। (उप., पृष्ठ ३४६-४७)। पूंजीवाद फ्रांस मे विकसित हुआ और इंग्लैण्ड मे विकसित हुआ और किसान दोनों जगह तवाह हुए किन्तु किसानो मे सामन्तो की जमीन का बँटवारा होने पर उन्हें (किसानों को) जिस तरह की तवाही का सामना करना पड़ता है, वह बेजमीन, मुफलिस, खानावदोश किसानों की तबाही से बिलकुल अलग तरह की है। इग्लैण्ड के पूंजीपतियो ने जमीदारों से गठबन्धन किया था; इससे यह साबित नही होता कि जमीदार प्रगतिशील थे, इससे साबित यह होता है कि पूंजीपति प्रतिक्रियावाद मे समझौता कर रहे थे। अंग्रेजी क्रान्ति का स्वरूप पुरानपन्थी था, इसका कारण यही था।

इसके बाद इंग्लैण्ड के चुनावोंवाले मार्क्स के लेख पर ध्यान दीजिये। मार्क्स ने चुनाव की समीक्षा अंग्रेजी अखबार 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' के लिए लिखी थी। लेख अग्रेजी में था। जो टोरी दल अपने हाथ मे सत्ता बनाये रखने के लिए जोर-जबर्दस्ती से समाज का विरोध कर रहा था, उसके लिए अंग्रेजी के 'काउण्टर रिवोल्यूशन' शब्द का प्रयोग मार्क्स ने किया था। इंग्लैण्ड की पूंजीवादी क्रान्ति ने सामन्तो की जमीन उनके हाथ में रहने दी; इसके अलावा किसानों की निजी और सामूहिक सम्पत्ति पर उन्हें अधिकार भी करने दिया। सामन्तो की शक्ति का यह प्रसार टोरी दल की शक्ति का आधार था। पूंजीवादी क्रान्ति जमीदारों के इस क्रान्ति-विरोध को खत्म नही कर पायी। इसका एक परिणाम यह हुआ कि इंग्लैण्ड मे वर्गों का विभाजन साफ-साफ न हो सका। सामन्ती व्यवस्था के टूटने पर दो मुख्य वर्गों को, पूंजीपतियों और मजदूरो के वर्गों को, एक-दूसरे के मुकाबले खड़े होना चाहिए था। किन्तु मजदूरो का आन्दोलन १८४८ तक ठण्ढा पड़ गया था। १८४८ का साल यूरोप मे क्रान्तिकारी उभार का साल था, इंग्लैण्ड में यह उभार १८४८ के पहले ही समाप्त हो गया था। यहाँ दो दल थे—टोरी और ह्विग और इन दोनों का ही वर्गआधार एक था। यह आधार पूंजीपतियो के वर्ग का नही, जमीदारो के वर्ग का था। मार्क्स ने लिखा, "ह्विग और टोरी ग्रेटब्रिटेन की बड़ी भू-सम्पत्ति का एक अंश हैं। यही नही, अंग्रेजी भू-सम्पत्ति का जो सबसे पुराना, सबसे अमीर और सबसे घमण्डी हिस्सा है, वही ह्विग पार्टी की धुरी है।" (उप., पृष्ठ ३५२)। इंग्लैण्ड में 'जनतन्त्र' का जो विकास हुआ, उसे समझने के लिए मार्क्स ने सही रास्ता दिखाया है। वर्ग एक है, पार्टियां दो हैं और ये पार्टियां प्रगति और प्रतिक्रिया का नाटक करके एक ही वर्ग के हित मे जनता को भरमाया करती थी। पहले जमीदारों के हित मे ह्विग और टोरी पार्टियां यह काम करती थी, अब बड़े पूंजीपतियों के हित मे कंसरवेटिव और लेबर पार्टियां करती हैं।

मार्क्स ने आगे लिखा कि ह्विग दल पूंजीपतियो का, औद्योगिक और व्यापारिक मध्यवर्ग का अभिजातवर्गीय प्रतिनिधि है। वह चाहता है कि अभिजात खानदानो के गुट के हाथ में शासन का इजारा बना रहे। पूंजीपति उसके हाथ मे

सत्ता बनी रहने दें, इसके बदले वह पूँजीपतियों को ऐसी रिआयतें देगा जिन्हें दिये बिना अब काम नही चल सकता, सामाजिक विकास क्रम में जैसी रिआयतें देने मे देर नही की जा सकती। जब ऐसे अनिवार्य कदम उठाये जाते है, तब ह्विग दल ज़ोरों से कहता है कि उसने प्रगति की पराकाष्ठा कर दी, सामाजिक आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य सिद्ध हो गया। ब्रिटिश साम्राज्य की मालगुज़ारी वसूलने का ठेका उसके हाथ में है। इसे वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। वह भाड़े की आमदनी मजे में कम कर सकता है, विदेशी गल्ले पर पाबन्दी हटा सकता है, शर्त यह है कि हुकूमत का इजारा उसकी पारिवारिक सम्पत्ति बना रहे। १६८८ की 'शानदार' क्रान्ति के बाद से ह्विग दल कुछ खानदानों के बीच सत्ता कायम रखता आया है। खानदानी हितों के अलावा वह दूसरे हितों का प्रतिनिधित्व तभी करता है जब औद्योगिक और व्यापारिक वर्ग के विकास से ये हित उस पर थोप दिये जाते हैं। १६८८ के बाद उसने साहूकारों से एका किया। १८४६ में उसने मिल-मालिकों से समझौता किया। १८३१ में उसने चुनाव कानून मे इतना ही सुधार किया जितने से पूँजीपति वर्ग पूरी तरह से असन्तुष्ट न रह जाय। १८४६ में उसने स्वच्छन्द व्यापार के लिए उतनी ही सुविधा दी जितनी सुविधा से ज़मींदारों के लिए ज्यादा-से-ज्यादा विशेषाधिकार बचाये जा सकें। सुधार का कानून, स्वच्छन्द व्यापार का कानून बनाने के लिए आन्दोलन चलाये गये। ये आन्दोलन पूँजीपतियों के हित में थे। "हर बार ह्विग लोगों ने आन्दोलन को इसलिए अपने हाथ में लिया कि उसकी आगे की प्रगति को रोक दें और इसके साथ ही अपने स्थान फिर पा जायें।" (पृष्ठ ३५४)। ह्विग दल मे नाना प्रकार के लोग शामिल थे। इनमे सामन्त-वादी थे जो माल्थस के अनुयायी भी थे। मार्क्स ने 'फ्यूडलिस्ट' शब्द का प्रयोग किया है। सामन्ती परम्पराएँ कायम थी और टोरियों मे ही नही, ह्विग लोगों में भी थी। मार्क्स ने लिखा कि इनमें सामन्ती पूर्वाग्रहोंवाले साहूकारी अभिजात वर्ग के लोग हैं जिन्हें अपनी आन की परवाह नही, पूँजीपति है जिन्हे औद्योगिक कामों से सरोकार नहीं, प्रगति की बातें करनेवाले अन्तिम लक्ष्य पर थमे हुए लोग है, ऐसे प्रगतिशील है जो कट्टर पुरानपन्थी है, सुधारों के नाम पर होम्योपैथी के डोज़ देते है, खानदानी निरंकुशता को पोसनेवाले, भ्रष्टाचार के पण्डे, धार्मिक मामलों मे धूर्त, राजनीति के ठग है। कुछ सत्ताधारी खानदानों का यह ह्विग दल एक शताब्दी से अधिक इंग्लैण्ड पर राज करता आया है। जनता को उसके कार्य-संचालन से बाहर रखा गया है। (उप., पृष्ठ ३५४-५५)।

जाहिर है, ऐसी स्थिति से सर्वहारा क्रान्ति मे जबर्दस्त रुकावट ही पड़ सकती थी।

१८५२ मे इंग्लैण्ड के चुनावों और भ्रष्टाचार के बारे में लिखते हुए मार्क्स ने पूँजीपतियों को ज़मींदारों से भिन्न वर्ग मे रखा। उन्होंने लिखा कि १८३१ के सुधार कानून (रिफार्म बिल) के बाद पूँजीपतियों ने ह्विग और टोरी दलों के समा-नान्तर औपचारिक पार्टी के रूप मे अपनी जगह बनायी। मार्क्स ने यहाँ और अन्यत्र पूँजीपतियों के लिए औद्योगिक और व्यापारिक मध्य वर्ग शब्दों का प्रयोग किया है। पूँजीपति ज़मीदारों और मजदूरो के बीच का वर्ग थे, इसीलिए मध्य वर्ग

कहलाते थे। उनके लिए मध्य वर्ग शब्द का प्रयोग ही बतलाता है कि वे जमीदारों से भिन्न वर्ग के थे। मार्क्स ने आगे बताया कि इन पूंजीपतियों ने चुनाव में खर्चीले दाँवपेंच के बदले जमीदारों से नैतिक साधनों द्वारा होड़ करना ज्यादा अच्छा समझा। नैतिक साधन ये थे वोट देनेवाले सामान्य राष्ट्रीय हितों का ध्यान रक्खें, व्यक्तिगत और स्थानीय हितों के अनुसार वोट न दें। (उप., पृष्ठ ३६०-६१)। मजदूरों के काम के घण्टों और उनमें फैली भुखमरी को लेकर पार्लियामेण्ट में बहस हुई। इस बहस की चर्चा करते हुए मार्क्स ने लिखा कि १८३१ के सुधार कानून से पूंजीपतियों ने जमीदारों के अभिजात वर्ग को परास्त किया। जमींदारों ने तय किया कि पूंजीपतियों के विरुद्ध मजदूरों के अधिकारों का समर्थन करके वे मध्य वर्ग अर्थात् पूंजीपतियों का मुकाबला करेंगे। (उप., पृष्ठ ३६८)। बात पुरानी थी। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में ही मार्क्स और एंगेल्स ने सामन्ती समाजवाद की आलोचना की थी। घोषणापत्र में उन्होंने लिखा था कि फ्रांस और इंग्लैण्ड के अभिजात वर्गों का यह पेशा हो गया है कि आधुनिक पूंजीवादी समाज के विरुद्ध पुस्तिकाएँ लिखें। इसका कारण उनकी ऐतिहासिक स्थिति थी। जुलाई १८३० की फ्रांसीसी क्रान्ति और इंग्लैण्ड के सुधार आन्दोलन के दौरान इन अभिजात वर्गों ने नये धन्नासेठों के सामने घुटने टेक दिये। अब कोई गम्भीर राजनीतिक संघर्ष सम्भव ही न था। केवल शब्दों की लड़ाई हो सकती थी। सहानुभूति जगाने के लिए अभिजात वर्ग को अपने हित दरकिनार करने पड़े और शोषित मजदूर वर्ग के हित में वह पूंजीपतियों की बखिया उधेड़ने लगा। इस तरह अभिजात वर्ग ने व्यंग्य बोल सुना-सुनाकर अपने नये मालिक से बदला लिया।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स ने पूंजीपतियों को अभिजात वर्ग का नया मालिक कहा था। १८५३ तक दोनों वर्गों के संघर्ष को वह नयी तरह से देखने लगे थे। दोनों का संघर्ष चल रहा था और उसका अभी अन्त न हुआ था। १८५५ में 'अंग्रेज जमीदार और पामर्स्टन' नाम के लेख में मार्क्स ने दिखाया कि अभिजात वर्ग अभी प्रभावशाली बना हुआ है। १६७९ में हालैण्ड से विलियम ऑफ आरेंज को बुलाया गया और वह इंग्लैण्ड का बादशाह बनाया गया। उसे बुलानेवाले दो वर्ग थे—जमीदार और महाजन। मार्क्स ने लिखा कि राजगद्दी पर नये वंश के राजा को बिठाकर एक नया युग शुरू किया गया, यह युग भूस्वामी और महाजनी अभिजात वर्गों के पाणिग्रहण का युग था। (उप., पृ. ४०६)। पूंजीपति वर्ग में अनेक उपवर्ग थे। महाजनों का उपवर्ग उद्योगपतियों के उपवर्ग से अलग था। ब्रिटेन और फ्रांस दोनों देशों के पूंजीवाद का विश्लेषण करते हुए मार्क्स आमतौर से महाजनों को उद्योगपतियों से अलग दिखाते हैं और उन्हें उद्योगपतियों की अपेक्षा अधिक प्रतिक्रियावादी भी सिद्ध करते हैं। औद्योगिक पूंजीवाद के बाद जो इजारेदार पूंजी का युग आया, वह महाजनी पूंजी का युग है। औद्योगिक पूंजीवाद को देखते यह महाजनी पूंजी अधिक प्रतिक्रियावादी है, इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। पूंजीवाद की यह परम्परा है कि सूदखोर महाजन, बैंकपति, साहूकार औद्योगिक पूंजीपतियों की तुलना में प्रतिक्रियावादी रहे हैं और जमीदारों के साथ मजबूत गठबन्धन करते रहे हैं। १६८८ में इंग्लैण्ड के जमींदारों ने महाजनों से गठबन्धन किया। यह

गठबन्धन औद्योगिक पूँजीवाद के विकास के लिए हानिकर था। मार्क्स ने लिखा कि १६८६ के बाद एक ओर वंश के आधार पर और दूसरी ओर पैसे के आधार पर विशेषाधिकार दिये जाते हैं। इन दोनों में संवैधानिक सन्तुलन कायम किया गया है। फौज मे कुछ स्थानों के लिए नियुक्तियाँ खानदान को ध्यान में रखकर की जाती हैं। दूसरी तरफ फौज के अन्य स्थान पैसे के बल पर खरीदे और बेचे जा सकते है। लोगों ने हिसाब लगाया है कि विभिन्न पलटनों के अफसरों ने अपने पद खरीदने के लिए साठ लाख पाउण्ड की पूँजी लगायी है। जो अफसर गरीब हैं, वे चाहते हैं कि पैसेवाले अफसर उनके सेवाकार्य को दरकिनार करते हुए उनके ऊपर न पहुँच जायें। अपनी पदोन्नति के लिए वे पैसा उधार लेते हैं और अपनी जायदाद रेहन रखते चले जाते हैं। इसी तरह चर्च मे नियुक्तियाँ होती हैं। कुछ स्थान खान-दानी लोगों के लिए सुरक्षित रहते हैं, अन्य स्थान लोग पैसे देकर खरीदते हैं। जो स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं, वे ज़मीदार वर्ग के सपूतों के लिए ही होते हैं। मार्क्स ने लिखा था कि 'आत्माओं' का यह व्यापार चर्च के सन्दर्भ मे उतना ही नियमित है जितना अमरीका मे दासों का व्यापार। चर्चवाले व्यापार मे बेचने और खरीदने वाले ही नही हैं, दलाल भी हैं। (उप., पृ. ४०७)। पाठक यहाँ एक बात नोट करें। चर्च के पादरी उसी वर्ग के है जिस वर्ग के फौजी अफसर हैं। जैसे अरस्तू ने यूनान के लिए अपने राजनीति ग्रन्थ मे लिखा था कि पुरोहितों और सैनिकों को भूस्वामी वर्ग से ही लेना चाहिए, कुछ समय तक नौजवान जमीदार सैनिक कार्य करें, प्रौढ़ होने पर वे ही पुरोहित बन जायें, वैसे ही इंग्लैण्ड में पूँजीवादी विकास के पहले तक चर्च और फौज पर एक ही वर्ग का आधिपत्य था। यह वर्ग ज़मीदारों का था। भारतीय वर्ण-व्यवस्था के विचार मे इंग्लैण्ड के समाज मे ब्राह्मणों और क्षत्रियों का एक ही संयुक्त वर्ण था। व्यापारिक पूँजीवाद के बाद, औद्योगिक क्रान्ति के बाद भी यह सयुक्त वर्ण चर्च और फौज पर अंशतः अधिकार जमाये था। जहाँ वंश का ध्यान रखकर नियुक्ति की जाय, वहाँ वर्ण-व्यवस्था बनी हुई है, यह बात समझ लेनी चाहिए। १८५५ तक इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति सामन्ती वर्ण-व्यवस्था को तोड़ न पायी थी। इसका कारण यह था कि वहाँ पर बड़ी-बड़ी ज़मीदारियों के रूप मे वर्ण-व्यवस्था का आर्थिक आधार बना हुआ था। फौज और चर्च में जो नया वर्ण हिस्सा बँटाने लगा था, वह किसानों और मजदूरों का नहीं था, उद्योगपतियों का भी नही था, वह महाजनों का था। जैसे सामन्ती युग के ज़मीदार पूँजीवादी युग मे और भी शक्तिशाली हो गये थे, वैसे ही सामन्ती युग के सूदखोर महाजन पूँजीवादी युग में खूब शक्तिशाली हो गये थे। इन्ही ज़मीदारों और महाजनों का गठबन्धन फौज और चर्च पर हावी था और राज्यसत्ता पर भी हावी था। उसका यह प्रमुत्व इंग्लैण्ड के औद्योगिक विकास के आड़े आता था, इसके फलस्वरूप वह सर्वहारा क्रान्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ भी निर्मित न होने देता था। यह अनिवार्य था कि मार्क्स और एंगेल्स इस ज़मींदार प्रमुसत्ता को तोड़ने की ओर अधिकाधिक ध्यान दें।

१८५५ मे ही मार्क्स ने 'ब्रिटिश सविधान और इंग्लैण्ड का संकट' लेख लिखा। इसमें उन्होने बताया कि १६८८ की 'शानदार' क्रान्ति के बाद ज़मीदारों और पूँजी-

पतियो में जो राजनीतिक समझौता हुआ, उसमें पूंजीपति वर्ग का केवल एक हिस्सा शामिल था। यह हिस्सा महाजनी अभिजात वर्ग का था। मार्क्स जमींदारो और महाजनों, दोनों को अभिजात वर्ग मानते थे। एक महाजनी अभिजात वर्ग, दूसरा जमींदारी अभिजात वर्ग, दोनोंके लिए अभिजात वर्ग शब्द का प्रयोग उनकी आपसी एकता की ओर इशारा करता है। वह इस बात की ओर इशारा करता है कि इन दोनो अभिजातों में जन्म, वंश, खानदान, रक्त-सम्बन्ध आदि अब भी वैसे ही महत्वपूर्ण बने हुए थे जैसे वे सामन्ती व्यवस्था मे थे। ब्राह्मण (चर्च), क्षत्रिय (ज़मीदार) और महाजन (वैश्य) ये तीन वर्ण खानदान और रक्त-सम्बन्ध पर जोर देने के कारण समाज में आधुनिक वर्गों का निर्माण रोक रहे थे। उक्त लेख मे मार्क्स ने आगे बताया कि १८३१ के सुधार कानून से पूंजीपतियों का एक नया हिस्सा सत्ताधारियों की मण्डली मे शामिल किया गया। यह हिस्सा उद्योगपतियों का था। १८३१ के बाद जो कानून बने, वे उद्योगपतियों को रियायतें देनेवाले थे। (उप, पृ. ४०६)। इस विवरण से यह तथ्य समझ में आ जायेगा कि १८३१ के पहले तक उद्योगपतियों को राज्यसत्ता मे हिस्सा न मिला था। १८३१ के बाद से १८५५ तक उन्हें रियायतें मिलीं, महाजनों और जमीदारों के साथ उन्हें राज्य-सत्ता मे हिस्सा मिला, किन्तु पूरी राज्यसत्ता उनके हाथ में अब भी नहीं थी। मार्क्स ने उक्त लेख में ब्रिटिश संविधान के लिए कहा कि जिस समझौते के आधार पर वह बना है, वह समझौता पुराना पड़ चुका है। इस समझौते के अनुसार सामान्य शासन-शक्ति उद्योगपतियो के कुछ स्तरो के लिए इस शर्त पर छोड़ दी जाती है कि समूची वास्तविक हुकूमत ज़मीदारों के लिए सुरक्षित रहे। समूची हुकूमत मे देश की समूची कार्यकारिणी शामिल थी। पार्लियामेण्ट के दोनो सदनों में कानून बनाने की वास्तविक शक्ति ज़मीदारों के हाथ मे थी। अब तक यह अभिजात वर्ग उद्योग-पतियों से समझौते की बिना पर कैबिनेट, पार्लियामेण्ट, प्रशासन, फौज और जल-सेना, इन सब पर अपना प्रभुत्व कायम किये था। अब उसे अपनी मौत के परवाने पर हस्ताक्षर करने पड़े हैं। उसे कहना पड़ा है कि वह इंग्लैण्ड पर शासन करने के अयोग्य है। एक के बाद दूसरा मन्त्रिमण्डल बनता है, कुछ ही हफ्तों के बाद मन्त्रि-मण्डल भंग कर दिया जाता है, संकट स्थायी है; जो सरकार बनती है, वह अस्थायी होती है। (उप., पृ. ४१०)। मार्क्स को आशा थी कि १८५४ के उत्तरार्ध से जो व्यापारिक और औद्योगिक संकट शुरू हुआ है, वह मजदूरों को प्रभावित करेगा। छह साल से मजदूर-आन्दोलन ठप पड़ा था, उसमे नयी जान आयेगी। तब ब्रिटेन की राजनीतिक स्थिति का सही रूप सामने आयेगा, पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग आमने-सामने खड़े होगे। जैसे यूरोप का सामाजिक विकास हुआ है, वैसे ही इंग्लैण्ड को बाध्य होकर सामान्य विकास के उसी मार्ग पर चलना पडेगा। (उप., पृ. ४१२)।

किन्तु ज़मीदार वर्ग इतनी आसानी से सत्ता छोड़नेवाला नही था। १८५५ में ही लन्दन के हाइड पार्क में एक विराट चर्च-विरोधी प्रदर्शन हुआ। मार्क्स ने इसका विवेचन करते हुए लिखा कि जो सामाजिक शक्तियाँ पुरानी पड जाती हैं, जिनके अस्तित्व का आधार खत्म हो जाता है पर जो सत्ता का तामझाम साथ रखती

है, वे शक्तियाँ मृत्यु से पहले एक बार फिर पूरा जोर लगाकर हमला करती हैं। घुटने टेकने के बदले ललकारती हैं। यही हाल इंग्लैण्ड के ज़मीदारों का है और यही हाल उनके सहयोगी चर्च का है। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार ने धार्मिक उत्पीड़न के पक्ष मे कई कदम उठाये। पहला कदम था बियर बिल। इस कानून के अनुसार शाम के छह से दस बजे के बीच का समय छोड़कर इतवार को सार्वजनिक आमोद-प्रमोद के सभी स्थान बन्द रहेंगे। इतवार को पवित्र दिवस बनाये रखनेवाले मठाधीशों ने बडे-बडे शराबखानों के मालिकों मे समझौता किया, उन्हें आश्वासन दिया कि उनकी बडी पूंजी का इजारा बना रहेगा। इसके बाद इतवार को दूकानें बन्द रखने का कानून बना। बडी पूंजी इस बिल के पक्ष मे इसलिए थी कि इतवार को केवल छोटे व्यवसायी ही अपनी दूकाने खुली रखते हैं, बडे दूकानदार इतवार को सभी दूकानें बन्द करवा के छोटे दूकानदारों की प्रतिद्वन्दिता को एक दिन के लिए खत्म करने को तैयार थे। इस प्रकार चर्च और ज़मीदारों के गठबन्धन मे पूंजीपतियों का एक हिस्सा शामिल था। मार्क्स ने ज़मीदारों के अभिजात वर्ग को पतित, ऐयाश और पस्त बताया। यह वर्णन भारत के नवाबों की याद दिलाता है। पतित होने का लक्षण ऐयाशी, ऐयाशी का नतीजा पस्ती। इस अभिजात वर्ग ने उस चर्च को सहयोगी बनाया था जो इजारेदार थोक व्यापारियों और बडे कलारो (शराब बनानेवालो) के गन्दे मुनाफे पर टिका हुआ था। इन कानूनों के विरोध मे आम जनता की सभा हुई। पुलिस ने डेढ लाख की सभा को यह कहकर भंग किया कि हाइड पार्क बादशाह की निजी सम्पत्ति है। इस प्रदर्शन की चर्चा अन्य प्रसंग में आगे करेंगे, यहाँ पर इतना कहना काफी है कि १८५५ में इंग्लैण्ड की जनता अभिजात वर्ग से लड़ रही थी और यह वर्ग परास्त न हुआ था।

इंग्लैण्ड के ज़मीदार पूंजीपति वर्ग में थे या उससे अलग थे, यह प्रश्न भारत में अंग्रेज़ी राज की भूमिका के विवेचन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके साथ ही पूंजीपति वर्ग मे साहूकारों (बैंकपतियों), व्यापारियो और उद्योगपतियों का आपसी सम्बन्ध किस तरह का था, इसकी जानकारी भी भारत मे अंग्रेज़ी राज की भूमिका पहचानने के लिए जरूरी है। मार्क्स ने भारत और आयरलैण्ड के सम्बन्ध मे जो लेख १८५३ मे लिखे थे, उनसे इंग्लैण्ड में वर्गों के आपसी सम्बन्धों का पता चलता है और अंग्रेज़ी राज मे इन वर्गों की भूमिका की जानकारी भी होती है। इंग्लैण्ड की राज्यसत्ता १८५३ तक मुख्यतः ज़मीदार वर्ग के हाथ मे थी। उद्योगपति इस वर्ग पर दबाव डाल रहे थे पर उससे सत्ता छीनने के बदले उससे साझेदारी कर रहे थे। उद्योगपतियो का हित ज़मीदारों के हित से टकराता था, इसके साथ ही उनका हित साहूकारों और व्यापारियों के हितों से भी टकराता था। भारत में व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति थी या नही, यहाँ के सामन्तों का अधिकार उनकी भूमि पर था या नही, इस समस्या का विवेचन करनेवालों के लिए इंग्लैण्ड में पूंजीवादी अर्थशास्त्र का विकास काफी रोचक सिद्ध होगा। इस पूंजीवादी अर्थशास्त्र का निर्माण उन विद्वानो ने किया था जो उद्योगपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमे प्रमुख थे—रिकार्डो। इन लोगों [illegible]

ज़मींदारों के मौरूसी अधिकार समाप्त किये जायें और भूमि पर पूरे समाज का अधिकार हो।

आयरलैण्ड की भूमि-समस्या का विवेचन करते हुए मार्क्स ने लिखा कि ब्रिटेन के आधुनिक अर्थशास्त्र के निर्माता रिकार्डो ने ज़मींदारों के हक को चुनौती नहीं दी। रिकार्डो को विश्वास था कि सवाल हक का नहीं है, हकीकत का है और अर्थशास्त्र को हक के सवाल से कुछ लेना-देना नहीं है। उसने बड़ी सादगी से लेकिन ज्यादा वैज्ञानिक और ज्यादा खतरनाक ढंग से भूमिसम्बन्धी इजारे पर हल्ला बोला। उसने साबित किया कि आधुनिक उत्पादन के समस्त ढाँचे को देखते हुए मजदूर और काश्तकार के अधिकारों से अलग भूमि का निजी स्वामित्व निहायत फालतू और बेकार चीज़ है। भूमि के भाड़े और उक्त सम्बन्ध की आर्थिक अभिव्यक्ति पर राज्यसत्ता का अधिकार हो जाय, तो इससे बड़ा लाभ होगा। रिकार्डो का यह भी कहना था कि ज़मींदार के हित आधुनिक समाज के सभी अन्य वर्गों के हितों के विरोधी हैं। (मार्क्स-एंगेल्स; ऑन कोलोनियलिज्म, पृष्ठ ५८)। यहाँ जिस काश्तकार का ज़िक्र है, वह पूँजीवादी ढंग से खेती करानेवाला काश्तकार है। खेती का वास्तविक काम करते हैं मजदूर, उनकी श्रम-शक्ति से अतिरिक्त मूल्य कमाता है काश्तकार, उसी अतिरिक्त मूल्य से वह ज़मींदार को भाड़ा देता है। ज़मींदार भाड़ा लेता है, केवल इसलिए कि वह ज़मीन का मालिक बना बैठा है, भूमि का इजारा उसके पास है। इसीलिए रिकार्डो ने लिखा था कि उसके हित समाज के अन्य सभी वर्गों के हितों से टकराते हैं। ज़मींदारों का एक छोटा-सा वर्ग समाज के सभी वर्गों के हितों के विरुद्ध सत्ता हथियाये बैठा था। इसलिए उसकी भूमिका समाज-विरोधी थी, क्रान्तिविरोधी थी। उद्योगपतियों को मजदूरों से भय था, इसलिए वे ज़मींदारों से सत्ता छीनकर पूँजीवादी क्रान्ति भी पूरी करने से डरते थे। वे ज़मींदार वर्ग से कुछ रियायतें पाने के लिए मजदूरों को सत्ताधारी वर्ग पर दबाव डालने देते थे किन्तु इस बात का ध्यान रखते थे कि मजदूरों का आन्दोलन क्रान्तिकारी रूप न लेने पाये। ज़मींदारों का यह क्रान्तिविरोधी सत्ताधारी वर्ग ब्रिटिश साम्राज्य के भागीदारों में प्रमुख था।

रिकार्डो का हवाला देने के बाद मार्क्स ने लिखा कि रिकार्डो-सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियों ने भूमि-सम्बन्धी इजारे के खिलाफ जो तमाम तर्क दिये हैं, उन्हें दोहराने की ज़रूरत नहीं है। ब्रिटेन के दो-तीन प्रमुख अर्थशास्त्रियों का हवाला देने से काम चल जायेगा। 'लंदन इकॉनॉमिस्ट' के सम्पादक जे. विलसन स्वच्छन्द व्यापार के हामी थे। उन्होंने कई लेखों में इस बात पर जोर दिया कि जो धरती पूरी जाति की है, उस पर अपने एकमात्र स्वामित्व का दावा करना किसी व्यक्ति या व्यक्तियों के किसी समुदाय के लिए उचित नहीं है। एक दूसरे अर्थशास्त्री न्यूमैन का कहना था, धरती पर किसी भी मनुष्य का न तो प्राकृतिक हक है और न हो सकता है; वह स्वयं जितने समय तक उस पर दखल किये है, तभी तक उसका हक है। उसे हक धरती के उपयोग का है और केवल उपयोग का है। बाकी सारे हक नकली कानून की देन हैं। भारत की भूमि-व्यवस्था के बारे में स्वयं मार्क्स ने लिखा था कि यहाँ अधिक-से-अधिक मनुष्य को ज़मीन के जोतने-बोने का अधिकार है, उस

पर उसका स्वामित्व नही होता। इस धारणा पर बहुत अच्छी टिप्पणी न्यूमैन का वह मत है जो मार्क्स ने आयरलैण्ड के सिलसिले में उद्धृत किया है। अंग्रेज़ ज़मीदारो ने आयरलैण्ड के किसानों को अपना आसामी बना लिया था, उन्हें बेदखल करने का अधिकार अपने हाथ मे रखा था। यही काम भारत मे अंग्रेज़ों ने यहाँ के देशी ज़मीदारों से कराया था। फर्क इतना था कि आयरलैण्ड मे ज़मीदार अंग्रेज़ थे और ज़मीन के मालिक थे; भारत मे ज़मीदार देशी थे,पर वे ज़मीन के मालिक नही थे, ज़मीन के असली मालिक अंग्रेज़ थे। मार्क्स ने लिखा है कि न्यूमैन ने ब्रिटिश अभिजात वर्ग के श्रोताओं के सामने आयरिश किसानों के अधिकारों की पुष्टि की।

उसके बाद मार्क्स ने हर्बर्ट स्पेंसर का हवाला दिया। माना जाता था कि स्वच्छन्द व्यापार के सिद्धान्तो का खूब विस्तार से प्रतिपादन स्पेंसर ने किया था। स्पेंसर ने लिखा था, कोई भी धरती का उपयोग इस तरह नही कर सकता जिससे कि बाकी लोग उसके वैसे ही उपयोग मे वंचित हो जायें। न्याय का तकाज़ा है कि ज़मीन के मामले मे किसी की भी मिल्कियत न हो, वरना बाकी लोग उसकी इनायत होने पर ही धरती पर रह सकेंगे। यह बहाना नही चलेगा कि ऐसी सम्पत्ति पर इस समय लोगों का जो हक है, वह कानूनी है। यदि कोई समझता हो कि ऐसे हक कानूनी हैं, तो वह इतिहास उठाकर देख ले। मूल पट्टा कलम से नही तलवार से लिखा गया था। दस्तावेज़ तैयार करनेवाले वकील नही सैनिक थे। ज़मीन का मूल्य चुकाते हुए द्रव्य न दिया गया था, सिर फोड़े गये थे। दस्तावेज़ों पर लाख के बदले खून से मुहर लगायी गयी थी। क्या इस तरह किसी के वैध अधिकार कायम हो सकते है? यदि नही, तो इस तरह प्राप्त की हुई रियासतो पर बाद वाले अधिकारियों के हक का आधार क्या होगा? जहाँ पहले ही हक नहीं था, वहाँ ज़मीन को बेचने या विरासत में देने से क्या हक कायम हो जायेगा? धरती पर समग्र मानव जाति का वैध अधिकार अभी बना हुआ है, कानून, परम्पराएँ और पट्टे कुछ भी कहते हों। किस पद्धति से ज़मीन व्यक्तिगत सम्पत्ति बनती है, इसका पता लगाना असम्भव है। आये दिन कानून बनाते समय हम ज़मीदारी प्रथा अस्वीकार करते है। कही नहर, रेल-मार्ग या चुंगीवाली सड़क बनाना हो, तो जितनी भी ज़मीन दरकार हो, उस पर दखल करने मे हम हिचकिचाते नहीं है, दूसरे की सहमति का इन्तजार नही करते। व्यक्तियों के अधिकार मे होने के बदले देश (अर्थात् धरती) पर समाज नाम के महासघ का अधिकार होगा। काश्तकार किसी अलग-थलग पड़े हुए ज़मीदार से ज़मीन का पट्टा न लेगा, उस पर खेती करने के लिए पट्टा वह जाति (Nation) से लेगा। अपना भाड़ा किसी ज़मीदार को देने के बदले वह समाज के किसी कारिन्दे को देगा। कारिन्दे किसी के व्यक्तिगत चाकर न होंगे, वे सार्वजनिक कर्मचारी होंगे। धरती पर एक ही तरह का अधिकार होगा जैसा आसामियों का होता है। धरती पर किसी के एकमात्र अधिकार को उसके तर्कसंगत परिणाम तक पहुँचाया जाय तो भू-स्वामित्व की निरंकुशता हाथ आयेगी। (उप., पृ. ५९)।

हर्बर्ट स्पेंसर कम्युनिज्म के विरोधी थे और इसके साथ ही ज़मीदारों के भी

विरोधी थे। मध्यवर्ग अर्थात् उद्योगपतियों की यही स्थिति थी। न्यूमैन
समाजवाद के विरोधी थे। मार्क्स ऐसे अर्थशास्त्रियों के चिन्तन की सीमाएँ जान
थे, फिर भी वह उनकी स्थापनाओं का उपयोग ज़मींदारों के विरोध में कर
थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी भारत में अंग्रेज़ों द्वारा सुरक्षित ज़मींदारी-प्रथा के कट्
विरोधी थे। हर्बर्ट स्पेंसर उनके प्रिय लेखक थे। उन्होंने स्पेंसर की पुस्तक सोश
स्टैटिक्स पढ़ी थी या नहीं जिसे मार्क्स ने उद्धृत किया है, पता नहीं, किन्तु ज़मींदा
प्रथा का विरोध करने में स्पेंसर और द्विवेदीजी के चिन्तन में बहुत बड़ी समान
है, इसमें सन्देह नहीं। भारत के साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन को सफल बनाने
लिए जो सामन्त-विरोधी क्रान्ति दरकार थी, उसके सन्दर्भ में चिन्तन की
समानता महत्त्वपूर्ण है। स्पेंसर का उद्धरण देने के बाद मार्क्स ने लिखा, इस प्रका
आधुनिक अंग्रेज़ अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से ही यह सिद्ध है कि अपने दे
की धरती पर एकमात्र हक़ आयरिश आसामियों और मज़दूरों का है, न कि बल
पूर्वक ज़मीन हथियानेवाले अंग्रेज़ ज़मींदारों का। 'टाइम्स' अखबार आयरि
जनता की माँगों का विरोध करता था, और इस प्रकार ब्रिटिश मध्यवर्ग के विज्ञा
के सीधे विरोध में आ खड़ा होता था। (उप., पृ. ६०)। टाइम्स इंग्लैण्ड का ब
प्रभावशाली अखबार था। वह अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण का समर्थन न कर
ज़मींदारों के हितों का समर्थन कर रहा था। इंग्लैण्ड के पूंजीवादी अर्थशास्
कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट नहीं थे किन्तु वे सामन्त-विरोधी थे। उन्होंने इंग्लैण्ड
ज़मींदारों के बारे में जो बातें कही थीं, वे भारत पर लागू की जातीं तो एक
तर्कसंगत नतीजा निकलता, भारत पर न तो अंग्रेज़ों को राज करने का हक़
और न यहाँ उन्हें ज़मींदारी-प्रथा बनाये रखने का अधिकार है। यदि आयरलैण
की धरती पर एकमात्र हक़ वहाँ के किसानों और मज़दूरों का था तो भारत
लिए कोई दूसरा नियम नहीं हो सकता। यहाँ की धरती पर भी एकमात्र हक़ यह
के किसानों और श्रमिकों का था।

४. सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति और इंग्लैण्ड का मज़दूर आन्दोलन

(क) रूसी क्रान्ति की विशेषताएँ और इंग्लैण्ड

नवम्बर १९१७ की रूसी क्रान्ति संसार की पहली सफल समाजवादी क्रान्ति थी
इसके बारे में आम धारणा यह है कि कुछ विचित्र परिस्थितियों के कारण य
क्रान्ति रूस जैसे पिछड़े हुए देश में हुई, और सफल भी हो गयी, वरना मार्क्सवा
के अनुसार इंग्लैण्ड, जर्मनी या फ्रांस जैसे औद्योगिक विकास में आगे बढ़े हुए किस
देश में यह क्रान्ति होनी चाहिए थी। क्रान्ति के बारे में मार्क्स की भविष्यवाण
गलत थी, यह साबित करने के लिए रूसी क्रान्ति का हवाला दिया जाता है।

रूसी क्रान्ति में मज़दूरों ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया, वे पूंजीवादी व्यवस्थ
से लड़े, उन्होंने पूंजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस करके नयी राज्यसत्ता कायम की
यह उस क्रान्ति की पहली विशेषता थी और इस विशेषता के बिना कोई भी क्रान्ति
समाजवादी क्रान्ति नहीं हो सकती। रूसी क्रान्ति में किसानों ने महत्वपूर्ण भूमिक
निबाही। उन्होंने ज़मींदारों की उस भूमि पर अधिकार कर लिया जिसे वे दूसर

के लिए अब तक जोतते-बोते आये थे। रूस में सामन्ती अवशेष बने हुए थे और अर्थतन्त्र में उनकी स्थिति मजबूत थी। रूस के पिछड़ेपन का मुख्य कारण इन सामन्ती अवशेषों का बने रहना था। रूस की नवम्बर क्रान्ति समाजवादी होने के अलावा सामन्तविरोधी भी थी। यह उसकी दूसरी विशेषता थी और इसी के कारण रूसी क्रान्ति पुस्तकों में बनाये हुए समाजवादी क्रान्ति के नक्शे से मेल न खाती थी। रूसी क्रान्ति की एक विशेषता और थी—उसमें गैररूसी जातियों के किसानों और मजदूरों का योगदान। प्रसिद्ध है कि गैररूसी जातियों के लिए जारशाही रूस कारागार था। नवम्बर क्रान्ति से पहले फरवरी १९१७ में एक और क्रान्ति रूस में हो चुकी थी। यह पूंजीवादी क्रान्ति थी; ज़ार के शासन की जगह पूंजीपतियों की सरकार बनी किन्तु इससे गैररूसी जातियों के कारागार में कोई परिवर्तन न हुआ। और हो भी न सकता था। ज़ारशाही रूस एक विशाल साम्राज्य था जिसे सामन्तों और व्यापारियों ने कायम किया था। उन्नीसवीं सदी में रूसी पूंजीवाद ने जब विकास की दूसरी मंजिल में कदम रखा, मशीनों के जरिये बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा, तब उद्योगपतियों को अपने माल की खपत के लिए और कच्चे माल की प्राप्ति के लिए रूसी जाति के घरेलू बाज़ार के अलावा गैररूसी जातियों का विशाल बाज़ार सुलभ हुआ। नवम्बर क्रान्ति में गैररूसी जातियाँ रूसी उद्योगपतियों के प्रभुत्व के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ीं और रूसी मजदूरों ने उनकी इस लड़ाई का भरपूर समर्थन किया। इस तरह रूसी क्रान्ति सामन्तविरोधी होने के अलावा साम्राज्यविरोधी भी थी। यह भी उसकी एक विचित्रता थी जो किताबों में बनाये हुए समाजवादी क्रान्ति के नक्शे से मेल न खाती थी।

वास्तव में रूसी क्रान्ति की दूसरी और तीसरी विशेषताओं में विचित्र कुछ भी न था। रूसी क्रान्ति सफल हुई, उसकी यही एक विशेषता विचित्र कही जा सकती है, वही उसे अन्य असफल क्रान्तियों से अलग करती है, वरना इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी की अधूरी और असफल क्रान्तियों का नक्शा मूल बातों में एक-सा है। रूसी क्रान्ति की तीसरी विशेषता का साधारणीकरण आसान है; यह समझना कठिन नहीं है कि उद्योग-धन्धों में आगे बढ़े हुए देश, इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी, अपनी समाजवादी क्रान्ति में सफलता तभी पा सकते थे जब उनके साम्राज्यों की पराधीन जनता का स्वाधीनता आन्दोलन विजयी हो। इन आगे बढ़े हुए देशों के पास अपना-अपना साम्राज्य वैसे ही था जैसे पिछड़े हुए रूस के पास था। फर्क इतना था कि फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैण्ड के साम्राज्य का इलाका इन देशों की मूल भूमि से दूर था, रूसी साम्राज्य का इलाका रूस की मूल भूमि से सटा हुआ था। यह अन्तर भौगोलिक है, आर्थिक और राजनीतिक नहीं। रूस या इंग्लैण्ड की समाजवादी क्रान्ति तभी सफल हो सकती थी जब इनके साम्राज्य की जनता भी अपनी स्वाधीनता के लिए लड़े। इसका कारण यह था कि आगे बढ़े हुए औद्योगिक देशों का सारा विकास इनके साम्राज्य के अस्तित्व से बँधा हुआ था। यह साम्राज्य व्यापारियों और भू-स्वामियों ने कायम किया था। इंग्लैण्ड के व्यापारी अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति से पहले ही भारत में अपना

प्रभुत्व काफी सुदृढ़ कर चुके थे। भारत के धन से वह पूँजी आसानी से सुलभ हुई जिससे इंग्लैण्ड के उद्योगपति मशीनों से चलनेवाले नये-नये कारखाने लगा सकें। भारत कच्चा माल भेजने का मुख्य स्रोत था, तैयार माल की खपत के लिए वह बहुत बड़ा बाजार भी था। इंग्लैण्ड के मजदूर तब तक भयानक रूप में शोषित हुए जब तक वहाँ के उद्योगपति भारत की मण्डी में कमाये हुए मुनाफे का एक अंश उनमें से कुछ को देने योग्य नहीं हुए। राज्यसत्ता पर जब उद्योगपतियों का अधिकार न था, मजदूरों के काम के घण्टे नियत न थे, गन्दी बस्तियों में बीमारी, बेकारी और भुखमरी के शिकार अंग्रेज मजदूरों को नागरिक अधिकारों से वंचित रखा गया था, तब इंग्लैण्ड के शक्तिशाली चार्टिस्ट आन्दोलन का प्रसार हुआ था। फिर मजदूरों का यह आन्दोलन शान्त हो गया, उनकी दशा में सुधार हुआ, क्रमशः उन्हें नागरिक अधिकार भी प्राप्त हुए। मजदूर आन्दोलन का दबाव डालकर व्यापारियों और भूस्वामियों की राज्यसत्ता में उद्योगपति भागीदार बने। अब उन्होंने मजदूरों के एक भाग को भारत की लूट में भागीदार बनाया। यह भाग बाकी और सभी मजदूरों को प्रभावित करता था। इंग्लैण्ड के ट्रेड यूनियन आन्दोलन पर यह भाग निरन्तर हावी होता गया; वह ब्रिटिश लेबर पार्टी का सामाजिक आधार बना। उद्योगपतियों के साथ वह भी साम्राज्य की लूट में भागीदार था। उसे क्रान्ति से क्या दिलचस्पी हो सकती थी? अंग्रेज श्रमिक वर्ग पर यह लूट का भागीदार समुदाय जो प्रभाव बनाये हुए था, वह तभी खत्म हो सकता था जब यह लूट का सिलसिला बन्द कर दिया जाय, भारत जैसा पराधीन देश स्वतन्त्र होकर अपने पैरों खड़ा हो। इस तरह आगे बढ़े हुए देश इंग्लैण्ड में समाजवादी क्रान्ति तभी सफल हो सकती थी जब उसे पराधीन देशों के साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन से बल मिले।

इंग्लैण्ड में १८३५ से १८४७ के बीच मजदूरों ने अपना शक्तिशाली चार्टिस्ट आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन ने कई बार हिंसात्मक रूप धारण किया और राज्यसत्ता के सशस्त्र दलों से टक्कर ली। १८५७ में भारत की जनता ने गदर किया। यदि ये दोनों संघर्ष सचेत रूप से एक ही योजना के अन्तर्गत चलाये जाते तो रूस में जो कुछ १९१७ में हुआ, वह सब भारत और इंग्लैण्ड में (ब्रिटिश साम्राज्य में) १८३५ से १८५७ के बीच कभी भी घटित हो सकता था। रूसी क्रान्ति की सफलता का कारण मार्क्सवाद की समझ, इस समझ के अनुसार क्रान्तिकारी पार्टी का गठन और इस पार्टी के कार्यक्रम का दृढ़तापूर्वक पालन था। १८३५ से १८५७ के बीच इंग्लैण्ड और भारत में मार्क्सवाद की समझ और उस समझ के अनुरूप काम करनेवाली पार्टी का अभाव था। किन्तु वस्तुगत परिस्थितियाँ इतिहास की एक ही मंजिल में अंग्रेज मजदूरों को समाजवाद की ओर, हिन्दुस्तानी किसानों को राष्ट्रीय स्वाधीनता की ओर ठेल रही थी, यह अनुमान का विषय नहीं है, यथार्थ घटनाओं से वह प्रमाणित है। स्वयं मार्क्सवाद का विकास समझने के लिए यह तथ्य भी असाधारण महत्व का है कि इंग्लैण्ड के जो क्रान्तिकारी कवि मजदूरों के मुक्ति संघर्ष के समर्थक थे, वे भारत और आयरलैण्ड जैसे पदाक्रान्त देशों की स्वाधीनता के समर्थक भी थे।

(ख) बायरन और शेली : श्रमिक आन्दोलन और भारतीय स्वाधीनता का समर्थन

मशीनी उद्योग-धन्धों के खिलाफ श्रमिकों की लडाई का प्राथमिक रूप मशीनों को तोडना था। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट मशीनें तोड़नेवालों के लिए मृत्युदण्ड के विधान का विचार कर रही थी। १८१२ में इसके विरोध में कवि बायरन ने अपना ओजस्वी भाषण दिया। नौटिंघम से बुलवेल, बुलवेल से बैनफोर्ड, बैनफोर्ड से मैन्सफील्ड, सैनिक दस्तो के मार्च दर मार्च ! बडी आनबान और शान से जब मंज़िले मकसूद तक [ये दस्ते] पहुँचते है; तब पता चलता है, खेल खत्म हो गया है, खिलाडी मैदान छोड चुके हैं; युद्ध की वैजयन्ती के रूप में टूटे हुए फ्रेमों के टुकड़े समेटकर बच्चों की टिलीलिली और बूढी औरतो के ताने सुनते हुए वे लौट आते हैं !

इस प्रकार अंग्रेज कवि बायरन ने मजदूरो के प्रारम्भिक विद्रोह का समर्थन किया।

मशीनध्वंसक श्रमिक लड नामक विद्रोही नेता के अनुयाई थे, इसलिए लडाइट कहाते थे। बायरन ने उनके समर्थन मे एक छोटा-सा गीत १८१६ मे लिखा था : स्वाधीनता प्रेमियों ने समुद्र पार [अमरीका में] अपना खून देकर सस्ते में ही आज़ादी पा ली है; वैसे ही जवानो ! हम भी आजाद होकर जियेंगे या लड़ते हुए मरेंगे। सारे बादशाह मुर्दाबाद, एक बादशाह लड को छोडकर ! जब वह तानाबाना पूरा हो जायगा जिसे हम बुन रहे है और तकुवा (शटल) के बदले हाथ मे हम तलवार लेंगे, तब अपने पैरों के नीचे पड़े ज़ालिम पर वह कफ़न डाल देंगे, और उसने जो खून बहाया है, उसमें खूब गहरा उसे रंग देंगे। उसकी रगों मे कीचड़ की सडाँध है, उसका दिल स्याह है; वैसी ही स्याह वे ओस की बूंदें हैं जो पेड से झरती हैं, पर वह आज़ादी का पेड है जिसे लड ने लगाया है !

इंग्लैण्ड के मज़दूरों का आदिम प्रतिरोध, लक्ष्य है उत्पीड़क का वध; उसकी लाश पर आज़ादी का पेड़ उगा है जिसे मज़दूरों के नेता ने लगाया था। बायरन के छोटे से गीत में पूँजीवादी तन्त्र से मुक्ति पाने की श्रमिक भावना व्यंजित हुई है।

इस गीत की रचना से पाँच साल पहले १८११ में बायरन ने द कर्स आफ मिनर्वा नाम की कविता में भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की कल्पना इस प्रकार की थी : देखो पूरब की ओर जहाँ गंगातटवासी श्याम वर्ण की जाति तुम्हारे अत्याचारी साम्राज्य की नीव हिला देगी। वहाँ विद्रोह अपना भीषण शीश उठा रहा है, स्वदेश बन्धुओं की मृत्यु का बदला लेने के लिए प्रतिहिंसा विकराल नेत्रों से घूर रही है। सिन्धु नदी की तरंगें गहरी लाल होकर उद्वेलित होंगी; बहुत दिनों से उधार पड़ा है उत्तरी [ब्रिटिश] रक्त, उसे अब पाने का दावा करती है सिन्धु नदी। इस प्रकार तुम्हारा नाश हो ! जब पैलासदेवी ने तुम्हें स्वाधीनता के अधिकार दिये थे, तब उसने वर्जित किया था—दूसरों को गुलाम न बनाना !

(Look to the East, where Ganges' swarthy race

Shall shake your tyrant empire to its base;
Lo ! there Rebellion rears her ghastly head,
And glares the Nemesis of native dead,
Till Indus rolls a deep purpureal flood
And claims his long arrear of northern blood.
So may ye perish ! Pallas, when she gave
Your freeborn rights, ferbode ye to enslave.)

१८५७ से ४६ वर्ष पूर्व बायरन यह क्रान्तिस्वप्न देख रहे थे : उनके देश के आततायी भारत मे जो नरसंहार का अभियान चलाये हुए थे, उसके विरोध मे आखिर गगा और सिन्धु के मैदानों के निवासी शस्त्र उठाकर खड़े हो गये है। उन्होने देशवासियों के खून का बदला लिया है, ब्रिटिश आततायियों के रक्त से सिन्धु का पानी लाल हो गया है।

उधर अंग्रेज मजदूर अपने देश में निरकुश उत्पीड़क का वध कर रहे थे, इधर भारतीय जनता विदेशी शासकों का नाश कर रही थी। बेशक, यह सब कवि के कल्पनालोक मे हो रहा था किन्तु बायरन को दोनों कविताओं की प्रेरणा तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियो से मिली थी। बायरन को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इस प्रेरणा को पहचाना और दूसरों के लिए जो सत्य अभी अव्यक्त बना हुआ था, उसे उन्होंने अपनी रचनाओं मे व्यक्त किया। और बायरन अपने युग के अकेले कवि नही थे जिनके मन मे इस तरह की प्रेरणा उदय हुई थी। बायरन के समकालीन कवि शेली ने १८१९ में अग्रेज मजदूरों का आह्वान करते हुए लिखा था : उठो ! नीद से जागे हुए शेरों की तरह उठो। अजेय समुदाय बनकर उठो। सोते मे जो जंजीरें तुम पर आ पड़ी थी, ओस की बूंदों की तरह झटककर उन्हें जमीन पर गिरा दो। तुम अनगिनत हो, वे मुट्ठीभर है !

(Rise like Lions after slumber
In unvanquishable number,
Shake your chains to earth like dew
Which in sleep had fallen on you—
Ye are many—they are few.)

१६ अगस्त १८१६ को साठ हजार मजदूर अपनी स्त्रियों और बच्चो के साथ प्रसिद्ध औद्योगिक नगर मैन्चेस्टर के सेंट पीटर मैदान मे एकत्र हुए थे। निहत्थे मजदूरों की सभा भंग करने के लिए हथियारबन्द घुड़सवारों के दल ने उन पर आक्रमण किया। ग्यारह आदमी मारे गये; इनमे दो स्त्रियां थी। कई सौ व्यक्ति तलवारों की चोट से घायल हुए; घायलो में सौ स्त्रियां थी। अनेक लोग घोड़ों की टापों से कुचले गये या भगदड़ मे मारे गये। यह घटना मैन्चेस्टर का नरमेध (मैन्चेस्टर मैसेकर) के नाम से प्रसिद्ध हुई। उससे आन्दोलित होकर शेली ने 'मास्क आफ अनार्की' कविता लिखी थी। ऊपर दी हुई पंक्तियां उसी में हैं। मजदूर असंगठित थे। शासक वर्ग ने उनके शान्तिपूर्ण प्रदर्शन के दमन के लिए हिंसा से काम लिया था। मजदूरों में उनके जीवन की परिस्थितियों से जो वर्गचेतना पनप

रही थी, वही शेली की कविता मे व्यक्त हुई है। मजदूरों को गुलाम बनानेवाले मुट्ठीभर हैं, उनके मुकाबले मजदूरों का विराट समुदाय है। अपनी शक्ति पहचानने और एकताबद्ध होने पर यह समुदाय अजेय होगा। उसके संघर्ष का उद्देश्य होगा दासता की जंजीरें तोड फेंकना।

शेली समझते थे कि श्रमिक जनता अपनी संख्या के बल पर ही इतनी शक्तिशाली है कि वह शासकों का दमन शान्तिपूर्वक सहते हुए उसे व्यर्थ कर सकती है। इस मामले मे उनका दृष्टिकोण बायरन के मत से भिन्न था। किन्तु शेली यह भी मानते थे कि शान्तिपूर्ण प्रतिरोध विफल हो जाय तो शासक वर्ग की हिंसा का मुकाबला करने के लिए जनता को सशस्त्र विद्रोह करना चाहिए, यह उसका मौलिक अधिकार है। विद्रोह अनिवार्य तब होता है जब किसी राष्ट्र का अल्पसंख्यक भाग बलपूर्वक उसके बहुसंख्यक भाग को दबाकर रखना चाहता है और वह बहुसंख्यक भाग दबकर रहने से इन्कार करता है। "किसी राष्ट्र (देश) का बहुसंख्यक भाग जब यह समझ लेता है कि अल्पसंख्यक [illegible] उसके हितों के विरुद्ध करता है, और यह कि अपनी [illegible] संख्यक भाग का विश्वास यथेष्ट रूप से निराधार है, तब बहुसंख्यक भाग आश्वस्त होता है कि अल्पसंख्यक भाग की [illegible] है और उसके हित मे है, तब संघर्ष अनिवार्य हो जाता है।" [illegible] लेख 'सुधार के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण' (A Philosophical View of Reform) मे हैं। यह लेख १८१९ में लिखा गया था। [illegible] होती है जब जनता का बहुसंख्यक भाग [illegible] होता है, जब उस पुरानी जिन्दगी के [illegible] है और इसके लिए वह [illegible]

सित हुए। इंग्लैण्ड के मजदूर अपनी जंजीरें तोड़ें, इसके साथ जरूरी है कि आयरलैण्ड की जनता अंग्रेजों की गुलामी से आजाद हो, अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष करे, शेली यह बात अच्छी तरह जानते थे।

शेली की प्रारम्भिक रचनाओं मे 'आइरिश जनता से निवेदन' ('ऐन ऐड्रेस टु दि आइरिश पीपुल') नाम का लेख है। "तुम मनुष्य हो या दास हो? दास हो तो लाठी के आगे घुटने टेको, अत्याचारी के तलवे चाटो, लज्जित होने के बदले अपनी दशा पर गर्व करो; पशु हो तो अपनी प्रकृति के अनुसार ऐसा करना तुम्हें शोभा देगा। पर तुम मनुष्य हो! जो वास्तव मे मनुष्य है, वह परिस्थितियों को देखते भरसक स्वतन्त्र होता है। इसलिए चुपचाप और दृढ़ता से विरोध करो।" और भारत? अंग्रेज सारी दुनिया में अपना साम्राज्य फैलाते चले जा रहे थे। वे अपने प्रतिद्वन्दी नैपोलियन को गाली देते थे कि वह दूसरों को गुलाम बनाता है किन्तु वे स्वय इस गाली खाने लायक काम मे लगे हुए थे। इस साम्राज्य के दो महत्वपूर्ण अश थे—आयरलैण्ड और भारत। इतिहास ने दोनों को भाग्य की एक ही डोर से बांध दिया था। दोनों का शत्रु एक था—ब्रिटिश साम्राज्यवाद; दोनों का लक्ष्य एक था—राष्ट्रीय स्वाधीनता। दूसरों को गुलाम बनाने से लाभ होता था शासक वर्ग को, उसके लिए खून बहाती थी निर्धन जनता। शेली ने आइरिश जनतावाले उसी निबन्ध मे लिखा: दौलत बटोरने या राष्ट्रीय सीमाओं को फैलाने से गरीबों को कुछ भी लाभ नही होता। राजनीतिज्ञों के लोभ या उनकी महत्वाकांक्षा को छिपाने के लिए 'गौरव' शब्द का प्रयोग अक्सर किया गया है। इस 'गौरव' से गरीबों को कुछ नही मिलता। कट्टर और अत्याचारी शासन ने स्पेन मे जो विजय प्राप्त की है, वह बोझ है; गरीबों के लिए वह कुछ नही है। "भारत की विजय से इंग्लैण्ड ने जरूर गौरव कमाया है लेकिन नैपोलियन ने जो गौरव कमाया था, उससे यह गौरव अधिक सम्मानजनक नही है और गरीबों के लिए वह कुछ नही है। अपने खून, मेहनत, दुख और गुणों की बलि देकर गरीब आदमी यह गौरव, यह दौलत खरीदते हैं। इस नारकीय लक्ष्य के लिए वे युद्ध मे अपने प्राण देते है।" इस प्रकार इंग्लैण्ड के गरीबों, आयरलैण्ड और भारत के पीड़ित और पराधीन जनों का हित एक ही बात मे था, वह थी ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति। मजदूरों का वर्गयुद्ध और भारत-आयरलैण्ड के स्वाधीनता-संग्राम, इनका उद्देश्य एक ही था, ब्रिटिश राज्यसत्ता की दासता से विशाल मानवता को मुक्त करना। अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे का अर्थ हुआ साम्राज्यवादी देश के मजदूरों और पराधीन देशों की जनता का भाईचारा। इनके संगठित प्रयत्न से साम्राज्यवादी किला फतह किया जा सकता था। ऐतिहासिक परिस्थितियों ने ऐसे प्रयत्न को, ऐसे भाईचारे को अनिवार्य बना दिया था। परिस्थितियों से जो कर्तव्य पैदा होता है, उसे मनुष्य कहाँ तक पूरा करते हैं, यह परिस्थितियों के अलावा मनुष्यों पर भी निर्भर है। चार्टिस्ट आन्दोलन, दुनिया का पहला शक्तिशाली श्रमिक आन्दोलन इस दिशा में इंग्लैण्ड के मजदूरों का प्रयत्न था। १८५७ का गदर, पराधीन देशों की जनता का पहला शक्तिशाली स्वाधीनता आन्दोलन इस दिशा में भारतीय जनता का प्रयत्न था।

(ग) जोन्स और फांग्रीव : स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन

इंग्लैण्ड का चार्टिस्ट आन्दोलन संसार का पहला संगठित श्रमिक आन्दोलन था। उसके प्रमुख नेता अर्नेस्ट जोन्स भारतीय स्वाधीनता के प्रबल पक्षपाती थे, यह विश्वइतिहास का महत्वपूर्ण तथ्य है। वह श्रमिकों की मुक्ति के लिए लड़े, वह भारत की स्वाधीनता के लिए भी लड़े। १८४८ में उन्हें जेल की कालकोठरी में डाला गया था। वहाँ उन्होने 'नई दुनिया' ('द न्यू वर्ल्ड') नाम की कविता लिखी। यह कविता १८५१ में प्रकाशित हुई। जब १८५७ मे भारत का स्वाधीनता-संग्राम आरम्भ हुआ, तब उन्होने कविता का नाम बदला —'हिन्दुस्तान का विद्रोह या नई दुनिया' ('द रिवोल्ट आफ हिन्दोस्तान और द न्यू वर्ल्ड') और इस नाम से उन्होंने उसे फिर प्रकाशित किया। (१६५७ मे स्नेहांशु आचार्य और महादेव साहा ने इसे सम्पादित किया और कलकत्ते की ईस्टर्न ट्रेडिंग कम्पनी ने उसे प्रकाशित किया।) इसकी भूमिका में इंग्लैण्ड और आयर्लेण्ड के सम्बन्ध को लेकर जोन्स ने लिखा : "कहते हैं कि इंग्लैण्ड फलफूल रहा है और आयर्लेण्ड मे शान्ति है। हाँ, इंग्लैण्ड की नाड़ी ज्वर के कारण तेज़ चल रही है और आयर्लेण्ड में मनोबल के विनाश की शान्ति है।" किन्तु भारत में विप्लव की सम्भावना थी। बायरन की तरह जोन्स ने कल्पना की कि अंग्रेज़ी सेना भाग रही है और भारतीय सेना उसका पीछा कर रही है :

पीछेवाले [अंग्रेज़ी] दस्तों के ढोल कायरताभरी धुन सुना रहे है। गरजते हुए भारत ने पीछे हटनेवालो पर धावा बोल दिया है। सरहदें पीछे को हटती जा रही हैं। एक के पीछे दूसरा चला; कुछ बलपूर्वक भगाये गये, उनसे ज़्यादा हड़-कम्प में भागे। विजयी सैलाब ! सैकड़ों पर्वतों से जनता के अधिकारों की दुर्धर्ष नदी बहती है। और सिपाही जागते है, एक के बाद दूसरी पल्टन जागती है। आखिर उन्हें याद आ गया है कि उनकी भी एक मातृभूमि है। तब वहाँ से भागते हैं पैसे के लोभी जज, ऐयाश लार्ड, मुफ़लिस अंग्रेज जो वहाँ जाकर नवाब बन गये थे। अत्याचारी महाजन और घमण्डी व्यापारी भागते हैं, जब सारे देश में स्वतन्त्रता का दुन्दुभिघोष फैल जाता है।

(The rearward drums their dastard marches beat,
And shouting India rushed on the retreat.
Back press the frontiers, once the example given,
In part by force, but more by panic driven.
Victorious deluge ! from a hundred heights
Rolls the fierce torrent of a people's rights,
And sepoy soldiers, waking band by band,
At last remember they've a fatherland !
Then flies the huxlering judge, the panderir
The English pauper, grown a nabab here !
Counting house tyranny, and pedlar pride,

While blasts of freedoom sweep the country wide !)
अंग्रेजों ने भारतवासियों को भरती करके जो सेना बनायी थी, वह अंग्रेजी राज कायम करने का साधन बनी, वही सेना भारत को अंग्रेजी दासता से मुक्त करने का साधन बन सकती है, जोन्स ने इस सम्भावना को पहचाना था और इतिहास ने दिखा दिया कि जोन्स की भविष्यवाणी का आधार यथार्थ जीवन की परिस्थितियाँ थी।

जब १८५७ की लड़ाई शुरू हुई, तब इंग्लैण्ड के शासक वर्ग ने निर्दोष अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों के कथित कत्लेआम का धुआँधार प्रचार किया; इंग्लैण्ड की जनता को, विशेष रूप से मजदूरों को, बरगलाने के लिए उसने प्रतिहिंसा की भावना जगाई, हिन्दुस्तानी सिपाहियों की क्रूरता के किस्से खूब नमक-मिर्च लगाकर अखबारों में छापे। ऐसे वातावरण में भारतीय जनता के पक्ष में कुछ भी कहना बहुत बड़े जोखिम का काम था। किन्तु अर्नेस्ट जोन्स ने भारत के समर्थन में सभाएँ कीं, लेख लिखे। ५ सितम्बर १८५७ के 'पीपुल्स पेपर' में उन्होंने अपूर्व साहस का परिचय देते हुए लिखा: "सारे यूरुप में हिन्दुस्तान के विद्रोह को लेकर एक ही राय होनी चाहिये। संसार के इतिहास में जो सबसे न्यायपूर्ण, गौरवपूर्ण और आवश्यक विद्रोह हुए हैं, उनमें यह विद्रोह है।" ("There ought to be but one opinion throughout Europe on the Revolt of Hindostan It is one of the most just, noble, and necessary ever attempted in the history of the world.") अवध में अंग्रेजों के जघन्य कारनामों का हवाला देते हुए जोन्स ने लिखा, किस पक्ष का समर्थन करें, ऐसी दुविधा किसी को हो तो यह बात हमारी समझ में परे है। इंग्लैण्ड, जनता, अंग्रेज जनता की सहानुभूति स्वाधीनता के प्रति है। रूस के विरुद्ध पोलैण्ड के स्वाधीनता-संग्राम में इस जनता ने पोलैण्ड का साथ दिया; आस्ट्रिया के विरुद्ध हँगरी अपने अधिकारों के लिए लड़ा तो उसने हँगरी का साथ दिया, जर्मनों, फ्रान्सीसियों, पोपपन्थियों और निरंकुश शासकों के विरुद्ध इटली अपनी प्राणरक्षा के लिए लड़ा, तो उसने इटली का साथ दिया; पोलैण्ड, हँगरी और इटली का पक्ष न्यायपूर्ण था तो हिन्दुस्तान का पक्ष भी न्यायपूर्ण है। पोलैण्ड, हँगरी और इटली अब भी अपनी धरती के मालिक हैं, हिन्दू अपनी धरती के मालिक नहीं हैं; उन देशों के शासक वहाँ के लोगों के भाई-बन्धु हैं; हिन्दुओं के लिए ऐसा नहीं है। वहाँ अब भी कानून जैसी कोई चीज है, हिन्दुओं के लिए वह नहीं है। उन देशों में कहीं भी वैसा भयंकर अत्याचारी राज नहीं है जैसा हिन्दुस्तान में है। आश्चर्य उस बात पर नहीं है कि सत्रह करोड़ ने अब विद्रोह कर दिया है, आश्चर्य इस पर है कि उन्होंने स्वयं को पराधीन बन जाने दिया। उनके राजाओं ने विश्वासघात करके एक-दूसरे को नीच आक्रमणकारी के हाथ बेचा न होता तो वे पराधीन न बनते।

"हम अंग्रेज जनता की ओर से अपने हिन्दू भाइयों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं। उनकी लड़ाई तुम्हारी लड़ाई है। उनकी सफलता अप्रत्यक्ष रूप से तुम्हारी सफलता भी है।" ("Their cause is yours—their success is, indirectly, yours as well.")

जोन्स ने इंग्लैण्ड की स्वाधीनताप्रेमी जनता, विशेष रूप से श्रमिक जनता, की लड़ाई को भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम से जोड़ा, दोनों देशों की जनता को एक ही सामान्य उद्देश्य के लिए लड़ने को प्रेरित किया। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ जिस ओर विश्वमानवता को ठेल रही थीं, विश्व के पूँजीवादी गढ इंग्लैण्ड के मजदूरों को और उस गढ़ की सबसे बड़ी जागीर भारत को क्रान्ति की जिस दिशा में ठेल रही थीं, उसकी सही पहचान अर्नेस्ट जोन्स के लेखों में है। यह उनका युगान्तरकारी महत्व है।

१६वीं सदी के मध्य में इंग्लैण्ड और भारत के घटनाक्रम ने सिद्ध कर दिया कि विश्वपूँजीवाद का विकास इस ढँग से हो रहा है कि इंग्लैण्ड में पूँजीवाद का तख्ता तब तक नहीं उलटा जा सकता जब तक इस काम में भारत की जनता अपनी धरती में जोर न लगाये, इंग्लैण्ड के मजदूर तब तक क्रान्ति का पाठ न पढ़ेंगे जब तक भारत की जनता अपने यहाँ उनके शासक वर्ग का प्रभुत्व समाप्त करके उन्हें इसके लिए मजबूर न करेगी, पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करके वह अंग्रेज मजदूरों में लूट के माल का बँटवारा बन्द न करेगी, क्रान्ति के मार्ग से हटानेवाले, साम्राज्यवादी व्यवस्था में पनपनेवाले इस भ्रष्टाचार की जड न काटेगी।

इंग्लैण्ड के उद्योगपतियों ने मजदूरों में लूट का माल बाँटकर उन्हें भ्रष्ट करने में जैसे-जैसे सफलता पाई, वैसे-वैसे मजदूरों के अनेक नेता क्रान्ति में आस्था खोकर पूँजीवादी सुधारवादके दलदल में फँसते गये। ऐसे नेताओं में एक थे रिचार्ड कांग्रीव। वह अपने को समाज के पुनर्गठन का समर्थक कहते थे यद्यपि यह पुनर्गठन क्रान्तिकारी ढंग से हो, यह उनका दृष्टिकोण न था। १८५७ में उन्होंने ३५ पृष्ठों की इंडिया नाम की पुस्तिका लिखी; उसमें अभी चार्टिस्ट आन्दोलन की काफी चिनगारियाँ मौजूद हैं। अर्नेस्ट जोन्स के समान रिचार्ड कांग्रीव भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के समर्थक थे, जोन्स के समान इंग्लैण्ड के पूँजीवादी अखबारों ने जो जबर्दस्त भारतविरोधी प्रचार अभियान चलाया था, साहस के साथ उन्होंने उसका सामना किया, अकेले पड जाने पर भी विचलित हुए बिना उन्होंने अंग्रेज मजदूरों को समझाया कि उनका हित भारतीय जनता का साथ देने में है। इंडिया पुस्तिका की प्रस्तावना में तारीख ६ नवंबर १८५७ है। वह उस वर्ष जौन चैपमैन द्वारा लंदन से प्रकाशित हुई थी।

कांग्रीव का कहना था कि वे सिपाहियों द्वारा की हुई हत्याओं के समर्थक नहीं हैं किन्तु प्रतिहिंसा नहीं, न्याय होना चाहिए और न्याय के अनुसार सिपाहियों को ही नहीं, यूरोपियनों को भी दण्ड मिलना चाहिये यदि उन्होंने वैसे ही काम किये हों। यूरोपियन लोगों के जानमाल की सुरक्षा का प्रबन्ध जल्दी-से-जल्दी करके हमें भारत से वापस आ जाना चाहिए, इस नीति का पालन इंग्लैण्ड का कर्तव्य है। अंग्रेजों ने भारत के साथ अन्याय किया है; उसे समझकर आगे अन्याय करने से बाज आना चाहिए। "मैं मुक्तकंठ से अंग्रेज सरकार को दोषी ठहराता हूँ, सरकार की बात मान लेने के लिए अंग्रेज जनता को दोषी कहता हूँ लेकिन एक पल के लिए भी अन्यायपूर्वक इस जनता की क्षमता मैं कम करके नहीं आंकता। मुझे विश्वास है कि उसके सर्वोच्च नैतिक बोध को जगाया जाय तो उस तक आवाज पहुँचेगी

और वह जागेगा। जिस जाति (नेशन) ने मिल्टन और क्रामवेल पैदा किये थे और क्रामवेल के सैनिक पैदा किये थे, वह किसी भी महान्, गौरवपूर्ण या निष्ठा-युक्त कर्म के योग्य है। काश, मिल्टन के समान उस जाति को 'बलवान पुरुष की भाँति नींद से जागते' मैं भी देखता ! काश, दो दुखभरी शताब्दियों का अन्तराल पार करके मिल्टन का शक्तिशाली स्वर हमारे कंठ में गूंज उठता और वह गूंज इतनी उदात्त होती कि उनकी उच्च भावना को व्यंजित कर पाती, उनकी जाति की उच्च भावना को व्यंजित कर पाती !"

जो नियम इंग्लैण्ड पर लागू होते हैं; वही भारत पर लागू होते हैं। "मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि हमने भारत पर जो बलपूर्वक अधिकार जमा रखा है, उसे कोई भी अंग्रेज राजनीतिज्ञ युक्तिपूर्वक उचित नही सिद्ध कर सकता।" जिन्हें तुमने जीता है, उन्हें तुम अपने में मिला नहीं सकते। जातीय अपमान की भावना मिटेगी नही। उस समय का ध्यान करो जब भारत पर तुम्हारा अधिकार नही था। "भारत से हमारा व्यापार-सम्बन्ध पहले से था, जब हमारा साम्राज्य न होगा, तब भी यह सम्बन्ध रहेगा।" इंग्लैण्ड के लिए राजनीतिक दुर्बलता का एक स्रोत है भारत। "कल्पना करो कि जो विद्रोह इस समय हो रहा है, वह उस समय फूट पडता जब हम रूस से लड़ाई में फँसे थे। तब इतना दबाव पड़ता कि हम उसे झेल न पाते।"

इंग्लैण्ड और रूस का युद्ध दो साम्राज्यवादी ताकतों का युद्ध था। १८५७ की लड़ाई से पहले वह समाप्त हो गया। उससे पहले चार्टिस्ट आन्दोलन समाप्त हो गया। मान लीजिये, जिस समय इंग्लैण्ड रूस से युद्ध मे फँसा था, उस समय मजदूरों ने अपना चार्टिस्ट आन्दोलन चलाया होता, और उसी समय भारतीय जनता ने स्वाधीनता-सग्राम छेडा होता, तो इन तीन घटनाओं के एक साथ घटित होने पर उनके परिणाम क्या होते ? १९१७ में रूस जर्मनी से युद्ध मे फँसा हुआ था, रूसी मजदूरों ने इसी समय क्रान्ति का झण्डा उठाया और उसी समय गैररूसी जातियों ने अपनी आजादी के लिए सघर्ष छेड़ दिया। इन तीन घटनाओं के एक साथ घटित होने का परिणाम था संसार की पहली विजयी समाजवादी क्रान्ति। इस क्रान्ति की रिहर्सल हुई थी १८३५ से १८५७ तक की अवधि में, इंग्लैण्ड और भारत की धरती पर।

कॉब्डेन देख रहे थे कि साम्राज्य-विस्तार से ब्रिटिश जनता के वास्तविक हित का नाश हो रहा है। साम्राज्य-विस्तार का अपरिहार्य परिणाम था युद्ध। उन्होंने यूरप की स्थिति देखते हुए ब्रिटेन के लिए लिखा : "उपनिवेशों या पराधीन देशों पर अधिकार जमाये रहने का नारा एक भुलावा है, कम-से-कम इस कल्पना के लिए भुलावा है कि उनसे हमारी शक्ति बढ़ेगी। हमारी वित्तीय शक्ति के लिए वे बोझ हैं और हमारी सैनिक शक्ति उनसे छीजती है। हम बड़े हैं, उपनिवेशों या पराधीन देशों के कारण नही वरन् उनके बावजूद। ये दूर की मोर्चाबन्दी हैं जो हमारे लिए बोझ है। एक जगह शक्ति केन्द्रित करने के लिए वहाँ से हट जाना चाहिए। हम तब महान् थे जब हिन्दुस्तान को हथियाने का सपना किसी लुटेरे (ऐडवेन्चरर) की आँखों पर छाया हुआ न था। हम फिर महान् होंगे जब राष्ट्र

की शक्ति को एक महान् शासन सही दिशा में प्रेरित करेगा, उचित रूप में व्यक्त करेगा।"

कांग्रीव ने विस्तारवादियों के इस तर्क का खण्डन किया कि सभ्यता के प्रसार के लिए भारत पर ब्रिटिश अधिकार जरूरी है। वह वर्क की रचनाओ से भली भाँति परिचित थे और उन्होंने बहुदेवोपासक भारतीय संस्कृति की प्राचीनता की तुलना में ब्रिटिश समाजव्यवस्था को बच्चा बताया। उन्होने पाश्चात्य सभ्यता को प्रगतिशील फिर भी अराजकतामय (the progressive, yet still anarchical civilization of the West) कहा जिसे भारत पर समय से पहले लादना अनुचित था। यहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से दो संकेत महत्वपूर्ण हैं। पहला यह कि पूंजीवादी सभ्यता प्रगतिशील है किन्तु इसके साथ वह अराजकतामय भी है। अराजकतामय होने का भाव यह है कि पूंजीवादी समाज होड के कारण अव्यवस्थित है; अपनी तिजोरी भरने के लिए एक धनपति दूसरे का गला काटने में संकोच नहीं करता। समाज का गठन इसलिए नही हुआ कि उसके सदस्य आपसी सहयोग से अपना जीवन सुव्यवस्थित ढंग मे चलायें; उसका गठन इस तरह हुआ है कि लुटेरे सम्पत्ति पैदा करनेवालों को लूटते हैं और इसके साथ आपस मे भी एक-दूसरे को लूटते हैं। यह अराजकता पूंजीवादी समाज का अनिवार्य लक्षण है। शेली ने पीटरलू हत्याकाण्ड वाली कविता में इसी अराजकता (ऐनार्की) को चित्रित किया था। दूसरी बात यह कि भारत भी इस पूंजीवादी अराजकता के दौर से गुजरेगा; उसे समय मे पहले (prematurely) इस पद्धति को अपनाने के लिए मजबूर करना गलत है। उनकी यह उक्ति बडी सारगर्भित है: "जब हमारे समाज का [illegible] सामञ्जस्यपूर्ण हो जायगा, तब दूसरों के सामने उसे आदर्शरूप मे प्रस्तुत करने के लिए काफी समय रहेगा। इसमें जरा भी सन्देह न करता कि पाश्चात्य संसार का न्यायपूर्ण गठन एशिया की प्राचीन, फिर भी तरुण सभ्यता को बड़ी तेजी से प्रभावित करेगा।" आशय यह कि दूसरों को सभ्यता का पाठ पढ़ाने के पहले पाश्चात्य संसार पहले अपनी अराजकता दूर करे। पूंजीवादी अराजकता से मुक्त होकर समाजवादी यूरप एशियाई समाजों का कायाकल्प कर सकता था, इसमें सन्देह की गुंजाइश नही। किन्तु उस अराजकता से छुटकारा पाने के लिए उसे स्वयं एशिया के मुक्ति आन्दोलनों के सहारे की जरूरत थी।

ब्रिटेन की पूंजीवादी सभ्यता जिन पुराने अवशेषों से समझौता कर चुकी थी, उनमे ईसाई धर्म मुख्य था। शासक वर्ग ब्रिटिश जनता की [illegible] था, उसे वैज्ञानिक दृष्टि से संसार को जानने-समझने का [illegible] उसके पुराने विश्वासों को पोसता रहता था और [illegible] के लिए करता था। ईसाइयत को यह आधुनिक सभ्यता का [illegible] पूर्ण अंग कहकर पेश करता था। अंग्रेज मजदूरों से यह कहता था, भारत के हिन्दू और मुसलमान अन्धविश्वासों मे डूबे हुए है, ईसाइयत ही उन्हें [illegible] सकती है, इसके लिए भारत पर ब्रिटिश नियन्त्रण जरूरी है। [illegible] का विरोध किया और कवि कोलरिज का हवाला देते हुए [illegible] के प्रति सावधान रहने को कहा। उन्होंने यह भी स्पष्ट कहा कि [illegible]

जीवन के लिए, न अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए ईसाइयत को मार्गदर्शक मानते हैं। दूसरी जातियों पर उसे न तो बलपूर्वक, न समझाबुझाकर थोपना चाहिए, भले ही उनकी धार्मिक व्यवस्था ह्रासग्रस्त हो (Believing no longer in Christianity, not accepting it either as a guide for personal life, or as a regulator or social of international conduct, I of-course deprecate most earnestly any attempt to force it on other nations, or to spread it even by pesuasion, whenever and in however decaying a form there yet lives a religious organization.) जो व्यक्ति स्वय धर्म-सम्बन्धी रूढ़ियो से मुक्त होता है, वही दूसरों के धर्म के प्रति सच्ची सहिष्णुता दिखलाता है; जो व्यक्ति स्वयं पूँजीपतियों के अन्धराष्ट्रवाद से मुक्त होता है, वही दूसरी जातियो के मुक्ति आन्दोलनों का सच्चा समर्थक बनता है। यह सत्य कांग्रीव के जीवन में चरितार्थ हुआ था।

साम्राज्यवादियो का एक तर्क यह था कि अंग्रेज चले जायेंगे तो भारत के लोग फिर पहले की तरह आपस में लड़ने लगेंगे, अंग्रेज़ी राज मे जो कुछ सहते हैं, उसकी तुलना मे उनकी मुसीबतें कई गुना ज्यादा बढ़ जायेंगी। कुछ भारतीय इतिहासकार अपने 'मौलिक' अध्ययन-विश्लेषण के बल पर यही तर्क गदर के बारे मे १९५७ में दोहरा रहे थे। तर्क पुराना था; कांग्रीव ने ठीक एक शताब्दी पहले १८५७ मे उसका खण्डन किया था। कांग्रीव ने पूछा : भारत में कुछ दिन बने रहने के लिए यह तर्क दे रहे हो या वहाँ हमेशा बने रहने के लिए ? यदि थोड़े दिन बने रहने के लिए है तो विद्रोह के दमन से बात थोड़े दिनों की न रहेगी। "यदि विदा होने का दिन हमीं को तै करना है तो वह दिन काफी दूर बना रहेगा।" हमें वह दिन तै करने का अधिकार नहीं है। भारत यूरप से बहुत कुछ सीख सकता है "पर इससे यह सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता कि जहाँ भी कुशासन हो, वहाँ उसे सुधारने के लिए हम घँस पड़ें। ऐसी मिसालें सैंकड़ो हैं जहाँ हम कुशासन बर्दाश्त करते हैं।" कुराज खत्म करके सुराज कायम करना साम्राज्यवादियों का ऐसा तर्क है जिसे वे आज भी दोहराते है। पहले कुराज, कुशासन का आधार गैर-ईसाई धर्म था, अब कम्युनिज्म है।

कांग्रीव ने कहा, भारत न छोड़ने का असली कारण यह है कि लोग समझते हैं कि इससे उन्हें लाभ होता है पर वे इस लाभ की स्पष्ट व्याख्या नहीं करते। फिर राष्ट्रीय अभिमान का सवाल है। क्या बात करते हो ? सौ साल रहने के बाद यों ही हाथ झाड़कर चले आयें ? "इंग्लैण्ड आक्रमण (ऐग्रेशन) की राह पर दूर तक ले जाया गया है, और सफलता मिलने से उत्पीड़न की राह पर दूर तक ले जाया गया है।" भारत को जीतने से इंग्लैण्ड का गौरव बढ़ा है! "तब कैसी बीतेगी जब यह गौरव हमारे हाथ से छिन जायगा—और यह निश्चित है कि यह आगे पीछे छिनेगा जरूर—और भारत पर हमारा अधिकार इतिहास की एक घटना बनकर रह जायगा ?" गौरव ? क्लाइव और हेस्टिंग की तो बिसात क्या, उनसे योग्य सेनापतियों को भी स्थायी गौरव प्राप्त न होगा। "भारत में अंग्रेज सिपाही एक राष्ट्र को गुलाम बनाने का साधन है।" ("....the English soldier

in India is the instrument of a nation's servitude.") इंग्लैण्ड का वास्तविक गौरव इस बात मे है कि वह भारत को उसके निवासियों के हाथ सौंप दे। इस गौरव को पाने का अवसर बीता जा रहा है। इंग्लैण्ड को भारत छोडना होगा, यह एकदम निश्चित है, बदतर बात यह होगी कि वह भारत को फिर से जीते; और सबसे खराब बात यह होगी कि इस कोशिश मे वह कामयाब हो जाय।

अपने चारों ओर फैलती हुई अन्धराष्ट्रवाद की लपटों की परवाह न करके कांग्रीव ने ये बातें कही थी। वे जानते थे कि वह अपेक्षाकृत अलगाव की दशा मे है पर उन्हे विश्वास था कि इंग्लैण्ड में ऐसे काफी लोग है जो उनकी बात सहानुभूति से सुनेंगे, भले ही उसे पूरी तरह न मानें, बशर्ते कि बात उन्हें सुनाई पड़ जाय। और यूरुप के अधिकाश विचारशील मनुष्य भी उसे स्वीकार करेंगे। उन्होने कहा कि इग्लैण्ड मे आज मेरी बात भले न मानी जाय पर भविष्य मे अवश्य मानी जायगी। इंग्लैण्ड की स्त्रियों और वहाँ के श्रमिकों का विशेष रूप से भरोसा करते हुए "भारत और इंग्लैण्ड के बलपूर्वक सम्पन्न किये हुए अप्राकृतिक गठबन्धन को और चालू रखने के विरुद्ध मैं अपनी आवाज़ बुलन्द करता हूँ।"

और उन्होने इंग्लैण्ड की स्त्रियों से कहा : भारत के मसले पर तुम्हे दूसरो को अपनी बात सुनानी चाहिये। स्वार्थवाली दलीलें छोडकर लोगों के उच्च भाव जगाओ। सिपाहियों के आततायीपन की कहानियाँ तुमने विचलित होकर सुनी। प्रतिहिंसा की कार्रवाई आँखें बन्द करके स्वीकार न करो। जोरों से उसकी निन्दा करो।

मजदूरो के लिए उनका विचार था कि "मेरे देशवासियो मे यही लोग ऐसे है जिनकी ओर तुरन्त कुछ किये जाने की आशा से मैं देखता हूँ।" यही उन्होंने मज़दूरों मे व्याप्त सुधारवाद पर ध्यान देते हुए कहा था कि मैं समाज के पुनर्गठन का समर्थन करता हूँ यद्यपि क्रान्तिकारी भाव से नही। वह स्वभावतः मज़दूरों की ओर देखते है क्योंकि "ऐसे पुनर्गठन की आवश्यकता का अनुभव सबसे ज्यादा इन्ही को होता है और पुरानी व्यवस्था बनाये रखने से इन्हीं को सबसे कम दिलचस्पी है।" भारत मे तुम्हारा कोई स्वार्थ नही है, उस पर अधिकार जमाने से तुम्हें लाभ नही होता। भारतवासी चाहते है कि अंग्रेज़ उन पर हुकूमत करें, यह दावा मूर्खता-पूर्ण है। ऐसा दावा तुम्हारे बारे मे भी किया जाता है [कि तुम पूँजीपतियों के गुलाम बने रहना चाहते हो।] "तुम जानते हो कि जो लोग तुम्हारी सरकार चलाते हैं, वे तुम्हारी भावना की पूर्ण उपेक्षा करते है या उसे गलत पेश करते हैं। क्या यह सम्भव है कि वह भारत की दूर और अपने से गैर जनता की भावना सही-सही पेश करेंगे?" तुम्हें न्याय चाहिये; न्याय की माँग करो। प्रतिहिंसा में निर्दोष भी मारे जायें, इसे रोको। उकसाने का काम अंग्रेज़ों ने किया था, इसलिये इन्साफ के साथ रहम भी होना चाहिये। "भारत में अंग्रेज़ों की चाल-ढाल कैसी रही होगी, इसे अपने यहाँ उन्ही वर्गों की चालढाल मे परखो; अपने अभिजात वर्ग की चालढाल मे परखो, फिर वह अभिजात चाहे व्यापार से सम्बन्धित हो, चाहे ज़मीदारी से; अपने मध्यम वर्गों [अर्थात् उद्योगपतियों] की चालढाल मे परखो।" तुम्हारे यहाँ एक तरफ धन-दौलत है, दूसरी तरफ मुफलिसी है। तुम्हारे ऊपर टैक्सो का भारी बोझ है। अंग्रेज होने के नाते तुम्हारा जो अनुभव है, उसकी रोशनी में

फैसला करो, इन्सान के नाते अपने हृदय की बात सुनकर फैसला करो, मैं हर बिना पर भारत के मामले में निडर होकर तुमसे अपील करता हूँ कि "जैसे अपने देश को विदेशी उत्पीड़न से बचाने के लिए तुममें एक-एक आदमी उठ खड़ा होगा, वैसे ही उसके उत्पीडक बनने के विरोध में एकमत होकर अपनी आवाज बुलन्द करो।" तुम्हारी मेहनत से, तुम्हारे हुनर से, इंग्लैण्ड बड़ा बना है पर इसका पुरस्कार तुम्हे नही मिला। तुम्हारी मुसीबतें बढी हैं; राजनीति में [शासन में] तुम्हे गैर माना गया है। तुम्हारा वर्ग ही बेहतर सामाजिक गठन की तात्कालिक आवश्यकता पहचानता है। तुम्हारे शासकों की नीति है कि ऐसे सवालों को उठा रखें, और राष्ट्र की शक्ति विदेश की ओर प्रेरित करें। उनकी पुरानी नीति याद करो। "मौजूदा शासन-व्यवस्था की आधारशिला है भारत।" ये शासक घरेलू मामलो मे निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। इन निकम्मे शासकों को और जिम्मेदारियाँ लेने से दृढतापूर्वक रोको। इन्हे और भी शक्ति चाहिए। "मैं क्रान्तिकारी भाषा का व्यवहार न करूंगा। पहले कभी मैं क्रान्तिकारी था पर अब नही हूँ।" शासकों को बाध्य करो कि अपनी नीति पूरी तरह बदलें। ये भारत पर अधिकार जमाकर तुम्हे फौजी राष्ट्र बनने का अभ्यास करा रहे हैं। तुम्हारी सहज भावना शान्ति के लिए है, युद्ध के लिए नही। शान्ति ही ऐसा आधार है जिससे तुम अपनी सामाजिक स्थिति सुधारने की आशा कर सकते हो। पूरब के लिए क्यो सेना जाने देते हो? जो भी सेना मे भर्ती हो, उसकी भर्त्सना करो। "तुम, और केवल तुम, रँगरूटों की भर्ती रोक सकते हो।" सेना का खर्च टैक्स लगाकर तुमसे वसूल किया जायगा। "तुम अपने धर्म और सभ्यता का खोखलापन पहचानते हो।" क्रान्तिकारी अपीलों पर ध्यान मत दो। मौजूदा व्यवस्था मंजूर कर लो किन्तु प्रगति के आधार पर। "दूसरी जातियाँ चाहे बराबरी के दर्जे की हों, चाहे अन्याय से हमारे अधीन बनाई गई हों, इनके प्रति नीति बदलने की माँग तुम्हारी पहली माँग होनी चाहिये। इस दिशा में पहला कदम होगा भारत को छोड़ना।"

कांप्रांव ने मजदूरों की तत्कालीन राजनीतिक चेतना को ध्यान में रखते हुए यह अपील लिखी थी। वह क्रान्ति द्वारा शासक वर्ग का रास्ता उलटने की बात नहीं कहते। यह बात पन्द्रह-बीस साल पहले कही जा सकती थी पर १८५७ में ब्रिटिश मजदूरों का क्रान्तिकारी उभार ठण्डा पड़ चुका था। फिर भी वह मजदूरों को याद दिलाते जाते हैं कि शासक वर्ग की नीति को मूलतः बदलना, समाज-व्यवस्था को नये सिरे से रचना आवश्यक है। दूरगामी लक्ष्य के साथ वह मजदूरों को उनके तात्कालिक हानि-लाभ की याद दिलाते हैं, मजदूरों को शासक वर्ग के व्यवहार का जो अनुभव है, उसकी याद दिलाते हैं, उनकी वर्गचेतना और वर्गहितों के अलावा वह उनकी जातीय चेतना और सहज मानवीय संवेदना का भरोसा करके युद्ध रोकने के लिए उन्हें प्रेरित करते हैं। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में, पहला महायुद्ध छिड़ने पर फ्रान्स के रोमाँ रोलाँ जैसे मानवतावादियों ने नरसंहार रोकने की अपीलें की। उनकी अपीलों से नरमेध रुका नहीं। इससे उनका महत्व कम नहीं होता। मार्क्सवादियों ने युद्धविरोधी, फासिस्टविरोधी आन्दोलनों में व्यापक मोर्चों के साथ मजदूरों के वर्गहितों को मिलाया और उन आन्दोलनों में उन्हें भारी

सफलता मिली। इस कौशल का परिचय जोन्स और कांग्रीव ने अपनी रचनाओं में दिया। वे मार्क्सवादी नही थे किन्तु समान परिस्थितियों में समान कार्यनीति की ओर प्रेरित हो रहे थे। ऐतिहासिक परिस्थितियाँ मिलती-जुलती हों तो उनसे मनुष्यों के मन में मिलती-जुलती प्रेरणाएँ उभरेंगी, ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त उक्त उदाहरण से पुष्ट होता है।

विश्व पैमाने पर क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास की दृष्टि से जोन्स और कांग्रीव की ऐतिहासिक भूमिका यह है कि उन्होने ब्रिटिश मजदूरों के वर्गहितों को भारतीय जनता के राष्ट्रीय हितों से जोडा, उन्होने ब्रिटिश मजदूरों के मुक्ति आन्दोलन से भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम का घनिष्ठ सम्बन्ध पहचाना, उन्होंने एक क्षण के लिए भी झिझके बिना १८५७ की लड़ाई को भारतीय जनता की आजादी की लडाई माना और इसी रूप मे उसका समर्थन किया। विश्व पूंजीवाद के गढ का ध्वस करने के लिए, पराधीन देशों को, गढ़ के भीतर बन्द मजदूरों की सहायता के लिए, बाहर मे प्रबल आक्रमण करना है, समाजवादी क्रान्ति की सफलता के लिए यह रणनीति इतिहास ने १८५७ मे निर्धारित कर दी थी।

(घ) भारतीय स्वाधीनता-संग्राम और इंग्लैण्ड में जनवादी क्रान्ति की सम्भावना

इंग्लैण्ड के शक्तिशाली चार्टिस्ट आन्दोलन ने अपने सामने जो कार्यक्रम रखा था, वह समाजवादी नहीं था, किन्तु समाजवाद की ओर बढ़ने के लिए मार्ग प्रशस्त करनेवाला था। कारण यह कि उसे मजदूरों ने प्रस्तुत किया था, पूंजीपतियों ने नही। सामन्तविरोधी क्रान्ति का कार्यक्रम पूंजीपति बनायेंगे तो वे उसमे अपने वर्गहितों का ध्यान रखेंगे, वे मजदूरों के लिए ऐसी व्यवस्था करेंगे कि वे पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध सिर न उठा सकें। उनका लक्ष्य होगा पूंजीवादी जनतन्त्र। इसके विपरीत मजदूर ऐसी क्रान्ति का कार्यक्रम बनायेंगे तो वे इस बात की ओर ध्यान देंगे कि पूंजीपतियो की शक्ति नियन्त्रित रहे, शासन-व्यवस्था मे निर्णायक भूमिका मजदूरों और उनके सहयोगियों की रहे। उनका लक्ष्य होगा लोकवादी जनतन्त्र। बीसवीं सदी मे दूसरे महायुद्ध के दौरान नये जनतन्त्र, जनता के जनतन्त्र (न्यू डिमोक्रैसी, पीपुल्स डिमोक्रैसी) आदि की बड़ी चर्चा हुई है। ये जनतन्त्र पूंजीपतियों के जनतन्त्र से भिन्न थे, इसलिए नये थे, जनता के थे। मजदूर वर्ग की प्रमुख भूमिका इनकी विशेषता थी। ऐसे जनतन्त्र कायम करने का प्रयोग बहुत पुराना है। इंग्लैण्ड मे जब पूंजीवादी जनतन्त्र कायम न हुआ था, जब पूंजीपति अभिजात वर्ग से सत्ता हथियाने के लिए श्रमिक शक्ति का उपयोग करने की तरकीबें निकाल रहे थे, तब ब्रिटिश मजदूर अपने सहज बोध के बल पर, किसी स्पष्ट सैद्धान्तिक सीख पर चले बिना, लोकवादी जनतन्त्र की ओर बढ़ रहे थे। यह लोकवादी जनतन्त्र समाजवादी जनतन्त्र नही था, साथ ही वह पूंजीवादी जनतन्त्र नहीं था।

१८४४-४५ में एंगेल्स ने प्रत्यक्षदर्शी की हैसियत से ब्रिटिश मजदूरों की दशा पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी थी। इसमें उन्होंने चार्टिस्ट आन्दोलन का विवेचन करते हुए कहा था: मजदूरों की निगाह में कानून की इज्जत नहीं है। वे उसके आगे तभी झुकते हैं जब वे उसे बदल नहीं सकते। ...शासन में यह बहुत स्वाभ-

क है कि वे उसमें तबदीलियाँ करने का ही आयोजन करें, कि वे "पूंजीपतियों के
नून तन्त्र की जगह सर्वहारा कानून लागू करना चाहें। प्रस्तावित कानून का
ाम है जनता का माँगपत्र (पीपुल्स चार्टर)। इसका रूप विशुद्ध राजनीतिक है और
उसकी माँग है : लोक संसद (हाउस आफ कामन्स) का आधार जनतान्त्रिक हो।
चार्टिज्म पूंजीपतियों के प्रति उनके [मजदूरों] के विरोध का घनीभूत रूप है।"
(औन ब्रिटेन, पृ. २६३)। चार्टिज्म से अलग मजदूरों ने पूंजीपतियों का जो विरोध
किया, वह सुसंगठित नहीं था। जब उन्होंने सचेत रूप से पूंजीपतियों का विरोध
किया, तब उसने चार्टिज्म का रूप लिया। "चार्टिज्म में समूना मजदूर वर्ग
पूंजीपतियों के विरुद्ध उठ खड़ा होता है और सबसे पहले वह उनकी राजनीतिक
शक्ति पर हमला करता है, उस कानूनसाज किलेबन्दी पर हमला करता है जिसे
पूंजीपतियों ने अपने चारों ओर खड़ा कर रखा है। चार्टिज्म का जन्म उस डिमो-
क्रैटिक पार्टी से हुआ है जो १७८० से १७९० के बीच बनी थी। इस पार्टी का
निर्माण सर्वहारा वर्ग के साथ और उसके भीतर हुआ था। फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति
के दौरान वह शक्तिशाली हुई [अर्थात् फ्रान्स की राज्यक्रान्ति से इंग्लैण्ड की
जनवादी पार्टी को नयी शक्ति मिली]। उसका केन्द्रीय कार्यालय तब बर्मिघम
और मैन्चेस्टर में था, बाद को लन्दन में था। उदारपन्थी पूंजीपतियों के साथ एका
करके उसने पुरानी पार्लियामेण्ट के इजारेदार भूस्वामियों से रिफार्म बिल [पार्लिया-
मेण्ट के लिए मताधिकार को किंचित् विस्तृत करनेवाला कानून] पास करा के छोड़ा।
और तब से पूंजीपतियों के विरोध में अधिकाधिक स्पष्ट मजदूर पार्टी के रूप में
उसने अपने को सुदृढ़ किया है। १८३५ में लन्दन के जनरल वर्किंगमेन्स
ऐसोसिएशन [श्रमिक महासभा] की एक कमेटी ने विलियम लोवेट के नेतृत्व में
जनता का माँगपत्र तैयार किया। इस पीपुल्स चार्टर की छह माँगें इस प्रकार थीं :
(१) हर बालिग को, जिसके होशहवास दुरुस्त हों और जिसे किसी अपराध के लिए
सजा न मिली हो, सार्वजनिक मतदान का अधिकार हो; (२) सालाना पार्लिया-
मेण्ट हो; (३) पार्लियामेण्ट के सदस्यों को वेतन मिले; (४) पूंजीपति डराने-
धमकाने से या पैसे देकर लोगों के वोट न पायें, इसके लिए मतपत्र (बैलट) द्वारा
वोट दिये जायें; (५) समान प्रतिनिधित्व के लिए समान निर्वाचन क्षेत्र हों;
(६) उम्मीदवारों के लिए अभी नामचार को जो ३०० पाउण्डवाली भूसम्पत्ति की
शर्त लगी है, उसे खत्म किया जाय जिससे हर मतदाता चुनाव के लिए खड़ा हो
सके। ये छह मुद्दे पार्लियामेण्ट के पुनर्गठन तक सीमित हैं, ऊपर से देखने में मासूम हैं
पर वे महारानी और लार्ड्स समेत समूचे अंग्रेजी संविधान को उलट देने के लिए
काफी हैं। संविधान के तथाकथित बादशाही और अभिजात वर्ग के तत्व केवल इस-
लिए बने हुए हैं कि पूंजीपति वर्ग उनका मिथ्या जीवन बनाये रखना चाहता है और
इन दोनों में मिथ्या जीवन से अधिक अब और कुछ नहीं है।" (उप., पृ. २६३-६४)।
पूंजीपति अभिजात वर्ग से सत्ता छीन लेना चाहते थे, फिर भी वे उस वर्ग से
समझौता कर रहे थे, उसके अवशेष बनाये रखना चाहते थे। इसके विपरीत मजदूर
बादशाही, हाउस आफ लार्ड्स आदि अभिजात वर्ग के सभी अवशेषों को खत्म
करने के पक्ष में थे। पूंजीपतियों का प्रयत्न था कि उच्च वर्गों के लोग ही पार्लिया-

मेण्ट में आयें; इधर मजदूरों का प्रयास था कि साधारण लोग और उनके प्रतिनिधि चुने जायें। पूंजीपति डरा-धमकाकर या पैसे के बल पर लोगों के वोट बटोरते थे; मज़दूरों की कोशिश थी कि उनकी यह कार्रवाई बन्द हो। मज़दूरों के जनतन्त्र और पूंजीपतियों के जनतन्त्र के उद्देश्य अलग-अलग थे, उनके विकास की दिशाएँ अलग-अलग थी। सबसे बड़ा अन्तर यह था कि पूंजीपति राज्यसत्ता पर अपना इजारा कायम करना चाहते थे किन्तु मज़दूर उसमे साझेदार होना चाहते थे। मज़दूर अपने वर्ग का इजारा चाहते तो बात समाजवाद की होती; वे अन्य वर्गों के साथ सत्ता मे अपना हिस्सा चाहते थे, इसलिए बात जनतन्त्र की थी और यह ऐसे जनतन्त्र की बात थी जो पूंजीवादी जनतन्त्र से भिन्न था। १८८५ मे 'कामनवील' पत्र के लेख में एंगेल्स ने सत्ता की बात इस प्रकार स्पष्ट की थी: "शहरों के श्रमिक जन राजनीतिक सत्ता में अपना हिस्सा माँग रहे थे—यह था पीपुल्स चार्टर। अधिकांश छोटा व्यापारी वर्ग उनका समर्थन कर रहा था; दोनों मे केवल इस बात को लेकर अन्तर था कि चार्टर की माँगें बलपूर्वक मनवायी जायें या नैतिक शक्ति से मनवायी जायें।" (उप., पृ. २४)।

जातीय जनवादी मोर्चे का यह रूप था। पूंजीपतियों का एक हिस्सा मज़दूरों का समर्थन कर रहा था। यह मोर्चा समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध न बनाया गया था। जो छोटे पूंजीपति मज़दूरों का साथ दे रहे थे, वे सुसंगत रूप से क्रान्तिकारी न थे। वे शासक वर्ग की हिंसा के सामने नैतिक शक्ति का भरोसा करने की बात करते थे। इस मोर्चे में यदि मज़दूर अपनी स्वतन्त्र भूमिका न निबाहे, एकता के नाम पर पूंजीपतियों के पीछे चलने लगें, तो स्पष्ट है कि जनवादी क्रान्ति से लाभ पूंजीपतियों को होगा, मज़दूरों को नही; क्रान्ति का परिणाम होगा पूंजीवादी जनतन्त्र, न कि लोकवादी जनतन्त्र। जनवादी मोर्चे में किसान और खेत मज़दूर शामिल नही थे, यही उसकी कमजोरी थी।

चार्टिस्ट आन्दोलन का लक्ष्य था जनतन्त्र की स्थापना। अभिजात वर्ग सत्ता के सिंहासन पर जमा हुआ था। इस स्थिति से मज़दूरों के सामने जनवादी क्रान्ति का लक्ष्य निर्धारित हुआ था। मज़दूर वर्ग जनवादी मोर्चा कैसे बनाये, उस मोर्चे मे उसकी रणनीति और कार्यनीति किस तरह की हो, इस सिलसिले मे जो अनेक प्रश्न बीसवी सदी में मार्क्सवादियों के सामने आये है, वे उन्नीसवी सदी के पूर्वार्ध मे ब्रिटिश मज़दूरों के सामने आ चुके थे।

चार्टिस्ट आन्दोलन के जनवादी कार्यक्रम का पूर्वरूप कवि शेली की रचनाओं में विद्यमान है। माना जाता है कि १८१३ मे इंगलैण्ड के उद्योगपति काफी शक्तिशाली हो गये थे और वे राज्यसत्ता की नीति को अपने हित मे प्रभावित करने लगे थे। इसी वर्ष इक्कीस वर्ष के तरुण शेली ने अपनी एक प्रारम्भिक रचना 'क्वीन मैब' की गद्य टिप्पणी में लिखा था: "अंग्रेज सुधारक साइनेक्योर [काम न करनेवालों की सुनिश्चित आय] के विरुद्ध हल्ला मचाते है किन्तु असली पेन्शन-सूची तो ज़मीदारो के लगान का खाता है। सम्पत्ति ऐसी शक्ति है जिसे थोड़े से लोग हथिआये बैठे हैं जिससे कि बहुसंख्यक जनता को वे अपने हित मे मेहनत करने के लिए बाध्य कर सकें। इस व्यवस्था के समर्थक कानूनों को उन लोगों के अज्ञान और

क है कि वे उसमे तबदीलियाँ करने का ही आयोजन करें, कि वे
ानून तन्त्र की जगह सर्वहारा कानून लागू करना चाहे। प्रस्त
ाम है जनता का माँगपत्र (पीपुल्स चार्टर)। इसका रूप विशुद्ध र
सकी माँग है : लोक संसद (हाउस आफ कामन्स) का आधार
ार्टिज्म पूँजीपतियो के प्रति उनके [मजदूरों] के विरोध का
ऑन ब्रिटेन, पृ. २६३)। चार्टिज्म से अलग मजदूरों ने पूँजीप
कया, वह सुसंगठित नही था। जब उन्होने सचेत रूप से पूँ
कया, तब उसने चार्टिज्म का रूप लिया। "चार्टिज्म मे
ंजीपतियो के विरुद्ध उठ खडा होता है और सबसे पहले
ाक्ति पर हमला करता है, उस कानूनसाज किलेबन्दी प
ंजीपतियो ने अपने चारों ओर खड़ा कर रखा है। चार्
ेटिक पार्टी से हुआ है जो १७८० से १७९० के बी
नेर्माण सर्वहारा वर्ग के साथ और उसके भीतर हुआ
के दौरान वह शक्तिशाली हुई [अर्थात् फ्रान्स की
तनवादी पार्टी को नयी शक्ति मिली]। उसका
ौर मैन्चेस्टर मे था, बाद को लन्दन मे था। उदा
करके उसने पुरानी पार्लियामेण्ट के इजारेदार भूस्
मेण्ट के लिए मताधिकार को किंचित् विस्तृत करने
और तब से पूँजीपतियो के विरोध में अधिका
उसने अपने को सुदृढ किया है। १८३५
ऐसोसिएशन [श्रमिक महासभा] की एक व
जनता का माँगपत्र तैयार किया। इस पीपुल्स
(१) हर बालिग को, जिसके होशहवास दुरुस्
सजा न मिली हो, सार्वजनिक मतदान का
मेण्ट हों; (३) पार्लियामेण्ट के सदस्यों को
धमकाने से या पैसे देकर लोगों के वोट न
वोट दिये जायें; (५) समान प्रतिनिधि
(६) उम्मीदवारों के लिए अभी नामचार
शर्त लगी है, उसे खत्म किया जाय जिससे
सके। ये छह मुद्दे पार्लियामेण्ट के पुनर्गठन
पर वे महारानी और लार्ड्स समेत सभूचे
काफी हैं। संविधान के तथाकथित
लिए बने हुए हैं कि पूँजीपति वर्ग उनका
इन दोनों मे मिथ्या जीवन मे अधिक अब और

पूँजीपति अभिजात वर्ग से सत्ता छीन लेना
समझौता कर रहे थे, उसके अवशेष बनाये रखना
बादशाही, हाउस आफ लार्ड्स आदि अभिजात
करने के पक्ष में थे। पूँजीपतियों का प्रयत्न था कि

रही है, उसे चरितार्थ करने के लिए वह और नई पीढ़ियोंका सृजन करती रहेगी।"

शेली के ये शब्द उनके जीवनकाल मे 'हेलास' नाटक के साथ प्रकाशित न हुए थे, शेली रचनावली के संस्करणों में वे बीसवीं सदी में भी कम ही देखने को मिलेंगे। सबसे पहले १८९२ मे बक्स्टन फोरमैन ने 'हेलास' की पूरी भूमिका प्रकाशित कराई थी। उसके बाद क्लार्क-सम्पादित मेक्सिको से प्रकाशित शेली की गद्यरचनावली मे वह पूरी भूमिका दी हुई है। शेली की कविता 'मास्क आफ ऐनार्की' कविता भी उनके जीवनकाल में प्रकाशित न हुई थी। इंग्लैण्ड के महान् गायक, लिरिक काव्य की श्रेष्ठ प्रतिभा, शेली के साथ विचार स्वाधीनता के हामी पूंजीपतियों ने यह व्यवहार किया था।

इंग्लैण्ड में पादरियों, जमीदारों और पूंजीपतियो ने मिलकर जनता के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करते हुए जो बियर बिल पास किया, उसका विरोध करने के लिए लन्दन के हाइड पार्क मे विशाल सभा हुई। इसका वर्णन करते हुए मार्क्स ने लिखा कि शराबसम्बन्धी कानून से अभिजातवर्गीय क्लबो के आमोद-प्रमोद में कोई बाधा न पड़ती थी, इतवार को दूकानें बन्द रखनेवाले कानून से उच्च वर्ग के कामधाम में कोई अडचन होनेवाली न थी। मजदूरो को अपनी पगार शनिवार को देर से मिलती थी। इतवार को दूकानें उन्ही के लिए खोली जाती थी, छोटा-मोटा जो भी सामान खरीदना होता था, वे मजबूरन इतवार को ही खरीदते थे। दूकानें बन्द रखनेवाला यह कानून इन्ही के विरुद्ध बना है। अंग्रेज अभिजात वर्ग अपने मन को पवित्र शब्दों के उच्चारणमात्र से सन्तुष्ट कर लेता है, धार्मिक व्यवहार वह जनता के लिए छोड़ता है। पुराने ईसाई सन्त अपना शरीर सुखाते थे, दूसरों की आत्मा के उद्धार के लिए, ये आधुनिक, शिक्षित सन्त जनता का शरीर सुखाते हैं अपनी आत्मा के उद्धार के लिए! यह थी ऐयाश, पतित, लस्त-पस्त अभिजात वर्ग की चर्च से साँठगाँठ, और इस चर्च को खड़ा किये हैं बड़े-बड़े शराब खीचनेवाले, इजारेदार थोक व्यापारी, अपने गन्दे मुनाफे के बल पर। इस साँठ-गाँठ के विरुद्ध लन्दन की जनता ने प्रदर्शन किया। ऐसा प्रदर्शन लन्दन में बहुत दिनो से न हुआ था। हाइड पार्क के इस प्रदर्शन में आदि से अन्त तक मार्क्स मौजूद थे, "और अपनी समझ में हमारा यह कहना अतिशयोक्ति नही है कि **कल हाइड पार्क में अंग्रेजी क्रान्ति शुरू हो गयी**।" (उप. पृ. ४१६; शब्दों पर जोर मार्क्स का है)। मार्क्स ने जिस क्रान्ति की बात कही है, वह समाजवादी क्रान्ति नही थी; वह जनवादी क्रान्ति थी, वह अभिजात वर्ग, धार्मिक रूढ़िवादियों और उनके समर्थक थोक व्यापारियों, बड़े शराब खीचनेवालों के विरुद्ध थी। क्रान्तिकारी परिस्थिति मौजूद थी; फरवरी १९१७ की रूसी क्रान्ति का पूर्वाभास ब्रिटिश इतिहास मे अंकित हो रहा था। और इस समय इंग्लैण्ड सुदूर क्राइमिया में रूस से लड़ाई में फँसा हुआ था। इस लडाई से अंग्रेज जनता के क्रान्तिकारी उभार का सीधा सम्बन्ध था। "क्राइमिया से हाल में जो खबरें आई है, उनसे इस अनपार्लियामेण्टरी, गैरपार्लियामेण्टरी और पार्लियामेण्टरी-विरोधी प्रदर्शन को कारगर प्रेरणा मिली है।" ['अनपार्लियामेण्टरी' का 'अन' मेरे अनुवाद में अन-चाहा, अनमोल, अनगिनत का अन है।] युद्ध और क्रान्ति का सम्बन्ध ध्यान देने

भोलेपन से शक्ति मिलती है जो उसके शिकार होते हैं। ये कानून बहुसंख्यक जनता के विरुद्ध मुट्ठीभर लोगों के षड्यन्त्र का परिणाम हैं। ये थोड़े से लोग वास्तविक सुख की बलि देकर ही अपनी यह उच्च स्थिति खरीद पाते हैं।" अंग्रेज़ी पार्लियामेण्ट ज़मींदारों की पार्लियामेण्ट थी, अंग्रेज़ी कानून ज़मींदारों का कानून था। भूसम्पत्ति अभी शक्ति का प्रमुख स्रोत बनी हुई थी और उस पर मुट्ठीभर आदमियों का इजारा था। इस इजारे के बल पर ये लोग इंग्लैण्ड की जनता से अपने हित में मेहनत कराते थे। पूंजीपति वर्ग ज़मींदारों का इजारा तोड़ने में अभी तक असमर्थ सिद्ध हुआ था।

'क्वीन मैब' की अन्य टिप्पणी में शेली ने लिखा था : "समाज की जिस अवस्था में हम हैं, वह सामन्ती बर्बरता और अपरिपक्व सभ्यता का मिश्रण है।" अत्यन्त सारगर्भित वाक्य है। सामन्ती बर्बरता का आधार है ज़मींदारी, अपरिपक्व सभ्यता का आधार है पूंजीवादी उद्योग। इन दोनों के मिश्रण से ब्रिटिश समाज का निर्माण हुआ था। शेली की निगाह १८१३ में भी इस समाज के पुनर्गठन के लिए मज़दूरों की ओर है, इसका संकेत इस टिप्पणी में है : "मनुष्य के श्रम को छोड़कर अन्य कोई वास्तविक सम्पत्ति नहीं है।"

'मास्क आफ ऐनार्की' कविता में शेली ने जनता का आह्वान किया था : एक विराट सभा हो, अंग्रेज़ी भूमि की किसी स्थली पर, निडर और स्वाधीन लोगों की सभा हो, जहाँ चारों ओर मैदान दूर-दूर तक फैलते चले गये हों। ऊपर नीलाकाश, तुम्हारे पैरों के नीचे की हरी धरती, जो कुछ शाश्वत है, वह समारोह की पवित्रता देखे'''एक विराट सभा हो जो गम्भीरता से नपे हुए शब्दों में घोषित करे कि तुम वैसे ही स्वाधीन हो जैसे ईश्वर द्वारा बनाये गये थे।

ज़मींदारों की पार्लियामेण्ट की जगह किसानों, मज़दूरों और मध्यवर्ग की लोकसभा जनता की मुक्ति की घोषणा करे, यह आह्वान है शेली का।

'इंग्लैण्ड के लोगों के लिए गीत' ('सांग टु द मेन आफ इंग्लैण्ड') में शेली ने किसानों और कारीगरों को लक्ष्य करके कहा : इंग्लैण्ड के लोगो, उन ज़मींदारों (लार्ड्स) के लिए हल क्यों चलाते हो जो तुम्हें रौंदते हैं? बड़ी मेहनत से जो सजाकर वे कीमती कपड़े क्यों बुनते हो जिन्हें तुम पर जुल्म करनेवाले पहनेंगे?

१८१९ के इस गीत में शेली किसानों औरकारीगरों को पुकार रहे हैं, पुराना गैरपूंजीवादी इंग्लैण्ड अभी मरा नहीं है, उनकी पुकार सामन्तविरोधी क्रान्ति के लिए है। इस क्रान्ति के लिए केवल इंग्लैण्ड में नहीं, सारे यूरप में परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। यूनान की स्वाधीनता पर अपने नाटक 'हेलास' की भूमिका में शेली ने लिखा था : "यह उत्पीड़कों के विरुद्ध पीड़ितों की लड़ाई का युग है। हत्यारों और ठगों की विशेषाधिकारी जमातों के बादशाह कहलानेवाले नेता सामान्य शत्रु के [जनता के] मुकाबले एक-दूसरे के मुँह की तरफ देख रहे हैं और महाभय उपस्थित होने पर आपसी ईर्ष्या उन्होंने कुछ समय के लिए भुला दी है। धरती के सभी तानाशाह इस पवित्र गठबन्धन में प्रायः शामिल हैं। किन्तु यूरप में एक नयी पीढ़ी ने जन्म लिया है; जो विचार उसे जंजीरों की तरह जकड़े हुए हैं, उनसे वह घृणा करती है। जिस स्थिति से अत्याचारी भयभीत हैं और जो उन्हें दिखायी दे

था। "पुलिस को खून में लथपथ सिरों और गिरफ्तार आदमियों की जरूरत थी" जिससे उनका जबर्दस्त बन्दोबस्त मखौल बनकर न रह जाय। (उप., पृ. ४२२)। पुलिस ने कुछ लोगों को जेबकतरा कहकर पकड़ा। लोगों ने विरोध किया तो पुलिस ने डण्डे बरसाना शुरू किया और १०४ आदमी गिरफ्तार किये। "भद्र महिलाओ और जेण्टलमैनों के बदले घोड़ागाड़ियों में खून मे भीगे सिरों, बिखरे बालों, फटे कपडों, उघारे बदनवाले गिरफ्तार लोग थे जिनकी निगरानी के लिए पुलिस की मदद को सन्दिग्ध दिखनेवाले आवारा आइरिश थे।" (उप., पृ. ४२३)। पिछले इतवार को शासक वर्ग ने अपना फ़ैशनेबल रूप दिखाया था, इस बार उसने अपना राज्यसत्तावाला रूप दिखाया; "इस बार विरोध करने का मतलब था विद्रोह करना। और अंग्रेज विद्रोह करने पर आमादा तभी होता है जब उसे बहुत समय तक उकसाया जाय।" (उप.)। इसलिए गिरफ्तार लोगों को छुड़ाने की हल्की-सी कोशिश हुई, लोग अपने जगह अड़े रहे और अपना निष्क्रिय प्रतिरोध दिखाते रहे।

इस सारे नाटक मे कुछ सैनिक भी थे जो क्राइमिया के युद्ध से लौटे थे और उनमे कुछ तमगे भी पहने थे। पुलिस का डण्डा खाकर एक बूढ़ा आदमी गिर पडा। एक सैनिक ने कहा : लन्दन के ये डण्डेबाज तो इंकरमैन [युद्धभूमि] के रूसियों से बदतर है। पुलिस ने उसे पकड़ लिया पर भीड़ ने रोना की जय बोलते हुए उसे छुड़ा लिया। सैनिकों की एक टुकड़ी जमा हो गयी और भीड़ ने उसे घेर-कर जय बोली, पुलिस मुर्दाबाद! इतवारी कानून मुर्दाबाद! भीड़ के साथ सैनिक टुकड़ी ने पार्क में मार्च किया। पुलिस की समझ में न आया, क्या करे! सैनिकों के एक सार्जेण्ट ने पुलिस को उसकी निर्दयता के लिए लताड़ा और सैनिकों से बारिकों में लौट जाने को कहा जिससे और तगड़ी टक्कर न हो। "किन्तु अधिकांश सैनिक वही बने रहे और भीड़ के बीच पुलिस के विरुद्ध अनियन्त्रित ढंग से अपना क्रोध प्रकट करते रहे। पुलिस और फौज का आपसी वैमनस्य उतना ही पुराना है जितना इंग्लैण्ड की पहाड़ियाँ है। वर्तमान समय ऐसा है कि फौज आम जनता का लाडला बेटा बन गयी है; वह वैमनस्य कम पड़नेवाला नहीं है।" (उप., पृ. ४२४)।

उस दिन जहाँ भी जनता ने सभाएँ करने की कोशिश की, पुलिस ने [illegible] उन्हें भंग कर दिया। वैसे तो बादशाह का सिर काटने की शुरुआत इंग्लैण्ड [illegible] पर जब तक तगड़ा उकसाया न हो, अंग्रेज [illegible] [illegible] मदी के मध्य में जनता के उभार ने [illegible] [illegible] जा रहा था, यह सम्भावना [illegible] थी कि पुलिस और जनता [illegible] फौज जनता का साथ दे। ऐसी स्थिति में [illegible] [illegible] काल में ही [illegible] [illegible] था। भारतीय विप्लव की [illegible] [illegible] है। इंग्लैण्ड में जनवादी [illegible] [illegible] यहाँ जनवादी [illegible] [illegible] भी नहीं है। न इंग्लैण्ड की जनवादी [illegible] [illegible] यहाँ की जनवादी [illegible] [illegible] यह जनता [illegible]

योग्य है। युद्ध की आग में जनता को झोंककर शासक वर्ग अपना आर्थिक-राजनीतिक संकट हल करता है; जनता के पास इसका जवाब है क्रान्ति।

हाइड पार्क की सभा का आयोजन चार्टिस्ट नेताओं ने किया था। उन्होंने लन्दन की दीवालों पर इश्तहार चिपकाये थे जिनमे कारीगरों, मजदूरों और निचले तबकों से आम लोगों के शामिल होने की बात थी। इश्तहारों में कारीगरों का उल्लेख इसलिए है कि कारखानों के औद्योगिक उत्पादन के बावजूद पुरानी दस्तकारी अभी मिटी न थी। पूंजीवाद कारीगरों को तबाह कर रहा था और चार्टिस्ट नेता शासक वर्ग का विरोध करने के लिए मजदूरों के साथ कारीगरों को भी आमन्त्रित कर रहे थे। यह संघर्ष चर्चपन्थियों के विरुद्ध था और, मार्क्स ने टिप्पणी की, यह संघर्ष "वहाँ वैसा ही रूप ले लेता है जैसा हर गम्भीर संघर्ष लेता है, धन-दौलतवालों के विरुद्ध गरीबों का, अभिजात वर्ग के विरुद्ध जनता का, 'ऊँचे दर्जे' के लोगों के विरुद्ध 'नीचे दर्जे' के लोगों का वर्गसंघर्ष।" (उप., पृ. ४१७; शब्दों पर जोर मार्क्स का है)। वर्गसंघर्ष चलाया जा रहा है सत्ताधारी अभिजात वर्ग के विरुद्ध; यह व्यापक जनता का संघर्ष है। क्रान्तिकारी उभार की इस जनवादी (गैरसमाजवादी) विशेषता का कारण है इंग्लैण्ड मे सामन्ती अवशेषों का अस्तित्व।

पार्क मे तीसरे पहर पचास हजार आदमी एकत्र हुए और कुछ देर मे उनकी संख्या बढ़ते-बढ़ते दो लाख तक पहुँच गयी। पुलिस ने सभा में बाधा डाली, कहा कि यह पार्क महारानी की सम्पत्ति है। एक नेता पेड़ की ओर दौड़ा, भीड़ के एक हिस्से ने उसे घेरे मे ले लिया। पुलिस उसे पकड़ने में असफल रही। उसने श्रोताओं से कहा : "हफ्ते मे छह दिन वे हमसे गुलामों की तरह पेश आते हैं। सातवें दिन जो हमे थोडी-सी आजादी मिली हुई थी, पार्लियामेण्ट अब उसे भी हमसे छीन लेना चाहती है। ये जमीदार और पूंजीपति पाखण्डी पादरियो से मिलकर, बिना किसी झिझक के, क्राइमिया मे देश के जवान कटवा रहे है और इसके लिए खुद शरीर सुखाने के बदले हमे सुखाकर पश्चात्ताप करना चाहते हैं।" (उप., पृ. ४१८)।

इसी समय अभिजात वर्ग के लोग घोड़ों और बग्घियों मे हवा खाने निकले। पुलिस पैदल चलनेवालों को सडक से खदेड रही थी। इससे सड़क के दोनों ओर दर्शकों की भीड लग गयी। इनमें "दो-तिहाई मजदूर थे और एक-तिहाई मध्य वर्ग के लोग, और इन सबके साथ स्त्रियाँ और बच्चे थे।" (उप.)। (मजदूरों के साथ मध्य वर्ग के लोगों का होना इस उभार का जातीय और जनवादी रूप उजागर करता है।) लार्डों और लेडियो को लक्ष्य करके लोगों ने दोनों तरफ से व्यंग्य बाणो की बौछार शुरू कर दी। इतनी तरह की आवाजें आ रही थी कि साधारण आदमी पागल हो जाता। तीन घण्टे तक यह शोरगुल होता रहा। "केवल अंग्रेजों के फेंफड़े ही यह करिश्मा दिखा सकते थे।" (उप., पृ. ४१९)। भीड मे चार्टिस्ट लोग पर्चे बाँट रहे थे—चार्टिस्ट दल को फिर संगठित करो!

अगले हफ्ते इतवार को डेढ लाख आदमी फिर इकट्ठा हुए। पुलिस ने हाइड पार्क में सभा कराने की मनाही कर रखी थी। सभा तो हुई और लोगों ने पूरी ताकत से शोर मचाया लेकिन घोडों और बग्घियों पर लार्ड्स और लेडीज हवा खाने न निकले। पुलिस ने बलवाइयों से निपटने के लिए पूरा बन्दोबस्त कर रखा

किसान हो; यही उस क्रान्ति की कमजोरी थी। गाँवों की जनता को शामिल करना असम्भव न था। क्रामवेल ने किसान जनता की शक्ति के बल पर ही बाद-शाही खत्म की थी। भारत मे विप्लव बहुत कुछ हिन्दी प्रदेश तक सीमित रहा; वह अन्य प्रदेशो मे फैल सकता था। हिन्दी प्रदेश के अनेक जनपदों मे छापेमार लड़ाई चलायी गयी, यह लड़ाई और बड़े पैमाने पर चलायी जा सकती थी, अधिक समय तक चलायी जा सकती थी। तब अंग्रेजो को अपना राज फिर से कायम करने मे लोहे के चने चबाने पड़ते और इंग्लैण्ड मे सफल जनवादी क्रान्ति की सम्भावना और भी बढ़ जाती।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे पूंजीवाद के विकास की रूपरेखा स्पष्ट करने के बाद मार्क्स (और एंगेल्स) ने कहा था : आधुनिक उद्योग-धन्धो की स्थापना के बाद, और विश्वबाजार की स्थापना के बाद पूंजीपति वर्ग ने आखिर आधुनिक प्रतिनिधित्वपरक राज्यसत्ता के रूप मे अपने लिए एकछत्र राजनीतिक प्रभुता प्राप्त कर ली है। आधुनिक राज्यसत्ता की कार्यकारिणी समूचे पूंजीपति वर्ग सामान्य कामकाज का प्रबन्ध करनेवाली समिति के अलावा और कुछ नही है।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र के अनुसार जहाँ भी पूंजीपतियो की प्रधानता हुई, वहाँ उन्होने सामन्ती, दादापन्थी, कल्पनाविलासी सम्बन्ध खत्म कर दिये। मनुष्य को उसके 'नैसर्गिक बड़ो' से जो भाँति-भाँति के बन्धन बाँधे हुए थे, उन्हें पूंजीपति वर्ग ने निर्ममता से तोड़ दिया है, नग्न स्वार्थ, हृदयहीन 'नगद व्यवहार' के बदले उसने और कोई सम्बन्ध मनुष्यो के बीच नही रहने दिया। धार्मिक भावावेश की स्वर्गोपम विह्वलता, शूरवीरो का उत्साह, टटपुंजिया भावुकता उसने स्वार्थ के हिसाब-किताब के ठण्ढे पानी मे डुबो दी है। जो शोषण धार्मिक और राजनीतिक मायाजाल से आच्छन्न था, उसकी जगह उसने नग्न, निर्लज्ज, प्रत्यक्ष, पाशविक शोषण स्थापित कर दिया है।

पूंजीवाद के विकास की दिशा यही थी। ये सारी बातें सही थी, आंशिक रूप मे। सामन्ती व्यवस्था अपरिवर्तित न बनी हुई थी, उसके अवशेष मात्र रह गये थे पर ये अवशेष काफी शक्तिशाली थे और इससे भी बड़ी बात यह कि पूंजीपति वर्ग उनसे समझौता करना अपने लिए लाभकारी मानता था। इसीलिए लन्दन के हाइड पार्क मे जो प्रदर्शन हुआ था, वह सामन्ती अवशेषोके विरुद्ध था, पूंजीपतियो के विरुद्ध भी था।

शिक्षा और चर्च के सम्बन्ध मे एंगेल्स ने १८४५ मे प्रकाशित **इंग्लैण्ड के मजदूर वर्ग की दशा** पुस्तक मे जो कुछ कहा था, उसकी चर्चा भी यहाँ प्रासंगिक । मजदूरी करनेवाले बच्चो की स्थिति जांचने के लिए एक आयोग गठित किया या था। एंगेल्स ने लिखा कि इस आयोग की रिपोर्ट से इंग्लैण्ड के मजदूरो में फैले ए ऐसे अज्ञान का पता चलता है जैसे अज्ञान की कल्पना स्पेन या इटली के लिए ी की जा सकती। इसके अलावा दूसरी स्थिति हो भी नही सकती। मजदूर वर्ग शिक्षा से पूंजीपति वर्ग को भय ही अधिक है, लाभ की आशा नही है। ५ करोड़ लाख पाउण्ड के भारी बजट मे सरकार सार्वजनिक शिक्षा पर कुल जमा ४० र पाउण्ड की पिद्दी-सी रकम खर्च करती है। धार्मिक सम्प्रदायो की कट्टरता

के कारण जो धन शिक्षा पर खर्च किया जाता है, वह न हो तो शिक्षा के साधन और भी क्षीण हों। इस कट्टरता के कारण शिक्षा पर जो धन खर्च किया जाता है, उससे जितना लाभ होता है, कम-से-कम उतनी ही हानि भी होती है। "हालत यह है कि सरकारी चर्च (स्टेट चर्च) राष्ट्रीय स्कूलों का प्रबन्ध करता है और विभिन्न सम्प्रदाय अपने साम्प्रदायिक स्कूलों का प्रबन्ध करते हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य होता है, धर्मभाइयों के बच्चों को अपनी जमात के भीतर बनाये रखना और जहाँ-तहाँ किसी निर्धन बाल आत्मा को किसी दूसरे सम्प्रदाय से खींचकर अपने सम्प्रदाय में मिला लेना। नतीजा यह कि शिक्षा का मुख्य विषय होता है धर्म, और वह भी धर्म का सबसे अलाभकारी पक्ष—वितण्डावाद [बाल की खाल निकालने-वाला धर्मसम्बन्धी विवाद]। बच्चों की स्मृति पर अनबूझ रूढ़ियों और सूक्ष्म शास्त्रीय भेदों का बोझ लाद दिया जाता है। यथासम्भव अल्पायु में साम्प्रदायिक घृणा और कट्टरता के बीज बो दिये जाते हैं और सभी विवेकपूर्ण मानसिक और नैतिक शिक्षा की उपेक्षा निर्लज्जता से की जाती है। मजदूर वर्ग ने पार्लियामेण्ट से बार-बार माँग की है कि सार्वजनिक शिक्षा-व्यवस्था एकदम धर्मनिरपेक्ष हो और धर्म का मामला सम्प्रदायों के गुरुओं के लिए छोड़ दिया जाय। किन्तु अभी तक किसी मन्त्रिमण्डल से वह माँग मनवायी नहीं जा सकी। मन्त्री पूँजीपतियों के वफा-दार चाकर हैं। पूँजीपति अनगिनत सम्प्रदायों में बँटे हुए हैं। इनमें हरेक मजदूरों को जोखिमवाली शिक्षा देने को तैयार हो जायगा केवल इस शर्त पर कि वे उस सम्प्रदाय की विशेष रूढ़ियाँ स्वीकार कर लें। ये सम्प्रदाय अब भी प्रधानता के लिए झगड़ रहे हैं, इसलिए फिलहाल मजदूर शिक्षा से वंचित है।" (उप., पृ. १४४-४५)।

धर्म और पूँजीपतियों के बारे में जो बात १८४५ में प्रकाशित एंगेल्स की पुस्तक में है, वही बात (या उससे मिलती-जुलती बात) १८५५, १८६६, १८७० में लिखे हुए मार्क्स के लेखों और पत्रों में कही गयी है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में पूँजीवाद की जो धर्मसम्बन्धी भूमिका बतायी गयी है, वह ज्यों की त्यों स्वीकार नहीं की जा सकती। पूँजीवाद की क्रान्तिकारी भूमिका की सीमाएँ जानने के लिए मार्क्स औ एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र से पहले और बाद को उस सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है। ब्रिटिश पूँजीवाद से जुड़े हुए सम्प्रदायवाद की चर्चा भारत के सन्दर्भ में नितान्त प्रासंगिक है क्योंकि जो जमींदार और पूँजीपति ब्रिटिश मजदूरों को वैज्ञानिक शिक्षा से वंचित किये थे, वही भारतीय जनता को 'अन्धकार युग' से निकालने के लिए यहाँ शिक्षा-व्यवस्था के सूत्रधार बने हुए थे। ये अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण के साथ अंग्रेजी भाषा के प्रति दुराग्रह भी लिये थे। यह दुराग्रह अंग्रेज़ी भाषा की दोषपूर्ण वर्तनी के कारण अंग्रेज मजदूरों के लिए भी घातक था, भारतवासियों की शिक्षा-व्यवस्था को तो वह चौपट करने वाला था ही। अंग्रेज़ीप्रेमी भारतीय बुद्धिजीवी कान खोलकर सुनें। एंगेल्स कहते हैं: उद्योगपति डींग हाँकते हैं कि उन्होंने अधिकांश मजदूरों को ऐसा बना दिया है कि वे पढ़ लेते हैं, पर जैसा शिक्षा का स्रोत है, वैसा ही उनकी पढ़ाई का स्तर है। मजूरी करनेवाले बच्चों के बारे में जो रिपोर्ट छपी है, उसके अनुसार जो भी अक्षर पहचानता है, वह इतना पढ़ गया है कि उद्योगपतियों की आत्मा

सन्तुष्ट हो जाय। "और जब हम अंग्रेजी भाषा की उलझी हुई लेखनपद्धति की ओर ध्यान देते हैं, जिससे पढ़ना ऐसी कला बन जाता है जो लम्बे प्रशिक्षण के बाद ही सीखी जा सकती है, तब इस अज्ञान का कारण आसानी से समझ में आ जाता है। बहुत कम मजदूर सरलता से लिख पाते हैं। लेखनपद्धति के अनुसार लिखना तो बहुत से 'शिक्षित' जनों की शक्ति से भी परे है।" (उप., पृ. १४५)।

इंग्लैण्ड के साक्षर मजदूर केवल अक्षर पहचानते थे। पढ़ पाने की कला बहुत दिन के प्रशिक्षण से आती थी और यह उन्हें सुलभ न था। लिखने का काम और भी टेढ़ा था; लिखित भाषा की अवैज्ञानिक और अव्यवस्थित पद्धति के कारण बहुत थोड़े मजदूर लिखने का काम सहज भाव से कर पाते थे। शिक्षित जन भी सही-सही लिख पाने में असमर्थ थे! एक तो करेला, दूसरे नीम चढ़ा। एक तो साम्प्रदायिक कट्टरता, दूसरे उससे जुड़ा हुआ भाषा सम्बन्धी दुराग्रह। अंग्रेज पूंजीपतियों ने इंग्लैण्ड में जो सांस्कृतिक क्रान्ति की, उसके फलस्वरूप अंग्रेज मजदूर शिक्षा के सुफल से वंचित रहे। उन्होंने उसी भाषा, उसी लेखनपद्धति, उसी धार्मिक संकीर्णता से भारत में जो शिक्षा-प्रसार किया और सांस्कृतिक नव-जागरण आरम्भ किया, उससे भारत की कोटि-कोटि जनता ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र से बाहर पड़ी रह गयी हो तो इसमें आश्चर्य नहीं।

इंग्लैण्ड के स्थापित चर्च ने कई बार प्रयत्न किया कि जो ईसाई गुट अपना अलग संगठन बनाये थे, वे सब मिलकर एक हो जायें जिसमें कि धर्म की उपेक्षा करनेवाले जाति के बहुसंख्यक भाग का विरोध करने के लिए एक मजबूत मोर्चा कायम किया जाय। इस सिलसिले में मार्क्स ने १८५५ में लिखा था: धर्म के मामलों में जोर-जबर्दस्ती करने के लिए कई कदम जल्दी-जल्दी उठाये गये हैं। हाउस आफ लार्ड्स में अर्ल आफ शैफ्ट्सबरी इस बात का रोना रो रहे थे कि अकेले इंग्लैण्ड में पचास लाख आदमी न केवल चर्च से वरन् ईसाई धर्म से ही दूर चले गये हैं। चर्च कहता है: इन्हें हांककर भीतर ले आओ! (ऑन ब्रिटेन, पृ. ४१५)।

जोर-जबर्दस्ती का पहला कदम था बिअर शराब वाला बिल। इतवार को आमोद-प्रमोद के सभी स्थानों को, शाम के ६ से १० के बीच का समय छोड़कर, बन्द रहने का आदेश हुआ। मार्क्स ने स्पष्ट किया कि इतवार को धार्मिक महत्व का दिन बनाने में पूंजीपतियों ने अभिजात वर्ग से सहयोग किया। लन्दन में बड़े-बड़े शराबघरों के मालिकों को धर्मध्वजियों ने गारण्टी दी कि लाइसेन्स वाली व्यवस्था चालू रहेगी, "अर्थात् बड़े पूंजीपतियों का इजारा कायम रहेगा।" (उप., पृ. ४१५)। फिर इतवार को दूकानें बन्द रखने के बारे में बिल पेश हुआ। "जोर-जबर्दस्ती वाले इस नये कदम के लिए भी बड़े पूंजीपतियों का समर्थन सुनिश्चित कर लिया गया था क्योंकि छोटे दूकानदार ही इतवार को दूकानें खोलते हैं। बड़े प्रतिष्ठानों के मालिक इन छुटभैयों की इतवारी प्रतिद्वन्दिता पार्लियामेण्ट के कानून द्वारा समाप्त करने के लिए प्रसन्नतापूर्वक सहमत हैं। इन दोनों कदमों में चर्च और इजारेदार पूंजी की सांठ-गांठ है लेकिन दोनों में दण्ड-विधान निचले तबकों के लिए है जिससे कि विशेषाधिकारी वर्गों की अन्तरात्मा शान्त रहे।" (उप.)।

पूंजीवादी इंग्लैण्ड का शासक वर्ग उन्नीसवीं सदी के मध्य में ब्रिटिश जनता के धार्मिक आचरण मे हस्तक्षेप कर रहा था, जो जनता ईसाई धर्म से दूर जा रही थी, उसे वह कानून द्वारा घेरकर गिरजाघर के हाते में बन्द कर रहा था। यह पूंजीवाद का उत्थानकाल था, औद्योगिक पूंजीवाद की मध्याह्न-वेला थी, और अभिजात वर्ग यह सारा काम पूंजीपतियों के सहयोग से कर रहा था। इंग्लैण्ड का यही शासकवर्ग भारत में ईसाइयता का झण्डा फहराये घूम रहा था और अपने देश के अन्धविश्वासियों को समझाता था कि ईसाई धर्म के प्रचार जैसे पुण्य कार्य के लिए भारत पर अधिकार जमाये रहना जरूरी है।

इंग्लैण्ड के कवि और श्रमिक नेता अपने यहाँ पूंजीवादी शोषण का विरोध कर रहे थे और भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन कर रहे थे। दोनों देशों के संघर्ष एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, यह भी उनके सामने स्पष्ट था। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुगत परिस्थितियाँ भारत और इंग्लैण्ड दोनों देशो को विश्व-क्रान्ति की ओर ठेल रही थी। इंग्लैण्ड का चार्टिस्ट आन्दोलन पूंजीवादी व्यवस्था को बदलने मे असमर्थ रहा; १८५७ की लडाई अंग्रेजी राज का ध्वंस करने मे असफल रही। चार्टिस्ट आन्दोलन असफल हुआ और १९१७ मे रूस का मजदूर आन्दोलन सफल हुआ, इसका एक कारण इस बीच मार्क्सवाद का उद्भव और प्रसार और रूस मे एक शक्तिशाली क्रान्तिकारी पार्टी का गठन था। १८५७ की भारतीय लड़ाई असफल रही, १९१७ में गैररूसी जातियों, विशेष रूप से एशियाई किसानों की लड़ाई सफल हुई, इसका एक कारण यह था मजदूरों की क्रान्तिकारी पार्टी इस लड़ाई का नेतृत्व भी कर रही थी। यदि चार्टिस्ट नेताओं और सन् सत्तावन के क्रान्तिकारियों में घनिष्ठ सम्पर्क होता और दोनों एक ही योजना के अन्तर्गत एकसाथ ब्रिटिश प्रभुत्व पर आक्रमण करते तो संसार का इतिहास कुछ और ही होता।

रूस पिछड़ा हुआ देश था, वहाँ क्रान्ति सफल हुई; इंग्लैण्ड अधिक विकसित था, वहाँ क्रान्तिकारी उभार आया और ठण्डा हो गया। ऐसा क्यों? १९१७ का रूस उस समय के इंग्लैण्ड के मुकाबले पिछड़ा हुआ था, १८३५ के इंग्लैण्ड के मुकाबले नही। १८३५ मे इंग्लैण्ड का औद्योगिक पूंजीवाद अपने विकास की पहली मंजिल में था। १९१७ का इंग्लैण्ड औद्योगिक पूंजीवाद की सीमा पार करके महाजनी पूंजीवाद के रास्ते पर काफी आगे बढ़ चुका था। बैंक पूंजी का जैसा विकास जर्मनी, फ्रांस और ब्रिटेन मे हो चुका था, वैसा १९१७ तक रूस में न हुआ था। ब्रिटेन और फ्रांस के महाजन अपनी पूंजी रूस मे लगा रहे थे; रूसी पूंजी ब्रिटेन या फ्रांस में लगायी जाय, इसकी सम्भावना न थी। लेनिन बार-बार अधिक सभ्य, अधिक विकसित पश्चिमी यूरुप की तुलना मे रूस को पिछड़ा हुआ कहते थे। १९१७ मे तत्कालीन पूंजीवादी विकास के विचार से रूस बेशक पिछड़ा हुआ था। सभी देशों का विकास एक ही समय पर एक जैसा नही होता। सामाजिक परिवर्तनों की गतिविधि पहचानने के लिए जरूरी है कि एक ही समय मे दो देश ऐतिहासिक विकास की कौन-सी मंजिलें पार कर रहे हैं, यह बात हम ध्यान मे रखें। सामाजिक विकास के नियम इसी तरह पहचाने जा सकते है, भौतिकवाद की इतिहास-

सम्बन्धी स्थापनाएँ इसी तरह परखी जा सकती है। इंग्लैण्ड जो मंजिल १८३५ में पार कर चुका था उससे मिलती-जुलती मंजिल रूस १९१७ मे पार कर रहा था। दोनों के ऐतिहासिक विकास में लगभग सौ वर्ष का अन्तराल था। १८३५ में ब्रिटिश पूँजीवाद कमजोर था, १९१७ मे रूसी पूँजीवाद कमजोर था। ब्रिटिश मजदूरों के क्रान्तिकारी उभार और रूसी मजदूरों की सफल क्रान्ति का यह भीएक कारण था।

रूस की समाजवादी क्रान्ति ने जिस पूँजीवाद को परास्त किया, वह महाजनी पूँजीवाद नही, औद्योगिक पूँजीवाद था। इस पूँजीवाद की एक विशेषता यह थी कि फरवरी १९१७ तक वह राज्यसत्ता पर अधिकार न जमा सका था। १८३५ मे ब्रिटेन के औद्योगिक पूँजीवाद का भी यही हाल था, वह भी सत्ता पर अधिकार जमाने के लिए संघर्ष कर रहा था। जिस वर्ग के हाथ में सत्ता थी, वह भूस्वामी वर्ग था। इस वर्ग के हित पूँजीपति वर्ग के हितों से टकराते थे। सत्ता पूँजीपतियो के हाथ मे होगी, तब मजदूरो के लिए उनके हाथ से सत्ता छीनने की सम्भावना पैदा होगी, वरना मजदूरो को अपनी मुक्ति के लिए पहले भूस्वामी वर्ग से टकराना होगा। इस टक्कर में चतुर पूँजीपति मजदूरों को अपने हित में इस्तेमाल करने के बाद उन्हे धता बता सकते हैं। इंग्लैण्ड मे यही हुआ। यदि मजदूर सुसंगठित हुए तो कुशल नेतृत्व में वह ऐसा ही सलूक पूँजीपतियों से कर सकते है। यह बात रूस मे हुई। फरवरी १९१७ में पूँजीपतियो ने अभिजातवर्ग से राज्यसत्ता छीन ली यानी किसानों और मजदूरो ने जो लडाई की, उससे पहले लाभ उठाया पूँजीपतियों ने। पर मजदूर संगठित थे, सात-आठ महीने मे और भी सुसंगठित हुए, कुशल नेतृत्व ने अकुशल क्रान्तिविमुख नेतृत्व की जगह ले ली। नवम्बर के महीने मे मजदूरो ने सत्ता पूँजीपतियो से छीनी। मजदूरों की सफलता का बहुत बडा कारण यह था कि बहुसंख्यक किसान उनके साथ थे। पूँजीपति इन बहुसंख्यक किसानो का उपयोग अल्पसंख्यक मजदूरो के विरुद्ध न कर सके। इसका कारण यह था कि पूँजीपति वर्ग सामन्ती अवशेष खत्म करके किसानों की भूमि सम्बन्धी माँगें पूरी नही कर सका। ऐसी माँगें पूरी कराने की जिम्मेदारी मजदूरों ने अपने ऊपर ली।

५. फ्रांस की पूँजीवादी क्रान्ति और सामन्ती अवशेष

इंग्लैण्ड पूँजीवादी विकास मे सब देशो से आगे था। यदि वहाँ जनवादी क्रान्ति पूरी न हुई थी तो और किस देश मे पूरी हो सकती थी? यदि पूँजीवाद के अभ्युदयकाल में सामन्ती अवशेष इंग्लैण्ड मे कायम थे तो पूँजीवाद के ह्रासकाल मे उनका कायम रहना कैसे रोका जा सकता है? वे कायम इसलिए थे कि पूँजीवाद इंग्लैण्ड में भी सुसंगत रूप से क्रान्तिकारी नही था, और देशों की तो बात ही क्या! यदि पूँजीवाद अपने उत्कर्षकाल मे सामन्तवाद से समझौता करता है तो ह्रासकाल में वह उसे और भी दृढ़ता से अपनायेगा, यह स्वाभाविक है। इस वस्तुगत तथ्य के आधार पर मजदूर वर्ग और उसके सहयोगियों की भूमिका, क्रान्ति का स्वरूप, समाज के नव-निर्माण की रूपरेखा आदि का निर्धारण होना है।

९ मार्च १८५४ को मार्क्स ने मैनचेस्टर की लेबर पार्लियामेण्ट के नाम पत्र में

लिखा था, "एक ओर विशाल औद्योगिक सेनाओं की कमान हाथ में लिये करोड़-पति हैं, दूसरी ओर पगार पानेवाले गुलाम हैं जो रोज मेहनत करते और किसी तरह अपना पेट भरते हैं। किसी भी देश मे इन दोनों के बीच के तबकों का सफाया क्रमशः इस तरह नही कर दिया गया जिस तरह इंग्लैण्ड में किया गया है। यूरुप के देशों में किसानों और कारीगरों की बडी-बड़ी जमातें है जो अपनी सम्पति और श्रम पर प्रायः समानरूप से निर्भर है। सम्पत्ति और श्रम के बीच पूर्ण विच्छेद ग्रेट ब्रिटेन में हुआ है। इसलिए किसी भी अन्य देश मे आधुनिक समाज के इन दो वर्गों के युद्ध ने ऐसा विराट रूप धारण नही किया, उस युद्ध के लक्षण ऐसे मूर्त और स्पष्ट नही है जैसे इंग्लैण्ड में।" (मार्क्स ऐण्ड एगेल्स : सेलेक्टेड करेस्पोण्डेन्स, लारेन्स ऐण्ड विशार्ट, लन्दन, १९४३, पृ. ८८)।

जिस इंग्लैण्ड में सम्पत्ति और श्रम का विच्छेद सबसे ज्यादा हुआ था, उसमे जनवादी क्रान्ति के कार्य अभी बाकी थे। अन्य देशों मे ऐसा विच्छेद न हुआ था, इसलिए वहाँ क्रान्ति का आधार और भी व्यापक था।

इंग्लैण्ड के पूँजीवादी विकास की तुलना मे जैसे जर्मनी पिछड़ा हुआ था, वैसे ही फ्रांस भी पिछड़ा हुआ था। मार्क्स ने जर्मनी के वर्ग-संघर्ष की तरह फ्रांस के वर्ग-संघर्ष का भी विश्लेषण किया था। 'फ्रांस के वर्ग-संघर्ष (१८४८-५०)' पुस्तक उन्होंने १८५० में लिखी थी। इसमें उन्होंने अंग्रेज उद्योगपतियों की तुलना में फ्रांसीसी उद्योगपतियों को टटपुंजिया (पेटी बुर्जुवा) कहा था; दोनों देशों के आर्थिक विकास में यह अन्तर था कि "इंग्लैण्ड मे उद्योगधन्धों की प्रधानता है, फ्रांस में खेती की" (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ. २७१)। फ्रांस की उत्पादन-व्यवस्था में उद्योग-धन्धों की प्रधानता न थी, इसलिए वहाँ के पूँजीपतिवर्ग मे उद्योगपतियों की प्रधानता न थी। पूँजीपतिवर्ग के अन्य अंगों के मुकाबले अपना हित साधने के लिए ये उद्योगपति "अंग्रेजों की तरह आन्दोलन की अगुवाई करते हुए साथ-साथ अपने हित को सर्वोपरि न रख सकते थे; उन्हें तो क्रान्ति के पीछे-पीछे चलना था और ऐसे हितों को साधना था जो उनके वर्ग के सामूहिक हितों के विरुद्ध थे।" (उप., पृ. २७१)।

इंग्लैण्ड और जर्मनी की तरह यहाँ भी पूँजीपति बड़े-बड़े भूस्वामियों से ही सहयोग कर सकते थे। भूस्वामियों के वर्गहित उद्योगपतियों के वर्गहितों से वैसे ही टकराते थे जैसे इंग्लैण्ड और जर्मनी में।

मार्क्स और एंगेल्स मानते थे कि १८वीं सदी के अन्त में फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने सामन्तवाद को निर्मूल कर दिया था, बड़े सामन्तों की भूमि किसानों में बँट गयी थी। १८५० में इंग्लैण्ड की क्रान्ति के बारे में फ्रांसीसी लेखक गीजो की पुस्तिका की आलोचना करते हुए मार्क्स ने लिखा था कि फ्रांसीसी क्रान्ति ने जमीन को टुकड़ों में बाँटकर बड़ी जमींदारियाँ खत्म की थीं किन्तु इंग्लैण्ड के बड़े जमी-दारों ने पूँजीपतिवर्ग से सहयोग किया; वे इस वर्ग के जीवन की परिस्थितियों के विरोधी न थे वरन् पूरी तरह उनके अनुकूल थे। "वास्तव मे उनकी रियासतें सामन्ती नही पूँजीवादी सम्पत्ति थी।" (ऑन ब्रिटेन, पृ. ३४७)। १८५० के बाद मार्क्स ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि इंग्लैण्ड में क्रान्ति विरोध का

मुख्य आधार जमींदारों का अभिजातवर्ग था और इसे ध्वस्त किये बिना सर्वहारा क्रान्ति का रास्ता साफ न होगा।

फ्रांस में बूर्बो वंश की बादशाही १८३० में खत्म कर दी गयी थी। उसकी जगह ओर्लेआं वंश की बादशाही कायम हुई थी। फरवरी १८४८ की क्रान्ति में फ्रांस को फिर प्रजातन्त्र घोषित किया गया। इस प्रजातन्त्र से बूर्बोपन्थियों को लाभ हुआ। वे अपने को जायज बादशाही का समर्थक कहते थे; उनके विरोधी नाजायज बादशाही के समर्थक हुए। मार्क्स ने इन्हें 'बड़े जमींदार' कहा है (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ. २१२)। फरवरी १८४८ की क्रान्ति से जिन लोगों ने सत्ता पर अधिकार किया, उनमे ये बड़े जमींदार भी थे। व्यवस्थावादी पार्टी का एक महत्वपूर्ण घटक थे ये जायज बादशाही के समर्थक जमींदार। फ्रांस के उद्योगपति इस व्यवस्थावादी पार्टी के कट्टर समर्थक थे। (उप., पृ. २७१)। इसका अर्थ यह हुआ कि मजदूरों को सत्ता के दायरे से बाहर रखने के लिए फ्रांस के उद्योगपति बड़े जमींदारों से सहयोग कर रहे थे। इन जमींदारों को सामन्ती अवशेष कहना उचित होगा। फ्रांस में औद्योगिक पूँजीवाद का विकास अपेक्षाकृत कम हुआ था; इस तथ्य से ही यह संकेत मिल जाता है कि वहाँ सामन्ती अवशेष बने हुए थे। मार्क्स ने उक्त पुस्तक मे लिखा था कि औद्योगिक सर्वहारा-वर्ग का विकास आमतौर से औद्योगिक पूंजीपतिवर्ग के विकास पर निर्भर है। औद्योगिक पूँजीपतिवर्ग के शासन मे ही उत्पादन के वे आधुनिक साधन निर्मित होते है जो सर्वहारा-वर्ग की मुक्ति के साधन बन जाते है। "उसका शासन ही सामन्ती समाज की भौतिक जड़ें उखाड फेंकता है और उस धरती को समतल करता है जिस पर ही सर्वहारा क्रान्ति सम्भव होती है।" (उप., पृ. २१४)। फ्रांस की धरती सर्वहारा क्रान्ति के लिए अभी समतल न बनी थी; वह अभी ऊँची-नीची थी और इस ऊँचे-नीचेपन का कारण सामन्ती अवशेष थे।

फ्रांस के वर्ग-संघर्ष पुस्तक में मार्क्स ने बड़े जमींदारों को पूँजीपतिवर्ग में शामिल किया। उन्होने लिखा कि पूँजीपतिवर्ग के दो हिस्से हो गये। एक हिस्सा बड़े जमींदारों का था, दूसरा साहूकारों और उद्योगपतियों का। (उप., पृ. २५१)। १८५२ में मार्क्स ने फ्रांस की राजनीतिक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए लुई बोनापार्त की १८वीं ब्रुमेयर पुस्तक मे फिर लिखा कि पूँजीपतिवर्ग दो हितों में बँट गया है, पहला हित भूसम्पत्ति का, दूसरा पूँजी का। "हम पूँजीपति वर्ग के दो हितों की बात इसलिए करते हैं कि सामन्ती तामझाम और उच्च वंश के घमण्ड के बावजूद आधुनिक समाज के विकास के कारण बड़ी जमींदारियाँ पूरी तरह पूंजीवादी हो गयी हैं।" (उप., पृ. ४२२)। जहां तक पूंजीवाद के अनुकूल बनने का सवाल है, फ्रांस और इंग्लैण्ड के जमींदारों में कोई अन्तर न था। जहाँ तक जमींदारों मे पूँजीपतियों के समझौता करने का सवाल था, वहाँ भी दोनों देशों के पूँजीपतियों मे कोई अन्तर न था। यह समझौता पूँजीपतिवर्ग के हितों के विरोध मे था, यह भी स्पष्ट है।

१८८५ मे अठारहवीं ब्रुमेयर पुस्तक की भूमिका में एंगेल्स ने लिखा कि फ्रांस वह देश है जहाँ ऐतिहासिक वर्ग-संघर्ष हर बार निर्णायक दौर तक चलाये गये,

सलिए उनके परिणामों की राजनीतिक रूपरेखा भी स्पष्ट उभरी है। "मध्यकाल वह *सामन्तवाद का केन्द्र था, पुनर्जागरण काल से वह स्तरों [उच्च-नीच वर्णों]* र आधारित एकताबद्ध बादशाही का आदर्श देश था। महान् क्रान्ति [१८वी दी की राज्यक्रान्ति] में उसने सामन्तवाद को ध्वस्त किया और बिना किसी लावटवाला पूंजीपतिवर्ग का ऐसा शासन अपने क्लासिकी विशुद्ध रूप में कायम या जैसा यूरप के अन्य किसी देश में सुलभ नहीं है। सर्वहारा वर्ग यहां शासक जीपतिवर्ग म ऊपर उठने को प्रयत्नशील था। उसका संघर्ष भी यहां ऐसे तीव्र प में सामने आया जैसे तीव्र रूप में वह अन्यत्र नहीं आया।" (उप., पृ. ३६६)।

अठारहवीं सदी की राज्यक्रान्ति ने फ्रांस में सामन्तवाद को पूरी तरह निर्मूल या या नहीं, यह इतिहास का महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस बारे में लेनिन की कही ई कुछ बातें ध्यान देने योग्य है।

नवम्बर क्रान्ति की चौथी सालगिरह के अवसर पर लेनिन ने लिखा था: ान्ति का वह महान् दिवस जितना ही अतीत में पीछे की ओर हटता जाता है, तना ही रूस की सर्वहारा क्रान्ति का महत्व उजागर होता जाता है, उतना ही धिक गम्भीरता से अपने समूचे काम के दौरान जो व्यावहारिक अनुभव हमने प्त किया है, उस पर हमें सोचना-विचारना पड़ता है। रूस में क्रान्ति का प्रत्यक्ष र तात्कालिक ध्येय पूंजीवादी-जनवादी ध्येय था अर्थात् मध्यकालीनता के वशेषों का नाश करना, पूरी तरह उन्हें निर्मूल कर देना, उन अवशेषों के रूप में द्यमान वर्बरता और शर्म को निकाल फेंकना, अपने देश में संस्कृति और प्रगति ी उस विराट बाधा को समाप्त कर देना। "और हम इस बात पर गर्व कर सकते कि सवा सौ साल पहले फ्रास की महान् राज्यक्रान्ति ने जो कुछ किया, उसकी लना में हमने यह निकाल फेंकने का काम कहीं अधिक जोरदार ढंग से, कहीं धिक वेग, साहस और सफलता से किया है, और जहां तक आम जनता पर उसके भाव का सवाल है, कहीं अधिक विस्तार से, कहीं अधिक गहराई से सम्पन्न कर या है।"

नवम्बर क्रान्ति के चार साल बाद लेनिन कह रहे थे: हमने पूंजीवादी-जन- ादी क्रान्ति समाप्त कर ली है और ऐसे समाप्त की है जैसे और किसी देश ने ही की। हम सचेत रूप से, जानबूझकर, और राह से इधर-उधर हटे बिना समाज- ादी क्रान्ति की ओर बढ़ रहे है। क्रान्ति की पूंजीवादी-जनवादी विषयवस्तु क्या ोती है? "क्रान्ति की पूंजीवादी-जनवादी विषयवस्तु का मतलब है देश के ामाजिक सम्बन्धों (संस्थाओं और व्यवस्थाओ) से मध्यकालीनता, बँधुआ प्रथा, ामन्तवाद को निकाल फेंकना।"

लेनिन ने बताया कि १९१७ के रूस में सामन्तवाद के मुख्य अवशेष थे ादशाही, सामाजिक स्तर [ऊँचे और नीचे वर्ण], जमींदारी और जमीन उठाने ी प्रथा, स्त्रियों का दर्जा, धर्म, और जातियों का उत्पीडन। इनमें किसी एक को ें तो पता चलेगा कि "आगे बढ़े हुए सभी राज्यों ने डेढ़ सौ, ढाई सौ या अधिक ाल पहले (इंग्लैण्ड ने १६४९ में) जब अपनी पूंजीवादी-जनवादी क्रान्तियां की ी, तब उनमें सफाई का काफी काम बाकी रह गया था।" आगे उन्होंने कहा:

"हमने बादशाही का कूड़ा-करकट ऐसे साफ़ किया जैसे पहले किसी ने न किया था। हमने उस प्राचीन भवन की, सामाजिक स्तरों [वर्णव्यवस्था] की एक-एक ईंट उखाड़ फेंकी (इंग्लैण्ड, फ्रांस और जर्मनी जैसे सबसे आगे बढ़े हुए देश भी सामाजिक स्तरों के अवशेषों से स्वयं को पूरी तरह मुक्त नहीं कर सके)। सामाजिक स्तरों-वाली व्यवस्था की सबसे गहरी जड़ें हैं जमींदारी प्रथा में सामन्तवाद और बँधुआ प्रथा के अवशेष। इन्हें हमने उखाड़ फेंका है।"

भारत में वर्णव्यवस्था की कट्टरता, ऊँच-नीच के भेदभाववाली जातिप्रथा की संकीर्णता खत्म नहीं हो रही। क्यों नहीं हो रही? इसलिए कि सामन्ती अवशेषों की जड़ें बहुत गहरे में हैं, पूँजीवादी सुधारवाद उन्हें निकाल फेंकने में असमर्थ है। जहाँ सामन्तवाद होगा, उसके अवशेष होंगे, वहाँ ऊँच-नीच का भेदभाव होगा। जहाँ इस भेदभाव की कट्टरता सबसे ज्यादा हो, वहाँ समझना चाहिए कि सामन्त-वाद की जड़ें और भी गहरे में हैं। भारत का पूँजीपतिवर्ग उन्हें निकाल फेंकने में असमर्थ है। पूँजीवाद के अभ्युदयकाल में यूरप के पूँजीपति भी उन्हें पूरी तरह निकाल नहीं पाये।

पूँजीपतिवर्ग सामन्तविरोधी कार्य पूरे नहीं कर पाता, इस प्रपंच की कैफ़ियत देते हुए लेनिन ने लिखा: डेढ़ सौ और दो सौ साल पहले उन क्रान्तियों के नेताओं ने वादा किया कि वे मध्यकालीन विशेषाधिकारों से, स्त्रियों की असमानता से, विशेषाधिकारी राजकीय धर्मों से और जातियों [नैशनैलिटीज़] की असमानता से मानव-जाति को मुक्त कर देंगे। "उन्होंने वादे किये पर वादे पूरे न किये। वे उन्हें पूरा न कर सकते थे क्योंकि 'व्यक्तिगत सम्पत्ति' के प्रति उनकी 'श्रद्धा' बाधा डालती थी। हमारी सर्वहारा क्रान्ति के मन में ऐसी दुष्ट 'श्रद्धा' उस महादुष्ट मध्य-कालीनता के प्रति, 'व्यक्तिगत सम्पत्ति की पवित्रता' के प्रति नहीं थी।"

फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई किन्तु सामन्ती अवशेष बने रहे। इंग्लैण्ड में पूँजी का विकास सर्वाधिक हुआ, ये अवशेष वहाँ भी थे। जर्मनी में ये अवशेष और ज्यादा थे। बीसवीं सदी के रूस में ये सामन्ती अवशेष बने हुए थे। रूस, जर्म फ्रांस, इंग्लैण्ड, इन सभी देशों की तुलना में भारत का सामन्तवाद पुराना है, यू के देशों की तुलना में भारत का पूँजीवाद कमज़ोर है, उन सभी की तुलना सामन्तवाद की जड़ें भारत की धरती में ज्यादा गहरी हैं; इसके सिवा साम्राज्य ने इन जड़ों को धरती के भीतर फैलने और नये सिरे से ऊपर फूटने में रासायनि खाद का प्रयोग किया है और कर रहा है। यदि भारतीय पूँजीवाद हिन्दू अ मुसलमान, सवर्ण हिन्दू और अछूत, आर्य और द्रविड़, आदिवासी और गैर-आ वासी, असमिया और गैरअसमिया आदि आदि की समस्याएँ सुलझा नहीं पा उल्टा ये समस्याएँ दिन पर दिन विकराल रूप धारण करती जा रही हैं, तो इ आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यूरप का पूँजीवाद भी इन से मिलती-जुल समस्याएँ हल नहीं कर पाया। भारत का मजदूर वर्ग ही जनवादी क्रान्ति द्वा इन समस्याओं को हल करेगा।

मार्क्स और सामाजिक विकास

१. गणव्यवस्था और सामन्तवाद

(क) उत्पादन की एशियाई पद्धति और सामूहिक सम्पत्ति

मार्क्स ने १८५६ में **अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** पुस्तक की भूमिका में उत्पादन की चार पद्धतियाँ बतायी थी : एशियाई, प्राचीन, सामन्ती और पूंजीवादी। इनमें एशियाई पद्धति का सीधा सम्बन्ध भारत से है। एशियाई पद्धति का सम्बन्ध यूरुप से नही है, यह मानकर कुछ लोगों ने एशिया के लिए विकास के अलग नियमों की खोज शुरू की और यूरुप के विकास को उससे अलग रखा। किन्तु **पूंजी** के प्रथम खण्ड से यह स्पष्ट हो गया कि मार्क्स ने जिसे एशियाई पद्धति कहा था, वह एशिया तक सीमित नही है वरन् यूरुप मे भी पायी जायी है। **अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान** पुस्तक में भूमिका से पहले ही मार्क्स लिख चुके थे कि यह धारणा हास्यास्पद है कि सामूहिक सम्पत्ति केवल स्लाव लोगों में पायी जाती है। वह रोमन, जर्मन, और केल्तजनों मे भी विद्यमान थी और उसके अवशेष भारत में थे। यदि सामान्य सम्पत्ति के एशियाई रूपों, खासतौर से उसके भारतीय रूपों, का विस्तार से अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि आदिम सामान्य सम्पत्ति के विभिन्न रूपों से उसके (अर्थात् सामान्य सम्पत्ति के) विघटन के विभिन्न रूपों का विकास कैसे हुआ। मार्क्स ने देखा होगा कि **अर्थशास्त्र की आलोचना** मे उन्होने सामान्य सम्पत्ति की व्यापकता के बारे मे जो कुछ लिखा था, उस पर लोगों ने ध्यान नही दिया, इसलिए **पूंजी** के पहले खण्ड मे उन्होंने वह अंश उद्धृत किया (**पूंजी**, खण्ड १, पृष्ठ ८२)। **पूंजी** मे अनेक स्थानों पर उन्होंने सामूहिक सम्पत्ति की चर्चा की है। **अर्थशास्त्र की आलोचना** की भूमिका मे मार्क्स ने उत्पादन की एशियाई पद्धति के बारे मे जो कुछ लिखा, उसे पुस्तक के भीतर एशियाई पद्धति और सामूहिक-सम्पत्ति के सन्दर्भ से अलग हटाकर न देखना चाहिए। पुस्तक में उन्होने स्पष्ट कर दिया है कि सामूहिक सम्पत्ति का चलन सभी सभ्य समाजो के आदिम रूपों मे रहा है। एशियाई पद्धति का अर्थ हुआ उस

समाज की पद्धति जिसमें सामूहिक सम्पत्ति का चलन था।

ऐण्टीडूर्यरिंग में एंगेल्स ने यह स्पष्ट कर दिया कि सामूहिक सम्पत्ति का चलन कबीलो या ग्राम समाजों में होता है। उत्पादन और विनिमय की पद्धति के अनुसार वितरण की पद्धति निर्धारित होती है, इस स्थापना की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा: जिस कबीलाई समाज या ग्राम समाज मे भूमि पर सामूहिक स्वामित्व होता है, उसमें उपज का बहुत कुछ समान वितरण होता ही है। (ऐण्टी डूर्यरिंग, मास्को, १९७५, पृष्ठ १७०)। ग्राम समाज एशियाई पद्धति से तभी तक जुड़ा हुआ है, जब तक उसमे भूमि पर सामूहिक स्वामित्व है और उत्पादित वस्तुओं के वितरण मे बहुत कुछ समानता है। एंगेल्स ने यह भी बता दिया कि जहाँ समाज के सदस्यो के बीच वितरण को लेकर काफी असमानता पैदा हो जाती है, वहाँ मानना चाहिए कि वह समाज टूटने लगा है। भारत के ग्राम समाज एशियाई पद्धति अर्थात् कबीलाई पद्धति से जुड़े हुए थे या नही, यह जानने के लिए देखना चाहिए कि उनमें सामूहिक स्वामित्व था या नहीं और वस्तुओं के वितरण मे समानता थी या नही। १८५३ मे मार्क्स ने इन ग्राम समाजो के भीतर फैली हुई जाति-प्रथा और दासता का उल्लेख किया था। इससे स्पष्ट है कि उनमें असमानता थी। इस कारण भारतीय ग्राम समाजों से 'एशियाई' पद्धति का सम्बन्ध जोडना सही न था।

ऐण्टीडूर्यरिंग में ही एंगेल्स ने आगे लिखा था, भारत से आयरलैण्ड तक भू-सम्पत्ति पर खेती-बाडी का काम काफी बड़े क्षेत्रों मे शुरू-शुरू में कबीलाई समाजों तथा ग्राम समाजो द्वारा किया जाता था। कभी पूरे समाज के लिए लोग मिलकर खेती करते थे और कभी अस्थायी रूप से समाज परिवारों को अलग-अलग भूमि-खण्ड दे देता था; जंगल तथा चरी की जमीन सामान्य रहती थी। (उप., पृ. २०२)। यदि कोई कुटुम्ब अपनी अलग भूमि पर खेती करता है, तो वह तब तक सामूहिक सम्पत्तिवाली व्यवस्था से जुड़ा है, जब तक उसे वह जमीन अस्थायी रूप से पूरे समाज द्वारा दी जाती है यानी जमीन के अस्थायी बँटवारे मे उस कुटुम्ब का भी हाथ होता है। ऐसी व्यवस्था में गाँव के लोग जो कुछ पैदा करेंगे, उसका वितरण भी बहुत कुछ समानता के आधार पर होगा।

भारत के ग्राम समाजों मे सभी सदस्यों को जमीन बाँटने का सामान्य अधिकार प्राप्त न था। इसलिए भारतीय ग्राम समाजों को सामूहिक सम्पत्ति, सामूहिक श्रम और समान वितरणवाले कबीलाई समाजो के समान समझ लेना सही न होगा। आगे हम देखेंगे कि पुराने कबीले किस तरह टूटते हैं, उनके भीतर असमानता कैसे पैदा होती है, तब यह और भी स्पष्ट हो जायेगा कि भारतीय ग्राम समाज सामन्ती समाज हैं, गणसमाज नहीं हैं। किन्तु गणसमाजों की विघटन-प्रक्रिया पर ध्यान देने मे पहले दास-प्रथावाले समाज की चर्चा संक्षेप में कर लेनी चाहिए।

(ख) दास-प्रथा और सामन्तवाद

अर्थशास्त्र की आलोचना की भूमिका में मार्क्स ने उत्पादन की 'एशियाई' पद्धति

के बाद 'प्राचीन' पद्धति का उल्लेख किया। प्राचीन से उनका आशय है प्राचीन यूनान और रोम के समाजों में दासोंवाली उत्पादन पद्धति से। यहाँ मार्क्स ने सामन्ती पद्धति से पहले इस प्राचीन अथवा दास पद्धति का नाम लिया। इससे यह धारणा बनी कि दास-प्रथा पहले आती है और सामन्ती पद्धति का विकास उसके बाद होता है। किन्तु मार्क्स ने १८५५ में लिखा था कि रोमन इतिहास वास्तव में छोटे और बड़े भू-स्वामियों के संघर्ष का इतिहास है और दास-प्रथा इस संघर्ष की हालत में थोड़ी-बहुत निश्चित तब्दीली भर करती है। उन्होंने यह भी लिखा कि रोमन इतिहास के आरम्भ में ऋण-सम्बन्धों की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। और ये सम्बन्ध छोटे भूस्वामित्व का अनिवार्य परिणाम हैं। (**सेलेक्टेड करेस्पाण्डेंस**, पृ. १२७)। इससे विदित होगा कि दास-प्रथा के व्यापक चलन से पहले छोटे-बड़े भूस्वामियों के बीच संघर्ष आरम्भ हो जाता है। पूँजी के प्रथम खण्ड में उन्होंने श्रम सम्बन्धी सहयोग का विवेचन करते हुए एक पादटिप्पणी में यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया कि 'प्राचीन' समाजों का विकास छोटे पैमाने की खेती और दस्तकारी के बाद हुआ। उन्होंने लिखा कि उत्पादन की सामन्ती पद्धति का आधार छोटे पैमाने की किसानी और स्वतन्त्र दस्तकारी है। क्लासिकल समाजों का आर्थिक आधार भी ऐसी ही किसानी और दस्तकारी है। भूस्वामित्व के सामूहिक आदिम रूप का लोप होने के बाद यह आर्थिक आधार सामने आता है; दास-प्रथा भली-भाँति उत्पादन पर हावी हो जाय, उसके पहले यह आर्थिक आधार कायम होता है। (पूँजी, खण्ड १, पृष्ठ ३१६)। यहाँ मार्क्स ने पहले तो उत्पादन की सामन्ती पद्धति की व्याख्या की है, उसके बाद बताया है कि सामूहिक भूसम्पत्ति के आदिम रूप के टूटने पर यह सामन्ती व्यवस्था कायम होती है। दास-प्रथा उत्पादन पर पूरी तरह हावी हो, उसके पहले यह छोटे पैमाने की खेती और दस्तकारीवाली व्यवस्था कायम होती है। पूँजीवादी पद्धति के चालू होने पर भी कुछ समय तक यह सामन्ती व्यवस्था बनी रहती है। मार्क्स की यह पादटिप्पणी इतनी महत्वपूर्ण है कि उसकी अनदेखी करके कोई भी विद्वान् भौतिकवादी ढंग से सामाजिक विकास का विवेचन नहीं कर सकता। पाठक मार्क्स की टिप्पणी अंग्रेजी रूपान्तर में भी देख लें—"Peasant agriculture on a small scale, and the carrying on of independent handicrafts, which together form the basis of the feudal mode of production, and after the dissolution of that system, continue side by side with the capitalist mode, also form the economic foundation of the classical communities at their best, after the primitive form of ownership of land in common had disappeared, and before slavery had seized on production in earnest."

भारत में सामन्तवाद था या नहीं, यह प्रश्न विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद में हिस्सा लेनेवाले कुछ विद्वान् अपने आपको मार्क्सवादी कहते हैं किन्तु वे उत्पादन की सामन्ती पद्धति की यह व्याख्या उद्धृत नहीं करते। यूरुप में जैसे सामन्त थे वैसे भारत में थे या नहीं, उनके अनुसन्धान का यह मुख्य विषय

होता है। मार्क्स ने छोटे पैमाने की खेती और दस्तकारी को सामन्तवाद का आर्थिक आधार बताया है। इस सामन्ती व्यवस्था के भीतर दास-प्रथा पैदा होती है। बिकाऊ दासों की प्रथा का चलन गणसमाजों में नहीं होता। गणसमाजो के टूटने पर सामन्ती व्यवस्था आती है, और दास-प्रथा उसके कायम होने के बाद उत्पादन पर हावी होती है। यूरुप में यूनान और रोम के समाज, कालक्रम से, पहले विकसित हुए, पश्चिमी यूरुप के सामन्ती समाज बाद मे विकसित हुए, इससे यह भ्रम आसानी से फैल गया कि पहले दास-प्रथा के समाज आते हैं, उसके बाद सामन्ती व्यवस्था का विकास होता है।

ऐण्टीड्यूरिंग मे एंगेल्स ने बताया कि दास-प्रथावाली उत्पादन की पद्धति चालू हो सके, इसके पहले सामाजिक विकास की कुछ शर्तें पूरी होनी चाहिए। उन्होंने लिखा कि दास-प्रथा तभी सम्भव होती है जब उत्पादन का विकास एक निश्चित स्तर तक हो जाय और वितरण मे एक निश्चित असमानता पैदा हो चुकी हो। दास का श्रम पूरे समाज में उत्पादन की मुख्य पद्धति बन जाय, इसके लिए उत्पादन मे, व्यापार तथा धन-संग्रह में और भी अधिक वृद्धि दरकार है।

प्राचीन आदिम समाजों में सामूहिक भूस्वामित्व था, उनमें या तो दास-प्रथा थी ही नहीं या थी तो उसकी भूमिका बहुत ही गौण थी। रोम मूलतः किसानों का कस्बा था, वहाँ भी यही स्थिति थी। जब वह विश्व नगर बन गया और इटली में भूस्वामित्व थोड़े से अत्यन्त धनी मालिकों के हाथ मे अधिकाधिक पहुँचता गया, तब किसान-आबादी का स्थान गुलामों की आबादी ने ले लिया। (ऐण्टीड्यूरिंग, पृष्ठ १८४-८५)। एंगेल्स ने १८५५ वाली मार्क्स की वह स्थापना पुष्ट की है जिसके अनुसार रोमन समाज मे छोटे-बड़े भूस्वामियों का संघर्ष पहले शुरू हुआ और दास-प्रथा के चलन से उसमें तब्दीली बाद मे आयी। दास बेचे और खरीदे जायें, इसके लिए लोगों के पास धन चाहिए। उत्पादन में उनकी भूमिका मुख्य हो, इसके लिए उत्पादन का और भी विकास होना चाहिए। आदिम समाजों के टूटने के बाद छोटे मालिकों का कृषि-तन्त्र शुरू होता है। फिर भूमि के केन्द्रीकरण से बड़े-बड़े जमींदार सामने आते हैं। ये जमींदार क्यों गुलामो से काम लेने लगे, इसकी कैफियत भी उसी प्रसग मे एंगेल्स ने दे दी है। उन्होंने लिखा कि यूनान में दासों की संख्या बढ़ी, जितने स्वाधीन नागरिक थे, उसके दस गुने दास थे; इसका कारण था अत्यन्त विकसित दस्तकारीवाला उद्योग और विस्तृत व्यापार। (उप., पृ. १८५)। यह वही दस्तकारी है जिसका चलन सामन्ती व्यवस्था मे हुआ था। एक ओर दस्तकारी का विकास होता है, दूसरी ओर व्यापार का विकास होता है। मानी बात है कि छोटे पैमाने के उत्पादन से व्यापार के लिए आवश्यक माल नही मिल पाता। तब दासों के जरिये बड़े पैमाने पर माल पैदा कराया जाता है। उत्पादन के पुराने तरीके में पहले तब्दीली नही हुई, तब्दीली हुई विनिमय में; इस तरह व्यापार का विकास हुआ और बाजार की माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन की एक नयी पद्धति—दास पद्धति—का जन्म हुआ। एंगेल्स ने इसी प्रसंग मे अमरीकी दास-प्रथा का उदाहरण दिया है। इंग्लैण्ड के कपड़ा उद्योग को कपास की जरूरत थी। अमरीका में बड़े पैमाने पर कपास उगाने के लिए

दासों का उपयोग किया गया। जहाँ कपास न उगायी जाती थी, वहाँ दास-प्रथा का अभाव था या वह समाप्त हो गयी थी। कुछ इलाकों में केवल कपासवाले क्षेत्रों के लिए दासों की वृद्धि की जाती थी; वहाँ दास-प्रथा रही, अन्यत्र समाप्त हो गयी। यूनान और अमरीका, दोनों देशों मे उत्पादन की दास पद्धति अभिन्न रूप मे व्यापार के विकास से जुड़ी हुई दिखायी देती है। व्यापार का यह विकास सामन्ती व्यवस्था के कायम हो जाने के बाद ही सम्भव होता है।

आगे रोम के बारे में एंगेल्स ने स्पष्ट लिखा है कि पहले किसानों ने इटली की भूमि को खेती लायक बनाया। इन छोटे किसानों का स्थान गुलामों ने तब लिया जब रोमन प्रजातन्त्र के अन्तिम दौर में बड़ी-बड़ी ज़मीदारियों के समवाय कायम हो गये। इसके बाद ही एंगेल्स ने लिखा है कि मध्यकाल में समूचे यूरुप में किसानों-वाला कृषि-तन्त्र प्रधान था और उसी ने विशेष रूप से नयी धरती को खेती लायक बनाया। एंगेल्स ने जर्मन किसानों की मिसाल दी और बताया कि उन्होंने एल्बे नदी के पूर्व की धरती पर स्वाधीन किसानों के रूप मे खेती की। यह धरती स्लाव लोगो से छीनी गयी थी। (उप., पृ. २०३)। एंगेल्स ने मध्यकाल का हवाला देकर यह बात समझायी है कि दास-प्रथा के चलन से पहले जिस तरह का कृपक-न्त्र रोमन प्रजातन्त्र में था, वैसा ही समूचे यूरुप में था। सामाजिक विकास के चार से यूरुप का मध्यकाल यूनानी और रोमन दास-प्रथावाले युगो से आगे बढ़ा आ चरण नहीं है; यूनानी और रोमन समाज छोटे स्वाधीन किसानोंवाली मंजिल हले ही पार कर चुके थे।

परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता का उद्भव पुस्तक मे एंगेल्स ने ताया कि यूनानी समाज में पहले भूसम्पत्ति का असीम केन्द्रीकरण हुआ। इस र रोक लगायी गयी। व्यापार और दस्तकारी का विकास दासों के श्रम के बल र बड़े पैमाने पर होने लगा। अपने साथी नागरिकों का शोषण पुराने पाशविक ग से करने के बदले एथेंसवासियों ने अब मुख्यत: दासों और गैरएथेंसवासी ासामियों का शोषण आरम्भ किया। द्रव्य, दासों और जहाजों के रूप में सम्पदा ढ़ती गयी। पहले धन का उपयोग जमीन खरीदने के लिए किया जाता था, अब वह वय मे संग्रह का लक्ष्य बन गया। इससे एक नये धनी औद्योगिक-व्यापारी वर्ग ा जन्म हुआ और यह वर्ग पुराने अभिजात वर्ग से सफलतापूर्वक होड़ करने लगा। दि ऑरिजिन, पृ. ११५)। यहाँ हम देखते है कि भूमि का केन्द्रीकरण पहले होता । एथेंस निवासी अपने साथी नागरिकों का शोषण पहले करते हैं। व्यापार और स्तकारी की उन्नति के साथ-साथ गुलामों को उत्पादन में लगाया जाता है। एक ये औद्योगिक और व्यापारी वर्ग का जन्म होता है। यह नया वर्ग पुराने अभिजात-र्ग से होड़ करता है। यह स्थिति गणसमाजों के टूटने के बाद, छोटे पैमाने की ाती दस्तकारी के चलन के बाद पैदा हुई है। समाज मे एक वर्ग दासों के मालिकों ा हो और दूसरा दासों का हो, यह स्थिति यहाँ नहीं है।

एंगेल्स ने इसी प्रसंग में आगे लिखा कि व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास ा धन थोड़े से आदमियों के बीच सिमट आया, स्वाधीन नागरिकों का समुदाय ुफलिस हो गया। ये नागरिक या तो दासों से होड़ करते हुए दस्तकारीवाला

श्रम करें या पूरी तरह मुफलिस हो जायें। श्रम करना नीच काम समझा जाता था, इसलिए एथेंस का बहुसंख्यक समाज मुफलिसी में खुद डूबा और अपने साथ एथेंस की राज्यसत्ता को भी ले डूबा। दास-प्रथा की भूमिका यह थी कि उसने मेहनत को गुलामों का काम बनाकर स्वाधीन नागरिकों को श्रम से घृणा करना सिखाया। इस प्रकार एक ओर धनी उद्योगपति और व्यापारी थे, दूसरी ओर निर्धन नागरिक थे, और इनके साथ दासों का विशाल समुदाय था।

अर्थशास्त्र की आलोचना की भूमिका में मार्क्स ने 'सामन्ती' पद्धति के पहले उत्पादन की 'प्राचीन' पद्धति का उल्लेख किया था। स्वयं मार्क्स ने इससे पहले १८५५ में रोमन समाज के बारे में जो लिखा था, और फिर **पूंजी** के प्रथम खण्ड में सामन्ती उत्पादन पद्धति की व्याख्या करते हुए, जो स्पष्ट बताया था कि दास-प्रथा बाद में आती है, और **ऐण्टीडूर्यरिंग** में, परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्भववाली पुस्तक में एंगेल्स ने दास-प्रथा के चलन के बारे में जो कुछ कहा, उससे साबित है कि यदि मार्क्सवादी विद्वान् गण समाजों के टूटने पर दासों और उनके मालिकों के समाज की खोज करते हैं और दासों का समाज टूटने पर सामन्ती व्यवस्था के अभ्युदय की कल्पना करते हैं, तो वे **अर्थशास्त्र की आलोचना** में दिये हुए पद्धतियों के क्रम का अनुसरण अवश्य करते हैं किन्तु इस प्रसंग में मार्क्स और एंगेल्स ने और जो कुछ लिखा है, उसकी अनदेखी करते हैं। मार्क्स और एंगेल्स की धारणाओं के विपरीत वे सामाजिक विकास का एक ढांचा तैयार करते हैं और उसमें वे विभिन्न देशों के इतिहास को फिट करने की कोशिश करते हैं। जो लोग एशिया के लिए उत्पादन की अलग पद्धति मानते हैं, वे कहते हैं कि दास-प्रथावाला समाज पश्चिमी यूरुप की विशेषता था और उसके टूटने पर सामन्ती व्यवस्था का निर्माण केवल पश्चिमी यूरुप में हुआ, बाकी दुनिया का विकास अलग तरीके से हुआ। जो लोग उत्पादन की कोई खास एशियाई पद्धति नहीं मानते, वे गणसमाजों के टूटने के बाद एशिया में दास-प्रथावाले समाजों की खोज करते हैं। इस तरह की खोज ऐतिहासिक भौतिकवाद की परिधि से बाहर है।

(ग) छोटे पैमाने का उत्पादन और विनिमय तथा सामन्तवाद

सामन्तवाद क्या है, इसकी व्याख्या मार्क्स ने **पूंजी** के पहले खण्ड में कर दी थी। उसके आधार पर हम कह सकते हैं, छोटे पैमाने की दस्तकारी और खेती के आधार पर जो अर्थतन्त्र निर्मित होता है, वह सामन्ती है। किसी सामन्त के पास जब ज्यादा भूमि होगी और उस भूमि पर खेती करनेवाले आसामी उसकी ताबेदारी करेंगे, तभी सामन्तवाद आयेगा, यह सोचना गलत है। उत्पादन की जो अनेक पद्धतियां हैं, उनमें एक सामन्ती पद्धति है। इस पद्धति में उत्पादन की इकाई कुटुम्ब होता है, उत्पादन छोटे पैमाने पर होता है, उसका मुख्य उद्देश्य उत्पादकों की आवश्यकताएं पूरी करना होता है, इसलिए विनिमय भी सीमित होता है। **ऐण्टीडूर्यरिंग** में एंगेल्स ने लिखा था कि मध्यकाल में आमतौर से छोटे पैमाने के उद्योग का चलन था। उत्पादन के साधन श्रमिकों की निजी सम्पत्ति होते थे। खेती का काम छोटा किसान करता था, वह चाहे स्वाधीन हो चाहे बंधुआ मजदूर

हो। शहर में कारीगर अपने संघों में संगठित होते थे। श्रम के उपकरण वि
एक व्यक्ति के अपने होते थे। खेत, खेती के औजार, कारीगर की दूकान अ
उसके औजार, ये सारी चीजें इस तरह की होती थीं कि उनका उपयोग एक आ
कर सके, इसलिए वे छोटी और संकुचित होती थी। किन्तु इसी कारण आम
से उन पर उत्पादक का अधिकार होता था। (ऐण्टीड्यूरिंग, पृ. ३०७
सामन्ती व्यवस्था छोटे पैमाने के उत्पादन की व्यवस्था है। खेती करनेव
स्वाधीन किसान है या बँधुआ मजदूर है, इससे व्यवस्था के सामन्तीपन मे
नही पड़ता। एंगेल्स ने आगे लिखा है कि मध्यकाल की प्रारम्भिक शताब्दिय
उत्पादन का मूल उद्देश्य व्यक्ति की जरूरतें पूरी करना था। पैदावार से मुख्य
मे उत्पादक और उसके परिवार की जरूरतें पूरी होती थी। जहाँ व्यक्ति
अधीनतावाला नाता होता था, जैसे कि देहात मे, वहाँ वह उत्पादक साम
मालिक की आवश्यकताएँ भी पूरी करता था। (उप. ३११)। ऐण्टीड्यूरिंग
एंगेल्स ने एक बात बड़े मार्के की लिखी है कि जो लोग खेती के काम मे ल
और जिनकी खेती छोटे पैमाने की है, वे अनिवार्य रूप से वर्गभेद की लपेट में
आते। (उप. १७०)। छोटे पैमाने की खेती मे वर्ग बन सकते हैं और नहीं भी
सकते। इससे सकेत यह मिला कि गण-व्यवस्था के टूटने पर हर तरह के साम
समाज में वर्ग हों या वर्ग-संघर्ष हो, यह अनिवार्य नही है। एंगेल्स ने यह
बताया है कि जहाँ छोटे पैमानेवाली खेती का चलन होगा, वहाँ वितरण-व्यव
एक ढंग की होगी, जहाँ बड़े पैमाने की खेती होगी, वहाँ वितरण-व्यवस्था दू
ढंग की होगी। बड़े पैमाने की खेती के लिए वर्ग-विरोध पहले से आवश्यक है
या वह उसे पैदा करेगी। वर्गभेद की मिसालें हैं—दास और उनके मालि
बँधुआ मजदूर और सामन्तवादी स्वामी, पगारजीवी मजदूर और पूँजीपति।
छोटे पैमाने की खेती मे वर्गभेद दिखायी दे, तब समझना चाहिए कि छोटी मिल्किय
वाला अर्थतन्त्र टूट चला है। (उप.)। जब बड़े पैमाने पर दासों से खेती कर
जाती है, तब उसका उद्देश्य दासों और उनके मालिकों की जरूरतें पूरी क
नही होता, उद्देश्य होता है बाजार मे माल बेचकर मुनाफा कमाना। इसके वि
रीत जब कोई सामन्त बहुत से बँधुआ मजदूरो से खेती कराता है, तब उस
उद्देश्य अपनी ज़रूरतें पूरी करना ही होता है। और ये जरूरतें बँधुआ मजदूरो
जरूरतो से भिन्न स्तर की होती है। इसलिये सामन्ती उत्पादन-पद्धति की
विशेषता मे कोई अन्तर नहीं आता। जो खेती बड़े पैमाने की दिखायी देती है,
विनिमय के लिए नही है, इसलिए वह भी सकुचित ही रहती है। दरअसल बँधु
मजदूर देहात की कुल आबादी का अल्पसंख्यक भाग होते हैं। यहाँ उन बँधु
मजदूरो की बात है जिनके पास जमीन बिलकुल नही है। जिनके पास ज़मीन हो
है, खेती के उपकरण होते हैं, वे अपने लिए श्रम करते हैं और अतिरिक्त समय
सामन्त के लिए भी श्रम करते है। ऐसे किसानों के अनेक स्तर हो सकते है। इ
विपरीत एथेन्स मे जब दास-प्रथा बुलन्दी पर थी, तब दासों की संख्या स्वाधी
नागरिकों से कही ज्यादा हो गयी थी। इसका कारण यह था कि वहाँ बड़े पैम
पर उत्पादन मुनाफा कमाने के लिए होता था। इसी तरह रोमन खेतों मे अ

बहुत दिन बाद अमरीकी खेतों में झुण्ड के झुण्ड गुलामों से काम कराया जाता था क्योंकि उद्देश्य मुनाफा कमाना था। दरअसल बड़े पैमाने का उत्पादन बिकाऊ माल का उत्पादन है और वह विनिमय के विकास और व्यापार की प्रगति से जुड़ा हुआ है।

सामन्तवाद की विशेषता यह है कि उसमें ऊँच-नीच का भेद करनेवाले समाज के बीसियों स्तर हो जाते हैं। एंगेल्स ने बताया है कि पश्चिमी यूरुप पर जर्मन लोगों के अभियान ने समानता के सभी विचार सदियों तक के लिए खत्म कर दिये। क्रमश. ऐसी पेचीदा सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण हुआ जो ऊँच-नीच का भेद करती थी और जैसी उससे पहले कभी थी नहीं। (ऐण्टी-ड्यूरिंग, पृ. १२२)। यह ऊँच-नीच का भेद इसलिए पैदा होता है कि उत्पादन का मुख्य साधन भूमि है और वह विषम रूप में बँटी हुई है। जब तक भूमि का केन्द्रीकरण नहीं होता, तब तक समानता के भाव बहुत कुछ बने रहते हैं; जहाँ यह केन्द्रीकरण शुरू हुआ, वहाँ ऊँच-नीच का भेद भी पैदा हुआ। जिसके पास सबसे ज्यादा भूमि होगी, वह राजा होगा; जिसके पास बिलकुल भूमि न होगी, वह कमीन होगा। कारीगर विनिमय के लिए माल तैयार नहीं करते, इसलिए वे भी भू-स्वामी के अधीन होते हैं। उनकी गिनती निम्न वर्ण मे होती है। भारत के जिन प्रदेशों में बड़ी जमींदारियाँ नहीं रहीं या कम रहीं, उनमें ऊँच-नीच का भेदभाव भी अपेक्षाकृत कम है, जाति-बिरादरी के बन्धन ढीले हैं, समानता का भाव बहुत कुछ अब भी बना हुआ है। सामन्ती समाज मे भूमि का केन्द्रीकरण होने पर ही वर्गभेद सामने आता है। साधारणत: भूमि का केन्द्रीकरण उस तरह नहीं होता जिस तरह पूंजी का होता है, इसलिये सामन्ती समाज का वर्गभेद भी पूंजीवादी समाज के वर्गभेद से भिन्न स्तर का होता है। दरअसल औद्योगिक क्रान्ति से पहले पूंजीपति और मजदूर का भेद तीखे रूप में सामने नही आता।

अंग्रेजी पुस्तको मे सामन्ती समाज के विभिन्न समुदायों के लिए 'क्लास' की जगह अक्सर 'एस्टेट' शब्द का प्रयोग होता है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने जिस जर्मन शब्द का प्रयोग किया था उसके लिए अंग्रेजी शब्द 'आर्डर्स' का प्रयोग हुआ है। उन्होंने 'क्लास' शब्द का प्रयोग भी किया है, यह 'एस्टेट' या 'आर्डर' भारतीय 'वर्ण' शब्द का प्रतिरूप है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में उन्होंने लिखा था कि पूंजीवाद के पहले के युगों में हर जगह समाज की एक पेचीदा व्यवस्था दिखायी देती है जिसमें अनेक स्तर (आर्डर्स) होते है और सामाजिक पद के ऊँचे-नीचे बहुत से भेद होते हैं। प्राचीन रोम और मध्यकाल के वर्गों के बारे में लिखा है कि इन सभी वर्गों के भीतर गौण स्तरीय भेद होते थे। रोमन लोग स्वाधीन हैं पर सब बराबर नहीं हैं। जिनके पास जमीन है, वे श्रेष्ठ हैं; जिनके पास जमीन नहीं है या बहुत कम है, वे साधारण लोग हैं। मध्यकालीन यूरुप में सभी सामन्त बराबर नहीं थे; ऊपर बड़े सामन्त हैं, नीचे छोटे सामन्त हैं। इसी कारण सामन्ती समाज में वर्ग-संघर्ष हमेशा पेचीदा होता है। एंगेल्स ने ऐण्टी-ड्यूरिंग में लिखा है कि पूंजीपति पहले सामन्ती समाज का एक वर्ण (एस्टेट) बने। उन्होंने उस उद्योग का विकास किया जिसमें दस्तकारी की प्रधानता थी; सामन्ती

समाज के भीतर ही उन्होंने वस्तुओं के विनिमय को ऊंचे दर्जे तक विकसित किया। (उप. १२२)। जो समाज वर्णों में बँटा हो, उसमें पूँजीपति भी एक वर्ण के ही रूप में सामने आयेंगे; इसका एक कारण यह है कि सामन्ती समाज मे एक वर्ण महाजनों एवं व्यापारियों का भी था। जिन सौदागरों ने दस्तकारीवाले उद्योग के आधार पर विनिमय का विकास किया, वे पहले ही एक वर्ण में शामिल थे। इसलिए सामन्ती व्यवस्था के भीतर विनिमय का विकास हुआ, तब वर्ण-व्यवस्था तुरत टूट नहीं गयी। नया पूँजीपति पुराने वर्ण का अंग बन गया। अपने प्रारम्भिक क्रान्तिकारी जीवन मे मार्क्स ने उस वर्ण-व्यवस्था से जमकर संघर्ष किया था जो जर्मनी में व्यापक रूप से फैली हुई थी।

गणव्यवस्था मे सामूहिक श्रम के अनुरूप उपज का समान वितरण होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी कबीले के सारे सदस्य सभी काम एक साथ मिलकर करते है। कुछ कुटुम्ब मिलकर कुछ काम करते है, यह है गणव्यवस्था की पद्धति। एक कुटुम्ब जहाँ अलग श्रम करता है, वह है सामन्ती पद्धति। खेती और दस्तकारी में जिस नये कौशल का विकास होता है, उसके लिए कुटुम्बगत श्रम आवश्यक हो जाता है। **परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभ्युदय** पुस्तक में एंगेल्स ने बताया है कि गणव्यवस्था के बाद समाज मे तीन वर्ग बने। एक वर्ग जमींदारों का था, दूसरा किसानों का, तीसरा कारीगरों का। सार्वजनिक पदों पर काम करने का अधिकार केवल जमींदारों को था। एंगेल्स ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि यह विभाजन हमेशा अमल में न आता था क्योंकि वर्गों के बीच कोई कानूनी भेद न था। फिर भी, ज़मींदारों के लिए सार्वजनिक पद सुरक्षित थे और इस वर्गभेद से पता चलता था कि पुराने गणसमाज मे चुपचाप नये सामाजिक तत्व विकसित हो चुके है। कुछ परिवार सार्वजनिक पदों पर अधिकार करते आये थे, अब यह उनका विशेषाधिकार बन गया। ये परिवार अपने धन के कारण शक्तिशाली थे; वे अपनी बिरादरी के बाहर एक विशेषाधिकारी वर्ग के रूप में मिलकर एक होने लगे। किसानों और कारीगरों के बीच श्रमविभाजन इतना सुदृढ़ हो गया था कि गण और गोत्रोंवाले पुराने विभाजन को वह चुनौती देने लगा था। (दि ओरिजिन ऑफ दि फैमिली, पृ. १०६)। यह सारा विवरण भारतीय समाज के विकास को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है। गणसमाज को जिस श्रमविभाजन ने तोड़ा, उसका सम्बन्ध खेती और दस्तकारी से है। इस श्रमविभाजन से किसानों का वर्ग अलग बना और कारीगरों का अलग। अधिकांश यूरुप मे १८वीं सदी तक एक ही कुटुम्ब खेती और दस्तकारी दोनों काम करता था। वहाँ प्राकृतिक अर्थतन्त्र का चलन था। इसके विपरीत यूनान में एक कुटुम्ब खेती करता था तो दूसरा दस्तकारी का काम करता था। ऋग्वेद मे ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि एक ही परिवार के सदस्य कई तरह के काम करते थे। (दि वेदिक एज, पृ. ३४६)। किन्तु उत्तर वैदिककाल में खेती और दस्तकारी का यह सयोग टूट रहा था। प्रसिद्ध पुरुष सूक्त मे जिन चार वर्णों का उल्लेख है, उनका आधार नया श्रमविभाजन है। भारत की प्राकृतिक परिस्थितियों में किसान के लिए यह आवश्यक न था कि वह केवल तीन महीने खेती

करे और नौ महीने दस्तकारीवाला कोई धन्धा करे। ईसामसीह के जन्म से कम-से-कम हज़ार साल पहले यहाँ खेती करनेवाले कुटुम्ब कारीगरों के कुटुम्ब से अलग हो चुके थे, यानी भारत के कुछ क्षेत्रों में अलग हो चुके थे। गणव्यवस्था के भीतर कुछ परिवार सार्वजनिक पदों पर अपना विशेषाधिकार कायम कर लेते हैं। भारत मे यही लोग राजन्य या क्षत्रिय वर्ण बने। भूमि का केन्द्रीकरण हुआ, तब भूस्वामियों का अभिजात-वर्ग बना, इन्हीं के हाथ में राज्यसत्ता रही। भूमि के केन्द्रीकरण के बिना सामन्ती व्यवस्था में राज्यसत्ता का निर्माण नही हो सकता। एंगेल्स ने लिखा है कि यूनानी समाज मे हर बिरादरी टूटी; उसका एक भाग विशेषाधिकारी हुआ, दूसरा निम्न वर्ग हुआ। यही भारत का द्विज और शूद्रवाला भेद है।

यूनान के एक प्राचीन व्यवस्था निर्माता सोलन थे। उन्होंने समाज को चार वर्गो मे बाँटा। किसके पास कितनी जमीन है और उसमें कितनी उपज होती है, इसके हिसाब से तीन वर्ग बने। जिनके पास बहुत कम जमीन थी या नहीं थी, उन्हें चौथे वर्ग मे रखा गया। जन-सभा में चौथे वर्ग के लोग बोल सकते थे, मतदान कर सकते थे किन्तु पद-ग्रहण का अधिकार पहले तीन वर्गो को था और सर्वोच्च पद केवल प्रथम वर्ग अर्थात् सबसे बडे भूस्वामियों के लिए सुरक्षित थे। इस प्रकार अभिजात-वर्ग के विशेषाधिकार निश्चित हुए। सामूहिक स्वामित्व का स्थान निजी स्वामित्व ने लिया। नागरिकों के अधिकार एवं कर्तव्य उनकी भू-सम्पत्ति के अनुसार निर्धारित हुए। जैसे-जैसे सम्पत्तिशाली वर्गों का प्रभाव बढ़ा, वैसे-वैसे रक्त-सम्बन्धवाले समुदाय पीछे ठेल दिये गये। (उप. ११४)। एंगेल्स ने यहाँ बहुत अच्छी तरह दिखाया है कि गणव्यवस्था को किस तरह का वर्गभेद तोड़ता है। वर्गभेद का मुख्य कारण है भू-सम्पत्ति का केन्द्रीकरण। सामन्ती समाज मे जो ऊँच-नीच का भेद दिखायी देता है, उसका मुख्य कारण भू-सम्पत्ति का विषम वितरण है।

यह बात दिलचस्प है कि यूरुप में पत्थर के औजारों का उपयोग भारत की अपेक्षा बहुत बाद तक होता रहा। एगेल्स ने लिखा है कि पहले-पहल जिस लोहे का उत्पादन हुआ, वह ताँबे से ज्यादा मुलायम था। लोहे के फाल का प्रयोग करके खेती का विकास किया गया, लोहे की कुल्हाड़ी से जंगल साफ करके खेती लायक जमीन प्राप्त की गयी। कारीगरो को लोहे के सख्त और पैने औजार मिले, इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था लोहे के उपयोग से जुड़ गयी। लेकिन यह सब बहुत धीरे-धीरे हुआ। १०६६ मे हेस्टिंग्स की लड़ाई हुई; उसमे अभी पत्थर की कुल्हाड़ियों का उपयोग किया गया था। (उप., पृ. १५६)। धातुओं के काम के साथ-साथ बुनाई और दूसरी दस्तकारियों का विकास हुआ। कौशल के विशेषीकरण से उम्दा चीजें बनने लगी और कई तरह की बनने लगी। खेती मे अन्न ही नहीं, तिलहन और शराब भी प्राप्त होती थी। एगेल्स कहते हैं कि ये विविध कार्य एक ही व्यक्ति न कर सकता था, इसलिए दूसरा बडा श्रम-विभाजन सम्पन्न हुआ; खेती दस्तकारी से अलग हुई। यानी यूनान में श्रम-विभाजन की यह स्थिति भारत मे श्रम-विभाजन की स्थिति से मिलती-जुलती थी। किन्तु पश्चिमी यूरुप में यही विभाजन बहुत विलम्ब से हुआ।

यूनान में उक्त श्रमविभाजन हो जाने के बाद दास-प्रथा का व्यापक चलन हुआ। एंगेल्स ने लिखा है : इससे पहले दास-प्रथा बीज रूप में थी और छिटपुट रूप में पायी जाती थी। अब खेतों और कारखानों मे दासों के समुदाय काम करने लगे। खेती और दस्तकारी के अलग हो जाने से विनिमय के लिए उत्पादन सम्भव हुआ; यह बिकाऊ माल का उत्पादन था। इसके साथ व्यापार का विकास हुआ, केवल घरेलू व्यापार नही, सीमान्त प्रदेशों से व्यापार नही, वरन् समुद्र पार के देशों से व्यापार होने लगा। समाज में स्वाधीन नागरिकों और दासों के भेद के अलावा धनी और निर्धन का भेद पैदा हुआ। पुराने साम्यवादी कुटुम्ब-समाज टूट गये। भूमि पर सामूहिक खेती का चलन समाप्त हुआ। खेती की जमीन कुछ परिवारों को पहले सीमित अवधि के लिए, फिर सदा के लिए दी जाने लगी। किसी व्यक्ति का कुटुम्ब समाज की आर्थिक इकाई बना। (उप., पृ. १६०)। दास-प्रथा को छोड़ दें तो ये सारी बातें अंग्रेज़ी राज से पहले के भारत पर लागू होती है। खेती और दस्तकारी के अलगाव से विनिमय का विकास होता है, व्यापार में प्रगति होती है और बिकाऊ माल का उत्पादन सम्भव होता है। मुगलकालीन भारत के बारे मे मोरलैंड और इरफान हबीब ने जो कुछ लिखा है, उससे एंगेल्स की उक्त स्थापना की पुष्टि होती है। भारत में गणसमाज बहुत पहले टूट चुके थे, धनी और निर्धन का भेद बहुत दिनों से चला आ रहा था, कारीगरो की कमी नही थी। गुलाम मेहनत करें और स्वाधीन नागरिक चाहे मुफलिस बने हुए भूखों मरे किन्तु काम न करें, यह स्थिति यहाँ नही थी। उच्च वर्ण के लोगों ने भी गरीबी के कारण गुप्त सम्राटों के समय मे ही हल चलाना शुरू कर दिया था। उत्पादन विनिमय के लिए हो तो उसके लिए दास अनिवार्य होंगे, सामाजिक विकास का ऐसा कोई नियम नही है। मुख्य बात यह है कि खेती और दस्तकारी के अलगाव से बिकाऊ माल का उत्पादन सम्भव हुआ, सामूहिक खेती-बाड़ी का चलन न रहा, ग्राम-समाज टूटे, कुछ परिवारों के पास ज़मीन की मौरूसी मिल्कियत आ गयी। यह मिल्कियत कुटुम्बगत थी क्योंकि उत्पादन की आर्थिक इकाई कुटुम्ब था। इस सबका परिणाम यह हुआ कि जब यूरुप के व्यापारी भारत आये, तब वे यहाँ का बिकाऊ माल लेने आये थे। बिकाऊ माल के उत्पादन के लिए जो परिस्थितियाँ दरकार होती हैं, वे यहाँ पहले से न होती तो उन सौदागरों को वह बिकाऊ माल भारत मे मिलता ही नहीं। बिकाऊ माल घरेलू बाज़ार के लिए ही नही था, सीमान्त प्रदेशों के लिए ही नहीं था, वह समुद्र पार के देशों के लिए भी था। और उस समय से था जिस समय यूरुप के व्यापारी भारत मे न आये थे।

(घ) वर्गभेद और राज्यसत्ता

सामन्ती व्यवस्था मे अनेक प्रकार के समाजों की स्थिति सम्भव है, अनेक प्रकार के भू-स्वामित्व की स्थिति सम्भव है। भूमि के केन्द्रीकरण का वैसा कोई सामान्य नियम नही है जैसा पूंजी के केन्द्रीकरण का है। वास्तव मे पूंजीवाद की शुरूआत भी पहले छोटे पैमाने के उत्पादन से होती है, बड़ा पैमाना विनिमय और व्यापार मे देखा जाता है और वह फिर उत्पादन में भी बड़े पैमाने को अनिवार्य बना देता

है। सामन्ती व्यवस्था की यह विशेषता है कि भूमि का केन्द्रीकरण होने पर भी उत्पादन का पैमाना छोटा ही रहता है। जहाँ बड़े पैमाने का उत्पादन शुरू हुआ, वह चाहे दस्तकारी मे हो चाहे खेती में, वहीं सामन्ती व्यवस्था टूटने लगती है। सामन्ती व्यवस्था में उत्पादन का मुख्य साधन भूमि है, भूमि का वितरण विषम होता है, इसलिए विभिन्न सामन्ती समाजों मे वर्ग-निर्माण, वर्गभेद, वर्ग-संघर्ष की स्थिति भी अलग-अलग तरह की होती है। पूँजीवादी समाज ही अनेक प्रकार के होते हैं, उससे भी अधिक विविधता सामन्ती समाजों मे होती है। राज्यसत्ता का उद्भव वर्गों के उद्भव से जुड़ा हुआ है। विभिन्न सामन्ती समाजों मे वर्गों की स्थिति विभिन्न प्रकार की होती है, इसलिए उनमे राज्यसत्ता की स्थिति भी विभिन्न प्रकार की होगी। जिस सामन्ती समाज में छोटे पैमाने की खेती और दस्तकारी होगी किन्तु भूमि का केन्द्रीकरण न हुआ होगा, उसमें राज्यसत्ता का अस्तित्व भी न होगा।

ऐण्टीडूर्यारिंग मे एंगेल्स ने लिखा था, वितरण में भेद पैदा होने पर वर्गभेद पैदा होते हैं। समाज विशेषाधिकारी और अधिकारहीन वर्गों मे बँट जाता है, शोषकों और शोषितों, शासकों और शासितों में बँट जाता है। एक ही कबीले के विभिन्न समुदायों ने जो नैसर्गिक गुट बनाये थे, वे गुट अपने सामान्य हितो की रक्षा करने के लिए और बाहरी शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिए राज्यसत्ता की मंजिल तक पहुँचते है। इस मंजिल के बाद यह राज्यसत्ता एक नया काम और सँभाल लेती है, वह काम है प्रजा-वर्ग के विरुद्ध शासक-वर्ग के प्रभुत्व और उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक परिस्थितियो को बलपूर्वक बनाये रखना। (पृ. १७१)। एंगेल्स ने यहाँ राज्यसत्ता के उद्भव को पूरे समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति से जोड़ा है। फिर कहा है कि यही राज्यसत्ता आगे चलकर शासक-वर्ग के हित मे प्रजा को दबाये रहती है। यहीं उन्होंने सामान्य हितों के उदाहरणस्वरूप पूर्वी देशों मे सिंचाई-व्यवस्था का उल्लेख किया है। आशय यह है कि पूर्वी देशों में सामूहिक सम्पत्ति का चलन था, वर्ग नहीं थे; सामान्य हितों की रक्षा के लिए, सार्वजनिक कार्यों की पूर्ति के लिए, राज्यसत्ता का उद्भव हुआ। आगे उन्होंने कहा है: भारत मे और स्लाव लोगों में हज़ारों साल से पुराने आदिम समाज आज तक कायम हैं। बाहरी दुनिया से सम्पर्क होने पर उनके यहाँ सम्पत्ति सम्बन्धी विषमता पैदा हुई और इसके फलस्वरूप वे टूटने लगे। (उप.)। यहाँ इस बात को खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मार्क्स और एंगेल्स जैसे ग्राम-समाजों की कल्पना कर रहे थे, उनमें सम्पत्ति-सम्बन्धी विषमता नहीं थी। किसी भारतवासी को यह समझाने की जरूरत नहीं है कि यहाँ के ग्राम-समाजों में सम्पत्ति-सम्बन्धी विषमता थी। भूमि का केन्द्रीकरण ही नहीं, सूदखोरी यहाँ के महाजनों का पुराना पेशा है। स्वयं मार्क्स, जहाँ ग्राम-समाजो में दासता की बात करते हैं, वहाँ वह सम्पत्तिगत भेद स्वीकार करते हैं। यह बात बिलकुल सही है कि समाज मे जब सम्पत्तिगत भेद पैदा होगा, तब वे समाज टूटेंगे और राज्यसत्ता का जन्म होगा। ग्राम-समाजों में सम्पत्ति की समानता हो, फिर भी बलप्रयोग करनेवाली निरंकुश राज्यसत्ता हो, ये दोनों चीजें परस्पर विरोधी हैं, और उनका सहअस्तित्व

असम्भव है। एंगेल्स ने जहाँ लिखा है कि राज्यसत्ता पहले सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिए सामने आती है और बाद में शासक-वर्ग के हित में शासित-वर्ग का दमन करती है, वहाँ वह यह बात स्वीकार करते है कि समाज मे दो विरोधी वर्ग पैदा हो गये हैं, तभी राज्यसत्ता की दमनकारी भूमिका सार्थक हो सकती है।

ऐण्टीडूर्यारिंग लिखने की तैयारी करते समय एंगेल्स ने कुछ बातें लिखी थीं जिन्हें पुस्तक मे शामिल न किया गया था। इनमे एक बात पूर्वी देशों की निरकुश राज्यसत्ता के बारे मे है। उन्होने लिखा था कि पूर्वी निरकुशता सामान्य सम्पत्ति पर आधारित थी। (उप., पृ. ४०४)। राज्यसत्ता-सम्बन्धी ऐतिहासिक भौतिक-वाद की मान्यताएँ ऐण्टीडूर्यारिंग के लेखनकाल तक अधूरी थी। इन मान्यताओं को एंगेल्स ने **परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राज्यसत्ता का उद्भव** पुस्तक मे भरा-पूरा बनाया। इस पुस्तक मे उन्होने जिन तीन चीजो के उद्भव पर विचार किया, उनमे एक राज्यसत्ता है और वह व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा वर्गों के उद्भव से जुडी हुई है। राज्यसत्ता के उद्भव पर अनेक समाजो के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इससे पहले एंगेल्स को विचार करने का अवसर न मिला था। उनके सामने अब भारतीय ग्राम-समाज ही न थे, अमरीकी आदिवासियों के समाज भी थे; प्राचीन और यूनानी रोमन समाजों के अलावा उन्होने जर्मन गणसमाजों का अध्ययन भी विस्तार से किया था। राज्यसत्ता के उद्भव की प्रक्रिया यहाँ जिस तरह समझायी गयी है, वह भौतिकवाद का विकास है, राज्यसत्ता सम्बन्धी सिद्धान्त का परिष्कार है। गणसमाजो मे, सामूहिक सम्पत्तिवाले समाजों मे राज्य-सत्ता का अभ्युदय होता है, यह धारणा एंगेल्स ने छोड़ दी थी। अमरीकी आदि-वासियो के समाज समान सम्पत्तिवाले, सामूहिक श्रम और सामूहिक सम्पत्ति-वाले, समान वितरणवाले समाज थे। उनमे वर्गभेद न पैदा हुआ था और उनमें राज्यसत्ता भी न थी। एंगेल्स ने लिखा था : मैंने उरोकवा लोगो के सामाजिक विधान का विवरण मोर्गन के अनुसार कुछ विस्तार से इसलिए दिया है कि हमें यहाँ ऐसे समाज के गठन के अध्ययन का मौका मिलता है जिसे अभी राज्यसत्ता का ज्ञान न था। (**दि ओरिजिन**, पृ. ९५)। अमरीकी कबीलों ने अपने गणसंघ कायम किये थे। गणसंघो की परिषद् सामान्य हितों की देखभाल करती थी। प्रतिनिधियों का चुनाव होता था, फिर भी यहाँ राज्यसत्ता का अभ्युदय न हुआ था। कारण यह था कि सम्पत्ति का केन्द्रीकरण न हुआ था, वर्गभेद न पैदा हुआ था। एंगेल्स ने लिखा कि राज्यसत्ता के जन्म के लिए ऐसी विशेष सार्वजनिक सत्ता दरकार है जो सम्बद्ध लोगो की समग्रता से अलग हो। फिर मौरर का हवाला देते हुए लिखा कि उसने सही सहजबोध से पहचान लिया था कि जर्मन मार्क (गणसमाज) का सविधान बुनियादी तौर से राज्यसत्ता से भिन्न था। वह विशुद्ध-सामाजिक संस्था था यद्यपि आगे चलकर वह उस सत्ता का आधार बना। यहाँ एंगेल्स ने गणसमाजो की इन सस्थाओं को राज्यसत्ता से अलग रखा है जो सदस्यों के सामान्य हितों की देखभाल के लिए काम करती हैं। वे पूरे समाज की संस्थाएँ हैं; राज्यसत्ता ऐसी संस्था है जो समाज से अलग होकर कार्य करती है, किसी वर्ग या वर्गो के हित में शेष समाज पर शासन का साधन बनती है। मौरर के बारे में

एंगेल्स ने लिखा कि मार्क, ग्राम, रियासत और नगर, इन सबके मूल संविधानों का विवेचन करके उसने दिखाया कि इनके समानान्तर और इन्हीं के भीतर से क्रमशः सार्वजनिक सत्ता उभरती है। अमरीकी आदिवासियों का समाज ऐसा था कि सैनिकों, पुलिस के सिपाहियो, अभिजात-वर्गीय सरदारों, राजाओं, लोकपालो, कोतवालों और काजियो के बिना, अदालत और जेलखाने के बिना सारा काम चलता था। कोई मुफलिस और निर्धन नहीं था, स्त्रियों समेत सभी लोग समान थे, अभी दासो के लिए यहाँ गुंजाइश न थी और आमतौर से दूसरे कबीलों को जीतने की जरूरत भी न थी। ये आदिम समाज कितनी वीरता से लड़ते थे, इसका उदाहरण एंगेल्स ने अफ्रीका की जुलू जाति के संघर्ष से दिया। इन्होंने वह काम किया जो कोई यूरोपियन फौज न कर सकती थी। तोप, बन्दूक के बिना केवल बल्लम और भाले के सहारे गोलियों की बौछार का सामना करते हुए वे अंग्रेजों की पैदल सेना की संगीनो से जा भिड़े, उन्होंने उसे अव्यवस्थित कर दिया और एक से अधिक बार उसे पीछे हटने पर विवश किया। यह उन्होंने तब किया जब हथियारो मे ज़बर्दस्त असमानता थी। जुलू लोग फौजी कवायद, सैनिक प्रशिक्षण से अपरिचित थे। अंग्रेज कहते थे, एक जुलू चौबीस घण्टे में जितना फासला तय कर लेता है, उतना फासला चौबीस घण्टे में एक घोड़ा भी तय नहीं कर पाता। ऐसा था मानव समाज, ऐसी थी मानव जाति, वर्गभेद के उत्पन्न होने से पहले। (उप., पृ. ६६-६७)। राज्यसत्ता न जुलू लोगों में थी न अमरीकी आदिवासियो में। इन्ही आदिवासियों से मिलती-जुलती स्थिति उन गणसमाजो की थी जिन पर होमर ने अपने काव्य रचे थे। अन्तर यह था कि वीरगाथा काल के यूनानी गणसमाज भीतर से टूटने लगे थे। परिवार पितृसत्ताक बन गया था, पिता के बाद पुत्र सम्पत्ति का अधिकारी होता था। परिवार में धन-संग्रह होने लगा और धन-संग्रह के साथ बीज रूप मे बादशाही और अभिजात-वर्ग का जन्म हुआ। दास-प्रथा पहले युद्धबन्दियों तक सीमित थी, अब गणसमाज के सदस्य ही दास बनाये जाने लगे। धन-संग्रह के लिए पशुधन, दास-धन प्राप्त करने के लिए युद्ध बढ़ चले। धन की लूट को उचित ठहराने के लिए पुरानी गणसंस्थाओं को तोड़ा-मरोड़ा गया। अब ऐसी संस्था की ज़रूरत थी जो व्यक्तिगत रूप से प्राप्त की हुई सम्पत्ति की रक्षा करे, पुरानी गण-व्यवस्था की साम्यवादी परम्पराओं से उसकी रक्षा करे, निजी सम्पत्ति को पवित्र कहे, सम्पत्ति प्राप्त करने के, धन की वृद्धि के जो नये तरीके धीरे-धीरे विकसित हो रहे थे, उन पर सार्वजनिक स्वीकृति की मोहर लगा दे, समाज के नये उभरते हुए वर्गभेद को स्थायी बना दे, सम्पत्तिशाली वर्ग के इस अधिकार को स्थायी बना दे कि वह सम्पत्तिहीन वर्गों का शोषण करे, उन पर शासन करे। इस संस्था का उदय हुआ और उसका नाम था राज्यसत्ता। (उप., १०६-१०७)।

सम्पत्ति का केन्द्रीकरण, समाज का वर्गों में विभाजन, सम्पत्तिहीन वर्गों का शोषण, सम्पत्तिशाली वर्गों के प्रभुत्व को बनाये रखने की आवश्यकता, इन सब कारणों से राज्यसत्ता का जन्म हुआ। भारत में सतयुग बहुत पहले समाप्त हो गया था, उसके बाद द्वापर और त्रेता भी समाप्त हो गये थे। जिस समय काव्य और

पुराण रचे गये, उस समय घोर कलियुग आ गया था और फिर वह आता ही चला गया। सतयुग आदिम साम्यवाद की स्मृति है जब सब लोग समान थे। द्वापर और त्रेता मोटे तौर पर सामन्ती व्यवस्था के आदि और मध्यकाल हैं जब वर्गभेद पैदा हुआ किन्तु वर्ण-व्यवस्थावाला समाज स्थायी जान पड़ता था। कलियुग सामन्ती व्यवस्था का उत्तर काल है जब वर्ण-व्यवस्था टूटने लगी थी। जहाँ भी कलियुग का वर्णन मिलेगा, वहाँ वर्ण-व्यवस्था के टूटने की बात जरूर होगी। यह सामन्ती व्यवस्था के विघटन का लक्षण था। सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग, इतिहास के वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर बनाये हुए युग नही है किन्तु उनमें सामाजिक परिवर्तनों की स्मृति सुरक्षित है। ये परिवर्तन इतिहास और पुरातत्व की सामग्रियों से पुष्ट होते हैं। ये परिवर्तन सारे भारत मे एक साथ घटित नही हुए। महाभारत में भूमि के लिए लड़नेवाले राजाओ का वर्णन है और समानान्तर उन गणसमाजों का विवरण है जिनमे कोई राजा होता ही नही है। यदि आप मानते है कि अंग्रेजी राज कायम होने के समय भारत मे सामूहिक सम्पत्तिवाले ग्राम-समाज थे, तो मानिये कि राज्यसत्ता नही थी; यदि मानते है कि राज्यसत्ता थी, तो मानिये कि सामूहिक सम्पत्तिवाले ग्राम समाज नही थे। दोनो बातें एक साथ नही हो सकती।

एंगेल्स ने एथेन्स की राज्यसत्ता के सिलसिले में लिखा है कि राज्यसत्ता की एक मूल विशेषता यह है कि सार्वजनिक सत्ता साधारण जनसमुदाय से भिन्न होती है। एक समय एथेन्स की जल और स्थल सेनाओं में सभी नागरिक कार्य करते थे। इन सेनाओं द्वारा विदेशी शत्रुओं से रक्षा होती थी, दास भी नियन्त्रित रहते थे। आम नागरिकों के लिए यह सार्वजनिक सत्ता पुलिस दल के रूप मे थी। एथेन्स में जब राज्यसत्ता का अभ्युदय हुआ, तब अलग पुलिस दल का निर्माण हुआ और उस पुलिस दल में दास थे। एथेन्स के स्वाधीन नागरिक पुलिस के काम को इतना नीचा समझते थे कि वैसा काम करने के बदले हथियारबन्द गुलाम उन्हें गिरफ्तार करे तो इसे वह अपने लिए अच्छी स्थिति मानते थे। पुराने गण-समाजों के संस्कार अभी प्रबल थे, पुलिस का काम निन्दनीय समझा जाता था और उसके बिना काम भी न चलता था। इसलिए पुलिस दल मे गुलाम भर्ती किये जाते थे। (उप., पृ. ११६-१७)। पुलिस दल की जरूरत किसको थी? गुलामों के मालिकों को थी और केवल गुलामों के विरुद्ध न थी, निर्धन स्वतन्त्र नागरिकों के खिलाफ भी थी। जो नागरिक पुलिस का काम करने के बदले गुलाम द्वारा गिरफ्तार किया जाना अच्छा समझते थे, वे धनी व्यापारी और दासों के मालिक नही थे। राज्यसत्ता नये उदीयमान व्यापारी वर्ग की सेवा कर रही थी। एंगेल्स ने लिखा है कि राज्यसत्ता की रूप-रेखा जब मोटे तौर से बन गयी, तब साबित हो गया कि यह सत्ता एथेन्स की नयी स्थिति के अनुकूल थी। व्यापार, उद्योग और धन में तेजी से वृद्धि हुई। "जिस वर्ग-विरोध पर सामाजिक और राजनीतिक संस्थायें आधारित थी, वह अब अभिजात-वर्ग और जनसाधारण के बीच न था वरन् दासों और स्वाधीन नागरिकों, पराधीन जनों और नागरिकों के बीच था।" (उप., पृ. ११७)। पहले वर्ग-विरोध सामन्तों और जनसाधारण के बीच था, अ[illegible] वह दासों, साधारण नागरिकों और धनी व्यापारियों के बीच था। इसी प्रका[illegible]

रोम का रक्त सम्बन्धों पर आधारित पुराना समाजतन्त्र टूटा। ऐसी सार्वजनिक सत्ता का निर्माण हुआ जिसमें नागरिकों को सैनिक सेवा करनी पड़ सकती थी, "और यह सत्ता केवल दासों के विरुद्ध न थी, वरन् उन तथाकथित सर्वहारा जनों के विरुद्ध भी थी जिन्हें सैनिक सेवा से बाहर रखा जाता था और जिन्हें शस्त्र धारण करने का अधिकार नहीं था।" (उप., पृ. १२८)। यूनानी समाज की तरह रोमन समाज में भी राज्यसत्ता का उद्देश्य केवल दासों को दबाये रखना नहीं था वरन् स्वतन्त्र किन्तु निर्धन नागरिकों को दबाये रखना भी था।

पुराने गणसमाजों की साम्यवादी संगठन-पद्धति के अवशेष सामन्ती व्यवस्था में कायम रहते हैं, सामन्त-विरोधी लड़ाइयों में और आगे चलकर पूँजीवाद-विरोधी लड़ाइयों में भी ये संगठन काम आते हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख एंगेल्स ने जर्मन कबीलों के सिलसिले में किया है। जहाँ-जहाँ जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलनों ने व्यापक रूप लिया है, वहाँ साम्यवादी युग की विरासत उसके जनतान्त्रिक सगठन भी उभरकर सामने आये हैं। इसलिए एंगेल्स ने इस विषय में जो कुछ कहा है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है और उसे ऐतिहासिक भौतिकवाद का विकास मानना चाहिए। जर्मन कबीलों ने रोमन साम्राज्य को नष्ट किया, साम्राज्य की दो-तिहाई भूमि अपनी गणव्यवस्था के अनुसार आपस में बाँट ली। कुछ क्षेत्रों में किसी व्यक्ति को दी हुई भूमि उसकी मौरूसी सम्पत्ति बन गयी। जंगलों और चरी की भूमि पर पुरानी रीति के अनुसार पूरे समाज का अधिकार बना रहा। रक्त-सम्बन्ध विभिन्न गणसमाजों के मिलने से, रोमनों और जर्मनों के मिश्रण से शिथिल होते गये। पुराने गणसमाजों का संविधान किसी प्रदेश में बसी हुई जनता का संविधान बन गया। इस प्रकार वह राज्यसत्ता में फिट किया जाने लायक बन गया, फिर भी वह अपना नैसर्गिक, जनतान्त्रिक स्वरूप बनाये रहा और गण-संविधान के ह्रास के दिनों में भी उसका कुछ अंश बचा रहा और इस प्रकार पीड़ित जनता के हाथ में एक अस्त्र बना रहा जिसका उपयोग आधुनिक काल में भी किया जा सकता था। (पृ. १४८-४९)। एंगेल्स ने जिस आधुनिक काल की बात कही है, वह औद्योगिक पूँजीवाद का समय है। जिस समय वह राज्यसत्ता पर अपना ग्रन्थ लिख रहे थे, उस समय पूँजीवाद का यह युग समाप्त हो रहा था और महाजनी पूँजी का युग शुरू हो चुका था। इस आधुनिक काल में प्राचीन साम्यवादी समाजों के संगठन के तरीके जहाँ-तहाँ बचे हुए थे। न तो सामन्तवाद उनका नाश कर सका, न पूँजीवाद उनका नाश कर सका। इन दोनों का नाश करने के लिए पीड़ित जनता इनका उपयोग कर सकती थी। सामाजिक विकासक्रम में उत्पादन के तरीके बदलने पर पुराने युग के अनेक सामाजिक अवशेष रह जाते है और ये पूरी तरह नष्ट नहीं होते। ये अवशेष शासक वर्ग के हित में हो सकते है। ऐसे सामन्ती अवशेष १९वीं सदी के इंगलैण्ड में जमींदार थे। ऐसे अवशेष जनसाधारण, विशेष रूप से गरीब किसानों, के हित में भी हो सकते है। ऐसे अवशेष २०वीं सदी के रूस में किसानों की पंचायतें थीं। इन पंचायतों ने सामन्तों की जमीन छीनकर आपस में बाँट ली। इस कार्य के बिना सर्वहारा-वर्ग की क्रान्ति सफल न हो सकती थी। स्वयं सर्वहारा वर्ग ने अपनी

पंचायतों को सत्ता का माध्यम बनाया। उस समय फौज तक मे ऐसी पंचायतें कायम हुई थी। सामन्ती-पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध गणगमाजों के संस्कारोंवाले इन जन-संगठनों ने विजय प्राप्त की। सोवियत इन्ही जन-संगठनों का नाम है।

राज्यसत्ता वर्ग-उत्पीडन का साधन है और राजनीति अर्थनीति का प्रतिविम्ब है, फिर भी अर्थतन्त्र और राजतन्त्र के बीच यान्त्रिक सम्बन्ध नही है। १८६० में एंगेल्स ने एक पत्र मे लिखा था कि कुल मिलाकर आर्थिक गति की प्रधानता होती है किन्तु उस पर राजनीतिक गति की प्रतिक्रिया भी होती है। आर्थिक गति ने ही इस राजनीतिक गति को कायम किया था और उसे सापेक्ष स्वाधीनता प्रदान की थी। एक ओर राज्यसत्ता की गति थी, दूसरी ओर उसके साथ ही उत्पन्न होनेवाले विरोध की गति थी। एंगेल्स ने आगे बताया कि आर्थिक विकास पर राज्यसत्ता की प्रतिक्रिया तीन तरह की हो सकती है। यह प्रतिक्रिया उसी दिशा मे हो सकती है जिसमें आर्थिक विकास हो रहा है; तब विकास ज्यादा तेजी मे होगा। वह प्रतिक्रिया विकास की दिशा के विरोध मे हो सकती है; तब आजकल हर वडी जाति मे वह छिन्न-भिन्न हो जायेगी। तीसरी तरह की प्रतिक्रिया यह हो सकती है कि किसी निश्चित लीक पर आर्थिक विकास को रोके और उसके लिए नयी राहे निर्धारित करे। यह स्पष्ट है कि दूसरी-तीसरी तरह की प्रतिक्रिया हुई तो राजनीतिक शक्ति आर्थिक विकास की भारी क्षति कर सकती सकती है और इसमे शक्ति और साधनों की भारी वरवादी होगी। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ. ४६१-६२) । जीवन के अन्तिम वर्षों मे भी एगेल्स राज्यसत्ता के वारे मे सोच रहे थे और उस सन्दर्भ मे भौतिकवादी मान्यताओं को परिष्कृत और पुष्ट कर रहे थे। समाज मे दो तरह की गति है, एक आर्थिक गति है, दूसरी राजनीतिक गति है। यह राजनीतिक गति यथासम्भव स्वतन्त्र होने की कोशिश करती है, एक बार कायम हो जाने पर उसे अपनी अलग गति प्राप्त हो जाती है। आर्थिक गति प्रधान है, वही राजनीतिक गति को कायम करती है। एक वार कायम हो जाने के वाद यह राजनीतिक गति सापेक्ष रूप से स्वतन्त्र हो जाती है। इस राजनीतिक गति मे राज्यसत्ता शामिल है और उसका विरोध भी शामिल है। राज्यसत्ता आर्थिक विकास मे सहायक हो सकती है और उस विकास मे भारी वाधा भी डाल सकती है। राजनीति और अर्थनीति का ऐसा ही द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। राज्यसत्ता आर्थिक सम्बन्धो का यान्त्रिक परिणाम नही है, उसकी सापेक्ष स्वाधीनता है। जो देश साम्राज्यवादी दासता से मुक्त हुए हैं या साम्राज्यवादी दासता के विरुद्ध संघर्ष कर रहे है, उनके लिए एगेल्स का उक्त विवेचन शिक्षाप्रद है। वे राज्यसत्ता के प्रति लचीले दांवपेंच अपना सकते है और इस प्रकार साम्राज्यविरोधी आन्दोलन को शक्तिशाली बना सकते हैं। राज्यसत्ता के वारे मे मार्क्स और एगेल्स की विकासमान विचारधारा ऐतिहासिक भौतिकवाद की विकासशीलता का श्रेष्ठ निदर्शन है।

(ङ) जातियों का अभ्युदय

वर्ग, जाति (नैशनैलिटी) और राज्यसत्ता, इन तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसे

वर्ग स्पष्ट रूप में पूंजीवादी समाज में सामने आते हैं, वैसे ही राज्यसत्ता अपने आकार-प्रकार में पूर्ण विकसित होकर पूंजीवादी समाज में दिखायी देती है। इसके साथ एक तीसरी चीज़ है जाति। पूंजीवाद के अभ्युदय के साथ जातियों का निर्माण होता है, यह मार्क्सवाद की स्वीकृत धारणा है। किन्तु इससे पहले सामन्ती-व्यवस्था में जातियां होती हैं और वे पूंजीवादी व्यवस्था की जातियों से वैसे ही भिन्न होती हैं जैसे वर्ग से वर्ण भिन्न होता है। गणसमाजों के टूटने पर जो नया सामाजिक गठन सामने आता है, वह जाति है। पूंजीवादी युग की जातियों से अलग करने के लिए इसे हम लघु जाति कह सकते हैं। यह लघु जाति आसानी से पहचान में इसलिए नहीं आती कि सामन्ती-व्यवस्था में राज्यसत्ता लघुजाति की सीमाओं का ध्यान नही रखती। 'जातीय क्षेत्र का ध्यान रखते हुए राज्यसत्ता का निर्माण पूंजीवाद की विशेषता है यद्यपि पूंजीवादी राज्य में केवल एक जाति के लोग रहते हों, यह अनिवार्य नही है। अक्सर उसमें दूसरी जातियों के क्षेत्र भी शामिल होते है। कोई बड़ी जाति कमजोर जातियों को दबा लेती है, इसलिए ऊपर से देखने में लगता है कि पूंजीवादी राज्य किसी एक जाति का राज्य है। फ्रांस, इंगलैण्ड, जर्मनी जातीय राज्यों के नमूने माने जाते हैं किन्तु वे बहुजातीय क्षेत्र थे और अब भी हैं। पूंजीवादी विकास के पहले स्थिति क्या थी? जिस सामन्त से जितनी जमीन हथियाते बनी, वह उसे दबाकर बैठ गया। विनिमय सीमित था, भूमि ही उत्पादन का मुख्य साधन थी। ऐसी हालत मे कोई सामन्त अपनी लघु जाति की सीमाओं के अनुसार अपना राज्य कायम करे तो घाटे में रहेगा, बड़े सामन्तो के मुकाबले कमजोर साबित होगा। व्यापार के प्रसार के साथ, विनिमय में प्रगति होने के साथ, बड़े पैमाने पर बाजार के निर्माण की ज़रूरत पैदा होती है। यह बाजार जिन क्षेत्रो मे कायम होता है, वे कबीलों के क्षेत्र नही होते क्योंकि कबीले पहले ही टूट चुके हैं, वे उन लघुजातियों के क्षेत्र होते हैं जो कबीलों के टूटने से बनी थी। कबीलों के टूटने की प्रक्रिया एक-सी नही होती। कोई कबीला अनेक वर्णों मे विभाजित हो जाय, यह एक प्रक्रिया है; अनेक कबीले मिलकर, एक संघ बनायें और यह संघ उनका अलगाव दूर होने पर लघु जाति बन जाय, यह दूसरी प्रक्रिया है। इस दूसरी प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख एंगेल्स ने किया है।

ऐण्टीड्यूरिंग में एंगेल्स ने लिखा है कि पश्चिमी यूरुप में जर्मन अभियान की सफलता के बाद जब ऊँच-नीच के भेदभाववाली व्यवस्था का निर्माण हुआ, तब पश्चिमी और मध्य यूरुप में एक सुगठित सांस्कृतिक क्षेत्र भी उभरकर सामने आया और इस क्षेत्र के भीतर ऐसे राज्यों का निर्माण हुआ जो मुख्यतः जातीय राज्य थे, और वे एक-दूसरे को प्रभावित करते थे और एक-दूसरे पर नियन्त्रण भी बनाये रहते थे। (पृ. १२२)। यहां जिन जातीय राज्यों की बात एंगेल्स ने कही है, वे पूंजीवादी युग के राज्य नही है, वे लघु जातियोंवाले राज्य है जो सांस्कृतिक रूप से एक ही सम्बद्ध क्षेत्र में है किन्तु एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं और नियन्त्रित रखते हैं। राज्यसत्ता का उद्‌भववाली पुस्तक में एंगेल्स ने कबीलों के बाद लघु जातियों के निर्माण की प्रक्रिया और भी स्पष्ट रूप में बतायी है। अनेक कबीलो ने मिलकर अपने संघ बनाये, इस तरह गणसमाजो का एकीकरण हुआ। कई जगह

ये संघ अस्थायी साबित हुए, तात्कालिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाने के बाद वे भंग कर दिये गये। किन्तु कुछ क्षेत्रों में ऐसे कबीले एकता-बद्ध हुए जो मूलतः परस्पर सम्बन्धित थे किन्तु आगे चलकर अलग हो गये थे। इन्होंने स्थायी संघ बनाकर जातियों के निर्माण की ओर पहला कदम उठाया। (पृ. ९३)। होमर के काव्यों के बारे में एंगेल्स ने लिखा है कि यहाँ यूनानी कबीलों ने छोटे जनसमाजों (स्माल पीपुल्स) का रूप लिया जिनके भीतर गण और उनकी शाखाएँ अभी स्वतन्त्र थे। (पृ. १०३)। अमरीकी आदिवासियों के सिलसिले में जिसे एंगेल्स ने 'जाति' कहा था, उसे यहाँ 'जन' या 'जनसमाज' कहा है। उत्तर भारत में जिन्हें हम जनपद कहते हैं, वे ऐसे ही जनसमाजों के क्षेत्र रहे हैं। एथेन्स के सिलसिले में एंगेल्स ने आगे लिखा है कि पड़ोसी कबीलों के सीधे-सादे संघ का स्थान उस एक जनसमाज ने लिया जिसमें सभी कबीले आकर मिल गये थे। इस प्रकार एथेन्स में वह शास्त्र बना जो किसी गण या उसकी शाखा तक सीमित नहीं था, वह सभी एथेन्सवासियों पर लागू होता था। इसी समय एथेन्स का समाज अभिजातवर्ग, हलवाहों और कारीगरों के वर्गों में विभाजित हुआ था। भारतीय इतिहास के लिए और वर्तमान स्थिति को भी समझने के लिए सामन्ती व्यवस्था में लघुजातियों के निर्माण के बारे में एंगेल्स की स्थापना बहुत ही शिक्षाप्रद है। मार्क्स और एंगेल्स के बाद गणसमाजों के बारे में काफी कुछ लिखा गया, पूँजीवादी युग की जातियों के बारे में लिखा गया किन्तु सामन्ती-व्यवस्था की लघुजातियों के बारे में बहुत ही कम लिखा गया है। जिन सामाजिक गठनों के टूटने पर पूँजीवादी युग की जातियाँ बनती हैं, वे कबीले नहीं हैं, वे कबीलों से भिन्न सामन्ती युग के सामाजिक गठन हैं। यह बात न समझ पाने से लोग पूँजीवादी युग में जातियों के निर्माण की प्रक्रिया भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। पूँजीवाद सामन्ती अलगाव को दूर करता है, यह बात सही है किन्तु यह अलगाव दो तरह का है। एक अलगाव है सामन्तों के छोटे-बड़े इलाकों का जहाँ वे शासक बने हुए हैं। दूसरा अलगाव है जनपदों का, लघुजातियों के इलाकों का जिसमें वर्णव्यवस्थावाले समाज रहते हैं, जिनमें लोगों की प्रमुख भाषाएँ पहचान में आती हैं किन्तु बोलियों की संख्या अनगिनत है, क्योंकि हर बारह कोस पर बोली बदलती है। सीमित विनिमय, सीमित व्यापार का यही परिणाम हो सकता है।

(च) विनिमय की भूमिका

अर्थशास्त्र की आलोचना की भूमिका में मार्क्स ने लिखा था, अपने जीवन के सामाजिक उत्पादन में मनुष्य ऐसे निश्चित सम्बन्ध कायम करते हैं जो अनिवार्य होते हैं और उनकी इच्छा से स्वतन्त्र होते हैं; उत्पादन के ये सम्बन्ध उनकी भौतिक उत्पादक शक्तियों के विकास की किसी मंजिल के अनुरूप होते हैं। उत्पादन के इन सम्बन्धों के कुल जोड़ से समाज की वह आर्थिक संरचना बनती है जो वास्तविक आधार होती है, जिसके ऊपर कानूनी और राजनीतिक इमारत खड़ी होती है और जिसके अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित प्रकार होते हैं। (मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, **ऑन-हिस्टारिकल मैटीरियलिज्म**; पृ. १३७)। मार्क्स ने यहाँ केवल उत्पादन

की बात कही है, विनिमय की बात नही कही। सामाजिक विकास का अध्ययन करते समय अनेक विद्वान् उत्पादन को विकास की हर मंजिल में निर्णायक मानकर विनिमय की उपेक्षा करते हैं। औद्योगिक पूंजीवाद से पहले वह बाजार बनता है जिसमें माल की खपत के लिए औद्योगिक क्रान्ति जरूरी हो जाती है। यह कार्य विनिमय द्वारा सम्पन्न होता है।

ऐण्टीड्यूरिंग के दूसरे भाग के आरम्भ में ही अर्थशास्त्र की व्याख्या करते हुए एंगेल्स ने लिखा है, व्यापक अर्थ में यह उन नियमो का विज्ञान है जो मानव समाज मे जीवनयापन के भौतिक साधनों के उत्पादन और विनिमय पर लागू होते है। उत्पादन और विनिमय दो भिन्न कार्य हैं। विनिमय के बिना उत्पादन हो सकता है किन्तु उत्पादन के बिना विनिमय नहीं हो सकता क्योंकि विनिमय उत्पादित वस्तुओं का होता है। ये दोनों सामाजिक कार्य बाहरी प्रभावों के अधीन होते है। कौन से बाहरी प्रभाव इनमें किसी एक पर क्रियाशील होते हैं, यह उसकी विशेषता पर निर्भर है। इन दोनों सामाजिक कार्यों मे प्रत्येक उन बाह्य प्रभावों की क्रिया के अधीन है जो उसके लिए बहुत कुछ विशिष्ट होते हैं और इस कारण बहुत हद तक इनमे से प्रत्येक के अपने नियम होते हैं। किन्तु दूसरी ओर वे निरन्तर एक-दूसरे को प्रभावित और नियमित करते हैं और इस हद तक करते हैं कि हम उन्हें अर्थवक्र की कोटि और भुजा कह सकते हैं (the abscissa and ordinate of the economic curve)। (पृ. १६६)। यहाँ एंगेल्स ने उत्पादन और विनिमय का आपसी सम्बन्ध दिखाया है और उनकी सापेक्ष स्वतन्त्रता का उल्लेख किया है। जिस विनिमय की बात वह कर रहे हैं, वह प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं का नही है वरन् मनुष्य की बनायी हुई वस्तुओं का है। आदिम समाजों मे जहाँ लोग कन्द, मूल, फल आदि इकट्ठा करके बाँट लेते है या उनका विनिमय कर लेते हैं, वहाँ उत्पादन का प्रश्न नही है। पहले मनुष्य उत्पादन के योग्य होता है, उसके बाद वह उत्पादित वस्तुओ का विनिमय करता है।

ऐण्टीड्यूरिंग मे एगेल्स ने लिखा है, किसी निश्चित ऐतिहासिक समाज मे उत्पादन और विनिमय की पद्धति, और जिन ऐतिहासिक परिस्थितियो ने उस समाज को जन्म दिया है, वे परिस्थितियाँ उसकी उपज के वितरण की पद्धति निर्धारित करती है। (पृष्ठ १७०)। आगे वितरण के बारे मे लिखा है, वह उत्पादन और विनिमय का निष्क्रिय परिणाम मात्र नही है, उन दोनों पर वितरण की प्रतिक्रिया भी होती है। उत्पादन की हर नयी पद्धति को अथवा विनिमय के हर नये रूप को आगे बढ़ने से पुराने रूप ही नही रोकते, उनका अनुसरण करनेवाली राजनीतिक संस्थाएँ ही नही रोकती, वरन् वितरण की पुरानी पद्धति भी उनको आगे बढने से रोकती है। जिस तरह का वितरण उसके अनुरूप है, वह उसे लम्बे संघर्ष के बाद ही प्राप्त होता है। (उप., पृष्ठ १७१)। इस प्रकार वितरण की अपनी भूमिका सामाजिक विकास को प्रभावित करती है।

औद्योगिक क्रान्ति से पहले जिस बड़े बाजार का निर्माण हुआ, उसके बारे में ऐण्टीड्यूरिंग मे एंगेल्स ने लिखा, दूर-दूर के देशों का पता लगा, इसके बाद उपनिवेश कायम हुए, बाजारों की संख्या बढी और इस प्रकार दस्तकारी के कारखानों

ही माने में उत्पादन है, उसमे वस्तुओं का व्यापार जैसे ही स्वतन्त्र हो जाता है, से ही वह अपनी ही गति से चलता है। कुल मिलाकर व्यापार की गति उत्पादन ी गति से निर्धारित होती है, फिर भी कुछ खास बातों मे, और इस आम निर्भरता के दायरे के भीतर, व्यापार अपने ही उन नियमों का पालन करता है जो इस नयी चीज की प्रकृति में निहित होते हैं। इस गति के अपने दौर होते हैं, और उसकी प्रतिक्रिया उत्पादन की गति पर भी होती है। अमरीका का पता इसलिए लगाया गया कि लोग सोने के लिए बावले हो रहे थे। इसी के लिए पहले पुर्तगाली अफ्रीका गये थे। १४वीं और १५वीं सदियों का यूरोपियन उद्योग बेहद बढ गया था। इस उद्योग को और उसके अनुरूप व्यापार को विनिमय के जितने साधन दरकार थे, उन्हें जर्मनी जुटा न सकता था। १४५० से १५५० तक चांदी की प्राप्ति का मुख्य स्थान जर्मनी था। १५०० से १८०० के बीच डच, पुर्तगाली और अंग्रेज भारत को इसलिए जीतना चाहते थे कि **यहाँ से माल का आयात करें**; वहाँ अपने माल का निर्यात करें, यह किसी ने सपने में भी न सोचा था। फिर भी केवल व्यापारिक हितो के कारण नये देशो का पता लगाने और उन्हें जीतने का जो काम हुआ, उसकी कितनी भारी प्रतिक्रिया उद्योग-धन्धों पर हुई! इन देशों को माल का **निर्यात** किया जाय, इस जरूरत ने बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगधन्धो को जन्म दिया और उनका विकास किया।" (**सेलेक्टेड वर्क्स**, खण्ड ३, पृ. ४६०)।

श्रम-विभाजन का एक परिणाम यह होता है कि श्रम-प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से स्वतन्त्र हो जाती है। समाज के भीतर एक है उत्पादन की गति, दूसरी है व्यापार की गति। व्यापार की गति उत्पादन की गति पर निर्भर है; इस निर्भरता के दायरे मे वह अपने नियमों से संचालित होती है। विनिमय के साधनों की, अर्थात् सोने-चाँदी की जरूरत वढी; इस जरूरत को पूरा करने के लिए यूरुप के सौदागरो ने नये देशों का पता लगाया, उन्हें जीता। डच, पुर्तगाली, अंग्रेज, इनमे कोई भी अपना माल बेचने भारत न आया था; विशुद्ध व्यापारिक हितों से प्रेरित होकर वे यहाँ का माल खरीदने आये थे। इस सबकी भारी प्रतिक्रिया उनके देशों के उद्योग-धन्धों पर हुई। भारत से व्यापार करके, इस देश को जीतकर, उसकी सम्पदा लूट-कर अंग्रेज इस स्थिति मे हुए कि अपने यहाँ उत्पादन में क्रान्तिकारी तब्दीली करें। इस तब्दीली के पहले उनकी सारी कारंवाई व्यापार के दायरे में हुई। इस प्रकार व्यापार की गति ने उत्पादन की गति को प्रभावित किया।

२. पूंजीवादी विकास और किसान

(क) क्रान्ति और किसान

मार्क्स और एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में सर्वहारा से भिन्न निम्न मध्यवर्ग, छोटे उद्योगपतियों और दूकानदारो के साथ कारीगरो और किसानों के लिए कहा था कि ये सब अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पूंजीपतियो से लड़ते हैं। वे मध्यवर्ग के अंश हैं और उस रूप मे बने रहना चाहते हैं, "इसलिए वे क्रान्तिकारी नहीं है वरन् पुरानपन्थी हैं। यही नहीं, वे प्रतिक्रियावादी हैं क्योंकि वे इतिहास के रथ को पीछे

की ओर ठेलना चाहते हैं। यदि वे कहीं अकस्मात् क्रान्तिकारी हो जाते हैं तो ऐसा केवल इसलिए होता है कि सर्वहारा-वर्ग में उनका विलय होने ही वाला है और इस प्रकार अपने वर्तमान हितों की नहीं, वरन् भावी हितों की रक्षा करते हैं, वे अपना दृष्टिकोण त्यागकर सर्वहारा वर्ग का दृष्टिकोण अपना लेते है।" **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** मे मजदूरो से किसानो की तुलना करते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने यह भी लिखा था कि देहात मे रहने के कारण किसान विशेष रूप से मूर्ख होते है। मजदूर शहर मे रहने के कारण अधिक बुद्धिमान हो जाते है। यह प्रक्रिया उन्होंने इस तरह समझायी थी : पूंजीपतियो ने देहात को शहरों के अधीन कर दिया है। उन्होंने बडे-बडे नगरो का निर्माण किया है, देहाती आबादी की तुलना में शहरी आबादी को बहुत ज्यादा बढाया है, "और इस प्रकार आबादी के काफी हिस्से को देहाती जीवन के भोंदूपन से बचा लिया है।" एक तो सम्पत्ति के बारे मे पिछड़ा हुआ दृष्टिकोण, दूसरे देहाती होने के कारण जन्मजात मूर्खता, क्रान्ति से किसान को क्या सरोकार हो सकता है ? **फ्रांस के वर्ग संघर्ष** पुस्तक मे मार्क्स ने किसानो की सम्पत्तिवादी कट्टरता का जिक्र किया था। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ. २२८)। इसी पुस्तक मे उन्होंने लिखा था, किसान किसी भी तरह की क्रान्तिकारी पहल करने के सर्वथा अयोग्य है। (उप. २८६)। पूंजीवाद बड़े पैमाने के उत्पादन का चलन शहरों ही मे नही, देहात मे भी करता है। सम्पत्ति-प्रेमी किसान छोटे पैमाने की खेती-बाड़ी करते हैं। पूंजीवाद खेती मे बडे पैमाने का उत्पादन संगठित करता है और तब इन किसानो को अपनी छोटी मिल्कियत से हाथ धोना पड़ता है। मिल्कियत से हाथ धोकर ये छोटे मालिक तबाह होते हैं। इनके तबाह हुए बिना पूंजीवाद का विकास नही हो सकता और पूंजीवाद का विकास हुए बिना समाजवाद के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ तैयार नही हो सकती। इसलिए इनकी तबाही अनिवार्य है। १८५३ मे आयरलैण्ड और स्काटलैण्ड के सैकड़ों तबाह किसान देश छोड़कर अन्य देशों मे बसने जा रहे थे। मार्क्स ने इनके प्रसंग में लिखा था, "समाज मे चुपचाप एक क्रान्ति हो रही है। इसके आगे झुकना ही होगा। यह क्रान्ति मानव अस्तित्वो की ओर वैसे ही ध्यान नही देती जैसे भूकम्प उन मकानों की ओर ध्यान नही देता जिन्हे वह गिराता है।" (ऑन ब्रिटेन, पृ. ३७५)।

कम्युनिस्ट घोषणापत्र १८४८ में, **फ्रांस के वर्ग संघर्ष** १८५० मे, अनिवार्य तबाहीवाला यह लेख १८५३ में लिखा गया था। ब्रिटेन मे किसान जिस तरह तबाह हुए थे, उसे एक समय मार्क्स और एंगेल्स अनिवार्य मानते थे। १८५३ में उन्होंने जो भारत सम्बन्धी लेख लिखे थे, उनसे किसानों की इस अनिवार्य तबाही-वाले सिद्धान्त का बहुत गहरा सम्बन्ध है। ब्रिटिश पूंजीवाद जब अपने ही देश के लाखों किसानो को तबाह कर रहा है, तब उसे भारत के लाखो या करोड़ों किसानों को तबाह करने में संकोच क्यों होगा ? और यदि ब्रिटिश किसानों को तबाह करने-वाला पूंजीवाद प्रगतिशील था तो भारतीय किसानों को तबाह करनेवाला ब्रिटिश पूंजीवाद प्रगतिशील क्यो न होगा ?

मार्क्स ने मुख्यतः दो तरह की क्रान्तियों की बात कही है, एक पूंजीवादी क्रान्ति, दूसरी समाजवादी क्रान्ति। मान लीजिए, समाजवादी क्रान्ति के लिए

किसानों और निम्न जनों के दिमाग में ऐसे विचारों और योजनाओं की लहरें आयी जिनसे उनके वंशज बहुधा सिहर उठते है। दो साल की लडाई के बाद जो शिथिलता प्राय: हर तरफ दिखायी दे रही है, उसके जवाब में जर्मन जनता के सामने महान् किसान युद्ध के अनगढ किन्तु शक्तिशाली और जीवटवाले व्यक्तित्व पेश किये जायें, यह समय एक बार फिर आ गया है। तीन शताब्दियाँ बीत गयी, बहुत-सी बातें बदल गयी, फिर भी हमारे वर्तमान संघर्ष से यह किसान युद्ध बहुत दूर नही जा पड़ा, और जिन विरोधियो से लड़ना है, वे मूलतः वही हैं।" (एगेल्स **दि पेजेण्ट वार इन जर्मनी**, मास्को; १९७७, पृ. २७)। पुराने विरोधी अब भी बने हुए थे, कारण यह है कि जर्मन पूंजीपति सामन्तविरोधी क्रान्ति करने में सफल न हुए थे। सामन्तवाद से लड़नेवाली अब एक और शक्ति मजदूर वर्ग के रूप में सामने आ चुकी थी। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की तरह किसान अब पूंजीपतियो का साथ दें, यह ज़रूरी न रह गया था। अब किसान मज़दूरों के साथ मिलकर सामन्त-विरोधी क्रान्ति पूरी कर सकते थे। क्रान्ति के बाद सत्ता के एकमात्र मालिक पूंजी-पति होते हैं, यह अब अनिवार्य नही था। मज़दूर और किसान सत्ता मे हिस्सा बँटा सकते थे, क्रान्ति की मुख्य शक्ति होने के नाते वे सत्ता का मुख्य हिस्सा अपने हाथ में रख सकते थे, पूंजीपतियों को छोटे हिस्सेदार के रूप मे कुछ दिन बने रहने की अनुमति दे सकते थे। यह परिस्थिति १८५० के जर्मनी मे थी जिसमे सामन्ती अवशेष अभी मजबूत बने हुए थे। मुख्य रूप से मज़दूरवर्ग को लक्ष्य करके एगेल्स ने किसानों की क्रान्तिकारी परम्परा का विवरण लिखा था। मज़दूरवर्ग के पास आधुनिक अर्थशास्त्र और राजनीति का काफी बड़ा बौद्धिक कोश था। १६वी सदी के जर्मन किसान नेता मुएन्त्सर के पास यह सब नही था, इसके अलावा उनके चिन्तन पर धर्म का परदा पड़ा हुआ था। फिर भी समकालीन कम्युनिस्टों के चिन्तन से मुएन्त्सर के चिन्तन की तुलना करते हुए एगेल्स ने लिखा था, "उनका (मुएन्त्सर का) राजनीतिक कार्यक्रम कम्युनिज़्म के निकट था और फरवरी क्रान्ति (१८४८ की जर्मन क्रान्ति) की पूर्ववेला में भी अनेक वर्तमान कम्युनिस्ट पन्थों के पास वैसा भरा-पूरा सैद्धान्तिक मसाला नही था जैसा १६वी सदी मे मुएन्त्सर के पास था।" (उप., पृ. ५६)।

मार्क्स और एंगेल्स ने **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में लिखा था, कम्युनिस्ट सम्पूर्ण सत्तावादी बादशाही, सामन्तवादी नम्बरदारी और निम्न पूंजीपतिवर्ग के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर लडते है, जब भी यह वर्ग क्रान्तिकारी ढंग से काम करता है। यहाँ पूंजीवादी क्रान्ति की बात है, सामन्तवाद के खिलाफ पूंजीपतियों के साथ मजदूरों का सयुक्त मोर्चा बनाने की बात है। यदि सामन्तविरोधी मोर्चे मे पूंजीपति तो शामिल हो किन्तु किसान उससे बाहर रखे जाएँ तो यह बड़े आश्चर्य की बात होगी। मार्क्स और एगेल्स का ऐसा आशय नही था। उन्होने जिस निम्न पूंजीपतिवर्ग को सामन्तवाद के साथ जोडा है, वह शहरी निम्न पूंजीपतिवर्ग है। मूल जर्मन शब्द **क्लाइनबुर्गेराइ** का **बुर्ग** अश वही हैं जो **बुर्जुआ** मे है और उस वर्ग के शहरी होने की सूचना देता है। **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** के १९४९ वाले मास्को संस्करण के सम्पादकों ने स्पष्ट भी कर दिया है कि मार्क्स और एगेल्स ने उक्त

किसानों में उत्साह नहीं है, क्या पूँजीवादी क्रान्ति के लिए उनमें उत्साह हो सकता है ? यह प्रश्न करते ही पूँजीवादी क्रान्ति के दो रूप हमारे सामने आते हैं। पहला रूप वह है जिसमें किसानों की ज़मीन छीन ली जाती है; यह ज़मीन चाहे सामूहिक हो, चाहे व्यक्तिगत हो, छीननेवाला चाहे ज़मींदार हो चाहे शहर का पूँजीपति हो, मुख्य बात यह है कि किसान अपने उत्पादन के साधन खो देता है। पूँजीवादी क्रान्ति का यह रूप ब्रिटेन में देखने को मिला था, किन्तु इससे भिन्न रूप वह है जिसमें सामन्तों की ज़मीन पर किसान अधिकार कर लेते हैं, सामन्ती भूसम्पत्ति के बदले किसानों में पूँजीवादी ढंग की व्यक्तिगत सम्पत्ति का चलन होता है। ऐसी क्रान्ति से पूँजीपतियों का हित सिद्ध होता है और किसानों का भी। क्रान्ति का यह रूप फ्रांस में देखने को मिला। इससे नतीजा यह निकला कि पूँजीवादी क्रान्ति के प्रति किसान किस तरह का दृष्टिकोण अपनाते हैं, यह इस पर निर्भर है कि पूँजीवादी क्रान्ति से उन्हें तात्कालिक लाभ होता है या हानि। आगे चलकर भले ही पूँजीपति किसानों पर कर्ज का बोझ लाद दें और उनसे इतना टैक्स वसूल करें कि उनकी मिल्कियत नामचार को ही रह जाये, किन्तु बात तात्कालिक हितों की है। और यदि पूँजीवादी क्रान्ति से किसानों को सामन्त की ज़मीन का एक हिस्सा मिले तो वे अवश्य उस क्रान्ति का स्वागत करेंगे। भले ही किसान उतने बड़े क्रान्तिकारी न हों जितने बड़े क्रान्तिकारी पूँजीपति हैं किन्तु छोटे मालिक होने के नाते छोटे क्रान्तिकारी वे भी हैं। और यदि इस बात पर ध्यान दें कि फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति में पहल पूँजीपतियों ने नहीं, किसानों ने की थी, तो यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी कि ये छोटे मालिक क्रान्तिकारीपन में बड़े मालिकों से कम नहीं हैं। पहलकदमी में भी वे समाज के अन्य वर्गों से पीछे नहीं हैं। १८४२ में एंगेल्स ने 'केन्द्रीकरण और स्वाधीनता' नाम के निबन्ध में बताया था कि पीड़ित देहात के प्रतिनिधियों ने, न कि पेरिस नगर ने क्रान्ति का काम शुरू किया था; जब समस्याएँ सिद्धान्त का मामला बनीं और पूँजी के हित लपेट में आ गये, तभी पूँजीपतियों ने पहलकदमी की और घटनाक्रम पर वे हावी हुए। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड २, पृ. ३५८)। किसान क्रान्ति में भाग लेते हैं और पहल भी करते हैं। यह पहल उन्होंने फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति में ही नहीं की, उससे बहुत पहले जर्मनी में की, और उस समय की जब आधुनिक पूँजीवाद का जन्म न हुआ था। और यह पहलकदमी और उसके साथ उनकी दिलेरी ऐसी थी कि १९वीं सदी के जर्मन कम्युनिस्टों को भी वह प्रेरणा दे सकती थी।

१८५० में एंगेल्स ने जर्मनी का किसान युद्ध पुस्तक लिखी। इसमें इन्होंने १६वीं सदी के जर्मन किसानों के सामन्तविरोधी संग्राम का विवेचन किया। १८४८ की जर्मन क्रान्ति की असफलता के बाद एंगेल्स ने जर्मन जनता को उसकी क्रान्तिकारी विरासत की याद दिलाते हुए उस पुस्तक में लिखा था, "जर्मन जनता की भी अपनी क्रान्तिकारी परम्परा है। एक समय ऐसा था जब जर्मनी ने ऐसी हस्तियाँ पैदा की जो अन्य देशों की क्रान्तियों के सर्वश्रेष्ठ लोगों के मुकाबले की थीं। उस समय जर्मन जनता ने ऐसी लगन और जीवट का परिचय दिया कि जाति यदि केन्द्रबद्ध होती तो उसके बड़े भव्य परिणाम निकलते। तब जर्मन

किसानों और निम्न जनों के दिमाग में ऐसे विचारों और योजनाओं की लहरें आयी जिनसे उनके वंशज बहुधा सिहर उठते हैं। दो साल की लडाई के बाद जो शिथिलता प्रायः हर तरफ दिखायी दे रही है, उसके जवाब मे जर्मन जनता के सामने महान् किसान युद्ध के अनगढ किन्तु शक्तिशाली और जीवटवाले व्यक्तित्व पेश किये जायें, यह समय एक बार फिर आ गया है। तीन शताब्दियाँ बीत गयी, बहुत-सी बातें बदल गयी, फिर भी हमारे वर्तमान संघर्ष से वह किसान युद्ध बहुत दूर नहीं जा पड़ा, और जिन विरोधियो से लड़ना है, वे मूलतः वही हैं।" (एंगेल्स **दि पेजेण्ट वार इन जर्मनी**, मास्को; १९७७, पृ. २७)। पुराने विरोधी अब भी बने हुए थे, कारण यह है कि जर्मन पूंजीपति सामन्तविरोधी क्रान्ति करने मे सफल न हुए थे। सामन्तवाद से लड़नेवाली अब एक और शक्ति मज़दूर वर्ग के रूप मे सामने आ चुकी थी। फ्रासीसी राज्यक्रान्ति की तरह किसान अब पूंजीपतियों का साथ दें, यह जरूरी न रह गया था। अब किसान मज़दूरो के साथ मिलकर सामन्त-विरोधी क्रान्ति पूरी कर सकते थे। क्रान्ति के बाद सत्ता के एकमात्र मालिक पूंजीपति होते है, यह अब अनिवार्य नही था। मज़दूर और किसान सत्ता में हिस्सा बँटा सकते थे, क्रान्ति की मुख्य शक्ति होने के नाते वे सत्ता का मुख्य हिस्सा अपने हाथ मे रख सकते थे, पूंजीपतियों को छोटे हिस्सेदार के रूप मे कुछ दिन बने रहने की अनुमति दे सकते थे। यह परिस्थिति १८५० के जर्मनी मे थी जिसमे सामन्ती अवशेष अभी मज़बूत बने हुए थे। मुख्य रूप से मज़दूरवर्ग को लक्ष्य करके एंगेल्स ने किसानों की क्रान्तिकारी परम्परा का विवरण लिखा था। मज़दूरवर्ग के पास आधुनिक अर्थशास्त्र और राजनीति का काफी बड़ा बौद्धिक कोश था। १६वी सदी के जर्मन किसान नेता मुएन्त्सर के पास यह सब नही था, इसके अलावा उनके चिन्तन पर धर्म का परदा पड़ा हुआ था। फिर भी समकालीन कम्युनिस्टो के चिन्तन से मुएन्त्सर के चिन्तन की तुलना करते हुए एंगेल्स ने लिखा था, "उनका (मुएन्त्सर का) राजनीतिक कार्यक्रम कम्युनिज़्म के निकट था और फरवरी क्रान्ति (१८४८ की जर्मन क्रान्ति) की पूर्ववेला मे भी अनेक वर्तमान कम्युनिस्ट पन्थों के पास वैसा भरा-पूरा सैद्धान्तिक मसाला नही था जैसा १६वी सदी में मुएन्त्सर के पास था।" (उप., पृ. ५६)।

मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में लिखा था, कम्युनिस्ट सम्पूर्ण सत्तावादी बादशाही, सामन्तवादी नम्बरदारी और निम्न पूंजीपतिवर्ग के विरुद्ध पूंजीपति वर्ग के साथ मिलकर लड़ते है, जब भी यह वर्ग क्रान्तिकारी ढंग से काम करता है। यहाँ पूंजीवादी क्रान्ति की बात है, सामन्तवाद के खिलाफ पूंजीपतियों के साथ मजदूरों का संयुक्त मोर्चा बनाने की बात है। यदि सामन्तविरोधी मोर्चे में पूंजीपति तो शामिल हों किन्तु किसान उससे बाहर रखे जाएँ तो यह बड़े आश्चर्य की बात होगी। मार्क्स और एंगेल्स का ऐसा आशय नही था। उन्होंने जिस निम्न पूंजीपतिवर्ग को सामन्तवाद के साथ जोड़ा है, वह शहरी निम्न पूंजीपतिवर्ग है। मूल जर्मन शब्द **क्लाइनबुर्गेराइ** का **बुर्ग** अंश वही हैं जो **बुर्जुआ** मे है और उस वर्ग के शहरी होने की सूचना देता है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र के १९४९ वाले मास्को संस्करण के सम्पादकों ने स्पष्ट भी कर दिया है कि मार्क्स और एंगेल्स ने उक्त

शब्द का व्यवहार शहरी निम्न पूंजीपति वर्ग के प्रतिक्रियावादी तत्वों के लिए इस्तेमाल किया था। घोषणापत्र के आधार पर निष्कर्ष निकालने के अलावा अन्य प्रमाण भी हैं जिनसे विदित होगा कि मार्क्स और एंगेल्स सामन्तविरोधी मोर्चे ने किसानोंको शामिल करना चाहते थे। मार्च १८४८ मे उन्होने एक इश्तहार निकाला था जिसका शीर्षक था 'जर्मनी मे कम्युनिस्ट पार्टी की मांगें।' इसमे सामन्तविरोधी क्रान्ति की मांगें प्रस्तुत करने के बाद उन्होंने लिखा था, जर्मन सर्वहारा-वर्ग, निम्न पूंजीपति वर्ग और छोटे किसानों का हित इस बात मे है कि वे यथासम्भव शक्ति लगाकर इन मांगो का समर्थन करें। इन मांगों के पूरे होने पर ही जर्मनी की जनता उन अधिकारों को पा सकेगी जिनकी वह हकदार है, वह शक्ति पा सकेगी जिसे सारी सम्पदा की उत्पादक होने के नाते उसे प्राप्त करना चाहिए। मुट्ठीभर लोगों ने इस जनता का शोषण अब तक किया है और आगे भी उसे वे दबाए रखना चाहते हैं। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ७, पृ. ६-७)। कम्युनिस्ट घोषणापत्र के महीने-भर बाद यह इश्तहार छपा था। इससे विदित होगा कि पूंजीवादी क्रान्ति की सफलता के लिए मार्क्स और एंगेल्स छोटे किसानों का समर्थन अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उन्होंने पूंजीवादी क्रान्ति की जो मांगें जनता के सामने रखी थीं, वे वास्तव में कई जगह पूंजीपतिवर्ग के हितों से टकराती थीं। इन मांगों के पूरी होने पर ही यह सम्भव था कि शोषित जनता अपने शोषको के उत्पीड़न से मुक्ति पाए। पूंजीवादी क्रान्ति की मांगें यदि पूंजीपति वर्ग के हितों से टकराएं तो सामन्तविरोधी होते हुए भी वह क्रान्ति पूंजीवाद की सीमाओ का अतिक्रमण करेगी, पूंजीपतियों और किसानों के हितो मे वह पूंजीपतियो के हितो को अधिक महत्वपूर्ण न मानकर किसानो के हितो को अधिक महत्वपूर्ण मानेगी। दूसरे शब्दों में, वह उस क्रान्ति से भिन्न होगी जिसका नेतृत्व पूंजीपति करते है। वह एक नये ढंग की जनवादी क्रान्ति होगी जिसमे मजदूर अपने हितों की रक्षा की ओर विशेष ध्यान देंगे और अपने सहयोगी किसानों के हितों का भी विशेष ध्यान रखेंगे। जनवादी क्रान्ति से पूरा लाभ पूंजीपति उठाते है या किसान और मजदूर, यह इस पर निर्भर है कि इस क्रान्ति मे मजदूरों और किसानों की भूमिका किस तरह की है। ध्यान देने की बात यह है कि मार्च १८४८ मे मार्क्स और एंगेल्स जर्मन जनता के सामने ऐसी जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम रख रहे थे जो पुराने ढंग की पूंजीवादी क्रान्तियों से गुणात्मक रूप में भिन्न थी।

(ख) पूंजीवादी शोषण और किसान

उक्त इश्तहार से कुछ पहले जनवरी १८४८ मे एंगेल्स ने '१८४७ के आन्दोलन' शीर्षक लेख लिखा था। विभिन्न देशों के आन्दोलनों का जायजा लेते हुए उन्होंने स्विट्जरलैण्ड के बारे मे लिखा था, पूंजीपतिवर्ग ने अपने लिए केन्द्रबद्ध सत्ता प्राप्त कर ली है। किसानों ने उसकी सहायता की। "किसान पूंजीपति वर्ग का शोषित अंग रहेंगे, उसके लिए उसकी लड़ाइयां लड़ेंगे, उसके लिए नफीस कपड़े बुनेंगे और उसे जिस सर्वहारा-वर्ग की जरूरत है, उसके लिए रंगरूट जुटायेंगे। इसके अलावा वे और क्या कर सकते हैं? वे मालिक हैं जैसे कि पूंजीपति हैं और

थोड़ी देर के लिए उनके हित लगभग वही हैं जो पूंजीपतिवर्ग के हैं। जो भी राजनीतिक कदम वे अपने बल पर उठा सकते हैं, वे कदम किसानों के लिए उतने ही लाभदायी हैं जितने पूंजीपतियों के लिए। फिर भी पूंजीपतियों के मुकाबले वे कमजोर हैं क्योंकि पूंजीपतियों के पास अधिक सम्पदा है और उनके हाथ में इस शताब्दी का सभी राजनीतिक सत्ता का उपकरण उद्योग है। पूंजीपतियों का साथ देकर किसान बहुत कुछ पा सकते हैं; पूंजीपतियों का विरोध करके वे कुछ न पायेंगे।" (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ६, पृ. ५२५)। यहां एंगेल्स किसानों और पूंजीपतियों को एक ही वर्ग में रखकर देखते हैं। दोनों ही मालिक है, सम्पत्तिहीन मजदूर से भिन्न है, फर्क केवल छोटे-बड़े मालिकों का है। इसी धारणा के अनुरूप कम्युनिस्ट घोषणापत्र में किसानों के दृष्टिकोण को प्रतिक्रियावादी कहा गया था। उक्त लेख मे किसानो और पूंजीपतियों के अन्तर्विरोध की ओर भी संकेत है। राजनीतिक सत्ता का सबसे बड़ा उपकरण उद्योग-धन्धे पूंजीपतियों के हाथ मे हैं। इसलिए पूंजीवादी क्रान्ति मे पूंजीपतियों के पीछे चलकर वे सत्ता में हिस्सा बँटाने की आशा नही कर सकते। उनका हित इस बात में है कि वे मजदूर वर्ग के साथ रहकर पूंजीवादी क्रान्ति का कार्यक्रम पूरा करें जिससे कि दोनों मिलकर सत्ता में हिस्सा बँटा सकें। इसके सिवा पूंजीपति वर्ग बार-बार सामन्तवाद से समझौता करने की, उसके साथ मिलकर किसानों और मजदूरों का विरोध करने की प्रवृत्ति दिखाता था। अभी एंगेल्स यह मान रहे हैं कि पूंजीपतिवर्ग सामन्तविरोधी क्रान्ति पूरी कर लेता है। किन्तु १८४८ के क्रान्तिकारी उभार की विफलता ने दिखा दिया कि पूंजीपतिवर्ग हर जगह कमजोरी दिखलाता है और सामन्तवाद को निर्मूल करने के बदले उससे समझौता करता है। ऐसी हालत में जनवादी क्रान्ति की सफलता के लिए पूंजीपतियों की अपेक्षा किसानों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो, यह स्वाभाविक था।

पूंजीपति वर्ग और किसानो के अन्तर्विरोध के बारे मे एंगेल्स ने उक्त लेख में यह भी लिखा था, "यह सही है कि ऐसा समय आयेगा जब किसानों का मुफलिस और शोषित भाग सर्वहारा-वर्ग से एकता कायम करेगा और यह वर्ग तब तक और भी विकसित हो चुका होगा। किसानों का वह भाग पूंजीपतियों के खिलाफ युद्ध का ऐलान करेगा पर यहाँ अभी उससे हमे सरोकार नही।" (उप.)। जनवरी १८४८ मे एंगेल्स के सामने यह बिलकुल स्पष्ट था कि मजदूरों और पूंजीपतियों का अन्तर्विरोध आधुनिक समाज का एकमात्र बुनियादी अन्तर्विरोध नहीं है, उसके साथ किसानों और पूंजीपतियों का अन्तर्विरोध भी विद्यमान रहता है। किन्ही विशेष परिस्थितियों मे, पूंजीवादी, क्रान्ति के किसी खास दौर में यह दूसरा अन्तर्विरोध बहुत साफ नही दिखायी देता किन्तु वह विद्यमान होता है और वह आगे चलकर किसानों और मजदूरों की मैत्री को अनिवार्य बना देता है। इसलिए कम्युनिस्ट घोषणापत्र के आधार पर यह कहना सही न होगा कि मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार समाजवादी क्रान्ति के लिए किसानों और मजदूरों का संयुक्त मोर्चा न बन सकता था। पूंजीपति मजदूरो का शोषण प्रत्यक्ष रूप में, किसानों का शोषण अप्रत्यक्ष रूप मे करते है। इसीलिए एंगेल्स ने आगे चलकर मजदूरों और किसानों की जिस एकता के कायम होने की बात [illegible] है, उसका

लक्ष्य पूंजीपतिवर्ग का संयुक्त विरोध है। यदि यह साबित हो जाये कि पूंजीपति-वर्ग सामन्ती अवशेष खत्म नही करता, तो उससे यह भी साबित होगा कि सामन्त-विरोधी क्रान्ति को पूरा करने के लिए मजदूरो और किसानो का सहयोग जरूरी है, उसके बाद समाजवादी क्रान्ति की सफलता के लिए भी उनका सहयोग जरूरी है।

फ्रांस के वर्ग संघर्ष पुस्तक में मार्क्स ने १८५० मे लिखा था, फ्रास में पूंजीवादी तानाशाही को मान्यता मिली; कुछ समय के लिए सर्वहारा वर्ग को मंच से हटा दिया गया। इस समय निम्न पूंजीपतिवर्ग और किसानों को अधिकाधिक सर्वहारा-वर्ग के नजदीक आना पड़ा। कारण यह था कि उनकी स्थिति अधिकाधिक असहनीय होती गयी और पूंजीपतियों से उनका विरोध और भी तीव्र होता गया (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ. २२७)। फ्रांस में ऐसी परिस्थितियाँ १८४८-४६ में बन रही थी जिनसे किसानों का मजदूर वर्ग से एकता कायम करना आवश्यक हो रहा था। फ्रांस मे जब अनेक सम्पत्तिशाली वर्गो ने अपनी एकता स्थापित की, तब मार्क्स के अनुसार निम्न पूंजीपतियों और किसानो के जो हिस्से क्रान्तिकारी बन चुके थे, वे स्वभावतः क्रान्तिकारी हितो के महान् अलम्बरदार क्रान्तिकारी सर्वहारा-वर्ग से सहयोग करने को बाध्य हुए। (उप., पृ.२५३)। **फ्रांस के वर्ग संघर्ष** पुस्तक मे मार्क्स ने आगे बताया कि किसान पूंजीवादी सत्ता से किस तरह टकराते हैं। उन्होने लिखा, फ्रास का किसान जब शैतान की तस्वीर बनाता है, तब वह टैक्स-कलक्टर की-सी होती है। जब से फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ मोन्तलेम्बर्त ने टैक्स वसूली को खुदा बनाया, तब से किसान बेखुदा हो गया, नास्तिक हो गया और उसने समाजवाद से दोस्ती कर ली। व्यवस्था के धर्म ने उससे दगा की, जेसुइट पादरियो ने दगा की, नैपोलियन दगाकर चुका था। 'चचा के भतीजे' ने शराब पर टैक्स लगाया (यानी अगूर की खेती करनेवाले किसानों पर टैक्स लगाया; चचा था असली नैपोलियन और भतीजा था नैपोलियन नम्बर दो)। उस कुनबे का वह पहला आदमी नही था जिसे इस टैक्स ने ले डाला था। मोन्तलेम्बर्त ने कहा था कि इस टैक्स से क्रान्तिकारी तूफान आ जायेगा। जो असली और बड़ा नैपोलियन था, उसने सेंट हेलेना मे कहा था कि शराब पर टैक्स लगाने से उसके पतन में जितनी सहायता मिली, उतनी और किसी चीज से नही क्योंकि इससे दक्खिनी फ्रांस के किसान उसके खिलाफ हो गये थे। (उप., पृ. २७३)।

मार्क्स १८४८-४६ की घटनाओं का विवेचन कर रहे थे, इसी सिलसिले में उन्होंने १८१५ के आस-पास की घटनाओं का भी संक्षेप मे विवेचन कर दिया। नैपोलियन (चचा) का पतन इसलिए हुआ कि उसने अपनी नीति से दक्खिनी फ्रांस के किसानों को अपना विरोधी बना लिया। इसके बाद दूसरे नैपोलियन (भतीजे) ने यही गलती की और उस [illegible] । इस तरह एक ही परिवार के दो सदस्यो ने किसानो को विरोधी [illegible] गँवाई। मानी बात है कि [illegible] ऐसी हालत मे [illegible] किसानो को [illegible] । फ्रांस में क्रान्तिकारी [illegible] परिवर्तन हो [illegible]

उक्त पु[illegible] . के कर्त [illegible] के बारे [illegible]

कि ये लोग पूँजीपतियों के यहाँ अपनी जमीन रेहन रखे हुए है। इस पर वे सूद देते जाते है। जहाँ जायदाद रेहन रखे विना वे उधार लेते हैं, वहाँ भी सूद देते जाते है। लगान अलग देते है। इस प्रकार वे अपनी आजीविका का अश भी पूँजीपतियो को सौंप देते हैं। (यानी अतिरिक्त उपज तो देते ही हैं, जीविका के लिए जो उपज आवश्यक है, वह भी आंशिक रूप से दे डालते है।) इस प्रकार वे आयरलैण्ड के आसामी किसानों के दर्जे तक पहुँच गये हैं और तुर्रा यह कि अभी वे निजी सम्पत्ति के मालिक बने हुए हैं। (उप., पृ. २७६)। मार्क्स के लिए आयरलैण्ड के किसान मुफलिसी का निम्नतम मानदण्ड थे। जब उन्होंने लिखा कि फ्रांस के किसान आयरलैण्ड के आसामियों जैसे हो गये हैं, तब इसका अर्थ यह है उनकी हालत बहुत-ही खराब हो चुकी थी और पूँजीपतियो से उनका अन्तर्विरोध चरम सीमा पर पहुँच गया था।

पूँजीपति मज़दूरों का शोषण करते थे, पूँजीपति किसानों का शोषण करते थे। एक ही वर्ग द्वारा दोनो के शोषण की तुलना करते हुए मार्क्स ने आगे लिखा, यह देखा जा सकता है कि औद्योगिक सर्वहारा के शोषण से इनका शोषण केवल रूप में भिन्न है। शोषक एक ही है--पूंजी। अलग-थलग पूंजीपति अलग-थलग किसानों का शोषण सूदखोरी और रेहन के द्वारा करते है। पूंजीपतिवर्ग किसानो का शोषण राजकीय टैक्सों द्वारा करता है। किसानो को अपनी जमीन पर हक है, इस मन्त्र के द्वारा पूंजी उन्हें अपने साथ बांधे हुए थी, इसी के बहाने वह उन्हे औद्योगिक सर्वहारा से भिड़ाती थी। पूँजी का पतन होने पर ही किसान उठकर खडे हो सकते हैं; उनकी आर्थिक दुर्दशा, उनकी सामाजिक गिरावट का खात्मा पूँजीवाद-विरोधी सर्वहारा सरकार ही कर सकती है। (उप., पृ. २७७)। इसी क्रम में मार्क्स ने फिर शराबवाले टैक्स का जिक्र किया और बताया कि समाज का जो वर्ग सबसे स्थिर था, वह इस टैक्स को फिर से लागू करने के बाद क्रान्तिकारी बन रहा है। राज्यसत्ता के सारे उपकरण किसानों को दबाये रखने के लिए काम मे लाये जा रहे थे। दूर-दूर के गाँवों मे भी जासूसों का जाल बिछाया गया था। फ्रांस की राज्यसत्ता स्कूलो के अध्यापको से खासतौर से परेशान थी। मार्क्स ने इन अध्यापकों के लिए लिखा था, ये प्रतिभाशाली लोग किसान वर्ग के शिक्षक थे, उसके प्रतिनिधि और उसके हितों की व्याख्या करनेवाले लोग थे, वे शिक्षित वर्ग के सर्वहारा (the proletarians of the learned class) थे। वे पुलिस की निरंकुश सत्ता के शिकार हुए। एक गांव से दूसरे गांव तक उनका पीछा किया जाता था मानों वे शिकार के योग्य जानवर हों। (उप., पृ. २७८)। १८५० के इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वहारा क्रान्ति में किसानों और मजदूरों का एका कायम न हो तो मार्क्स के लिए यह बड़े आश्चर्य की बात होगी।

१८७० मे फ्रांस के मज़दूरों ने क्रान्ति की और ससार के इतिहास मे पहली बार उन्होंने पूंजीपतियो से सत्ता छीनी। वे कुछ ही समय तक सत्ता पर अपना अधिकार कायम रख सके, किन्तु इस थोड़े समय में ही यह स्पष्ट हो गया कि समाजवादी क्रान्ति के दौरान किसानों और मजदूरों के सम्बन्ध किस तरह के हो सकते है। मार्क्स ने १८७० मे ही फ्रांस में गृहयुद्ध नामकी विख्यात पुस्तक लिखी।

इसमें उन्होने लिखा, कम्यून (सर्वहारा सत्ता) ने किसानों से बिलकुल ठीक कहा था कि उनके लिए एकमात्र आशा कम्यून की विजय है। सत्ता से हटाये हुए पूँजीपतियों ने झूठा प्रचार किया कि फ्रांसीसी किसानों के प्रतिनिधि अभिजात दल के लोग (the Rurals) हैं और यूरोप के कलमनवीसों ने इस झूठ का खूब प्रचार किया। जरा सोचिए, १८१५ के बाद फ्रांसीसी किसानों ने जिन्हें हरजाने के रूप मे लाखों रुपये दिये थे, उन्हें वे कितना प्यार करते होंगे। उनकी निगाह में किसी वडे भूस्वामी का अस्तित्व ही यह बताने के लिए काफी था कि १७८९ की क्रान्ति से उन्होने जो कुछ पाया था, वह उनसे छीना जा रहा है। (फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति मे सामन्तो की जमीन किसानो में बाँटी गयी थी किन्तु इससे सामन्तवाद पूरी तरह खत्म न हुआ था। इसके सिवा हर तिकड़म से छोटे किसानों की जमीन हथियाकर नये ढंग के बड़े-बड़े जमींदार पैदा हो गये थे।) १८४८ में पूँजीपतिवर्ग ने क्रान्ति के नाम पर किसानों पर अतिरिक्त टैक्स लगाया था, अब उसने क्रान्ति के खिलाफ युद्ध उकसाया था। जर्मनों को जो हरजाना देना था, वह सब उसने किसानो से वसूल करने का विचार किया। इस सबके विपरीत कम्यून ने अपनी प्रारम्भिक घोषणाओ में ही कहा कि जिन्होने दरअसल लड़ाई छेड़ी है, उन्हीं को हरजाना देना होगा। कम्यून किसानों को इस रक्तदान वाले टैक्स से मुक्त कर देता, उन्हें कम खर्चवाली सरकार देता, न्याय विभाग के जो तमाम लोग उनका खून चूसते थे, उन्हे वह उनका वेतनभोगी चाकर बना देता, उन्हे पुलिस के अत्याचार से छुड़ाता, स्कूल के अध्यापक उन्हें ज्ञान का प्रकाश देते, पादरी उनमे जो जड़ता फैला रहे थे, वह खत्म होती। फ्रांसीसी किसान बड़े हिसाबी होते हैं। यह बात उन्हें वाजिब मालूम होती कि पादरी की तनखाह टैक्स के रूप मे उनमे वसूल न की जाये, जिसमे जैसी धार्मिक भावना हो, उसके अनुसार स्वेच्छा से पैसा दे। इस तरह की नियामतें कम्यून का शासन और केवल कम्यून का शासन फ्रांसीसी किसानों को तुरत दे सकता था। इसलिए उन अन्य पेचीदा किन्तु महत्वपूर्ण समस्याओं पर विस्तार से लिखना अनावश्यक है जिन्हें किसानों के हित में कम्यून ही हल कर सकता था और जिन्हें हल करने को वह बाध्य हुआ। (उप., पृ. २२९)। उस समय देहात में अभिजातवर्गीय दल का प्रभाव बना हुआ था। मार्क्स ने लिखा, ये लोग जानते थे कि तीन महीने तक देहात से क्रान्तिकारी पैरिस का खुला सम्पर्क बना रहे तो किसानों मे आम विद्रोह फैल जायेगा, इसलिए वे इस बात के लिए बहुत ही उत्सुक थे कि पैरिस की नाकेबन्दी कर ली जाये जिससे कि यह छूत देहात में न फैले। (उप.)। इस कथन से स्पष्ट है कि यदि सचेत रूप से क्रान्ति की तैयारी की गयी होती तो उसका परिणाम दूसरा होता। मजदूर सत्ता पर अधिकार ही न करते, किसानों की सहायता से उसे टिकाऊ भी बना लेते। यह ध्यान देने की बात है कि मार्क्स इस पक्ष मे नहीं थे कि १८७० मे क्रान्ति शुरू कर दी जाये; क्रान्ति शुरू होने पर जो सर्वहारा सत्ता कायम हुई, उसमे मार्क्स के अनुयायी अल्पसंख्यक थे; फिर भी क्रान्ति के शुरू हो जाने के बाद मार्क्स ने पूरी तरह उसका समर्थन किया और उसका विवेचन इस दृष्टि मे किया कि भविष्य मे जो क्रान्ति हो, वह किसानों के समर्थन से सफल हो।

(ग) सर्वहारा वर्ग के सहयोगी

जिस साल फ्रांस में मजदूरों ने अपनी सरकार बनायी और वहाँ के घटनाक्रम पर मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लिखी, उसी साल एंगेल्स ने अपनी किसान युद्ध पुस्तक के दूसरे संस्करण के लिए नयी भूमिका लिखी। इसमें उन्होंने समकालीन जर्मनी की समस्याओं पर विचार किया। फ्रांस में सामन्तविरोधी राज्यक्रान्ति १८वीं सदी में हो चुकी थी और इसके बारे में आम धारणा यह थी कि उसने सामन्तवाद का सफाया कर दिया है। जर्मनी में ऐसी क्रान्ति न हुई थी और वहाँ सामन्ती अवशेष खासतौर से मजबूत थे। फ्रांस में गृहयुद्ध और जर्मनी के किसान युद्ध की इस भूमिका को मिलाकर पढ़ें तो एक बात साफ दिखायी देगी कि दोनों देशों की समस्याएँ लगभग एक-सी थीं। किसानों की सहायता के बिना न तो फ्रांस में सर्वहारा क्रान्ति सफल हुई और न भविष्य में वह जर्मनी में सफल हो सकती थी। एंगेल्स ने इस भूमिका में जर्मन पूंजीपतिवर्ग की कमजोरियों का वर्णन विस्तार से किया। उन्होंने दिखाया कि यह वर्ग जितना जर्मन मजदूरों से डरता है, उससे ज्यादा फ्रांसीसी मजदूरों से डरता है। जर्मन मजदूर अपने फ्रांस के साथियों का अनुसरण करेंगे, यह भय उसे सता रहा था। परिस्थिति से निपटने के लिए पूंजीपतिवर्ग साथी और सहयोगी ढूंढ़ रहा था। ये साथी और सहयोगी उसे उन वर्गों में मिले जिन्हें हटाकर सत्ता पर अधिकार करना इस वर्ग का ऐतिहासिक कर्तव्य था। एंगेल्स ने बताया कि ये सब सहयोगी नैसर्गिक रूप से प्रतिक्रियावादी हैं अर्थात् पूंजीपतिवर्ग तो अपनी क्रान्तिकारी भूमिका छोड़कर प्रतिक्रियावादी बन जाता है, राजा, रईस, सामन्त तो सहज प्रतिक्रियावादी हैं। इनसे पूंजीपतिवर्ग सहयोग कर रहा था। जितना ही वह सहयोग करता था, उतना ही स्पष्ट होता जाता था कि जनवादी क्रान्ति के बचे हुए कार्य, पूंजीवादी विकास की राह से सामन्ती अवशेषों को हटाने के कार्य, मजदूर वर्ग ही पूरे कर सकता है। मजदूर वर्ग आगे चलकर जो समाजवादी व्यवस्था बनायेगा, उससे किसानों को दिलचस्पी हो चाहे न हो, सामन्ती अवशेषों को खत्म करने से तो उन्हें तात्कालिक दिलचस्पी होनी ही थी। इसलिए किसान मजदूर वर्ग के सहज सहयोगी और साथी थे।

एंगेल्स ने बताया कि एक ओर बादशाही है जिसके साथ फौज और नौकरशाही का सारा तामझाम है। इसके बाद अभिजात-वर्ग के बड़े सामन्त हैं, फिर जमींदार और पुरोहित हैं। पूंजीपतिवर्ग इन सबके साथ सांठ-गांठ कर रहा था। एंगेल्स को लगा कि १८७० के ये बड़े जर्मन पूंजीपति ठीक वैसे ही व्यवहार कर रहे हैं जैसे १५२५ के मँझोले शहरी पूंजीपति कर रहे थे। इसका यह अर्थ भी हुआ कि पूंजीपतिवर्ग १५२५ में ही अपनी कमजोरियाँ दिखा रहा था; यह उसके उत्थान का समय था और उसे बहादुरी से आगे बढ़ना चाहिए था पर वह सामन्तों से सांठ-गांठ कर रहा था। और साढ़े तीन सौ साल बाद भी वह अपनी इस आदत से बाज न आया था। एंगेल्स को इस बात का अभिमान था कि यूरोप में केवल जर्मन मजदूर अपने प्रतिनिधि पार्लियामेण्ट में भेज सके हैं और यह काम फ्रांस और इंगलैण्ड के मजदूर नहीं कर सके। लेकिन एंगेल्स को इस बात का अफसोस था कि

१५२५ वाली बातें सर्वहारा-वर्ग के साथ भी जुड़ी हुई थीं। इसका कारण बहुत साफ था। समूची जर्मन जाति में सर्वहारा-वर्ग एक अल्पसंख्यक वर्ग था। और होता क्यों नहीं, जब औद्योगिक विकास की राह में सामन्ती अवशेष अभी जमे हुए थे? एंगेल्स ने लिखा कि जो वर्ग जिन्दगी भर पगार के बल पर जीता हो, वह जर्मन जनता का बहुसंख्यक भाग नहीं बना। इसलिए उसे भी बाध्य होकर सहयोगी ढूँढ़ने पड़ते हैं। ये सहयोगी शहरों के निम्न पूँजीपतिवर्ग और लफंगा-सर्वहारा-वर्ग में तथा देहात के मजदूरों और छोटे किसानों में मिल सकते हैं। इनमें एक-एक का विश्लेषण करते हुए एंगेल्स ने बताया कि निम्न-पूँजीपति वर्ग भरोसे लायक नहीं होता। जीत जाएँ तो आसमान सिर पर उठा लेंगे, (हार गये तो दिखायी न देंगे)। फिर भी इनमें अच्छे लोग हैं जो स्वेच्छा से मजदूरों का साथ देते हैं। इसके बाद शहरों के खानाबदोश लुच्चे-लफंगे हैं। इस समुदाय में विभिन्न वर्गों के लोग आकर मिल जाते हैं। यह समुदाय निहायत बेशरम और सहयोग के विचार से घटिया है। मजदूरों का जो नेता भी इन बदमाशों का भरोसा करेगा, वह साबित कर देगा कि वह मजदूर आन्दोलन से गद्दारी कर रहा है। बड़े किसान पूँजीपतिवर्ग का हिस्सा हैं। छोटे किसान कई तरह के हैं। इनमें सामन्ती किसान हैं जिन्हें अपने कृपालु स्वामी की सेवा पुरानी रीति के अनुसार अब भी करनी पड़ती है। अपना खेत जोतते हैं और फिर स्वामी के खेत जोतते-बोते हैं। (यूरोप में इस प्रथा को कोर्वे कहते थे)। ये लोग बँधुआ मजदूरों की श्रेणी में थे। एंगेल्स ने लिखा, बँधुआ प्रथा (सर्फ़डम) से इन लोगों को छुड़ाने का अपना कर्तव्य पूँजीपतिवर्ग ने पूरा नहीं किया, इसलिए इन्हें यह समझाना मुश्किल नहीं है कि उनका उद्धार केवल मजदूर वर्ग कर सकता है। (द पेज़ेण्ट वार इन जर्मनी, पृ. १४)। इनके अलावा आसामी किसान हैं। जैसे मार्क्स ने फ्रांस के किसानों की तुलना आयरलैण्ड के किसानों से की थी, वैसे ही एंगेल्स ने इन जर्मन किसानों के लिए लिखा कि इनकी परिस्थिति अधिकतर वैसी ही है जैसी आइरिश किसानों की है। लगान इतना बढ़ा हुआ है कि औसत दर्जे की फसल होने पर किसान और उसका परिवार खाने-भर को अन्न नहीं जुटा पाते। फसल खराब होती है तो भुखमरी की-सी हालत हो जाती है। लगान वह दे नहीं पाता और उसका जीवन जमींदार की मुट्ठी में होता है। पूँजीपतियों को कोई बाध्य कर दे तो भले कुछ करें, वरना वे इन किसानों के लिए कुछ नहीं करते। यदि ये अपने उद्धार की आशा मजदूरों से न करेंगे तो फिर किससे करेंगे?

इनके बाद आते हैं वे छोटे किसान जो अपनी थोड़ी-सी जमीन के मालिक हैं और उसमें खेती करते हैं। इनमें ज्यादातर लोगों की जमीन रेहन रखी हुई है। आसामी किसान जितना जमींदारों पर निर्भर हैं, उतना ही ये किसान सूदखोरों पर निर्भर हैं। खाने-खरचने के लिए बहुत थोड़ी कमाई कर पाते हैं। फसल कभी अच्छी हुई, कभी खराब हुई, इसलिए यह कमाई भी अनिश्चित रहती है। ये लोग पूँजीपतियों से कुछ भी पाने की आशा नहीं कर सकते क्योंकि सूदखोर महाजन पूँजीपति ही तो हैं जो इनका खून चूस लेते हैं। फिर भी अधिकांश ऐसे किसान अपनी सम्पत्ति से चिपके हुए हैं यद्यपि हकीकत में वह उनकी नहीं रह गयी, वह

महाजन की है। इन्हें समझाना होगा कि उन्हें महाजन के चंगुल से वही सरकार छुड़ा सकती है जो जनता पर निर्भर हो, जो रेहनवाले कर्ज को ऐसा ऋण बना दे जो राज्यसत्ता को दिया जायेगा और इस प्रकार सूद की दर घटा दी जायेगी। यह सारा काम सिर्फ मजदूर वर्ग कर सकता है।

एंगेल्स ने कर्ज को लेकर जर्मन किसानों की जिस स्थिति का वर्णन किया है, वह ठीक वैसी ही है जैसी मार्क्स के वर्णन में फ्रांसीसी किसानों की है। ये सब किसान कर्ज के बोझ से दबे हुए हैं। इनकी मुक्ति के लिए जो पहला कदम उठाया जायेगा, वह सूद की दर कम करना और महाजन की जगह राज्यसत्ता को कर्ज लेने का हकदार बनाना है। यह आखिरी कदम नहीं है। एंगेल्स ने जिस सरकार की कल्पना की है, वह 'जनता' पर निर्भर है, सर्वहारा सत्ता नहीं है। जनता पर निर्भर सरकार ऐसी जनवादी सरकार है जिसमें मजदूर वर्ग भागीदार है। और यह मजदूर वर्ग सारे देश को देखते अल्पसंख्यक है। किसानों की मुक्ति के लिए यह सरकार और कौन-से कदम उठाती है, यह क्रान्ति के दौरान स्वयं किसानों की भूमिका पर निर्भर होगा।

छोटे किसानों के बाद एंगेल्स ने खेत-मजदूरों की स्थिति पर विचार किया है। उन्होंने लिखा कि जहाँ भी बड़े और मँझोले फार्म हैं, वहाँ इन खेत-मजदूरों की बहुत बड़ी संख्या भी है। औद्योगिक मजदूरों के ये सबसे बड़े और सबसे सहज साथी हैं। जिस तरह औद्योगिक मजदूर का सामना पूँजीपति से होता है, उसी तरह खेत-मजदूर का सामना जमींदार से या बड़े आसामी से होता है। (बड़ा आसामी वह है जो जमींदार से भाड़े पर जमीन लेकर पूँजीवादी ढंग से खेती कराता है)। जो उपाय औद्योगिक मजदूर काम में लाते हैं, वही खेत-मजदूरों के लिए उपयोगी होंगे। औद्योगिक मजदूर स्वयं तभी मुक्त हो सकते हैं जब वे मशीनों, औजारों, कच्चे माल अर्थात् सरमायादार की पूँजी को अपनी सामान्य सम्पत्ति बना लें। इसी तरह खेत-मजदूर अपनी भयानक मुसीबतों से तभी छुट्टी पा सकते हैं जब बड़े किसानों और उनमें भी बड़े सामन्तों की निजी मिल्कियत-वाली जमीन उनसे छीनकर सार्वजनिक सम्पत्ति बना ली जाये और खेत-मजदूर अपने संघ बनाकर सहयोग से उस पर खेती करें।

एंगेल्स ने यहाँ १८६९ में होनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सभा का उल्लेख किया। बासल नगर में इस सभा ने यह फैसला किया कि भू-सम्पत्ति को बदलकर सामान्य राष्ट्रीय सम्पत्ति बनाया जाये। एंगेल्स ने बताया कि यह प्रस्ताव मुख्यत: उन देशों के लिए था जहाँ बड़ी भू-सम्पत्ति थी। ऐसी सम्पत्ति का मालिक एक होता था और उस पर बहुत-से खेत-मजदूर काम करते थे। एंगेल्स ने कहा कि यह स्थिति बड़े पैमाने पर जर्मनी में अभी है, इसलिए इंग्लैण्ड के बाद यह फैसला सबसे ज्यादा जर्मनी के लिए उपयुक्त था। एंगेल्स के इस कथन से पता यह चला कि इंग्लैण्ड में पूँजीवादी फार्म अन्य देशों की अपेक्षा अधिक थे। उसके बाद जर्मनी का नम्बर था। एक ओर बड़े पूँजीवादी फार्म, दूसरी ओर सामन्ती रियासतें, सामन्तों के आसामी किसान और इनके साथ कर्ज के बोझ से दबे हुए छोटी मिल्कियतवाले किसान, पूँजीवाद कितने विषम रूप में विकसित होता है, खास-

तौर से खेती में उसका प्रसार कितना ऊँचा-नीचा होता है और उसके साथ छोटी पूंजी और सामन्ती कृषितन्त्र कैसे बने रहते हैं, इस कारण किसान-समस्या कितनी पेचीदा होती है, इसकी जानकारी एंगेल्स के इस विवेचन से होती है। उन्होंने आगे खेत-मज़दूरों के लिए कहा, यही वह वर्ग है जिससे राजकुमारों की फौज के लिए अधिकांश सैनिक प्राप्त होते है। बालिग मताधिकार के कारण यही वर्ग पार्लियामेण्ट मे बीसियों सामन्तों और ज़मीदारों को भेजता है, किन्तु यही वर्ग शहरी औद्योगिक मज़दूरों के सबसे नजदीक है, उसके जीवन की परिस्थितियाँ शहरी मज़दूरों की परिस्थितियो जैसी हैं, शहरी मज़दूरों से और भी ज्यादा यह वर्ग मुसीबत में फँसा हुआ है। यह वर्ग बिखरा हुआ है, इसलिए शक्तिहीन है। इसे जगाना और आन्दोलन मे खींच लाना जर्मन मज़दूर-आन्दोलन का सबसे ज़रूरी और तात्कालिक कर्तव्य है। उसके अन्दर कितनी शक्ति छिपी हुई है, इसे सरकार और अभिजात-वर्ग इतनी अच्छी तरह जानते है कि उसे अशिक्षित बनाये रखने के लिए वे जान-बूझकर स्कूलों को गिरकर बर्बाद हो जाने देते हैं। जिस दिन ये खेत-मज़दूर समझ लेंगे कि उनके हित क्या है, उस दिन जर्मनी मे ऐसी सरकार असम्भव हो जायेगी जो प्रतिक्रियावादी या सामन्ती हो, नौकरशाहों की या पूंजीपतियों की सरकार हो।

चार साल बाद एंगेल्स ने अपनी भूमिका का दूसरा अंश लिखा। इसमे विभिन्न वर्गों की स्थिति के बारे मे उन्होंने कुछ दिलचस्प बातें कहीं। जर्मनी में ज़मीदारों की प्रधानता बनी हुई थी। ज़मीदारो से पूंजीपतियों की टक्कर थी। औद्योगिक विकास हुआ तो पूंजीपतियों के हित सर्वहारा हितों से टकराये। पूंजीपति और ज़मीदार की टक्कर पीछे छूट गयी, आगे आ गयी मज़दूर और पूंजीपति की टक्कर। १८४० के बाद से बादशाही लड़खड़ा रही थी। जब अभिजात-वर्ग और पूंजीपति आपस में लड़ते थे, तब बादशाही इनमें सन्तुलन बनाये रहती थी। पूंजीपतियों का धावा हो रहा है, अपनी रक्षा करना है, अभिजात-वर्ग के लिए जब यह स्थिति न रही, तब दूसरी स्थिति यह पैदा हुई कि मज़दूर वर्ग धावा बोल रहा है और सभी सम्पत्तिशाली वर्गों को आत्मरक्षा में जुट जाना चाहिए। इस स्थिति में बादशाही जीर्ण-शीर्ण होने पर भी ऐसी राज्यसत्ता बन गयी जो सम्पत्तिशाली वर्गों के हितों की रक्षा करे। जर्मन मज़दूर सैद्धान्तिक ज्ञान में सबसे आगे हैं। जर्मनी के शिक्षित वर्ग मे ऐसे ज्ञान का अभाव है। इंग्लैण्ड का मज़दूर आन्दोलन बड़ी धीमी-चाल से आगे बढ़ रहा है क्योंकि वहाँ ऐसे ज्ञान का अभाव है। फिर भी जर्मनी के मज़दूर वर्ग का बहुसख्यक भाग सोशलिस्टों के साथ नही है, मतदान में अल्पसख्यक मज़दूर ही उनका साथ देते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि समाजवादी लोग मज़दूर वर्ग के भीतर अपना बहुमत प्राप्त करें। उधर देहात की जनता में जो प्रचार का काम हुआ है, उसमें कुछ सफलता मिली है किन्तु वह बहुत-ही नाकाफी है और वहाँ बहुत काम करना है। इस प्रकार १८७४ में एंगेल्स ने जर्मन कम्यु-निस्टों को देश की वास्तविक स्थिति बतायी और उन्हें सावधान किया कि उन्हें शहरी मज़दूरों में ही अभी बहुमत प्राप्त नही हुआ, मज़दूरों में काम करना बाकी है, इससे बहुत ज्यादा काम देहात में करना बाकी है।

अब सवाल यह था कि वस्तुगत परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर भी किसान-मजदूर एकता किस आधार पर कायम की जाये ? जो छोटी मिल्कियतवाले किसान हैं, क्या मजदूर उनकी मिल्कियत की रक्षा करने का वचन दें ? जो खेत-मजदूर हैं, वे सहयोग संस्थाएँ बनाने से पहले यदि बड़ी ज़मीदारियों मे हिस्सा माँगें तो उन्हें दिया जाये या नही ? किसी न किसी रूप मे व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति टिकाऊ हो जाती है तो इससे समाजवादी व्यवस्था कायम करने में रुकावट पड़ेगी या नही ? इसके सिवा अनेक देशों में सामूहिक भू-सम्पत्ति का चलन बना हुआ था। ऐसी सम्पत्ति पिछड़े हुए रूस मे ही नही, उद्योग प्रधान जर्मनी मे भी थी। इस सामूहिक सम्पत्ति की रक्षा की जाये या उसके टूटने पर पूंजीवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति का विकास होने दिया जाये ? या किसी तरकीब से इस सामूहिक सम्पत्ति को समाजवादी व्यवस्था मे शामिल कर लिया जाये ? ऐसे अनेक प्रश्नों पर मार्क्स और एंगेल्स अपने जीवन के अन्तिम चरण मे गम्भीरता से विचार कर रहे थे। सबसे पहले यह देखें कि खेत-मजदूर ज़मीन की माँग कैसे करते है। १८४५ मे प्रकाशित **इंग्लैण्ड के मजदूर वर्ग** की दशा पुस्तक मे एंगेल्स ने लिखा था, खेत-मजदूरों को जब काम नही मिलता, तब वे मालिकों के खलिहानों मे आग लगा देते हैं। १८४४ में खेत-मजदूरो ने एक सभा में कहा कि उन्हें खेती के लिए ज़मीन चाहिए और उसका लगान कम होना चाहिए। (**ऑन ब्रिटेन**, पृ. ३०३) । खेती के लिए ज़मीन दो तरह से दी जा सकती थी। खेत-मजदूर उसके मालिक हो जायें, यह एक स्थिति थी। दूसरी स्थिति यह थी कि ज़मीदार उन्हें भाड़े पर ज़मीन दें और भाड़ा सस्ता हो। दोनो स्थितियो मे बहुत फर्क नही था पर मूल बात यह थी कि खेत-मजदूर अपनी खेती-बाड़ी अलग चाहता था। १८४४ में इंग्लैण्ड के खेत-मजदूर ऐसी माँग कर रहे थे, यह बात अन्य देशों के लिए शिक्षाप्रद थी। जब तक राज्यसत्ता खेत-मजदूरों की सहायता करके उन्हें सामूहिक खेती करने योग्य न बना दे, तब तक अस्थायी रूप से उनमे ज़मीन का बँटवारा होना अनिवार्य था। एंगेल्स ने खेत-मजदूरों में ज़मीन बाँटने की बात नही कही किन्तु रूसी क्रान्ति के दौरान गरीब किसानों और खेत-मज़दूरों ने यह काम खुद कर लिया। यदि उनकी भावनाओं को समझकर उनकी माँगों के अनुसार उन्हें संगठित करके आन्दोलन चलाया जाये तो क्रान्ति की शक्ति सुदृढ़ होगी, इसमें सन्देह नहीं।

१८९४ में एंगेल्स ने 'फ्रांस और जर्मनी की किसान-समस्या' शीर्षक लेख लिखा। इसमें उन्होंने छोटे किसानों के बारे में कहा, "हम यह वादा नही करते और न आगे करेंगे कि पूंजीवादी उत्पादन की भारी शक्ति के मुकाबले हम उनकी निजी सम्पत्ति और निजी व्यवसाय की रक्षा करेंगे। हम इतना ही वादा कर सकते हैं कि हम उनके सम्पत्ति-सम्बन्धों में उनकी इच्छा के विरुद्ध बलपूर्वक दखल न देंगे। हम यह भी कहेंगे कि अब से छोटे किसानों के खिलाफ पूंजीपति और बड़े ज़मीदार जो संघर्ष चलायें, उसमें वे कम से कम बेईमानी करें। सीधी डकैती और ठगविद्या से बहुत काम लिया जाता है, जहाँ तक बन पड़े, इन पर रोक लगायी जाये। इसमें सफलता हमे अपवाद रूप मे ही मिलेगी। उत्पादन की विकसित पूंजीवादी पद्धति मे ईमानदारी कहाँ खत्म होती है और ठगविद्या कहाँ शुरू होती है,

कोई नहीं बता सकता। फिर भी सार्वजनिक सत्ता ठग के साथ या ठगे जानेवाले के साथ है, इससे काफी फर्क पड़ेगा। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम अवश्य ही छोटे किसानों के साथ हैं। हमारे लिए जितना भी कर सकना उचित होगा, हम उनके लिए करेंगे जिससे कि उनकी मुसीबत कम हो जाये, जिससे कि वे चाहें तो सहकारिता की ओर उनका संक्रमण आसान हो जाये, और हम यह कोशिश भी करेंगे कि वे अपनी छोटी मिल्कियत काफ़ी दिन तक अपने पास रखें जिससे कि तुरन्त फ़ैसला न कर पाने पर उन्हें सोचने-विचारने का और मौका मिले। हम ऐसा केवल इस कारण ही न करेंगे कि छोटे किसान अपनी मेहनत की कमाई खाते हैं और इसलिए लगभग हमारे ही हैं, वरन् इस कारण भी कि ऐसा करना पार्टी के हित में होगा। जितने ही किसानों को हम सर्वहारा-वर्ग में सचमुच ठेले जाने से बचा लेते हैं, जब वे किसान हैं, तभी हम उन्हें अपनी ओर मिला लेते हैं, उतनी ही जल्दी और आसानी से सामाजिक परिवर्तन का काम पूरा किया जा सकेगा। पूँजीवादी उत्पादन हर जगह इतना बढ़ जाये कि उसके आखिरी नतीजे दिखायी देने लगें, हर छोटा कारीगर और हर छोटा किसान बड़े पैमाने के पूँजीवादी उत्पादन का शिकार हो जाये, तब तक हम इस परिवर्तन की राह देखते रहें, इससे हाथ कुछ न लगेगा। ···इसके साथ ही पार्टी को चाहिए कि वह किसानों के सामने यह बात बिलकुल साफ कर दे कि जब तक पूँजीवाद कायम है, तब तक उनकी छोटी मिल्कियत को बचाना बिलकुल असम्भव है। जैसे रेलगाड़ी किसी बैलगाड़ी को हटाती हुई आगे बढ़ जाती है, वैसे ही यह निश्चित है कि बड़े पैमाने का पूँजीवादी उत्पादन इनके छोटे पैमाने के असहाय और पुरानपंथी उत्पादन को रौंद डालेगा।" (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ. ४७-७२)।

एंगेल्स छोटे किसानों से यह वादा नहीं करते कि उनकी मिल्कियत की रक्षा करेंगे किन्तु यह उन्हें बताते हैं कि पूँजीवाद के सामने वे कमजोर हैं और उन्हें मजदूरों से मदद लेनी चाहिए। मदद किस रूप में हो?

यहाँ एंगेल्स मजदूरों से कहते हैं, तुमने इन्हें बर्बाद हो जाने दिया, बड़े पूँजीपतियों के पास इनकी सम्पत्ति चली गयी और ये सर्वहारा बन गये तो इसमें तुम्हें लाभ न होगा। सबसे बड़ी बात यह है कि पूँजीवादी सम्बन्ध देहात में धीरे-धीरे फैल रहे हैं और इस प्रक्रिया के पूरी होने में बहुत समय लगेगा। इसलिए क्रान्ति करना है तो इनका सहयोग लो, इनकी मिल्कियत कायम रहने दो, जब सत्ता पर अधिकार कर लो, तब भी इनकी मिल्कियत कायम रहने देना, उन्हें खूब सोचने-विचारने का मौका देना, उन्हें स्वेच्छा से सहयोग-संस्थाएँ बनाने देना, बल-प्रयोग से तुम उन्हें सामूहिक खेती के दायरे में न ला सकोगे। लगभग इसी नीति पर बोल्शेविक पार्टी ने रूस में किसान-समस्या का समाधान किया।

(घ) सामाजिक विकास

अब यह देखना चाहिए ... मानों की ... चलन
स्वीकार करने में, यहाँ ... उनकी रक्षा ... नहीं,
इस समस्या के बारे में यह ... १ में मार

वीरा जसूलिच के पत्र का जवाब लिखते समय तीन मसौदे तैयार किये थे। पहले मसौदे मे उन्होंने बताया था कि पूँजीवादी विकास की अनिवार्यता पश्चिमी यूरुप के लिए है, रूस मे किसानों की जमीन उनकी निजी सम्पत्ति कभी नही हुई, इसलिए यह सिद्धान्त वहाँ लागू न होगा। मार्क्स की यह धारणा भारतीय इतिहास की छान-बीन करनेवालों के लिए बहुत दिलचस्प है। भारत और रूस दोनों देशों के लिए वह मानते आये थे कि व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति किसानों के पास नही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के बिना पूँजीवाद का विकास हो नही सकता। इसलिए रूस मे भी पूँजीवाद का विकास अनिवार्य नही है। इससे कुछ विद्वानों ने यह नतीजा निकाला कि सामाजिक विकास के कई रास्ते है। शुरूआत गणसमाजों से होती है और खात्मा समाजवाद से होता है। किन्तु दोनो के बीच मे सामन्तवाद और पूँजीवाद की मंजिलें अनिवार्य नही है। ऐसे लोगो ने यह नही बताया कि जहाँ सामन्तवाद और पूँजीवाद का विकास नही हुआ, वहाँ गणसमाजों के बाद की व्यवस्था का रूप क्या था, उसमें उत्पादन और विनिमय की ऐसी कौन-सी विशेषता थी जो पश्चिमी यूरुप मे पायी न जाती थी। उन्होने यह भी नही बताया कि आगे चलकर ऐसे समाजों में जब समाजवादी व्यवस्था कायम होगी, तब उसका आधार क्या होगा, प्राचीन स्वायत्त ग्राम-समाज उस व्यवस्था का आधार होंगे और वह गाधीवादी समाजवाद होगा या उस तरह का समाजवाद होगा जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी। वास्तव मे मार्क्स ने जब कहा था कि पूँजीवाद की अनिवार्यता पश्चिमी यूरुप के बाहर नही है, तब उनका आशय यह था कि पश्चिमी यूरुप मे सर्वहारा वर्ग जल्दी ही सत्ता पर अधिकार कर लेगा, उसके बाद वह दूसरे देशों को पूँजीवादी प्रक्रिया में फँसने से बचाकर सीधे समाजवादी व्यवस्था मे ले आयेगा। एक समय वे जरूर सोचते थे कि पूँजीवादी यूरुप पिछडे हुए देशों में पूँजीवाद का चलन करेगा, यह उसकी प्रगतिशील भूमिका होगी। ऐसा वह भारत के सन्दर्भ में ही न सोचते थे वरन् रूस तथा अन्य देशों के बारे में भी सोचते थे जहाँ की समाज-व्यवस्था उनके विचार में पिछडी हुई थी। इससे उक्त कोटि के विद्वानों ने यह नतीजा निकाला कि जब तक भारत, चीन, रूस जैसे देशो पर पश्चिमी यूरुप का प्रभुत्व न होगा, तब तक वहाँ समाज का पुराना ढाँचा न टूटेगा और आगे प्रगति न होगी। यदि उनकी यह बात मान ली जाये तो इससे यही साबित होगा कि रूस तथा एशियाई देशों में पूँजीवादी विकास अपने-आप न होगा, पश्चिमी यूरुप से सम्पर्क के फलस्वरूप होगा। इससे यह कैसे साबित होगा कि पूँजीवादी विकास के बिना ही ये देश समाजवाद की मंजिल मे पहुँच जायेंगे? दरअसल ऐसे विचारक भारी अन्तर्विरोध मे फँस गये है। एक ओर वे पश्चिमी यूरुप के साम्राज्यवादी अभियान को उचित ठहराते है, कहते है कि इसके बिना एशिया, पूर्वी यूरोप तथा बाकी दुनिया के पिछड़े हुए समाजो में प्रगति ही न होती। दूसरी ओर वे यह भी कहना चाहते हैं कि ऐसे देशों मे पूँजीवाद से अलग विकास का कोई विचित्र मार्ग था जिस पर चलते हुए ये समाजवाद तक पहुँच जायेंगे।

रूस में सामूहिक सम्पत्तिवाले ग्राम-समाजों का विघटन अनिवार्य है, इसके पक्ष मे मार्क्स के अनुसार ये दलीलें दी जा सकती हैं: पश्चिमी यूरोप मे बहुत समय

पहले सामूहिक सम्पत्ति का व्यापक चलन था। सामाजिक प्रगति के फलस्वरूप वहाँ उसका अब लोप हो गया है। फिर रूस में ही उसका लोप क्यों न होगा? इस दलील का मार्क्स ने यह जवाब दिया: रूस में परिस्थितियों का ऐसा अद्भुत जमाव हुआ कि वहाँ ग्राम-समाज अभी राष्ट्रीय पैमाने पर विद्यमान है, वे क्रमशः अपनी आदिम विशेषताएँ छोड़कर सीधे सामूहिक उत्पादन के उपकरण के रूप में विकसित हो सकते हैं।

ये ग्राम-समाज पूँजीवादी उत्पादन के साथ-साथ विद्यमान हैं, इसलिए वे इस उत्पादन की सकारात्मक उपलब्धियों से लाभ उठा सकते हैं और उस उत्पादन में जो भयानक मुसीबतें आती हैं, उन्हें झेलना उनके लिए जरूरी न होगा। रूस आधुनिक संसार से अलगाव की हालत में नहीं है और न वह विदेशियों द्वारा पदाक्रान्त हुआ है जैसे कि ईस्टइण्डीज़ (भारत) हुआ है। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ. १५२-५३)।

यहाँ मार्क्स रूस में पूँजीवादी उत्पादन का अस्तित्व मान रहे हैं। इसी से यह सम्भावना पैदा होती है कि रूसी क्रान्तिकारी सामूहिक सम्पत्ति के विघटित हो जाने की राह देखे बिना पूँजीवादी उत्पादन की क्षमता का उपयोग करके राष्ट्रीय पैमाने पर ग्राम-समाजों को सामूहिक उत्पादन का उपकरण बना दें। ऐसा करते हुए ग्राम-समाजों को आदिम विशेषताओं को छोड़ देना होगा। आर्थिक दृष्टि से ये विशेषताएँ कौन-सी हो सकती हैं? सीमित उत्पादन, खाने-खरचने भर के लिए पैदावार, समाज में कृषितन्त्र और घरेलू उद्योग-धन्धों का गँठजोड़, विनिमय का प्रायः अभाव, मुद्रा का बहुत ही सीमित चलन। इन विशेषताओं को छोड़ने के बाद क्रान्तिकारी लोग पूँजीवाद की जिन सकारात्मक उपलब्धियों को अपनायेंगे, वे बड़े पैमाने का उत्पादन, बड़े पैमाने का विनिमय, वित्तीय व्यवस्था आदि होंगी। पर यह तभी सम्भव है जब ऐसी क्रान्ति हो जाये जो पूँजीपतियों से सत्ता छीन ले या कम से कम उन्हें नियन्त्रित कर सके। उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने भारत और रूस में भेद किया है। रूस में पूँजीवादी व्यवस्था कायम हो चुकी है, भारत में विदेशियों का राज है। यदि इस राज से प्रगति की सम्भावना विशेष रूप से पैदा होती तो भारतीय ग्राम-समाजों को भी समाजवादी उत्पादन का उपकरण बनाने की बात कही जा सकती थी।

मार्क्स ने उक्त विकास को सैद्धान्तिक सम्भावना कहा है। यदि पूँजीवादी व्यवस्था को अनिवार्य माननेवाले रूसी विचारक कहें कि यह सब असम्भव है, तो मार्क्स उनसे यह सवाल करते हैं: मशीनी उत्पादन के लिए, भाप से चलनेवाली रेलों, जहाजों आदि के लिए पश्चिम को जितना समय गँवाना पड़ा, क्या उतना समय रूस को भी गँवाना पड़ा है? बैंक, उधार [illegible] आदि, विनिमय के सारे तन्त्र को पश्चिम में विकसित होते-होते सदियाँ [illegible] में पलक भाँजते कैसे हो गया? यह [illegible] ने के बाद मार्क्स [illegible] कि रूसी समाज का विकास किन परि[illegible] प्रकार से [illegible] में जिस समय बंधुआ मजदूर-प्र[illegible] की हालत में रहने [illegible]

ही चुकाते थे, अन्य प्रकार के जो ऋण राज्यसत्ता के माध्यम से लिए जाते थे किन्तु वसूल किसानों से किये जाते थे और जो ऋण मिलते थे समाज के उन नये स्तम्भों को जो अब पूंजीपतियों का रूप धारण कर रहे थे—यदि यह सारा धन ग्राम-समाजों के भावी विकास के लिए इस्तेमाल होता, तो आज किसी को ग्राम-समाजों के विनाश की ऐतिहासिक अनिवार्यता की बातें करते हम न सुनते। तब हर आदमी यह देखता कि ग्राम-समाज रूस के लिए पुनर्जीवन की शक्ति हैं और उन देशों से बढ़कर हैं जो अब भी पूंजीवादी व्यवस्था की गुलामी में फँसे हुए हैं। (उप., पृ. १५३)।

यह पैराग्राफ असाधारण महत्व का है। इसमें यह सम्भावना स्वीकार की गयी है कि पूंजीवाद के अभ्युदय काल में ही समाज में जनवादी परिवर्तन हो सकता था। बँधुआ मजदूर प्रथा क्यों खत्म की गयी थी? इसलिए खत्म की गयी थी कि पूंजीपतियों को अपने कारखानों के लिए श्रम-शक्ति बेचनेवाले पगारजीवी मजदूर चाहिए थे। बँधुआ मजदूर खेती की जमीन से बँधा हुआ है, वह उसे छोड़कर जा नहीं सकता। तब कारखाने में मशीन कौन चलायेगा? जिस समय बँधुआ मजदूर-प्रथा खत्म की गयी, उस समय पूंजीवाद मशीनी उत्पादन के युग में कदम रख रहा था। यह उसका अभ्युदय काल है। अपने इस अभ्युदय काल में वह उन सामन्तों से समझौता करता है जो राज्यसत्ता पर हावी हैं। इस राज्यसत्ता के माध्यम से पूंजीपति उद्योगधन्धों के विकास के लिए आवश्यक पूंजी उधार लेते हैं और कर्ज का यह भार किसानों को ढोना होता है। इसके अलावा सामन्त वर्ग ने जो अपने हित में सार्वजनिक ऋण लिया था, वह भी किसानों से वसूल किया जा रहा था। अब यह सारी धनराशि यदि किसानों के हित में इस्तेमाल की जाती तो ग्राम-समाज आगे चलकर समाजवादी उत्पादन के उपकरण बन जाते। किन्तु कौन-सा वर्ग यह काम करता? किसान असंगठित थे, मजदूर वर्ग अभी जन्म ले रहा था। यदि हम मान लें कि रूस का छोटा-सा शिक्षित वर्ग यह काम करता, तो भी प्रश्न यह है कि सामन्त और पूंजीपति उसे ऐसा करने क्यों देते। उत्तर है, क्रान्ति से ही मार्क्स की सैद्धान्तिक सम्भावना अमल में लायी जा सकती थी। १७८९ में फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के दौरान किसानों ने पहल की थी, बुद्धिजीवियों ने उनका साथ दिया था, कारीगर और लघु उद्योगों के मजदूर उनके साथ थे। आगे चलकर क्रान्ति का नेतृत्व पूंजीपतियों ने अपने हाथ में ले लिया। फिर भी क्रान्ति के बाद राज्यसत्ता के भीतर वाम और दक्षिणपन्थियों में भारी टक्कर हुई और ऐसी टक्कर हुई कि जो मजदूर वर्ग अभी जन्म ले रहा था, उसने क्रान्तिकारी नेता बाबेफ के माध्यम से सर्वहारा डिक्टेटरशिप का नारा दिया। जिस कम्यून शब्द से कम्युनिज्म शब्द बना है, वह फ्रांसीसी किसानों, कारीगरों और मजदूरों का जन-संगठन था। जैसे रूसी किसानों और मजदूरों ने जनसंगठनों का नाम सोवियत रखा, वैसे ही फ्रांस में कम्यून शब्द का चलन हुआ। १८७० में मजदूरों ने जब पहली बार फ्रांस में सत्ता पर अधिकार किया, तब सहज ही यह सत्ता पैरिस-कम्यून के नाम से विख्यात हुई। समाजवादी क्रान्ति के बीज १७८९ की क्रान्ति में मौजूद थे; १७८९ की क्रान्ति की अगली कड़ी है पैरिस-कम्यून। समाजवादी क्रान्ति के बीज १६०५

की असफल रूसी क्रान्ति मे मौजूद थे; १९०५ की क्रान्ति की अगली कड़ी है नवम्बर, १९१७ की सफल समाजवादी क्रान्ति। इसलिए मार्क्स ने रूसी पूँजीवाद के अभ्युदय-काल में जिस सामाजिक परिवर्तन की सैद्धान्तिक सम्भावना का उल्लेख किया था, वह हवाई कल्पना नही थी, वह ऐतिहासिक अनुभव से पुष्ट होती है। १७८९ मे समाजवाद के जो बीज विद्यमान थे, वे १८६१ तक, रूस मे बँधुआ मजदूर प्रथा के खात्मे तक, मार्क्स और एंगेल्स द्वारा पुष्पित और पल्लवित किये जा चुके थे। पश्चिमी यूरोप मे शक्तिशाली मजदूर आन्दोलन का विकास हो चुका था। मार्क्स और एंगेल्स की क्रान्तिकारी विचारधारा से लाभ उठानेवाले रूसी और गैररूसी बुद्धिजीवी फ्रांस के उन बुद्धिजीवियो से कही ज्यादा अच्छी हालत में थे, क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास के लिए कही ज्यादा सचेत और तैयार थे, जिन क्रान्तिकारियो ने १७८९ में किसानो और मजदूरों का साथ दिया था। अभ्युदयशील मजदूर वर्ग बहुत छोटा होने पर भी बुद्धिजीवियों और किसानों के साथ मिलकर अवश्य ही शक्तिशाली क्रान्तिकारी आन्दोलन चला सकता था। इंग्लैण्ड में मशीनी उत्पादन के साथ-साथ मजदूरो के क्रान्तिकारी आन्दोलन का जन्म हुआ था और उसी समय गरीब किसानों और खेत मजदूरो ने जमींदारों की कोठियों में आग लगाना शुरू किया था, ये तथ्य ध्यान देने योग्य है।

मार्क्स ने आगे अपने पत्र के मसौदे में पूँजीवाद के अभ्युदयकाल और उसके विघटनकाल मे भेद करते हुए रूसी ग्राम-समाज की विकास-सम्भावनाओं को और भी स्पष्ट किया। उन्होने लिखा कि रूसी ग्राम-समाज पश्चिमी यूरुप के पूँजीवादी उत्पादन के साथ-साथ विद्यमान है। यही नही, वे उस दौर को पार कर चुके हैं जब पूँजीवादी व्यवस्था अभी भीतर से खूब गठी हुई थी। अब पश्चिमी यूरुप मे और अमरीका मे यह व्यवस्था विज्ञान से टकरा रही है, आम जनता से टकरा रही है, उन उत्पादक शक्तियों से टकरा रही हैं जिसने उन्हे पैदा किया था। रूसी कम्यून के सामने जो पूँजीवादी व्यवस्था है, वह संकटग्रस्त है। यह संकट तभी खत्म होगा जब यह व्यवस्था खत्म होगी, जब आधुनिक समाज सामूहिक सम्पत्ति के पुराने चलन की तरफ लौट चलेगा। एक अमरीकी लेखक (मार्गन) के अनुसार जिस नयी व्यवस्था की ओर आधुनिक समाज बढ़ रहा है, वह समाज की पुरानी व्यवस्था का ऐसा पुनर्जीवित रूप होगा जो पहलेवाली व्यवस्था से श्रेष्ठ होगा। (उप., पृ. १५३-५४)। मार्क्स यहाँ दिखा रहे है कि पूँजीवादी व्यवस्था का पतन अनिवार्य है, अतः उसके विरुद्ध क्रान्ति भी अनिवार्य है। उसके पतनकाल मे उसका नाश करनेवाली मुख्य शक्ति मजदूर है। वे पुराने ग्रामसमाजो को बचा सकते हैं, उन्हें नये सामूहिक उत्पादन का उपकरण बना सकते हैं। जो चीज पुरानी होगी, वह सम्पत्ति का सामूहिक स्वामित्व होगा। जो चीज नयी होगी, वह यह कि एक विशाल सामाजिक संगठन का अग बनकर ये ग्रामसमाज बड़े पैमाने के उत्पादन और वितरण मे अपनी नयी भूमिका निबाहेंगे। ज़ाहिर है, यह भूमिका क्रान्ति के बिना पूरी न होगी।

मार्क्स ने पत्र के इस मसौदे के अन्त में लिखा : "जिस समय कम्यून [ग्राम-समाज] घायल होकर छटपटा रहा है, उसकी भूमि बंजर और ऊसर बनायी जा

जब उन्होंने भारत-सम्बन्धी लेख लिखे थे, तब उन्हें विश्वास था कि अंग्रेज़ों ने ग्राम-समाजों को तोड़ा है और भारत की प्रगति के लिए यह काम जरूरी था। किन्तु इस समय ज़सूलिच को जवाब लिखते हुए जब उन्होंने अपने पत्र का तीसरा मसौदा तैयार किया, तब उन्होंने स्पष्ट लिखा कि अंग्रेज़ों के इस काम से भारत आगे नहीं बढ़ा वरन् वह पीछे ठेल दिया गया है। यह पीछे ठेल दिये जानेवाली बात मार्क्स से पहले ऐडम स्मिथ ने कही थी और एडमण्ड बर्क तथा विलियम डिग्बी ने उसे दोहराया था। फर्क यह था कि इन लेखकों के सामने ग्राम-समाजों का वह रूप नहीं था जो मार्क्स की कल्पना में था। इन्हीं दिनों मार्क्स भारतीय ग्राम-समाजों के बारे में सर हेनरी मेन और कवालेव्स्की के ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे। हेनरी मेन का उल्लेख ऊपर है। कवालेव्स्की के ग्रन्थ से उन्होंने भारतीय इतिहास पर अपनी टिप्पणियों में जो सारांश एक पैरा में उद्धृत किया है, उसमें सामूहिक भू-सम्पत्ति के साथ व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख है।

दरअसल सामूहिक सम्पत्ति का चलन पूरी तरह न तो रूस में था और न भारत में। मार्क्स यह बात जानते थे। उन्होंने इस बात पर भी कई बार जोर दिया था कि रूस और भारत जैसे ग्राम-समाज कुछ हेर-फेर के साथ जर्मनी में भी थे। ग्राम-समाजों की व्यापकता पर जोर पूँजी के प्रथम खण्ड में है, उनके अन्य ग्रन्थों और पत्रों में है। जब वह रूसी भाषा से अच्छी तरह परिचित नहीं थे, तब उनके लिए रूसी कृषितन्त्र के विघटन पर एक रूसी पुस्तक के मुख्य अंशों का अनुवाद बोर्खाइम नाम के सज्जन कर रहे थे। इसी विषय पर मार्क्स एक रूसी की फ्रांसीसी भाषा में लिखी हुई पुस्तक भी पढ़ रहे थे। १८६८ में इन पुस्तकों की चर्चा करते हुए मार्क्स ने एंगेल्स को लिखा था, रूसी ग्राम-समाज एकदम पुरानी जर्मन कम्यून व्यवस्था से मिलता-जुलता है, यहाँ तक की छोटी-छोटी बातें भी एक-सी हैं। रूसियों ने जो बात जोड़ी है, वह है कम्यून के नेतृत्व का ग़ैर-जनतान्त्रिक किन्तु पितृसत्ताक स्वरूप तथा राज्यसत्ता को टैक्स देने के लिए सामूहिक जिम्मेदारी, इत्यादि। यह बात भारतीय कम्यून-व्यवस्था के एक भाग में भी पायी जाती है, पंजाब में नहीं किन्तु दक्षिण में। (करेस्पॉण्डेन्स, पृ. २५३)। सामूहिक सम्पत्तिवाली पुरानी व्यवस्था से यह व्यवस्था इस बात में भिन्न थी कि यहाँ पितृसत्ताक नेतृत्व कायम हो चुका था। यह नेतृत्व ग़ैरजनतान्त्रिक था, अर्थात् कबीला टूट रहा था। भारत और रूस में कबीला टूटा, ग़ैरजनतान्त्रिक नेतृत्व कायम हुआ; यह नयी बात इन दो देशों के लोगों ने ग्राम-समाज में जोड़ी, इसके अलावा बाकी ढाँचा जर्मनी में वही था जो भारत और रूस में था। इससे क्या साबित हुआ? साबित यह हुआ कि भारत और रूस की अपेक्षा जर्मनी में कबीलाई अवशेष अधिक थे और ज्यादा मजबूती से जमे हुए थे। दूसरी बात; जो पितृसत्ताक नेतृत्व कायम हुआ, वह कुलपतियों का नेतृत्व था। कुलपतियों के नेतृत्व में बड़े-बड़े परिवार कबीलों में शक्तिशाली हुए और इससे गणसमाजों का पुराना ढाँचा टूटने लगा। यह क्रिया भारत में बहुत पहले वैदिक काल में घटित हुई थी।

मार्क्स ने ग्राम-समाजों के बारे में १८८१ के आस-पास जो कुछ लिखा है, उसका महत्व यह है कि वह किसानों की सम्पत्ति के लूटे जाने का विरोध कर

रहे थे। पूँजीवादी विकास अनिवार्य है, इस बहाने वह पूँजीपतियों को किसानों की भूमि हड़प जाने का अधिकार नहीं देते। यह भूमि चाहे व्यक्तिगत हो, चाहे सामूहिक हो, उसके स्वामित्व की समस्या चाहे उलझी हुई हो, चाहे सुलझी हुई हो, पूँजीपतियों को उसे हड़पने का अधिकार नहीं है। इसीलिए उन्होंने १८५७-५८ के भारत-सम्बन्धी लेखों में भूमि-अपहरण की अंग्रेज़ी-नीति की तीव्र आलोचना की और भारतीय इतिहास सम्बन्धी टिप्पणियों में अपनी आलोचना को और भी पुष्ट किया। पूँजीपति चाहे देशी हों, चाहे विदेशी, किसानों की भूमि हड़पने का अधिकार उन्हें नहीं है। १८६८ वाले पत्र मे उन्होंने लिखा कि ग्राम-समाज राज्यसत्ता को टैक्स देने के लिए सामूहिक रूप से ज़िम्मेदार है, इससे नतीजा यह निकलता है कि रूसी किसान जितना ही मेहनती होगा, उतना ही राज्यसत्ता द्वारा अधिक शोषित होगा। उसका शोषण टैक्सो के लिए ही न होगा; फौजों के, सरकारी हाकिमों के, आने-जाने के समय उनके लिए खाद्य-सामग्री, घोड़े वगैरह भी उसे जुटाने होंगे। यह सारा गन्दा तामझाम अब खत्म होने को है। (उप., पृ. २५३)। उसे खत्म होने में काफी समय लगा, वह पूँजीवादी क्रान्ति से समाप्त नहीं हुआ। पूँजीपतियों से अलग मज़दूरो और किसानों को उसे खत्म करने के लिए आगे बढना पड़ा। मार्क्स ने जब उक्त पत्र लिखा था, तब रूस मे बँधुआ प्रथा को खत्म किये सात साल बीते थे। १८६१ की घटनाओं पर विचार करते हुए उन्हें लगा था कि उस अवसर पर रूसी समाज इस तरह आगे बढ सकता था कि वहाँ के किसानों को पूँजीवाद से तबाह न होना पड़े। १८७७ में मार्क्स ने इस विषय पर एक रूसी पत्र के सम्पादक को लिखा था, यदि रूस उसी राह पर चलता जाता है जिस पर उसने १८६१ से चलना शुरू किया था, तो वह सबसे सुन्दर अवसर खो देगा जो इतिहास से किसी भी जाति को मिला होगा और उसे खोकर वह पूँजीवादी व्यवस्था की तमाम घातक मुसीबतो का सामना करेगा। (उप., पृ. ३५३)।

वीरा ज़सूलिच के पत्र के जवाब में मार्क्स ने तीन मसौदे तैयार किये, यह बात इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि ग्राम-समाजवाली समस्या का समाधान मार्क्स के लिए आसान नहीं था। फिर भी उन्हें अपने चिन्तन की मूल दिशा के बारे में सन्देह नहीं था और वह यह थी कि किसान की तबाही अनिवार्य नहीं है और उसे पूँजीवादी शोषण से बचाना चाहिए। पूँजीवादी शोषण से बचाने की बात वहीं उठती है जहाँ पूँजीवाद का थोड़ा-बहुत विकास हो चुका हो। पूँजीवाद का विकास होगा तो सर्वहारा वर्ग का अस्तित्व भी होगा। किसान की तबाही अनिवार्य नहीं है, मज़दूरो और किसानों की एकता अनिवार्य है और यह एकता पूँजीवाद के खात्मे को अनिवार्य बना देती है। वीरा ज़सूलिचवाले पत्र के पहले मसौदे में मार्क्स ने ग्राम-समाजो के विघटन के बारे में कहा कि आन्तरिक और बाह्य दोनों तरह के कारणों से वह टूटा। जर्मन कबीलों ने यूरोप के बहुत बड़े भाग को जीता तब पुराना कम्यून टूट चुका था। किन्तु उसमें नैसर्गिक जीवनी-शक्ति बहुत थी। मध्य-काल मे इतिहास के सारे उतार-चढ़ाव पार करता हुआ वह बना रहा। मार्क्स को वह इलाका याद आया जहाँ उनका लड़कपन बीता था। उन्होंने त्रेव के ज़िले का नाम लिया और कहा कि कम्यून अब तक वहाँ बना हुआ है। जब ग्राम-समाज में

खेती की भूमि व्यक्तिगत हो गयी, तब भी इस नये ग्राम-समाज पर पुराने कम्यून की छाप बनी रही। जंगल, चरी की भूमि, ऊसर, ये सब सामूहिक सम्पत्ति बने रहे। जर्मन लोगों ने कम्यून का यह नया रूप उन सारे देशों में फैला दिया जहाँ वे विजेता बनकर गये। समूचे मध्यकाल में यह कम्यून लोकजीवन और स्वतन्त्रता का एकमात्र दुर्ग बना रहा। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ. १५५)। ग्राम-समाज का जो नया रूप है, वह नया इसी अर्थ में है कि सामूहिक सम्पत्ति अब आंशिक है। चरी की भूमि, जंगल वगैरह सारे गाँव की सम्पत्ति हैं, केवल खेती की भूमि व्यक्तिगत अर्थात् कुटुम्बगत है। कवालेव्स्की ने भारतीय ग्राम-समाजों की जो स्थिति बयान की थी, वह ठीक यही थी। इसीलिए मार्क्स की भारतीय इतिहास सम्बन्धी टिप्पणियों में किसानों की व्यक्तिगत और साहित्यिक भू-सम्पत्ति का उल्लेख है। मार्क्स के लिए ग्राम-समाज पूँजीवाद से ही किसानों की रक्षा के साधन नहीं हैं, उससे पहले वे सामन्तों के खिलाफ भी रक्षा के साधन बन चुके हैं। रक्षा के साधन वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण नहीं, सामूहिक सम्पत्ति के कारण बनते हैं। किसानों में जितना ही सामूहिक चेतना होगी, एक साथ काम करने, जीने और लड़ने की चेतना होगी, उतना ही अपने हित में वे ग्राम-समाजों का समर्थ उपयोग कर सकेंगे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्भव और विकास हर परिस्थिति में समाज के लिए हितकारी नहीं है। यदि जर्मन ग्राम-समाज मध्यकाल में सामन्ती शोषण से किसानों की रक्षा कर सकते थे या कम-से-कम उनकी रक्षा करने के लिए लड़ सकते थे, तो भारत के ग्राम-समाज भी अपनी भूमि और स्वाधीनता की रक्षा के लिए अंग्रेजों से लड़े हों तो यह कोई अनोखी बात नहीं थी। उनका यह काम स्वाभाविक होने के साथ उचित भी था।

१८९३ में एंगेल्स ने रूसी विचारक दानियलसन के नाम पत्र में लिखा था, यदि पश्चिम में हमारा आर्थिक विकास और तेजी से हुआ होता, यदि हम १०-२० साल पहले इस पूँजीवादी व्यवस्था को उलट चुके होते, तो रूस के लिए यह सम्भावना पैदा हो सकती थी कि पूँजीवाद की ओर अपने विकास की प्रवृत्ति को वह संक्षिप्त कर दे। किन्तु दुर्भाग्य से हमारी चाल बहुत धीमी रही। पूँजीवादी व्यवस्था के जो आर्थिक नतीजे उसे नाजुक दौर में ले आते हैं, वे अब विकसित होना शुरू हुए हैं। इंग्लैण्ड अपना औद्योगिक इजारा तेजी से खो रहा है, फ्रांस और जर्मनी औद्योगिक विकास के उस स्तर तक पहुँच रहे हैं जो इंग्लैण्ड में है और ऐसा लगता है कि उद्योगधन्धों और खेती दोनों की पैदावार में अमरीका इन दोनों देशों को विश्व-बाजार से निकाल बाहर करेगा। आगे रूसी कम्यून के बारे में उन्होंने लिखा, इस बीच तुम्हारे यहाँ कम्यून का लोप हो रहा है और हम यही आशा कर सकते हैं कि हमारे यहाँ बेहतर व्यवस्था के लिए जो परिवर्तन होगा, वह जल्दी होगा जिससे कि तुम्हारे देश में, कम-से-कम उसके कुछ सुदूर इलाकों में, उन संस्थाओं को बचाया जा सके जो आगे की परिस्थितियों में महान् भविष्य की रचना के लिए अपनी भूमिका पूरी करें। किन्तु हकीकत हकीकत है और हमें यह न भूलना चाहिए कि इसकी सम्भावना दिन-पर-दिन कम होती जाती है। (उप., पृ. ५०६)। पूँजीवाद शक्तिशाली सिद्ध हो रहा था; रूसी ग्राम-समाज टूट रहे थे,

पश्चिमी यूरोप में क्रान्ति की सम्भावना मूर्त रूप में सामने न आ रही थी। इसलिए एंगेल्स ने हकीकत को पहचानने पर ज़ोर दिया।

समस्या केवल रूस की नहीं थी, जर्मनी की भी थी। १८९४ में लिखे हुए 'फ्रांस और जर्मनी की किसान-समस्या' निबन्ध मे एंगेल्स ने मार्क नामक जर्मन ग्राम-समाज के बारे मे लिखा, यह समाज अपना शासन स्वयं करता था, किसान उसमे भागीदार था। पहले तो भूतपूर्व सामन्त इसकी सम्पत्ति हड़प गये; फिर रोमन कानून का अनुसरण करते हुए नौकरशाही ने उसे तोडा। पहले किसान चारा खरीदे विना सामान्य चरी की भूमि के सहारे जानवर पालता था; अब उसे यह सुविधा न रही। सामन्तों के लिए उसे जो सेवा-कार्य करना पड़ता था, उसे खत्म करने से जितना लाभ उसे हुआ, उससे ज्यादा हानि मार्क के खात्मे से हुई। ग्राम-समाज के बने रहने से उसे अधिक लाभ होता था। ऐसे किसानो की संख्या बढ़ती जा रही है जो अपने जानवर नही रख सकते। आज का किसान अपनी पुरानी उत्पादकता पचास फ़ीसदी खो चुका है। पहले किसान और उसका परिवार जो कच्चा माल पैदा करते थे, उससे अपनी जरूरत की अधिकांश औद्योगिक चीजें तैयार करते थे, बाकी चीजें वे उन पड़ोसियों से प्राप्त कर लेते थे जो खेती के अलावा कोई और पेशा करते थे। परिवार और उससे भी ज्यादा गाँव आत्मनिर्भर था; अपनी ज़रूरत की लगभग हर चीज वह पैदा कर लेता था। यह प्रायः विशुद्ध प्राकृतिक अर्थतन्त्र था; द्रव्य की लगभग कोई आवश्यकता न थी। पूँजीवादी उत्पादन ने बड़े पैमाने के उद्योगधन्धों और वित्तीय अर्थतन्त्र के चलन से यह सब समाप्त कर दिया। टैक्सों का बोझ है; फसल होती है, कभी नहीं होती; विरासत मे मिली सम्पत्ति का बँटवारा होता है; मुकदमेबाज़ी होती है; एक के बाद दूसरा किसान महाजन के चंगुल में फँसता जाता है। नतीजा यह कि छोटे किसान का सर्वहारा बनना लाज़मी है। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ. ४६०)।

जिस तरह के स्वायत्त ग्राम-समाज का वर्णन एंगेल्स ने यहाँ किया है, उसी तरह के ग्राम-समाज का चित्र भारत के प्रसंग मे मार्क्स के सामने था। प्राकृतिक अर्थतन्त्र के टूटने से अब पहले के समान वह आश्वस्त नहीं है कि किसान की मुक्ति जल्दी हो जायेगी। ग्राम-समाज टूट रहे थे, उनकी जगह धनी और निर्धन किसानो का भेद बढ़ रहा था। शहरों मे सर्वहारावर्ग संगठित हो रहा था। अब यह सम्भावना थी कि दोनों मिलकर पूँजीवाद को खत्म करें या नियन्त्रित करें जिससे कि किसानों को तबाही और मुफलिसी से बचाया जा सके। मार्क्स ने जब वैज्ञानिक समाजवाद का विकास न किया था, जब वह केवल जनवादी क्रान्तिकारी थे, तब भी वह किसानों के अधिकारों के लिए लड़े थे, यह तथ्य उनकी विचारधारा के विकास को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। १८४२ में उन्होंने जर्मन विधानसभा मे पूँजीपतियों की लूट के विरुद्ध किसानों की सम्पत्ति बचाने के पक्ष में भाषण किया था। किसानो की सम्पत्ति सामूहिक है या व्यक्तिगत, यह विवाद जर्मनी मे भी था जैसे कि भारत मे अंग्रेज़ी राज कायम होते समय यहाँ की भू-सम्पत्ति को लेकर विदेशी विद्वानों में था। इस सम्बन्ध मे मार्क्स की जीवनी में मेरिंग ने लिखा था, सम्पत्ति का रूप अस्पष्ट था; वह

खेती की भूमि व्यक्तिगत हो गयी, तब भी इस नये ग्राम-समाज पर पुराने कम्यून की छाप बनी रही। जंगल, चरी की भूमि, ऊसर, ये सब सामूहिक सम्पत्ति बने रहे। जर्मन लोगों ने कम्यून का यह नया रूप उन सारे देशों में फैला दिया जहाँ वे विजेता बनकर गये। समूचे मध्यकाल मे यह कम्यून लोकजीवन और स्वतन्त्रता का एकमात्र दुर्ग बना रहा। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ.१५५)। ग्राम-समाज का जो नया रूप है, वह नया इसी अर्थ मे है कि सामूहिक सम्पत्ति अब आंशिक है। चरी की भूमि, जगल वगैरह सारे गाँव की सम्पत्ति हैं, केवल खेती की भूमि व्यक्तिगत अर्थात् कुटुम्बगत है। कवालेव्स्की ने भारतीय ग्राम-समाजों की जो स्थिति बयान की थी, वह ठीक यही थी। इसीलिए मार्क्स की भारतीय इतिहास सम्बन्धी टिप्पणियों मे किसानों की व्यक्तिगत और साहित्यिक भू-सम्पत्ति का उल्लेख है। मार्क्स के लिए ग्राम-समाज पूँजीवाद से ही किसानों की रक्षा के साधन नहीं हैं, उससे पहले वे सामन्तों के खिलाफ भी रक्षा के साधन बन चुके हैं। रक्षा के साधन वे व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण नही, सामूहिक सम्पत्ति के कारण बनते है। किसानों में जितना ही सामूहिक चेतना होगी, एक साथ काम करने, जीने और लड़ने की चेतना होगी, उतना ही अपने हित में वे ग्राम-समाजों का समर्थ उपयोग कर सकेंगे। व्यक्तिगत सम्पत्ति का उद्भव और विकास हर परिस्थिति में समाज के लिए हितकारी नहीं है। यदि जर्मन ग्राम-समाज मध्यकाल मे सामन्ती शोषण से किसानों की रक्षा कर सकते थे या कम-से-कम उनकी रक्षा करने के लिए लड़ सकते थे, तो भारत के ग्राम-समाज भी अपनी भूमि और स्वाधीनता की रक्षा के लिए अंग्रेजो से लड़े हों तो यह कोई अनोखी बात नही थी। उनका यह काम स्वाभाविक होने के साथ उचित भी था।

१८९३ मे एंगेल्स ने रूसी विचारक दानियलसन के नाम पत्र में लिखा था, यदि पश्चिम मे हमारा आर्थिक विकास और तेजी मे हुआ होता, यदि हम १०-२० साल पहले इस पूँजीवादी व्यवस्था को उलट चुके होते, तो रूस के लिए यह सम्भावना पैदा हो सकती थी कि पूँजीवाद की ओर अपने विकास की प्रवृत्ति को वह संक्षिप्त कर दे। किन्तु दुर्भाग्य से हमारी चाल बहुत धीमी रही। पूँजीवादी व्यवस्था के जो आर्थिक नतीजे उसे नाजुक दौर में ले आते है, वे अब विकसित होना शुरू हुए है। इंग्लैण्ड अपना औद्योगिक इजारा तेजी से खो रहा है, फ्रांस और जर्मनी औद्योगिक विकास के उस स्तर तक पहुँच रहे हैं जो इंग्लैण्ड मे हैं और ऐसा लगता है कि उद्योगधन्धों और खेती दोनों की पैदावार मे अमरीका इन दोनों देशो को विश्व-बाजार से निकाल बाहर करेगा। आगे रूसी कम्यून के बारे मे उन्होंने लिखा, इस बीच तुम्हारे यहाँ कम्यून का लोप हो रहा है और हम यही आशा कर सकते हैं कि हमारे यहाँ बेहतर व्यवस्था के लिए जो परिवर्तन होगा, वह जल्दी होगा जिसमे कि तुम्हारे देश में, कम-से-कम उसके कुछ सुदूर इलाकों में, उन संस्थाओं को बचाया जा सके जो आगे की परिस्थितियों मे महान् भविष्य की रचना के लिए अपनी भूमिका पूरी करें। किन्तु हकीकत हकीकत है और हमें यह न भूलना चाहिए कि इसकी सम्भावना दिन-पर-दिन कम होती जाती है। (उप., पृ. ५०९)। पूँजीवाद शक्तिशाली सिद्ध हो रहा था; रूसी ग्राम-समाज टूट रहे थे,

पश्चिमी यूरोप में क्रान्ति की सम्भावना मूर्त रूप में सामने न आ रही थी। इस-लिए एंगेल्स ने हकीकत को पहचानने पर ज़ोर दिया।

समस्या केवल रूस की नहीं थी, जर्मनी की भी थी। १८९४ में लिखे हुए 'फ्रांस और जर्मनी की किसान-समस्या' निबन्ध में एंगेल्स ने मार्क नामक जर्मन ग्राम-समाज के बारे में लिखा, यह समाज अपना शासन स्वयं करता था, किसान उसमें भागीदार था। पहले तो भूतपूर्व सामन्त इसकी सम्पत्ति हड़प गये; फिर रोमन कानून का अनुसरण करते हुए नौकरशाही ने उसे तोड़ा। पहले किसान चारा खरीदे बिना सामान्य चरी की भूमि के सहारे जानवर पालता था; अब उसे यह सुविधा न रही। सामन्तों के लिए उसे जो सेवा-कार्य करना पड़ता था, उसे खत्म करने से जितना लाभ उसे हुआ, उससे ज्यादा हानि मार्क के खात्मे से हुई। ग्राम-समाज के बने रहने से उसे अधिक लाभ होता था। ऐसे किसानों की संख्या बढ़ती जा रही है जो अपने जानवर नहीं रख सकते। आज का किसान अपनी पुरानी उत्पादकता पचास फ़ीसदी खो चुका है। पहले किसान और उसका परिवार जो कच्चा माल पैदा करते थे, उससे अपनी ज़रूरत की अधिकांश औद्योगिक चीज़ें तैयार करते थे, बाकी चीज़ें वे उन पड़ोसियों से प्राप्त कर लेते थे जो खेती के अलावा कोई और पेशा करते थे। परिवार और उससे भी ज्यादा गाँव आत्मनिर्भर था; अपनी ज़रूरत की लगभग हर चीज़ वह पैदा कर लेता था। यह प्रायः विशुद्ध प्राकृतिक अर्थतन्त्र था; द्रव्य की लगभग कोई आवश्यकता न थी। पूँजीवादी उत्पादन ने बड़े पैमाने के उद्योगधन्धों और वित्तीय अर्थतन्त्र के चलन में यह सब समाप्त कर दिया। टैक्सों का बोझ है; फसल होती है, कभी नहीं होती; विरासत में मिली सम्पत्ति का बँटवारा होता है; मुकदमेबाज़ी होती है; एक के बाद दूसरा किसान महाजन के चंगुल में फँसता जाता है। नतीजा यह कि छोटे किसान का सर्वहारा बनना लाज़मी है। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ. ४६०)।

जिस तरह के स्वायत्त ग्राम-समाज का वर्णन एंगेल्स ने यहाँ किया है, उसी तरह के ग्राम-समाज का चित्र भारत के प्रसंग में मार्क्स के सामने था। प्राकृतिक अर्थतन्त्र के टूटने से अब पहले के समान वह आश्वस्त नहीं है कि किसान की मुक्ति जल्दी हो जायेगी। ग्राम-समाज टूट रहे थे, उनकी जगह धनी और निर्धन किसानों का भेद बढ़ रहा था। शहरों में सर्वहारावर्ग संगठित हो रहा था। अब यह सम्भावना थी कि दोनों मिलकर पूँजीवाद को खत्म करें या नियन्त्रित करें जिससे कि किसानों को तबाही और मुफ़लिसी से बचाया जा सके। मार्क्स ने जब वैज्ञानिक समाजवाद का विकास न किया था, जब वह केवल जनवादी क्रान्तिकारी थे, तब भी वह किसानों के अधिकारों के लिए लड़े थे, यह तथ्य उनकी विचारधारा के विकास को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है। १८४२ में उन्होंने जर्मन विधानसभा में पूँजीपतियों की लूट के विरुद्ध किसानों की सम्पत्ति बचाने के पक्ष में भाषण किया था। किसानों की सम्पत्ति सामूहिक है या व्यक्तिगत, यह विवाद जर्मनी में भी था जैसे कि भारत में अंग्रेज़ी राज कायम होते समय यहाँ की भू-सम्पत्ति को लेकर विदेशी विद्वानों में था। इस सम्बन्ध में मार्क्स की जीवनी में मेरिंग ने लिखा था, सम्पत्ति का रूप अस्पष्ट था; वह

निश्चित रूप से न व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, न सामूहिक सम्पत्ति थी, बल्कि दोनों का ऐसा मिला-जुला रूप थी जैसा मध्यकाल की सभी संस्थाओं में मिलता है। सम्पत्ति के इन अस्पष्ट और मिश्रित रूपों को रोमन कानून की अमूर्त कोटियों का अनुसरण करते हुए खत्म कर दिया गया था। किन्तु निर्धन वर्गों के परम्परागत अधिकारों में न्याय का सहज बोध निहित था और इन अधिकारों की जड़ें वैध और सकारात्मक थीं। निजी सम्पत्तिवाले जमीदार बेशर्मी से किसानों की भूमि पर अपना हक जता रहे थे। मार्क्स ने उस सम्पत्तिहीन जनता की वकालत की जिसके पास राजनीतिक और सामाजिक अधिकार नहीं थे। किन्तु मार्क्स के तर्क का आधार अभी न्यायसम्बन्धी धारणाएँ है, अर्थशास्त्र की धारणाएँ नहीं। (मेरिंग: कार्ल मार्क्स, पृ. ४१-४२)।

मेरिंग ने मार्क्स के जोरदार भाषणों की उचित प्रशंसा की है। ये भाषण जोरदार इसलिए थे कि मार्क्स ने अर्थशास्त्र के उन नियमों का पता अभी न लगाया था जिनसे किसान की तबाही अनिवार्य मालूम होती। पूंजीवाद बड़े पैमाने की खेती के लिए रास्ता साफ कर रहा था। जर्मन किसानों की सम्पत्ति, चाहे व्यक्तिगत हो, चाहे सामूहिक, खरीदी और बेची न जा सकती थी। पूंजीवाद के विकास में यह बहुत बड़ी रुकावट थी। मार्क्स १८४८ से लेकर पूंजी का प्रथम खण्ड लिखने तक इस रुकावट को हटाना, यानी पूंजीवाद द्वारा किसानों का तबाह होना, अनिवार्य मानते आये थे। इस चिन्तन में उनके जीवन के अन्तिम चरण में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। और वह परिवर्तन यह है कि वह किसान की तबाही को अनिवार्य नहीं मानते। हर सम्भव उपाय से उसे बचाने की कोशिश करते हैं। १८४२ में उन्होंने जिस स्तर से शुरूआत की थी, १८८१ में वह उससे मिलते-जुलते स्तर तक फिर पहुँचते हैं मानो हेगल के द्वन्द्ववाद को अपने चिन्तन में सार्थक करके दिखा रहे हैं। पहली स्थापना—बड़े पूंजीपतियों द्वारा किसानों की जमीन का लूटा जाना अन्याय है: प्रतिस्थापना—अन्याय तो है पर विकास के लिए अनिवार्य है; दोनों के विरोध में पैदा होनेवाली नयी स्थापना—अनिवार्यता से प्रयत्न द्वारा बचा जा सकता है। पहली स्थापना की अस्वीकृति, फिर इस अस्वीकृति की और ऊँचे स्तर पर अस्वीकृति। कहना न होगा कि किसानों को लेकर यह सारा चिन्तन मार्क्स के भारत-सम्बन्धी विवेचन से जुड़ा हुआ है। १८५३ में उन्होंने भारत पर उस समय निबन्ध लिखे जब वे किसानों की तबाही को अनिवार्य मानते थे। १८८१ के आसपास उन्होंने भारत के बारे में जो कुछ लिखा, वह उस समय लिखा जब वे इस तबाही की अनिवार्यता अस्वीकार करते थे। मार्क्स का चिन्तन गतिशील था, विकासमान था। उनकी गतिशीलता और विकास की दिशा पहचानकर ही किसानों की आम समस्या के बारे में और भारतीय स्वाधीनता की विशेष समस्या के बारे में मार्क्सवादियों को अपनी धारणा निश्चित करनी चाहिए।

१८८२ में मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र के रूसी संस्करण की भूमिका में लिखा था, यूरप में क्रान्तिकारी कार्यवाही का अग्रदल है रूस। उन्होंने यह बात यूरप और रूस के विकास का भेद जानते हुए कही थी। यूरप का मजदूर-वर्ग औद्योगिक विकास के अनुरूप क्रान्तिकारी आन्दोलन में आगे न बढ़ रहा था।

रूस में पूंजीवादी विकास के साथ-साथ, मार्क्स और एंगेल्स के अनुसार, देश की आधी भूमि किसानों की सामूहिक सम्पत्ति थी। पश्चिमी यूरोप की तरह यह सम्पत्ति विघटित होती है या नयी समाजवादी सम्पत्ति बन जाती है, यह इस पर निर्भर था कि रूस में क्रान्ति होती है या नही। रूस में क्रान्ति होने की बाट तो वे बहुत दिन से जोह रहे थे, अब जो नयी बात हुई वह यह कि उनके विचार से रूसी क्रान्ति पहले हो सकती है और पश्चिमी यूरोप मे सर्वहारा क्रान्ति उसके बाद हो सकती है। उन्होने लिखा था, यदि रूसी क्रान्ति पश्चिम मे सर्वहारा क्रान्ति शुरू करने के लिए सकेत बन जाती है जिससे कि दोनो एक-दूसरे की पूरक बनती है तो भूमि के वर्तमान सामूहिक स्वामित्व से रूस मे कम्युनिस्ट विकास की शुरूआत हो सकती है।

होना यह चाहिए था कि विकसित पश्चिमी यूरोप मे क्रान्ति पहले हो, वह रूसियों को प्रेरित करे कि वे भी अपने यहां का पुराना ढांचा बदलें। इसके विपरीत यह सम्भावना पैदा हुई कि रूसी क्रान्ति पहले हो, पश्चिम मे सर्वहारा क्रान्ति उसके बाद हो। रूसी क्रान्ति मानो एक आवश्यक सकेत है जिसके बिना यह क्रान्ति रुकी हुई है। रूसी क्रान्ति के बाद सामूहिक सम्पत्ति विघटित हुए बिना समाजवादी सम्पत्ति के रूप मे विकसित हो सकती है। मार्क्स और एंगेल्स के चिन्तन मे किसानो की जो महत्वपूर्ण भूमिका उभरकर आयी थी, उसी के अनुरूप उनकी यह स्थापना है कि पश्चिमी यूरोप मे पहले पिछड़े हुए रूस मे क्रान्ति हो सकती है।

३. मजदूर-वर्ग और जातीयता

(क) जातीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे मार्क्स और एंगेल्स ने कहा था, मजदूरो का कोई देश नही होता। देश के साथ जातीयता अथवा राष्ट्रीयता जुड़ी हुई है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में तथा अपनी अन्य कृतियों मे मार्क्स और एंगेल्स ने अन्तर्राष्ट्रीयता पर बहुत जोर दिया है। इससे कुछ लोगों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि मजदूरों का जातीयता से कुछ भी सम्बन्ध नही होता और मजदूर आन्दोलन मे जातीयता, देश, भाषा आदि की बातें करना एक तरह की संकीर्णता है जो मार्क्सवादी के लिए अक्षम्य है।

इस सम्बन्ध में सबसे पहले कम्युनिस्ट घोषणापत्र में ऐसी काफी सामग्री है जो यह साबित करती है कि अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ जातीयता अथवा राष्ट्रीयता का लोप नही है, उसका विनाश तो और भी नही है। घोषणापत्र के आरम्भ मे मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा है कि अपने विचारों की घोषणा करने के लिए 'विभिन्न जातियो के कम्युनिस्ट' लन्दन में एकत्र हुए हैं। कम्युनिस्ट और मजदूर किसी जाति के हैं या नही, यह उनकी इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर नही है। जाति का निर्माण या उसका लोप वस्तुगत सामाजिक प्रक्रिया का नतीजा है, किसी की इच्छा करने से न जाति बन जाती है और न गायब हो जाती है। लन्दन में जो कम्युनिस्ट एकत्र हुए थे, वे अपनी जातीय भाषाएँ बोलते थे। कोई कम्युनिस्ट एक से अधिक भाषाएँ बोले, यह उसकी इच्छा पर निर्भर था किन्तु प्रत्येक भाषा को बोलनेवाली

एक जाति थी। अंग्रेज या जर्मन मजदूर अपनी जाति की भाषा ही बोलते थे, जातियों से अलग मजदूरों की कोई अन्तर्राष्ट्रीय भाषा नही थी। उस समय न तो अंग्रेजी, न जर्मन अथवा यूरप की कोई अन्य भाषा विश्व भाषा बनी थी, इसलिए मार्क्स और एंगेल्स ने अपना घोषणापत्र जर्मन में लिखा।

जर्मन के अलावा घोषणपत्र अंग्रेजी, फ्रान्सीसी, इटालियन, फ्लेमिश (जो बेल्जियम मे बोली जाती थी) और डैनिश भाषाओं में प्रकाशित हुआ। बेल्जियम की भाषा फ्रान्सीसी है या फ्लेमिश, यह बहस बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में समाप्त नही हुई। घोषणापत्र फ्रान्सीसी के साथ फ्लेमिश मे भी छपा था, यह तथ्य मार्क्स और एंगेल्स की जातीय समानतावाली भाषा-नीति का अच्छा उदाहरण है। यूरप की भाषाओ में एक छोर पर स्पैनिश और पुर्तगाली, दूसरे छोर पर रूसी, इन भाषाओ मे घोषणापत्र अभी प्रकाशित न हुआ था। उस समय मजदूर आन्दोलन की ऐसी ही स्थिति थी।

१८४८ के आसपास यूरप में पूंजीवाद का विकास जिस ढंग से हो रहा था, उसी को ध्यान मे रखते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने जाति और देश की समस्या पर विचार किया था। जाति के निर्माण का सम्बन्ध किसी एक देश में जातीय बाजार के निर्माण से है। उन्नीसवी सदी का पूंजीवाद विश्व-बाजार कायम कर चुका था; वह इस बड़े बाजार के लिए माल तैयार करता था और उसे वहाँ बेचता था। मार्क्स और एंगेल्स ने घोषणापत्र मे लिखा था, पूंजीपतिवर्ग ने विश्व-बाजार का उपयोग करके प्रत्येक देश मे माल के उत्पादन और उसके उपभोग को विश्व-व्यापक रूप दे दिया है। प्रतिक्रियावादी इस बात से बहुत खिसियाये हैं कि उद्योग-धन्धो के नीचे से वह जातीय जमीन खिसक गयी है जिस पर वे अभी तक कायम थे। पहले से स्थापित सभी पुराने जातीय उद्योग या तो नष्ट हो चुके हैं या आये दिन उनका नाश हो रहा है। उनका स्थान नये उद्योग ले रहे हैं जिन्हें चालू करना सभी सभ्य जातियों के लिए जीवन और मरण का प्रश्न बना हुआ है। ये नये उद्योग ऐसे है कि वे कारखानों मे देशी कच्चा माल इस्तेमाल नही करते वरन् सुदूरतम प्रदेशों से कच्चा माल ढो लाते हैं। ये उद्योग ऐसे हैं कि उनका बनाया हुआ माल अपने ही देश मे नही खपाया जाता बल्कि दुनिया के हर हिस्से में उसकी खपत होती है। पुरानी आवश्यकताएँ ऐसी थी जो अपने देश के उत्पादन से पूरी हो जाती थीं; उनके बदले अब नयी आवश्यकताएँ है जिनकी पूर्ति दूर-दूर के प्रदेशो और इलाकों की उपज से होती है। पुरानी स्थानीय और जातीय एकान्तता तथा आत्मनिर्भरता के बदले हर तरफ परस्पर आदान-प्रदान हो रहा है, जातियो की परस्पर निर्भरता विश्वव्यापी हो गयी है।

विश्वबाजार का कायम होना, दूर-दूर की जातियों का आर्थिक सम्बन्धों मे बँधना, अन्तर्जातीय बाजार के लिए माल का उत्पादन और उसकी खपत वह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जो पूंजीवादी युग मे मजदूरो के अन्तर्राष्ट्रीय भाईचारे को अनिवार्य बनाती है। लेकिन माल की खपत जातीय बाजार में भी होती है, इंगलैण्ड के पूंजीपति दूसरे देशो को अपने कारखानो में बना हुआ माल भेजते थे, तो इसका यह मतलब नही है कि खुद इंग्लैण्ड मे वह माल न बेचते थे। विश्वबाजार कायम

होने से जातीय बाज़ारों का लोप नहीं हो जाता, वे विश्वबाज़ार में विलीन नहीं हो जाते; अक्सर ऐसा होता है कि वे और भी मजबूत होते हैं। मिसाल के लिए ब्रिटिश पूंजीपति अपना माल भारत में बेचने को बहुत उत्सुक थे किन्तु भारत में बने हुए कपड़ों की बिक्री पर उन्होंने अपने यहाँ रोक लगा दी थी। इसके दो परिणाम हुए। ब्रिटेन का घरेलू बाज़ार और भी सुगठित हुआ, दूसरी ओर भारतीय बाज़ार का स्वरूप बदल गया, वह अब कच्चा माल जुटानेवाले किसानों की देहाती मण्डी बन गया। दोनों जगह जातीय बाज़ार के स्वरूप में परिवर्तन हुआ और इस कारण अंग्रेज़ों के लिए 'राष्ट्रीयता' का मतलब हुआ—अपने बाज़ार में दूसरों के उद्योग-धन्धों का माल न बिकने दो; भारत के लिए 'राष्ट्रीयता' का मतलब हुआ—खेतिहर मण्डी की जगह औद्योगिक माल बेचनेवाला बाज़ार फिर कायम करो। अंग्रेज़ों के लिए 'राष्ट्रीयता' का मतलब हुआ भारत को गुलाम बनाकर रखना, भारत के लिए 'राष्ट्रीयता' का अर्थ हुआ इस गुलामी को खत्म करना।

आधुनिक जातियाँ पूंजीवादी युग की देन हैं, यह धारणा कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में विद्यमान है। मार्क्स और एंगेल्स ने इस सन्दर्भ में पूंजीपति-वर्ग की भूमिका के बारे में लिखा है, आबादी, उत्पादन के साधनों और सम्पत्ति के बिखराव की अवस्था को यह वर्ग क्रमशः खत्म करता जाता है। उसने आबादी को कुछ स्थानों में बड़े पैमाने पर बटोरा है, उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण किया है और थोड़े से आदमियों के बीच सारी सम्पत्ति समेट ली है। इस सबका अनिवार्य नतीजा हुआ राजनीतिक केन्द्रीकरण। जो प्रदेश स्वतन्त्र थे या जिनका आपसी सम्बन्ध शिथिल था, जिनके हित, कानून, शासन और कर-व्यवस्था, ये सब अलग-अलग थे, वे एक जाति में समेट लिये गये। इस जाति की एक सरकार थी, एक कानून था, एक जातीय वर्ग हित (one national class interest), एक सीमान्त था और एक चुंगी-व्यवस्था थी।

यहाँ बहुत अच्छे तरीके से मार्क्स और एंगेल्स ने जातीय निर्माण की प्रक्रिया समझायी है। शासन, कानून, कर-व्यवस्था, चुंगी आदि की भिन्नता समाप्त करके पूंजीवाद किसी प्रदेश में जातीय एकता कायम करता है। जैसे पूंजीवाद के बिना मजदूर वर्ग अपनी मुक्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ नहीं जुटा पाता, वैसे ही जातीय एकता के बिना वह राष्ट्रीय पैमाने पर अपनी एकता कायम नहीं कर सकता। यदि पूंजीवाद सामाजिक विकास के लिए ऐतिहासिक रूप में आवश्यक है, तो जातीय निर्माण भी उसी तरह आवश्यक है, अनिवार्य भी है। मार्क्स और एंगेल्स ने एक राष्ट्रीय वर्गहित की बात कही है। पूंजीपतियों और मजदूरों के हित परस्पर विरोधी होते हैं, दोनों एक-दूसरे के जन्मजात शत्रु हैं, फिर यह एक ही जातीय वर्गहित कौन-सी चीज़ हुई? इसका यह अर्थ हो सकता है: जातीय एकीकरण से पूंजीपतियों को दिलचस्पी है, इस एकीकरण से मजदूरों को भी दिलचस्पी है। दोनों की दिलचस्पी सामन्ती अलगाव को दूर करने से है। सामन्तविरोधी क्रान्ति में मज़दूर और पूंजीपति कुछ समय के लिए मिलकर काम कर सकते हैं। इसी परिस्थिति में मजदूरों और पूंजीपतियों के अलग-अलग वर्ग

मिलकर सामान्य जातीय हित बन सकते हैं।

मजदूर जब पूंजीपतियों से अपने अधिकारों के लिए लड़ते हैं, तब वे अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग समय में अपने संघर्ष चलाते हैं। ये सारे संघर्ष एकबारगी जातीय पैमाने पर नहीं चलाये जाते। किन्तु जातीय पैमाने पर उन्हें चलाना जरूरी होता है; इसके बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की नौबत आ सकती है। इस प्रसंग में मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र में लिखा है, जब तब मजदूर अपने संघर्ष में विजयी होते हैं किन्तु यह विजय थोड़े ही समय के लिए होती है। उनकी लड़ाई का वास्तविक फल तत्काल मिलनेवाला नतीजा नहीं है वरन् वह मजदूरों की निरन्तर बढ़ती हुई एकता है। आधुनिक उद्योगधन्धों ने जो उन्नत संचार-साधन प्रस्तुत किये हैं, उनसे एकताबद्ध होने में सहायता मिलती है। ये साधन विभिन्न इलाकों के मजदूरों को एक-दूसरे के सम्पर्क में ले आते हैं। इस सम्पर्क की ही जरूरत थी जिससे कि वर्गों के बीच चलनेवाले समान स्वरूपवाले बहुत से स्थानीय संघर्ष एक ही जातीय संघर्ष में सिमट आयें। यहाँ मार्क्स और एंगेल्स ने स्पष्ट कर दिया है कि सर्वहारा-वर्ग का संघर्ष पहले जातीय पैमाने पर ही चलाया जायेगा और यह काम आसान न होगा। मजदूर अलग-अलग स्थानों में केन्द्रित होते है, उनमें वर्गचेतना धीरे-धीरे फैलती है, वे एक ही स्तर के उद्योगों में काम नहीं करते, सबकी पगार एक-सी नहीं होती, इसलिए जातीय पैमाने पर उनके संगठित होने की प्रक्रिया भी आसान नहीं होती और समय लेती है। पूंजीवाद ने आधुनिक उद्योगधन्धों के विकास के द्वारा संचारसाधनों को सुधारा और उन्नत बनाया। इन संचारसाधनों से पूंजीपति ही लाभ नहीं उठाते, मजदूर भी लाभ उठा सकते है। संचारसाधनों की उन्नति, उनमें सुधार जातीय निर्माण के लिए जरूरी है, इसके साथ वह मजदूरों के स्थानीय संघर्षों को जातीय स्तरवाला संघर्ष बनाने के लिए जरूरी है। जाति न होगी तो जातीय स्तर का संघर्ष कहाँ से होगा? राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में परस्पर विरोध नहीं है। घोषणापत्र के लेखक कहते हैं: पूंजीपतियों से सर्वहारावर्ग का संघर्ष पहले जातीय संघर्ष होता है। ऐसा वह सारतत्व की दृष्टि से नहीं होता, रूप के विचार से होता है। प्रत्येक देश के सर्वहारा वर्ग को सबसे पहले निःसन्देह अपने ही पूंजीपतियों से निपटना होगा।

अपने देश के पूंजीपतियों से निपटते हुए मजदूर विश्व पैमाने पर पूंजीवाद को कमजोर करते है। किसी भी देश के पूंजीपति अलग-थलग न रहकर अन्य देशों के पूंजीपतियों से जुड़े होते है। इसीलिए सारतत्व के विचार से किसी एक देश के मजदूरों का संघर्ष जातीय होते हुए भी अन्तर्जातीय होता है। उसका सारतत्व अन्तर्राष्ट्रीय होता है, बाहरी रूप में वह राष्ट्रीय होता है। दूसरी मजदूर पार्टियों से कम्युनिस्ट पार्टियाँ भिन्न है। मार्क्स और एंगेल्स कहते हैं कि वे इस कारण भिन्न है कि जब किसी देश के मजदूर अपना जातीय संघर्ष चलाते हैं, तब कम्युनिस्ट समूचे सर्वहारा-वर्ग के सामान्य हितों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते है, वे जातीयता से स्वतन्त्र इन सामान्य [illegible] देते हैं। पूंजीपतियों के विरुद्ध मजदूरों का संघर्ष विकास की जिन [illegible] से गुजरता है, उनमें

वे हमेशा और हर जगह पूरे आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

यहाँ मार्क्स और एंगेल्स ने जातीय पैमाने पर चलाये जानेवाले संघर्षों में सामान्य हितों पर जोर देने की बात लिखी है। जहाँ ऐसा नहीं होता, वहाँ पूंजीपति एक देश के मजदूरों को दूसरे देश के मजदूरों से लड़ाते हैं। यदि इस काम में उन्हें सफलता मिले, तो इसका नतीजा यह होगा कि जातीय पैमाने पर भी मजदूर अपनी लड़ाई में सफल न हो पायेंगे। इस कारण जातीय पैमाने पर संघर्ष चलाते हुए मजदूर वर्ग के अन्तर्जातीय हितों को ध्यान में रखना जरूरी होता है। सामान्य हितों को ध्यान में रखने से यह सिद्ध नहीं होता कि किसी खास देश में मजदूरों का सम्बन्ध किसी जाति विशेष से नहीं है। मजदूर वर्ग समाज का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग है। वह क्रान्तिकारी केवल अपने लिए नहीं है, वह क्रान्तिकारी पूरे समाज को नया रूप देने के लिए है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में मार्क्स और एंगेल्स ने जहाँ लिखा है, मजदूरों का कोई देश नहीं होता, वहीं उन्होंने आगे लिखा है, जो उनके पास है नहीं, उसे हम उनसे छीन नहीं सकते। इसका मतलब यह हुआ कि पूंजीपतियों ने देश को अपनी सम्पत्ति बना लिया है; मजदूरों के लिए आवश्यक है कि वे पूंजीपतियों से यह सम्पत्ति छीनकर अपने कब्जे में करें। इसके बिना समाज के पुनर्गठन का काम पूरा नहीं हो सकता। कहते हैं, सर्वहारा-वर्ग को सबसे पहले राजनीतिक प्रभुत्व हासिल करना है, उसे जाति की अगुवाई करनेवाले वर्ग के रूप में ऊपर उठना है; उसे स्वयं जाति बनना है, इस कारण वह स्वयं जातीय है यद्यपि वह शब्द के पूंजीवादी अर्थ में जातीय नहीं है। मार्क्स और एंगेल्स के इस कथन से वर्ग और जाति का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। जाति, देश, जातीयता इन शब्दों का वही अर्थ मजदूरों के लिए नहीं है जो पूंजीपतियों के लिए है। पूंजीपतियों के लिए देश उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति है, जाति का निर्माण देशी और विदेशी बाजार में माल बेचकर मुनाफ़ा कमाने के लिए है, जातीय एकता उनके लिए वर्ग-संघर्ष से बचने का और उसे दबाने का एक साधन है। जातीय निर्माण की सारी प्रक्रिया में अगुवाई का काम पूंजीपति अपने पास रखना चाहते हैं। किन्तु जब मजदूर वर्ग अपनी मुक्ति के लिए लड़ेगा, तब वह पूंजीपतियों से यह अगुवाई का काम छीन लेगा, जाति का पुनर्गठन तभी होगा जब उसका अग्रदल मजदूर वर्ग उसका नेता होगा। जिस समय पूंजीवाद इतना विकसित हो चुकेगा कि पूंजीपति और उनके सहयोगी समाज में अल्पसंख्यक होंगे और श्रमिक वर्ग समाज का बहुसंख्यक वर्ग होगा, उस समय *मजदूर वर्ग स्वयं जाति बन जायेगा*, केवल जाति का नेता नहीं, वह जाति का मूर्तिमान रूप होगा। पूंजीपति जाति में ऐसे परिवर्तन की कल्पना नहीं करते। उनके लिए वह जाति किसी काम की नहीं है जिसमें पूंजीपतियों का अस्तित्व न हो। इसीलिए जब मजदूर वर्ग समाज का एक वर्गमात्र न रहकर पूरा समाज बन जायेगा, पूरी जाति बन जायेगा, तब इस जाति का वह अर्थ बिल्कुल न रहेगा जो पूंजीपतियों को प्रिय है और जिससे वे परिचित हैं। परिणाम यह निकला कि मजदूर वर्ग जातिविहीन नहीं होता, जातीयता केवल पूंजीवादी व्यवस्था में ही कायम नहीं रहती; समाजवादी व्यवस्था में वह नया रूप ग्रहण करती है और सामाजिक विकास में उसकी भूमिका भी पहले से

भिन्न होती है।

मार्क्स और एंगेल्स ने जब कम्युनिस्ट घोषणापत्र लिखा, तब ऐसा प्रतीत हो
था कि पूंजीवाद का विकास बड़ी तेज़ी से हो रहा है, वह सामन्ती अवशेषों क
खत्म कर रहा है और शीघ्र ही सारी दुनिया में पूंजीपतियों और मज़दूरों के दं
परस्पर विरोधी वर्ग रह जायेंगे। किन्तु उन्होंने देखा कि पूंजीवाद अनेक देशों मे
सामन्तवाद से समझौता करता है, स्वयं अपने विकास में रुकावटें खड़ी करता है,
इसका एक परिणाम यह होता है कि जर्मनी जैसे देश में मज़दूर समाज का अल्प-
सख्यक वर्ग बने रहते हैं। कम्युनिस्ट घोषणापत्र पढ़ते समय यह तथ्य याद रखना
चाहिए। मज़दूर वर्ग जाति बन जायेगा, समाज का बहुसंख्यक भाग बनेगा, यह
सम्भावना जर्मनी मे मार्क्स और एंगेल्स के जीवनकाल मे घटित न हुई थी।
कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे उन्होने लिखा था: विभिन्न देशों की जनता के बीच
जातीय भेदभाव और शत्रुभाव दिन पर दिन मिटते जा रहे हैं। इसका कारण पूंजी-
पतिवर्ग का विकास, व्यापार की स्वच्छन्दता, विश्वबाज़ार, उत्पादन की पद्धति
की एकरूपता और उसके अनुसार बननेवाली जीवन परिस्थितियों की एकरूपता
है। सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व कायम होगा तो यह भेदभाव और भी तेज़ी से समाप्त
होगा। सबकी संयुक्त कार्यवाही, कम से कम प्रमुख सभ्य देशों की संयुक्त कार्य-
वाही, सर्वहारा-वर्ग के उद्धार की पहली शर्त है। एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति
का शोषण जिस अनुपात में कम होगा, उसी अनुपात में एक जाति द्वारा दूसरी
जाति का शोषण भी समाप्त होगा। एक जाति के भीतर वर्गों का आपसी शत्रुभाव
जिस अनुपात मे खत्म होगा, उसी अनुपात मे एक जाति से दूसरी जाति की शत्रुता
समाप्त होगी।

यहां कम्युनिस्ट घोषणापत्र के लेखको ने जातीय भेदभाव के समाप्त होने की
बात कही है। पूंजीवादी विकास के साथ ऐसी परिस्थितियां पैदा होती हैं कि यह
भेदभाव कम हो। किन्तु वह सदा कम होता नही है, कभी-कभी बढ़ भी जाता है।
जितना ही एक देश के पूंजीपति विश्वबाज़ार मे हिस्सा पाने के लिए दूसरे देश के
पूंजीपतियों से लड़ते है, उतना ही वे जातीय विद्वेष को बढ़ावा देते हैं; जितना ही
एक देश के भीतर मज़दूर वर्ग का क्रान्तिकारी संघर्ष तेज होता है, उतना ही
जातीय एकता के नाम पर वे उसे दबाने की कोशिश करते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था
मे केवल एक वर्ग ही दूसरे वर्ग का शोषण नही करता, वरन् एक जाति भी दूसरी
जाति का शोषण करती है। अंग्रेज़ जाति भारत की सभी जातियों का शोषण
करती थी। अंग्रेज़ जाति में मुख्य शोषक पूंजीपति थे किन्तु लूट का एक हिस्सा
मज़दूरों को भी मिलता था। जो अन्य वर्ग पूंजीवादी स्वार्थों से जुड़े हुए थे, उनकी
बात ही अलग थी। इसलिए इंग्लैण्ड में बहुत थोड़े लोग जातीय शोषण के दायरे से
बाहर रह सके। अंग्रेज़ जाति जब भारत की जातियों का शोषण करती थी, तब
वह केवल आर्थिक शोषण न होता था; वह अपना आर्थिक शोषण कायम रखने के
लिए जैसे भारत के औद्योगिक विकास को रोकती थी, वैसे ही वह भारत में जातीय
निर्माण को रोकती थी। वह सामन्तों से समझौता करती थी, नये सामन्तों को
न्म देती थी, इस कारण सामन्ती अलगाव बनाये रखकर वह जातीय एकीकरण

धीरे जट्टी छोड़कर खुले समुद्र मे पहुँचता है। वे प्राय: सब के सब सच्चे जर्मन चेहरे थे। उन पर झूठ की छाया नही थी, उनके हाथ मजबूत थे। उनके बीच थोड़ी ही देर रहने से हम देख सकते हैं कि वे कितनी आत्मीयता से एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं। इससे पता चलेगा कि अछूते जंगलो और डालरों के देश में बसने के लिए जो लोग जाते हैं, वे समाज के सबसे घटिया लोग नही हैं। कहावत है अपने घर रहो और ईमान की कमाई खाओ। लगता है यह कहावत जर्मनों के लिए है पर ऐसा है नही। जो लोग ईमान की कमाई खाना चाहते हैं, अक्सर वे अमरीका चले जाते हैं, और हमेशा भोजन की कमी ही उन्हे दूर देश नही भेजती, लालच तो और भी नही। दरअसल जर्मन किसान की स्थिति अनिश्चित है। वह बँधुआ मजदूर और स्वाधीन किसान के बीच मे है। उसे बँधुआपन विरासत मे मिला है। दादा लोगों की अदालत के नियम-कायदे इस विरासत के साथ मिलकर उसके भोजन को फीका कर देते हैं, उसकी नीद हराम कर देते हैं और तब वह तय करता है कि वह मातृभूमि छोड़कर जायेगा। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ. ११६)।

(ऊपर जिन अदालतो का जिक्र है, वे सामन्ती अदालतें थी। इनका आधार जमीदारो का यह अधिकार था कि किसानो पर मुकदमा चला सकते हैं और उन्हें सजा दे सकते हैं। वे १८७७ मे समाप्त की गयी। (उप., टिप्पणी सख्या ६१, पृष्ठ ६०४)। इससे पता चलेगा कि जर्मनी मे सामन्ती अवशेष १९वी सदी के उत्तरार्द्ध मे भी कायम थे।) जहाज़ के अच्छे कमरो में धनी लोग यात्रा करते थे। गरीब आदमियों को नीचे तग स्थानों मे भर दिया जाता था। एंगेल्स ने इनके बारे मे लिखा, नीचे समाज की तलछट वे लोग थे जिनके पास केबिन का भाड़ा देने को पैसे नही थे। इन्हें देखकर कोई सर से टोप नही उतारता (यानी अभिवादन नही करता)। लोग कहेंगे, इनका व्यवहार बहुत साधारण है। कुछ लोग इन्हें गँवार कहेंगे; दौलत के नाम पर इनके पास कुछ नही है। यही लोग जर्मन सिद्धान्त की पताका उठाये हुए हैं, खासतौर से अमरीका मे। जो जर्मन शहरों मे रहते हैं, उन्होंने ही अमरीकियों को हमारी जाति से घृणा करना सिखाया है। जर्मन व्यापारी अपना जर्मनपन छोड़ना शान समझते हैं और पूरे अमरीकी बन्दर हो जाते हैं। कोई उन्हें जर्मन न समझे तो ये मिश्रित जीव अपने देशवासियों से भी अंग्रेज़ी बोलते हैं। जब वे जर्मनी लौटकर आते है, तब और भी ज्यादा अमरीकी बन जाते हैं। ब्रेमेन की सडकों पर अंग्रेज़ी अक्सर सुनायी देती है, पर यह समझना भूल होगी कि अंग्रेजी बोलनेवाला हर आदमी अंग्रेज होगा या अमरीकी होगा। अमरीकी लोग जब जर्मनी आते है, तब हमेशा जर्मन बोलते है जिससे कि हमारी कठिन भाषा सीख लें, लेकिन ये अंग्रेज़ी बोलनेवाले हमेशा जर्मन ही होते हैं जो अमरीका से लौटकर आये हैं। केवल जर्मन किसान और शायद तटवर्ती नगरों के कारीगर फौलादी दृढ़ता से जातीय रीति-रवाज और भाषा अपनाते है। (उप., पृष्ठ ११६-११७)।

जातीय चरित्र, जातीय भाषा के प्रति एंगेल्स का प्रबल आग्रह यहाँ साफ देखा जा सकता है। स्वाधीन रहने के लिए, पराधीन हो जाने पर स्वाधीनता को फिर से पाने के लिए राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना बहुत जरूरी है। एंगेल्स ने

वर्ग के विकास में सहायता मिली। जर्मनी में क्रान्ति और क्रान्तिविरोध पुस्तक मे एंगेल्स ने लिखा : १८४८ में पूंजीपतिवर्ग मजदूरों के कन्धे पर बैठकर ऊपर उठा था। अब मजदूरों ने सोच लिया था कि वह किसी दूसरे वर्ग को अपने ऊपर न बैठने देगा, उसे अपना वर्ग शासन सुदृढ़ करने न देगा। वह प्रयत्न करेगा कि वह अपने हितों के लिए संघर्ष चलाने लायक मैदान तो साफ कर ही ले। कम-से-कम वह घटनाक्रम को ऐसा रूप दे कि या तो जाति अपने क्रान्तिकारी मार्ग पर भली-भाँति और अप्रतिहत वेग से आगे बढ़ सके अथवा जहाँ तक बन पड़े, क्रान्ति से पहलेवाली स्थिति बहाल कर ले जिससे कि नयी क्रान्ति अनिवार्य हो जाय। दोनों ही स्थितियो मे मजदूरवर्ग पूरी जाति के वास्तविक हितों को अच्छी तरह समझकर उनका प्रतिनिधित्व कर रहा था। सभ्य यूरुप के पुराने समाजों के लिए क्रान्तिकारी मार्ग ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था। इसके बिना उनमें कोई भी समाज अपने साधनों का नियमित और शान्तिपूर्वक विकास करने की बात न सोच सकता था। मजदूरवर्ग इसी क्रान्तिकारी पथ को प्रशस्त करने के लिए प्रयत्नशील था। (उप. ३७६)। यहाँ एंगेल्स ने बहुत साफ-साफ दिखाया है कि मजदूरवर्ग किस तरह पूरी जाति के हितों का प्रतिनिधित्व करता है, वह अपने लिए जो क्रान्तिकारी पथ प्रशस्त करता है, उस पर चलकर ही पूरी जाति अपना विकास कर सकती है। जातीय विकास में मजदूरवर्ग की यह भूमिका पैरिस कम्यून के समय और भी स्पष्ट होकर सामने आयी। फ्रांस के मजदूरों ने अपनी हुकूमत बनायी थी। फ्रांस में गृहयुद्ध पुस्तक मे मार्क्स ने लिखा, फ्रांसीसी समाज के सभी स्वस्थ तत्वों का सच्चा प्रतिनिधि कम्यून था और इस कारण वह सच्ची राष्ट्रीय सरकार था; इसके साथही श्रमिकजनों की सरकार होने के कारण, श्रम के उद्धार का साहसी समर्थक होने के नाते वह जोरो से अन्तर्राष्ट्रीय भी था। प्रुशिया की फौज ने फ्रांस के दो सूबे जर्मनी मे मिला लिये थे, कम्यून ने सारी दुनिया की श्रमिक जनता को फ्रांस मे मिला लिया। (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड २, पृ. २२७)।

जातीय विकास में पूंजीपतियों की भूमिका पर बहुत कुछ लिखा गया है। जातीय निर्माण मे मजदूरों की भूमिका भी महत्वपूर्ण होती है, उस पर कम लिखा गया है। जाति की श्रेष्ठ सांस्कृतिक विरासत की रक्षा मजदूर ही करते हैं। जातीय एकीकरण में मजदूरों की भूमिका तो काफ़ी लोग स्वीकार करेंगे किन्तु किसान? अलग-थलग पड़े हुए, छोटे पैमाने की खेती करते हुए, सम्पत्ति के ऐसे रूपों से बँधे हुए जो न पूरी तरह सामूहिक हैं और न पूरी तरह व्यक्तिगत है, ये किसान जातीय चरित्र की रक्षा कैसे करेंगे? अपने क्रान्तिकारी जीवन के आरम्भ से ही मार्क्स और एंगेल्स जातीय समस्या की ओर ध्यान देते रहे थे। एंगेल्स ने १८४१ मे जातीय चरित्र की रक्षा करने के सन्दर्भ में जर्मन किसानो की प्रशंसा की थी। जर्मनी के ब्रेमेन नगर से प्रवासी जर्मन जीविका की खोज में देश छोड़कर बाहर जा रहे थे। एंगेल्स उस जहाज पर गये जिसमें बड़ी संख्या मे ये प्रवासी एकत्र थे। एंगेल्स ने इनके बारे में लिखा : लोग अभी प्रसन्न थे, अपनी जन्मभूमि से अभी पूरी तरह विदा न हुए थे। लेकिन जब वे सचमुच जर्मन भूमि सदा के लिए छोड़ते हैं, तब मैंने देखा है कि इसका कितना गहरा असर उन पर होता है। जहाज धीरे-

धीरे जट्टी छोड़कर खुले समुद्र मे पहुँचता है। वे प्राय: सब के सब सच्चे जर्मन चेहरे थे। उन पर झूठ की छाया नही थी, उनके हाथ मजबूत थे। उनके बीच थोडी ही देर रहने से हम देख सकते है कि वे कितनी आत्मीयता से एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं। इससे पता चलेगा कि अछूते जंगलो और डालरों के देश में बसने के लिए जो लोग जाते हैं, वे समाज के सबसे घटिया लोग नही है। कहावत है अपने घर रहो और ईमान की कमाई खाओ। लगता है यह कहावत जर्मनों के लिए है पर ऐसा है नही। जो लोग ईमान की कमाई खाना चाहते है, अक्सर वे अमरीका चले जाते है, और हमेशा भोजन की कमी ही उन्हें दूर देश नही भेजती, लालच तो और भी नही। दरअसल जर्मन किसान की स्थिति अनिश्चित है। वह बँधुआ मज़दूर और स्वाधीन किसान के बीच में है। उसे बँधुआपन विरासत मे मिला है। दादा लोगों की अदालत के नियम-कायदे इस विरासत के साथ मिलकर उसके भोजन को फीका कर देते है, उसकी नीद हराम कर देते है और तब वह तय करता है कि वह मातृभूमि छोडकर जायेगा। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ. ११६)।

(ऊपर जिन अदालतों का जिक्र है, वे सामन्ती अदालतें थीं। इनका आधार ज़मीदारों का यह अधिकार था कि किसानो पर मुकदमा चला सकते हैं और उन्हें सजा दे सकते है। वे १८७७ मे समाप्त की गयी। (उप., टिप्पणी सख्या ६१, पृष्ठ ६०४)। इससे पता चलेगा कि जर्मनी मे सामन्ती अवशेष १९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी कायम थे।) जहाज़ के अच्छे कमरों में धनी लोग यात्रा करते थे। गरीब आदमियों को नीचे तग स्थानों मे भर दिया जाता था। एंगेल्स ने इनके बारे मे लिखा, नीचे समाज की तलछट वे लोग थे जिनके पास केबिन का भाडा देने को पैसे नही थे। इन्हें देखकर कोई सर से टोप नही उतारता (यानी अभिवादन नही करता)। लोग कहेंगे, इनका व्यवहार बहुत साधारण है। कुछ लोग इन्हे गँवार कहेगे; दौलत के नाम पर इनके पास कुछ नही है। यही लोग जर्मन सिद्धान्त की पताका उठाये हुए है, खासतौर से अमरीका मे। जो जर्मन शहरों मे रहते हैं, उन्होंने ही अमरीकियों को हमारी जाति से घृणा करना सिखाया है। जर्मन व्यापारी अपना जर्मनपन छोड़ना शान समझते हैं और पूरे अमरीकी बन्दर हो जाते हैं। कोई उन्हे जर्मन न समझे तो ये मिश्रित जीव अपने देशवासियों से भी अंग्रेज़ी बोलते है। जब वे जर्मनी लौटकर आते है, तब और भी ज्यादा अमरीकी बन जाते है। ब्रेमेन की सड़कों पर अंग्रेज़ी अक्सर सुनायी देती है, पर यह समझना भूल होगी कि अंग्रेज़ी बोलनेवाला हर आदमी अंग्रेज़ होगा या अमरीकी होगा। अमरीकी लोग जब जर्मनी आते है, तब हमेशा जर्मन बोलते हैं जिसमे कि हमारी कठिन भाषा सीख लें, लेकिन ये अंग्रेज़ी बोलनेवाले हमेशा जर्मन ही होते हैं जो अमरीका से लौटकर आये हैं। केवल जर्मन किसान और शायद तटवर्ती नगरों के कारीगर फौलादी दृढ़ता से जातीय रीति-रवाज और भाषा अपनाते हैं। (उप., पृष्ठ ११६-११७)।

जातीय चरित्र, जातीय भाषा के प्रति एंगेल्स का प्रबल आग्रह यहाँ साफ़ देखा जा सकता है। स्वाधीन रहने के लिए, पराधीन हो जाने पर स्वाधीनता को फिर से पाने के लिए राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना बहुत जरूरी है। एंगेल्स ने

किसानों को उसी जातीय आत्मसम्मान का रक्षक बताया है। जब ये किसान शहरों में आकर मज़दूरी करते हैं, तब वे अपनी जातीय विशेषताएँ कहीं फेंक नहीं आते। पूँजीपतियों की अपेक्षा वे जातीय संस्कृति की रक्षा दृढ़तापूर्वक करते हैं। कम्युनिस्ट घोषणापत्र का अनुवाद अनेक भाषाओं में हुआ। इसका उद्देश्य यह घोषित करना था कि आधुनिक पूँजीवादी सम्पत्ति का विघटन निकट है। घोषणापत्र मुख्यतः मज़दूरों को ध्यान में रखकर लिखा गया था। जर्मन से इसका अनुवाद जब किसी अन्य भाषा में होता था और मार्क्स और एंगेल्स उसकी भूमिका लिखते थे, तो वे अक्सर उस भाषा के बोलनेवाले मज़दूरों के जातीय सम्मान की भावना का ध्यान रखते थे। क्रान्तिकारी आन्दोलन में मज़दूर एक वर्ग की हैसियत से भाग लें, यह बताने के अलावा वे उनको याद दिलाते थे, तुम ऐसी जाति के मज़दूर हो, इसलिए तुम्हें और भी आगे बढ़कर आन्दोलन में हिस्सा लेना चाहिए। घोषणापत्र के १८८२ वाले रूसी संस्करण की भूमिका में मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा था : जो रूस किसी समय यूरोप के प्रतिक्रियावाद का गढ़ था, वह अब क्रान्तिकारी कार्यवाही का अग्रदल है। इस तरह उन्होंने रूसी मज़दूरों के जातीय सम्मान की भावना को उभारा। १८९२ में घोषणापत्र का अनुवाद पोलिश भाषा में प्रकाशित हुआ। इसकी भूमिका में एंगेल्स ने लिखा : पोलिश उद्योग-धन्धों का विकास इतनी तेजी से हुआ है कि रूस पीछे छूट गया है। पोलिश जनता की अजस्र जीवनी शक्ति का यह प्रमाण है; पोलैण्ड राष्ट्र के रूप में शीघ्र ही प्रतिष्ठित होगा, इसकी यह नयी गारण्टी है। स्वाधीन और शक्तिशाली पोलैण्ड का पुनः प्रतिष्ठित होना ऐसी चीज़ है जिसका सम्बन्ध केवल पोलैण्ड के लोगों से नहीं है, हम सब लोगों से है। यूरप के मज़दूरों को पोलैण्ड की स्वाधीनता वैसे ही दरकार है जैसे वह पोलैण्ड के मज़दूरों को है।

यहाँ एंगेल्स ने मज़दूरों की वर्गचेतना को उनकी जातीय चेतना से मिलाकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने को उन्हें प्रेरित किया। १८९३ में घोषणापत्र का अनुवाद इटालियन में छपा। जर्मन जाति से इटालियन जाति की तुलना करते हुए इसकी भूमिका में एंगेल्स ने लिखा : जिस समय यह घोषणापत्र छपा था, उस समय इटली के मिलान शहर और जर्मनी के बर्लिन शहर में क्रान्तियाँ हुई थीं। ये दो ऐसी जातियों के सशस्त्र विद्रोह थे जो उस समय तक आन्तरिक कलह और विभाजन से निर्बल हो चुकी थीं, और इस प्रकार उन पर विदेशी प्रभुत्व कायम हो गया था। १८४८ की क्रान्तियों के फलस्वरूप इटली और जर्मनी को इस अपमानजनक स्थिति से मुक्ति मिली। १८४८ से १८७१ के बीच इन दो महान् जातियों का पुनर्गठन हुआ, क्रान्ति का फल पूँजीपतिवर्ग ने हथियाया, मज़दूरों ने पूँजीपतियों को सत्ताधारी बनाया। किसी भी देश में राष्ट्रीय स्वाधीनता के बिना पूँजीपतिवर्ग का शासन असम्भव है। इसलिए १८४८ की क्रान्ति ने उन जातियों में एकता और स्वायत्तता कायम की जिनमें तब तक इनका अभाव था। १८४८ की क्रान्ति समाजवादी नहीं थी किन्तु उसने ऐसी क्रान्ति के लिए रास्ता साफ़ किया। १८४८ में जो संघर्ष हुए, वे व्यर्थ नहीं गये। "घोषणापत्र ने अतीत काल में पूँजीवाद की क्रान्तिकारी भूमिका पूरी तरह उभारकर पेश की। इटली पहला

पूँजीवादी राष्ट्र था। सामन्ती मध्यकाल के अवसान और आधुनिक पूँजीवादी युग के प्रारम्भ के समय एक विराट व्यक्ति हमारे सामने आता है: वह इटली का कवि दान्ते है। वह मध्यकाल का अन्तिम कवि, आधुनिक काल का प्रथम कवि है। १३०० ईसवी की तरह अब एक नया ऐतिहासिक युग शुरू होने को है। क्या इटली हमे नया दान्ते देगा जो इस नये सर्वहारा युग के जन्म का गीत लिखे ?"

जिस समय दान्ते का जन्म हुआ था, उस समय इटली विभाजित और पिछड़ा हुआ देश था। जिस समय दान्ते ने अपना काव्य रचा, उस समय यूरुप में पुनर्जागरण युग आरम्भ हो रहा था। मशीनें नही थीं, कारखाने नही थे, आधुनिक सर्वहारा-वर्ग नही था किन्तु इटालियन जाति थी और वह जाति १८६३ मे थी, जब कारखाने थे, मशीनें थीं और सर्वहारा-वर्ग था। इस सर्वहारा-वर्ग को एंगेल्स ने अपनी जातीय विरासत पर गर्व करने को कहा, उस विरासत को आगे बढ़ाने को कहा। उनका यह आह्वान सार्थक इसीलिए था कि अन्य वर्गों की अपेक्षा मज़दूर वर्ग ही जातीय विरासत की रक्षा अधिक कर सकता है। जो वर्ग स्वय पुनर्जीवित होने के साथ पूरी जाति को नया जीवन देता है, वह उस जाति की मूल्यवान विरासत को कैसे छोड सकता है? इस विरासत मे साहित्य है, साहित्य के अलावा उन संघर्षों का इतिहास है जिन्हे जातीय एकता और स्वाधीनता के लिए विभिन्न वर्गों ने चलाया था।

१८८६ में एंगेल्स ने दर्शनशास्त्र पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **लुडविग फायरबाख** लिखी। इसके अन्त में उन्होंने अपने देश की महान् दार्शनिक परम्परा को याद किया, उन दिनों को याद किया जब जर्मनी घोर राजनीतिक अपमान की पीड़ा सह रहा था। उन दिनों गर्व करने की वस्तु केवल उसका दर्शन था। १८४८ की क्रान्ति के बाद शिक्षित जर्मनों ने दार्शनिक चिन्तन से छुट्टी ली। बड़े पैमाने के उद्योगधन्धे शुरू हुए, जर्मनी विश्वबाजार मे दाखिल हुआ। समाजविज्ञान में, दर्शन शास्त्र में सिद्धान्त चर्चा के प्रति जो निर्भय उत्साह था, वह लुप्त हो गया। क्लासिकल दर्शन का लोप हो गया, पैसा कमाना मुख्य उद्देश्य हो गया, ज्ञान-विज्ञान के प्रतिनिधि पूँजीपतिवर्ग के प्रचारक बन गये हैं। सिद्धान्त चर्चा के प्रति आग्रह केवल मजदूर वर्ग में रह गया है। यहाँ उसका लोप नही हो सकता। यहाँ पैसा कमाने या दूसरों की इनायत की बाट जोहने की चिन्ता नही है। जर्मन मजदूर वर्ग का आन्दोलन जर्मन क्लासिकल दर्शन का उत्तराधिकारी है। (**सेलेक्टेड वर्क्स**, खण्ड ३, पृष्ठ ३७६)।

प्रत्येक जाति की अपनी विशेष विरासत है। प्रत्येक जाति के मज़दूर वर्ग को इस विरासत पर गर्व करने का अधिकार है। मज़दूरों की अन्तर्राष्ट्रीयता इस जातीय विरासत को अस्वीकार नही करती, वह उसे विश्वमानवता की सम्पत्ति बनाती है। मनुष्य जाति के ऐतिहासिक विकासक्रम में जितने भी सामाजिक गठन कायम हुए, वे एक युग समाप्त होने के बाद दूसरे युग मे अन्तर्धान हो गये। जाति ऐसा सामाजिक गठन है जो पूँजीवादी युग के बाद समाजवादी युग में भी कायम रहता है। सामूहिक श्रम और सामूहिक सम्पत्ति के युग मे सामाजिक गठन का रूप था गण या कबीला। जब गणसमाजों का युग समाप्त हुआ, कुटुम्बगत छोटे

पैमाने के उत्पादनवाली सामन्ती व्यवस्था समाप्त हुई, तब गण समाप्त हो गये। उनके स्थान पर जनपदो मे रहनेवाली सामन्ती व्यवस्था की लघु जातियाँ कायम हुई। उत्पादन और विनिमय के विकास के साथ पूंजीवादी व्यवस्था मे ये लघु जातियाँ विघटित हुईं और आधुनिक जातियों का निर्माण हुआ। यह विघटन और निर्माण की प्रक्रिया समाजवादी युग में जारी नही रहती। रूसी जाति पहले थी, अब भी है। रूसी और गैररूसी जातियो के मिलने से समाजवादी युग मे कोई नयी जाति बन जाय, ऐसा नही होता। इस प्रकार सामाजिक गठन के रूपों में जाति सबसे ज्यादा टिकाऊ होती है, इस अर्थ मे टिकाऊ होती है कि वह दो युगो में कायम रहती है। इसीलिए उसके निर्माण और विकास के प्रति मजदूर वर्ग तटस्थ और उदासीन नही रहता, यह उसकी सारी ऐतिहासिक विरासत आत्मसात् करके उसे नया जीवन देने मे अपनी क्रान्तिकारी भूमिका पूरी करता है।

४. आयरलैंण्ड की स्वाधीनता और ब्रिटिश मजदूर वर्ग

(क) आयरलैण्ड में अंग्रेजी राज की भूमिका

सामाजिक गठन का वह रूप जो जाति कहलाता है, इतना महत्वपूर्ण है कि उसके बिना हम किसी ऐसे समाज की कल्पना नही कर सकते जिसमे औद्योगिक मजदूरों के साथ किसानों की एकता कायम हो सके। जिस सामाजिक गठन के भीतर मजदूरों और किसानो की एकता कायम होती है, उसका नाम जाति है। इसलिए यह मानना तर्कसंगत है कि किसान और मजदूर मिलकर जो जनवादी क्रान्ति करेंगे, वह जातीय क्रान्ति भी होगी। यह जातीय क्रान्ति जमीदारों और पूंजीपतियों से मुक्ति पाने के लिए होगी किन्तु यदि पूरी जाति पर विदेशियों का प्रभुत्व है, तो यह जातीय क्रान्ति सबसे पहले राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम का रूप लेगी। राष्ट्रीय स्वाधीनता के बिना किसी जाति का सामाजिक विकास नही हो सकता, क्रान्तिकारी आन्दोलन का विकास नही हो सकता, किसानों और मजदूरो की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नही हो सकता। कम्युनिस्ट घोषणापत्र में ही मार्क्स और एंगेल्स ने पोलैण्ड के राष्ट्रीय उद्धार से वहाँ की किसान-क्रान्ति का सम्बन्ध जोड़ा था, १८४६ में वहाँ जिस पार्टी ने राष्ट्रीय विद्रोह संगठित किया था, उसका समर्थन किया था। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, इटली आदि देशो की राष्ट्रीय स्वाधीनता का समर्थन अनेक लेखों और पुस्तको मे मार्क्स और एंगेल्स ने समय-समय पर किया था। इस सबका अध्ययन यह दिखाने के लिए बहुत रोचक होगा कि मार्क्स के क्रान्तिकारी चिन्तन मे राष्ट्रीय स्वाधीनता का प्रश्न किस सीमा तक महत्वपूर्ण है। किन्तु इसके लिए यहाँ अवकाश नही है, और यह भी कहा जा सकता है कि ये तो यूरुप के देश थे, भारत की अपेक्षा अधिक विकसित रहे होगें, उनके लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता ठीक थी, यहाँ पिछड़े हुए देश में सामाजिक क्रान्ति अंग्रेज़ी राज कायम होने पर ही सम्भव थी, इसलिए भारत के सन्दर्भ मे राष्ट्रीय स्वाधीनता की बात करना व्यर्थ है। तो यूरुप के देशों की बात छोड़कर एक ऐसे देश की बात करना अधिक प्रासंगिक होगा जो भारत की तरह ही पिछड़ा हुआ था और जिस पर अंग्रेज़ों ने अपना राज भी कायम किया था। इस देश का नाम है आयरलैण्ड।

मार्क्स जब भी ग्राम-समाजों और सामूहिक सम्पत्ति की बात करते थे, तब वह अक्सर भारत के साथ आयरलैंण्ड को भी याद करते थे। उन्होंने १८५३ के निबन्धों मे भारत को पूरब का आयरलैण्ड कहा भी था। १८४५ मे एगेल्स की पुस्तक **इंग्लैण्ड के मजदूर वर्ग की दशा** प्रकाशित हुई। यहाँ आयरलैंण्ड के प्रति वही दृष्टिकोण है जो १८५३ मे मार्क्स का भारत के प्रति था। अंग्रेज़ी राज में आइरिश लोग तबाह हो रहे हैं। तबाही से बचने के लिए वे तरह-तरह के अपराध करते हैं या फिर इंग्लैण्ड से अपने कानूनी गठबन्धन को रद्द करने के लिए आन्दोलन करते है। अशिक्षित आइरिश जनों को अपने सबसे बड़े शत्रु अंग्रेज़ जान पड़ते हैं और सुधार की आशा उन्हे सबसे पहले राष्ट्रीय स्वाधीनता-प्राप्ति में दिखायी देती है। आगे लिखा है, "पर यह भी बिल्कुल स्पष्ट है कि आयरलैण्ड की मुसीबत गठबन्धन को रद्द करनेवाले किसी कानून से दूर न होगी। ऐसे कानून से यह जरूर होगा कि जो मुसीबत अभी बाहर से आती जान पड़ती है, वह फिर उस देश में ही जन्म लेती दिखायी देगी। साथ ही इस सवाल का अभी फैसला नही हुआ कि आइरिश लोगों के सामने उक्त तथ्य को स्पष्ट करने के लिए गठबन्धन रद्द करना जरूरी होगा।" (ऑन ब्रिटेन, पृ. ३१०)। आयरलैण्ड की प्रगति के लिए सामाजिक क्रान्ति जरूरी है। पुरानी व्यवस्था हटाकर औद्योगिक विकास की राह पर चलना है। अभी मालूम होता है कि राष्ट्रीय स्वाधीनता मिलने से समस्या हल हो जायेगी। इंग्लैण्ड से जिस कानूनी बन्धन द्वारा आयरलैण्ड बँधा हुआ है, उसे तोड़ना बहुत ज़रूरी नही है, आइरिश जनता के सामने यह मुख्य कार्य नही है।

जो लोग भारत मे अंग्रेज़ी राज कायम कर रहे थे, वही आयरलैण्ड को गुलाम बना रहे थे। भारत मे अंग्रेज़ो के मुख्य सग्राम १८वी सदी मे हुए, आयरलैण्ड में ये सग्राम लगभग साढे सात सौ साल तक चले। अंग्रेजों ने भारत में जो युद्ध किये, उनसे यह देश तबाह हुआ; जिस देश मे उन्होंने साढे सात सौ साल तक युद्ध किये होंगे, उस देश की तबाही की कल्पना कीजिए। मार्क्स और एंगेल्स मे कोई भी भारत न आया था किन्तु इंग्लैण्ड मे रहने के कारण वे आइरिश लोगो से खूब परिचित थे, इसके सिवा १८५६ मे एगेल्स ने आयरलैण्ड की यात्रा की थी। यात्रा समाप्त करने के बाद इंग्लैण्ड लौटने पर एंगेल्स ने ३० मई १८५६ को मार्क्स के नाम जो पत्र लिखा था, वह उन विद्वानो के ध्यान देने योग्य है जिन्हें मार्क्स के भारत-सम्बन्धी लेखो से दिलचस्पी है। एगेल्स ने आयरलैण्ड के गाँवो मे लगभग ५०० मील की यात्रा की थी और शहरों के अलावा सारे देश का दो-तिहाई भाग अच्छी तरह देखा था। डब्लिन नगर पर अंग्रेज़ियत की छाप थी किन्तु बाकी नगरों में पुलिस-कर्मचारी, पादरी, वकील, राजकर्मचारी, जमीदार, इन सबकी इफ़रात थी, "और किसी भी तरह के उद्योग-धन्धे का नाम-निशान न था। यह समझ पाना मुश्किल होता कि आखिर ये परजीवी लोग अपनी खुराक कहाँ से पाते है, यदि किसानो की मुफलिसी से तस्वीर का दूसरा पक्ष सामने न आ जाता।" (**सेलेक्टेड करेस्पोण्डेन्स**, पृ. ९३)। यदि औद्योगिक पूंजीवाद के प्रतिनिधि भारत पर विजय पाने आये थे, तो वही लोग आयरलैण्ड पर विजय पा चुके थे।

यदि इनके भारत पहुँचने से औद्योगिक विकास हो पाता तो वैसा विकास आयरलैण्ड में भी दिखायी देता। किन्तु वहाँ किसी भी तरह के उद्योग-धन्धों का नाम-निशान न था और अंग्रेजों समेत वहाँ जो बड़ा परजीवी वर्ग शहरों में फैला हुआ था, उसकी जीविका का एकमात्र साधन किसानों का श्रम था।

यह स्वाभाविक था कि किसानों को दबाये रखने के लिए सख्त उपाय काम में लाये जायें। एंगेल्स ने देखा कि इन सख्त उपायों के निशान देश के हर कोने में है। सरकार हर काम मे दखल देती है, तथाकथित स्वायत्त शासन का चिह्न नही है। आयरलैण्ड वह पहला उपनिवेश है जहाँ पुराने ढंग से शासन चलाया जा रहा है। "यहाँ हम देख सकते हैं कि अंग्रेज नागरिकों को जो तथाकथित स्वाधीनता मिली हुई है, उसका आधार उपनिवेशों का उत्पीड़न है। मैंने इतने पुलिसवाले किसी दूसरे देश में नही देखे। इनके पास बन्दूकें, संगीनें और हथकड़ियाँ रहती है। शराब पिये हुए प्रुशिया का थानेदार जैसा चेहरा बना लेता है, वैसा चेहरा यहाँ अपने पूर्ण विकसित रूप मे दिखायी देता है।" (उप.)। चारों तरफ ध्वंसावशेष दिखायी देते हैं। सबसे पुराने पाँचवें और छठी सदियो के हैं और सबसे बाद-वाले उन्नीसवी सदी के। सबसे पुराने खँडहर गिरजाघरों के हैं। ११०० ई. के बाद के खँडहर गिरजाघरो और किलों के है और १८०० ई. के बाद के खँडहर किसानों के घरो के है। सारा पश्चिमी इलाका इन किसान-घरों के खँडहरों से पटा पड़ा है। इनमे से बहुत-से घर तो अभी १८४६ मे किसान छोड़कर भागे है। "मैं नहीं जानता था कि भुखमरी का ऐसा मूर्त यथार्थ रूप भी हो सकता है।" (उप.)। गाँव के गाँव बरबाद हो गये। इन बरबाद गाँवो के बीच में छोटे जमींदारों के खूबसूरत पार्क बने हुए हैं। भुखमरी, बेदखली और विदेश जाने के कारण यह हालत हुई है। मैदानों मे जानवर तक नहीं दिखायी पडते। हर तरफ सुनसान वीराना है मानो किसी को जमीन की जरूरत ही न हो। क्लेअर नाम के इलाके में कुछ जानवर दिखायी दिये। पहाड़ियों पर अच्छी खेती-बाड़ी दिखायी दी। यहाँ के ज्यादातर काश्तकार स्काटलैण्ड से आकर बसे हुए लोग हैं। जहाँ घने जंगल हैं, सुन्दर चरागाह हैं, वहाँ ज्यादातर बड़े काश्तकार (अर्थात् ब्रिटेन से आये हुए पूँजीवादी काश्तकार) जमीन के मालिक है।

एगेल्स ने युद्धो के प्रसंग मे लिखा, इस देश को जीतने के लिए ११०० से १८५० तक युद्ध हुए। अंग्रेजों ने जितने समय तक लड़ाइयाँ की और आयरलैण्ड की नाकेबन्दी की, वह सब मिलाकर इतना लम्बा समय था। यह सत्य है कि अधिकांश खँडहर उस विनाश का नतीजा हैं जो लड़ाइयों के दौरान हुआ था। आइरिश लोग कट्टर राष्ट्रवादी हैं किन्तु वे महसूस करते हैं कि उनका देश अब उनके लिए नही है। आयरलैण्ड अंग्रेजों के लिए है। वे जानते हैं कि वे अंग्रेजों से होड़ मे ठहर नही सकते। यहाँ से लोग निकल-निकलकर बाहर जाते रहेंगे और इस देश का आइरिश स्वरूप ही बदल जायेगा। कितनी बार इन लोगों ने प्रयत्न किया कि कुछ कर गुजरें; हर बार इन्हें कुचल दिया गया, राजनीतिक रूप से और औद्योगिक रूप से। सुसंगत उत्पीड़न के जरिये इन्हें कृत्रिम रूप मे ऐसी जाति बना दिया गया है जिसका मनोबल बिल्कुल टूट चुका है। अब यहाँ से इंग्लैण्ड, अमरीका, आस्ट्रेलिया

वगैरह को वेश्याएं भेजी जाती हैं। दाड़की मजदूर जिन्हें जब भी और जो काम मिल जाये वह ठीक, वेश्याओं के दलाल, चोर, ठग, भिखारी और इसी तरह के लुच्चो-लफंगों का निर्यात होता है। यहां का अभिजात वर्ग भी इसी तरह मनोबल-हीन है। दूसरी जगह जमीदारो ने पूंजीवादी गुण अपनाये हैं, यहां वे बिल्कुल पस्त हैं। अपनी कोठियों के चारों तरफ उन्होने सुन्दर बाग लगा रखे हैं लेकिन बागों के आसपास की जमीन बंजर और ऊसर है। "इन्हे तो गोली से उड़ा देना चाहिए।" (उप., पृ. ६४)। फौज के अवकाशप्राप्त सूबेदारों की तरह ऐंठकर चलते हैं, कर्ज से दबे हुए हैं और डरते रहते हैं कि रियासत साहूकार के हाथ में न चली जाये। (उप., पृ. ६४)।

इस तरह एक पूरी जाति को भीतर से तोड़ा गया था, उसका जातीय चरित्र, उसका मनोबल नष्ट किया गया था। अवध के नवाब और ताल्लुकदार इन जमीदारों से फिर अच्छे थे। अंग्रेजो ने पूरा प्रयत्न किया कि आयरलैण्ड का जातीय स्वरूप बदल जाये, कहने को आयरलैण्ड रहे, वास्तव मे वह इंग्लैण्ड का पड़ोसी ऐसा उपनिवेश हो जिसमे अंग्रेज जमीदार हो और आइरिश लोग बँधुआ मजदूरो का काम करें।

२ नवम्बर १८६७ को मार्क्स ने एंगेल्स के नाम पत्र में बताया, कैसे आयरलैण्ड के बारे में उनके विचार बदल रहे हैं। उन्होने लिखा : "मैं सोचा करता था कि इंग्लैण्ड से आयरलैण्ड का अलगाव असम्भव है। अब मैं सोचता हूँ, यह अलगाव अनिवार्य है, यद्यपि अलगाव के बाद यह सम्भव है कि संघ स्थापित हो।" (उप., पृ. २२८)। फिर इसी पत्र में मार्क्स ने बताया, किस तरह अंग्रेज आइरिश किसानों को बेदखल करके उनकी जमीन छीन रहे थे। वहां जो वाइसराय था, उसने अपनी रियासत मे कुछ ही हफ्तों मे हजारों किसानों को जबरन निकाल बाहर किया था। इनमे खाते-पीते काश्तकार भी थे, उन्होंने खेती में जो पूंजी लगायी थी, वह सब उनसे छीन ली गयी। "यूरोप मे कोई ऐसा देश नही है जहाँ विदेशी हुकूमत ने इस तरह सीधे-सीधे देशी लोगों की जमीन छीन ली हो। रूसी लोग दूसरों की जमीन छीनते हैं राजनीतिक कारणों से, प्रुशियावाले पच्छिमी प्रुशिया मे जमीन खरीद लेते है।" (उप.)। यूरोप के देशों से आयरलैण्ड का शोषण भिन्न स्तर का था। रूसियों और जर्मनो ने पोलैण्ड को गुलाम बनाया था, वह गुलामी आइरिश गुलामी से भिन्न स्तर की थी। इसीलिए आयरलैण्ड के बारे मे मार्क्स ने जो कुछ लिखा वह भारत-सम्बन्धी विवेचन के लिए प्रासंगिक है। यहाँ एक बात नोट कर लेनी चाहिए। आयरलैण्ड के बारे में अपने विचार बदलने की बात मार्क्स ने १८६७ मे कही थी। उस साल पूंजी का पहला खण्ड प्रकाशित हो गया था; वह पुस्तक १८६७ से पहले लिखी गयी थी। मार्क्स ने जिस समाज-विज्ञान का विकास किया, उसकी एक मंजिल है, पूंजी का पहला खण्ड। उस पुस्तक को ऐतिहासिक भौतिकवाद के विकास की आखिरी मंजिल मान लेना बहुत बड़ी भूल है।

६ अप्रैल १८६८ को मार्क्स ने कुगेलमन के नाम पत्र में आयरलैण्ड की चर्चा फिर की। उन्होने लिखा कि ग्लैड्स्टन जैसे अंग्रेज राजनीतिज्ञ आइरिश समस्या

की चर्चा केवल इसलिए करते हैं कि वे फिर सत्ता में आ जायें। अंग्रेज मजदूर पूँजीवादी उदारपन्थियों के पीछे चल रहे हैं। इंग्लैण्ड ने सदियों तक आयरलैण्ड के खिलाफ जो भारी अपराध किया है, उसकी सजा इंग्लैण्ड को मिल रही है। इंग्लैण्ड में अंग्रेज मजदूर भी हैं, इसलिए उनको भी सजा मिल रही है। कुल मिलाकर आगे अंग्रेज मजदूरों को इस सजा से लाभ ही होगा। यहाँ (इंग्लैण्ड मे) जिसे आइरिश चर्च कहते है, वह आयरलैण्ड में स्थापित अंग्रेजी चर्च है। वहाँ वह अंग्रेजी जमीदारी की रक्षा करनेवाला धार्मिक किला है। इंग्लैण्ड का जो स्थापित चर्च है, उसकी बाहरी चौकी यह आइरिश चर्च है। यह स्थापित चर्च जमीदार है। आयरलैण्ड में स्थापित चर्च का पतन होगा तो इंग्लैण्ड के स्थापित चर्च का पतन भी होगा, "और इन दोनों के पतन के बाद जमीदारी का पतन होगा—पहले आयरलैण्ड में और उसके बाद इंग्लैण्ड मे। किन्तु मुझे पहले से ही विश्वास रहा है कि सामाजिक क्रान्ति की गम्भीरतापूर्वक शुरुआत नीचे से *अर्थात् जमीन की मिल्कियत से होनी चाहिए।*" (ऑन ब्रिटेन, पृ. ४६८-६६)। जो वर्ग आयरलैण्ड के विकास को रोके हुए था, वही वर्ग इंग्लैण्ड का विकास भी रोके था। दोनो देशों की रुकावट मे बहुत बड़ा अन्तर था; इंग्लैण्ड में जमीदार वर्ग के बावजूद औद्योगिक विकास तेजी से हुआ था, व्यापक रूप में हुआ था। औद्योगिक पूँजीपति वर्ग जमीदारों से समझौता किये हुए था; इस समझौते में मानो यह गुप्त शर्त थी कि इंग्लैण्ड मे उद्योगपतियों की अमलदारी हो, आयरलैण्ड में जमीदारों की। फिर भी रुकावट तो रुकावट, जमीदार वर्ग सत्ता हथियाये था, सत्ताधारियों में उसका हिस्सा बड़ा था, इससे मजदूरों और पूँजीपतियों की सीधी टक्कर मे रुकावट पैदा होती थी। इसलिए इस जमीदार वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक रूप से खत्म करना जरूरी था। किन्तु इस वर्ग ने चर्च का सहारा ले रखा था। एक चर्च इंग्लैण्ड मे, दूसरा चर्च आयरलैंड मे, जमीदारों का एक वर्ग इंग्लैण्ड मे, दूसरा वर्ग आयरलैण्ड में। इसलिए आयरलैण्ड मे चर्च और जमीदार वर्ग को खत्म करके ही इंग्लैण्ड के चर्च और जमीदार वर्ग को शक्तिहीन किया जा सकता था। आयरलैण्ड की सामन्तविरोधी क्रान्ति वहाँ की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए जरूरी थी, आयरलैण्ड का स्वाधीनता संग्राम इंग्लैण्ड में सामन्ती अवशेष खत्म करने के लिए जरूरी था।

(ख) पराधीन आयरलैण्ड और अंग्रेज मजदूर

अंग्रेज शासक जैसे भारत में हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव को *खूब बढ़ावा देते थे, वैसे* ही वे आयरलैण्ड मे एक ही धर्म के अन्तर्गत प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिकों के साम्प्रदायिक भेदभाव को बढ़ावा देते थे। इस सन्दर्भ में मार्क्स ने उसी पत्र में लिखा था, इस सबका एक बहुत अच्छा परिणाम यह होगा कि एक बार आइरिश चर्च खत्म हो जाये तो अल्स्टर प्रान्त के प्रोटेस्टेण्ट किसान बाकी तीन आइरिश प्रान्तों के कैथलिकों से एका कर लेंगे। अभी तक तो जमीदार धार्मिक विद्वेष से लाभ उठाते है (उप., पृ. ४६६)। पाठक देखेंगे कि सामन्ती अवशेषों से सम्प्रदायवाद का सम्बन्ध कितना गहरा है, फिर यह सम्प्रदायवाद चाहे दो धर्मों के बीच

हो, चाहे एक ही धर्म के भीतर हो। और पूंजीवाद किसानों और मजदूरों का शोषण करने के लिए उसे इस्तेमाल करता है। पूंजीवाद के जन्मकाल से आयरलैण्ड पर अंग्रेजों का शासन था; पूंजीवाद के जन्मकाल से ही अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक भेदभाव से काम लेना सीखा था।

आयरलैण्ड को गुलाम बनाने का प्रभाव स्वयं इंग्लैण्ड के ऊपर पड़ रहा था और उसे पतन की ओर ले जा रहा था। २४ अक्तूबर १८६९ के पत्र में एंगेल्स ने मार्क्स को लिखा, आइरिश इतिहास से पता चलता है कि कोई जाति किसी अन्य जाति को गुलाम बनाती है तो उसका कैसा विनाशकारी प्रभाव स्वयं उस जाति पर पड़ता है। आयरलैण्ड के जिस भाग मे अंग्रेजी भाषा, कानून आदि का चलन है, वही अंग्रेजों की तमाम बुराइयों की जड़ हैं। क्रामवेलवाले दौर पर काम अभी नहीं किया पर इतना निश्चित मालूम होता है कि आयरलैण्ड में सैनिक शासन की जरूरत न होती और वहाँ अंग्रेजों ने एक नया अभिजात वर्ग पैदा न किया होता तो इंग्लैण्ड की हालत कुछ दूसरी होती। (करेस्पोण्डेंस, पृ २६४)। कोई जाति किसी अन्य जाति को गुलाम बनाती है तो इसका असर किसी एक वर्ग पर नही पड़ता, पूरी जाति पर पड़ता है। गुलाम बननेवाली और गुलाम बनानेवाली, दोनों जातियाँ प्रभावित होती हैं। विजेता जाति के सभी वर्गों की भूमिका एक-सी नही होती, न विजित जाति के सभी वर्ग एक ही तरह से प्रभावित होते हैं। फिर भी प्रभावित सब वर्ग होते हैं, इसीलिए जातीय उत्पीडन की बात करना उचित होता है। अंग्रेजों मे जिस क्रूरता और बर्बरता का जन्म हुआ, उसका एक बड़ा कारण यह था कि उन्होंने आयरलैण्ड के एक भाग मे बलपूर्वक अपनी भाषा और अपने कानून का चलन किया था। यह काम उन्होंने भारत में भी किया, उसका एक फल यह हुआ कि यहाँ के बहुत से बुद्धिजीवी गुलामी को आधुनिकता समझने लगे। आइरिश लोगों मे ऊँचे दर्जे का देश-प्रेम था। उन्हें फौज के द्वारा ही दबाकर रखा जा सकता था। भारत में भी अंग्रेजी फौज की प्रमुख भूमिका यही थी। १८५७-५८ के लेखों मे मार्क्स ने अंग्रेजी फौज की इस भूमिका का विवेचन किया था। आयरलैण्ड की तरह अंग्रेजों ने भारत मे एक नये अभिजात वर्ग को जन्म दिया। इस अभिजात वर्ग में कुछ पुराने सामन्त शामिल हुए, कुछ बुद्धिजीवी सर का खिताब पाकर उसका अंग बने, कुछ पूंजीपतियों से आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध कायम करके [illegible]ओं ने उन्हे भी इस वर्ग मे शामिल किया। जमींदार और ताल्लुकदार, १८५७ [illegible], इस वर्ग की मुख्य शक्ति थे। इस वर्ग से वकीलों का एक बहुत बड़ा [illegible] भारतीय समुदाय जुड़ा हुआ था। ये सब अंग्रेजी कानून की रोटी खाते थे [illegible] राष्ट्रीय, अराष्ट्रीय दलों को अपने नेता इसी समुदाय से प्राप्त होते [illegible]-बड़े संविधान-विशारद इस समुदाय में उत्पन्न हुए। अंग्रेजी भाषा से [illegible]ानून का कितना गहरा सम्बन्ध है, यह इस समुदाय के सदस्यो को देख-[illegible] पहचाना जा सकता है। भाषा और कानून चलाने से लेकर अंग्रेजों ने [illegible] तक भारत मे जो कुछ किया, वही सब उससे पहले वे आयरलैण्ड में [illegible]लिए मार्क्स और एंगेल्स ने उस देश के बारे मे जो कुछ लिखा, उसे [illegible]र्भ मे ध्यान से पढ़ना चाहिए।

नवम्बर १८६६ में मार्क्स ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की सामान्य समिति में आयरलैण्ड पर व्याख्यान दिया। अंग्रेजों ने आयरलैण्ड के बहुत से देशभक्तों को जेल में बन्द कर रखा था। मार्क्स ने उनकी रिहाई के लिए प्रस्ताव रखा और उसके समर्थन मे भाषण किया। इस प्रस्ताव मे कहा गया था, देशभक्त आइरिश बन्दियों की रिहाई के लिए आइरिश मांगों का जो उत्तर ग्लैड्स्टन ने दिया है, उससे उन्होंने जानबूझकर आइरिश जाति का अपमान किया है। राजनीतिक रिहाई के साथ जो शर्तें लगायी हैं, वे उस जनता को नीचे गिरानेवाली हैं जो कुशासन का शिकार है। जिस आदमी ने अमरीका मे गुलामों के मालिकों के विद्रोह का उत्साह से और खुलकर समर्थन किया था, वह अब आइरिश लोगों से यह कहता है कि वे निष्क्रिय होकर आज्ञा पालन करते रहें। आइरिश बन्दियों की रिहाई के सवाल पर ग्लैड्स्टन की सारी कार्रवाई दूसरे देश को जीतने की नीति का परिणाम है। इस नीति की गरम-गरम आलोचना करके अपने टोरी प्रतिद्वन्दियों को हराकर ग्लैड्स्टन सत्तारूढ हुआ था। रिहाई-आन्दोलन चलाने में आइरिश जनता ने जिस जीवट, दृढ़ता और साहस का परिचय दिया है, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की सामान्य समिति उसकी प्रशंसा करती है। (उप., पृ. २६५)।

इस प्रस्ताव के समर्थन में मार्क्स ने पौन घण्टे का जो भाषण किया था, वह कितना जोरदार रहा होगा, इसका अनुमान प्रस्ताव के कुछ वाक्य पढ़कर ही हो जाता है। भाषण के दौरान श्रोताओं ने बार-बार हर्षध्वनि करके मार्क्स का समर्थन किया। मार्क्स ने जातीय भावना पर बल दिया, अंग्रेजों के व्यवहार को समस्त आइरिश जाति का अपमान कहकर उन्होंने आयरलैण्ड के सभी वर्गों का आह्वान किया कि वे स्वाधीनता के लिए संघर्ष करें। अंग्रेज उन्हें निष्क्रिय रहकर आज्ञापालन करने का पाठ पढाते थे, मार्क्स ने इसकी आलोचना करके सक्रिय विरोध की ओर संकेत किया। गुलामों के मालिक विद्रोह करें तो अंग्रेज उनका समर्थन करेंगे किन्तु यदि गुलाम विद्रोह करें तो अंग्रेज कहेंगे, अपने मालिकों की आज्ञा मानो। यह बात केवल टोरी दल के लोग न करते थे वरन् वे उदारपन्थी नेता भी करते थे जो टोरी दल के मुकाबले स्वयं को प्रगतिशील मानते थे। अंग्रेजों ने आयरलैण्ड को जीता है और उस पर विजेता के रूप में शासन करना चाहते हैं, यह नीति इंग्लैण्ड के विभिन्न दलों की मूल नीति थी। कारण यह था कि जमींदारों और पूंजीपतियों के स्वार्थ कहीं टकराते थे तो कहीं मेल भी खाते थे। मार्क्स ने आइरिश जनता की वीरता को सराहा और इस प्रकार समूची आइरिश जाति को प्रोत्साहन दिया कि वह राजनीतिक बन्दियों की रिहाई के लिए अपना आन्दोलन जारी रखे। सन् १८६८-६९ में मार्क्स ब्रिटिश मजदूरों को सिखा रहे थे कि वे आयरलैण्ड की जनता के स्वाधीनता संग्राम का समर्थन करें और आइरिश जनता से कह रहे थे कि अंग्रेजी राज से मुक्ति पाने के लिए पूरी ताकत से वह अपना स्वाधीनता आन्दोलन चलाये। कम्युनिस्ट घोषणापत्र के बाद ऐतिहासिक भौतिकवाद के विकास में यह एक नयी मंजिल थी, साम्राज्यवादी व्यवस्था का नाश करने के लिए मार्क्स ने दुनिया के मजदूरों के सामने नयी रणनीति, नयी कार्यनीति पेश की थी। इस रणनीति में इंग्लैण्ड

के लिए मजदूरों की भूमिका मुख्य थी और आयरलैण्ड के लिए वहाँ के किसानों की भूमिका मुख्य थी।

२९ नवम्बर १८६९ को मार्क्स ने उक्त प्रस्ताव की चर्चा करते हुए कुगेलमन के नाम पत्र लिखा। इस पत्र से विदित होता है कि प्रस्ताव के पास हो जाने के बाद मार्क्स ने ग्लैड्स्टन की आलोचना जारी रखी और लोगों का ध्यान इस आलोचना की ओर आकर्षित हुआ। इस पत्र मे मार्क्स ने एक नयी बात यह लिखी कि अंग्रेज मजदूरो को आइरिश जनता का समर्थन आयरलैण्ड की स्वाधीनता के लिए तो करना ही चाहिए, उन्हें यह काम अपनी मुक्ति के लिए भी करना चाहिए। जब तक आयरलैण्ड स्वाधीन न होगा, तब तक इंग्लैण्ड का श्रमिक वर्ग पूँजीवादी दासता से मुक्त न होगा। मार्क्स का सारा चिन्तन इसी स्थापना की ओर विकसित होता रहा था। अब उन्होंने स्पष्ट रूप से उसे एक निश्चित मंजिल तक पहुँचा दिया। उन्होंने लिखा: "मेरा विश्वास अधिकाधिक यह होता गया है कि अंग्रेज मजदूर वर्ग यहाँ तब तक कोई निर्णायक काम नही कर सकता जब तक वह बहुत निश्चित रूप मे आयरलैण्ड को लेकर शासक-वर्ग की नीति से अपनी नीति को अलग नही कर लेता, जब तक वह आइरिश लोगो के साथ एकता स्थापित नही करता; यही नही, जब तक वह उस संघ को खत्म करने मे पहल नही करता जो १८०१ मे स्थापित हुआ था और उसके बदले स्वतन्त्र संघीय सम्बन्ध कायम नही करता, तब तक वह कुछ भी निर्णायक काम यहाँ इंग्लैण्ड में नही कर सकता। मुझे तो यह विश्वास है ही, अब केवल प्रश्न यह है कि अंग्रेज मजदूर वर्ग को यह बात कैसे समझाई जाये। दरअसल यह सब इसलिए नही करना कि आयरलैण्ड मे हमे सहानुभूति है बल्कि इसलिए कि यह माँग अंग्रेज सर्वहारा के हित मे है। यदि ऐसा नही होता तो अंग्रेज जनता शासक वर्गो की दुम से बँधी रहेगी क्योंकि आयरलैण्ड के विरुद्ध उसे उनके साथ एक ही मोर्चे में शामिल होना पड़ेगा। इंग्लैण्ड मे मजदूर वर्ग का एक महत्वपूर्ण भाग आइरिश मजदूर है। इन आइरिश मजदूरों से एका न होने के कारण अंग्रेज सर्वहारा वर्ग को कदम-कदम पर ठोकर खानी पड़ती है। मजदूरो के उद्धार की पहली शर्त है अंग्रेज जमींदारो के गुट को पराजित करना। यह कार्य असम्भव है क्योंकि यहाँ उसकी सत्ता पर तब तक धावा नही किया जा सकता जब तक वह अपनी खूब मजबूत चौकियाँ आयरलैण्ड में बनाये हुए है। वहाँ का कामकाज एक बार आइरिश जनता के हाथ मे आ जाये, कानून बनाने और शासन चलाने का काम उसके हाथ में हो, वह स्वायत्त हो, तो यहाँ की अपेक्षा वहाँ जमींदारों के अभिजात वर्ग का खात्मा बहुत-बहुत आसान हो जायेगा। जो अंग्रेज जमींदार हैं, वही बहुत करके वहाँ का अभिजात वर्ग हैं। आयरलैण्ड मे यह सीधा-सादा आर्थिक प्रश्न नहीं है वरन् इसके साथ जातीय प्रश्न भी है। वहाँ के जमींदार इंग्लैण्ड के जमींदारो की तरह परम्परागत प्रतिनिधि और शरीफजादे नहीं हैं वरन् जाति के ऐसे उत्पीड़क हैं जिनसे लोग हृदय से घृणा करते हैं। आयरलैण्ड के साथ इंग्लैण्ड का जो मौजूदा सम्बन्ध है, उससे इंग्लैण्ड के आन्तरिक सामाजिक विकास मे ही रुकावट पैदा नही होती, उसकी विदेश नीति का भी यही हाल होता है, खासतौर से रूस और अमरीका को लेकर।

"अंग्रेज मजदूर वर्ग आमतौर से निस्सन्देह सामाजिक उद्धार के पक्ष का जमकर समर्थन करता है। उसे अपनी ताकत यहाँ लगानी चाहिए। दरअसल क्रामवेल ने जो अंग्रेजी प्रजातन्त्र कायम किया था, उसकी नाव डूबी थी आयरलैण्ड में। दुबारा चूक न होनी चाहिए।...वास्तव में जघन्य आतंकवादी शासन और बीभत्स भ्रष्टाचार के बिना इंग्लैण्ड न तो कभी आयरलैण्ड पर शासन कर सकता है और न कभी उसने ऐसा किया है।" (उप., पृ. २७८-७६)।

इंग्लैण्ड के सर्वहारा वर्ग को पराधीन देश की जनता का समर्थन करना है। औद्योगिक पूँजीवाद पिछड़े हुए देश की प्रगति में सहायता कर रहा है, इस बहाने शासक वर्ग का समर्थन नही करना है। औद्योगिक पूँजीवाद के साथ जमींदारों का गुट भी सत्ता हथियाये है। उसे हटाये बिना इंग्लैण्ड का अपना सामाजिक विकास रुका हुआ है। इस सत्ताधारी गुट को स्वयं इंग्लैण्ड के हित मे, फिर आयरलैण्ड के हित में हटाना जरूरी है। मानी बात है कि भारत का कोई ऐसा हित न था जिससे इस जमींदार गुट का सत्ता मे बने रहना जरूरी साबित होता। आइरिश जनता स्वाधीन होगी तो वह अपने देश मे सामन्तवाद को खत्म करेगी। पराधीन देश के जमीदार चाहे अंग्रेज स्वयं हों और चाहे वे देशी जमींदारों का समर्थन करते हों, अंग्रेजों के समर्थन के बिना जमींदारी कायम न रह सकती थी। आइरिश जनता के सामने मुख्य प्रश्न राष्ट्रीय स्वाधीनता का है। इसीलिए इस जातीय समस्या को हल किये बिना आयरलैण्ड की तो क्या स्वयं इंग्लैण्ड की वर्ग-समस्या हल न की जा सकती थी। और यह बात केवल १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध की नही है। १७वीं सदी मे क्रामवेल ने प्रजातन्त्र कायम किया किन्तु आयरलैण्ड को गुलाम बनाये रखने के कारण जमींदार वर्ग इतना शक्तिशाली साबित हुआ कि प्रजातन्त्र की नैया थोड़े ही दिन मे डूब गयी। इसलिए १८वीं सदी में जो भारतवासी अंग्रेजी राज का विरोध कर रहे थे, वे वस्तुगत रूप से आयरलैण्ड की स्वाधीनता और अंग्रेज मजदूरों की मुक्ति का समर्थन कर रहे थे। अंग्रेजों ने जघन्य आतंक और बीभत्स भ्रष्टाचार के बिना आयरलैण्ड पर कभी शासन नही किया। यही अंग्रेज जब भारत पर शासन करते थे, तब गंगा नहाने से उनके आतंक और भ्रष्टाचार के पाप धुल न गये थे।

(ग) पूंजीपति-जमींदार गँठबन्धन और आयरलैण्ड

१० दिसम्बर १८६९ को मार्क्स ने एंगेल्स को अपने पत्र में यही बातें लिखीं। आयरलैण्ड के प्रति न्याय किया जाये, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की समिति इसका समर्थन तो करेगी ही। जोर इस बात पर देना है कि अंग्रेज मजदूर वर्ग का प्रत्यक्ष और सम्पूर्ण हित इसमें है कि वह आयरलैण्ड से अपना वर्तमान सम्बन्ध खत्म करे। "मेरा यह अत्यन्त दृढ़ विश्वास है; और जिन कारणों से है, उनमें कुछ कारण स्वयं अंग्रेज मजदूरों को नही बता सकता। बहुत दिनों तक मेरी धारणा थी कि अंग्रेज मजदूर वर्ग के उत्थान मे आइरिश तन्त्र को खत्म करना सम्भव होगा। न्यूयार्क ट्रिब्यून मे मैंने इसी धारणा का प्रतिपादन किया था। अधिक गहराई से अध्ययन करने पर इससे उलटी बात पर मुझे विश्वास हो गया है। अंग्रेज मजदूर वर्ग जब तक आयरलैण्ड से छुटकारा न पायेगा, तब तक यह कुछ भी न कर

सकेगा। ज़ोर लगाना है आयरलैंड को लेकर। इसीलिए सामान्य रूप मे सामाजिक आन्दोलन के लिए आइरिश समस्या इतनी महत्वपूर्ण है।" (उप., पृ. २८०-८१)।

मार्क्स के भारत सम्बन्धी विवेचन का अध्ययन करनेवालो के लिए इस पत्र का महत्व असाधारण है। जिस **न्यूयार्क ट्रिब्यून** में मार्क्स ने आइरिश समस्या पर लिखा था, उसी मे उन्होने भारतीय समस्या पर लिखा था। पहले वह समझते थे कि औद्योगिक पूँजीवाद भारत और आयरलैण्ड के सामाजिक विकास को प्रेरित करने के लिए काफी है। फिर पूँजीवाद की जगह उन्होने अंग्रेज मजदूरों पर अपनी आस्था केन्द्रित की और आशा की कि सर्वहारा वर्ग के उत्थान से पराधीन देशों की जनता स्वाधीन होगी किन्तु यह सर्वहारा वर्ग निकम्मा साबित हो रहा था। इसलिए क्रमशः मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचे कि अंग्रेज़ मज़दूरों का उद्धार पराधीन देशों की जनता ही कर सकती है। यह बात उन्होने मेयर और फ़ोग्ट के नाम ९ अप्रैल १८७० के पत्र मे भी लिखी। "आइरिश लोगो में आवेश ज्यादा होता है। आवेश दर-किनार, वे लोग अंग्रेजो की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी होते हैं।" (उप., पृ. २८८-८९)। जिन अंग्रेज़ों की अपेक्षा आइरिश लोग ज्यादा क्रान्तिकारी है, वे मजदूर है। इन अंग्रेज़ों से जो आइरिश लोग ज़्यादा क्रान्तिकारी है, वे किसान है। यहाँ बात ज़मीदारों और पूँजीपतियों की नही है, उन वर्गों की है जिनसे क्रान्तिकारी होने की अपेक्षा की जाती है। मार्क्स के वाक्य का यही अर्थ हो सकता है कि अंग्रेज़ मज़दूरों की अपेक्षा आयरलैण्ड के किसान ज्यादा क्रान्तिकारी है।

इसी पत्र मे मार्क्स ने बताया, "अंग्रेज **ज़मींदारों के अभिजात वर्ग** का किला है आयरलैण्ड। उनकी भौतिक सम्पदा का एक प्रमुख स्रोत उस देश का शोषण है। यही नही, वह उनकी सबसे बड़ी नैतिक शक्ति भी है। **इंग्लैण्ड का प्रभुत्व आयरलैण्ड पर है;** इसके प्रतिनिधि ये लोग हैं। आयरलैण्ड इस कारण वह महान् साधन है जिसके द्वारा अंग्रेज अभिजात वर्ग **स्वयं इंग्लैण्ड में** अपना प्रभुत्व कायम रखता है। यदि आयरलैण्ड से अंग्रेज़ी फौज और पुलिस कल वापस बुला ली जाये तो वहाँ तुरत किसान-क्रान्ति हो जायेगी। आयरलैण्ड मे अंग्रेज अभिजात वर्ग का पतन हो तो उसका आवश्यक फल यह होगा कि इंग्लैण्ड मे भी उसका पतन होगा। इंग्लैण्ड में सर्वहारा क्रान्ति होने की पहली शर्त इस तरह पूरी हो जायेगी। आयरलैण्ड में अंग्रेज ज़मीदारो के अभिजात वर्ग का विनाश स्वयं इंग्लैण्ड की अपेक्षा कही ज्यादा आसान काम है। कारण यह है कि वहाँ सामाजिक समस्या का एक मात्र रूप **भूमि-समस्या है;** आइरिश जनता के विशाल बहुसंख्यक भाग के लिए यह अस्तित्व का प्रश्न है, **जीवन-मरण** का प्रश्न है। इसके साथ ही यह प्रश्न जातीय समस्या से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। आइरिश लोगों में आवेश ज्यादा होता है। आवेश दरकिनार, वे लोग अंग्रेज़ो की अपेक्षा अधिक क्रान्तिकारी होते हैं।

"जहाँ तक अंग्रेज पूँजीपतियों का सम्बन्ध है, अभिजात वर्ग के साथ पहले तो उनका एक सामान्य हित है कि आयरलैण्ड को चरागाह बना डालें। इससे अंग्रेज़ी बाजार को सस्ते से सस्ते दामों मांस और ऊन मिलने लगेगी। इसलिए ज़मीन छीनकर, लोगों को जबरन देश छोड़ने के लिए मजबूर करके वे आयर-

लैण्ड की आबादी घटा रहे हैं और इतनी घटा देना चाहते है कि पट्टे पर दी हुई जमीन मे जब अंग्रेजी पूँजी का निवेश हो, तो वह पूँजी 'सुरक्षित' अवस्था में काम करती रहे।···

"अंग्रेज पूँजीपतियों को वर्तमान आइरिश तन्त्र से और तरह की दिलचस्पी भी है। खेती की भूमि का निरन्तर केन्द्रीकरण होता जाता है। आयरलैंण्ड की फालतू आबादी इंग्लैण्ड के श्रम बाजार मे पहुँचती है। वहाँ वह अंग्रेज मजदूरों की पगार की दर घटाती है, उनकी नैतिक और भौतिक स्थिति को नीचे ले आती है।" (उप., पृ. २८८-८९)। अंग्रेज पूँजीपतियों को आयरलैंण्ड मे तत्कालीन व्यवस्था बनाये रहने से जो दिलचस्पी थी, उसका एक कारण और था। खेती की भूमि का केन्द्रीकरण होने से जो किसान तबाह हो रहे थे, उनमे बहुत से मजदूरी करने इग्लैण्ड पहुँचते थे। अंग्रेज मजदूरों से होड़ करके वे पगार की दर घटाते थे, अंग्रेज मजदूर वर्ग की नैतिक और भौतिक स्थिति में गिरावट ले आते थे। "इंग्लैण्ड के हर व्यापारिक और औद्योगिक केन्द्र के मजदूर दो परस्पर विरोधी दलों में विभाजित हैं। एक दल अंग्रेज सर्वहारा का है, दूसरा दल आइरिश सर्वहारा का है। औसत अंग्रेज मजदूर आइरिश मजदूर को अपना प्रतिद्वन्दी मानकर उससे घृणा करता है और समझता है कि उसके जीवन स्तर को गिरानेवाला आइरिश मजदूर है। आइरिश मजदूरों के सन्दर्भ में वह स्वयं को शासक जाति का अंग समझता है, इस प्रकार, वह आयरलैंण्ड के खिलाफ पूँजीपतियों और अभिजात वर्ग के लोगों के हाथ मे कठपुतली बन जाता है और इस तरह स्वयं अपने ऊपर उनका प्रभुत्व मजबूत करता है। आइरिश मजदूरों के खिलाफ वह अपने मन मे धार्मिक, सामाजिक और जातीय पूर्वाग्रह पालता-पोसता है। अमरीका के जिन राज्यों मे पहले गुलामी की प्रथा थी, वहाँ के 'गरीब गोरे' जिस निगाह से 'काले हब्शियों' को देखते हैं, उसी निगाह से अंग्रेज मजदूर आइरिश मजदूरों को देखते हैं। आइरिश मजदूर अंग्रेज को तुर्की-ब-तुर्की जवाब देता है। वह समझता है कि आयरलैंण्ड में अंग्रेजी प्रभुत्व के लिए अंग्रेज मजदूर भी अपराधी है, इसके सिवा वह मूर्खतापूर्वक प्रभुत्व कायम रखने का हथियार भी बनता है।" (उप., पृ. २८९)।

इस प्रकार जातीय समस्या का समाधान केवल पराधीन जातियों की स्वाधीनता के लिए आवश्यक नहीं था, वह मजदूर वर्ग की एकता के लिए, उसके मुक्ति-संघर्ष के लिए भी आवश्यक था। मार्क्स ने इसी पत्र मे आगे लिखा, "इंग्लैण्ड पूँजी का महानगर है; वह ऐसी शक्ति है जो अब तक विश्व बाजार पर हुकूमत करती आयी है। फिलहाल मजदूर-क्रान्ति के लिए वही सबसे महत्वपूर्ण देश है। इसके अलावा वह एक मात्र देश है जिसमे इस क्रान्ति के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ विकसित होकर एक हद तक परिपक्व हो चुकी है। इसलिए इंग्लैण्ड में सामाजिक क्रान्ति शीघ्र घटित हो, यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य है। क्रान्ति शीघ्र घटित कराने का एक ही उपाय है कि आयरलैंण्ड को स्वतन्त्र किया जाय।" (उप., पृ. २९०)।

मार्क्स मानते है कि श्रमिक क्रान्ति के लिए इंग्लैण्ड की परिस्थितियाँ सबसे ज्यादा अनुकूल हैं। यह इंग्लैण्ड विश्वबाजार पर हुकूमत करता है और इस विश्व

बाजार में आयरलैण्ड जैसे पराधीन देश है। या तो इंग्लैण्ड के मजदूर क्रान्ति करें और आयरलैण्ड को आजाद कर दें, या फिर आयरलैण्ड पहले आजाद हो और इंग्लैण्ड में सामाजिक क्रान्ति शुरू करने मे मदद दे। इग्लैण्ड के मजदूर क्रान्ति न कर पा रहे थे, इसका मुख्य कारण आयरलैण्ड जैसे देशों की पराधीनता थी। इसलिए मार्क्स ने इन पराधीन देशो की राष्ट्रीय स्वाधीनता को ऐसी जरूरी शर्त बताया जिसके बिना विकसित पूंजीवादी देशो के मजदूर अपनी सामाजिक क्रान्ति न कर सकते थे। पत्र के अन्त मे मार्क्स ने लिखा, "इसलिए हर जगह 'इण्टरनैशनल' का कार्य यह है कि इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड की टक्कर को प्रमुख स्थान दे और हर जगह खुलकर आयरलैण्ड के पक्ष का समर्थन करे। लन्दन मे केन्द्रीय समिति का मुख्य कार्य यह है कि अंग्रेज मजदूरो मे यह चेतना पैदा करे कि आयरलैण्ड की राष्ट्रीय मुक्ति का सवाल अमूर्त न्याय अथवा मानव सहानुभूति का प्रश्न नही है वरन् उनकी अपनी मुक्ति की पहली शर्त है।" (उप., पृ. २६०)।

(घ) ब्रिटिश मजदूर और भ्रष्टाचार

मार्क्स के लिए पराधीन देशो के स्वाधीनता-सग्राम का महत्व उसी अनुपात में बढ़ता गया, जिस अनुपात में मजदूर वर्ग इग्लैण्ड मे अकेले क्रान्ति करने के अयोग्य सिद्ध होता गया। यह जानना दिलचस्प होगा कि इस अयोग्यता का कारण क्या था और यह कारण कब से अमल मे आने लगा। ७ अक्तूबर १८५८ के पत्र मे एंगेल्स ने मार्क्स को लिखा था: "अंग्रेज सर्वहारा वर्ग अधिकाधिक पूंजीवादी होता जा रहा है। सभी जातियों मे यह [अंग्रेज] जाति सबसे ज्यादा पूंजीवादी है। उसका उद्देश्य यह मालूम होता है कि पूंजीपति वर्ग के अलावा उसके पास ऐसा अभिजात वर्ग हो जो पूंजीवादी हो और सर्वहारा वर्ग भी पूंजीवादी हो। जो जाति सारी दुनिया का शोषण करती है, उसके लिए यह रास्ता बहुत कुछ न्यायसंगत है।" (उप., पृ. ११५-११६) एगेल्स ने यहाँ साफ़ बता दिया है कि अंग्रेज मजदूर क्रान्ति क्यों नही कर पाते। उनका पूंजीवादीकरण हुआ है। पूंजीवादीकरण इस तरह नही हुआ है कि वे कारखानों की मिल्कियत में हिस्सेदार हो गये है; पूंजीवादीकरण हुआ है पराधीन देशो की लूट मे भागीदार होने के कारण। यह बात एगेल्स ने आगे चलकर और भी स्पष्ट की।

कॉट्स्की को १२ सितम्बर १८८२ के पत्र मे एंगेल्स ने लिखा, "यहाँ मजदूरों की पार्टी जैसी कोई चीज नही है; यहाँ केवल पुरानपन्थी है और उदारपन्थी परिवर्तनवादी (लिबरल रैडिकल) है। विश्व बाजार और उपनिवेशों पर इंग्लैण्ड का जो इजारा है, उसके महाभोज मे मजदूर भी प्रसन्नतापूर्वक शामिल होते हैं।" (उप., पृ. ३६६)। जीवन के अन्तिम दिनों मे एंगेल्स ने प्लेखानोव के नाम २१ मई १८९४ के पत्र मे लिखा, "सचमुच इन अंग्रेज मजदूरों से तो आदमी निराश हो जाता है। इनकी कल्पना में जातीय श्रेष्ठता का भाव जमा हुआ है, उनका दृष्टिकोण और उनके विचार मूलतः पूंजीवादी हैं, उनकी 'व्यावहारिकता' बहुत ही संकीर्ण दिमाग की उपज है, पार्लियामेण्टशाही के भ्रष्टाचार ने इनके नेताओं पर गहरा असर किया है। फिर भी गाडी आगे चल रही है। यही है कि 'व्यावहारिक'

अंग्रेज़ सबसे आखिर में मंज़िल तक पहुँचेंगे लेकिन जब पहुँचेंगे तब उनके योगदान का पलड़ा काफी भारी होगा।" (ऑन ब्रिटेन; पृ. ५३७)।

लगातार पराधीन देशों की लूट में शामिल होने से अंग्रेज़ मजदूर अपना वर्ग-दृष्टिकोण खो चुके थे। हर बात में वे पूंजीवादी दृष्टिकोण से प्रभावित हो रहे थे। जातीय श्रेष्ठता का भाव उन्हें पराधीन देशों की जनता के स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन करने से रोकता था। इसलिए सबसे पहले क्रान्ति इंग्लैण्ड मे होगी, इस सम्भावना के बदले इससे उल्टी सम्भावना पैदा हो गयी थी कि इंग्लैण्ड मे क्रान्ति अन्य सभी देशो के बाद होगी। इसका अर्थ यह हुआ है कि जब सारी दुनिया में पूंजीवाद का नाश होने को कही रह न जायेगा, तब अंग्रेज भी अपने यहां क्रान्ति कर डालेंगे। जाहिर है, पराधीन देशों की जनता उनके सबसे आखिर में मंज़िल तक पहुँचने का इन्तजार न कर सकती थी। सवाल दस-पांच भ्रष्ट मजदूरों का या मजदूरों के किसी छोटे भ्रष्ट स्तर का होता तो समस्या का समाधान सरल होता, ब्रिटिश सर्वहारा क्रान्ति के रास्ते मे तब बहुत बड़ी रुकावट पैदा न होती, किन्तु यहां प्रश्न पूरे वर्ग का था। प्रायः सभी अंग्रेज मजदूर पराधीन देशों की माया में लिप्त थे; फिर उद्धार कैसे होता? १८९२ में एंगेल्स ने **इंग्लैण्ड के मजदूर वर्ग की दशा** नाम का अपना ग्रन्थ जब अंग्रेज़ी में प्रकाशित कराया, तब उसकी भूमिका में उन्होने अपना १८८५ का एक लेख उद्धृत किया। उस लेख की चर्चा करने से पहले इस बात पर विचार करें कि जिस पुस्तक से इग्लैण्ड के मज़दूरों का सीधा सम्बन्ध था, वह प्रथम जर्मन संस्करण के ४७ साल बाद अंग्रेज़ी मे प्रकाशित हुई। इसका अमरीकी संस्करण भी इंग्लैण्ड वाले सस्करण से पहले निकला, जर्मन संस्करण के ४२ साल बाद १८८७ मे। इस विलम्बित प्रकाशन का कारण इंग्लैण्ड के मजदूर वर्ग की वह दशा थी जिसका उल्लेख इस पुस्तक मे नही है यानी पराधीन देशों की लूट में ब्रिटिश मजदूरों की हिस्सेदारी। उस समय शायद ऐसी हिस्सेदारी थी भी नही, किन्तु उसकी शुरुआत हुई न होगी तो होनेवाली ही होगी। उक्त लेख में एंगेल्स ने बताया, "सचाई यह है कि जिस दौर मे उद्योग-धन्धों का इजारा इंग्लैण्ड के हाथ में था, उस दौर मे एक हद तक अंग्रेज़ मजदूर वर्ग ने इस इजारे के लाभ मे हिस्सा बंटाया है। यह लाभ बहुत असमान रूप में मजदूरों के बीच बांटा गया। अधिकांश लाभ विशेषाधिकारी अल्पसंख्यक जमात की जेब मे पहुँच गया लेकिन आम मजदूरों के विशाल समुदाय को भी कम-से-कम यदा-कदा और अस्थायी रूप मे उस लाभ में हिस्सा मिला। यही कारण है कि ओवेन-पन्थ की समाप्ति के बाद इंग्लैण्ड में सोशलिज़्म जैसी चीज नही रही। इजारा टूटने पर अंग्रेज मजदूर वर्ग की विशेषाधिकारी स्थिति खत्म हो जायेगी। वह आमतौर से स्वयं को साथी विदेशी मजदूरो की सतह पर पायेगा; विशेषाधिकारी प्रमुख अल्पसंख्यक जमात इसका अपवाद न होगी। यही कारण है कि इंग्लैण्ड मे फिर समाजवाद का अभ्युदय होगा।" (ऑन ब्रिटेन, पृ. ३०-३१)।

ओवेन उस समाजवाद के प्रचारक थे जो कल्पनालोकी समाजवाद कहलाता है। उस समाजवाद की समाप्ति के बाद और किसी तरह का समाजवाद इंग्लैण्ड मे पनपा ही नही। इंग्लैण्ड में रहते हुए मार्क्स और एंगेल्स जिस वैज्ञानिक समाज-

वाद की रचना कर रहे थे, उस वैज्ञानिक समाजवाद की जड़ इंग्लैण्ड की धरती मे कभी पैठी ही नही। तब समाजवादी क्रान्ति इंग्लैण्ड मे कैसे होती? जड़ के न पैठने का भौतिकवादी कारण यह था कि इंग्लैण्ड के औद्योगिक इजारे से अंग्रेज मजदूर भी लाभ उठा रहे थे। सभी मजदूरों को एक-सा लाभांश न मिलता था। बड़ा हिस्सा उस जमात को मिलता था जो मजदूरो मे छोटा-सा अभिजात वर्ग बन गयी थी। अभिजात वर्ग के पास विशेष अधिकार होते हैं, इन्हीं के कारण वह बाकी प्रजा से अलग होता है। इस प्रकार अंग्रेज मजदूरों की यह अल्पसंख्यक जमात जितना पूंजीवादी थी, उतना ही अभिजात थी। बाकी मजदूर पूंजीपतियों के पिछलगुए बनकर, मध्यवर्ग की तरह, जब-तब अस्थायी रूप से लूट का हिस्सा पाते थे।

अब सवाल यह है कि इस भ्रष्टाचार की शुरूआत कब से हुई? ११ फरवरी १८७८ के पत्र मे मार्क्स ने जर्मन श्रमिक नेता लीव्कनेख्ट के नाम पत्र में लिखा था, "१८४८ मे भ्रष्टाचार का जो दौर शुरू हुआ, उसमे अंग्रेज मजदूर वर्ग क्रमश: अधिकाधिक पस्त (डिमोरलाइज्ड) होता गया और आखिरकार उस जगह पहुँच गया है जहाँ वह महान् लिबरल पार्टी की दुम के अलावा और कुछ नही रह गया है अर्थात् पूंजीपतियो का चमचा बन गया है।" (करेस्पॉण्डेंस, पृ. ३५५-५६)। १८४८ में यूरोप के देशो मे क्रान्तिकारी उभार आया था। उसी उभार को ध्यान में रखकर मार्क्स और एंगेल्स ने कम्युनिस्ट घोषणापत्र प्रकाशित किया था। उस समय इंग्लैण्ड का मजदूर वर्ग उस उभार से दूर रहा। उसके दूर रहने का मुख्य कारण यह था कि १८४८ मे वह भ्रष्टाचार शुरू हो गया था जो अंग्रेज मजदूरो की वर्ग-चेतना को कुण्ठित कर रहा था। कम्युनिस्ट घोषणापत्र पढते समय १८७८ मे कही हुई मार्क्स की यह बात याद रखनी चाहिए। उससे पता चलता है कि १८५७ की लड़ाई के समय ब्रिटिश मजदूर वर्ग भारत के पक्ष मे और अपने शासक वर्ग के खिलाफ कारगर ढँग से हस्तक्षेप क्यों न कर सका। उस हालत मे जिन चार्टिस्ट नेताओं ने भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थन किया, उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। विश्व बाजार पर अंग्रेजी इजारा टूटेगा, तभी इंग्लैंण्ड की धरती मे समाजवाद की जड़ पैठेगी। १८५७ मे भारतीय जनता ने इस इजारे को तोड़ने का प्रयास किया। वस्तुगत रूप से अंग्रेज मजदूरों की मुक्ति में यह भारतीय किसानों का योगदान था।

आयरलैंण्ड की तुलना मे बहुत कम ऐसे मुद्दे हैं जिनके अध्ययन से इतना साफ दिखायी दे कि मार्क्स और एंगेल्स का विचारक्षितिज निरन्तर विकासमान था। आयरलैंण्ड के बारे मे मार्क्स ने अपने चिन्तन की दिशा को बुनियादी तौर से बदला, यह उन्होंने एंगेल्स को लिखे हुए अपने २ नवम्बर १८६७ के पत्र में स्पष्ट कर दिया। आयरलैण्ड का सामाजिक विकास वहाँ अंग्रेज़ जमीदारो और पूंजीपतियों का प्रभुत्व कायम होने से न हो सकता था। ब्रिटेन में समाज का सबसे क्रान्तिकारी वर्ग—सर्वहारा वर्ग—क्रान्ति करेगा, इसकी कोई आशा न थी; क्रान्ति के बाद वह आयरलैण्ड की जनता का उद्धार करेगा, इसकी कोई आशा न थी। मजदूर वर्ग सभी परिस्थितियो मे समाज का सर्वाधिक क्रान्तिकारी वर्ग नही होता।

इंग्लैण्ड का मजदूर वर्ग भ्रष्ट था, वह पराधीन देशों की लूट में हिस्सा बँटा रहा था। उसकी तुलना मे आयरलैण्ड के किसान ज्यादा क्रान्तिकारी थे। उनके स्वाधीनता संग्राम की सफलता ही अंग्रेज मजदूरों को क्रान्ति और समाजवाद का पाठ पढ़ा सकती थी। इंग्लैंड का पूंजीवाद, व्यापारिक पूंजीवाद ही नहीं, वहाँ का औद्योगिक पूंजीवाद कितना प्रतिक्रियावादी था, अपने ह्रासकाल में नही, अपने अभ्युदयकाल में वह कितना प्रतिक्रियावादी था, इसका पता आयरलैंड में अंग्रेज़ो के कारनामो से चलता है। इस औद्योगिक पूंजीवाद ने ब्रिटिश जमींदारों से गठबन्धन किया था, उद्योगपति और जमीदार दोनों मिलकर आयरलैंड को तबाह कर रहे थे, बस्तियो की जगह खण्डहर, खेतों की जगह चरागाह दिखायी दे रहे थे। आबादी बराबर घटती जा रही थी, जो लोग बचे थे, वे पुलिस और जमीदारों के क्रूर दमन के शिकार थे। अंग्रेजी राज आयरलैंड में समाज का ढांचा तोड़ रहा है, वस्तुगत रूप से वहाँ क्रान्ति कर रहा है, नये विकास के लिए कुछ आवश्यक शर्तें पूरी कर रहा है, इस तरह की स्थापनाओं की सचाई के लिए आयरलैण्ड मे कोई प्रमाण नही मिलता। इंग्लैण्ड के पूंजीपति और जमीदार वहाँ नये ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश फैला रहे थे, इसका कोई प्रमाण नही है। इसके विपरीत प्रमाण इस बात का है कि वे सामन्ती अन्धविश्वासों को बढ़ावा दे रहे थे, चर्च को अपने शोषण का साधन बना रहे थे, एक ही धर्म के दो सम्प्रदायों को एक-दूसरे से लड़ा रहे थे, ईसाई कैथलिको से ईसाई प्रोटेस्टेण्टों को भिड़ा रहे थे।

इंग्लैण्ड का मजदूर वर्ग १८४८ से पराधीन देशों की लूट में हिस्सा पाने लगा था। १८४८ से वस्तुगत परिस्थितियों द्वारा यह बात निर्धारित हो गयी थी कि *उद्योगप्रधान देशों का मजदूर वर्ग अकेले क्रान्ति नहीं कर सकता। संसार में पूंजीवादी* प्रभुत्व के विनाश के लिए पराधीन देशों के स्वाधीनता आन्दोलन की भूमिका निर्णायक है। पूंजीवाद के विनाश के लिए जितना पूंजीवादी देशों के मजदूरों की एकता जरूरी थी, उससे कुछ अधिक ही पराधीन देशों की जनता की एकता जरूरी थी। भारत मे अंग्रेज़ों ने जो कुछ किया और अंग्रेज़ों के विरुद्ध भारतीय जनता ने जो कुछ किया, उसके विवेचन में मार्क्स और एंगेल्स के आयरलैंड सम्बन्धी लेखन से सहायता लेना आवश्यक है। आयरलैंड की समस्या मूलतः पराधीन देशों की समस्या थी, वह विशेष रूप से उन देशों की समस्या थी, जो ब्रिटेन के अधीन थे। मार्क्स और एंगेल्स के लिए आयरलैण्ड की स्वाधीनता वह कुंजी थी जिससे अंग्रेज मजदूरों की बेड़ियाँ खोली जा सकती थी। पूंजीवादी विकास, वर्ग संघर्ष, सर्वहारा क्रान्ति, इन सब मुद्दों पर मार्क्स और एंगेल्स ने जो कुछ लिखा, उससे उनका आयरलैंड सम्बन्धी विवेचन अभिन्न रूप मे जुड़ा हुआ है। सर्वहारा क्रान्ति के सिद्धान्त का पूरक अंश है राष्ट्रीय स्वाधीनता का सिद्धान्त। इस राष्ट्रीय स्वाधीनता सिद्धान्त के दो मुख्य सन्दर्भ हैं: एक आयरलैण्ड, दूसरा भारत।

३

मार्क्स और भारत

१. खेती और उद्योग-धन्धों का घरेलू संयोग

१० जून १८५३ के न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून मे मार्क्स ने भारत मे अंग्रेजी राज पर एक लेख ('दि ब्रिटिश रूल इन इण्डिया') लिखा। इसमें उन्होंने कहा कि इंग्लैण्ड ने हिन्दुस्तान में एक सामाजिक क्रान्ति की है। क्रान्ति करने में उसके उद्देश्य निहायत गन्दे थे और उन उद्देश्यों की पूर्ति करने में उसने मूर्खता का परिचय दिया। किन्तु प्रश्न यह था, क्या मनुष्य जाति एशिया की सामाजिक स्थिति में बुनियादी क्रान्ति किये बिना अपनी नियति पूरी कर सकती है ? यदि नही, तो इंग्लैण्ड ने जो भी अपराध किये हों, उस क्रान्ति को सम्पन्न करने में वह अनजाने ही इतिहास का साधन बना। इंग्लैंड ने हिन्दुस्तान में जो क्रान्ति की थी, वह मार्क्स के अनुसार यह थी कि उसने गांव के स्तर पर खेती और उद्योगधन्धों के गँठजोड़ को तोड़ा। भारतीय समाज की विशेषता उन्होंने यह बतायी कि एशिया के अन्य लोगों के समान हिन्दू भी केन्द्रीय सरकार पर सिंचाई-व्यवस्था की देख-भाल छोड़ देते हैं। उसके बिना उनकी खेती और व्यापार सम्भव नही है। वे छोटे-छोटे केन्द्रों में एकत्र होकर रहते हैं जहाँ खेती और उद्योग-धन्धों का घरेलू संयोग (डोमेस्टिक यूनियन) रहता है। इन दो बातों से यहाँ की ग्राम्यव्यवस्था बनी है जो अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। प्रत्येक ग्राम-संगठन स्वतन्त्र समाज के रूप में अपना जीवन बिताता है। मार्क्स ने लिखा कि सामाजिक गठन के ये छोटे पुराने रूप अधिकतर भंग कर दिये गये है और अब समाप्ति पर हैं। इसका कारण टैक्स वसूल करनेवाले अंग्रेज अफसरों और ब्रिटिश सैनिकों की क्रूर दखलन्दाजी उतना नहीं है जितना अंग्रेजी भाप और अंग्रेजी स्वच्छन्द व्यापार की कार्यवाही है। ग्राम-समाजों को मार्क्स ने कुटुम्ब-समाजों की संज्ञा भी दी है। बताया है कि उनका आधार घरेलू उद्योग है। हाथ की कताई-बुनाई से हाथ की खेती (हैण्ड टिलिंग ऐग्रीकल्चर) का संयोग होने से ये समाज आत्मनिर्भर बने। अंग्रेजों की दखलन्दाजी ने कताई करनेवालों को लंकाशायर में रखा और

बुनकरों को बंगाल में रखा अथवा कताई-बुनाई करनेवाले दोनों ही हिन्दुओं व मैदान से हटा दिया। इस प्रकार इस हस्तक्षेप ने इन अर्धबर्बर, अर्धसभ्य समाज के आर्थिक आधार को नष्ट करके उन्हें भंग कर दिया और इस प्रकार एशिया व *सबसे बड़ी और वास्तव में एकमात्र सामाजिक क्रान्ति सम्पन्न की।* मार्क्स के विचार से ये ग्राम-समाज पूर्वी निरंकुशता का सुदृढ़ आधार थे और उन्होंने मनुष्य की चेतना को बहुत ही छोटे दायरे में वन्द कर दिया था। (मार्क्स के भारत सम्बन्धी लेख मास्को से प्रकाशित दि फ़र्स्ट इण्डियन वार आफ़ इण्डिपेण्डेंस १८५७-१८५६ तथा ऑन कोलोनिअलिज्म मे दिये हुए है।)

मार्क्स की स्थापनाओं का ऐतिहासिक पक्ष यह है कि ग्राम-समाज अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है। उनका आर्थिक पक्ष यह है कि इनकी निरन्तरता का रहस्य खेती और उद्योग-धन्धो का गँठजोड़ है। इसके अलावा सांस्कृतिक पक्ष यह है कि इन छोटे समाजों मे रहने के कारण यहाँ के लोग अपने मानस का विकास नही कर सके। राजनीतिक पक्ष यह है कि निरकुश राज्यसत्ता का आधार ग्राम-समाज है और इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अंग्रेजी राज ने ग्राम-समाजों को भंग करके भविष्य के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। लेख के प्रारम्भिक अंश मे उन्होंने एशियाई निरंकुशता पर यूरोपियन निरंकुशता को लादने की वात भी लिखी है।

यहाँ सबसे पहले आर्थिक पक्ष पर विचार करें। मार्क्स ने खेती और उद्योग-धन्धों के जिस सयोग की वात इस लेख मे की है, वह न भारत की विशेषता है न एशिया की। उन्होने जिसे प्राकृतिक अर्थतन्त्र कहा है, उसकी विशेषता है खेती और उद्योग धन्धो का सयोग। पूँजी के दूसरे खण्ड मे उन्होंने बताया है कि जल-वायु *जितना ही प्रतिकूल होती है, उतना ही खेती करने की अवधि संकुचित होती है।* उदाहरण के लिए रूस के कुछ उत्तरी क्षेत्रों मे साल के ३६५ दिनो मे किसान केवल १३० से लेकर १५० दिन तक काम कर सकते है। रूस की छह करोड़ पचास लाख यूरोपियन आवादी में पाँच करोड़ आदमी जाड़े के छह या आठ महीनो मे वेकार वने रहते है, उतने दिन तक खेती का काम ठप रहता है। रूस के कारखानो मे दो लाख किसान काम करते हैं; उनके अलावा हर जगह गाँवों में घरेलू उद्योगों का विकास हुआ है। गाँव के गाँव ऐसे हैं जहाँ किसान पीढ़ी-दर-पीढी जुलाहों, मोचियों, लुहारो का काम करते आये हैं। (कैपिटल, खण्ड २, मास्को; पृ. २४४-४५)। मार्क्स ने यहाँ जिन रूसी गाँवों का उल्लेख किया है, उनमें एक ही आदमी साल मे कुछ दिन तक खेती करता है, फिर जुलाहे या मोची या लुहार का काम करता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी जव बाप का पेशा वेटा करता है, तव उससे वर्णव्यवस्थावाली जातियाँ बनती है। श्रमविभाजन की इस व्यवस्था में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए जरूरी है कि बाप का पेशा वेटा अपनाये। एक गाँव मे जुलाहे रहते है, दूसरे मे मोची रहते है, तीसरे मे लुहार रहते हैं। इस तरह एक-एक विरादरी का एक गाँव है। विरादरी के लोग केवल आपस मे शादी-ब्याह करते हैं या उसके वाहर भी, यह गौण वात है। मुख्य वात यह है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी किसी कुटुम्ब के लोग एक ही पेशे से बँधे रहते हैं। सामन्ती व्यवस्था मे

श्रम-विभाजन की यह प्रारम्भिक मंजिल है क्योंकि कारीगरों के पेशे अलग-अलग अवश्य हैं किन्तु उन सभी का एक दूसरा सामान्य पेशा किसानी है। रूस के यूरोपियन भाग मे ठण्ढ के कारण यदि श्रम-विभाजन का यह हाल था तो जर्मनी या इंग्लैण्ड में इससे बहुत भिन्न स्थिति न हो सकती थी।

पूंजी के दूसरे खण्ड में आगे मार्क्स ने लिखा है कि पूंजीवादी उत्पादन की प्रगति के साथ-साथ अर्थतन्त्र में द्रव्य-पूंजी की प्रधानता होती है। मार्क्स ने इसे प्राकृतिक अर्थतन्त्र मे विपरीत बताया है और लिखा है कि प्राकृतिक तन्त्र हर तरह की दासता के साथ चालू रहता है। चाहे वे समाज हों जिनका रूप बहुत कुछ आदिम है या वे समाज हों जिनमे बँधुआ प्रथा का चलन है। (उप., पृ. ४८२-४८३)। प्राकृतिक अर्थतन्त्र उस सामन्ती व्यवस्था की विशेषता है जिसमे बँधुआ प्रथा का चलन है; वह उन समाजो की विशेषता भी है जिनका रूप बहुत कुछ आदिम है। बँधुआ मजदूर प्रथा का चलन पश्चिमी यूरुप में था, सभी इतिहासकार मानते हैं। तब निष्कर्ष यह निकालना चाहिए कि पश्चिमी यूरुप में प्राकृतिक अर्थतन्त्र का चलन था अर्थात् गाँवों मे एक ही किसान परिवार के लोग खेती करते थे और कारीगरों का काम भी करते थे। यह भारत और एशिया की अनोखी विशेपता नहीं थी।

यूरुप में खेती और उद्योग-धन्धों का गँठजोड़ था, यह बात केवल निष्कर्ष निकालकर समझने की नही है। पूंजी के तीसरे खण्ड में बात बिलकुल साफ हो गयी है। इस खण्ड में मार्क्स ने लिखा है, प्राकृतिक अर्थतन्त्र मे खेती की उपज का कोई भी भाग संचरण (सरकुलेशन) की प्रक्रिया में नही आता। आता है तो उस उपज का वह अपेक्षाकृत अल्प भाग आता है जो जमीदारों की मालगुजारी होता है जैसे कि रोमन जमींदारियों मे या बादशाह शार्लमेन के इलाकों में या बहुत कुछ समूचे मध्यकाल में। बड़ी जमींदारियो की उपज और अतिरिक्त उपज मे केवल खेती की पैदावार नहीं होती; उसमें औद्योगिक पैदावार भी शामिल होती है। "आधारभूत खेती के गौण पेशों के रूप में घरेलू कारीगरी और दस्तकारी उत्पादन की उस पद्धति की आवश्यक शर्तें हैं जिस पर प्राकृतिक अर्थतन्त्र निर्भर होता है। ऐसा यूरुप के प्राचीनकाल मे था, मध्यकाल में था और वर्तमान भारतीय समाज में है जहाँ परम्परागत संगठन अभी पूरी तरह नष्ट नही किया गया। उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति इस सम्बन्ध को पूरी तरह खतम कर देती है। यह प्रक्रिया बड़े पैमाने पर खासतौर से इंग्लैण्ड में कैसे घटित हुई, यह १८वीं सदी के तीसरे भाग में देखा जा सकता है। हेरेनश्वाण्ड जैसे विचारक उन समाजों मे पैदा हुए और बढे थे जो बहुत कुछ अर्धसामन्ती थे। वे अब भी, यथा १८वी सदी की समाप्ति पर, समझते हैं कि खेती से उद्योगधन्धों का यह अलगाव एक मूर्खतापूर्ण सामाजिक मुहीम है, जीवन की एक कल्पनातीत जोखिम भरी पद्धति है।" (कैपिटल; खण्ड ३; पृष्ठ ७८६-८७)।

यहाँ मार्क्स ने बताया है कि प्राकृतिक अर्थतन्त्र रोमन जमींदारियों से लेकर मध्यकाल तक चला आया था। इससे सिद्ध यह हुआ कि जिसे [illegible] प्राकृतिक अर्थतन्त्र कहते हैं, वह सामन्ती अर्थतन्त्र है। उसकी विशेषता [illegible]

बुनकरों को बंगाल में रखा अथवा कताई-बुनाई करनेवाले दोनों ही हिन्दुओं को मैदान से हटा दिया। इस प्रकार इस हस्तक्षेप ने इन अर्धबर्बर, अर्धसभ्य समाजों के आर्थिक आधार को नष्ट करके उन्हें भंग कर दिया और इस प्रकार एशिया की सबसे बड़ी और वास्तव में एकमात्र सामाजिक क्रान्ति सम्पन्न की। मार्क्स के विचार से ये *ग्राम-समाज पूर्वी निरंकुशता का सुदृढ़ आधार थे और उन्होंने मनुष्य* की चेतना को बहुत ही छोटे दायरे में बन्द कर दिया था। (मार्क्स के भारत-सम्बन्धी लेख मास्को से प्रकाशित दि फ़र्स्ट इण्डियन वार आफ़ इण्डिपेण्डेंस, १८५७-१८५६ तथा ऑन कोलोनिअलिज्म मे दिये हुए हैं।)

मार्क्स की स्थापनाओं का ऐतिहासिक पक्ष यह है कि ग्राम-समाज अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है। उनका आर्थिक पक्ष यह है कि इनकी निरन्तरता का रहस्य खेती और उद्योग-धन्धों का गँठजोड़ है। इसके अलावा सांस्कृतिक पक्ष यह है कि इन छोटे समाजों में रहने के कारण यहाँ के लोग अपने मानस का विकास नही कर सके। राजनीतिक पक्ष यह है कि निरंकुश राज्यसत्ता का आधार ग्राम-समाज है और इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि अंग्रेजी राज ने ग्राम-समाजों को भग करके भविष्य के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। लेख के प्रारम्भिक अंश में उन्होंने एशियाई निरंकुशता पर यूरोपियन निरंकुशता को लादने की बात भी लिखी है।

यहाँ सबसे पहले आर्थिक पक्ष पर विचार करें। मार्क्स ने खेती और उद्योग-धन्धों के जिस संयोग की बात इस लेख मे की है, वह न भारत की विशेषता है न एशिया की। उन्होंने जिसे प्राकृतिक अर्थतन्त्र कहा है, उसकी विशेषता है खेती और उद्योग धन्धों का संयोग। पूंजी के दूसरे खण्ड में उन्होंने बताया है कि जल-वायु जितना ही प्रतिकूल होती है, उतना ही खेती करने की अवधि संकुचित होती है। उदाहरण के लिए रूस के कुछ उत्तरी क्षेत्रों मे साल के ३६५ दिनों में किसान केवल १३० से लेकर १५० दिन तक काम कर सकते है। रूस की छह करोड़ पचास लाख यूरोपियन आबादी मे पाँच करोड़ आदमी जाड़े के छह या आठ महीनो मे बेकार बने रहते है, उतने दिन तक खेती का काम ठप रहता है। रूस के कारखानो मे दो लाख किसान काम करते हैं; उनके अलावा हर जगह गाँवों मे घरेलू उद्योगो का विकास हुआ है। गाँव के गाँव ऐसे है जहाँ किसान पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुलाहों, मोचियों, लुहारो का काम करते आये है। (कैपिटल, खण्ड २, मास्को; पृ. २४४-४५)। मार्क्स ने यहाँ जिन रूसी गाँवों का उल्लेख किया है, उनमें एक ही आदमी साल मे कुछ दिन तक खेती करता है, फिर जुलाहे या मोची या लुहार का काम करता है। पीढ़ी-दर-पीढी जब बाप का पेशा बेटा करता है, तब उससे वर्णव्यवस्थावाली जातियाँ बनती है। श्रमविभाजन की इस व्यवस्था मे विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए ज़रूरी है कि बाप का पेशा बेटा अपनाये। एक गाँव मे जुलाहे रहते है, दूसरे में मोची रहते है, तीसरे में लुहार रहते हैं। इस तरह एक-एक बिरादरी का एक गाँव है। बिरादरी के लोग केवल आपस मे शादी ब्याह करते है या उसके बाहर भी, यह गौण बात है। मुख्य बात यह है कि पीढ़ी-दर-पीढ़ी किसी कुटुम्ब के लोग एक ही पेशे से बँधे रहते है। सामन्ती व्यवस्था

और आर्थिक शक्ति के प्रयोग द्वारा विघटित करने में देर नहीं लगायी। अंग्रेज़ी व्यापार ने इन समाजों पर उस हद तक क्रान्तिकारी प्रभाव डाला और उन्हें छिन्न-भिन्न किया जिस हद तक उसके माल के सस्ता होने से कताई-बुनाई के उद्योगों का नाश हुआ। कताई-बुनाई के ये उद्योग खेती और औद्योगिक उत्पादन के संयोग मे पुराने सम्बन्ध सूत्र थे। वैसे भी विघटन की यह प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे चालू होती है। चीन मे प्रत्यक्ष राज्यसत्ता का सहारा न मिलने से वह और भी धीमी होती है।" (पूंजी, खण्ड ३, पृ. ३३३-३४)।

१८५३ की स्थापना से यहाँ अन्तर यह है कि मार्क्स अंग्रेज़ी व्यापार के विघटनकारी प्रभाव को बहुत धीरे-धीरे काम करते देखते है। पूंजी के तीसरे खण्ड के उत्तरार्ध मे यह स्थापना और भी बदल गयी है। मार्क्स ने लिखा कि प्राकृतिक अर्थतन्त्र का आधार वह उत्पादन-पद्धति है जिसमे खेती के साथ गौण रूप में घरेलू उद्योग चालू रहते है; यह तन्त्र प्राचीन और मध्यकालीन यूरुप मे रहा है और "वर्तमान भारतीय समाज मे है जहाँ परम्परागत सगठन अभी नष्ट नहीं हुआ;" ("the present day Indian community, in which the traditional organisation has not yet been destroyed.") (उप., पृ. ७८६-८७)। स्पष्ट ही मार्क्स इस समस्या पर बराबर सोचते रहे थे। पूंजी के तीसरे खण्ड के लिए जो मसौदे वह तैयार कर रहे थे, उनमे पहले की स्थापना आगे चलकर उन्होंने निरस्त कर दी। उसके निरस्त होने के साथ अंग्रेज़ो की क्रान्तिकारी भूमिका की बात भी निरस्त हो गयी।

भारत-सम्बन्धी मार्क्स की स्थापनाओं की छानबीन करनेवालों ने उनके १८५३ वाले लेखों का बार-बार हवाला दिया है, पूंजी के तीसरे खण्ड मे जो खेती और दस्तकारी के सयोग के न टूटने की बात है, उसके बारे में वे चुप रहते हैं। इसके अलावा मार्क्स ने जहाँ यूरुप मे प्राकृतिक अर्थतन्त्र के चलन की बात कही है, यूरुप के प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक, और मध्यकाल से १८वी सदी तक उसके चलन की जो बात कही है, उसके बारे मे भी चुप रहते हैं। यदि रोमन ज़मीदारियो के युग से लेकर १८वी सदी तक यूरुप के गाँवो मे प्राकृतिक अर्थतन्त्र का चलन था, तो यह इन ग्राम-समाजो की अपरिवर्तनशीलता का अकाट्य प्रमाण है। यूरुप की अपेक्षा भारत का सामन्तवाद कहीं अधिक प्राचीन था। इसलिए मार्क्स की स्थापनाओं का सारतत्व यह निकलेगा कि यूरुप की सामन्ती व्यवस्था कुछ शताब्दियों तक चली किन्तु भारत मे वही व्यवस्था सहस्राब्दियों तक चली।

ऑग और ज़िक ने आधुनिक सरकारों पर एक पुस्तक लिखी है (Ogg and Zink: Modern Foreign Governments)। इसमें उन्होंने स्थानीय ग्रामसमाजों के बारे मे जो कुछ लिखा है, वह भारतीय ग्राम-समाजों के प्रसंग मे ध्यान देने योग्य है। कहते है: "राजनीति का विद्यार्थी एक बात जल्दी ही समझ लेता है, वह यह कि सरकारें ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक स्थायी होती हैं। १७वीं सदी में इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का कत्ल किया, बादशाही खत्म की, हाउस आफ लार्ड्स को भंग किया, प्रजातन्त्र की घोषणा की, फिर वह बादशाही की तरफ लौट आया और उसने दूसरा सदन कायम किया; इस बीच जनपदो, कस्बों और गांवो में (in

कारी का संयोग। इनमें मुख्य है खेती और गौण है दस्तकारी। प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक यूरुप में इस प्राकृतिक अर्थतन्त्र का चलन था। उसी वाक्य में यूरोपियन समाजों के प्राचीन और मध्यकालों के साथ मार्क्स भारतीय समाज के वर्तमान को जोड़ देते हैं। इससे स्पष्ट हुआ कि खेती और दस्तकारी का गँठजोड़ एशियाई समाज की ही विशेषता नहीं है, वह यूरोपियन समाज की विशेषता भी है। पूँजीवादी उत्पादन इस गँठजोड़ को खत्म करता है लेकिन अपने विकास की किस मंजिल में वह ऐसा करता है? जब कारखानेदार कारीगरों को छोटे कारखानों में इकट्ठा करते हैं किन्तु जहाँ मशीनें नहीं होतीं या जब सौदागर पेशगी रुपया देकर कारीगरों से माल तैयार कराते हैं या जब व्यापारिक पूँजीवाद का विकास होता है? कब पूँजीवाद उस गठबन्धन को तोड़ पाता है? जब कारखानों में मशीनें लगायी जाती हैं, हजारों पगारजीवी मजदूर इन कारखानों में काम करते हैं, तब खेती और दस्तकारी का ग्रामीण संयोग टूटता है। औद्योगिक क्रान्ति से पहले के इंग्लैण्ड में यह गँठजोड़ टूट न पाया था, वह टूटा अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में। औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंग्लैण्ड भारत और एशिया से आगे बढ़ गया, यह बात सही है पर उसके पहले? उसके पहले इंग्लैण्ड के ग्राम-समाजों का वही हाल था जो भारत के ग्राम-समाजों का था। एक अन्तर था, वह यह कि अधिकांश भारतीय गाँवों में एक ही परिवार खेती और कारीगरी के दोनों काम न करता था। यहाँ की जलवायु में जिस तरह का प्राकृतिक अर्थतन्त्र विकसित हुआ, उसमें किसान के लिए यह अनिवार्य नहीं था कि तीन महीने खेती करे और नौ महीने घरेलू दस्तकारी का काम सँभाले या फिर बेकार रहे। भारतीय ग्राम-समाज श्रम-विभाजन की दूसरी मंज़िल में थे जहाँ किसानी और दस्तकारी दो अलग पेशे हो जाते हैं। जर्मनी में खेती और दस्तकारी का संयोग इतना रूढ़िबद्ध हो गया था कि वहाँ के बहुत से विद्वान् उनके अलगाव को मूर्खतापूर्ण खतरनाक कार्यवाही मानते थे। निष्कर्ष यह निकला कि सामन्ती अवशेष १८वीं सदी के जर्मनी में काफी मजबूत थे। उन्नीसवीं सदी के भारत में ये अवशेष बने हुए थे। इंग्लैण्ड में उनका विनाश १८वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ।

अब प्रश्न यह है कि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना से खेती और दस्तकारी के संयोग का विनाश हुआ या नहीं। मार्क्स ने लिखा था कि इस संयोग का नाश करके अंग्रेजों ने क्रान्ति की है। उन्होंने क्रान्ति की यह बात १८५३ में कही थी। उसके बाद पूँजी के तीसरे खण्ड के पूर्वार्द्ध में उन्होंने उसे दोहराया। उन्होंने लिखा : पूँजीवाद से पहले की जातीय उत्पादन-पद्धतियों की आन्तरिक सम्बद्धता और उनका संगठन व्यापार के विघटनकारी प्रभाव में रुकावट पैदा करता है। इसकी अच्छी मिसालें भारत और चीन से अंग्रेजों के सम्पर्क में मिलती हैं। यहाँ मोटे तौर से उत्पादन-पद्धति का व्यापक आधार है छोटे पैमाने की खेती और घरेलू उद्योग धन्धों का संयोग। भारत में इसके अतिरिक्त सामान्य भूसम्पत्ति के आधार पर निर्मित ग्राम-समाजों का रूप भी है। प्रसंगवश कह दें कि चीन में भी [भूस्वामित्व का] मूल रूप यही था। भारत में शासकों और जमींदारों की हैसियत से अंग्रेजों ने इन छोटे आर्थिक समुदायों को अपनी प्रत्यक्ष राजनीतिक

और आर्थिक शक्ति के प्रयोग द्वारा विघटित करने मे देर नही लगायी। अंग्रेज़ी व्यापार ने इन समाजो पर उस हद तक क्रान्तिकारी प्रभाव डाला और उन्हें छिन्न-भिन्न किया जिस हद तक उसके माल के सस्ता होने से कताई-बुनाई के उद्योगों का नाश हुआ। कताई-बुनाई के ये उद्योग खेती और औद्योगिक उत्पादन के सयोग मे पुराने सम्बन्ध सूत्र थे। वैसे भी विघटन की यह प्रक्रिया बहुत धीरे-धीरे चालू होती है। चीन मे प्रत्यक्ष राज्यसत्ता का सहारा न मिलने से वह और भी धीमी होती है। (पूंजी, खण्ड ३, पृ. ३३३-३४)।

१८५३ की स्थापना से यहाँ अन्तर यह है कि मार्क्स अंग्रेजी व्यापार के विघटनकारी प्रभाव को बहुत धीरे-धीरे काम करते देखते है। पूंजी के तीसरे खण्ड के उत्तरार्ध मे यह स्थापना और भी बदल गयी है। मार्क्स ने लिखा कि प्राकृतिक अर्थतन्त्र का आधार वह उत्पादन-पद्धति है जिसमे खेती के साथ गौण रूप में घरेलू उद्योग चालू रहते है; यह तन्त्र प्राचीन और मध्यकालीन यूरप मे रहा है और "वर्तमान भारतीय समाज मे है जहाँ परम्परागत सगठन अभी नष्ट नही हुआ :" ("the present day Indian community, in which the traditional organisation has not yet been destroyed.") (उप., पृ. ७८६-८७)। स्पष्ट ही मार्क्स इस समस्या पर बराबर सोचते रहे थे। पूंजी के तीसरे खण्ड के लिए जो मसौदे वह तैयार कर रहे थे, उनमे पहले की स्थापना आगे चलकर उन्होंने निरस्त कर दी। उसके निरस्त होने के साथ अंग्रेज़ो की क्रान्तिकारी भूमिका की बात भी निरस्त हो गयी।

भारत-सम्बन्धी मार्क्स की स्थापनाओ की छानबीन करनेवालों ने उनके १८५३ वाले लेखो का बार-बार हवाला दिया है, पूंजी के तीसरे खण्ड में जो खेती और दस्तकारी के सयोग के न टूटने की बात है, उसके बारे मे वे चुप रहते हैं। इसके अलावा मार्क्स ने जहाँ यूरप मे प्राकृतिक अर्थतन्त्र के चलन की बात कही है, यूरप के प्राचीनकाल से लेकर मध्यकाल तक, और मध्यकाल से १८वी सदी तक उसके चलन की जो बात कही है, उसके बारे मे भी चुप रहते हैं। यदि रोमन ज़मीदारियों के युग से लेकर १८वी सदी तक यूरप के गाँवों मे प्राकृतिक अर्थतन्त्र का चलन था, तो यह इन ग्राम-समाजों की अपरिवर्तनशीलता का अकाट्य प्रमाण है। यूरप की अपेक्षा भारत का सामन्तवाद कही अधिक प्राचीन था। इसलिए मार्क्स की स्थापनाओं का सारतत्व यह निकलेगा कि यूरप की सामन्ती व्यवस्था कुछ शताब्दियों तक चली किन्तु भारत मे वही व्यवस्था सहस्राब्दियों तक चली।

ऑग और ज़िक ने आधुनिक सरकारों पर एक पुस्तक लिखी है (Ogg and Zink: Modern Foreign Governments)। इसम उन्होंने स्थानीय ग्रामसमाजों के बारे मे जो कुछ लिखा है, वह भारतीय ग्राम-समाजों के प्रसंग मे ध्यान देने योग्य है। कहते है : "राजनीति का विद्यार्थी एक बात जल्दी ही समझ लेता है, वह यह कि सरकारें ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक स्थायी होती हैं। १७वी सदी मे इंग्लैण्ड ने अपने बादशाह का कत्ल किया, बादशाही खत्म की, हाउस आफ लार्ड्स को भंग किया, प्रजातन्त्र की घोषणा की, फिर वह बादशाही की तरफ लौट आया और उसने दूसरा सदन कायम किया; इस बीच जनपदों, जवारों और गाँवों में (in

counties, boroughs and parishes) प्रायः कोई भी उथल-पुथल न हुई।" (पृ. ५८५-८६)। इसलिए भारत में यदि दिल्ली की गद्दी पर भिन्न राजवंशों के शासक बैठते-उतरते रहे और उस ओर ध्यान न देकर भारतीय ग्राम-समाज अपना स्वायत्त शासन चलाते रहे हों तो यह कोई अनोखी बात नहीं थी। पर वास्तव में वे इतने स्वायत्त थे नहीं।

पूंजी के तीसरे खण्ड में मार्क्स ने जमीन के भाड़े की चर्चा करते हुए लिखा कि जहाँ जमीन का भाड़ा उपज के रूप में लिया जाता है, वहाँ वह किसी विशेष उपज के ही रूप में होता है। उसके साथ पैदावार का विशेष तरीका होता है, और इस पैदावार में "खेती और घरेलू उद्योग का संयोग अनिवार्य होता है और वह लगभग पूरी तरह आत्मनिर्भर होता है जिससे किसान-परिवार बाज़ार से स्वतन्त्र रहकर अपना पालन-पोषण करता है।" (पृष्ठ ७९६)। मार्क्स ने ये बातें यूरुप के सन्दर्भ में कही थी और यह भी लिखा था कि स्थिर सामाजिक परिस्थितियों के लिए आधार प्रस्तुत करने में भाड़े का यह रूप अनुकूल सिद्ध होता है। जब कोई विदेशी जाति उपज के रूप में भाड़ा इस तरह लेती है कि उसे मुनाफा हो, तब उपज का वह भाग इतना बड़ा हो जाता है कि खेती करनेवाले के लिए अपने परिवार का पालन-पोषण करना कठिन हो जाता है। उत्पादन का प्रसार लगभग असम्भव होता है और जो उत्पादक हैं, वे पेट भरने को ही अन्न पा सकते हैं। "ऐसा खासतौर से तब होता है जब किसी विजेता व्यापारी जाति को भाड़े का यह रूप मिलता है और वह उससे लाभ उठाती है जैसे कि भारत में अंग्रेज।" (पृ. ७९६)। यहाँ मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया है कि अंग्रेज़ उपज के रूप में ज़मीन का भाड़ा वसूल कर रहे थे। किसान पहले उपज का जितना अंश राजा को देता था, उससे और भी बड़ा अंश वह अंग्रेज़ को देता था। इससे पैदावार में बढ़ती न हो सकती थी और किसान तबाह हो रहे थे। जहाँ उपज के रूप में भाड़ा लिया जाता हो, वहाँ अर्थतन्त्र में किसी क्रान्तिकारी परिवर्तन की बात न कही जा सकती थी।

१८९२ में एंगेल्स ने रूसी क्रान्तिकारी दानियलसन को एक पत्र में लिखा था : तुम्हें शिकायत है कि मशीन का बना हुआ माल घरेलू उद्योग-धन्धों की पैदावार को हटा रहा है और इस प्रकार पैदावार के एक पूरक अंश को नष्ट कर रहा है जिसके बिना किसान जी नहीं सकता। किन्तु यहाँ हमारे सामने पूंजीवादी बड़े उद्योग-धन्धों का एकदम अनिवार्य परिणाम है—घरेलू बाज़ार का निर्माण। यह काम जर्मनी में मेरे जीवनकाल में और मेरी आँखों के सामने हुआ है। तुम जो कहते हो कि सूती माल के चलन से किसानों की घरेलू कताई-बुनाई का नाश हो गया है, यही नहीं, उनके पटसन-उद्योग का भी नाश हुआ है, 'यह सब भी जर्मनी में १८२० से अब तक देखा जा चुका है। इसी पत्र में चीन के बारे में एंगेल्स ने लिखा था : अंग्रेजी पूंजी चीन में रेलमार्ग बनाने पर तुली हुई है। चीन में रेलें चलाने का मतलब होगा छोटे पैमाने की खेती और घरेलू धन्धों के आधार का विनाश। और वहाँ बड़े उद्योग-धन्धों जैसी कोई चीज़ न होगी, इसलिए करोड़ों आदमियों का जीवित रहना कठिन हो जायेगा। बड़े पैमाने पर लोग देश छोड़कर बाहर जायेंगे।

दुनिया ने इतने बड़े पैमाने पर लोगों को देश छोड़कर जाते देखा न होगा। (सेलेक्टेड करेस्पाण्डेन्स, पृष्ठ ४९९-५०१)। जर्मनी, रूस और चीन की परिस्थितियों के विवरण से नतीजा यह निकला : जर्मनी में घरेलू उद्योग-धन्धों का विनाश मार्क्स की जवानी में हुआ था; रूस और चीन में इनका विनाश उनकी प्रौढ़ावस्था में हुआ। जर्मनी और रूस की अपेक्षा चीन के लिए यह विनाश अधिक हानिकारक था क्योंकि वहाँ बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों का विकास न हो रहा था। यही स्थिति भारत की थी।

१८९४ में एंगेल्स ने फ्रांस और जर्मनी की किसान समस्या का विवेचन करते हुए जर्मन ग्राम-समाजों के बारे में लिखा था, "परिवार और उससे भी अधिक गाँव आत्मनिर्भर था; वह प्रायः उन सभी चीजों को पैदा करता था जिनकी उसे जरूरत होती थी। यह लगभग अपने विशुद्ध रूप में प्राकृतिक अर्थतन्त्र था; द्रव्य की जरूरत प्रायः थी ही नहीं। पूँजीवादी उत्पादन ने अपने द्रव्यवाले अर्थतन्त्र और बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों द्वारा उसे समाप्त किया।" (सेलेक्टेड वर्क्स, खण्ड ३, पृ. ४६०)। इस उल्लेख से विदित होगा कि मार्क्स और एंगेल्स जिसे प्राकृतिक अर्थतन्त्र कहते थे, वह सामन्ती व्यवस्था में विद्यमान था और आत्मनिर्भर ग्राम-समाज केवल भारत में नहीं थे, वे जर्मनी में भी थे। इस प्राकृतिक अर्थतन्त्र का विनाश पूँजीवाद के पहले दौर में नहीं हुआ; जब बड़े पैमाने के मशीनी उद्योग का चलन हुआ, तभी यह तन्त्र समाप्त हुआ। निष्कर्ष यह कि खेती और दस्तकारी के संयोगवाले आत्मनिर्भर ग्राम-समाज एशिया में ही नहीं यूरुप में भी थे और सामन्ती व्यवस्था के अलावा वे पूँजीवाद के पहले दौर में भी कायम रहे। इस प्रसंग में दो बातें और याद कर लें : (१) भारत के अधिकांश गाँवों में खेती और कारीगरी के काम एक ही परिवार न करता था; भारत की तुलना में जर्मनी के ग्रामतन्त्र का श्रमविभाजन अधिक पुरातनपन्थी, अविकसित और आदिम था; (२) भारतीय ग्राम-समाजों की स्वायत्तता केन्द्रबद्ध मुगल राज्यसत्ता और द्रव्य के चलन ने बहुत कुछ समाप्त कर दी थी।

२. सामन्तवाद और सामूहिक भूसम्पत्ति

अनेक विद्वानों का विचार है कि यूरुप में पूँजीवाद का प्रसार इसलिए हुआ कि वहाँ सामन्ती भूसम्पत्ति थी; भारत में सामूहिक सम्पत्ति का चलन था, इसलिए यहाँ सामन्ती व्यवस्था ही कायम न हुई, पूँजीवाद का विकास तो सम्भव था ही नहीं।

भारत में सामूहिक सम्पत्ति का चलन वैसे ही था जैसे यूरुप में। जहाँ भी सामन्ती व्यवस्थावाले ग्राम-समाज होंगे, वहाँ कुटुम्ब की सम्पत्ति के अलावा ग्राम-समाज की सामूहिक सम्पत्ति भी होगी। १८५३ में एंगेल्स ने मार्क्स को एक पत्र में लिखा था कि पूर्वी देशों में भूसम्पत्ति का अभाव है। उन देशों को समझने की कुंजी यही है। इसी से उनका राजनीतिक और धार्मिक इतिहास समझा जा सकता है। पूर्वी देशों के लोग सामन्ती रूप में भी भूसम्पत्ति का विकास क्यों नहीं कर पाये? एंगेल्स के अनुसार इसका कारण भौगोलिक था। सहारा से लेकर अरब, ईरान, हिन्दुस्तान और तुर्किस्तान तक रेगिस्तानों का सिलसिला फैला हुआ है। यहाँ

कृत्रिम सिंचाई-व्यवस्था खेती के लिए जरूरी है। यह काम या तो ग्राम-समाज (कम्यून) करें या प्रान्त करे या केन्द्रीय सरकार करे। (सेलेक्टेड करेस्पाण्डेन्स, पृष्ठ ६६-६७)। एशिया मे अनेक प्रकार की जलवायु है और अनेक प्रकार की जमीन है। संसार के कुछ बहुत ही उपजाऊ क्षेत्र एशिया में है। यदि कृषितन्त्र के विकास का इतिहास देखा जाये और इस बात का पता लगाया जाय कि कपास, गन्ना आदि कौन-सी चीजें पहले एशिया मे पैदा की जाती थीं, उसके बाद यूरुप में पैदा की जाने लगी, तो भारत और एशिया मे जलवायु की विविधता का रहस्य स्पष्ट हो जायेगा। मार्क्स ने 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' के एक लेख में भारत की तुलना इटली से की थी, यह बताने के लिए कि दोनों देशों में अनेक छोटे राज्य रहे हैं। किन्तु भारत और इटली में एक समानता और है, हिमालय और आल्प्स पर्वतों के निकटवर्ती प्रदेश छोड़कर दोनों देशो की जलवायु उत्तरी यूरुप से भिन्न है, दोनों की काफी धरती उपजाऊ है और दोनों देशों की सम्पदा देखकर विदेशियों ने उन पर आक्रमण किया था। पुराने जमाने मे दोनों ही इंग्लैण्ड और जर्मनी की अपेक्षा सभ्यता के महान् केन्द्र थे। १८५८ मे मार्क्स ने एक पत्र में भारतीय ग्राम-समाजों को आदिम साम्यवादी समाज माना था। मूल्य के प्रसंग में उन्होने लिखा था कि श्रम द्वारा मूल्य का निर्धारण तय होता है जब "आदिम साम्यवाद (भारत इत्यादि)" की समाप्ति होती है और पूंजीवाद के पहले से चली आती उत्पादन की वे अविकसित पद्धतियाँ समाप्त होती है जिन पर पूरी तरह विनिमय का प्रभुत्व नही है। (उप., पृ. १०६)। यहाँ मार्क्स ने पूंजीवाद से पहले की उत्पादन-पद्धतियों की बात कही है। इनमे एक आदिम साम्यवादी पद्धति है और दूसरी, उसके बाद की, सामन्ती अथवा दासप्रथावाली पद्धति होगी। वह भारतीय ग्राम-समाजों को आदिम साम्यवाद से जोड़कर उन्हें सामन्तवाद से अलग करते है। पूंजी के पहले खण्ड में उन्होंने लिखा कि सभी सभ्य जातियों के इतिहास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सामूहिक श्रम किया जाता है। यहाँ पादटिप्पणी मे अर्थतन्त्र की आलोचना में योगदान पुस्तक से एक उद्धरण है। उसमें कहा गया है कि यह धारणा हास्यास्पद है कि सामूहिक सम्पत्ति केवल स्लाव या रूसी रूप है। रोमनो, जर्मनों और केल्त लोगों में पहले यह विद्यमान थी "और आज तक भी उसके बहुत से उदाहरण, भले ही वे ध्वंसावशेष हों, भारत में मिलते हैं।" एशियाई और खासतौर से भारतीय सामूहिक सम्पत्ति के रूपों का और विस्तार से अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि आदिम सामूहिक सम्पत्ति के रूपों से उसके विघटन के रूप कैसे विकसित हुए। रोमन और जर्मन व्यक्तिगत सम्पत्ति के मूल रूपों की पहचान भारतीय सामूहिक सम्पत्ति के विभिन्न रूपो मे हो सकती है। (पूंजी, खण्ड १, पृ. ८२)। मार्क्स मानते थे कि सामूहिक सम्पत्ति का चलन सभी देशों और जातियों मे रहा है, वह एशिया की कोई विशेष सम्पत्ति-व्यवस्था नही है। पूंजी का प्रथम खण्ड १८६८ में प्रकाशित हुआ था। १८६८ में मार्क्स ने एंगेल्स को एक दिलचस्प पत्र लिखा था। जर्मन लेखक मौरर ने जर्मनी के गणसमाजों और सामूहिक सम्पत्ति का विवेचन विस्तार से किया था। मार्क्स ने मौरर के कार्य को बहुत महत्वपूर्ण बताते हुए कहा, कभी-कभी विवेकसम्बन्धी दृष्टिहीनता के कारण बड़े-बड़े बुद्धिमान और के

सामने की चीज नहीं देख पाते। आगे चलकर जब आँखें खुलती है, तब पहले जो दिखायी न दिया था, उसके अवशेष सब जगह बिखरे हुए प्रतीत होते हैं। हम सब कैसे इस विवेक-सम्बन्धी दृष्टिहीनता के शिकार होते है, यह दिखाने के लिए मिसाल देता हूँ। ठीक मेरे पड़ोस में ही पुरानी जर्मन व्यवस्था अभी कुछ साल पहले तक बनी हुई थी। अब मुझे याद आता है कि मेरे पिता ने वकील के दृष्टि-कोण से उसके बारे में मुझसे बातें की थी। (सेलेक्टेड करेस्पाण्डेन्स, पृ. २३५-३६)। इसी पत्र मे उन्होने जर्मन भाषा के अल्गेमाइने (Allgemeine) शब्द के बारे में बताया है कि इसका अर्थ है सामान्य भूमि।

इससे पता चला कि सामूहिक सम्पत्ति के अवशेष जर्मनी मे १९वीं सदी के पूर्वार्ध मे बने हुए थे। जैसे पूंजीवादी व्यवस्था मे सामन्ती अवशेष कायम रहते है, वैसे ही सामन्ती व्यवस्था में गणसमाजो के अवशेष कायम रहते है। पूंजी के प्रथम खण्ड मे मार्क्स ने जहाँ इंग्लैण्ड में जमीदारों के धरती पर अधिकार जमाने की चर्चा की है, वहाँ बताया है कि उन्होने किसानो की निजी भूमि ही नही, उनकी सामान्य भूमि पर भी अधिकार जमाया और यह लूटखसोट १९वी सदी मे भी जारी रही। १८०१ से १८३१ के बीच में जमीदारो ने ३५,११,७७० एकड सामान्य भूमि हथिया ली थी। (पूंजी, खण्ड १, पृ. ६८१)। इस प्रकार किसान की कुटुम्ब-सम्पत्ति के साथ पूरे गाँव की सामूहिक सम्पत्ति का अस्तित्व इंग्लैण्ड के ग्राम-समाजों की विशेषता थी। पूंजी के प्रथम खण्ड मे बँधुआ प्रथा और जमीदार की भूमि पर किसान के अतिरिक्त श्रम की चर्चा करते हुए मार्क्स ने रूमानिया का उदाहरण दिया और लिखा, उत्पादन की मूल पद्धति का आधार भूमि पर सामूहिक अधिकार था किन्तु स्लाव या भारतीय रूप मे नही। समाज के सदस्य ज़मीन के एक हिस्से पर मालिक के रूप मे अलग-अलग खेती करते थे; दूसरा हिस्सा सार्व-जनिक भूमि था, उस पर मिलकर खेती करते थे। इस सामूहिक श्रम की उपज सुरक्षानिधि बन जाती थी। फसल अच्छी न हो या और कोई दुर्घटना हो तो इस निधि से काम लिया जाता था। युद्ध, धर्म और अन्य सामूहिक खर्चों के लिए वह सार्वजनिक भण्डार का काम देती थी। (पृ. २२८)। भारतीय गाँवों में सभी लोग श्रम न करते थे। ज्योतिषी, पुरोहित, कवि आदि को गाँव की उपज से हिस्सा दिया जाता था। इस कारण, सम्भव है, मार्क्स के मन में यह धारणा उत्पन्न हुई हो कि ये गाँव आदिम साम्यवादी अवस्था मे है। किन्तु यहाँ सामूहिक खेती होती थी अथवा भूमि पर सामुदायिक स्वामित्व था, इसका प्रमाण नही है। किसानों की निजी भूमि के अलावा पशुओं को चराने की सामान्य भूमि होती थी। उसे छोड़-कर किसानों के पास और सामूहिक सम्पत्ति नही थी। पूंजी के प्रथम खण्ड में मार्क्स ने आगे लिखा कि मानव विकास के प्रारम्भ में जैसा सहयोग अर्थात् सामूहिक श्रम आखेटजीवी जातियों में दिखायी देता है, अथवा जैसा सहयोग भारतीय समाजों की खेती मे दिखायी देता है, उसका आधार एक ओर उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व है, दूसरी ओर यह तथ्य है कि जैसे हर मधुमक्खी अपने छत्ते से जुडी होती है, वैसे ही हर व्यक्ति यहाँ अपने कबीले या समुदाय की नाल से जुड़ा हुआ है। (पृ. ३१६)। मार्क्स ने सामूहिक स्वामित्व की बात कही है और

भारतीय ग्राम-समाजों को कबीलाई व्यवस्था से जोड़ा है। आगे कुछ विस्तार से भारतीय ग्राम-समाजों के बारे में उन्होंने लिखा कि उनका आधार सामूहिक भू-सम्पत्ति है, खेती और दस्तकारी का संयोग है, अपरिवर्तनशील श्रम-विभाजन है। जब भी कोई नया ग्राम-समाज शुरू होता है, तब वह उसी श्रम-विभाजन के अनुसार चालू हो जाता है। सौ एकड़ से लेकर कई हज़ार एकड़ तक भूमि घेरे हुए प्रत्येक समाज सुगठित इकाई होता है और अपनी जरूरत की सारी चीजें पैदा करता है। उपज का मुख्य भाग समाज के प्रत्यक्ष उपयोग के लिए होता है और बिकाऊ माल का रूप नही लेता। इसलिए भारतीय समाज में उत्पादन उस श्रम-विभाजन से स्वतन्त्र है जो वस्तुओं के विनिमय के कारण प्रचलित होता है। केवल अतिरिक्त उपज बिकाऊ माल बनती है, और इसका भी केवल एक हिस्सा ऐसा माल बनता है, और वह भी तब जब राज्यसत्ता के हाथ में पहुँचता है। अनादि काल से भाड़े के रूप मे उपज का यह भाग राज्यसत्ता के हाथ में पहुँचता रहा है। इन समाजों का गठन भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग तरह का है। जहाँ इस तरह के समाजों का सादा रूप है, वहाँ भूमि पर सामूहिक खेती होती है और उपज आपस मे बाँट ली जाती है। इसके साथ ही गौण धन्धों के रूपों में कताई-बुनाई का काम हर परिवार मे होता है। (पृ. ३३७)। काम करनेवालों के इस समुदाय से अलग मार्क्स ने गाँव के मुखिया, गणक, कोतवाल, चौकीदार, ज्योतिषी, लुहार, बढई, कुम्हार, धोबी, सुनार, कवि आदि का उल्लेख किया है और लिखा है कि इन सबका पालन-पोषण पूरे समाज के खर्च पर होता है। पूंजीवादी उद्योग-धन्धो के श्रम-विभाजन से इस श्रम-विभाजन की भिन्नता बताते हुए मार्क्स ने लिखा कि लुहार, बढ़ई आदि के बनाये माल का बाज़ार अपरिवर्तित रहता है। गाँव के आकार के अनुसार इनमें से कहीं एक-एक कारीगर होगा, कही दो-दो, तीन-तीन होंगे। जिस नियम से यह श्रम-विभाजन काम करता है, वह प्राकृतिक नियम के समान लागू होता है। कोई उसका विरोध नही कर सकता। हर कारीगर अपने दस्तकारी के सारे काम परम्परागत ढँग से करता है और स्वतन्त्र रूप से करता है, अपने ऊपर किसी की प्रभुता नहीं मानता। इन आत्मनिर्भर समाजों मे उत्पादन के संगठन की जो सादगी है, उससे पता चलता है कि एशियाई समाज अपरिवर्तित क्यों रहते हैं जब कि एशियाई राज्य बराबर बनते-बिगड़ते रहते है और राजवंश निरन्तर परिवर्तित होते हैं। राजनीतिक आकाश के तूफानी बादल समाज के आर्थिक तत्वों की संरचना पर कोई असर नही डालते। (पृ. ३३८-३६)।

मार्क्स ने माना है कि भारतीय ग्राम-समाजों मे एक प्रकार का श्रमविभाजन था। यदि श्रमविभाजन का इतना ही प्रयोजन था कि कुछ आदमी खेती और दस्तकारी के अलावा अन्य काम करें और बाकी सब खेती करें या कारीगरी का काम करें, तो ऐसे समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव पैदा ही न हो सकता था। किन्तु मार्क्स भारतीय जातिप्रथा से परिचित थे। उन्होने लिखा था कि ये छोटे-छोटे समाज जातिभेद और दासता से दूषित थे। जहाँ जातिभेद और दासता होगी, वहाँ समानता न होगी। इसलिए उस समाज को आदिम साम्यवाद के अन्तर्गत रखना सही न होगा। वास्तव मे गण-समाजों के टूटने के बाद जब छोटे पैमाने का उत्पादन

शुरू होता है, तभी हर पेशे के साथ एक जाति (बिरादरी) का सम्बन्ध जुड जाता है। केवल खेती में नही, दस्तकारी मे भी जातिप्रथा का चलन हो जाता है।

पूँजी के प्रथम खण्ड मे मार्क्स ने लिखा है कि गैरमशीनी कारखाने का मज़दूर किसी वस्तु को बनाने मे कोई एक क्रिया बराबर करता रहता है और इस प्रकार वह उसे पूरा करने का विशेष उपकरण बन जाता है। उसे करने में उसे समय भी कम लगता है। उससे भिन्न वह कारीगर है जो किसी वस्तु को बनाने में एक के बाद दूसरी कई क्रियाएँ सम्पन्न करता है। मार्क्स कहते है कि स्वतन्त्र कारीगरो की तुलना मे कारखाने के मजदूर मिलकर अधिक उत्पादन करते हैं और इस प्रकार श्रम की उत्पादकता बढती है। किसी एक चीज़ को बनाने मे श्रमिकों की कई पीढियाँ काम करती है। वे जो कौशल सीखते है, उसे अगली पीढियों को सिखा जाते हैं। प्रारम्भिक दौर के इन कारखानो का उद्योग मजदूरों से वैसा ही काम कराता है जैसा पहले से वे करते आये थे। काम के एक अश को आदमी अपने जीवन का पेशा बना ले, यह प्राचीन समाजों की उस प्रकृति के अनुरूप है जो पेशे को मौरूसी बना देती है। पेशे मे इतनी जड़ता आ जाती है कि जाति (caste) बन जाती है। निश्चित ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण किसी व्यक्ति में यदि कोई और काम करने का ऐसा रुझान पैदा हो जो जातिप्रथा के अनुकूल न हो तो कारीगरो के संघ (गिल्ड) बना दिये जाते हैं। जातियाँ और कारीगर-सघ उसी प्राकृतिक नियम के लागू होने मे पैदा होते है जिससे वनस्पति और पशुओं की जातियों और उपजातियों का निर्माण होता है। फर्क इतना है कि जब एक निश्चित परिमाण मे विकास हो जाता है, तब जातियों का वंशगत होना और कारीगर-सघो का अलगाववाद समाज के नियम मान लिये जाते हैं। (पृ. ३२१)।

यहाँ मार्क्स ने कारखाने के मज़दूर को सामन्ती समाज के कारीगर से अलग करते हुए दोनो का भेद बताया है। यह कारखाना पूँजीवाद के प्रारम्भिक दौर का है और अभी उसमे मशीनो से काम नही होता। जिन औजारों से कारीगर अपने घर पर काम करते थे, उन्ही से अब वे कारखाने मे आकर काम करते हैं। फर्क इतना है कि पहले अगर एक ही दर्जी कपड़ा काटता था, सिलाई करता था, काज बनाता था, बटन लगाता था, तो अब ये काम अलग-अलग कारीगर करते हैं। एक कारीगर केवल कपड़े ही काटता है और इसमे माहिर हो जाता है; वह अपना कौशल अपने बच्चो को भी सिखा जाता है। इसी तरह दूसरा केवल सिलाई करता है और उसमे कुशल हो जाता है। एक-एक काम करनेवाले इन कारीगरों मे यह प्रवृत्ति होती है कि अपना हुनर अपनी सन्तान को सिखाते चले जायें। मार्क्स कहते हैं कि यह प्रवृत्ति नयी नही है, पुराने समाज मे यह प्रवृत्ति मौजूद थी। बाप का पेशा बेटा करता था। यह भारत की ही जातिप्रथा है, इसके बारे मे अनुमान करने की जरूरत नही है। मार्क्स ने सीधे भारत और मिस्र का हवाला दिया है। वह हवाला किस तरह का है, इसे आगे देखेंगे। यहाँ इस बात पर ध्यान देना है कि मार्क्स जिन कारखानो की बात कर रहे थे, वे मिस्र और भारत के नही थे। वे इंग्लैण्ड के थे। जो कारीगर यहाँ इकट्ठे होते थे और अपना हुनर अपनी सन्तान को सिखाने की प्रवृत्ति दिखाते थे, वे अंग्रेज कारीगर थे। यह प्रवृत्ति वे इसलिए

दिखाते थे कि कारखाने कायम होने से पहले वे इसी प्रवृत्ति के अनुरूप काम करते आये थे यानी पूंजीवाद के शुरू होने से पहले इंग्लैण्ड मे जाति-प्रथा विद्यमान थी।

मार्क्स ने मिस्र के बारे मे रोमन लेखक दिओ दोरुस सिकुलुस से एक उद्धरण दिया है। पादटिप्पणी में दिये हुए इस उद्धरण में बताया गया है : मिस्र में कलाओं ने आवश्यक नफ़ासत हासिल कर ली है। कारण यह कि यही ऐसा देश है जहाँ कारीगर नागरिकों के दूसरे वर्ग के मामलों में किसी तरह दखल नही दे सकते। उन्हे वही पेशा करना होगा जो उनकी बिरादरी मे कानून के अनुसार वंश मे होता आया है। दूसरे देशों मे देखा जाता है कि कारीगर कई चीजों की तरफ एक साथ ध्यान देते है। कभी खेती, कभी व्यापार और कभी दो-तीन पेशों में एक साथ जुट जाते हैं। स्वाधीन देशों में वे अक्सर जनसभाओं में शामिल हो जाते है। इसके विपरीत मिस्र में यदि कोई कारीगर राज्य के मामलों में टाँग अड़ाये या कई पेशे एक साथ करे, तो उसे सख्त सजा दी जाती है। इस प्रकार वे अपना पेशा करते रहे, उन्हें किसी तरह की छेड़छाड का डर नही है। इसके अलावा उन्हें अपने बाप-दादो से बहुत से कायदे विरासत मे मिलते हैं, इसलिए वे उत्सुक रहते हैं कि और कोई नया कमाल दिखायें। (उप., पृ. ३२२)। मिस्र की प्राचीन सभ्यता का आधार यही सामन्ती-व्यवस्था थी जिसकी एक विशेषता थी किसी एक पेशे का वंशगत होना। इसी तरह भारत में पीढ़ी दर पीढ़ी काम करते रहने से भारतीय कारीगरों ने अपने कौशल का विकास किया था। यह विकास कुटुम्बगत होता है, इसीलिए श्रम सामूहिक न होकर सामन्ती अर्थ मे व्यक्तिगत होता है। जहाँ सामूहिक सम्पत्ति होगी, सामूहिक श्रम होगा, समानता के आधार पर श्रमफल का विभाजन होगा, वहाँ श्रम का विशेषीकरण न होगा। मिस्र के बारे मे रोमन लेखक को उद्धृत करने के बाद मार्क्स ने मरे और विल्सन नाम के दो ब्रिटिश लेखकों की भारत-सम्बन्धी पुस्तक से यहाँ के सूती कपड़ों के बारे मे और जुलाहों के कौशल के बारे मे उद्धरण दिया है। ढाका की मलमल की नफ़ासत का जवाब नही है। कोरोमण्डल के सूती कपड़ो के रग टिकाऊ और चमकदार हैं। नफ़ासत और रग में ये कपड़े लासानी हैं; फिर भी इनका उत्पादन पूंजी, मशीनों, श्रम-विभाजन के बिना होता है। यूरुप के उद्योगपतियो को जो सुविधाएँ प्राप्त हैं, वे यहाँ नही है। जुलाहा औरों से अलग अपना काम करता है। उसका करघा बहुत ही मोटे किस्म का होता है; घर में न रख पाने पर वह उसे बाहर मैदान में रखकर काम करता है। इसके बाद मार्क्स कहते है : "पीढी दर पीढ़ी जो कौशल हिन्दू कारीगर अर्जित करता है और बेटा बाप से पाता है, उसी से वह ऐसी योग्यता प्राप्त करता है जैसी मकड़ा प्राप्त करता है। फिर भी औद्योगिक मजदूर के काम के मुकाबले मे ऐसे हिन्दू जुलाहे का काम बहुत ही पेचीदा होता है।" (पृ. ३२२)। मकड़े और जुलाहे में फर्क यह है कि मकड़ा भारत में भी था और इंग्लैण्ड में भी था पर ऐसे जुलाहे केवल भारत में थे जिनका बनाया माल केवल उन्ही के काम न आता था, वह देश-विदेश मे बिकता था और उसे खरीदने इंग्लैण्ड के व्यापारी आते थे।

इसी श्रम-विभाजन के सिलसिले मे मार्क्स ने आगे प्लैटो का हवाला दिया

और बताया कि प्लैटो का प्रजातन्त्र मिस्र की जातिप्रथा का यूनानी (अथीनियन) आदर्श रूप है। (उप., पृ. ३४६)। इससे विदित होता है कि प्लैटो श्रम-विभाजन के विचार से मिस्र की जाति-प्रथा को आदर्श मानते थे। मार्क्स ने लिखा है कि प्लैटो के अनेक समकालीन औद्योगिक मामलों में मिस्र को अपना आदर्श मानते थे। इनमें एक इसोक्रातेस थे। मिस्र का यह महत्व रोमन साम्राज्य के यूनानियों के लिए बना रहा। रोमन साम्राज्य के यूनानियों के उल्लेख के साथ पादटिप्पणी में लिखा है : तुलनीय है दिओदोरस सिकुलुस। इसोक्रातेस से एक उद्धरण है जो भारतीय पाठकों के लिए दिलचस्प होगा। बुसिरिस देवता ने सभी मनुष्यों को विशेष जातियों में बाँट दिया और आज्ञा दी कि एक व्यक्ति हमेशा एक ही पेशा करेगा क्योंकि वह जानते थे कि जो लोग अपना पेशा बदलते रहते हैं, वे किसी पेशे में भी कुशल नहीं हो पाते। जो एक ही पेशे से लगे रहते हैं, वे उसे निखार कर ऊँचे दर्जे का बना देते हैं। कला-कौशल में सचमुच हम देखते यह हैं कि ऐसे आदमियों ने अपने प्रतिद्वन्दियों को वैसे ही पछाड़ दिया है जैसे उस्ताद किसी नौसिखिये को पछाड़ता है। (उप.)।

प्लैटो का कहना था कि श्रमिक स्वयं को धन्धे के अनुकूल बनाये, न कि यह धन्धा श्रमिक के अनुकूल बने। यदि वह कई धन्धे करेगा तो यह बादवाली परिस्थिति पैदा होगी। मल्लाही का काम और दूसरे कामों की तरह कला है और उसे गौण पेशे के रूप में कोई नहीं कर सकता। उसके साथ दरअसल कोई दूसरे पेशे गौण रूप में भी नहीं किये जा सकते। प्लैटो के बाद मार्क्स ने यूनान के प्रसिद्ध इतिहासकार क्सेनोफोन का हवाला दिया है। यह इतिहासकार ईरान के प्रशंसक थे। वहाँ का भोजन उन्हें पसन्द था और भोजन शाही बावर्चीखाने का हो तो कहना ही क्या ! उन्होंने लिखा : शाह के दस्तरखान से खाना मिले तो यह सम्मान की बात तो है ही, पर यह खाना दूसरे भोजन से बहुत लज़ीज भी होता है। और इसमें ताज्जुब की बात नहीं। जैसे दूसरी कलाएँ अपने पूरे निखार में बड़े शहरों में दिखायी देती है, वैसे ही शाही भोजन विशेष प्रकार से तैयार किया जाता है। छोटे शहरों में एक ही आदमी खाट, दरवाजे, हल और मेज बनाता है, कभी-कभी इसके अलावा घर भी बनाता है। यह असम्भव है कि जो इतने काम करता हो, वह उन सबको ढंग समेत करे। किन्तु बड़े शहरों में गाहकों की कमी नहीं। आदमी एक ही पेशा करे तो वह आवश्यक कमाई कर लेगा। पूरे एक पेशे की भी जरूरत नहीं। जूते बनाना है तो एक आदमी सिर्फ मर्दों के लिए बनायेगा, दूसरा केवल स्त्रियों के लिए। जहाँ-तहाँ कोई आदमी जूतों की कटाई या सिलाई से ही जीविका भर को कमा लेता है। एक आदमी कपड़े काटता है तो दूसरा केवल सिलाई करता है। मानी बात है कि जो आदमी बहुत सादा काम करता है, वह उसे दूसरों से अच्छा करेगा। यही हाल पाकशास्त्र का है। प्लैटो के लिए मार्क्स ने लिखा है कि उन्होंने श्रम-विभाजन को वह आधार माना है जिस पर समाज का वर्गों में विभाजन निर्भर रहता है। प्लैटो का यूनानी समाज वर्गों में विभाजित था। ये वर्ग दासों और उनके स्वामियों के नहीं थे, ये वर्ग वैसे ही थे जैसे मिस्र या भारत में उस श्रम-विभाजन से बने थे जिसका परिणाम जातिप्रथा थी। क्सेनोफोन के

लिए मार्क्स ने लिखा है कि वह अपने खास पूँजीवादी सहजबोध से कारखानेवाले श्रम-विभाजन के ज्यादा नज़दीक पहुँचते है। (उप.)। क्सेनोफोन जिन बड़े शहरों की बात कर रहे थे, वे ईरान के थे। ईरानी शहरों में पीढ़ी दर पीढ़ी चलनेवाला पेशा देखकर उनकी समझ में आया था कि बादशाह के दस्तरखान का खाना लज़ीज़ क्यों होता है। जब इंग्लैण्ड के स्वतन्त्र कारीगर पहले-पहल कारखानों में एकत्र हुए, तब वे जातिप्रथा के अनुसार वहाँ भी श्रम की किसी एक क्रिया को पीढ़ी दर पीढी चलाने का प्रयत्न करने लगे। क्सेनोफोन में जो पूँजीवादी सहज-बोध पैदा हुआ था, वह उस सामन्ती व्यवस्था को देखकर पैदा हुआ था जिसमें कला-कौशल ने चरम उन्नति कर ली थी। इसके बाद की मंज़िल थी—किसी वस्तु को बनाने की अनेक क्रियाओं में कारीगर किसी एक क्रिया में महारत हासिल करे। क्सेनोफोन जिस समाज को देखकर कारीगरों के कौशल का विवेचन कर रहे थे, वह एशियाई समाज था और कौशल की उन्नति की यह व्याख्या आत्मनिर्भर ग्राम-समाजों के आधार पर न होती थी।

पूंजी के तीसरे खण्ड का सम्पादन करने के बाद एंगेल्स ने उसके अन्त में अपनी ओर से एक पूरक अध्याय लिखा। इसमें उन्होंने व्यापारिक पूँजीवाद के युग के सौदागरों के बारे में जो कुछ लिखा है, वह जाति-प्रथा की छानबीन करनेवालों के लिए बहुत शिक्षाप्रद है। सादे विकाऊ माल का उत्पादन पूँजीवादी उत्पादन कैसे बनता है, इसकी व्याख्या करते हुए एंगेल्स ने लिखा है: जिस समाज में हर चीज स्थिर थी, वंशगत विरासत के माध्यम से मानो स्थिर थी, उस समाज में सौदागर क्रान्तिकारी तत्व बनकर आया। उस समाज मे किसान अपनी ज़मीन का मालिक है, बँधुआ है या आजाद है। शहरी कारीगर अपना पेशा करता है और कारीगर-संघ (गिल्ड) के विशेषाधिकार पाता है। पेशा और विशेषाधिकार वह विरासत मे पाता है; उनसे उसे अलग नही किया जा सकता। गाहक, बाज़ार, कौशल, बचपन से मिलनेवाली शिक्षा, ये सब चीज़ें उसे विरासत मे मिलती हैं। इस दुनिया में वह सौदागर प्रवेश करता है जिससे क्रान्ति शुरू होगी। पर वह सचेत क्रान्ति-कारी बनकर नही आता; इसके विपरीत वह उसी पुरानी दुनिया का अभिन्न अंग होता है। मध्यकाल का सौदागर व्यक्तिवादी बिल्कुल नही था। अपने समकालीनों की तरह वह बुनियादी तौर पर संघवादी था। ग्रामसंघ (एंगेल्स यहाँ जर्मन ग्राम-समाजों के मार्क नामक संघ की बात कह रहे हैं) आदिम साम्यवाद से पैदा हुआ था। देहात में उसी का चलन था। हर किसान को शुरू में बराबर ज़मीन मिली थी और सामूहिक भूमि पर उसके सामान्य अधिकार थे। जब ग्रामसंघ खुला संघ न रह गया, भूमि वितरित करने को न रह गयी, तब विरासत मे जमीन छोटे-छोटे हिस्सों में बाँटी गयी। इसी प्रकार ग्रामसंघों में किसानों के जो सामान्य अधिकार थे, उनका बँटवारा हुआ। शहरों मे जब कारीगरों के संघ बने, तब उन्होंने ग्रामसंघों के अनुरूप अपने नियम-कायदे बनाये। सारे संगठन में केन्द्र-बिन्दु यह धारणा थी कि हर सदस्य समानता के आधार पर उसकी कार्यवाही मे भाग लेगा। संघ के जो विशेषाधिकार होंगे और जो माल पैदा होगा, उसमें सबका समान साझा होगा। १५२७ मे एल्बरफेल्ड और बारमेन के धागे के व्यापार

के लिए जो आइसलैण्ड दिया गया, उसमें यह चीज साफ देखी जाती है। यही बात व्यापारियों की उन कम्पनियों में देखी जाती है जिन्होंने समुद्रपार व्यापार की शुरूआत की थी। इसके बाद एंगेल्स ने इटली, जर्मनी, पुर्तगाल आदि कई देशों का उदाहरण दिया है और इस प्रसंग में कहा है कि आदिम साम्यवाद से सीधे ग्राम-संघ (मार्क) का जन्म हुआ और इस ग्रामसंघ से ऐतिहासिक रूप में पूंजी ने अपने सरलतम रूप में शुरूआत की। (पृ १०१-०२)।

एंगेल्स ने यह दिखाया है कि आदिम साम्यवाद से ग्राम-संघों का जन्म हुआ। ग्राम-संघों की छाप व्यापारियों के संघों पर थी। इन व्यापारियों के संघों ने जो समुद्रपार व्यापार शुरू किया और आपस में समान रूप से मुनाफा बाँटना तय किया, वही पूंजी की शुरूआत थी। पूंजीवाद का विकास होने पर पुराना समाज बदल जाता है। उसकी शुरूआत करता है सौदागर; इसीलिए वह क्रान्तिकारी तत्त्व है। वह ऐसे समाज के लिए क्रान्तिकारी है जो स्थिर है। स्थिरता केवल एशियाई समाजों में नहीं थी, वह यूरप के समाजों में भी थी। स्थिरता का कारण यह था कि चाहे कारीगर का पेशा हो, चाहे किसान की खेती हो, दोनों ही चीजें वंशगत थीं। वंशगत परम्परा के अनुसार धन्धा करने की प्रक्रिया जाति-प्रथा का आधार थी। इस प्रथा को पूंजीवाद तोड़ता है।

जहाँ तक व्यक्तिगत भूसम्पत्ति के चलन का सवाल है, यहाँ भूमि का क्रय-विक्रय यूरप में सामन्तवाद के अभ्युदय से पहले चालू था। याज्ञवल्क्य, नारद, जैमिनि आदि के ग्रन्थों में व्यक्तिगत भूस्वामित्व का उल्लेख बराबर मिलता है। इनके सिद्धान्तों की चर्चा काणे के विशाल ग्रन्थ **धर्मशास्त्र का इतिहास** (**हिस्ट्री आफ दि हिन्दू धर्मशास्त्राज़**) में देखी जा सकती है। राजा दान में भूमि देते थे; इस सन्दर्भ में काणे ने लिखा है: "इस बात के बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि राजा ने खेत का दान करते हुए यह कहा है कि उसने भूस्वामी से उसे खरीदा है और तब उसका दान किया है।" (हिस्ट्री., खण्ड २, भाग २, पृ. ८६४)। गुप्त-काल पर अपनी पुस्तक में सालातोर ने लिखा था: "गुप्तकाल में विक्रयपट्टों (सेल डीड्स) द्वारा जमीन बेचने को कानूनी करार दे दिया गया था। इस तरह के पट्टे से विक्रय को वैध रूप देना गुप्तों का आविष्कार न था क्योंकि इससे पहले के स्मृतिकार इससे परिचित थे। बृहस्पति के अनुसार जब कोई व्यक्ति मकान, खेत या और कोई सम्पत्ति खरीदकर उसके लिए दिये हुए मूल्य का सही-सही उल्लेख करके पट्टा बनवाता था तो उसे क्रयपट्ट कहते थे। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कौटिल्य इस तरह के व्यापार से परिचित थे क्योंकि उन्होंने बताया है कि यह विक्रय ठीक-ठीक किस तरह होना चाहिए।" (आर. ऐन. सालातोर: **लाइफ इन दि गुप्त एज**, १९४३, पृ. ३३०)। पुराने अभिलेखों का अध्ययन करके प्राचीन राज्यतन्त्र पर अपने ग्रन्थ में डा. काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा था: "प्राचीन साहित्य से इसके ढेरों उदाहरण दिये जा सकते हैं कि लोगों ने व्यक्तिगत रूप से भूमि का दान किया है और उसे खरीदा है। धर्मशास्त्रों में जमीन को बेचने और उस पर स्वामित्व का अधिकार प्राप्त करने की शर्तें दी हुई हैं। प्राचीन अभिलेख अभी तक मौजूद हैं जो यह सोलह आने साबित कर देते हैं

कि यहाँ व्यक्तिगत भूसम्पत्ति थी।" (हिन्दू पॉलिटी, पृ. ३४३)।

सामन्ती भारत में व्यक्तिगत भूसम्पत्ति का चलन था। उसके अभाव के कारण भारत का आर्थिक विकास रुका हुआ था, यह कल्पना निराधार है।

३. अंग्रेजी राज के भावी परिणाम

१८५३ में मार्क्स ने भारत के बारे में जो कुछ लिखा, वह उन स्थापनाओं के अनुरूप है जो **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** में मिलती है। **घोषणापत्र** के अनुसार पूँजीवाद की क्रान्तिकारी भूमिका यूरुप के आगे बढ़े हुए देशों में ही नहीं दिखायी देती, वह अन्य महाद्वीपों के पिछड़े हुए देशों में भी दिखायी देती है। पूँजीपतिवर्ग उत्पादन के साधनों को तेज़ी से उन्नत करता है, परस्पर सम्पर्क के साधनों का प्रसार बहुत बड़े पैमाने पर करता है। इस कारण यह वर्ग महा बर्बर जातियों को भी सभ्यता के दायरे मे खींच लाता है। जिन जातियों ने अपने चारों ओर चीनी दीवारें बना रखी है, उनकी दीवारों को अपने सस्ते बिकाऊ माल के भारी तोपखाने से गिरा देता है और इस प्रकार विदेशियो के प्रति बर्बर जातियों की हठीली घृणा को ध्वस्त कर देता है। वह सभी जातियों को बाध्य करता है कि या तो वे उत्पादन का पूँजीवादी तरीका अपनायें या फिर नष्ट हो जायें। वह जिसे सभ्यता कहता है, उसे अपने बीच फैलाने के लिए वह उन्हें बाध्य करता है अर्थात् उन्हें पूँजीपति बन जाने को बाध्य करता है। यहाँ तक **कम्युनिस्ट घोषणापत्र** की बात हुई।

१९वीं सदी के उत्तरार्ध में और बहुत कुछ बीसवीं सदी में पहले महायुद्ध तक भारत के उदारपन्थी नेताओं की यही माँग थी कि अंग्रेज उन्हें पूँजीपति बनने दें। ये नेता मानते थे कि इंग्लैण्ड सभ्य देश है, वे इंग्लैण्ड की सी सभ्यता अपने देश मे भी फैलाना चाहते थे। उ [illegible] विकास होने दिया जाय; वे अंग्रेज़ों से न क [illegible] ही इतना ही चाहते थे कि [illegible] कर दी थी, उन्हें वे हटा लें। दरअसल सबसे बड़ी रुकावट भारत पर अ[illegible] का राज ही था किन्तु उदारपन्थी पूँजीपति इस अधिकार को खत्म करने की माँग न करते थे। वे कहते थे, आप भारत से जो पैसा ढोकर ले जाते हैं, उसे भारत मे रहने दीजिए; इस तरह यहाँ पूँजी-संग्रह का काम पूरा होगा। सरकारी नौकरियों मे भारतवासियों को भी जगह दीजिए; फौज और लडाइयो पर जो कुछ खर्च होता है, वह सब भारत से वसूल न किया जाय, कुछ पैसा इंग्लैण्ड भी दे। अंग्रेज भारतीय व्यवसाय में यहाँ के लोगों को दलाली का काम देने को तैयार थे; औद्योगिक विकास के नाम पर वे भारत को खेतिहर देश ही बनाये रखना चाहते थे। भारत में जिस समय अंग्रेज़ी राज कायम हो रहा था, उस समय स्वयं इंग्लैण्ड में वहाँ के उद्योगपति सत्ताधारी नहीं थे। इसके अलावा जब वे आर्थिक रूप से शक्तिशाली हुए, तब ज़मींदारों से सत्ता छीनने के बदले उन्होंने उनसे समझौता किया। उद्योगपतियों के लिए पूँजीवादी क्रान्ति का मतलब था ज़मींदारो मे समझौता। जब भारत में अंग्रेज़ी राज कायम हुआ, तब इस राज से लाभ उठानेवाले केवल उद्योगपति नहीं थे, ब्रिटिश भूस्वामी, व्यापारी और सूदखोर महाजन

भी थे। उद्योगपति इनके साथ मिलकर भारत को लूट रहे थे। १६वीं और १७वीं सदियों में जहाँ भी यूरुप के व्यापारी और ज़मीदार गये, उन्होंने वहाँ की सम्पदा लूटी, पूँजीवादी ढंग से नही, ठेठ सामन्ती ढंग से, तैमूर, चंगेज़ और नादिरशाह की तरह लूटी। इसके अलावा जहाँ भी उन्होने लोगों को कमजोर पाया, वहाँ उन्हें गुलाम बनाया या उनका सफाया करके उनकी ज़मीन पर अधिकार किया और वहाँ अपने उपनिवेश बनाये। यह सब इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति से पहले हुआ। पलासी की लडाई १७५७ मे हुई; उस समय तक इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति न हुई थी। अंग्रेज़ो ने भारत पर अधिकार किया तो सस्ता बिकाऊ माल बेचकर नही, भारतीय सामन्तों की सहायता से, यहीं के लोगो को फौज में भरती करके भारतवासियों के विरुद्ध उन्हे इस्तेमाल करके, असली तोपों का प्रयोग करके जिनमे किले तोड़नेवाले गोले निकलते थे। औद्योगिक क्रान्ति इग्लैण्ड मे तभी हो सकी, जब पराधीन देशों से धन लूटकर अंग्रेज़ आवश्यक और अनावश्यक पूँजी-संग्रह कर सके।

१८५३ मे मार्क्स ने जो भारत-सम्बन्धी लेख लिखे, उनमे अन्तिम था 'भारत मे अंग्रेज़ी राज के भावी परिणाम'। इसमे उन्होने इस बात की व्याख्या की कि अंग्रेज़ भारत में अपना राज्य कैसे कायम कर सके। उन्होंने लिखा : मुगल बादशाह के सार्वभौम प्रभुत्व को मुगल सूबेदारो ने तोड़ा यानी बादशाह ने जिन्हें सूबों की देखभाल के लिए नियुक्त किया था, वे वहाँ के स्वतन्त्र शासक बन गये। सूबेदारों की शक्ति को मराठों ने तोड़ा और मराठों की शक्ति को पठानो ने तोडा और जब सब आपस मे गुत्थमगुत्था हो रहे थे, तब अंग्रेज़ भीतर घुस आये और सबके ऊपर हावी हो गये। मार्क्स की इस व्याख्या से एक निष्कर्ष यह निकलता है कि भारत मे जब तक सुदृढ़ केन्द्रीय राज्यसता मौजूद थी, जब तक अंग्रेज़ों की दाल न गली। जिस विघटन का चित्र मार्क्स ने खीचा है, वह १८वी सदी का है किन्तु अग्रेज यहाँ डेढ सौ साल से मौजूद थे। जिसे निरंकुश राज्यसत्ता कहा जाता है, उसने अग्रेजों के प्रसार को रोक रखा, यह ऐतिहासिक तथ्य है, राज्यसत्ता के इस काम को चाहे कोई प्रगतिशील माने, चाहे प्रतिक्रियावादी।

मार्क्स ने आगे लिखा कि भारत ऐसा देश था जो हिन्दुओ और मुसलमानों के बीच ही विभाजित नही था, वह कबीलों और बिरादरियों के बीच भी बँटा हुआ था। भारत मे ऐसा समाज था जहाँ हर सदस्य दूसरे सदस्य से अलग-थलग था और इस व्यापक अलगाव के कारण समाज मे एक तरह का सन्तुलन बना हुआ था। क्या नियति ने ऐसे देश और ऐसे समाज को विजित होने के लिए पहले से निश्चित नही कर दिया था ? क्या ऐसे देश और ऐसे समाज की यह नियति नहीं थी कि वह पराजित हो ? भारत के पिछले इतिहास के बारे में कुछ भी जानकारी न हो, तो क्या यह मोटा और असंदिग्ध तथ्य सामने नही है कि भारत अंग्रेज़ों का गुलाम इसलिए है कि उसे भारतीय सेना द्वारा गुलाम बनाकर रखा जाता है, और इस सेना का खर्च भी भारत से ही वसूल किया जाता है ? तो भारत पराजय से नहीं नियति से बच न सकता था और उसका समूचा पुराना इतिहास उसके बार-बार पराजित होने का इतिहास है।

मार्क्स ने यहाँ अंग्रेज़ों की भारत विजय को तुर्कों, पठानों आदि के अभियानों से जोड़ दिया है और इसका कारण यह बताया है कि यहाँ ऐसे लोगो का समाज था जो एक-दूसरे से जुदा थे। प्रश्न यह है कि ये मराठे कौन थे जिन्होंने मुगल सूबेदारों की शक्ति का विनाश किया था? उन्होंने उस समय अपने राज्य की नींव डाली थी जिस समय केन्द्रीय सत्ता मज़बूत थी और अंग्रेज़ अपने पैर फैलाने में असमर्थ थे। यदि समाज के लोग इतने अलग-थलग थे कि मिलकर काम कर ही न सकते थे, तब आखिर ये मराठे कैसे संगठित हुए और मुगलों का मुकाबला कैसे कर सके? यदि मराठे मिलकर मुगलों का मुकाबला कर सकते थे तो वे अंग्रेज़ों का मुकाबला भी कर सकते थे। एक और प्रश्न यह है, यदि देश हिन्दुओं और मुसलमानों मे विभाजित था तो मुगल सूबेदार मुगल बादशाह से क्यों लड़ते थे? यदि यह मान लें कि हिन्दू हिन्दू से लड़ रहा था, उसी तरह मुसलमान भी मुसलमान से लड़ रहा था, तो सवाल यह है, मुसलमानों की तरफ से हिन्दू क्यों लड़ रहे थे और हिन्दुओं की तरफ से मुसलमान क्यों लड़ रहे थे? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि भारतीय समाज उतना विघटित नही था जितना उसे मार्क्स ने चित्रित किया है। यूरुप में किसी समय अनेक देश एक ही साम्राज्य के अन्तर्गत थे। फिर वहाँ व्यापारिक पूँजीवाद के युग में अनेक राज्य बने। ऊपर से देखने मे यह प्रक्रिया विघटन की थी किन्तु वास्तव मे यह नये विकास की प्रक्रिया भी थी। व्यापारिक पूँजीवाद के युग मे विनिमय के नये केन्द्र कायम होने के साथ-साथ नयी जातियों का अभ्युदय हुआ। भारत भी व्यापारिक पूँजीवाद के युग से गुज़र रहा था, यहाँ भी नये जातीय राज्य कायम हो रहे थे। दिल्ली का राज्य किसी विदेशी जाति का राज्य नहीं था; वह हिन्दी जाति का राज्य था और राज्यसत्ता से हिन्दू-मुस्लिम सामन्त, हिन्दू-मुस्लिम व्यापारी लाभ उठाते थे; हिन्दू-मुस्लिम सामन्तवाद के विरुद्ध यहाँ के हिन्दू-मुस्लिम किसान और कारीगर, विभिन्न जातियो और बिरादरियो के लोग संघर्ष कर रहे थे। इस संघर्ष का सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब था भारत का विराट भक्ति-आन्दोलन। अंग्रेज़ों ने यहाँ के सामन्तों से मिलकर, उनकी फूट से लाभ उठाकर यहाँ की जातियों के विकास को रोका, प्रजा की गरीबी से लाभ उठाकर उसे फौज में भर्ती किया और देश पर अधिकार किया। कोई देश चाहे एक बार पराजित हो और चाहे अनेक बार पराजित हो, यदि यह उसकी नियति है तो मानना होगा कि सामाजिक विकास के नियम कुछ विशेष गुणोंवाली जातियों पर लागू होते हैं, और कुछ विशेष अवगुणोंवाली जातियों पर वे लागू नही होते। फिर भी नार्मन लोगों ने इंग्लैण्ड को जीतकर वहाँ की भाषा और संस्कृति में जैसा व्यापक परिवर्तन किया, वैसा परिवर्तन अंग्रेज़ों समेत भारत मे कोई विजेता नहीं कर पाया। अंग्रेज़ों की पुरानी भाषाएँ, ऐंग्लो और सैक्सन नाम के कबीलों की भाषाएँ जर्मन थीं, १४वीं सदी मे जिस अंग्रेज़ी भाषा के प्रमाण मिलते हैं, वह अपना पुराना जर्मन चरित्र खोकर फ्रांसीसी प्रभाव से एक नयी भाषा अंग्रेज़ी बन गयी थी। अंग्रेज़ी के व्यापक और निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव के बावजूद ऐसा परिवर्तन भारत की किसी भी भाषा मे अभी तक नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि भारत में विभिन्न जातियों

का विकास अंग्रेजों की छत्रछाया में न हुआ था, यह विकास अंग्रेज़ी राज से पहले शुरू हुआ था और बाद को भी तमाम रुकावटो के बावजूद जारी रहा।

मार्क्स ने इतिहास के बारे में लिखा था, भारतीय समाज का कोई इतिहास नही है, कम से कम उसका ज्ञात इतिहास नही है। जिसे हम भारत का इतिहास कहते है, वह एक के बाद दूसरे आक्रमणकारी का इतिहास है। प्रतिरोधहीन और अपरिवर्तनशील समाज के निष्क्रिय आधार पर इन आक्रमणकारियों ने अपने समाज कायम किये। मार्क्स ने जिसे यहाँ 'इतिहास' कहा है, वह वास्तव में पूंजीवाद के आरम्भ से शुरू होता है। उससे पहले मनुष्य प्रकृति का दास है, प्राकृतिक अर्थतन्त्र में रहता है। जो समाज भारत मे अपरिवर्तनशील था, वह समाज यूरुप में भी अपरिवर्तनशील था। यह समाज प्रतिरोधहीन था, इस धारणा का खण्डन करने के लिए अनेक प्रमाण दिये जा सकते है किन्तु यहाँ उनकी आवश्यकता नही। मान लेते हैं कि समाज प्रतिरोधहीन और निष्क्रिय था। पूंजीवाद से पहले यूरुप के देशों का समाज किस तरह का था? वहाँ के किसानो के बारे मे मार्क्स और एंगेल्स की धारणाएँ किस प्रकार की थीं? मार्क्स और एंगेल्स एक समय यह क्यों मानते थे कि केवल मजदूर क्रान्ति कर सकते है, किसान नही कर सकते? इसलिए मानते थे कि किसान अलग-थलग थे, निष्क्रिय थे, एक-दूसरे से सम्पर्क न था, बिखरे हुए थे, मिलकर काम करना न जानते थे। यदि यूरुप के किसान निष्क्रिय थे, तो भारतीय किसानो की निष्क्रियता कोई अनोखी चीज न हुई। वास्तव में न तो यूरुप के किसान उतने निष्क्रिय थे जितने एक समय वे मार्क्स और एंगेल्स को लगते थे, और न भारत के किसान ही निष्क्रिय थे। कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे मार्क्स ने लिखा था कि पूंजीपतिवर्ग ने देहात को शहरो के अधीन कर दिया है, उसने विशाल नगरों का निर्माण किया है, देहाती आबादी की तुलना मे शहरी आबादी को खूब बढ़ाया है और इस प्रकार देहाती जीवन के भोंदूपन से आबादी के काफी हिस्से को बचा लिया है। जैसे उसने देहात को शहरों के अधीन किया, वैसे ही उसने बर्बर और अर्धबर्बर देशों को सभ्य देशो के अधीन किया, किसान-जातियों को पश्चिम के अधीन किया। मार्क्स जिस समय यह लिख रहे थे, उस समय वह सारे क्रम को अनिवार्य मानते थे। यूरुप के किसानों की यह नियति थी कि वे शहरों के अर्थात् पूंजीपतियों के अधीन होकर रहें। केवल पूंजीवाद उन्हे देहाती भोंदूपन से मुक्त कर सकता था। सवाल हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव का नही था, न भारत की जाति-बिरादरियों का था; सभी गैरपूंजीवादी देशों की यह नियति थी कि वे पूंजीवादी देशों के अधीन हों, समस्त पूर्व की नियति थी कि वह पश्चिम के अधीन हो। यह पश्चिम भी समस्त पश्चिम नही है, पश्चिम का अंशमात्र है। यूरुप में केवल तीन देश उद्योगधन्धों में कहने लायक प्रगति कर रहे थे। ये देश थे—इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस। कम्युनिस्ट घोषणापत्र मे जिन देशों के सामाजिक विकास का कुछ विस्तार से उल्लेख है, वे यही तीनों देश हैं। ये तीनों देश यूरुप मे ही अपने पड़ोसियों पर निरन्तर हावी होने का प्रयत्न करते रहे थे, इसके अलावा पूंजीवाद के जन्मकाल से वे आपस मे भी निरन्तर लड़ते रहे थे। इस तरह पश्चिम की अधीनता का मतलब था पश्चिम के तीन देशों की अधीनता। ये तीनों देश, मार्क्स के जमाने में,

खासतौर से फ्रांस और इंग्लैण्ड आपस में लड़ते रहे थे। इनकी अधीनता का मतलब था, इनकी लड़ाइयों की चपेट में वे सारे देश आ जायें जिन्हें इनके अधीन होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। आधुनिक यूरुप का इतिहास स्वार्थी पूँजीपतियों के युद्धों का इतिहास है। इस इतिहास में गौरवपूर्ण अध्याय वही है जहाँ मज़दूरों और किसानों ने इन युद्धों का विरोध किया है। उसी तरह भारत का इतिहास सामन्तों के घरेलू युद्धों और आक्रमणकारी सामन्तों के युद्धों का इतिहास है। इस इतिहास का गौरवपूर्ण अध्याय वह है जहाँ भारत के किसानों ने आक्रमणकारियों का विरोध किया और सामन्ती उत्पीड़न का विरोध किया। सामन्ती युग मे एक देश के सामन्त दूसरे देश पर हमला करते है और आपस मे भी लड़ते हैं। भारतीय सामन्त आपस में लड़े और उन्होंने दूसरे देशों पर भी हमला किया। उदाहरण के लिए अंग्रेजी राज कायम होने से पहले अफगानिस्तान रणजीत सिंह के राज्य में शामिल था और उससे पहले मुगल साम्राज्य मे शामिल था। पूँजीवादी युग में पूँजीपति आपस में लड़ते है और दूसरों पर भी हमला करते हैं। इतिहास की मुख्य धारा वह है जो इन युद्धो को समाप्त करने वाली थी। मार्क्स जिस समय कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में पूर्व को पश्चिम के अधीन बताकर यह कल्पना कर रहे थे कि इस अधीनता से ही इन पूर्वी देशों में क्रान्ति होगी, उसी समय इन पराधीन देशों की लूट से इंग्लैण्ड के पूँजीपति अपने मजदूरों को घूस दे रहे थे, लूट में उन्हें भागीदार बनाकर सर्वहारा क्रान्ति को रोक रहे थे। यह सर्वहारा क्रान्ति वहाँ तभी हो सकती थी, जब उसे पराधीन देशों के मुक्ति आन्दोलन से नयी शक्ति मिले।

मार्क्स का विचार था कि इंग्लैण्ड को भारत मे दो भूमिकाएँ पूरी करनी हैं, एक ध्वंसात्मक, दूसरी रचनात्मक। तुर्क, अरब, तातार, मंगोल भारत मे आये, यहाँ उनका हिन्दूकरण हुआ; अंग्रेज पहले विजेता थे जो हिन्दुओं से श्रेष्ठ थे और उन्होंने पुराने समाजों और उद्योग-धन्धों का नाश किया। अभी विनाशकारी भूमिका ही ज्यादा दिखायी देती है पर रचनात्मक भूमिका भी शुरू हो गयी है।

जैसे अरब और तुर्क मुसलमान होते हुए भी अलग जातियों के लोग थे, वैसे ही महाराष्ट्र, सिन्ध, बंगाल के हिन्दू भी अलग-अलग जातियों के लोग थे। बाहर से आनेवाले मुसलमान इन्ही जातियों में घुल-मिल गये। अंग्रेज जब भारत आये, तब यहाँ के निवासियों से श्रेष्ठ नही थे; उन्होंने श्रेष्ठता औद्योगिक क्रान्ति के बाद अर्जित की। औद्योगिक क्रान्ति के लिए उन्हें आवश्यक पूँजी भारत की लूट से मिली। यह लूट उनकी श्रेष्ठता का मौलिक आधार थी।

अंग्रेजों ने, मार्क्स के अनुसार, भारत की राजनीतिक एकता कायम की। यह राजनीतिक एकता भारत के "पुनर्जीवन की पहली शर्त" है। इस राजनीतिक एकता का दूसरा पहलू यह है कि अंग्रेजों ने भारत को दो हिस्सों मे बाँटा, एक ब्रिटिश भारत, दूसरा रियासती भारत; उन्होंने प्रत्येक बड़ी जाति को कई प्रान्तों और रियासतों मे बाँट दिया; सबसे बढ़कर यह कि वह हिन्दुओं और मुसलमानों को आपस में वैसे ही लड़ाते रहे जैसे वे आयरलैण्ड मे प्रोटेस्टेण्टों और कैथलिकों को लड़ा रहे थे।

अंग्रेजों ने भारतीय सेना को प्रशिक्षित किया; मार्क्स ने भारत की मुक्ति के लिए

इस सेना को अनिवार्य शर्त माना। इससे इतना तो प्रमाणित ही है कि मार्क्स को इस सेना से अपेक्षा थी कि वह अंग्रेजी राज को खत्म करे। १८५७ में इस सेना ने एक हद तक यह भूमिका निवाही। किन्तु बंगाल सेना में हिन्दी प्रदेश के सैनिकों ने यह भूमिका निवाही, बम्बई और मद्रास महाप्रान्तों की सेनाएँ अंग्रेजों के प्रति वफादार बनी रहीं। इसका कारण यह था कि बंगाल सेना के हिन्दी सैनिक अपने प्रदेश के किसानों की राजनीतिक चेतना के प्रतिनिधि थे और १८५७ मे भारत के सभी प्रदेशों के किसानों की चेतना एक-सी नहीं थी। निर्णायक भूमिका आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों की थी; भारतीय सेना के क्रान्तिकारी वीर इन परिस्थितियों से प्रभावित होनेवाले विशाल किसान समुदाय के अंग के रूप में काम कर रहे थे।

मार्क्स के अनुसार अंग्रेज़ो ने स्वाधीनतापूर्वक विचार प्रकाशित करने (फ्री प्रेस) की व्यवस्था की; उन्होने जमीदारी और रैयतवारी के दो तरीको से व्यक्तिगत सम्पत्ति का चलन किया; कलकत्ते मे थोड़े से आदमियो को यूरोपियन विज्ञान की शिक्षा दी; भारत अलग-थलग पड़ा हुआ था, इस कारण उसका विकास रुक गया था, भाप से चलनेवाले वाहनो के कारण वह अब यूरुप से जुड गया है।

अंग्रेज़ो ने विचारप्रकाशन की स्वाधीनता उन थोड़े से लोगों को दी जो उनके हिमायती थे। उन्होंने जमीदारी और रैयतवारी इन दोनो के ऊपर स्वयं को सबसे बड़े ज़मीदार के रूप मे रखा और किसानों के शोषण के गैर-पूँजीवादी तरीकों का भरपूर विकास किया। भारतीय बुद्धिजीवियों में जो क्रान्तिकारी हुए, वे अंग्रेजों की इच्छा के विरुद्ध हुए; उनकी अपनी योजना यही थी कि यहाँ के लोग पढ़-लिखकर अंग्रेज़ी शासनतन्त्र के छोटे कलपुर्जे बने रहें। अंग्रेज़ो ने भारत और यूरुप के भूमध्यसागरवाले व्यापार का नाश किया; अरबो, ईरानियो, चीनियों आदि से भारत के व्यापार-सम्बन्धों को तोड़ा; एशियाई बाजार और भारतीय बाजार को तहस-नहस करके उन्होने इस देश को विकास की राह पर पीछे ठेल दिया।

मार्क्स के अनुसार इंग्लैण्ड के उद्योगपति चाहते थे कि भारत मे सिंचाई का प्रबन्ध करें, संचार साधनों का प्रसार करें और भारत को "पुनरुत्पादक देश" (a reproductive country) बनायें। वे भारत मे रेलें इसलिए चलाना चाहते हैं कि अपने कारखानो के लिए कपास तथा अन्य कच्चा माल सस्ते दामों पा सकें। किन्तु एक बार किसी देश के संचार साधनो मे मशीनों का चलन हो जाय और उसके पास लोहा और कोयला हो, तो तुम उसे मशीनों का निर्माण करने से रोक नहीं सकते। रेलें चलेंगी तो उनकी फौरी ज़रूरतें पूरी करने के लिए कुछ उद्योग कायम होंगे, इसके बाद उन उद्योगो मे मशीनें चालू होंगी जिनका सीधा सम्बन्ध रेलो से नही है। हिन्दू मशीनो का काम सीख लेते हैं, इसके प्रमाण मिल चुके हैं। आधुनिक उद्योग-धन्धे उस वंशगत श्रमविभाजन को खत्म कर देंगे जो भारत की प्रगति में सबसे बडी बाधा रहा है। अंग्रेज पूँजीपति भारतीय जनता का उद्धार न करेंगे, न उसकी दशा सुधारेंगे लेकिन इसके लिए वे मौलिक परिस्थितियाँ जरूर पैदा कर देंगे। अंग्रेज पूँजीपति जो नये समाज के बीज बो रहे हैं, उसके फल भारतवासी तब तक न खा सकेंगे जब तक ब्रिटेन का सर्वहारा-वर्ग वहाँ के शासकों

का स्थान नहीं ले लेता या जब तक हिन्दू ही स्वयं इतने शक्तिशाली नहीं हो जाते कि अंग्रेजों का जुआं उतार फेंकें।

अंग्रेजों ने सिंचाई की व्यवस्था की, संचार-साधनों का प्रसार किया। फल यह हुआ कि अभूतपूर्व पैमाने पर लाखों आदमियों ने भूख से तड़प-तड़पकर जान दी। अंग्रेजों ने भारत को खेतिहर देश बनाया; अपनी तरफ से उद्योगीकरण को रोकने में उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा। भारत ने जो कुछ औद्योगिक प्रगति की, वह अंग्रेजों से लड़भिड़ की। यहाँ की वर्णव्यवस्था और जातिप्रथा पहले से टूट रही थी; सामन्ती अवशेषों को अपना सामाजिक आधार बनाकर वास्तव में अंग्रेजों ने यहाँ की पुरानी व्यवस्था को नया जीवन दिया। अंग्रेज पूँजीपति भारत की लूट में अपने मजदूरों को भागीदार बना रहे थे, इसलिए उधर से मुक्ति की कोई आशा थी नहीं। भारत को अपने ही प्रयत्नों से स्वाधीनता प्राप्त करना था और एशिया में जहाँ भी साम्राज्यविरोधी आन्दोलन हो, उसके साथ उसे आगे बढ़ना था।

आगे चलकर स्वयं मार्क्स ने कहा कि अंग्रेजी राज में भारत ने प्रगति नहीं की, वह पीछे ठेल दिया गया है, इसलिए अंग्रेजी राज के भावी परिणामों के बारे में उनकी १८५३ की स्थापना के बारे में अधिक चर्चा अनावश्यक है।

४. इंग्लैण्ड के इजारेदार व्यापारी और जमींदार

१८५३ में मार्क्स ने जो भारत सम्बन्धी लेख लिखे, वे इंग्लैण्ड में वर्गों की स्थिति समझने में सहायता करते हैं। इंग्लैण्ड में शासन जमींदार वर्ग के हाथ में था। इसे मार्क्स ने ओलीगार्की की संज्ञा दी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर १८५४ में खत्म होनेवाला था, ब्रिटिश सरकार उसे अगले २० साल के लिए बहाल कर देना चाहती थी। इंग्लैण्ड में काफी लोग ऐसे थे जो कहते थे कि चार्टर बहाल न किया जाय; पहले देखा जाय कि भारत के लोग चाहते क्या है। मार्क्स ने लिखा, अब से पहले भारत-सम्बन्धी कोई भी काम हो, ब्रिटेन का मिला-जुला मन्त्रिमण्डल उसे उठा रखता था। अब तो भारत और ब्रिटेन दोनों तरफ का जनमत इस पक्ष में है कि चार्टर की बहाली उठा रखी जाय। भारतीय जनमत पर इंग्लैण्ड ध्यान दे, यह बात १८५३ में जोरदार ढंग से मार्क्स ने कही थी। उन्होंने कहा था, "इंग्लैण्ड की जनता और भारत की जनता एक साथ यह मांग करती है कि भारतीय मामलों को लेकर कानून बनाने का काम तब तक के लिए उठा रखा जाय जब तक वहाँ के निवासियों की आवाज न सुन ली जाय, आवश्यक सामग्री एकत्र न कर ली जाय और जो जाँच चल रही है, वह पूरी न हो जाय। तीनों प्रेसिडेन्सियों से (बंगाल, मद्रास, बम्बई के महाप्रान्तों से) आवेदन-पत्र डार्उनिंग स्ट्रीट (प्रधान-मन्त्री के पास) पहुँच चुके हैं और उनमें तुरत कानून बनाने को मना किया गया है।" (ऑन कोलोनियलिज्म, पृ. २८)। इंग्लैण्ड के मैनचेस्टर नगर में ईस्ट इण्डियन रिफार्म एसोसियेशन नाम की एक संस्था का गठन हुआ था। इस संस्था में कुछ उदारपन्थी अंग्रेज राजनीतिज्ञ थे जो जमींदार वर्ग की धांधली का विरोध करते थे और भारतीय शासन में सुधार के पक्षपाती थे। इसी को लक्ष्य करके मार्क्स

ने लिखा था, मैनचेस्टर स्कूल ने एक इण्डियन सोसायटी बनायी है; उसके द्वारा ये लोग लन्दन में तथा सारे देश में सार्वजनिक सभाओं का आयोजन करेंगे। उद्देश्य यह होगा कि उक्त विषय पर इस अधिवेशन के दौरान कोई कानून न बने। भारतीय मामलों पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए दो कमेटियाँ अपने काम में लगी हैं। किन्तु मन्त्रिमण्डल उनकी रिपोर्टों का इन्तजार करने को तैयार नहीं है। वह तुरन्त पन्द्रह करोड़ आदमियों के लिए सीधे २० साल के लिए कानून बना डालना चाहता है। इस जल्दबाजी का कारण यह था "अंग्रेज़ ज़मींदार वर्ग को आभास होने लगा है कि उसके गौरव के दिन समाप्त होनेवाले हैं। इसलिए उसके मन में यह बहुत वाजिब इच्छा है कि वह अंग्रेज कानूनसाज़ों के साथ ऐसी सन्धि कर ले जिससे यदि उसके कमजोर और लोभी हाथों से इंग्लैण्ड जल्दी निकल भी जाय, तो उसे और उसके साथियों को यह विशेष अधिकार रहे कि वे २० साल की अवधि तक भारत को लूटते रहें।" (पृ. २९)।

भारत को कौन लूट रहा था? ओलीगार्की, ज़मींदार वर्ग। इस ज़मींदार वर्ग के हाथ लोभी और कमज़ोर थे। कारण यह था कि औद्योगिक विकास से इसे कोई वास्ता न था। उसके गौरव के दिन समाप्त हो रहे थे किन्तु वह सत्ता हथियाए बैठा था। यही वर्ग और उसके साथी संघाती अब तक भारत को लूटते आये थे और आगे भी यही क्रम जारी रखना चाहते थे। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट में मज़दूरों की तो बात ही क्या, उद्योगपतियों को भी पूरी तरह प्रतिनिधित्व न मिला था। मार्क्स ने 'भारत' शीर्षक अन्य लेख में इसी विषय की चर्चा करते हुए लिखा, सरकार चाहती है कि स्थायी रूप से कानून बना दे अर्थात् २० साल के लिए चार्टर को बहाल कर दे। उसका तर्क था कि भारत की भलाई के लिए स्थायी कानून बना देना चाहिए। मैनचेस्टर स्कूल के आदमियों का कहना है कि आवश्यक जानकारी नहीं है, इसलिए कानून न बनाना चाहिए। मार्क्स ने लिखा, "भारत की भलाई और जानकारी की कमी, ये दोनों बहाने झूठे हैं। शासक ज़मींदार वर्ग चाहता है कि सुधारों के अनुसार जो चुनाव होंगे, उनके अनुसार पार्लियामेण्ट की बैठक होने से पहले भारत के हितों की बलि देकर अगले २० साल तक अपनी भलाई निश्चित कर ले। मैनचेस्टर स्कूल के आदमी चाहते हैं कि इन सुधारों से पहलेवाली पार्लियामेण्ट में कोई कानून न बने क्योंकि वहाँ उन्हें अपनी बात मनवाने की कोई सम्भावना दिखायी नहीं देती।" (पृ. ४२)। अंग्रेज़ शासक भारत की भलाई की बात करते थे; असली उद्देश्य होता था कि अभिजात वर्ग के मुफ़लिसों (the paupers of Aristocracy) के लिए खाने-पीने की व्यवस्था कर दें। मार्क्स ने एक अंग्रेज लेखक की उक्ति उद्धृत की: जूता ऐसा फिट बैठता है कि कहना मुश्किल है कि जूता पैर के लिए बना है या पैर जूते के लिए। इसी तरह यह कहना कठिन था कि नये गवर्नर भारतीय सूबों के लिए बने हैं या भारतीय सूबे नये गवर्नरों के लिए बने हैं। इस लेख के अन्त में मार्क्स ने सूचना दी कि वह अन्य लेख में बतायेंगे कि ब्रिटेन का अभिजात-वर्ग, साहूकार और उद्योगपति हिन्दुओं की भलाई के लिए जो झगड़ा कर रहे हैं, उसकी हकीकत क्या है और ब्रिटेन की विभिन्न पार्टियों पर भारतीय समस्या का प्रभाव किस रूप में पड़ता है।

जिस लेख का मार्क्स ने वादा किया था, उसका सिरनामा था 'ईस्ट इण्डियां कम्पनी—उसका इतिहास और नतीजे'। इस लेख के आरम्भ में मार्क्स ने बताया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सही शुरूआत १७०२ में हुई। जो अलग-अलग संस्थाएं भारत से व्यापार करती थी, वे सब मिलकर एक कम्पनी बनी। इससे पहले कई बार ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व ही संकट मे पड़ गया। क्रामवेल के समय में वह कई साल तक निलम्बित रही। विलियम तृतीय के शासनकाल में पार्लियामेण्ट के हस्तक्षेप द्वारा उसे पूरी तरह भंग कर देने की नौबत आ गयी थी। इस डच शाहजादे की चढ़ती के दिनो में ह्विग लोग ब्रिटिश साम्राज्य की मालगुजारी बटोरनेवाले हाकिम बने, बैंक आफ इंग्लण्ड का जन्म हुआ, ब्रिटिश उद्योग की संरक्षण-व्यवस्था मजबूती से कायम हुई। यूरुप में शक्ति सन्तुलन का मामला तय हो गया, तब पार्लियामेण्ट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व स्वीकार किया। ऊपर से देखने मे जो स्वच्छन्दता का युग था, वह वास्तव में इजारो का युग था। ये इजारे शाही फरमान से न दिये गये थे, जैसे कि वे रानी एलिजाबेथ और राजा चार्ल्स प्रथम के जमाने मे दिये जाते थे, वरन् पार्लियामेण्ट द्वारा उन्हे मजूरी दी गयी थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी इंग्लैण्ड के साधारण लोगों को जैसे भारत के व्यापार से बाहर रखती थी, वैसे ही पार्लियामेण्ट उन्हें प्रतिनिधित्व से वंचित रखती थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी किस तरह घूस देकर अपना चार्टर बहाल कराती थी, इसके बारे में मार्क्स ने लिखा, १६९३ मे पार्लियामेण्ट ने जाँच करायी, उससे पता चला कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी पहले सत्ताधारियों को भेंट-पूजा के रूप मे सालाना १२०० पाउण्ड देती थी किन्तु १६८९ के बाद विलियम तृतीय के राजा बनने पर यह रकम बढ़कर ९० हजार पाउण्ड हो गयी। ड्यूक ऑफ लीड्स पर अभियोग लगाया गया था कि उसने घूस मे ५ हजार पाउण्ड लिये और ईमानदार बादशाह सलामत पर १० हजार पाउण्ड लेने का अभियोग था। इस सीधी घूस के अलावा प्रतिद्वन्दी कम्पनियों को मैदान से खदेड़ दिया जाता था, उसके लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी कम-से-कम ब्याज पर सरकार को भारी रकमे उधार देती थी, और प्रतिद्वन्दी डायरेक्टरों को खरीद लेती थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने सरकार को घूस देकर अपने लिए जो ताकत बटोरी थी, उसे वह घूस के जरिये ही कायम रख सकती थी। बैंक ऑफ इंग्लैण्ड का भी यही हाल था। घूस देकर वह शक्तिशाली बना था और शक्तिशाली बने रहने के लिए बराबर घूस देता जाता था। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का चार्टर समाप्ति पर होता था, तब उसके नवीकरण के लिए वह नये सिरे से सरकार को भेंट-पूजा देती थी और नयी रकमें उधार देती थी। (उप., पृ. ४६)।

यह व्यापारिक पूँजीवाद में इजारेदारी का युग था। चार्टर चाहे राजा से मिले, चाहे पार्लियामेण्ट से, इंग्लैण्ड में राजनीतिक रूप से सबसे शक्तिशाली वर्ग जमींदारों का था। कम्पनी जो घूस देती थी, वह इसी वर्ग के मुखिया लोगों के बीच बँट जाती थी। कहना अनावश्यक है कि कम्पनी के लोग घूस का ये रुपया अपनी गाँठ से न देते थे, वह भारत की गरीब जनता से वसूल किया जाता था।

लूट के इस धन से इंग्लैण्ड का बैंक सक्रिय हो उठा। बैंकपतियों और जमीदारों की मिलीभगत थी। इनमे उद्योगपतियों का विरोध था किन्तु उद्योगपति जमीदारों और महाजनो से लडने के बदले उनसे समझौता करते थे। भारत की लूट के मुख्य हिस्सेदार महाजन, जमीदार और व्यापारी थे। भारत मे अंग्रेजी राज के विस्तार का एक कारण यह भी था कि इंग्लैण्ड ने अमरीका में अपने उपनिवेश खो दिये थे। मार्क्स के अनुसार यह जरूरत अधिकाधिक व्यापक रूप से महसूस की जाने लगी कि कही दूसरी जगह एक बड़ा औपनिवेशिक साम्राज्य हाथ मे आ जाना चाहिए। १७८४ मे पिट ने भारत-सम्बन्धी कानून पास किया। भारत में कम्पनी के फौजी और गैरफौजी सभी कामो पर नियन्त्रण रखने के लिए एक समिति बनी जिसका नाम बोर्ड आफ कण्ट्रोल था। कहने को सत्ता डायरेक्टरो के हाथ मे थी, वास्तव मे वह पालियामेण्ट के हाथ मे आ गयी। इग्लैण्ड का जमीदार वर्ग कम्पनी की सारी शक्ति अपने हाथ मे समेट लेने के बाद किसी भी तरह की ज़िम्मेदारी से बच गया। (पृ. ४८)।

मार्क्स ने लिखा कि कम्पनी के नाम की आड मे दो शताब्दियों से ब्रिटिश सरकार लडाइयां लड़ती रही है। अब भारत की प्राकृतिक सीमाओ तक अंग्रेज पहुँच गये है। अब हम समझ रहे हैं कि इस सारी अवधि मे इग्लैण्ड की सभी पार्टियाँ क्यों चुप्पी साधे थी। जब तक भारतीय साम्राज्य का विस्तार पूरा न हो जाय, तब तक ये सब चुप थी। जो लोग मक्कारी मे शान्ति-शान्ति चिल्लाने का इरादा किये थे, वे भी खामोश थे। पहली बात तो यह कि उनके हाथ मे साम्राज्य आ जाना चाहिए जिसमे बाद में वे वहाँ परोपकार का काम कर सकें। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जब व्यापार शुरू किया, तब उसे सोना-चाँदी और विदेशी मुद्रा के रूप मे सालाना ३० हजार पाउण्ड की धनराशि निर्यात करने का अधिकार दिया गया जिससे कि वह भारत से व्यापार करे और मुनाफा कमाये। उस समय व्यापारिक पूंजीवाद का सिद्धान्त यह माना जाता था कि देश की वास्तविक सम्पदा सोना-चाँदी है। इसके साथ ही यह कहा जाता था कि इनका निर्यात तब तक किया जा सकता है जब तक भुगतान का सन्तुलन निर्यातक देश के पक्ष मे बना रहे। व्यापारिक पूँजीवाद के प्रतिनिधियों का तर्क यह था कि भारत को सोना-चांदी देकर जो माल इंग्लैण्ड लाया जाता है, वह दूसरे देशों को फिर भेज दिया जाता है। भारत को जितना सोना-चाँदी दिया गया था, उससे ज्यादा सोना-चाँदी इन दूसरे देशो से प्राप्त कर लिया जाता है। (उप., पृ. ५०)। मार्क्स के दिये हुए इस विवरण मे देखा जा सकता है कि इंग्लैण्ड के व्यापारी भारत का बना हुआ जो माल खरीदने आते थे, उसके लिए सोना-चाँदी देते थे। भारतीय माल वे यूरप के दूसरे देशों में बेचते थे। जितनी कीमत देकर माल खरीदते थे, उसे बेचकर उससे ज्यादा कीमत वसूल करते थे। इस तरह वे बिचौलिये थे जो भारतीय उत्पादकों और यूरोपियन गाहको दोनों के बीच मे माल की हेराफेरी करके मुनाफा कमाते थे। इसका औद्योगिक पूंजीवाद से कोई सम्बन्ध न था। औद्योगिक पूंजीवाद के बारे में मार्क्स ने लिखा कि १७वी सदी के अन्त की ओर और अधिकाश १८वी सदी के दौरान उद्योगपतियो ने शोर मचाना शुरू किया कि

इंग्लैण्ड में भारत के बने हुए सूती और रेशमी वस्त्रों के आयात से बेचारे ब्रिटिश उद्योगपति तबाह हुए जा रहे हैं। उन्होंने पालियामेण्ट से हस्तक्षेप करने की माँग की। पालियामेण्ट ने कानून बनाया कि भारत, ईरान और चीन में बने हुए सूती या रेशमी वस्त्र पहनने पर पाबन्दी लगायी जाती है; जिनके पास ऐसे वस्त्र होंगे या जो उन्हें बेचेंगे, उन पर दो सौ पाउण्ड जुर्माना किया जायेगा। ब्रिटिश उद्योग-पतियों के निरन्तर विलाप के कारण विलियम तृतीय के बाद जार्ज प्रथम, द्वितीय और तृतीय के शासनकाल में भी ऐसी ही पाबन्दियोंवाले कानून बनाये गये। किन्तु इस बीच इंग्लैण्ड के व्यापारी भारत का माल बराबर खरीदते रहे और दूसरे देशों में बेचते रहे। "और इस प्रकार अधिकांश अठारहवीं सदी के दौरान आमतौर से इंग्लैण्ड में भारतीय माल का आयात होता रहा जिससे कि यूरप में उसे बेचा जा सके। स्वयं इंग्लैण्ड के बाज़ार से उसे बाहर रखा गया।" (उप., पृ. ५१)।

अंग्रेज़ों ने अपने यहाँ भारतीय माल की खपत रोककर औद्योगिक विकास को बढ़ावा दिया। यूरप के देशों में वही माल बिकेगा तो उनका औद्योगिक विकास रुकेगा, इसकी उन्हें चिन्ता न थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारी अपने इजारे के बल पर सारा मुनाफा उड़ाये चले जा रहे थे। जब चार्टर की बहाली का समय आता था, तब मार्क्स के अनुसार लन्दन, लिवरपूल और ब्रिस्टल के व्यापारी कोशिश करते थे कि कम्पनी का इजारा तोड़ दें क्योंकि यह इजारा सोने की खान है, ऐसा माना जाता था। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप १७७३ के कानून से व्यक्तिगत रूप मे अंग्रेज़ों को तरह-तरह का माल इंग्लैण्ड से निर्यात करने का और कम्पनी के सेवकों को इंग्लैण्ड में माल आयात करने का अधिकार दिया गया। १८१३ में व्यक्तिगत होड़ के लिए भारत का व्यापार सुलभ हुआ। १८३३ में कम्पनी को व्यापार करने की मनाही कर दी गयी। ब्रिटेन के नागरिकों को भारतीय राज्य से व्यापार करने से अब कम्पनी रोक न सकती थी।

मार्क्स ने लिखा कि इस बीच भारतीय व्यापार में भारी परिवर्तन हुए और उसके प्रति विभिन्न वर्गहितों की स्थिति बदल गयी। "समूची अठारहवीं सदी के दौरान भारत से इंग्लैण्ड में जो खजाना ढोकर लाया जाता था, वह इतना व्यापार से प्राप्त करके नहीं जितना उस देश के सीधे शोषण के बल पर प्राप्त करके लाया जाता था। यह व्यापार अपेक्षाकृत तुच्छ था। भारत में अंग्रेज जो अथाह धन-सम्पदा बटोरते थे और इंग्लैण्ड भेजते थे, उससे ये खजाने इंग्लैण्ड पहुँचते थे।" (उप., पृ. ५१)। इस प्रकार १८वीं सदी में मार्क्स के अनुसार अंग्रेज भारत से जो खजाना ढोकर इंग्लैण्ड ले जाते थे, वह व्यापार में कमाई का फल नहीं था। वह सीधे शोषण का परिणाम था। यदि अंग्रेज व्यापार मे मुनाफा न कमाते थे और अभी भारत मे अपना माल भी न बेचते थे, तो वे शोषण किस रूप में करते थे? भारत में अंग्रेज जमींदार बने हुए थे। जमींदार जिस रूप में शोषण करते हैं, उसी रूप में वे शोषण कर रहे थे। किसानों, कारीगरों, राजाओं और व्यापारियों, सभी को जहाँ जैसे बने, वे लूटते थे। इस कारण पुराने सामन्तों की लूट की अपेक्षा नये अंग्रेज सामन्तों की यह लूट कहीं ज्यादा व्यापक, संगठित और इस देश के लिए हानिकारक थी।

५. सन् सत्तावन का राष्ट्रीय विद्रोह

१८५७-५८ मे मार्क्स और एंगेल्स ने बहुत विस्तार से भारत के बारे में लिखा। अधिकांश लेख मार्क्स के थे; कुछ लेख, विशेष रूप से सैन्य-कौशल को ध्यान मे रखते हुए, एंगेल्स ने लिखे। १८५३ के लेखों की तुलना में ये निबन्ध परिमाण मे ही बडे नहीं है, वे विवेचन की दृष्टि से भी आगे बढ़ा हुआ कदम है। १८५३ वाले लेखो को देखते वे चिन्तन मे नयी गहराई की सूचना देते हैं, पुराने लेखों से गुणात्मक रूप मे भिन्न हैं। मार्क्स ने अंग्रेज़ी राज की जैसी तीखी आलोचना यहाँ की है, वैसी तीखी आलोचना १८५७ से पहले या बाद को शायद ही किसी दूसरे लेखक ने की हो। भारतीय सैनिकों की गतिविधि, युद्धकौशल, किलेबन्दी आदि की छोटी-छोटी बातो पर भी एंगेल्स ने जिस तरह ध्यान दिया था, उस तरह उन्होंने और मार्क्स ने फ्रास और जर्मनी से सम्बद्ध क्रान्तिकारी घटनाओं पर ही ध्यान दिया था। ये लेख उन्होने सन् ५७-५८ की लड़ाई के दौरान लिखे थे। पहला लेख मार्क्स ने ३० जून १८५७ को लिखा था और इस शृंखला का अन्तिम लेख १७ सितम्बर १८५८ को एंगेल्स ने लिखा था। जिस समय घटनाक्रम जारी हो, उस समय घटनाओ के साथ-साथ उनका विवेचन करना बहुत ही कठिन होता है। अंग्रेज़ इस बात का ध्यान रखते थे कि भारत मे होनेवाली घटनाओं की सही जानकारी इंग्लैण्ड की जनता को न होने पाये। इस पर भी जो सामग्री सुलभ थी, उसे मार्क्स और एंगेल्स ने बहुत ध्यान से देखा था और अंग्रेज शासक वर्ग की धूर्तता का जबर्दस्त खण्डन किया था। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि जून १८५७ से सितम्बर १८५७ तक मार्क्स और एंगेल्स का ध्यान मुख्य रूप से भारत पर केन्द्रित था। ये सारे लेख मास्को से १९५९ मे प्रकाशित **भारत का प्रथम स्वाधीनता संग्राम** (The First Indian War of Independence) नाम की पुस्तक में शामिल कर लिये गये थे। होना यह चाहिए था कि भारत में इन लेखों की खूब चर्चा सुनी जाती; इसके बदले हुआ यह कि चर्चा बहुत ही कम सुनने को मिली। विशेषज्ञ लोग भारत के बारे मे मार्क्स की १८५३ वाली स्थापनाओं को ऐसे दोहराते हैं, मानो उनके बाद मार्क्स ने भारत के बारे मे कुछ लिखा ही न हो। विशेष अपराधी वे हैं जो १८५७ की लडाई को प्रतिक्रियावादियों का संघर्ष सिद्ध करने के लिए मार्क्स की १८५३ वाली स्थापनाओ का हवाला तो देते हैं किन्तु सीधे १८५७ की घटनाओं पर मार्क्स ने जो कुछ लिखा, उसके बारे मे चुप रहते हैं।

सन् ५७ की लड़ाई राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम थी या नही थी, इस बात को लेकर बहुत बहस हुई है। सबसे पहले इसी प्रश्न पर मार्क्स के विचार जान लें। २८ जुलाई १८५७ के लेख में मार्क्स ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञ डिज़रेली के भाषण का विवेचन किया। उन्होने उनके भाषण की नीरसता और तटस्थता की आलोचना करने के बाद कहा कि भाषण का सारतत्व यह था कि ऐंग्लो इण्डियन एम्पायर का पतन हो रहा है। उन्होंने डिज़रेली के भाषण से दो प्रश्न उद्धृत किये। "भारत के उपद्रव सैनिक विद्रोह की सूचना देते है या राष्ट्रीय विद्रोह की? फौज की

कार्यवाही किसी आकस्मिक प्रेरणा का फल है या संगठित परिणाम का ?" ये प्रश्न भारतीय इतिहासकारों ने बार-बार बहस के लिए प्रस्तुत किये हैं; यह जानना रोचक है कि ये प्रश्न विद्रोह आरम्भ होने के दो महीने बाद ही एक प्रमुख ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ने भी प्रस्तुत किये थे। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा, उसे उद्धृत करने के पहले डिज़रेली की कुछ और बातें सुन लें। मार्क्स ने भाषण का विवरण देते हुए लिखा : डिज़रेली के अनुसार पिछले दस साल तक ब्रिटिश साम्राज्य फूट डालो और राज करो के पुराने सिद्धान्त पर आधारित था। यह सिद्धान्त इस तरह अमल में लाया गया था कि भारत मे जो विभिन्न जातियाँ (नैशनैलिटीज़) रहती है, उनका सम्मान किया जाय, उनके धर्म में दखल न दिया जाय, उनकी भूसम्पत्ति की रक्षा की जाय। देश में जो उपद्रवी लोग होते थे, वे फौज में समेट लिये जाते थे और शान्त हो जाते थे। किन्तु पिछले दिनों एक नया सिद्धान्त भारत सरकार लागू करने लगी है। यह जाति (नैशनैलिटी) के नाश करने का सिद्धान्त है। अमल में यह इस तरह लाया जाता है कि बलपूर्वक देशी राजाओं का नाश किया जाता है। सम्पत्तिसम्बन्धी व्यवस्था उलट-पलट दी जाती है और लोगों के धर्म में हस्तक्षेप किया जाता है। १८४८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वित्तीय कठिनाई इतनी बढ़ गयी थी कि किसी-न-किसी तरह उसकी आमदनी को बढ़ाना जरूरी हो गया था। तब यह सिद्धान्त पेश किया गया कि कम्पनी की आमदनी बढ़ाने का एक ही तरीका है, देशी राजाओ की रियासतों की बलि देकर अंग्रेज़ी राज का विस्तार किया जाय। सतारा के राजा के मरने पर कम्पनी ने उसके दत्तक पुत्र को मान्यता न दी और उसकी रियासत को अंग्रेजी राज मे मिला लिया। उसके बाद से जहाँ कोई राजा सगा उत्तराधिकारी छोड़े बिना मरता था, वही उसकी रियासत अंग्रेज़ी राज मे मिला ली जाती थी। किसी को गोद लेने की प्रथा भारतीय समाज की आधारभूत प्रथा है। भारत सरकार ने बाकायदा इसका उल्लघन शुरू किया। १८४८ से १८५४ तक एक दर्जन से अधिक स्वाधीन राजाओ की रियासतें अंग्रेजी राज में बलपूर्वक मिला ली गयी। १८५४ मे बरार का राज्य भारी खजाने के साथ हड़प लिया गया। मार्क्स ने लिखा कि डिज़रेली की सूची के अन्त मे बलपूर्वक अवध को अंग्रेज़ी राज मे मिलाया गया; इससे भारत सरकार हिन्दुओं से ही नहीं, मुसलमानो से भी टकरायी।

डिज़रेली जिस बात की ओर सकेत कर रहे थे, वह यह थी कि अंग्रेज़ों की फूट डालो और राज करो की नीति खत्म हो गयी थी, अब वह ऐसी नीति अपना रहे थे जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों अंग्रेज़ों का मुकाबला करें। इससे विद्रोह का राष्ट्रीय स्वरूप प्रमाणित होता था और डिज़रेली इस बात की ओर संकेत कर रहे थे कि यह केवल सैनिको का विद्रोह नही था, उसके साथ वे सामन्त भी थे जिनकी रियासतें छीनी गयी थीं। डिज़रेली ने सम्पत्ति की व्यवस्था मे उलटफेर का जो विवरण दिया, उसे मार्क्स ने विस्तार से उद्धृत किया। उसकी चर्चा आगे करेंगे। अंग्रेज़ों ने धर्म में जो हस्तक्षेप किया, उसका उल्लेख करने के बाद मार्क्स ने लिखा : इन सब कारणों के आधार पर वह इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि वर्तमान भारतीय उथल-पुथल सैनिक विद्रोह नहीं है वरन् राष्ट्रीय विद्रोह है। सैनिक उसके

अमली उपकरण मात्र हैं।

इसके बाद ३१ जुलाई को मार्क्स ने भारतीय घटनाक्रम पर विचार करते हुए बोर्ड आफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष वर्नन स्मिथ के इस कथन का हवाला दिया कि देशी राजाओ और विद्रोह मे कोई सम्बन्ध नहीं है। मार्क्स ने बताया कि इसी वर्नन स्मिथ ने दो दिन बाद जो खरीता छापा, उसमें अवध के भूतपूर्व बादशाह के बारे में यह समाचार था कि वह भी षड्यन्त्र मे शामिल थे और उन्हे फोर्ट विलियम किले मे बन्द कर दिया गया है। इसके बाद मार्क्स ने लिखा, "क्रमशः और दूसरे तथ्य निकल-निकलकर सामने आयेंगे जिनसे जॉन बुल तक को विश्वास हो जायेगा कि जिसे वह सैनिक विद्रोह समझता था, वह वास्तव मे राष्ट्रीय विद्रोह है।" (पृष्ठ ५६)। मार्क्स ने यहाँ अपनी ओर मे डिज़रेली के कथन की पुष्टि की। डिज़रेली अभिजात वर्ग के समर्थक थे, व्यापारियो से अप्रसन्न थे। मार्क्स ने उनकी स्थापना इसलिए नही ठुकरा दी कि उसे प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति अभिजात वर्ग से मे जुड़ा हुआ था। उन्होंने उस स्थापना की पुष्टि की। मार्क्स व्यक्तियो का सम्बन्ध वर्गो से यान्त्रिक रूप मे न जोडते थे, उनके चरित्र की विशेषताओ का ध्यान रखते थे। मार्च १८५३ मे डिजरेली पुरानपन्थी दल के नेतृत्व से हटा दिये गये थे। इस पर मार्क्स ने लिखा था, जमीदारो की पोगापन्थी से मुक्त होने पर डिज़रेली अपनी पीठ ठोंक सकते है। उनके बारे में कहा जाता है कि वह अभिजात वर्ग को तुच्छ समझते है, पूँजीपतियों से घृणा करते हैं और जनता उन्हें अच्छी नही लगती। उनके बारे मे हमारी जो भी राय हो, इसमें सन्देह नही कि मौजूदा पार्लियामेण्ट के वह सबसे योग्य सदस्य हैं। उनके चरित्र मे ऐसा लचीलापन है कि वह समाज की बदलती हुई आवश्यकताओ के अनुरूप स्वय को ढाल सकते है। (**कलेक्टेड वर्क्स**, खण्ड १२, पृ. ३)।

ब्रिटेन के विभिन्न दल राज्यसत्ता से विभिन्न रूपों मे जुड़े हुए थे। १८५७ तक अभिजात-वर्ग कमज़ोर हो चला था और व्यापारी, साहूकार और उद्योगपति शक्तिशाली होते जाते थे। इसलिए डिजरेली राज्य विस्तार करनेवाले व्यापारियों की आलोचना कर रहे थे। उद्योगपतियों के अनेक प्रतिनिधि भी व्यापारियों से अप्रसन्न थे और भारतसम्बन्धी ब्रिटिश नीति की आलोचना कर रहे थे। अंग्रेज़ो ने भारत पर अपना राज कायम करने के लिए और उस राज को बनाये रखने के लिए जो देशी फौज खड़ी की थी, वह विद्रोह कर रही थी। जिन हिन्दू और मुसलमान सामन्तो की जमीन-जायदाद छीन ली गयी थी, वे भी अंग्रेजों का विरोध कर रहे थे। यह बात विद्रोह के राष्ट्रीय स्वरूप को सिद्ध करने के लिए काफी थी। १८५७ की लडाई यदि सिपाहियों के असन्तोष का ही परिणाम होती और उन तक सीमित रहती तो वह सैनिक विद्रोह होती। किन्तु यहाँ सैनिकों के साथ गैर-फौजी वर्ग शामिल थे। पाठक यहाँ देखेंगे कि लडाई मे सामन्तों के शामिल होने से मार्क्स ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह उन इतिहासकारो के निष्कर्ष से ठीक उल्टा है जो सामन्तों के शामिल होने को विद्रोह के अराष्ट्रीय होने का प्रमाण मानते है। अवध के बादशाह षड्यन्त्र में शामिल थे, यह सूचना उद्धृत करने के बाद ही मार्क्स ने लिखा कि क्रमशः ऐसी और सूचनाएँ भी सामने आयेंगी जिनसे

कार्यवाही किसी आकस्मिक प्रेरणा का फल है या संगठित परिणाम का ?" ये प्रश्न भारतीय इतिहासकारोंने बार-बार बहस के लिए प्रस्तुत किये हैं; यह जानना रोचक है कि ये प्रश्न विद्रोह आरम्भ होने के दो महीने बाद ही एक प्रमुख ब्रिटिश राजनीतिज्ञ ने भी प्रस्तुत किये थे। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा, उसे उद्धृत करने के पहले डिज़रेली की कुछ और बातें सुन लें। मार्क्स ने भाषण का विवरण देते हुए लिखा : डिज़रेली के अनुसार पिछले दस साल तक ब्रिटिश साम्राज्य फूट डालो और राज करो के पुराने सिद्धान्त पर आधारित था। यह सिद्धान्त इस तरह अमल मे लाया गया था कि भारत में जो विभिन्न जातियाँ (नैशनैलिटीज़) रहती हैं, उनका सम्मान किया जाय, उनके धर्म में दखल न दिया जाय, उनकी भूसम्पत्ति की रक्षा की जाय। देश मे जो उपद्रवी लोग होते थे, वे फौज मे समेट लिये जाते थे और शान्त हो जाते थे। किन्तु पिछले दिनों एक नया सिद्धान्त भारत सरकार लागू करने लगी है। यह जाति (नैशनैलिटी) के नाश करने का सिद्धान्त है। अमल में यह इस तरह लाया जाता है कि बलपूर्वक देशी राजाओं का नाश किया जाता है। सम्पत्तिसम्बन्धी व्यवस्था उलट-पलट दी जाती है और लोगो के धर्म मे हस्तक्षेप किया जाता है। १८४८ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वित्तीय कठिनाई इतनी बढ़ गयी थी कि किसी-न-किसी तरह उसकी आमदनी को बढ़ाना जरूरी हो गया था। तब यह सिद्धान्त पेश किया गया कि कम्पनी की आमदनी बढ़ाने का एक ही तरीका है, देशी राजाओं की रियासतो की बलि देकर अंग्रेज़ी राज का विस्तार किया जाय। सतारा के राजा के मरने पर कम्पनी ने उसके दत्तक पुत्र को मान्यता न दी और उसकी रियासत को अंग्रेजी राज मे मिला लिया। उसके बाद से जहाँ कोई राजा सगा उत्तराधिकारी छोड़े बिना मरता था, वही उसकी रियासत अंग्रेज़ी राज मे मिला ली जाती थी। किसी को गोद लेने की प्रथा भारतीय समाज की आधारभूत प्रथा है। भारत सरकार ने बाकायदा इसका उल्लंघन शुरू किया। १८४८ से १८५४ तक एक दर्जन से अधिक स्वाधीन राजाओं की रियासतें अंग्रेज़ी राज मे बलपूर्वक मिला ली गयी। १८५४ में बरार का राज्य भारी खजाने के साथ हड़प लिया गया। मार्क्स ने लिखा कि डिज़रेली की सूची के अन्त में बलपूर्वक अवध को अंग्रेजी राज मे मिलाया गया; इससे भारत सरकार हिन्दुओं से ही नही, मुसलमानो से भी टकरायी।

डिज़रेली जिस बात की ओर संकेत कर रहे थे, वह यह थी कि अंग्रेज़ों की फूट डालो और राज करो की नीति खत्म हो गयी थी, अब वह ऐसी नीति अपना रहे थे जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों अंग्रेज़ों का मुकाबला करें। इससे विद्रोह का राष्ट्रीय स्वरूप प्रमाणित होता था और डिज़रेली इस बात की ओर संकेत कर रहे थे कि यह केवल सैनिकों का विद्रोह नही था, उसके साथ वे सामन्त भी थे जिनकी रियासतें छीनी गयी थीं। डिज़रेली ने सम्पत्ति की व्यवस्था मे उलटफेर का जो विवरण दिया, उसे मार्क्स ने विस्तार से उद्धृत किया। उसकी चर्चा आगे करेंगे। अंग्रेज़ो ने धर्म मे जो हस्तक्षेप किया, उसका उल्लेख करने के बाद मार्क्स ने लिखा : इन सब कारणों के आधार पर वह इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि वर्तमान भारतीय उथल-पुथल सैनिक विद्रोह नही है वरन् राष्ट्रीय विद्रोह है। सैनिक उसके

अमली उपकरण मात्र हैं।

इसके बाद ३१ जुलाई को मार्क्स ने भारतीय घटनाक्रम पर विचार करते हुए बोर्ड आफ कण्ट्रोल के अध्यक्ष वर्नन स्मिथ के इस कथन का हवाला दिया कि देशी राजाओं और विद्रोह मे कोई सम्बन्ध नही है। मार्क्स ने बताया कि इसी वर्नन स्मिथ ने दो दिन बाद जो खरीता छापा, उसमे अवध के भूतपूर्व बादशाह के बारे में यह समाचार था कि वह भी षड्यन्त्र मे शामिल थे और उन्हें फोर्ट विलियम किले मे बन्द कर दिया गया है। इसके बाद मार्क्स ने लिखा, "क्रमशः और दूसरे तथ्य निकल-निकलकर सामने आयेंगे जिनसे जॉन बुल तक को विश्वास हो जायेगा कि जिसे वह सैनिक विद्रोह समझता था, वह वास्तव मे राष्ट्रीय विद्रोह है।" (पृष्ठ ५६)। मार्क्स ने यहाँ अपनी ओर से डिज़रेली के कथन की पुष्टि की। डिज़रेली अभिजात वर्ग के समर्थक थे, व्यापारियो से अप्रसन्न थे। मार्क्स ने उनकी स्थापना इसलिए नही ठुकरा दी कि उसे प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति अभिजात वर्ग से मे जुड़ा हुआ था। उन्होने उस स्थापना की पुष्टि की। मार्क्स व्यक्तियों का सम्बन्ध वर्गों से यान्त्रिक रूप मे न जोडते थे, उनके चरित्र की विशेषताओ का ध्यान रखते थे। मार्च १८५३ मे डिज़रेली पुरानपन्थी दल के नेतृत्व से हटा दिये गये थे। इस पर मार्क्स ने लिखा था, ज़मीदारो की पोंगापन्थी से मुक्त होने पर डिज़रेली अपनी पीठ ठोंक सकते हैं। उनके बारे मे कहा जाता है कि वह अभिजात वर्ग को तुच्छ समझते हैं, पूंजीपतियो से घृणा करते हैं और जनता उन्हें अच्छी नही लगती। उनके बारे मे हमारी जो भी राय हो, इसमें सन्देह नही कि मौजूदा पार्लियामेण्ट के वह सबसे योग्य सदस्य हैं। उनके चरित्र मे ऐसा लचीलापन है कि वह समाज की बदलती हुई आवश्यकताओ के अनुरूप स्वय को ढाल सकते है। (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १२, पृ. ३)।

ब्रिटेन के विभिन्न दल राज्यसत्ता से विभिन्न रूपों मे जुड़े हुए थे। १८५७ तक अभिजात-वर्ग कमजोर हो चला था और व्यापारी, साहूकार और उद्योगपति शक्तिशाली होते जाते थे। इसलिए डिज़रेली राज्य विस्तार करनेवाले व्यापारियों की आलोचना कर रहे थे। उद्योगपतियो के अनेक प्रतिनिधि भी व्यापारियो से अप्रसन्न थे और भारतसम्बन्धी ब्रिटिश नीति की आलोचना कर रहे थे। अंग्रेज़ों ने भारत पर अपना राज कायम करने के लिए और उस राज को बनाये रखने के लिए जो देशी फौज खड़ी की थी, वह विद्रोह कर रही थी। जिन हिन्दू और मुसलमान सामन्तों की ज़मीन-जायदाद छीन ली गयी थी, वे भी अंग्रेज़ों का विरोध कर रहे थे। यह बात विद्रोह के राष्ट्रीय स्वरूप को सिद्ध करने के लिए काफी थी। १८५७ की लडाई यदि सिपाहियों के असन्तोष का ही परिणाम होती और उन तक सीमित रहती तो वह सैनिक विद्रोह होती। किन्तु यहाँ सैनिकों के साथ गैर-फौजी वर्ग शामिल थे। पाठक यहाँ देखेंगे कि लडाई मे सामन्तो के शामिल होने से मार्क्स ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह उन इतिहासकारो के निष्कर्ष से ठीक उल्टा है जो सामन्तों के शामिल होने को विद्रोह के अराष्ट्रीय होने का प्रमाण मानते है। अवध के बादशाह षड्यन्त्र में शामिल थे, यह सूचना उद्धृत करने के बाद ही मार्क्स ने लिखा कि क्रमशः ऐसी और सूचनाएँ भी सामने आयेंगी जिनसे

जॉन बुल तक को विश्वास हो जायेगा कि यह सैनिक विद्रोह नहीं है, राष्ट्रीय विद्रोह है।

मार्क्स ने २८ जुलाई को डिज़रेली के जिस भाषण का विवेचन किया था, वह एक दिन पहले २७ जुलाई को दिया गया था। इसमें डिज़रेली ने फूट डालो और राज करो की जिस नीति का उल्लेख किया था, उसकी चर्चा मार्क्स ने इससे पहले स्वयं अपने ३० जूनवाले लेख में की थी। उसमे उन्होंने लिखा था, फूट डालो और राज करो का रोमन सिद्धान्त वह महान् नियम था जिसके बल पर ब्रिटेन लगभग डेढ़ सौ साल तक अपने भारतीय साम्राज्य को काबू में किये रहा। विभिन्न नस्लों, कबीलो, बिरादरियो, सम्प्रदायों और प्रभुसत्ताओ के समुदाय से वह भौगोलिक एकता बनती है जिसे भारत कहा जाता है। इन सबका परस्पर विरोध ब्रिटिश प्रभुत्व को जीवित रखनेवाला सिद्धान्त था किन्तु आगे चलकर उस प्रभुत्व की परिस्थितियाँ बदल गयी। सिन्ध और पंजाब को जीतकर ऐंग्लो इण्डियन साम्राज्य अपनी प्राकृतिक सीमाओं तक पहुँच गया; यही नही, उसने स्वाधीन भारतीय राज्यों के आखिरी चिह्न भी मिटा दिये। इसके बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थिति में भारी परिवर्तन हुआ। अब वह भारत के एक भाग पर दूसरे भाग की सहायता से आक्रमण न करती थी, अब वह विजेता थी और फौजों का काम यह था कि राज्यविस्तार करने के बदले वे राज्य की रक्षा करें। जो सैनिक थे, वे पुलिस के सिपाही बना दिये गये। बीस करोड़ देशी आदमियों को काबू मे रखने का काम दो लाख देशी फौज कर रही थी जिसके अफसर अंग्रेज थे। इस देशी फौज को ४० हजार अंग्रेज़ी फौज काबू में रखती थी।

जहाँ मार्क्स ने फूट डालो और राज करो की नीति का उल्लेख किया है, वहाँ उनका संकेत एक ओर राजाओ को, प्रदेशों को एक-दूसरे से लड़ाने की तरफ है, दूसरी ओर वह हिन्दुओं और मुसलमानो के भेद पर भी ध्यान दे रहे थे। १८५७ की लड़ाई मे हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेजो का मुकाबला कर रहे थे, मार्क्स के लिए यह उसकी राष्ट्रीयता का प्रमाण था। फूट डालो और राज करो की नीति राष्ट्र को तोड़नेवाली थी, इस नीति के विरोध मे हिन्दू और मुसलमान मिलकर लड़ रहे थे, यह क्रान्तिकारी नीति राष्ट्रीय एकता को मजबूत करनेवाली थी। फौज और जनता के मिल जाने से विजय की सम्भावना बढ गयी थी। फौज मे विद्रोह पहले भी हुए थे किन्तु उनमे कोई भी विद्रोह राष्ट्रीय सग्राम न बना था। यह विद्रोह गुणात्मक रूप से भिन्न था। मार्क्स ने लिखा, पहली निगाह से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय जनता की वफादारी देशी फौज की वफादारी पर निर्भर है (यानी जनता को दबाये रखने के लिए अंग्रेज़ों के पास फौज न हो तो वे दो दिन यहाँ अपना राज कायम नही रख सकते।) इस फौज का निर्माण करते हुए अंग्रेज़ी राज ने भारतीय जनता के पास प्रतिरोध का पहला सामान्य केन्द्र भी कायम कर दिया। ऐसा केन्द्र भारतीय जनता के हाथ पहली बार आया। (इस वाक्य से यह विदित होता है कि देशी फौज के निर्माण का अनिवार्य फल इस तरह का राष्ट्रीय विद्रोह ही हो सकता था।) भारतीय प्रतिरोध की कमज़ोरी अब तक यह थी कि वह अनेक प्रदेशो में बँटा हुआ था। अब अंग्रेज़ों ने

एक केन्द्रबद्ध फौज बनाकर व्यापक प्रतिरोध की सम्भावना पैदा कर दी थी। जैसे पूँजीपति कारखाने मे मजदूरो को बटोरकर अपनी कब्र खोदनेवालों को प्रशिक्षित करते हैं, वैसे ही ब्रिटिश साम्राज्यवादी पराधीन देशो में वहाँ के लोगों को केन्द्रबद्ध फौज मे भर्ती करके अपने प्रतिरोध का सामान जुटा रहे थे। भारतीय फौज इस राष्ट्रीय प्रतिरोध मे प्रमुख भूमिका निबाहे, यह स्थिति स्वयं अंग्रेज़ो ने पैदा की थी।) उस देशी फौज पर कितना भरोसा किया जा सकता है, यह अभी हाल के विद्रोहों से साफ दिखायी देता है। ईरान से युद्ध के कारण बंगाल प्रेसीडेन्सी जैसे ही गोरे सैनिको से लगभग खाली हुई, वैसे ही ये विद्रोह हुए। इससे पहले भारतीय सेना मे विद्रोह हुए थे किन्तु वर्तमान विद्रोह के अपने विशेष और घातक लक्षण हैं। सिपाहियों की पलटनो ने पहली बार यूरोपियन अफ़सरो की हत्या की है; मुसलमानो और हिन्दुओ ने आपसी वैमनस्य त्यागकर अपने सामान्य मालिकों के विरुद्ध एकता कायम कर ली है, जो उपद्रव हिन्दुओ से शुरू हुए थे, उनकी परिणति दिल्ली के तख्त पर सचमुच ही एक मुसलमान बादशाह को बिठाने से हुई। यह विद्रोह कुछ स्थानों तक सीमित नही है। और आखिरी बात यह कि ऐंग्लो इण्डियन फौज मे विद्रोह उस समय हुआ है जिस समय महान् एशियाई जातियो ने अंग्रेजी प्रभुत्व के खिलाफ आम असन्तोष प्रकट किया है और इसमे जरा भी सन्देह नही कि बंगाल सेना का विद्रोह ईरानी और चीनी लड़ाइयो से घनिष्ट रूप में सम्बद्ध है।

मार्क्स ने यहाँ विद्रोह के राष्ट्रीय स्वरूप का बहुत अच्छा विवेचन किया है। एशिया में साम्राज्यवादियो के विरुद्ध तीव्र असन्तोष फैला हुआ था। सिपाहियों का विद्रोह इसी असन्तोष को व्यक्त करता था। उसके तात्कालिक कारण जो भी हों, विद्रोह अनेक स्थानों मे हुआ, यह तथ्य उसकी व्यापकता की सूचना देता था। हिन्दुओ ने एक मुसलमान बादशाह को दिल्ली की गद्दी पर बिठाया, यह कार्य अंग्रेज़ों की कूटनीति की जड़ काटनेवाला था। मार्क्स ने यह भी नोट किया कि कई स्थानों पर सिख सैनिक विद्रोह मे शामिल हुए। उन्होने लिखा, बनारस मे एक देशी पलटन को नि.शस्त्र करने के प्रयत्न का विरोध सिखों के एक दस्ते ने और तेरहवी अनियमित घुड़सवार पलटन ने किया। यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे पता चलता है कि मुसलमानों की तरह सिख भी ब्राह्मणो से मिल गये हैं, और इस प्रकार अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध सभी विभिन्न कबीलो की व्यापक एकता तेज़ी से कायम हो रही है। (दि फ़र्स्ट इण्डियन वार, पृ. ५५-५६)।

विद्रोह के प्रसार के बारे में मार्क्स ने लिखा, घेरा डालनेवाली अंग्रेज़ी फौज के मुकाबले मे सिपाही काफी दिन तक दिल्ली में जमे। इसका जो सहज परिणाम होना चाहिए, वह सामने आ रहा है। विद्रोह कलकत्ते के दरवाज़े तक पहुँच रहा है। बंगाल की पचास पलटनों का अब अस्तित्व नही है; स्वयं बंगाल सेना पुराने जमाने की कहानी बनकर रह गयी है। यूरोपियन लोग दूर-दूर बिखरे हुए हैं। अलग-थलग जगहो मे घेरे जाने पर या तो विद्रोहियों के हाथों मारे गये हैं या जान पर खेलकर आत्मरक्षा मे लगे हैं। कहते हैं, खुद कलकत्ते मे सरकार पर हमला करने के लिए एक षड्यन्त्र की पूरी तैयारी कर ली गयी थी। उसका पता

लगने पर कलकत्ते के ईसाई निवासियों ने स्वयंसेवक दल बनाया और वहाँ की देशी पलटनें भंग कर दी गयीं। (पृ. ५५)। बम्बई और मद्रास की फौजों के बारे में मार्क्स को आशा थी कि वे विद्रोह करेंगी। उनके प्रसंग में उन्होंने लिखा: अंग्रेज अखबारों को इस बात से बड़ी तसल्ली होती है कि विद्रोह बंगाल प्रेसीडेन्सी की सीमाओं के बाहर नहीं फैला, बम्बई तथा मद्रास की फौजों की वफादारी पर ज़रा भी शक नहीं किया जा सकता। किन्तु स्थिति का यह सुहावना चित्र इस तथ्य से विचित्र रूप में टकराता है कि औरंगाबाद में निज़ाम की घुड़सवार पलटन ने बगावत कर दी है। यह समाचार पिछली डाक से मिला है। औरंगाबाद उसी नाम के ज़िले की राजधानी है और वह ज़िला बम्बई प्रेसीडेन्सी में है। सचाई यह है कि पिछली डाक से खबर मिली है कि बम्बई सेना में विद्रोह शुरू हो गया है। कहा जाता है कि जनरल वुडबर्न ने विद्रोह को तुरत दबा दिया। ठीक है, पर मेरठ विद्रोह के लिए भी तो कहा गया था कि उसे तुरत दबा दिया गया है। लखनऊ के विद्रोह को सर हेनरी लारेन्स ने दबा दिया था लेकिन एक पखवारे के बाद और भी विकट रूप में वह फिर सामने आया। क्यों न हम याद कर लें कि भारतीय सेना में विद्रोह की सूचना के साथ ही यह ऐलान भी कर दिया गया था कि शान्ति-व्यवस्था फिर से कायम कर दी गयी है। बम्बई और मद्रास की फौजों में नीची जातियों के लोग हैं; फिर भी हर पलटन में उनके साथ करीब सौ राजपूत हैं। बंगाल सेना में ऊँची जाति के जो विद्रोही है, उनसे संगठनात्मक सम्पर्क बनाने के लिए इतनी संख्या काफी है। पंजाब के लिए कहा जाता है कि वहाँ शान्ति है लेकिन इसके साथ ही यह सूचना मिली है कि १३ जून को फीरोज़पुर में कुछ सिपाहियों को मौत की सज़ा दी गयी है। वान की पाँचवीं पंजाब पैदल पलटन की तारीफ की गयी है कि उसने पचपनवीं देशी पैदल का पीछा करने में प्रशंसनीय कार्य किया है। मानना होगा कि यह बहुत ही विचित्र ढंग की शान्ति है। (पृ.५६-५७)।

इसमें सन्देह नहीं कि न्यूनाधिक असन्तोष सारे देश में फैला हुआ था और सैनिकों ने पंजाब और बम्बई प्रेसीडेन्सी में भी जहाँ-तहाँ विद्रोह किया। मार्क्स को अंग्रेज़ों की दी हुई सूचनाओं पर विश्वास न था। बंगाल सेना में विद्रोह की शुरूआत होते ही उन्होंने विद्रोह के शान्त हो जाने की घोषणा भी कर दी थी। किन्तु बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में विद्रोह ने व्यापक रूप न लिया। बुन्देलखण्ड, रुहेलखण्ड, अवध आदि हिन्दी जनपदों में सामन्त, किसान और सैनिक मिलकर अंग्रेज़ों से लड़े। इस तरह की एकता दूसरे प्रदेशों में स्थापित न हो सकी थी। हर राष्ट्रीय संग्राम सफल नहीं हो जाता। सफल होने पर ही कोई स्वाधीनता-संग्राम राष्ट्रीय होगा, यह तर्क व्यर्थ है। जहाँ तक मार्क्स का सम्बन्ध है, विद्रोह के प्रसार के लिए उनकी उत्सुकता, आकांक्षा और उसकी सफलता की कामना असन्दिग्ध हैं।

पहली सितम्बर १८५७ को विद्रोह के प्रसार का जायज़ा लेते हुए मार्क्स ने लिखा, घटनाओं का लेखा-जोखा देखने के बाद नतीजा यह निकलता है कि बंगाल (प्रेसीडेन्सी) के पश्चिमोत्तर प्रान्तों में अंग्रेज़ी फौज की यह स्थिति होती जा रही

है कि क्रान्ति के समुद्र के बीच में अलग-अलग चट्टानों पर छोटी-छोटी चौकियाँ भर रह गयी हैं। (small posts planted on insulated rocks amid a sea of revolution.) बंगाल के निचले भाग में मिर्जापुर, दीनापुर और पटना में आंशिक बगावत हुई है। इसके अलावा पास-पड़ोस के घुमन्तू ब्राह्मणों ने बनारस के पवित्र नगर पर फिर से अधिकार करने का प्रयत्न किया। पंजाब में विद्रोह-भावना को बलपूर्वक दबा रखा गया। एक विद्रोह सियालकोट में, दूसरा झेलम में दबाया गया और पेशावर में असन्तोष को सफलतापूर्वक नियन्त्रित किया गया। गुजरात में, सतारा के अन्तर्गत पंढरपुर में, नागपुर प्रदेश के अन्तर्गत नागपुर और सागर में, निज़ाम के राज्य के अन्तर्गत हैदराबाद में और अन्त में मैसूर तक सुदूर दक्षिण में अभी भी विद्रोह के प्रयत्न हो चुके हैं। इससे समझना चाहिए कि बम्बई और मद्रास की प्रेसीडेन्सियों में शान्ति-व्यवस्था संकट से मुक्त नहीं है। (पृ. ८५)। मार्क्स के इस विवरण का महत्त्व यह है कि वह विद्रोह के व्यापक अन्तर्प्रादेशिक रूप की ओर संकेत करता है। उसका घनत्व हिन्दी प्रदेश तक सीमित था; इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य प्रदेशों में उसका प्रसार न हुआ था या उसे फैलाने का प्रयत्न न किया गया था।

६. लगानवसूली और शारीरिक यन्त्रणा

भारतीय प्रतिरोध को क्रूरतापूर्वक दबाने के लिए अंग्रेज़ों ने भारत में और भारत से ज्यादा इंग्लैण्ड में भारतीय सैनिकों के अमानुषिक कार्यों, स्त्रियों और बच्चों के कत्ले-आम की कहानियाँ गढ़कर खूब प्रचार किया था। जो काम वे खुद करते थे, चीन में और अन्य देशों में काफी समय से करते आये थे, उसे देशी सैनिकों पर आरोपित कर रहे थे। इस धुआँधार प्रचार का उद्देश्य यह था कि लोग अंग्रेज़ों की बर्बरता को न्यायपूर्ण ठहरायें और रुपये-पैसे से खुलकर उनकी मदद करें। इस प्रचार से जो लोग विचलित न हुए, उनमें मार्क्स का स्थान है। इस प्रचार का जवाब देने के लिए २८ अगस्त १८५७ को उन्होंने अंग्रेज़ों की राज्य-व्यवस्था और किसानों को तरह-तरह की शारीरिक यन्त्रणा देकर लगान वसूल करने की पद्धति पर एक बहुत ही मार्के का लेख लिखा। उन्होंने लिखा : हम यह दिखाना चाहते हैं कि भारत के अंग्रेज़ी शासक दूध के धोये नहीं हैं और वे भारतीय जनता की भलाई करने में नहीं लगे जैसा कि वे सारी दुनिया को जताना चाहते हैं। इसके लिए हम उन सरकारी दस्तावेज़ों का सहारा लेंगे जो भारत में शारीरिक यन्त्रणा देने पर हाउस ऑफ कामन्स के सामने १८५६-५७ में पेश किये गये थे। ये दस्तावेज़ ऐसा सबूत हैं जिसे कोई नकार नहीं सकता। सबसे पहले मद्रास के यन्त्रणा-आयोग (Torture Commission) की रिपोर्ट लेते हैं। इस आयोग ने अपना यह विश्वास प्रकट किया है कि मालगुजारी वसूल करने के लिए व्यापक रूप से यन्त्रणा दी जाती है। उसका कहना है कि प्रतिवर्ष जुर्म करनेवालों को इतनी बड़ी संख्या में यन्त्रणा नहीं दी जाती जितनी संख्या में लगान न दे पानेवालों को दी जाती है। आयोग को इस बात से दुख हुआ कि जो लोग यन्त्रणा के शिकार होते हैं, वे इसका खामियाज़ा पाने में कठिनाई अनुभव करते हैं। आयोग के अनुसार

इस कठिनाई के अनेक कारण हैं। जिन्हें शिकायत करना है, वे लम्बी यात्राएँ करके स्वयं कलक्टर के पास जायें, धन और समय खर्च करें, यह सम्भव नहीं है। उन्हें भय होता है कि उनकी अर्ज़ियाँ इस आम टिप्पणी के साथ लौटा दी जायेंगी कि तहसीलदार तहकीकात करे, यानी जिस आदमी ने खुद या अपने मातहत पुलिस कर्मचारियों के द्वारा उन्हें यन्त्रणा दी है, वही तहकीकात करेगा। सरकारी अफसरों पर बाकायदा अभियोग लगाया जाय या वे ऐसे कामों के लिए दोषी पाये जायें तो ऐसी कार्यवाही और सज़ा के लिए कानूनी साधन बहुत ही नाकाफी हैं। मजिस्ट्रेट के सामने ऐसा अभियोग साबित भी हो जाय तो वह पचास रुपये जुर्माना कर देगा या एक महीने की सज़ा दे देगा।

मालगुज़ारी वसूल करनेवाला अफसर पुलिस का भी अफसर होता है क्योंकि मालगुज़ारी पुलिस वसूल करती है। यदि जबरन पैसा लेने का मुकदमा चलाया जाय तो पहले असिस्टेण्ट कलक्टर के यहाँ सुनवायी होगी, उसके बाद मुद्दई कलक्टर के यहाँ अपील कर सकता है, फिर रेवेन्यू बोर्ड (राजस्व समिति) के यहाँ फ़रियाद कर सकता है। आयोग ने लिखा : "कानून की ऐसी स्थिति में कोई भी गरीब किसान धनी मालगुज़ारी वसूल करनेवाले अफसर से पार नहीं पा सकता। १८२२ और १८२८ के इन दो नियमों के अनुसार कभी कोई आदमी शिकायत लाया हो, हमें इसका पता नहीं है।" (पृष्ठ ७३)।

इसके अलावा पैसा वसूल करने का मतलब होता है सरकारी पैसा वसूल करना या अपनी जेब गर्म करने के लिए पैसा वसूल करना, इसलिए सरकारी मालगुज़ारी वसूल करने में बलप्रयोग के लिए सजा दिलाने का कोई भी कानूनी साधन नहीं है। यह तो हुई मद्रास प्रेसीडेन्सी की बात। ऐसी हालत हर प्रेसीडेन्सी की थी। स्वयं लार्ड डलहौज़ी ने सितम्बर १८५५ में कम्पनी के डायरेक्टरों को लिखा था कि बहुत दिन से उन्हें इस बारे में शक नहीं रह गया कि हर अंग्रेज़ी सूबे में नीचेवाले हाकिम किसी न किसी रूप में शारीरिक यन्त्रणा देकर लगान वसूल करते हैं।

मार्क्स ने आगे लिखा, ब्रिटिश भारत की वित्तीय व्यवस्था में शारीरिक यन्त्रणा का व्यवहार व्यापक है, यह बात सरकारी तौर पर स्वीकार की गयी है लेकिन इस तरह स्वीकार की गयी है कि ब्रिटिश हुकूमत ज़िम्मेदारी से बची रहे। दरअसल मद्रास कमीशन ने यह नतीजा निकाला था कि शारीरिक यन्त्रणा देने के लिए निचले स्तर के हिन्दू कर्मचारी ही पूरी तरह दोषी हैं। गोरे सरकारी कर्मचारियों ने तो उसे रोकने की बराबर कोशिश की, भले ही उसमें वे असफल रहे हों। इस बात का जवाब देने के लिए जनवरी १८५६ में मद्रास की देशी सभा ने पार्लियामेण्ट के नाम आवेदन-पत्र भेजा। उसमें उसने शारीरिक यन्त्रणा की जाँच-पड़ताल के बारे में इस प्रकार शिकायत की : जाँच-पड़ताल का काम नहीं के बराबर हुआ। कमीशन मद्रास शहर में बैठा रहता था। कुछ अपवाद छोड़कर शिकायत करनेवाले देशी लोगों के लिए कमीशन तक पहुँचना बहुत कठिन था। कमीशन के सदस्यों ने इस बुराई की जड़ का पता लगाने की कोशिश नहीं की; की होती तो मालूम हो जाता कि इसकी जड़ लगानवसूली की व्यवस्था है। जिन देशी कर्मचारियों के विरुद्ध

शिकायत की गयी थी, उनसे यह नही पूछा गया कि ऊपर के अफ़सर उनके कामों से कहाँ तक परिचित थे। आवेदनपत्र मे कहा गया था, "इस बलप्रयोग की शुरूआत उन लोगों से नही होती जो भौतिक रूप से उसे अमल में लाते हैं। उसकी शुरूआत उन हाकिमो से होती है, जो उन्हें ऊपर से इसके लिए प्रेरित करते हैं। अनुमानित मालगुजारी जमा करने के लिए ये हाकिम अपने यूरोपियन अफसरों के प्रति जिम्मेदार हैं और ये लोग भी उसी विषय के लिए सर्वोच्च सरकारी अधिकारियों के प्रति जिम्मेदार है।" (पृष्ठ ७४)।

कांग्रेस के जन्म से पहले शिक्षित भारतवासी ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सामने आवेदनपत्र भेजने लगे थे। इन आवेदनपत्रों में ऊँची नौकरियाँ पाने की बात ही नही थी, उनमे किसानों पर सरकारी हाकिमों के अत्याचारों का उल्लेख भी था। मार्क्स ने ऐसे आवेदनपत्रों की ओर ध्यान दिया, यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि वह इस देश मे हर स्तर पर होनेवाली राजनीतिक गतिविधि देख रहे थे। उन्होंने कोहलौफ़ नाम के सौदागर के उस बयान का हवाला दिया जो कमीशन के सामने दिया गया था। उसमे कहा गया था: शारीरिक यन्त्रणा कई तरह की होती है। कब किस तरह की यन्त्रणा दी जाती है, यह तहसीलदार और उसके मातहत कर्मचारियों की इच्छा पर निर्भर है। ऊपरवाले अफ़सर शिकायतों की सुनवायी करते हैं, यह कहना कठिन है क्योकि सभी शिकायतें जाँच-पड़ताल के लिए तहसीलदारों के पास भेज दी जाती है।

मार्क्स ने कमीशन के सामने दिये हुए किसानो के बयान भी उद्धृत किये हैं। एक बयान मे कहा गया था, पिछले साल सूखा पड़ने से धान की फसल न हुई और हम लगान न दे पाये। जमाबन्दी के समय हमने लगान में रियायत की माँग की। रियायत न दी गयी, तब हमने पट्टा लेने से इन्कार किया। [पट्टा लेने से इन्कार का मतलब था खेत न जोतेंगे। यह भी एक प्रकार का सत्याग्रह था।] इस पर तहसीलदार ने सख्ती से वसूली का काम शुरू किया। हमें धूप में ले जाया गया, जलती हुई रेत मे हमे झुकाकर पीठ पर पत्थर रखे गये। इस तरह तीन महीने तक हमे सताया गया। हम कलक्टर से फरयाद करने गये। उसने हमारी अर्जी लेने से इन्कार किया। हम ये अर्जियाँ सेशन अदालत के सामने ले गये, वहाँ से वे कलक्टर के पास भेजी गयी। इन्साफ न हुआ, हमें नोटिस दिया और पच्चीस दिन बाद हमारी जायदाद जब्त करके बेच दी गयी। हमारी स्त्रियों के साथ भी दुर्व्यवहार किया गया। एक देसी ईसाई ने कहा, इधर से जब गोरी या काली पलटन निकलती है, तब रैयत से उसे खाने-पीने का सामान जुटाने को कहा जाता है। इसके लिए उसे कुछ नहीं दिया जाता, यदि कोई कुछ माँगे तो उसे खूब पीटा जाता है। एक ब्राह्मण से कहा गया कि वह पास-पड़ोस के गाँववालों के साथ तहसीलदार के लिए ईंधन बटोरे। मना करने पर उसे पकड़ लिया गया और उसे सताया गया। सब-कलक्टर के सामने शिकायत करने गये तो उसने अर्जी फाड़ डाली।

मार्क्स ने सरकारी अफसरों की बर्बरता सम्बन्धी भी एक मिसाल दर्ज कर ली। पंजाब के चीफ कमिश्नर जान लारेंस ने लुधियाना जिले की एक [illegible]

बारे में कहा था, इस ज़िले के कमिश्नर की जानकारी में या उसके कहने पर धनी नागरिकों के घरों की अकारण तलाशी ली गयी। उनकी सम्पत्ति बहुत दिनों तक सरकारी अधिकार में रही। कई लोग पकड़कर जेल में डाल दिये गये और हफ़्तों वहाँ पड़े रहे। उनका अपराध क्या है, यह उन्हें नहीं बताया गया। गुण्डों के खिलाफ़ जो कानून बनाये गये, उन्हें हर किसी को सताने के लिए सख़्ती से इस्तेमाल किया गया। डिप्टी कमिश्नर के साथ एक ज़िले से दूसरे ज़िले तक कुछ पुलिस के अफ़सर और मेंदिये चलते थे; सारी शरारत की जड़ ये लोग थे। लुधियाना के इस कमिश्नर के बारे में स्वयं डलहौज़ी ने लिखा था कि उसने ब्रिटिश प्रजा के साथ घोर अन्याय किया है और उसे निर्दयता से सताया है।

लेख के अन्त में मार्क्स ने कर्णाटक से सम्बन्धित एक विवरण सरकारी दस्तावेज़ों से उद्धृत किया। इसकी विशेषता यह है कि इसमें किसानों ने पुरानी देशी हुकूमत से अंग्रेज़ी राज की तुलना करते हुए पुरानी हुकूमत को सराहा है। उनका कहना था कि रानी बहादुर और टीपू की हुकूमत में हम पहाड़ी और मैदानी ज़मीन थोड़ा-सा लगान देकर सुख-शान्ति से जोतते-बोते थे। उस समय की सरकार ने लगान बढ़ाया लेकिन हमने दिया नहीं। लगानवसूली के समय हमें सताया न जाता था, भूखों मरने की नौबत न आती थी। जब इस देश पर कम्पनी का राज हो गया, तब हमसे पैसे छीनने के लिए हर तरकीब से काम लिया गया। पैसा छीनने के नियम-कायदे बनाये गये और नियमों को अमल में लाने के लिये कलक्टरों और जजों से कहा गया। पहले तो कलक्टर और उनके मातहत लोग हमारी शिकायतें ध्यान से सुनते थे और हमारी इच्छा के अनुकूल काम करते थे किन्तु अब जो कलक्टर और उनके मातहत हाकिम हैं, वे बस यही चाहते हैं कि किसी भी तरकीब से उनकी तरक्की हो जाय। उन्हें रियाया की खुशहाली का ज़रा भी ध्यान नहीं है। शिकायत करने पर लगता है कि कान में तेल डाले बैठे हैं और हर तरह से वे हमें सताते है।

चाहे पंजाब हो चाहे कर्णाटक, अंग्रेज़ों की नीति हर जगह एक ही थी, जनता को सताना और उसे लूटना। यह जनता इतनी राजनीति जानती थी कि अंग्रेज़ी राज से पुरानी हुकूमत की तुलना करे; वह मानती थी कि देशी हुकूमत में वह सुख और शान्ति से जीवन बिता रही थी। मार्क्स ने उक्त बयान उद्धृत करने के बाद यह नहीं कहा कि पुराना शासन सामन्तवादी था, इसलिए प्रतिक्रियावादी था। अंग्रेज़ी राज पूँजीपतियों का राज है, इसलिए प्रगतिशील है और उससे कष्ट हो, तो भी उसका विरोध न करना चाहिए। इसके विपरीत मार्क्स ने लिखा: यहाँ हमने भारत में ब्रिटिश हुकूमत के असली इतिहास का एक संक्षिप्त, हल्के रँगोंवाला अध्याय दिया है। [अर्थात् गहरे रँगोंवाला अध्याय और भी भयानक होगा।] ऐसे तथ्यों को देखते हुए विवेकशील और भावुकताहीन आदमी शायद यह पूछेंगे, जिन विजेताओं ने अपनी प्रजा के साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया, जनता उन्हें निकाल बाहर करने का प्रयत्न करे तो क्या यह कार्य उचित नहीं है? और यदि अंग्रेज़ ऐसे काम तब करते हैं जब लड़ाई न हो रही हो, तब क्या यह आश्चर्य की बात है कि संघर्ष और विद्रोह के आवेश में विद्रोही हिन्दू वैसे अपराध और निर्दयी

काम करते है जसे कामो का आरोप उन पर लगाया जाता है ? (पृष्ठ ७७)।

मार्क्स ने अंग्रेजी राज की उस क्रूर व्यवस्था की असलियत अमरीकी अखबार 'न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून' के माध्यम मे सारी दुनिया के सामने ज़ाहिर की जिससे बचने के लिए भारत की जनता १८५७ मे संघर्ष कर रही थी। अंग्रेज़ों ने देशी पक्ष पर क्रूरता का जो आरोप लगाया था, उसे पूरी तरह अस्वीकार करने की प्रमाण-सामग्री मार्क्स के पास उस समय नही थी किन्तु उन्होने अंग्रेज़ों को यह जवाब दिया कि सबसे पहले क्रूरता के लिए तुम दोषी हो और तुमने यह क्रूरता शान्ति के दिनो मे की है। विद्रोही जनता लडाई के दौरान यदि क्रूरता के कुछ काम करती है तो इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है ? मुख्य बात यह है कि हर विवेकशील मनुष्य यह मानेगा कि अंग्रेज़ों की बर्बरता से बचने के लिए भारतीय जनता ने विद्रोह किया तो उसका यह काम उचित था।

७. भारत की भूमिव्यवस्था

यहाँ भारत की भूमि-व्यवस्था की चर्चा करें जिसके बारे मे डिज़रेली ने अपने भाषण मे कई महत्वपूर्ण बातें कही थी। मार्क्स ने २८ जुलाई १८५७ के अपने लेख मे डिज़रेली के उस भाषण से कई अंश उद्धृत किये थे। डिज़रेली ने कहा था, गोद लेने का सिद्धान्त भारत की रियासतो और राजाओं का कोई अलग विशेषाधिकार नही है, हिन्दुस्तान मे जिसके पास भी भूसम्पत्ति है और जो हिन्दू धर्म मानता है, उस पर यह सिद्धान्त लागू होता है। [यहाँ डिज़रेली ने भारत मे भूसम्पत्ति की वास्तविकता बडे सहज ढग मे स्वीकार की थी। केवल सामन्त नहीं, साधारण लोग भी अपनी सम्पत्ति गोद ली हुई सन्तान को दे सकते थे। गोद लेने की रीति का चलन ही इसलिए हुआ कि कुटुम्ब की सम्पत्ति कुटुम्ब के पास बनी रहे।]

अनेक प्रकार की सामन्ती भूसम्पत्ति का विवरण देते हुए डिज़रेली ने कहा, बड़े सामन्त या जागीरदार अपने मालिक की सेवा करने के कारण ज़मीन पाते हैं। इनामदार को ज़मीन हर तरह के भूमिकर से मुक्त मिलती है। हमारे यहाँ जो अपनी ज़मीन के मालिक किसान है, उनसे इनामदारो की स्थिति एकदम नपे-तुले ढग से नही, तो मोटे तौर पर मिलती-जुलती है। ये दोनों वर्ग भारत मे बडी संख्या मे है। जब इनके सगे उत्तराधिकारी नही होते, तब वे इस [गोद लेनेवाले] सिद्धान्त के द्वारा अपनी रियासतो के लिए वारिस ढूंढ लेते है। सतारा को अंग्रेज़ी राज मे मिला लेने से इन वर्गो पर असर पडा। दस छोटे लेकिन स्वाधीन राजाओं के प्रदेश अंग्रेज़ी राज में मिला लिये गये। इनका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ। अंग्रेजी राज मे इनकी रियासतें मिलाने का असर इन वर्गों पर पड़ा। जब बरार के राजा का इलाका अंग्रेज़ी राज में मिलाया गया, तब उन वर्गों पर इसका मामूली असर नही पड़ा, वे बुरी तरह डर गये। अब किसी की खैरियत नही। चाहे सामन्त हो, चाहे ज़मीन का मालिक छोटा किसान हो, उसकी सगी सन्तान नही तो सारे भारत में उसकी कही भी खैरियत नहीं। [यहाँ हाउस आफ कामन्स के सदस्यों ने 'हियर-हियर' कहकर डिज़रेली के तर्क की दाद दी]। यह बेकार का डर नही था, यह डर अमल मे दिखायी दिया और बड़े पैमाने पर दिखायी दिया।

जागीरों और इनामों [अर्थात् इनामदारों की जमीनों] को उनसे छीनने का काम भारत में पहली बार शुरू हुआ। इसमें शक नहीं कि इससे पहले ऐसे अवसर आये जब लोगों के हकों की बेजा जाँच-पड़ताल की गयी लेकिन किसी ने भी गोद लेने की प्रथा को खत्म करने का विचार सपने में भी न किया था। जिन जागीरदारों और इनामदारों के सगे उत्तराधिकारी नहीं थे, उनकी जमीन छीननेवाली कोई सरकार नहीं थी, कोई शासन नहीं था। अब मालगुजारी का एक नया जरिया हाथ आया। जब ये सारी बातें हिन्दुओं के इन वर्गों के मन पर अपना असर डाल रही थी, तभी सरकार ने सम्पत्ति के बन्दोबस्त में उलटफेर करने के लिए दूसरा कदम उठाया। अब मैं इसकी ओर सदन का ध्यान आकर्षित करता हूँ। १८५३ की कमेटी के सामने जो गवाही पेश की गयी थी, उसे देखने से सदन को अवश्य मालूम होगा कि भारत में जमीन के काफी बड़े भाग ऐसे हैं जो भूमिकर से मुक्त है। भारत में भूमिकर राज्यसत्ता का समस्त कर है। भारत में इस भूमिकर से मुक्त होने का मतलब वही नहीं है जो इस देश में है। उससे [इस देश की भूमिकर मुक्ति से] वह बहुत कुछ ज्यादा है। जमीन देने की यह शुरूआत कब हुई, यह जानना कठिन है लेकिन इसमें शक नहीं कि यह प्रथा बहुत पुरानी है। ऐसी जमीन कई तरह की होती है। एक तो निजी मिल्कियत वाली होती है और ऐसी जमीन काफी विस्तृत है; इसके अलावा मन्दिरों और मस्जिदों को बड़ी-बड़ी जमीनें दी गयी हैं जो भूमिकर से मुक्त हैं। (पृष्ठ ५१-५२)।

मार्क्स ने डिज़रेली से यह लम्बा उद्धरण किसी विशेष उद्देश्य से दिया है। वह भारत से भूसम्पत्ति के रूपों का अध्ययन बराबर करते रहे थे। इंग्लैण्ड का एक प्रमुख राजनीतिज्ञ उस भूसम्पत्ति का विवरण पेश कर रहा था। वह व्यक्ति ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री रह चुका था। वह कह रहा था कि भूसम्पत्ति के अनेक रूप हैं। जागीरदारों की भूसम्पत्ति हैं, इनामदारो की सम्पत्ति है, मन्दिरों और मस्जिदो की सम्पत्ति है और किसानों की निजी सम्पत्ति है। भारतीय कर-व्यवस्था में भूमिकर ही प्रधान है। भूमिकर से मुक्त होने का मतलब था, हर तरह के कर से मुक्ति। अंग्रेज तरह-तरह के बहाने करके लोगो की भूसम्पत्ति छीन रहे थे और उस पर नये कर लगा रहे थे। उनकी इस नीति से व्यापक असन्तोष फैला। उसके फलस्वरूप जो विद्रोह हुआ, वह राष्ट्रीय विद्रोह था, यह बताने के लिए डिज़रेली ने उक्त विवरण दिया था।

गवर्नर जनरल ने एक योजना बनायी कि देशी मालिकों के हकों की जाँच की जाये। डिज़रेली ने कहा कि इस योजना को सरकार की कारगुजारी का सबूत माना गया। सरकारी आमदनी का यह बहुत अच्छा ज़रिया निकला। बंगाल और बम्बई के महाप्रान्तों में जाँच कमीशन बिठा दिये गये। जो नये इलाके अंग्रेजी राज में मिलाये गये थे, उनमें सर्वेक्षण का काम किया गया जिसमें कि जाँच कमीशन पूरी मुस्तैदी से अपना काम करें। "अब इसमें सन्देह नहीं कि पिछले नौ साल में भारतीय रियासतों की स्वाधीन सम्पत्ति (freehold property) को लेकर इन जाँच कमीशनों ने खूब तेज़ी से काम किया और उसके भारी नतीजे निकले।" (पृष्ठ ५२)। यहाँ डिज़रेली ने फिर स्वाधीन सामन्ती सम्पत्ति का उल्लेख किया है। डिज़रेली से यह अंश उद्धृत करने के बाद मार्क्स ने डिज़रेली के ही आधार पर

बताया कि जो भारी नतीजे निकले थे, वे क्या थे। अंग्रेजों ने रियासतों के मालिकों (proprietors) से उनकी सम्पत्ति हथियायी। उससे बंगाल महाप्रान्त में ५ लाख पाउण्ड, बम्बई महाप्रान्त मे ३ लाख ७० हजार पाउण्ड और पंजाब मे २ लाख पाउण्ड सालाना की आमदनी हुई। मार्क्स ने लिखा, "देशी लोगों की सम्पत्ति छीनने के इस एक तरीके से सन्तोष न करके ब्रिटिश सरकार ने उन देशी रईसों की पेन्शनें बन्द कर दी जिन्हें ऐसी पेन्शनें देने का वादा उन्होंने सन्धि के द्वारा किया था।" (पृ. ५२-५३)। डिज़रेली का कहना था कि सम्पत्ति हथियाने का यह नया तरीका है; वह ऐसे पैमाने पर है जो बहुत बड़ा है, जिसे देखकर आदमी सन्न रह जाता है। डिज़रेली ने इन सब तथ्यों के आधार पर नतीजा निकाला कि भारत में जो उथल-पुथल हो रही है, वह सिपाही विद्रोह नहीं है वरन् राष्ट्रीय विद्रोह है। अपने व्याख्यान के अन्त मे उन्होंने सरकार को सलाह दी कि आततायीपन (aggression) की नीति पर चलने के बदले भारत की दशा सुधारने की ओर ध्यान दे।

डिज़रेली ने सामन्तों की रियासतें छीनने को विद्रोह का एक कारण माना। विद्रोह को जो चीज राष्ट्रीय बना रही थी, वह सामन्तों के असन्तोष के कारण सेना के बाहर उसका प्रसार था। डिज़रेली ने रियासतें हड़पने की नीति को आततायीपन अथवा आक्रमण कहा था। मार्क्स इस धारणा से सहमत थे। मई १८५८ मे जब कैनिंग ने अवध के राजाओं और जमींदारों की ज़मीन छीनने का ऐलान किया, तब इसी समस्या पर मार्क्स ने फिर विचार किया। उन्होंने लिखा : लार्ड कैनिंग ब्रिटिश अभिजात वर्ग के सदस्य हैं। उनका व्यवहार, भाषा, भावनाएँ सब-कुछ मधुर हैं। वह पामर्स्टन की आज्ञा से एक पूरी जाति की भूमि छीन लेते हैं। दस हज़ार वर्ग मील के क्षेत्रफल मे फैली हुई भूमि का चप्पा-चप्पा अपने कब्जे में कर लेते हैं। जॉन बुल के लिए यह भी थोड़ी-सी उम्दा लूट है। लार्ड ऐलेनबरो ने नई सरकार के नाम पर इस अभूतपूर्व कार्य की निन्दा की ही थी कि 'टाइम्स' अखबार ने तथा छोटे-मोटे अन्य बीसियों ब्रिटिश अखबारों ने इस थोक डकैती का समर्थन शुरू कर दिया। वे जॉन बुल के अधिकार के लिए मैदाने जंग मे आ पहुँचे कि जो चीज उसे अच्छी लगे, उसे हथियाने का अधिकार जॉन बुल को होना ही चाहिए। जॉन बुल अनोखे प्राणी हैं। 'टाइम्स' के अनुसार उनके लिए जो गुण है, वही दूसरों के लिए अवगुण है। (पृ. १४८)।

छह दिन बाद मार्क्स ने अवध की भूमि के इस प्रकार लूटे जाने पर फिर लिखा। उन्होंने अंग्रेजों के इस कार्य को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन बताया। उन्होंने लिखा कि अठारह महीने पहले चीन के कैन्टन शहर मे ब्रिटिश सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के लिए एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सिद्धान्त यह था कि एक राज्य दूसरे राज्य के सूबे के विरुद्ध बड़े पैमाने पर लड़ाई का ऐलान किये बिना युद्ध छेड़ सकता है। उसी ब्रिटिश सरकार ने लार्ड कैनिंग के माध्यम से वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के उल्लंघन में अपनी भूमिका और आगे बढ़ायी है। उसने घोषणा की है कि "अवध के सूबे की भूमि मे मिल्कियत का हक़ (the proprietary right in the soil of the Province of Oudh) ब्रिटिश सरकार जब्त करती है; वह जिस तरह चाहेगी उसका उपयोग

करेगी।" (पृ. १५०)। इस सरकारी ऐलान में यह बात मानी गयी है कि अवध की भूमि पर किसी मालिक का हक है। यह हक बादशाह का हो, राजाओं का हो, छोटे किसानों का हो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। अंग्रेज़ दूसरों का हक छीन रहे थे, मुख्य बात यह है। मार्क्स ने यह ऐलान उद्धृत करने के बाद लिखा कि १८३१ में वारसा के पतन के बाद रूस के बादशाह ने पोलिश भूमि पर मिल्कियत का अधिकार छीन लिया था। तब तक यह हक पोलैण्ड के सरदारों के हाथ मे था। इस कारनामे के खिलाफ ब्रिटिश अखबारों ने और पार्लियामेण्ट ने भारी आक्रोश व्यक्त किया। नोवारा के युद्ध के बाद आस्ट्रिया की सरकार ने इटली के स्वाधीनता संग्राम मे भाग लेनेवाले इटालियन सरदारो की ज़मीन अभी छीनी नही थी, उन्हे केवल उनके पद से हटाया था, तब अंग्रेज़ो ने फिर उसी तरह एक ही स्वर में अपना आक्रोश प्रकट किया। १८५१ में लुई नैपोलियन ने ओरलेआ के परिवार की रियासतें छीनी, तब अंग्रेज़ों की नाराजगी हद से बाहर हो गयी। 'टाइम्स' ने लिखा कि इस कारनामे से सामाजिक व्यवस्था की जड़ पर कुठाराघात हुआ है यद्यपि फ्रांस के नियमों के अनुसार वे रियासतें पहले ही राज्य मे मिला ली जानी चाहिए थी। ईमानदार लोगो की इस नाराजगी का अमली रूप अब देखने को मिल रहा है। इंग्लैण्ड ने कलम के एक इशारे मे थोड़े मे सरदारो की या शाही परिवार की रियासतें ही नही छीन लीं, वरन् एक ऐसे राज्य का पूरा क्षेत्रफल ज़ब्त कर लिया है जो आयरलैण्ड जैसा बड़ा है, जिसकी भूमि एक समूची जाति की विरासत है जैसा कि लार्ड ऐलेनबरो ने खुद कहा है।

मार्क्स ने आगे लिखा : इस कार्य का कोई आधार तो है नही, देखें इसके लिए अंग्रेज़ों ने बहाना क्या बनाया है। ब्रिटिश सरकार के नाम पर लार्ड कैनिंग ने इस अभूतपूर्व कार्यवाही के लिए कहा है, लखनऊ पर फौज का अधिकार है। "बागी सिपाहियों ने जो विरोध शुरू किया, उसे शहर के लोगों का और सूबे भर मे लोगों का समर्थन मिला।" (यहाँ स्वयं गवर्नर जनरल ने विद्रोह के व्यापक जनसमर्थन की बात स्वीकार की है।) इन लोगो ने भारी अपराध किया है, इसलिए उन्हें दण्ड देना उचित है। (पृ. १५१)। मार्क्स ने कैनिंग की बातें उद्धृत करने के बाद लिखा : इसका मतलब यह हुआ कि लखनऊ पर अंग्रेज़ी फौज ने कब्ज़ा कर लिया है, इसलिए अवध की जिस भूमि पर अभी उसने कब्ज़ा नही किया है, उसे हथियाने का अधिकार इस सरकार को है। "अंग्रेज़ों से तनखाह पानेवाले देशी सिपाहियो ने बगावत की, इसलिए अंग्रेज़ी हुकूमत के अधीन बलपूर्वक लाये हुए अवध के निवासियों को अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने का अधिकार नहीं है। संक्षेप में बात यह कि ब्रिटिश सरकार के वैध अधिकार के खिलाफ अवध के लोगों ने बगावत की और ब्रिटिश सरकार साफ-साफ ऐलान करती है कि ज़मीन छीनने के लिए बगावत का आधार काफी है। इसलिए लार्ड कैनिंग ने जो घुमा-फिराकर बातें कहीं, उन्हे छोड़ दीजिए, मूल प्रश्न यह रह जाता है कि उनकी राय मे अवध पर अंग्रेज़ी हुकूमत वैध तरीके से कायम हुई थी।" (पृ. १५१)।

मार्क्स कह रहे हैं कि अंग्रेज़ो ने अवध को ज़बर्दस्ती अपने राज्य में मिलाया। अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़ने का पूरा अधिकार अवध के लोगों को

था। विद्रोह के लिए सजा देने के बहाने अंग्रेज एक पूरे राज्य की जमीन हड़प रहे थे और उनका यह काम अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन था। आगे उन्होंने विस्तार से बताया कि अवध पर अंग्रेजों ने अपना शासन कैसे कायम किया था। १८५६ में डलहौजी ने सोचा कि अब अवध को हथियाने का समय आ गया है। उसने कानपुर में फौज एकत्र की। इसके बारे में उसने अवध के बादशाह से कहा कि यह कार्य-वाही नेपाल की निगरानी के लिए है। इस फौज ने अचानक हमला किया, लखनऊ पर कब्जा किया और बादशाह को बन्दी बनाया, फिर उस पर ज़ोर डाला कि अपना राज्य अंग्रेजों को सौंप दे। यह कोशिश बेकार हुई। तब अंग्रेज उसे कलकत्ता ले गये और तब उसके राज्य को उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इलाके में शामिल कर लिया। यह विश्वासघातक आक्रमण वेलेज़ली के समय की सन्धि के अनुसार किया गया था। देशी राजाओं से अंग्रेज़ सरकार की जैसी नीति थी, उसके अनुरूप पहली सन्धि १७९८ में हुई। इसके अनुसार दोनों पक्ष आत्मरक्षा और आक्रमण, दोनों स्थितियों में एक-दूसरे का साथ देने को बाध्य थे। इस सन्धि से कम्पनी को प्रतिवर्ष ७६ लाख रुपये मिलने लगे। लेकिन सन्धि की धारा १२ और १३ के अनुसार बादशाह बाध्य था कि टैक्सों में कमी करे। टैक्सों में कमी करना और अंग्रेजों को सालाना ७६ लाख रुपये देना, ये दोनों बातें एक साथ न हो सकती थीं। इससे जो झंझट पैदा हुआ, उसके फलस्वरूप १८०१ की सन्धि हुई। पहली सन्धि की शर्तें पूरी नहीं की गयीं, इस बहाने अवध के बादशाह को राज्य का कुछ इलाका अंग्रेजों को देना पड़ा। उस समय पार्लियामेण्ट में इसे सीधी डकैती कहकर इस कार्य की निन्दा की गयी थी। वेलेज़ली को जाँच कमेटी के सामने लाने की बात थी लेकिन अपने परिवार के राजनीतिक प्रभाव के कारण वह बच गया। अवध का वह इलाका लेकर कम्पनी ने कहा कि वह देशी-विदेशी शत्रुओं से अवध के बाकी राज्य की रक्षा करेगी। सन्धि की धारा ६ के अनुसार उसने इस बात की गारण्टी दी कि इस राज्य पर हमेशा बादशाह का और उसके वारिसों का अधिकार रहेगा। किन्तु इसी धारा में बादशाह को गिराने के लिए एक शर्त यह लगा दी गयी थी कि अपने हाकिमों द्वारा वह हुकूमत इस तरह चलायेगा कि प्रजा के जानमाल की हिफ़ाजत होगी और वह फले फूलेगी। अब मान लीजिए कि अवध के बादशाह ने यह सन्धि तोड़ दी; उसकी सरकार लोगों को तोपों से बाँधकर उड़ा देती, उनकी सारी ज़मीन छीन लेती और इस तरह उनकी जानमाल की हिफाजत करती, तब तो सबकुछ ठीक था, पर जब यह न हुआ, तब ईस्ट इण्डिया कम्पनी क्या करे? बादशाह ने स्वाधीन शासक के रूप में सन्धि की थी, सन्धि के अनुसार वह स्वतन्त्र राजा था। अब या तो कम्पनी कहती कि सन्धि तोडी गयी है और वह नये सिरे से बातचीत करके आपस में नये सम्बन्ध कायम करेगी या वह बादशाह के खिलाफ़ लड़ाई का ऐलान करती। लेकिन अंग्रेजों ने लडाई का ऐलान किये बिना उसके राज्य पर हमला किया, चेतावनी दिये बिना उसे अचानक बन्दी बना लिया, उसे गद्दी से उतारा, उसका राज्य अपने इलाके में मिला लिया। यह सब सन्धि का ही उल्लंघन नहीं था वरन् अन्तर्राष्ट्रीय कानून के हर सिद्धान्त का उल्लंघन था। (पृ. १५३)।

मार्क्स ने ध्यान दिलाया कि अवध को हड़पने की योजना अंग्रेज बहुत दिन से बना रहे थे। १८३० में लार्ड पामर्स्टन इंग्लैण्ड की सरकार का विदेश सचिव बना। उसने गवर्नर जनरल को हुक्म भेजा कि वह अवध को अंग्रेजी राज में मिला ले। अवध के बादशाह को इसका पता लग गया और उसने अपने दूत लन्दन भेजे। सारी अड़चनें पार करते हुए ये दूत ब्रिटेन के राजा विलियम चतुर्थ से मिले। उसे इस कार्यवाही का कुछ भी पता नहीं था। दूतों ने उसे अपने देश पर आये खतरे की सूचना दी। इसके फलस्वरूप विलियम चतुर्थ और पामर्स्टन के बीच जोरों में कहा-सुनी हुई। बादशाह ने पामर्स्टन को सख्त हिदायत की कि उसने भविष्य में कभी इस तरह बलपूर्वक दूसरों का राज्य हथियाने की कोशिश की तो उसे तुरंत बर्खास्त कर दिया जायेगा। "इस बात को याद करना महत्वपूर्ण है कि जब अवध को दरअसल अंग्रेजी राज में मिलाया गया और देश की सारी भूसम्पत्ति जब्त कर ली गयी, तब पामर्स्टन फिर सत्ता में मौजूद था।" (पृ. १५३)। १८३१ में अवध को अंग्रेजी राज में मिलाने की जो पहली कोशिश हुई थी, उससे सम्बन्धित कागजपत्र हाउस आफ कामन्स में कुछ हफ्ते पहले पेश किये जाने को थे किन्तु बोर्ड आफ कण्ट्रोल के सचिव वेली ने घोषणा की कि ये कागजपत्र कहीं गायब हो गये हैं!

१८३७ में पामर्स्टन दूसरी बार विदेश सचिव बना। उस समय अवध के बादशाह को बाध्य किया गया कि वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी से नयी सन्धि करे। बादशाह पहलेवाली सन्धि की शर्तें पूरी न करे तो इसके लिए इस सन्धि में किसी उपचार का विधान नहीं था। इस नयी सन्धि में कहा गया कि अवध का बादशाह ब्रिटिश रेजीडेण्ट के सहयोग से तुरत ऐसे कदम उठायेगा कि उसके राज्य में पुलिस, न्याय-व्यवस्था और मालगुजारी सम्बन्धी प्रशासन में जो दोष होंगे, वे दूर कर दिये जायेंगे। यदि बादशाह ने ब्रिटिश सरकार की सलाह न मानी, यदि अवध के राज्य में कुशासन, अराजकता और उत्पीड़न के फलस्वरूप सार्वजनिक शान्ति भंग हुई, तो ब्रिटिश सरकार को यह हक होगा कि वह अवध के किसी भी इलाके में अपने हाकिम नियुक्त करे और उतने समय के लिए करे जितना समय वह उचित समझे। इसके लिए जो मालगुजारी वसूल की जायेगी, उसमें से सारा खर्च निपटाने के बाद जो कुछ बचेगा, वह बादशाह के खजाने में जमा कर दिया जायेगा और उसका सही-सही हिसाब बादशाह के सामने पेश किया जायेगा। इस सन्धि की धारा ८ के अनुसार यह भी कहा गया था कि यदि गवर्नर जनरल को बाध्य होकर अवध के शासन का भार सँभालना पड़ा तो वह भरसक आवश्यक सुधार करते हुए देशी संस्थाओं और शासन के रूपों को अधिकृत इलाकों में बरकरार रखेगा जिससे कि उचित समय आने पर ये इलाके अवध के बादशाह को सौंपे जा सकें।

सन्धि के लिए कहा गया था कि वह गवर्नर जनरल और अवध के बादशाह के बीच हुई है। दोनों ओर से उसकी पुष्टि हुई, पुष्टि के दस्तावेजों का आदान-प्रदान हुआ। जब वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों के बोर्ड के सामने आयी, तब उन्होंने उसे रद्द कर दिया। उन्होंने कहा कि इससे कम्पनी और अवध के बादशाह के मैत्री-सम्बन्धों पर आँच आती है और गवर्नर जनरल ने बादशाह के अधिकारों में हस्तक्षेप किया है। पामर्स्टन ने सन्धि करते समय कम्पनी की अनुमति

प्राप्त न की थी, इसलिए सन्धि को रद्द करनेवाले उसके प्रस्ताव पर उसने ध्यान ही न दिया। अवध के बादशाह को बताया भी नहीं कि सन्धि रद्द कर दी गयी है। स्वयं लार्ड डलहौजी ने स्वीकार किया कि उसे रद्द करने की सूचना अवध के बादशाह को न दी गयी थी किन्तु १८४५ में सन्धियों का जो संकलन प्रकाशित हुआ, उसमें वह सन्धि शामिल थी। अब यदि बादशाह को मालूम हो कि सन्धि रद्द कर दी गयी थी और उसकी सूचना उन्हें न दी गयी थी, तब अंग्रेज क्या कहेंगे? इस पर डलहौजी ने नोट लिखा, यदि बादशाह १८३७ की सन्धि का जिक्र करे और कहे कि उस सन्धि से ब्रिटिश सरकार को जो बड़े अधिकार दिये गये हैं, वे अमल में क्यों न लाये जाएँ, तो बादशाह को सूचित करना होगा कि ऐसी किसी सन्धि का अस्तित्व नहीं है। वह डायरेक्टरों के कोर्ट के पास भेजी गयी थी और उन्होंने उसे रद्द कर दिया था। बादशाह को याद दिलाना होगा कि लखनऊ दरबार को बता दिया गया था कि उस सन्धि की कुछ धाराओं के अनुसार अतिरिक्त फौज के लिए उसे कुछ और खर्च देना था; उस समय वे धाराएँ अमल में न आ रही थीं, इसलिए उनके बारे में सूचना देना जरूरी न समझा गया था। आगे चलकर[सन्धि की शेष धाराओं के बारे में] सूचना देने की बात याद न रही। (पृ. १५५)।

डलहौजी के खरीते उद्धृत करने के बाद मार्क्स ने लिखा, १८४५ के सरकारी संग्रह में यह सन्धि शामिल की गयी; यही नहीं, यह सन्धि अनेक सरकारी दस्तावेजों में स्वीकार की गयी थी और सरकारी तौर पर उसका हवाला दिया गया था। १८३६ में लार्ड ऑकलैण्ड ने और १८४७ में लार्ड हार्डिंग ने अवध के बादशाह के नाम अपने पत्रों में उसका हवाला दिया था। १८५१ में लखनऊ स्थित रेजीडेण्ट कर्नल स्लीमैन ने स्वयं डलहौजी के नाम परिपत्र में उसका उल्लेख किया था। मार्क्स ने प्रश्न किया : डलहौजी के पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल और स्वयं उसके कारिन्दे जिस सन्धि का अस्तित्व स्वीकार करते थे, उसे नकारने के लिए डलहौजी क्यों इतना उत्सुक था? उत्तर यह है कि अवध में किसी भी बहाने हस्तक्षेप किया जाता, तो वह सीमित होता, ब्रिटिश अफसर अवध के बादशाह के नाम पर शासन भार सँभालते, अतिरिक्त मालगुजारी बादशाह को मिलती। यही चीज डलहौजी को नापसन्द थी। अब अवध को पूरी तरह अंग्रेजी राज में मिलाना था। बीस साल तक आपसी व्यवहार में जिन सन्धियों को आधार माना गया था, उन्हें अब अस्वीकार किया जा रहा था। जो सन्धियाँ स्वीकार की गयी थीं, उनका भी खुला उल्लंघन करते हुए स्वाधीन राज्यों को बलपूर्वक हड़प लिया गया। सारे देश की प्रत्येक एकड़ भूमि आखिर में अब छीन ली गयी थी। "अंग्रेजों ने भारत के निवासियों के प्रति ये जो विश्वासघाती और पाशविक तरीके अपनाये थे, अब लोग भारत में ही नहीं, इंग्लैण्ड में भी उनका बदला लेने लगे हैं।" ("all these treacherous and boutal modes of proceeding of the British toward the natives of India are now beginning to avenge themselves, not only in India, but in England." पृ. १५६)।

अंग्रेज देशी राजाओं के इलाके हड़प रहे थे। *यह सामन्तविरोधी क्रान्ति नहीं* थी, ये डाकुओं के हिंसक कारनामे थे। जैसा विश्वासघात अंग्रेज कर रहे थे, वैसा

विश्वासघात डाकू भी नहीं करते। भारतवासी अंग्रेजों के इन कारनामों का बदला ले रहे थे। मार्क्स को आशा थी कि यह बदला भारत में ही नहीं, इंग्लैण्ड में भी लिया जायेगा। इंग्लैण्ड में क्यों लिया जायेगा? इस प्रश्न का उत्तर चार्टिस्ट नेता १८५७-५८ में दे रहे थे। उनका कहना था कि जो लोग भारत को गुलाम बनाये हुए हैं, वही इंग्लैण्ड के मजदूरों का भी शोषण करते हैं। इसलिए भारतीय जनता की लड़ाई ब्रिटिश मजदूरों की लड़ाई भी है। एक बात और, ब्रिटिश पूंजीपतियों और जमींदारों ने ब्रिटिश किसानों की भूमि हड़प कर उन्हें तबाह किया था। जो तबाही से बच गये थे, वे कारखानों में मजदूरी कर रहे थे। उनके लिए मौका था कि वे उस तबाही का बदला लें। इस दृष्टि से मार्क्स का कथन कि देश की प्रत्येक एकड़ भूमि छीन ली गयी है, भारत के सन्दर्भ में ही नहीं, ब्रिटेन के सन्दर्भ में भी सार्थक था, इसलिए दोनों देशों में सामान्य शत्रु से निपटने का समय आ गया था। मार्क्स के कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि १८५७-५८ में भारतीय जनता के साथ मिलकर ब्रिटिश मजदूरों को अपने वर्ग शत्रु से लड़ना चाहिए और मिलकर लड़ने से दोनों की शक्ति बहुत बढ़ जाती है। ऐसा नहीं हुआ, इसका एक कारण यह था कि भारत की लूट का हिस्सा किसी न किसी प्रकार ब्रिटिश मजदूरों तक भी पहुँचता था।

दस-ग्यारह दिन बाद मार्क्स ने कैनिंग के ऐलान और भारत में भूमि-व्यवस्था पर फिर लिखा। उन्होंने बताया कि भारतीय भूमि-व्यवस्था पर पहले काफी विवाद हो चुका है, और इस सम्बन्ध में गलत समझ के कारण भारत में ब्रिटिश सरकार ने गम्भीर गलतियाँ की हैं। इस विवाद का मुख्य मुद्दा यह है कि भारतीय अर्थतन्त्र में जमींदारों या ताल्लुकदारों की स्थिति क्या है। वे जमीन के मालिक हैं या केवल टैक्स वसूल करनेवाले हाकिम हैं। इस बारे में मार्क्स ने कहा: अधिकांश एशियाई देशों की तरह भारत में भी सम्पत्ति पर अन्तिम अधिकार सरकार का होता है। एक दल का कहना है कि सरकार भूमि की मालिक है और वह उसे बँटाई पर किसानों को उठाती है, किन्तु दूसरे दल का कहना है कि भारत में भूमि उतनाही व्यक्तिगत सम्पत्ति है जितना किसी अन्य देश में। जमीन सरकार की है, इस धारणा का अर्थ केवल यह है कि भूस्वामी को अपना हक राजा से मिला है। यही सामन्ती कानून है जो सभी देशों में माना जाता है और इसी कारण सरकार सारी भूमि पर टैक्स लगाती है, उसके मालिकों को इससे सुविधा हो चाहे असुविधा। इसके आगे मार्क्स फिर प्रश्न करते हैं: मान लिया कि भारत की जमीन व्यक्तिगत सम्पत्ति है और वहाँ भी उतना ही तगड़ा व्यक्तिगत हक है जितना दूसरी जगह, पर जमीन के असली मालिक कौन है? दो तरह के लोग हैं जिनके लिए यह दावा किया जाता है। इनमें जमींदार और ताल्लुकदार हैं, इनकी स्थिति यूरुप के अभिजात-वर्गीय जमींदारों के समकक्ष मानी जाती है। अंग्रेज जानते थे कि समाज-व्यवस्था के मुख्य स्तम्भों के रूप में अभिजात जमींदार आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। ७० साल पहले कार्नवालिस के जमाने में जो प्रसिद्ध बन्दोबस्त बंगाल में हुआ, उसमें जमींदारों के प्रति इसी दृष्टिकोण को आधार बनाया गया था। वह बन्दोबस्त अभी अमल में है लेकिन बहुतों का कहना है कि जो लोग सचमुच जमीन

जोतते-बोते हैं, उनके साथ और सरकार के साथ भी बहुत बड़ा अन्याय हुआ है। बंगाल के बन्दोबस्त में जो कठिनाइयाँ पैदा हुईं, उन पर ध्यान देने से और हिन्दुस्तान की संस्थाओं का और गहराई में अध्ययन करने पर अब यह मत प्रचलित हुआ है कि मूल हिन्दू संस्थाओं के अनुसार भूसम्पत्ति पर स्वामित्व ग्राम-समाजों का था। इन ग्राम-समाजों का अधिकार था कि वे व्यक्तिगत रूप से खेती के लिए किसानों को भूमि का कोई हिस्सा निर्धारित करके दे दें। जमींदार और ताल्लुकदार पहले सरकारी हाकिम थे और उनका काम टैक्स वसूल करके सरकार को देना मात्र था।

मार्क्स ने यहाँ जो तर्क दिया है, वह भूमि-सम्बन्धी सामन्ती कानून और पूंजीवादी कानून, दोनों को रद्द करनेवाला है। वह मानते थे कि सामूहिक सम्पत्तिवाले ग्राम-समाज प्रत्येक देश में थे। चाहे ऋण देकर किसानों की जमीन छीनी गयी हो, चाहे किसी अन्य बहाने हड़पी गयी हो, सामन्ती व्यवस्था में भूमि के केन्द्रीकरण से पहले, बड़े-बड़े जमींदारों के पास उसके सिमट आने से पहले, वह सामूहिक रूप में किसानों की ही सम्पत्ति थी। सामन्ती व्यवस्था में चरी की जमीन, ऊसर और बंजर ज़मीन, जंगल आदि आमतौर से किसानों की सामूहिक सम्पत्ति बने रहते हैं। पूंजीवादी दौर में उनकी यह सामूहिक सम्पत्ति भी छिन जाती है, और जो खेती की भूमि उनके कुटुम्ब के पास थी, वह बलपूर्वक या पूंजीवादी कानून के ज़रिये पूंजीपतियों के पास पहुँच जाती है। मूल रूप से जमीन पर न पूंजीपतियों का अधिकार था, न सामन्तों का। सामन्ती कानून और पूंजीवादी कानून सामन्तों और पूंजीपतियों द्वारा ज़मीन हथियाने के काम को उचित ठहराने के लिए और उनके हित में हथियायी ज़मीन की सुरक्षा के लिए होते हैं। इसलिए मार्क्स का तर्क सही था, भारतीय सन्दर्भ के अलावा यूरोपियन सन्दर्भ में भी सही था। अवध की और सारे देश की भूमि के मालिक किसान थे, उस पर न ज़मींदारों का हक था, न अंग्रेज़ों का। इस सारे विवाद से अंग्रेजों को लाभ होता था। वे वास्तविक अधिकार न ज़मींदारों को दे रहे थे, न किसानों को; कुछ देना ही पड़ा तो ज़मींदारों को दिया, किसानों को दबाये रखने के लिए उन्हें सहायकों की सख्त ज़रूरत थी।

मार्क्स ने लिखा कि अंग्रेजी राज के भारतीय प्रान्तों में जो भूमि-सम्बन्धी बन्दोबस्त किये गये हैं, वे काफी हद तक ग्राम-समाजों के स्वामित्ववाली धारणा से प्रभावित हैं। ताल्लुकदार और ज़मींदार मालिक होने का दावा करते थे; उनके लिए कहा गया कि उन्होंने सरकार और किसान दोनों के अधिकार छीने थे। वे किसानों की छाती पर पत्थर की तरह लदे हुए हैं और उन्हें हटाने के लिए प्रयत्न किया गया है। किन्तु अमल में ये बिचौलिये जमीन पर अधिकार किये थे और वे प्रजा के लिए चाहे जितने अत्याचारी हों, एक हद तक उनका हक मानना ही पड़ता था। अवध के देशी राजाओं के कमजोर शासन में इन सामन्ती भूमिधरों ने सरकार का हक और किसानों का अधिकार, दोनों को सीमित कर दिया था। जब अंग्रेजी राज में अवध मिला लिया गया था, तब अंग्रेज अधिकारी इस बहस में पड़ गये कि इनके अधिकारों की वास्तविक सीमा क्या है। इससे इन

लोगों में असन्तोष फैला और वे विद्रोही सैनिकों से मिल गये।

जो लोग यह मानते हैं कि सचमुच खेती करनेवाले किसानों का ही अधिकार जमीन पर है, वे कहते हैं कि कैनिंग के ऐलान से अब व्यापक सुधारों के लिए रास्ता खुल गया है। इंग्लैण्ड की टोरी सरकार अभिजातवर्गीय हितों का समर्थन करती थी। जब वह घर के जमींदारों की बात करती है, तब वह भाड़ा पानेवालों का [यानी जमींदारों का] पक्ष लेती है, भाड़ा देनेवालों और दरअसल खेती करनेवालों का नहीं लेती। इसलिए वह जमींदारों और ताल्लुकदारों के हितों को आम जनता के हितों के बराबर मान लेती है। भारत का शासन इंग्लैण्ड से चलाया जायेगा तो ऐसी ही कठिनाइयाँ पैदा होंगी। यहाँ के पूर्वाग्रह और भावनाएँ ऐसे समाज पर लाद दी जायेंगी जो यहाँ के समाज से बिल्कुल भिन्न है। समस्या का विवेचन मार्क्स के इस लेख से समाप्त नहीं हुआ। २६ जून १८५८ को उन्होंने भारत की कर-व्यवस्था पर एक और लेख लिखा। इसमें उन्होंने बहुत स्पष्ट बताया कि भारत की भूमि हमेशा राज्यसत्ता की रही है, यह दलील साम्राज्यवादियों के हिमायतियों की है। अंग्रेज किस बिना पर भारत की भूमि पर टैक्स लगाते हैं? इस बिना पर नहीं कि भूमि ग्राम-समाजों की है। वरन् इस बिना पर कि सनातन काल से जमीन की मालिक राज्यसत्ता है। "फिर हमें ऐंग्लो इण्डियन प्रशासन के हिमायती याद दिलाते हैं कि आमदनी में से एक करोड़ साठ लाख पाउण्ड जमीन की मालगुजारी या लगान से प्राप्त होते हैं। सनातन काल से राज्यसत्ता सर्वोपरि भूस्वामी रही है, इसलिए इस मालगुजारी पर उसी का हक है। वह काश्तकार की निजी आमदनी कभी नहीं रही। दरअसल वह कर-व्यवस्था के अन्तर्गत सही तौर पर है ही नहीं, वैसे ही जैसे ब्रिटिश काश्तकार ब्रिटिश जमींदारों को जो भाड़ा देते है, वह ब्रिटिश कर-व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं है। (Then we are reminded by the apologists of the Anglo-Indian Administration that £ 16,000,000 of income is derived from the land revenue, or rent, which from times immemotial has belonged to the state in its capacity as supreme landlord, never constituted part of the private fortune of the cultivator, and does, in fact, no more enter into taxation, porperly so called, than the rent paid by the British farmers to the British aristocracy can be said to enter British taxation.)" (पृष्ठ १७१-७२)।

मार्क्स ने भारतीय कर-व्यवस्था के बारे में जो कुछ कहा है, उसकी चर्चा अभी आगे करेंगे। यहाँ इतना नोट कर लें कि किसान और सामन्त, दोनों से अलग राज्यसत्ता को सनातन काल से भारतभूमि का स्वामी मानना अंग्रेजों के हित में था। किसान की सारी आमदनी छीन लेने पर वे कहते थे, हमने टैक्स कहाँ लगाया, किसान की आमदनी उसकी अपनी थी कब, जो काम पुरानी राज्यसत्ता करती थी, वही तो हम करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेज स्वीकार करते थे कि पुराने निरंकुश सामन्तों का स्थान उन्होंने ले लिया है। उनका शोषण पुराने सामन्तों के शोषण से कहीं भयानक है, यह सत्य इस देश की जनता के सामने प्रत्यक्ष था।

भारत से जो आदमनी होती थी, वह उद्योगपतियों के अलावा व्यापारियों और जमींदारों के पास पहुँचती थी। इसलिए उनके प्रतिनिधि एक तरफ ब्रिटिश सरकार की नुक्ताचीनी करते थे, दूसरी तरफ भारत में कम्पनी के राज की नुक्ताचीनी भी करते थे। ऐसे ही लोगों मे ब्राइट थे। मार्क्स ने ब्राइट के भाषण से लम्बा अंश उद्धृत किया। उसमें जो तर्क दिये गये हैं, वे आगे चलकर भारत के अनेक राजनीतिक नेताओ के व्याख्यानों और लेखों मे भी दिखायी दिये। ब्राइट ने कहा था : भारत पर शासन करने मे जितना खर्च आता है, उतना खर्च भारत की जनता से वसूल नही किया जा सकता, यद्यपि भारत सरकार न तो टैक्स लगाने मे झिझकती है और न इस बारे मे चिन्ता करती है कि वसूली किस तरह होती है। भारत का शासन चलाने के लिए तीन करोड़ पाउण्ड सालाना चाहिए और यही कुल मालगुजारी थी। घाटा बराबर बना रहता था, इसलिए ब्याज की ऊँची दर पर सरकार ऋण लेती थी। भारत-सम्बन्धी ऋण छह करोड़ पाउण्ड हो चुका था और बराबर बढ रहा था। सरकार की साख गिरती जा रही थी। एक तो उसने उधार देनेवालों के साथ कभी-कभी अच्छा व्यवहार नही किया, दूसरे इधर हिन्दुस्तान मे दुखद घटनाएँ हुई है। भारत सरकार की कुल आमदनी मे अफीमवाली आमदनी शामिल थी। यह टैक्स नही थी, इसलिए वह मान लेते हैं कि वास्तविक टैक्स ढाई करोड़ पाउण्ड है। इस ढाई करोड़ पाउण्ड की तुलना ब्रिटेन मे वसूल किये हुए छह करोड़ पाउण्ड से कीजिए। यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि इंग्लैण्ड मे किसी मजदूर को एक दिन के लिए जितनी पगार देनी होती है, उतनी पगार से भारतीय मजदूर बारह दिन तक काम करेगा। यदि भारतीय मजदूर को दिन में दो पैंस देना होता है और इंग्लैण्ड के मजदूर को दो शिलिंग देना पड़ता है, तो इससे जाहिर है कि भारत का मजदूर उतना ही टैक्स नही दे सकता जितना ब्रिटेन का मजदूर दे सकता है। ब्रिटेन और आयरलैंण्ड की आबादी तीन करोड़ है, भारत की आबादी १५ करोड़ है। यहां हमने टैक्स लगाकर छह करोड पाउण्ड वसूल किये। भारत में प्रतिदिन के श्रम का हिसाब लगाएँ तो हमने तीस करोड पाउण्ड वसूल किये, यानी ब्रिटेन की अपेक्षा पांच गुना ज्यादा मालगुजारी एकत्रित की। अब यदि कोई सोचे भारत की आबादी ब्रिटिश साम्राज्य की आबादी से पाँच गुना ज्यादा है, तो वह यही कहेगा कि इंग्लैण्ड और भारत में फी आदमी लगभग एक-सा टैक्स लगाया जाता है। यह तो कोई बड़ी मुसीबत की बात न हुई। लेकिन इंग्लैण्ड के पास अपार शक्ति है। यह शक्ति भाप और मशीनों के रूप में, यातायात के साधनो के रूप में और उन तमाम चीजों के रूप मे है जिन्हे पूँजी तथा मानव आविष्कार ने उद्योग-धन्धो की सहायता के लिए जुटाया है। भारत में यह सबकुछ नहीं है, सारे देश में एक अच्छी सड़क तक नही है। (पृ. १७०)।

ऊपर से देखने में ब्राइट का तुलनात्मक विवेचन बहुत वैज्ञानिक मालूम होता है और भारतीय जनता के प्रति उनका दृष्टिकोण सहानुभूतिपूर्ण लगता है। वास्तव में भारतीय जनता पर जितना बोझ था, वह उसके साधनो को देखते बहुत ज्यादा था। मार्क्स ने ब्राइट के मत की आलोचना करते हुए कहा, मानना होगा कि भारतीय टैक्सों और ब्रिटिश टैक्सों की तुलना करने के इस ढंग में कहीं कोई गड़बड़ी है।

एक तरफ भारत की आबादी ब्रिटिश आबादी से पाँच गुना ज्यादा है, दूसरी तरफ भारतीय टैक्स ब्रिटिश टैक्स का आधा है। किन्तु ब्राइट का कहना है कि भारतीय श्रम ब्रिटिश श्रम के बारहवें भाग के बराबर है। तब भारत का तीन करोड़ टैक्स ब्रिटेन के तीस अरब पाउण्ड टैक्स के बराबर होगा, न कि छह करोड़ पाउण्ड के, जो वसूल किया जाता है। तब ब्राइट को कौन-सा नतीजा निकालना चाहिए था ? यह कि भारत की जनता अपनी संख्या के हिसाब से वही टैक्स देती है जो ब्रिटिश जनता देती है, शर्त यह है कि भारतीय जनता की गरीबी को ध्यान में रखा जाये, यह माना जाये कि तीन करोड़ ब्रिटिश नागरिकों पर छह करोड़ पाउण्ड का बोझ उतना ही भारी है जितना १५ करोड़ भारतवासियों पर तीन करोड़ पाउण्ड का टैक्स है। ब्राइट की ऐसी ही मान्यता है, इसलिए यह कहना व्यर्थ है कि धनी आदमी जितना पैसा दे सकते हैं, उतना गरीब नहीं दे सकते। लेकिन यहाँ दूसरा सवाल किया जा सकता है। एक आदमी दिन में बारह सेण्ट कमाता है और उसे एक सेण्ट टैक्स देना है। दूसरा आदमी १२ डालर कमाता है और उसे एक डालर देना है। आमदनी से टैक्स का अनुपात वही है, फिर भी उतना टैक्स देने से दोनों की अपनी-अपनी जरूरतों पर अलग-अलग तरह का असर पड़ेगा। जो बारह सेण्ट कमाता है, उसे एक सेण्ट देने में बहुत कठिनाई होगी; उसकी तुलना में बारह डालर कमानेवाला एक डालर आसानी से दे सकता है। ब्राइट ने यह सवाल इस रूप में पेश नहीं किया; इस तरह करते तो शायद ब्रिटिश मजदूर और ब्रिटिश पूंजीपति की टैक्स देने की क्षमता की तुलना करना ज्यादा सार्थक होता, भारत और ब्रिटिश कर-व्यवस्था की तुलना करने की जरूरत न होती। तीन करोड़ पाउण्ड की मालगुज़ारी से पचास लाख पाउण्ड अफीम की आमदनीवाली रकम निकाल दीजिए, फिर एक करोड़ साठ लाख लगान के निकाल दीजिए क्योंकि ऐंग्लो-इण्डियन हुकूमत के हिमायती कहते हैं कि सनातन काल से जमीन की मालगुज़ारी पर राज्यसत्ता का हक रहा है और वही सबसे बड़ी जमींदार है, इसलिए मालगुज़ारी टैक्स नहीं है। तब सही अर्थ में टैक्स की कुल रकम हुई नब्बे लाख पाउण्ड। इस रकम में भी डाकखाने का खर्च, स्टाम्प की चुंगी वगैरह में आम जनता को वास्ता नहीं है। ब्रिटेन की सांख्यिकी-सभा के सामने हेण्ड्रिक्स ने साबित किया कि भारत में जो मालगुज़ारी वसूल की जाती है, उसका पाँचवाँ हिस्सा ही टैक्स द्वारा वसूल किया जाता है। इसके बाद मार्क्स ने भारत के विभिन्न प्रान्तों से फी-आदमी टैक्स की रकम बतायी और पूरे साल में इंग्लैण्ड, फ्रांस, प्रशिया में प्रति व्यक्ति को जितना देना पड़ा, उससे भारतीय टैक्स की तुलना की। उदाहरण के लिए १८५५-५६ में प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक ने डेढ़ पाउण्ड टैक्स दिया, बंगाल में इसके मुकाबले प्रत्येक व्यक्ति ने एक शीलिंग चार पेंस दिए। इंग्लैण्ड में प्रत्येक नागरिक ने १८५२ में एक पाउण्ड उन्नीस शिलिंग चार पेंस दिये। भारत में प्रत्येक नागरिक ने १८५४ में तीन शीलिंग साढ़े आठ पेंस दिये।

ये सब आँकड़े देने के बाद मार्क्स ने लिखा, ब्रिटिश हुकूमत के हिमायती इन बयानों के आधार पर यह नतीजा निकालते हैं कि भारत की अपेक्षाकृत गरीबी को ध्यान में रखते हुए भी यूरोप का कोई ऐसा देश नहीं है जिसमें जनता पर

भारत से जो आदमनी होती थी, वह उद्योगपतियों के अलावा व्याप
दारों के पास पहुँचती थी। इसलिए उनके प्रतिनिधि एक तरफ ि
नुक्ताचीनी करते थे, दूसरी तरफ भारत मे कम्पनी के राज
करते थे। ऐसे ही लोगों मे ब्राइट थे। मार्क्स ने ब्राइट के भा
उद्धृत किया। उसमें जो तर्क दिये गये है, वे आगे चलकर
नीतिक नेताओं के व्याख्यानों और लेखों में भी दिखायी दिये
भारत पर शासन करने में जितना खर्च आता है, उतना
से वसूल नही किया जा सकता, यद्यपि भारत सरकार
झिझकती है और न इस बारे मे चिन्ता करती है कि
है। भारत का शासन चलाने के लिए तीन करोड़ पाउ
यही कुल मालगुजारी थी। घाटा बराबर बना रहता
दर पर सरकार ऋण लेती थी। भारत-सम्बन्धी ऋण
था और बराबर बढ़ रहा था। सरकार की साख ि
उसने उधार देनेवालों के साथ कभी-कभी अच्छा व्य
हिन्दुस्तान मे दुखद घटनाएँ हुई है। भारत सरकार
वाली आमदनी शामिल थी। यह टैक्स नही थी,
वास्तविक टैक्स ढाई करोड़ पाउण्ड है। इस ढा
मे वसूल किये हुए छह करोड़ पाउण्ड में कीजि
इंग्लैण्ड मे किसी मजदूर को एक दिन के लिए
पगार मे भारतीय मजदूर बारह दिन तक का
दिन मे दो पेंस देना होता है और इग्लैण्ड मे
तो इससे जाहिर है कि भारत का मजदूर
ब्रिटेन का मजदूर दे सकता है। ब्रिटेन अ
है, भारत की आबादी १५ करोड़ है। य
वसूल किये। भारत मे प्रतिदिन के श्रम
पाउण्ड वसूल किये, यानी ब्रिटेन की अ
की। अब यदि कोई सोचे भारत की अ
गुना ज्यादा है, तो वह यही कहेगा ि
एक-सा टैक्स लगाया जाता है। यह
इंग्लैण्ड के पास अपार शक्ति है। य
यान के साधनों के रूप मे और उन
मानव आविष्कार ने उद्योग-धन्धों
सबकुछ नहीं है, सारे देश मे एक अ

ऊपर से देखने में ब्राइट का गुन
है और भारतीय जनता के प्रति उनर
में भारतीय जनता पर कितना बोझ
था। मार्क्स ने ब्राइट के भाषण की आलो
टैक्सों और विभिन्न टैक्सों की तुलना

खर्च निपटाने के बाद अतिरिक्त आमदनी ब्रिटिश खजाने मे पहुँचती हो, ऐसा कुछ नही है। जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में राज्यप्रसार शुरू किया, तब से उसकी वित्तीय हालत बिगड़ने लगी। उसे फौजी मदद के लिए ही नही, वित्तीय सहायता के लिए भी पार्लियामेण्ट मे आवेदन करना पडा जिससे कि वह दिवालिया न हो जाये। विद्रोह के दौरान ब्रिटिश जाति मे फौज की माँग की जा रही है, इसके बाद बेशक पैसे की माँग भी की जायेगी। ब्रिटिश सरकार फौजें भेजने का खर्च उठाती रही है। कम्पनी ने पाँच करोड पाउण्ड का कर्ज अपने ऊपर लाद रखा है। ऐसी हालत मे मानना होगा कि अंग्रेजों को भारतीय राज्य से जो लाभ होता है, वह कुछ खास व्यक्तियों को होता है और यह लाभ काफी है।

सबसे पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लगभग तीन हजार भागीदारों को प्रतिवर्ष छह लाख तीस हजार पाउण्ड का लाभांश मिलता है। कम्पनी के डायरेक्टरों की तनख्वाह पाँच सौ पाउण्ड होती है। उनके अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की तनखाह इससे दुगुनी होती है। कम्पनी के डायरेक्टर, और उनसे भी अधिक बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के सदस्य भारत की फौजी और गैर-फौजी नौकरियाँ कुछ खास लोगों को बाँट सकते हैं। बोर्ड के दो-तीन सदस्य ब्रिटिश सरकार के मन्त्री होते हैं। इनसे आमदनीवाली नौकरियाँ पानेवाले लोग पाँच तरह के हैं : नागरिक अफसर, क्लर्क, फौजी, जहाज़ी और मेडिकल अफसर। भारत पहुँचने पर नागरिक अफसर को डेढ सौ डालर मासिक मिलते हैं। फिर कुछ परीक्षाएँ पास करने पर उसे ढाई सौ से पचास हजार डालर सालाना की आमदनीवाली नौकरी मिल जाती है। बंगाल काउन्सिल के सदस्य सालाना पचास हज़ार डालर पाते है, बम्बई और मद्रास की काउन्सिलों के सदस्य सालाना तीस हज़ार पाउण्ड पाते हैं। जो व्यक्ति काउन्सिल का सदस्य नही है, वह सालाना पच्चीस हज़ार डालर से ज्यादा नही पा सकता। भारत मे कौन कितने दिन रहा है, इस हिसाब से वेतन मे भिन्नता होती है। नागरिक सेवाओं मे नियुक्ति क्षमता के आधार पर या सेवाकाल के विचार से कहने भर को होती है। दरअसल ये नौकरियाँ इनायत के तौर पर बख्शी जाती हैं। इनमें तनखाह सबसे ऊँची होती है, इसलिए इन्हे पाने के लिए खूब होड़ होती है। फौजी अफसरों को मौका मिलता है तो अपनी पल्टनें छोडकर वे नागरिक अफसर बन जाते हैं। सिविल सर्विस मे औसत तनखाह आठ हज़ार डालर बतायी जाती है लेकिन इसमे ऊपर की आमदनी, भत्ते वगैरह शामिल नही है; कुल मिलाकर यह रकम काफी होती है। गवर्नर जनरल को एक लाख पच्चीस हज़ार डालर मिलते हैं, भत्ते की रकम अक्सर तनखाह से ज्यादा होती है। चर्च-सेवा मे बिशॉप और पादरियों को तनखाह मिलती है। कलकत्ते के बिशॉप को सालाना पच्चीस हज़ार डालर मिलते हैं, मद्रास और बम्बई के बिशॉप इससे आधी तनखाह पाते हैं। पादरी फीस के अलावा ढाई हज़ार से सात हज़ार डालर तक पाते है। मेडिकल सर्विस में डाक्टरों को डेढ हज़ार से दस हज़ार डालर तक सालाना मिलता है। गोरे फौजी अफसर लगभग आठ हज़ार है। इनके विभिन्न पदो की तनखाह एक हज़ार अस्सी डालर से लेकर कर्नल के पद तक सात हजार छह सौ अस्सी डालर सालाना है। जब वे मोर्चे पर होते हैं, तब इससे ज्यादा तनखाह मिलती है।

इतना कम टैक्स लगाया गया हो। इससे पता चलेगा कि भारतीय कर-व्यवस्था के बारे में ही परस्पर विरोधी मत नही है किन्तु जिन तथ्यों के आधार पर लोग अपना मत निर्धारित करते हैं, वे भी परस्पर विरोधी है। हमें मानना होगा कि भारतीय टैक्स परिमाण के विचार से काफी कम है; इसके साथ ही पार्लियामेण्ट के दस्तावेजों से और भारतीय मामलों पर लिखनेवाले बड़े से बड़े अधिकारी विद्वानों के दस्तावेजों से हम सबूतों के अम्बार लगा सकते हैं जिनसे असंदिग्ध रूप से यह प्रमाणित होगा कि ऊपर से देखने मे जो कर-व्यवस्था हल्की जान पड़ती है, वह आम भारतीय जनता को कुचलकर धूल में मिला देती है (crushes the mass of the Indian people to the dust) और टैक्स वसूल करने के लिए शारीरिक यन्त्रणा जैसे दुष्ट तरीके अपनाये जाते है। लेकिन और सबूतों की जरूरत क्या है? भारतीय ऋण लगातार और तेजी से बढ़ रहा है और इसी के साथ घाटा बढ़ता जाता है। कोई यह नहीं कह सकता कि भारतीय जनता से धन वसूल करने में सरकार नरमी का व्यवहार करती है, इसलिए ऋण बढ़ता जाता है और घाटा बढ़ता जाता है। (पृ. १७३)।

लेख के अन्त में मार्क्स ने लिखा कि टैक्स के बोझ का हिसाब लगाते समय दो बातें न भूलनी चाहिए। पहली यह कि वसूली किस तरह होती है और दूसरी यह कि वसूल की हुई रकम खर्च किस तरह की जाती है। वसूली का तरीका घृणित है। भूमिकर की वसूली मे शायद जितनी उपज नष्ट की जाती है, उतनी वसूली से प्राप्त नही होती। टैक्स मे जो धन वसूल किया जाता है, उसका कोई भी हिस्सा लौटकर जनता के पास नही जाता। एशियाई देशों में सार्वजनिक उपयोगिता के काम (सिंचाई-व्यवस्था आदि) और भी जरूरी है। सरकार इन पर धन खर्च नही करती। ब्राइट ने बिलकुल ठीक कहा था कि किसी भी देश के शासक वर्ग पर इतना ज्यादा पैसा खर्च नहीं किया जाता जितना भारत के शासक वर्ग पर। (पृ. १७४)।

मार्क्स ने इस लेख में यह दिखाया कि अंग्रेजी राज में उत्पादक शक्तियों का विकास कहीं भी नही हो रहा है। ब्रिटिश उद्योगपतियों को अपने कारखानों के लिए कच्चे माल की जरूरत थी। ऐसे माल की उपज बढ़ाने के लिए भी अंग्रेज कुछ न कर रहे थे। उद्योग-धन्धों की उन्नति का तो कुछ सवाल ही न था, कच्चे माल के उत्पादन के लिए सिंचाई-व्यवस्था जरूरी थी, उसकी तरफ भी अंग्रेज ध्यान न देते थे। ऊपर से देखने मे टैक्स हल्का था, वास्तव में जनता इतनी मुफलिस हो चुकी थी कि वह इस हल्के टैक्स का भार भी बर्दाश्त न कर पा रही थी। जो कर-व्यवस्था हल्की जान पड़ती थी, वह भारत की गरीब जनता को कुचलकर धूल में मिला देती थी। उत्पादक शक्तियों का विकास कहाँ से होता? अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान पर शासन करने के लिए फौज के अलावा गैर-फौजी अफसरों का जाल बिछा रखा था। भारत की आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा यह वर्ग खा जाता था। शोषण के इस रूप पर मार्क्स ने अन्य निबन्धों में भी लिखा। 'भारत में ब्रिटिश आमदनी' लेख में उन्होंने प्रश्न किया, ब्रिटिश जाति के लिए भारत के राज्य का वास्तविक मूल्य क्या है? उन्होंने उत्तर दिया, सीधे-सीधे खिराज मिलता हो या

खर्च निपटाने के बाद अतिरिक्त आमदनी ब्रिटिश खजाने में पहुँचती हो, ऐसा कुछ नहीं है। जब से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में राज्यप्रसार शुरू किया, तब से उसकी वित्तीय हालत बिगडने लगी। उसे फौजी मदद के लिए ही नहीं, वित्तीय सहायता के लिए भी पार्लियामेण्ट में आवेदन करना पडा जिससे कि वह दिवालिया न हो जाये। विद्रोह के दौरान ब्रिटिश जानि से फौज की माँग की जा रही है, इसके बाद बेशक पैसे की माँग भी की जायेगी। ब्रिटिश सरकार फौजें भेजने का खर्च उठाती रही है। कम्पनी ने पाँच करोड पाउण्ड का कर्ज अपने ऊपर लाद रखा है। ऐसी हालत मे मानना होगा कि अंग्रेज़ों को भारतीय राज्य से जो लाभ होता है, वह कुछ खास व्यक्तियों को होता है और यह लाभ काफी है।

सबसे पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लगभग तीन हजार भागीदारों को प्रति-वर्ष छह लाख तीस हजार पाउण्ड का लाभांश मिलता है। कम्पनी के डायरेक्टरों की तनखाह पाँच सौ पाउण्ड होती है। उनके अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की तनखाह इससे दुगुनी होती है। कम्पनी के डायरेक्टर, और उनमे भी अधिक बोर्ड ऑफ कण्ट्रोल के सदस्य भारत की फौजी और गैर-फौजी नौकरियाँ कुछ खास लोगों को बाँट सकते हैं। बोर्ड के दो-तीन सदस्य ब्रिटिश सरकार के मन्त्री होते है। इनसे आमदनीवाली नौकरियाँ पानेवाले लोग पाँच तरह के हैं : नागरिक अफसर, क्लर्क, फौजी, जहाज़ी और मेडिकल अफसर। भारत पहुँचने पर नागरिक अफसर को डेढ़ सौ डालर मासिक मिलते है। फिर कुछ परीक्षाएँ पास करने पर उसे ढाई सौ से पचास हज़ार डालर सालाना की आमदनीवाली नौकरी मिल जाती है। बंगाल काउन्सिल के सदस्य सालाना पचास हज़ार डालर पाते है, बम्बई और मद्रास की काउन्सिलों के सदस्य सालाना तीस हज़ार पाउण्ड पाते हैं। जो व्यक्ति काउन्सिल का सदस्य नही है, वह सालाना पच्चीस हज़ार डालर से ज्यादा नहीं पा सकता। भारत में कौन कितने दिन रहा है, इस हिसाब से वेतन मे भिन्नता होती है। नागरिक सेवाओं मे नियुक्ति क्षमता के आधार पर या सेवाकाल के विचार से कहने भर को होती है। दरअसल ये नौकरियाँ इनायत के तौर पर बख्शी जाती हैं। इनमें तनखाह सबसे ऊँची होती है, इसलिए इन्हें पाने के लिए खूब होड़ होती है। फौजी अफसरों को मौका मिलता है तो अपनी पल्टनें छोडकर वे नागरिक अफसर बन जाते हैं। सिविल सर्विस मे औसत तनखाह आठ हज़ार डालर बतायी जाती है लेकिन इसमें ऊपर की आमदनी, भत्ते वगैरह शामिल नही हैं; कुल मिलाकर यह रकम काफी होती है। गवर्नर जनरल को एक लाख पच्चीस हज़ार डालर मिलते हैं, भत्ते की रकम अक्सर तनखाह से ज्यादा होती है। चर्च-सेवा मे बिशॉप और पादरियो को तनखाह मिलती है। कलकत्ते के बिशॉप को सालाना पच्चीस हज़ार डालर मिलते हैं, मद्रास और बम्बई के बिशॉप इससे आधी तनखाह पाते हैं। पादरी फीस के अलावा ढाई हज़ार से सात हज़ार डालर तक पाते हैं। मेडिकल सर्विस में डाक्टरों को डेढ़ हज़ार से दस हज़ार डालर तक सालाना मिलता है। गोरे फौजी अफसर लगभग आठ हज़ार है। इनके विभिन्न पदों की तनखाह एक हज़ार अस्सी डालर से लेकर कर्नल के पद तक सात हज़ार छह सौ अस्सी डालर सालाना है। जब वे मोर्चे पर होते हैं, तब इससे ज्यादा तनखाह मिलती है।

काफी साधन है।

मार्क्स ने बताया कि यह सुनहला सपना बहुत जल्दी टूट गया। पता चला कि भारत में रेलें बनाने के लिए कई कम्पनियों ने ३५ लाख पाउण्ड ईस्ट इण्डिया कम्पनी के पास जमा किये थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने तिकड़म से यह रकम हथिया ली। उसने १० लाख पाउण्ड गुप्त रूप से इंग्लैण्ड के बैंक से उधार लिये, १० लाख पाउण्ड उसने अन्य बैंकों से लिये। कम्पनी का मुखौटा उतर गया, तब अर्द्ध सरकारी लेखों द्वारा अखबारों ने बताना शुरू किया कि कर्ज की जरूरत पड़ेगी। कर्ज लेने के लिए पार्लियामेण्ट की अनुमति जरूरी थी। मार्क्स ने इसका कारण बताते हुए लिखा कि १८३४ में कम्पनी का व्यापारिक अस्तित्व समाप्त हो गया। चीनी व्यापार पर इजारा होने से उसे व्यापारिक मुनाफा होता था, वह स्रोत भी खत्म हो गया। कम्पनी के भागीदारों को अभी तक लाभांश व्यापारिक आमदनी से दिया जाता था; वह लाभांश उन्हें राजनीतिक आमदनी से दिया जाने लगा। पार्लियामेण्ट के कानून से कम्पनी के ऋण का बोझ भारतीय जनता पर डाला गया। कम्पनी ने ५ करोड़ पाउण्ड का ऋण भारत में लिया था, वह तो भारत की राजकीय आमदनी से अदा ही किया जाता था। जो कर्ज भारत में लिया जाये, वह पार्लियामेण्ट की निगरानी से बाहर की चीज माना जाता था। कम्पनी ने जब भारत में रेलें बनाना शुरू किया, तब उसे ७० लाख पाउण्ड का ऋण लन्दन में लेने की अनुमति दी गयी। इसके भुगतान की गारण्टी भारतीय मालगुजारी के आधार पर की गयी। जिस समय भारत में विद्रोह शुरू हुआ, उस समय उस पर ३८ लाख ९४ हजार ४०० पाउण्ड का कर्ज था। मार्क्स ने लिखा कि उसे पार्लियामेण्ट से फिर अनुमति लेने की जरूरत पड़ रही थी, इससे पता चलता था कि वह भारत में उधार लेने की अपनी कानूनी ताकत खत्म कर चुकी थी। कम्पनी ने कलकत्ते में ऋण की योजना चालू की थी किन्तु वह योजना पूरी तरह असफल हुई। उसकी असफलता से मार्क्स ने बहुत दिलचस्प नतीजा निकाला है। उन्होंने लिखा है: "इससे एक ओर तो यह साबित होता है कि भारतीय पूंजीपति भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व के बारे में वैसे ही आश्वस्त नहीं हैं जैसे कि लन्दन के अखबार हैं; दूसरी ओर जॉन बुल बेहद नाराज है क्योंकि उन्हें पता है कि पिछले सात साल में वहाँ भारी मात्रा में पूंजी जमा की गयी है। मेसर्स हैगार्ड ऐण्ड पिक्सले द्वारा प्रकाशित विवरण के अनुसार अकेले लन्दन के बन्दरगाह से दो करोड़ दस लाख पाउण्ड मूल्य का सोना-चांदी भारत भेजा गया है।" (पृ. १२६)। मार्क्स का विचार था कि यह सारा सोना-चांदी भारतीय पूंजीपतियों के पास एकत्र हो रहा था और वे उसे अंग्रेजों को उधार न देना चाहते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि यह सोना-चांदी भारत के व्यापारियों तक किस प्रकार पहुँचता था। देशी और विदेशी व्यापार अंग्रेज के हाथ में था (इसलिए सम्भावना यह है कि जो भी सोना-चांदी यहाँ आता होगा, वह भारत के नाम पर अंग्रेजों के पास ही रहता होगा। हो सकता है, उसका थोड़ा बहुत अंश उन साहूकारों के पास पहुँचता हो जो कम्पनी को कर्ज देते थे। जो भी हो, मार्क्स की टिप्पणी में दिलचस्प बात यह है कि भारतीय पूंजीपति १८५७-५८ में अंग्रेजों को कर्ज न देना चाहते थे। मार्क्स ने जिन्हें भारतीय

पूँजीपति कहा है, वे उद्योगपति नही थे, वे साहूकार थे, कुछ व्यापारी रहे होंगे। अपनी अविकसित अवस्था मे भी परतन्त्र भारत का पूँजीवाद अंग्रेजों की जीत के प्रति आश्वस्त नही था। वह सक्रिय रूप से क्रान्तिकारियों का समर्थन न कर रहा था, इसके साथ ही अंग्रेजी राज से अपना अन्तर्विरोध भी पहचान रहा था और इसलिए तटस्थ होकर फैसले की राह देख रहा था; जिसकी जीत हो उसके साथ जा मिले।

'टाइम्स' ने लिखा था कि देशी लोगो को अपना महाजन बना लो, तब वे वफादार बने रहेंगे। यदि उन्हे मालूम हो कि दूसरे देश के लोगो को हर साल लाभांश भेजने के लिए उन पर टैक्स लगाया जाता है, तो वे भड़क उठेंगे। मार्क्स ने 'टाइम्स' की राय उद्धृत की, उससे यह अनुमान पुष्ट होता है कि लन्दन से जो सोना-चाँदी आता था, वह अंशत: भारतीय साहूकारो के पास पहुँचता होगा।

मार्क्स ने आगे लिखा, योजना बड़ी सुन्दर है। भारतीय पूँजी के बल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व बहाल कर दो, इसके साथ ही चक्करदार रास्ते से देशी ज़खीरे ब्रिटिश व्यापार के लिए सुलभ कर दो। लेकिन ऐसा लगता है, हिन्दुस्तानी लोग इस योजना की खूबसूरती समझ नही पाये। "यदि भारतीय पूँजीपतियों को अंग्रेजी राज मे उतना ही प्रेम होता जितना हर अंग्रेज बड़ी आस्था के साथ दावा करता है कि उन्हें है, तो अपनी वफादारी दिखाने का और चाँदी निकालने का इससे अच्छा मौका दूसरा नही था। जॉन बुल को इस कठिनाई से आँखें चार करनी चाहिए कि देशी लोगो से किसी तरह की सहायता के बिना भारतीय विद्रोह का खर्च उसी को उठाना पड़ेगा।" (पृ. १२७)। मार्क्स इस बात से प्रसन्न है कि विद्रोह के दमन के लिए अंग्रेजों को भारत मे किसी तरह की सहायता नही मिल रही। उन्होने बताया कि यह तो अभी शुरूआत है। कम्पनी का काम ८० लाख या एक करोड से चलनेवाला नही है, उसे ढाई से तीन करोड़ पाउण्ड तक धन चाहिए। यह तो पहली किस्त हुई। यह पैसा अगले खर्च के लिए न चाहिए; जो कर्ज पहले से लिया है, उसे पटाने के लिए चाहिए। पिछले तीन साल में घाटेवाली मालगुजारी पचास लाख पाउण्ड हुई। पिछले अक्तूबर तक बागियो ने खजाने का एक करोड पाउण्ड धन लूटा था। उत्तर पूर्वी प्रान्तों की मालगुजारी न मिलने से ५० लाख पाउण्ड का घाटा हुआ और लड़ाई का खर्च करीब एक करोड़ पाउण्ड हुआ। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को ऋण दिया जायेगा, इससे इंग्लैण्ड मे असन्तोष फैला। कर्ज लौटाया जायेगा, इसकी गारण्टी होनी चाहिए। जैसे ही ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्थान ब्रिटिश सरकार लेगी, वैसे ही कम्पनी का ऋण ब्रिटिश ऋण बन जायेगा। ब्रिटिश सरकार वैसे भी ऋण लेती रही थी; कम्पनी का ऋण उसमे जुड़ेगा तो राष्ट्रीय कर्ज का परिमाण और भी बढ जायेगा। इसलिए मार्क्स ने लिखा, ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय विद्रोह का पहला वित्तीय परिणाम यह होगा कि राष्ट्रीय कर्ज की भारी रकम और भी बढ़ जायेगी।

जुलाई १८५८ में मार्क्स ने कम्पनी की वित्तीय अवस्था पर फिर विचार किया। उन्होने लिखा: ईस्ट इण्डिया कम्पनी अब समाप्ति पर है। १६६३ में कम्पनी ने २१ साल के लिए बादशाह से अनुमतिपत्र प्राप्त किया था। इसे पाने के लिए उसने ड्यूक आफ लीड्स तथा अन्य प्रभावशाली लोगों को भारी रकमें भेंट

की थी। १७६७ मे उसने दो साल के लिए आज्ञा-पत्र बढ़वाया और वादा किया कि शाही खजाने मे वह ४ लाख पाउण्ड सालाना जमा करेगी। १७६६ मे उसने पाँच साल के लिए फिर ऐसा ही सौदा किया। शाही खजाने ने सालाना भुगतान से कम्पनी को मुक्त कर दिया और उसे १४ लाख पाउण्ड सूद पर उधार दिये; इसके बदले कम्पनी ने अपनी प्रभुसत्ता का कुछ अंश सरकार को दिया। अब गवर्नर जनरल को और उसकी कौंसिल के चार सदस्यों को पार्लियामेण्ट नियुक्त करती थी। इसी तरह चीफ जस्टिस और उसके साथी तीन जजो को भी पार्लिया-मेण्ट नियुक्त करने लगी। १८५८ में कम्पनी ने कहा कि शासन करने का अधिकार वह यथासम्भव बादशाह के पास न जाने देगी; फिर उसने यही बात मंजूर की। जिस तरह कोई दिवालिया हो जाने पर अपने महाजनों से समझौता करता है, वैसे ही कम्पनी ने पार्लियामेण्ट से समझौता किया। नये बिल के अनुसार कम्पनी का नाम बना रहा। कम्पनी व्यापारियों की ऐसी सहयोगी संस्था रह गयी जिसके पास व्यापार नही है। भारतीय राज्य की प्रभुसत्ता पार्लियामेण्ट के हाथ मे आ गयी. कम्पनी के सदस्यो को निश्चित लाभांश मिलते रहे। मार्क्स के इस कथन से विदित होता है कि कम्पनी को व्यापार के बिना जो लाभांश मिलते थे, वे उसे भारतीय मालगुज़ारी से दिये जाते थे।

९. राष्ट्रीय विद्रोह का सैनिक पक्ष

(क) दिल्ली का मोर्चा

मार्क्स और एंगेल्स ने विद्रोह के सैनिक पक्ष पर जो कुछ लिखा है, वह उनके अर्थ-सम्बन्धी विवेचन से कम महत्वपूर्ण नही है। इसे देखने से पता चलता है कि वे कैसे तथ्यसंग्रह के लिए बराबर प्रयत्नशील रहे थे और नये तथ्य मिलने पर अपनी धारणाएँ बदलते थे। ३० जून १८५७ के अपने पहले लेख में मार्क्स ने यह विचार प्रकट किया कि इस समय मौसम अंग्रेजो के अनुकूल नही है, फौजें ले जाने और सामान ढोने के साधन नही हैं। इससे ब्रिटिश फौज की गतिविधि मे रुकावट पड़ेगी। यह सब होने पर भी सम्भावना यह है कि विद्रोही देर तक विरोध न कर सकेंगे और दिल्ली का पतन होगा। पतन होने के बाद भी यह एक अति भयानक नाटक का प्रथम अंक ही होगा और वह नाटक पूरा किया ही जायेगा (पृ. ४३)। यहाँ मार्क्स ने दिल्ली के पतन को नाटक की शुरुआत कहा था। दिल्ली का जल्दी पतन होगा किन्तु उसके बाद अंग्रेज चारों तरफ बदला लेने के लिए भयानक हत्या-काण्ड रचेंगे। यही नाटक का भयावना पक्ष था। किन्तु दिल्ली का पतन जल्दी हुआ नही। ४ अगस्त १८५७ को मार्क्स ने लिखा,.अंग्रेजो ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया है, यह खबर इतनी बार आयी है कि सट्टा बाजार पर उसका असर पड़ने लगा है। जैसे रूसी बन्दरगाह सेवास्तोपोल के पतन की बात झूठी अफवाह साबित हुई, वैसे ही दिल्ली के पतन की खबर है। दिल्ली की किलेबन्दी वैसी कमजोर नही है जैसी पहले बतायी गयी थी, न वैसी मजबूत है जितनी अब बतायी जा रही है। इसके बाद मार्क्स ने विस्तार से किलेबन्दी का ब्यौरा दिया और बताया कि दिल्ली के सामने जितनी ब्रिटिश फौज अब है, उतनी २६ मई को होती तो दिल्ली

का पतन कभी का हो गया होता। २७ मई तक दिल्ली में केवल चार-पाँच हजार भारतीय सैनिक ही थे। इतने आदमी सात मील के घेरेवाली दीवार की रक्षा न कर सकते थे। दिल्ली से मेरठ केवल ४० मील दूर है, १८५३ से वह तोपखाने का सदर मुकाम रहा है। यह तोपखाना दिल्ली क्यों नहीं पहुँचा, यह रहस्य है। अंग्रेजों ने जितनी देर की, उससे विद्रोहियों को अवसर मिला कि नगर की रक्षा के लिए वे काफी सैनिक बटोर लें। दिल्ली में कई सप्ताह तक वे बने रहे, उन्होंने अंग्रेजों को उस पर अधिकार न करने दिया, शहर से निकलकर बार-बार उन पर हमला किया। फिर आये दिन गमूरी फौज मे नये नये विद्रोहों की खबरें आती रहीं, इससे सिपाहियों का मनोबल ऊँचा हुआ। हमारा अनुमान है कि यदि अगली डाक से दिल्ली के पतन की खबर नहीं आती तो कुछ महीने तक अंग्रेजों को अपनी सैनिक कार्रवाई बन्द करनी होगी, बरसात और हैजे के कारण कार्रवाई रोकनी होगी। अंग्रेज सेनापति बरसात से पहले दिल्ली पर सीधा हमला करते हैं या नहीं, इस पर सबकुछ निर्भर है। यदि वह पीछे हटे तो विद्रोहियों का मनोबल और भी ऊँचा होगा और तब सम्भव है कि बम्बई और मद्रास की फौजें भी खुलकर इनका साथ दें।

१४ अगस्त १८५७ को मार्क्स ने फिर इस विषय की चर्चा करते हुए लिखा कि दिल्ली के पतन की खबर बिलकुल धोखा थी। लेकिन जॉन बुल इतनी आसानी से झूठी खबरों पर विश्वास कर लेते हैं कि उनके मन्त्री, उनके सटोरिये और उनके अखबार उन्हें समझाने लगे कि अंग्रेज सेनापति की रक्षात्मक स्थिति का मतलब यह था कि दुश्मन का सफाया हो गया है। यह भ्रम ऐसा जोर पकड़ता गया कि जनरल इवान्स ने हाउस आफ कामन्स में घोषणा कर दी कि दिल्ली के पतन की खबर पर उन्हें विश्वास है और इस पर लोगों ने खूब तालियां बजायीं। किन्तु इसके बाद ही जो खबरें आयीं, उनसे सब भ्रम दूर हो गये। अंग्रेज रक्षात्मक स्थिति में बने हुए थे। शहर से बाहर निकलकर विद्रोही उन पर बार-बार हमला कर रहे थे। "हमारी राय है कि अगली डाक से यह खबर आयेगी कि अंग्रेजी सेना पीछे हट रही है या कम से कम ऐसे तथ्य सामने आयेंगे जिनसे विदित होगा कि वह कुछ दिन मे पीछे हटेगी।" (पृ. ६४) दिल्ली के चारों तरफ जैसी दीवाल है, उससे यह विश्वास नहीं होता कि अच्छी तरह उसकी रक्षा की जा सकती है। जनरल बर्नार्ड यूरोपियन ढंग से किलेबन्दी और घेराव करने तथा तोपों से गोले बरसाकर शहर जीतने की बात सोचते हैं। जैसे नेपियर अचानक तेज हमला करके एशियाई लोगों को स्तम्भित कर देते थे, वैसा करने की प्रवृत्ति इनमें नहीं है। विद्रोहियों को बराबर नयी कुमक मिलती जा रही है। घेरा डालनेवालों और घेरे जानेवालों की संख्या में भेद बढ़ता जायेगा। बरसात आने पर संचार-साधनों की रक्षा करना कठिन होगा। पीछे हटने के लिए मार्ग सुरक्षित रहे, इस पर सेनापति का ध्यान मुख्य रूप से होगा। लन्दन के अखबार अन्धे होकर मूर्खता की बातें करते हैं। पामर्स्टन के पत्र 'मार्निंग पोस्ट' ने अपना सन्देह ठीक व्यक्त किया है कि अगली डाक से भी शायद दिल्ली के पतन की खबर न आयेगी।

अंग्रेजों की सैनिक नीति की आलोचना करते हुए मार्क्स ने लिखा: अपनी

कमजोरी, ढुलमुलपन और गलतियों से अंग्रेज सेनापतियों ने दिल्ली को भारतीय विद्रोह का राजनीतिक और सैनिक केन्द्र बन जाने का गौरव प्रदान किया है। यदि अंग्रेजी फौज काफी दिन घेरा डाले रहने के बाद पीछे हटती है या रक्षात्मक स्थिति में ही बनी रहती है, तो इसे उसकी सीधी हार माना जायेगा और इससे चारों तरफ विद्रोह फैल जायेगा। इसके अलावा ब्रिटिश फौज में बहुत से लोग मौत के शिकार होंगे। अभी तक बदला लेने की भावना के कारण और विद्रोहियों के हमला करने पर रक्षा में लगे रहने के कारण वे बचे हुए हैं। हिन्दुओं को विद्रोह से मतलब नहीं है, उन्हें अंग्रेजी राज से सहानुभूति है, ऐसी बातें बेसर-पैर की हैं। (पृ. ६५)। राजा लोग मौके की तलाश में हैं। बंगाल के समूचे महाप्रान्त में अराजकता है।

२१ अगस्त १८५७ को मार्क्स ने लिखा कि दिल्ली पर तुरंत अधिकार कर लेने की सारी आशाएँ व्यर्थ हुई। अब लोग यह समझने लगे हैं कि इंगलैण्ड से सहायता पहुँचने तक अंग्रेज अपनी जगह बने रहें तो बड़ी बात है। १ सितम्बर १८५७ को मार्क्स ने लिखा : १५ जुलाई तक अंग्रेज दिल्ली में घुस न पाये थे। जोर की बरसात शुरू हो गयी थी, उनके खेमे में हैजा फैल गया था। ऐसा लगता था कि आगे-पीछे अंग्रेजों को घेरा खत्म करके पीछे हटना ही पड़ेगा। अंग्रेज अखबार यह बताना चाहते हैं कि महामारी से केवल अंग्रेज सेनापति मरा है। उनके जिन सैनिकों को अच्छा भोजन भी नहीं मिलता और काम बेहद करना पड़ता है, उन पर बीमारी का असर न होगा। एक अंग्रेज अफसर ने १४ जुलाई को लिखा था : दिल्ली पर कब्जा करने के लिए हम कुछ नहीं कर रहे। दुश्मन हमला करता है तो हम केवल अपना बचाव करते रहते हैं। यहाँ पाँच गोरी पलटनों की टुकड़ियाँ हैं लेकिन कारगर हमले के लिए हमारे पास कुल २ हजार गोरे हैं। जलन्धर, अम्बाला, लुधियाना, मेरठ आदि की रक्षा के लिए हर पलटन में कुछ टुकड़ियाँ पीछे छोड़ दी गयी हैं। तोपखाने के मामले में दुश्मन हमसे बहुत बढ़-चढ़ कर है।

अफसर का कथन उद्धृत करने के बाद मार्क्स ने लिखा : इससे पता चलता है कि जो सेना पंजाब से आ रही थी, उसने जलन्धर से मेरठ तक यातायात मार्ग को विद्रोह की हालत में पाया था। सैनिकों की संख्या कम होती गयी, इसलिए दिल्ली पहुँचने पर पंजाब की पलटनों में सैनिकों की पूरी संख्या न थी। लेकिन गोरी फौज में दो हजार आदमी कैसे रह गये? 'टाइम्स' में छपे विवरण से ऐसा लगता है कि ब्रिटिश फौज के साथ जो देशी सहायक थे, वे भरोसे के नहीं थे। अंग्रेजों को सामने वाले दुश्मन से ही नहीं निपटना होता, जो दुश्मन उनके खेमे में है, उससे भी निपटना होता है। १८ सितम्बर १८५७ को मार्क्स ने लिखा कि भारत से जो खबरें आ रही हैं, वे अंग्रेजों के लिए बहुत दुखदायी हैं। दिल्ली से खबर मिली है कि हैजे की बीमारी के कारण अंग्रेजी फौज ने दिल्ली का घेरा उठा लिया है और उसने आगरे को अपना सदर मुकाम बनाया है। अभी तक लन्दन के किसी अखबार में यह खबर नहीं छपी। हो सकता है कि यह समाचार सही वक्त में पहले यहाँ पहुँचा हो। भारत से जो डाक आती है, उससे यह स्पष्ट है कि जुलाई में विद्रोहियों ने शहर से निकलकर अंग्रेजी फौज पर जो हमले किये, उनसे उसे

भारी नुकसान हुआ। इस अवसर पर वे पहले से भी ज्यादा जोश से लड़े और अच्छी तोपें होने से उन्हे सहायता मिली। एक ब्रिटिश अफसर ने लिखा: १८ बार विद्रोहियों ने हमला किया; हमारे एक-तिहाई आदमी घायल हुए या मारे गये। इसलिए आगरे की ओर अंग्रेजी फौज के हटने की जो खबर आयी है, उससे मानना होगा कि मुगल बादशाह की राजधानी पर कब्जा करने का विचार अंग्रेज फौज ने छोड दिया। यह खबर यदि अभी सही न होगी तो कुछ दिन मे हो जायेगी। २१ सितम्बर को मार्क्स ने लिखा: भारत से जो समाचार आये हैं, उनमें दो बातें मुख्य है। हैवलॉक लखनऊ की सहायता के लिए नहीं पहुँच पाया और अंग्रेज अब भी दिल्ली का घेरा डाले है। नैपोलियन से लड़ाई करते हुए अंग्रेजो ने १८०६ मे शेल्द नदी के मुहाने तक जहाजी बेड़ा भेजा। वहाँ एक द्वीप पर उन्होंने कब्जा तो कर लिया लेकिन १० हजार आदमी गँवाकर पीछे हटना पड़ा। ये लोग भूख और बीमारी के शिकार हुए। नैपोलियन ने फौज से कहा: अंग्रेजों पर हमला मत करना, बीमारी से वे वैसे ही मर जायेंगे। मुगल बादशाह की स्थिति नैपोलियन से भी अच्छी है। बीमारी की मदद के लिए विद्रोही निकलकर हमले करते है, हमला करनेवालों की मदद बीमारी करती है। यदि दिल्ली का पतन तब तक नहीं होता जब तक अंग्रेज अपनी मौजूदा ताकत से हमला नही करते, तो दिल्ली की दीवारें तब तक खड़ी रहेगी जब तक वे अपने आप न गिरेंगी।

अंग्रेज सेनापति ने सबसे बडी गलती यह की थी कि मेरठ के विद्रोहियों को दिल्ली पहुँच जाने दिया था। भारतीय सरकार ने कुछ दिन पहले ही दिल्ली की किलेबन्दी दुरुस्त की थी। इसलिए उस पर कब्जा करने के लिए १५ से २० हजार तक फौज चाहिए थी। जहाँ इतनी फौज दरकार हो, वहाँ ६-७ हजार फौज से घेरा डालना मूर्खता की बात थी। अंग्रेज यह भी जानते थे कि घेरा ज्यादा दिन तक डाले रहे तो उस मौसम मे उनका दुश्मन उन पर बार-बार हमले करेगा। यह शत्रु अदृश्य था। वे उसका कुछ बिगाड़ न सकते थे। वह इनकी पाँति मे विनाश के बीज बो जाता था। इसलिए दिल्ली के घेरे की सफलता की सम्भावना बहुत कम थी। युद्ध का उद्देश्य है भारत में अंग्रेजी राज कायम रखना। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए दिल्ली का रणनीतिक महत्व कुछ भी नही है। ऐतिहासिक परम्परा के कारण देशी लोगों के मन मे उसका महत्व बहुत था। देशी सैनिक वहाँ एकत्र होने लगे। देशी लोगों के पूर्वाग्रहों को अलग रखकर अंग्रेज दिल्ली को पड़ी रहने देते तो उसका कल्पित महत्व खत्म हो जाता। इसके बदले उन्होने तम्बू, कनात गाडकर उसका घेरा डाला, उससे अपना सिर टकराया, अपनी मुख्य ताकत वहाँ केन्द्रित की, दुनिया का ध्यान दिल्ली की ओर आकर्षित किया, पीछे हटने का जो अवसर था, उससे हाथ धोये, अथवा यों कहें कि पीछे हटने की क्रिया को उन्होने पूरी पराजय का रूप दे दिया। इस प्रकार वे विद्रोहियो के हाथ मे खेले। विद्रोहियों के अभियान का लक्ष्य था दिल्ली। अंग्रेजों के लिए जरूरी था कि लड़ने लायक फौज संगठित करें, फौजी छावनियो के बीच यातायात मार्ग खुले रखें, जहाँ विद्रोह की चिनगारियाँ फैलें, उन्हे बुझा दें, अपने शत्रु को कुछ स्थानों मे केन्द्रित कर दें और दिल्ली को अलगाव की हालत में छोड़ दें। यह न करके उन्होने अपनी

एक मात्र फौज को दिल्ली में बाँधकर रख दिया, खुला मैदान बागियों के लिए छोड़ दिया, अंग्रेजों की अपनी छावनियाँ दूर-दूर अलग-थलग स्थानों में रह गयीं और भारी संख्यावाले शत्रुदल ने उनकी नाकेबन्दी कर ली। अपनी गतिशील सेना को दिल्ली के सामने जमा करके अंग्रेजों ने विद्रोहियों की नाकेबन्दी नहीं की, उन्होंने अपनी ही टुकड़ियों को जड़ बना दिया। इस बुनियादी गलती के अलावा अंग्रेजों ने जिस तरह सैनिक कार्यवाही चलायी, उस तरह की मूर्खता का जवाब युद्ध के इतिहास में नहीं है। उनकी टुकड़ियाँ स्वतन्त्र रूप से, एक दूसरे का ख्याल किये बिना काम करती थीं। प्रधान नेतृत्व का एकदम अभाव था। वे किसी एक फौज के दस्तों की तरह काम न कर रही थीं, ऐसा लगता था कि वे भिन्न जातियों की फौजें हैं और ये जातियाँ परस्पर विरोधी भी हैं। इसके बाद मार्क्स ने कानपुर और लखनऊ में अंग्रेजी नेतृत्व की कमजोरियाँ बतायीं। मार्क्स की यह आलोचना उन लोगों के लिए शिक्षाप्रद है जो अंग्रेजी नेतृत्व को अत्यन्त कुशल और अजेय मानते थे, और नेतृत्व की सारी कमजोरियाँ जिन्हें भारतीय सेना में दिखायी देती थीं। भारतीय सेना के नेता दिल्ली का राजनीतिक महत्त्व पहचानते थे। इसके साथ ही वे जानते थे कि दिल्ली पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाय तो इससे लड़ाई खत्म होनेवाली नहीं है। शीघ्र ही अंग्रेजों को जब अवध की लड़ाई में दिल्ली की अपेक्षा कहीं ज्यादा बड़ी फौज जुटानी पड़ी, तब यह साबित हो गया कि दिल्ली विद्रोह का न तो एक मात्र केन्द्र थी और न प्रधान केन्द्र थी। यह प्रचार अंग्रेजों ने किया था कि दिल्ली पर अधिकार होते ही लड़ाई खत्म हो जायेगी। पंजाब में शान्ति थी और पंजाब के सामन्त उनकी सहायता कर रहे थे। इसलिए वे जानते थे कि पंजाब की सहायता से दिल्ली पर आगे-पीछे अधिकार हो ही जायेगा।

६ अक्तूबर १८५७ के लेख में मार्क्स ने ब्रिटिश सैनिक-शक्ति का ब्यौरा देते हुए लिखा : मान लीजिए, ३ हजार आदमियों की कुमक पहुँच जाती है, तब भी फौज में कुल दस हजार आदमी होंगे। इनमें एक-तिहाई की वफादारी सन्दिग्ध है। जिस शहर की किलेबन्दी मजबूत है, जिसका विस्तार ७ मील से अधिक है, उसका घेरा दस हजार आदमी डालेंगे, यह हास्यास्पद है। इसके अलावा अंग्रेज पहले जमुना नदी की धारा बदल दें, उसके बाद दिल्ली को घेरने की बात सोचें। यदि अंग्रेज दिल्ली में सवेरे प्रवेश करते है, तो विद्रोही शाम को दिल्ली से बाहर निकल सकते हैं। वे यमुना पार करके रुहेलखण्ड और अवध की तरफ जा सकते हैं, या जमुना के किनारे-किनारे मथुरा और आगरे की ओर चल सकते हैं। दिल्ली का घेरा ऐसा वर्ग है जिसकी एक रेखा घेरा डालनेवालों की पहुँच से बाहर है। घिरे हुए लोग उधर से पीछे हट सकते है, और उनकी संचार-व्यवस्था चालू है। यह समस्या अभी हल नहीं की गयी। एक अफसर का कहना है, सीधा हमला करके दिल्ली को जीतना मुश्किल है। शत्रु के पास ४० हजार आदमी है, वे हमाव तोपें हैं, पैदल फौज अच्छी तरह लड़ती है। आशा यह की जाती है कि लगातार गोलाबारी करके दीवाल तोड़ दी जायेगी और घुसने लायक जगह हो जायेगी। अफसर का कथन उद्धृत करने के बाद मार्क्स ने लिखा : दीवालों के पीछे मुसलमान जान की बाजी

लगाकर लड़ते हैं। यदि इस बात पर ध्यान दें तो यह एक बहुत बड़ा सवाल सामने आता है कि दीवाल के टूटने पर भीतर तो घुस जायेंगे लेकिन बाहर निकल भी पायेंगे या नहीं। अंग्रेजी फौज के लिए एक ही आशा है, विद्रोहियों में फूट हो जाये, उनकी युद्ध-सामग्री खत्म हो जाय, उनका मनोबल टूट जाये, स्वावलम्बन की भावना समाप्त हो जाय। किन्तु हमें कहना पड़ता है कि ३१ जुलाई से १२ अगस्त तक वे लगातार जिस तरह लड़ते रहे हैं, उससे ऐसी सम्भावना के लिए कोई आधार नहीं दिखायी देता।

अंग्रेजों के घेरा डालने में जो कमजोरी थी उसकी ओर मार्क्स ने यहाँ ध्यान आकर्षित किया था। अंग्रेज सवेरे घुसेंगे और विद्रोही शाम को बाहर निकल जायेंगे, मार्क्स की यह भविष्यवाणी पूरी तरह सही निकली। अंग्रेजों ने गोलाबारी करके दीवार तोड़ी, बारूद का कारखाना अंग्रेजों के भेदियों ने नष्ट कर दिया। उसके बाद ही दिल्ली का पतन हुआ। जो फौज दिल्ली की रक्षा कर रही थी, उसमें भगदड़ न शुरू हुई। व्यवस्थित ढंग से वह आगरा और अवध की ओर चली गयी। असली कमजोरी यह थी कि बादशाह बहादुरशाह के नजदीकी लोगों में अंग्रेजों के भेदिये मौजूद थे। भारतीय सेना के नेता इन्हें पूरी तरह निष्क्रिय नहीं बना पाये। किन्तु जब तक वे लड़े, वे वीरता से लड़े। मार्क्स उनके लगातार हमलों को ध्यान से देख रहे थे। इसलिए उन्होंने लिखा था कि उनके मनोबल टूटने की कोई सम्भावना नहीं है।

अंग्रेज दिल्ली क्यों न छोड़ना चाहते थे, इसके बारे में मार्क्स ने कलकत्ते से भेजा हुआ एक पत्र उद्धृत किया। उस पत्र में कहा गया था, कुछ हफ्ते पहले यह सवाल पैदा हुआ कि हमारी फौज दिल्ली से पीछे हटे या नहीं। आये दिन की लड़ाई से वह बहुत परेशान हो चुकी थी और ज्यादा थकान न बर्दाश्त कर सकती थी। सर जॉन लारेन्स ने इस इच्छा का विरोध डटकर किया। उन्होंने सेनानायकों को साफ बता दिया कि उनके पीछे हटते ही चारों तरफ विद्रोह फैल जायेगा और उनकी जान संकट में होगी। यह बात मान ली गयी और लारेन्स ने यथासम्भव सहायता भेजने का वादा किया। इसके बाद मार्क्स ने लिखा कि दिल्ली की छावनी में ब्रिटिश सैनिक बरसात के कारण हैजा फैलने से मारे जायेंगे। कोर्टलैण्ड की फौज के लिए कहा गया था कि वह हिसार पहुँच गयी है और दिल्ली की तरफ बढ़ रही है। उसके बारे में फिर कुछ खबर न मिली। ३० अक्तूबर को मार्क्स ने जो लेख लिखा, उसमें दिल्ली के पतन का समाचार था। इस समाचार पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा कि अभी बहुत कम ब्योरा मिला है। पतन के तीन कारण जान पड़ते हैं : विद्रोहियों में आपसी झगड़ा हुआ, दोनों तरफ की फौजों में संख्या का अनुपात बदल गया और ५ सितम्बर को घेरा डालनेवाली कुमक पहुँच गयी। मार्क्स ने हिसाब लगाया, निकलसन साढ़े सात हजार आदमियों की कुमक लेकर आ पहुँचा, कश्मीर के राजा ने तीन हजार फौज भेजी। इस प्रकार करीब ११ हजार फौज जमा हुई, उधर विद्रोहियों की फौज कम हो गयी थी। लगभग १७ हजार आदमी थे, ५ हजार घुड़सवार थे जो शहर के भीतर लड़ाई के काबिल नहीं थे। जैसे ही अंग्रेज भीतर घुसे, ये लोग बाहर

निकल गये। इस प्रकार विद्रोही फौज मे करीब ग्यारह-बारह हजार आदमी रह गये, यानी दोनों तरफ की फौज लगभग बराबर थी। अंग्रेजो ने सफलतापूर्वक गोलाबारी की। इससे उनका मनोबल ऊँचा हुआ। हमला करते समय वे अपनी इच्छानुसार विशेष स्थानो पर शक्ति केन्द्रित कर सकते थे। उधर विद्रोही फौज को हर खतरे की जगह भेजकर उसे बिखरा देना होता था। मार्क्स का विचार था कि दस दिन तक लगातार हमले करते रहने से विद्रोही फौजो की सख्या मे कमी न हुई थी, आपसी झगडो के कारण पलटने की-पलटनें शहर छोड़कर चली गयी थी और इससे संख्या मे कमी हुई थी। सिपाहियो की लूट-मार मे दिल्ली के व्यापारी और बादशाह परेशान थे। हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों मे झगडे थे, जो सैनिक पहले मे आये थे और जो बाद मे आये थे, उनके आपसी झगडे थे। उनका सगठन वैसे ही कमजोर था, इसलिए पराजय निश्चित हो गयी। अंग्रेजो को ऐसी फ़ौज का सामना करना था जो सख्या मे उनसे कुछ ही अधिक थी। उसके नेतृत्व मे एकता नही थी। फिर भी ८४ घण्टों की गोलाबारी के बाद वह सेना छह दिन तक तोपो का मुकाबला करती रही और शहर की गलियो में लडती रही। उसके बाद शान्तिपूर्वक उसने नावो के पुल से जमुना पार की। कहना पडेगा कि विद्रोहियो ने अपनी मुख्य फौज के साथ एक खराब परिस्थिति से अपने को निकाल लिया। (पृष्ठ ११२)।

कोई फौज पराजित होने पर जब पीछे हटती है तब उसके अनुशासन की सही परख हो जाती है। जहाँ नेतृत्व मे एका न होगा, सैनिको और उनके नायको के बीच भाईचारा न होगा, जहाँ सैनिक लूटमार के आदी होगे, वहाँ सेना अनुशासित ढंग से पीछे नही हट सकती। अंग्रेजों का बस चलता तो वे एक हिन्दुस्तानी सैनिक को दिल्ली के बाहर न जाने देते। भारतीय सेना धुआँधार गोलाबारी का मुकाबला करके अनुशासित ढग से दिल्ली के बाहर निकल गयी, यह काम अंग्रेजों के इस प्रचार का खण्डन करनेवाला था कि सिपाही आपस मे लडते है, जनता को लूटते है और उनकी हिम्मत पस्त हो चुकी है। यही सिपाही अभी अवध में अंग्रेजो का मुकाबला करनेवाले थे, और अवध को फिर से जीतने के लिए अंग्रेजो को इतनी फौज बटोरनी पडी जितनी उन्होने एशिया मे किसी भी लडाई के लिए अब तक न बटोरी थी। मार्क्स को अंग्रेजों के माध्यम से उस समय तक जो सूचनाएँ मिली थी, उन्ही के आधार पर उन्होंने अपनी राय कायम की थी।

अंग्रेज इस बात की डींग हांक रहे थे कि उन्होंने दिल्ली की लडाई मे जबर्दस्त वीरता का परिचय दिया है। एंगेल्स को उनका यह डींग हाँकना बहुत ही भद्दा लगा। उन्होने लिखा कि अंग्रेज दूसरों की बहादुरी से अपना व्यापार चलाते है। ब्रिटिश परिवारों के मुखिया शान्तिपूर्वक घर में अपने दिन बिताते हैं। युद्ध में गौरव मिलने की जरा भी आशंका हो तो उससे वे कोसो दूर रहते है। दिल्ली की तुलना सेवास्तोपोल के घेरे से की जाती है। हिन्दुस्तानी सिपाही रूसी नहीं थे। उन्होने बाहर निकलकर जो हमले किये, उनमें किसी की तुलना इंकरमन की लड़ाई से नही की जा सकती। सिपाही वीरता से लड़े, व्यक्तिगत रूप से; कम्पनी

(फौजी टुकडी) के रूप मे वे अक्सर वीरता से लडे। किन्तु उनमें नेतृत्व का अभाव था, ब्रिगेडों और डिवीजनों के नेतृत्व का ही नही, बटालियनों के नेतृत्व का भी अभाव था। उनका आन्तरिक गठन कम्पनी के दायरे तक सीमित था। उनके पास उस विज्ञान की कमी थी जिसके बिना आजकल कोई भी सेना असहाय हो जाती है, और किसी भी नगर की रक्षा करना बेकार का प्रयत्न हो जाता है। (पृष्ठ ११७)। इसी लेख के अन्त में एंगेल्स ने लिखा : जवाबी हमले के लिए जो कोशिश की गयी, काबुल दरवाजे पर जो अंग्रेजी फौज के एक बाज़ू को दबाने की कोशिश थी, अंग्रेज जहाँ बढ़ रहे थे, उसकी काट करते हुए सिपाही जहाँ बढ़े, जहाँ उन्होंने राइफल चलानेवालों के लिए गड्ढे खोदे थे, यह सब देखकर ऐसा लगता है कि वैज्ञानिक युद्ध कौशल की कुछ धारणाएँ सिपाहियों तक पहुँच गयी थीं। किन्तु या तो ये धारणाएँ अभी काफी स्पष्ट न थीं या इतनी शक्तिशाली न थीं कि कारगर ढंग से अमल में लायी जाती। वे हिन्दुस्तानियों के दिमाग की उपज थीं या जो थोड़े से यूरोपियन उनके साथ थे, उनके दिमाग की उपज थीं, यह तय करना कठिन है। एक चीज पक्की है कि ये कोशिशें पूरी तरह दुरुस्त न होने पर भी अपनी रूपरेखा में सेवास्तोपोल की सक्रिय सुरक्षा से मिलती-जुलती थीं। वे जिस तरह अमल में लायी गयीं, उनसे ऐसा लगता है कि सिपाहियों के लिए किसी यूरोपियन अफसर ने सही योजना बनायी थी किन्तु पूरी बात सिपाहियों की समझ में न आयी थी। यह भी हो सकता है कि संगठन और नेतृत्व की कमी के कारण व्यावहारिक योजनाएँ अमल में बेकार साबित हुईं। (पृष्ठ १२३)।

एंगेल्स ने सेवास्तोपोल के जिस घेरे का हवाला दिया है, वह क्राइमिया की प्रसिद्ध लड़ाई मे घटित हुआ था जब रूसियों ने अंग्रेज़ों के दाँत खट्टे कर दिये थे। उस लडाई मे अज़ीमुल्ला मौजूद थे और वह रूसी तोपखाने के कौशल से बहुत प्रभावित हुए थे। यह सम्भव है कि दिल्ली की सुरक्षा-योजना में उनका भी हाथ रहा हो। भारतीय सेनापति बख्तखाँ स्वयं तोपखाने के बड़े अफ़सर थे और तोपों के प्रयोग से भली-भाँति परिचित थे। इसके अलावा कुछ गोरे अफ़सर भारतीय सेना का साथ दे रहे थे। सम्भवत: ये अफ़सर आइरिश थे। जो भी हो, वैज्ञानिक युद्ध-कौशल का बिलकुल अभाव रहा हो, ऐसी बात नहीं थी। एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि देशी सेना की अस्त्र सज्जा कमजोर थी और उसका बारूद का कारखाना नष्ट हो गया था। जहाँ तक हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों की बात है, अंग्रेजों ने इन्हें भड़काने मे कुछ उठा न रखा था। किन्तु इस प्रयत्न में वे पूरी तरह असफल हुए थे।

स्वयं अंग्रेज़ों मे एकताबद्ध नेतृत्व की कमी थी। मार्क्स ने २६ सितम्बर १८५७ को जो निबन्ध लिखा था, उसमें उन्होंने कहा था कि कानपुर और लखनऊ में छोटी-छोटी सेनाएँ अलग-अलग नेतृत्व मे काम कर रही है, दोनों के बीच ४० मील का फासला है किन्तु दोनों की कार्यवाही मे कोई तालमेल नहीं है मानो वे उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों मे जमी हो। मार्क्स का कहना था, रणनीति के साधारण नियमों के अनुसार होना यह चाहिए था कि कानपुर-स्थित सेनानायक

व्हीलर को अधिकार होना कि वह अवध के चीफ कमिश्नर लारेन्स को उसकी सेना सहित कानपुर वापस बुला ले। कुछ समय के लिए लखनऊ से हटकर वह कानपुर की स्थिति को मजबूत करता। इस तरह दोनों जगह की सेनाएं बच जाती, बाद को हैवलॉक की सेना के आ जाने पर ऐसी फौज तैयार हो जाती जो अवध को काबू मे रखती और आगरे को मुक्त कर देती। दोनों जगह स्वतन्त्र कार्यवाही का परिणाम यह हुआ कि कानपुर के सैनिक मार डाले गये और लखनऊ के किले के साथ वहाँ की टुकडी का पतन भी निश्चित है। (पृ. १०३)। हैवलॉक को कानपुर लौट जाना पडा है, नेपाली सेना से सहायता मिलने की सम्भावना नहीं है, कुछ दिन मे खबर मिलेगी कि अंग्रेज़ो को भूखा मारकर विद्रोहियो ने उस पर कब्ज़ा कर लिया और उसके बहादुर रक्षक स्त्रियों और बच्चो समेत मारे गये। (पृष्ठ १०४)। मार्क्स ने जिसे किला कहा है वह रेज़ीडेंसी थी और उसकी मजबूत मोर्चेबन्दी की गयी थी। अंग्रेज़ उसके भीतर जमे रहे। मार्क्स ने स्त्रियो और बच्चो के कत्लेआम के जो समाचार सुने थे, उनकी झलक उनके विवरण मे है।

(ख) अवध की लड़ाई

एंगेल्स ने अवध में अंग्रेज़ो के अभियान का विवेचन करते हुए लिखा कि इतने बड़े पैमाने पर उन्होंने भारत में किसी अभियान की तैयारी न की थी। उनकी सबसे बडी मुहीम अफ़गानिस्तान वाली थी। उसमे २० हज़ार से ज्यादा फौज किसी भी समय एक साथ इस्तेमाल नहीं की गयी और इसमे ज्यादा संख्या देशी सैनिकों की थी। अवध की मुहीम मे गोरों की ही संख्या इतनी है जितनी अफ़गानिस्तान जानेवाली कुल फौज में भी नहीं थी। कैम्पबेल के पास ३० हज़ार आदमी थे। जंगबहादुर के नेतृत्व मे १० हज़ार गुरखा फौज आ मिली तो ४० हज़ार फौज हो गयी। कानपुर के दक्खिन मे ह्यू रोज़ मज़बूत सेना के साथ सागर से कालपी की ओर बढ रहा था। अवध के उत्तरपश्चिम मे चेम्बरलेन गंगा पार करके रुहेलखण्ड पहुँच गया था जहाँ विद्रोही सेना जमा हो रही थी। अवध के विरुद्ध जो फौज इस्तेमाल की गयी, उसमें उन पलटनों को भी गिनना चाहिए जो अवध के चारों तरफ नगरों मे विद्यमान थी। इस प्रकार कुल फौज मे ७० से ८० हज़ार तक सैनिक हुए। इनमे सरकारी बयानो के अनुसार कम-से कम २८ हज़ार ब्रिटिश सैनिक हैं। इनमें सर जॉन लारेंस का वह दल नहीं है जो दिल्ली में मौजूद है और जो इस तरह अवध की ब्रिटिश फौज के एक बाजू की रक्षा किये हुए है। उसमें मेरठ और दिल्ली के साढ़े पाँच हज़ार गोरे हैं और २० से ३० हज़ार तक पंजाबी है। 'तुच्छ शत्रु' के विरुद्ध इतनी बड़ी फौज जमा करने का कारण बताते हुए एंगेल्स ने लिखा कि कुछ तो कैम्पबेल ने अपनी मोर्चाबन्दी के लिए ऐसा किया और कुछ इसलिए भी कि विद्रोह को हिन्दुस्तान के विभिन्न हिस्सों मे दबाना है, अतः कार्यवाही के क्षेत्र में स्वभावतः फौज एकत्र की गयी है। (पृष्ठ १३८)। यहाँ एंगेल्स ने अवध और हिन्दुस्तान का सम्बन्ध साफ़-साफ़ दिखाया है। विद्रोह कुछ नगरो तक सीमित नहीं है, वह हिन्दुस्तान के विभिन्न हिस्सों मे फैला हुआ

सुनने मे आया है कॉलिन कैम्पबेल के पास डेढ़ सौ अफसरों ने अपना इस्तीफा भेज दिया है। दूसरी जगह इन्हें बर्खास्त करके सख्त सजा दी जाती लेकिन ब्रिटिश फौज मे यदि कोई अफसर जेन्टिलमैन होने के नाते दौलत बटोर ले तो ऐसा काम उचित माना जाता है। साधारण सैनिकों ने एक जगह लूटपाट की तब दूसरी जगह पहुँचकर लूटने की इच्छा पैदा हुई। लूट के लिए देशी खजाना न मिले तो ब्रिटिश सरकार का खजाना क्यों न लूटा जाय ? एक जगह खजाने से कुछ रुपये गायब थे। रसेल के अनुसार अंग्रेज अधिकारी गोरो के बदले देशी सैनिकों को खजाने के साथ भेजना ज्यादा पसन्द करते हैं।

अंग्रेज एशियाइयो को बेईमान और गोरी जातियो को, खासतौर से स्वयं को, बहुत ईमानदार कहते थे। किन्तु लूटमार में वे अपने देशी सहयोगियों से हमेशा आगे रहते थे। उनका दावा था कि उन्होने भारत को ठगों और डाकुओ के आतंक से मुक्त कर दिया था। जरूर मुक्त कर दिया था जिससे कि अंग्रेजों की डकैती के इजारे मे देशी डाकू हिस्सा न बँटायें। १८५७ तक अंग्रेजो की लूट-मार मे बडा हिस्सा गैरफौजियो का था। दिल्ली और लखनऊ को लूटकर फौजियो ने हिसाब बराबर कर लिया। अंग्रेजी राज का अर्थ है योजनाबद्ध सुसंगठित लूट; उस राज की सेना से लूट के अलावा और किस बात की आशा की जा सकती है ? रसेल का हवाला देने के बाद एंगेल्स ने लिखा : बहुत खूब; ब्रिटिश सैनिक तो अनुपम योद्धा है लेकिन उसके मुकाबले हिन्दू या सिख सिपाही अधिक अनुशासित है, कम लूटमार करता है, कम लोभी है। यहाँ तक तो अलग-थलग अंग्रेजों के कारनामों की बात हुई। अब देखें के ब्रिटिश फौज सामूहिक रूप में कैसे लूटती है। रसेल के अनुसार फौज ने इनाम के रूप मे इतनी दौलत जमा की है कि बेचने पर छह लाख पाउण्ड की रकम वसूल होगी। कहते है कि कानपुर शहर मे लखनऊ की लूट के माल का जखीरा है। सार्वजनिक इमारतो को जो नुकसान पहुँचाया गया है, निजी सम्पत्ति का जो विनाश हुआ है, जमीन और मकानों के मूल्य मे जो गिरावट आयी है, चारों तरफ जो बस्तियाँ उजाड दी गयी हैं, इस सबका हिसाब यदि लगाया जाय तो मालूम होगा कि अवध की राजधानी को ५०-६० लाख पाउण्ड की हानि सहनी पडी है।

लखनऊ को लूटनेवाले यही अंग्रेज हिन्दुस्तानी सिपाहियो के बारे में धुआँधार प्रचार कर रहे थे कि वे जनता को लूटते हैं। उनके कारनामों का विवरण पढ़कर एंगेल्स ने कहा, चंगेज खाँ और तैमूर की फौजें टिड्डीदल की तरह जिस शहर पर उतरती थी, वहाँ की हर चीज का सफाया कर देती थी। इन ईसाई, सभ्य, भद्र और साहसी ब्रिटिश सैनिको के अभियान के मुकाबले मे चंगेज और तैमूर की फौजो का आना किसी देश के लिए वरदान साबित हुआ होगा। उनकी फौजें आयी और लूटमार के बाद चली गयी। लेकिन अंग्रेज तो सब काम कायदे से करते हैं। वे अपने साथ इनामी लूट का हिसाब रखनेवाले कारिन्दे लेकर चलते हैं। उन्होने लूट को व्यवस्थित रूप दिया है। लूट में कितना माल बरामद हुआ, इसका हिसाब रखते हैं, उसे नीलाम करते हैं, और इस बात की चौकसी रखते हैं कि कोई अंग्रेज बहादुर इनाम से वंचित न रह जाय। (पृ. १९६)।

(ग) विद्रोह का प्रसार

१८५७ की लडाई का एक पक्ष वह है जिसका सम्बन्ध कुछ खास स्थानों पर जमकर लड़ने से था। दिल्ली और लखनऊ की लडाइयाँ इसी तरह की थीं। दूसरा पक्ष वह था जिसका सम्बन्ध छापेमार लडाइयों से था। ८ मई १८५८ को अपने निबन्ध में एंगेल्स ने लिखा था, हमें सूचना मिली है कि विद्रोहियों के बड़े-बडे दस्ते जहाँ-तहाँ बिखर गये हैं। ब्रिटिश अफसरों में यह धारणा जोर पकडती जा रही है कि अब छापेमार लड़ाई शुरू होगी। अब तक जमकर जो लडाइयाँ हुई हैं, शहरों के जो घेरे डाले गये है, उनकी तुलना मे छापेमार युद्ध ज्यादा विनाशकारी और परेशान करनेवाला होगा। इसी मई महीने के अन्त में एंगेल्स ने लिखा, मालूम होता है कि विभिन्न दिशाओं मे छापेमार लड़ाई फैल रही है। ब्रिटिश फौज उत्तर की तरफ पहुँच रही है, इस बीच विद्रोही सैनिक गंगा पार करके दोआब पहुँच रहे है, कलकत्ते की संचार-व्यवस्था भंग कर रहे हैं। चारों तरफ बर्बादी ढाकर वे किसानों को बाध्य कर रहे हैं कि वे लगान न दें या कम से कम लगान न देने का बहाना उन्हें मिल जाय। बरेली पर कब्जा कर लेने के बाद भी अंग्रेजो की परेशानी कम न होगी बल्कि और बढ़ेगी। सिपाहियों का लाभ इस तरह की अनियमित लड़ाई चलाने में है। अंग्रेज लडने मे सिपाहियों को मात कर सकते है, तो सिपाही मार्च करने मे अंग्रेजों को मात कर सकते है। कोई अंग्रेज टुकड़ी दिन में बीस मील नही चल सकती; सिपाहियों की टुकडी चालीस मील चल सकती है, और भारी दबाव हो तो साठ मील तक का फासला तय कर सकती है। देशी फौज का विशेष मूल्य यही मार्च करने की तेज़ी है। इसके अलावा वहाँ के मौसम का सामना करने की ताकत उनमे है और उनके खाने-पीने का प्रबन्ध बहुत कुछ आसानी से हो जाता है। इसीलिए भारत में जो युद्ध होते हैं, उनमे इन सिपाहियो के बिना काम नही चलता। अंग्रेज सैनिक कूच करते हैं, ख़ासतौर से गर्मियों में, तो उनके खाने-पीने वगैरह पर भारी खर्च आता है। अभी भी आदमियों की कमी उन्हें खलने लगी है। (पृ. १६२-१६३)।

विद्रोही सैनिकों को कितना जनसमर्थन प्राप्त था, इसकी झलक एंगेल्स के अवध सम्बन्धी विवेचन मे मिलती है। कैम्पबेल रुहेलखण्ड की सरहदों पर है, होप ग्राण्ट अपनी फौज अवध के दक्खिन मे आगे ले जाता है फिर वापस ले आता है; हिन्दुस्तान की गर्मी मे थककर उसके अपने आदमियों का नुकसान हो, इसके अलावा और कोई नतीजा नही निकला। विद्रोही बहुत ही तेज़ निकले। जिस जगह वह विद्रोहियों को खोजता था, उस जगह को छोडकर वे सब कही थे। जब वह सोचता था कि सामने होगे, तब वे कभी के उसके पीछे पहुँच चुके होते थे। गंगा के किनारे और पूरब मे दीनापुर, जगदीशपुर और बक्सर के बीच के इलाके में जनरल लुगार्ड भी इसी तरह छायाओ का पीछा करने में जुटा हुआ था। देशी लोग उसे बराबर चालू रखते थे। उसे जगदीशपुर से दूर खींच ले गये, फिर अचानक वहाँ की छावनी पर टूट पडे। तार मे खबर आयी है कि वह एक जगह जीता है। यह स्पष्ट है कि इन विद्रोहियों की कार्यनीति वही है जो अवध और

की संचार-व्यवस्था टूट गयी है। दीनापुर का मामला बहुत गम्भीर है। कलकत्ते से केवल २०० मील दूर बिहार के इलाके में विद्रोह की लपटें फैल गयीं हैं। आज खबर आयी है कि सन्थालों ने फिर विद्रोह किया है। ये लोग बड़े खूंख्वार होते हैं। डेढ लाख सन्थाल बंगाल के राज्य में फैल गये तो वहाँ की हालत बड़ी भयानक होगी।

'लण्डन डेली न्यूज' में छपे बम्बई के पत्र का यह हवाला देने के बाद मार्क्स ने लिखा, मध्य भारत के जो राजा अभी ढुलमुल हैं, वे अगर खुलकर अंग्रेजों के खिलाफ हो गये और बम्बई सेना के विद्रोह ने गम्भीर रूप धारण किया तो कश्मीर से कन्याकुमारी तक अंग्रेजों के गले काटने का काम भारी पैमाने पर होगा। आखिरी फैसला बम्बई सेना के हाथ में है। (पृ. १०८-१०)।

३० अक्तूबर १८५७ को मार्क्स ने लिखा: सुना जाता है कि विद्रोह कलकत्ते से उत्तर-पूर्व की ओर फैल रहा है, मध्यभारत होता हुआ उत्तर-पश्चिम तक फैल रहा है। असम के सीमान्त पर दो मजबूत पुरबिया पलटनों ने विद्रोह कर दिया है और खुलेआम कहा है कि भूतपूर्व राजा पुरन्दरसिंह को गद्दी पर बिठाया जाय। दीनापुर और रंगपुर के विद्रोही कुंवरसिंह के नेतृत्व में बांदा और नागौर होते हुए जबलपुर की तरफ जा रहे थे। रीवां के राजा की फौज ने उसे विवश किया कि वह उनका साथ दे। जबलपुर में ५२वीं बंगाल देशी पलटन ने छावनी से चलने पर एक ब्रिटिश अफ़सर को बन्धक बना लिया जिससे कि उनके जो साथी पीछे रह गये हैं, वे सुरक्षित रहें। ग्वालियर के विद्रोहियों के बारे में खबर है कि उन्होंने चम्बल नदी पार कर ली है और धौलपुर के पास पड़ाव डाले हैं। सबसे गम्भीर सूचना यह है कि जोधपुर की पलटन ने अर्वा के विद्रोही राजा के यहाँ सेवा-कार्य मंजूर किया है। जोधपुर के राजा ने उसके खिलाफ काफी सेना भेजी थी। किन्तु उसने कप्तान मेसन को मार डाला और तीन तोपें छीन ली। सिन्ध से गोरी फौजें बाहर चली गयी है। इसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर षड्यन्त्र रचा गया है। हैदराबाद, करांची और शिकारपुर समेत पाँच अलग-अलग स्थानों में विद्रोह हुआ है। पंजाब के भी लक्षण अच्छे नहीं है; मुल्तान और लाहौर के बीच की संचार-व्यवस्था आठ दिन तक भंग रही। (पृष्ठ ११४)।

८ मई १८५८ को एंगेल्स ने लिखा, सिक्ख लोग इस ढंग से बातें करने लगे हैं कि वह सब अंग्रेजो के लिए अच्छा न होगा। वे समझते है कि उनके बिना अंग्रेज भारत को काबू में नहीं रख सकते और यदि वे विद्रोह में शामिल हो जाते तो हिन्दुस्तान कम-से-कम कुछ समय के लिए अंग्रेजों के हाथ से अवश्य निकल जाता। वे इस तरह की बातें जोर से कहते है और जैसा कि उनका पूर्वी ढंग है, बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं। अंग्रेज उनके लिए कोई ऊँची नस्ल नहीं है जिससे वे हारे थे। पूर्वी जातियों के लिए इस तरह के विश्वास और विद्रोह के बीच एक ही कदम का फासला है। जरा-सी चिनगारी से आग भड़क सकती है। जैसे दिल्ली ले लेने से विद्रोह खत्म नहीं हुआ, वैसे ही लखनऊ ले लेने से वह खत्म नहीं होगा। सम्भव है, गर्मियों में ऐसी घटनाएँ हों कि अंग्रेजों को जीती हुई भूमि फिर जीतनी पड़े और शायद पंजाब को भी फिर से जीतना पड़े। कुछ भी हो, अंग्रेजों के सामने उन्हें छकाने-

यानी लम्बी छापेमार लड़ाई है। हिन्दुस्तान की धूप में यूरोपियन लोगों के लिए ऐसी लड़ाई कोई ईर्ष्या करने लायक चीज नहीं है। (पृष्ठ १४६)।

मई १८५८ के अन्त में छापेमार लड़ाई की सम्भावना की चर्चा करते हुए एंगेल्स ने लिखा, अंग्रेजों के यहाँ आदमियों की बहुत कमी है। हो सकता है कि भागते हुए विद्रोहियों का पीछा उन्हें भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक करना पड़े। यह काम गोरी फौजों के वश का नहीं है। बम्बई और मद्रास की देशी पलटनों में घुमन्तू विद्रोहियों का सम्पर्क हो गया तो नये विद्रोह फूट सकते हैं। अभी तक ये पलटनें वफादार रही हैं। नये विद्रोही दल मल न भी हों, तो भी मैदान में डेढ़ लाख हथियारबन्द आदमी हैं। जिस आबादी के पास हथियार नहीं हैं, उससे अंग्रेजों को न खबरें मिलती हैं, न मदद मिलती है। (पृष्ठ १६३)।

४ जून १८५८ को एंगेल्स ने लिखा, यह जानना बहुत जरूरी है कि विद्रोही यदि राजपूताना में लड़ने पहुँच जायें तो अंग्रेज क्या करेंगे। राजपूताना पूरी तरह शान्त नहीं है। कॉलिन कैम्पबेल को जगह-जगह छावनियों में सैनिक रखने होंगे। लखनऊ की लड़ाई के समय उनके पास जितनी फौज थी, वह अब आधी ही रह गयी है। लखनऊ और दिल्ली की तरह रुहेलखण्ड ले लेने से भी कोई फैसला न होगा। जमकर लड़ने की शक्ति विद्रोह ने अवश्य खो दी है लेकिन अपने मौजूदा बिखरे हुए रूप में वह कहीं ज्यादा खतरनाक है। अंग्रेजों को मजबूर होकर गर्मी में लम्बे मार्च करना पड़ता है और इससे उनकी फौज बर्बाद हो ी है। विद्रोह के नये केन्द्रों पर ध्यान दीजिए। ज्यादातर पुराने सिपाही रुहेलखण्ड में जमा हैं। घाघरा के उत्तर-पूर्व में अवधवासियों ने मोर्चा सँभाला है। बुन्देलखण्ड के विद्रोही इस समय काल्पी में इकट्ठा हो रहे हैं। अंग्रेजों ने भारत में इतनी बड़ी फौज किसी एक जगह पहले कभी इकट्ठा न की थी। वह फौज चारों तरफ बिखर गयी है और उसके सामने जितना काम है, वह उसे कर नहीं सकती। धूप और बरसात से फौज की तबाही भयानक होगी। यूरुप के लोग हिन्दुओं से नैतिक रूप में जितने भी श्रेष्ठ हों, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुओं की शारीरिक श्रेष्ठता अपने देश की धूप और बरसात सह लेने में है और हो सकता है कि इस कारण अंग्रेजी फौज का नाश हो। भारत जानेवाली फौज इस समय दिखायी नहीं देती। जुलाई-अगस्त से पहले बड़ी कुमक भेजने का विचार नहीं है। इसलिए अक्तूबर-नवम्बर तक कैंपबेल के पास केवल एक फौज होगी। उसी से विद्रोहियों का मुकाबला करना होगा और यह फौज लगातार घटती जा रही है। यदि इसी समय विद्रोही हिन्दू राजपूताना और महाराष्ट्र में बगावत फैलाने में सफल हो गये तो क्या होगा? ब्रिटिश फौज में अस्सी हजार सिक्ख हैं। उनका दावा है कि जीत उन्हीं के कारण हुई है। उनका मिजाज आजकल अंग्रेजों के माफिक नहीं है। अगर इन्होंने विद्रोह कर दिया तो क्या होगा? (पृ. १६७-१६८)।

इस श्रृंखला के अन्तिम लेख में १७ सितम्बर १८५८ को एंगेल्स ने लिखा, गर्मी और बरसात के कारण लड़ाई बन्द है। कॉलिन कैम्पबेल ने जोरदार कोशिश करके अवध और रुहेलखण्ड के महत्वपूर्ण स्थान ले लिये हैं। अवध का मानसिंह अंग्रेजों से मिल गया है। उसके भूतपूर्व देशी सहयोगियों ने उसकी नाकेबन्दी कर

की संचार-व्यवस्था टूट गयी है। दीनापुर का मामला बहुत गम्भीर है। कलकत्ते से केवल २०० मील दूर बिहार के इलाके मे विद्रोह की लपटें फैल गयी हैं। आज खबर आयी है कि सन्थालों ने फिर विद्रोह किया है। ये लोग बड़े खूंख्वार होते हैं। डेढ लाख सन्थाल बगाल के राज्य मे फैल गये तो वहाँ की हालत बड़ी भयानक होगी।

'लण्डन डेली न्यूज़' में छपे बम्बई के पत्र का यह हवाला देने के बाद मार्क्स ने लिखा, मध्य भारत के जो राजा अभी ढुलमुल है, वे अगर खुलकर अंग्रेजो के खिलाफ हो गये और बम्बई सेना के विद्रोह ने गम्भीर रूप धारण किया तो कश्मीर से कन्याकुमारी तक अंग्रेजों के गले काटने का काम भारी पैमाने पर होगा। आखिरी फैसला बम्बई सेना के हाथ मे है। (पृ. १०८-१०)।

३० अक्तूबर १८५७ को मार्क्स ने लिखा: सुना जाता है कि विद्रोह कलकत्ते से उत्तर-पूर्व की ओर फैल रहा है, मध्यभारत होता हुआ उत्तर-पश्चिम तक फैल रहा है। असम के सीमान्त पर दो मज़बूत पुरबिया पलटनों ने विद्रोह कर दिया है और खुलेआम कहा है कि भूतपूर्व राजा पुरन्दरसिंह को गद्दी पर बिठाया जाय। दीनापुर और रंगपुर के विद्रोही कुंवरसिंह के नेतृत्व मे बांदा और नागौर होते हुए जबलपुर की तरफ जा रहे थे। रीवां के राजा की फौज ने उसे विवश किया कि वह उनका साथ दे। जबलपुर मे ५२वी बंगाल देशी पलटन ने छावनी से चलने पर एक ब्रिटिश अफ़सर को बन्धक बना लिया जिससे कि उनके जो साथी पीछे रह गये है, वे सुरक्षित रहे। ग्वालियर के विद्रोहियों के बारे मे खबर है कि उन्होंने चम्बल नदी पार कर ली है और धौलपुर के पास पड़ाव डाले है। सबसे गम्भीर सूचना यह है कि जोधपुर की पलटन ने अर्वा के विद्रोही राजा के यहाँ सेवा-कार्य मजूर किया है। जोधपुर के राजा ने उसके खिलाफ काफी सेना भेजी थी। किन्तु उसने कप्तान मेसन को मार डाला और तीन तोपें छीन ली। सिन्ध से गोरी फौजें बाहर चली गयी है। इसके फलस्वरूप बड़े पैमाने पर षड्यन्त्र रचा गया है। हैदराबाद, करांची और शिकारपुर समेत पाँच अलग-अलग स्थानो मे विद्रोह हुआ है। पजाब के भी लक्षण अच्छे नही है; मुलतान और लाहौर के बीच की संचार-व्यवस्था आठ दिन तक भग रही। (पृष्ठ ११४)।

८ मई १८५८ को एंगेल्स ने लिखा, सिक्ख लोग इस ढंग से बातें करने लगे हैं कि वह सब अंग्रेज़ो के लिए अच्छा न होगा। वे समझते है कि उनके बिना अंग्रेज भारत को काबू मे नही रख सकते और यदि वे विद्रोह मे शामिल हो जाते, तो हिन्दुस्तान कम-से-कम कुछ समय के लिए अंग्रेजो के हाथ से अवश्य निकल जाता। वे इस तरह की बातें ज़ोर से कहते हैं और जैसा कि उनका पूर्वी ढंग है, बढ़ा-चढाकर कहते हैं। अंग्रेज उनके लिए कोई ऊँची नस्ल नही हैं जिससे वे हारे थे। पूर्वी जातियों के लिए इस तरह के विश्वास और विद्रोह के बीच एक ही कदम का फासला है। ज़रा-सी चिनगारी से आग भड़क सकती है। जैसे दिल्ली ले लेने से विद्रोह खत्म नही हुआ, वैसे ही लखनऊ ले लेने से वह खत्म नही होगा। सम्भव है, गर्मियों में ऐसी घटनाएँ हो कि अंग्रेजो को जीती हुई भूमि फिर जीतनी पड़े और शायद पजाब को भी फिर से जीतना पड़े। कुछ भी हो, अंग्रेजो के सामने उन्हें डराने-

वाली लम्बी छापेमार लड़ाई है। हिन्दुस्तान की धूप में यूरोपियन लोगों के लिए ऐसी लड़ाई कोई ईर्ष्या करने लायक चीज़ नहीं है। (पृष्ठ १४९)।

मई १८५८ के अन्त में छापेमार लड़ाई की सम्भावना की चर्चा करते हुए एंगेल्स ने लिखा, अंग्रेज़ों के यहाँ आदमियों की बहुत कमी है। हो सकता है कि भागते हुए विद्रोहियों का पीछा उन्हें भारत के एक सिरे से दूसरे सिरे तक करना पड़े। यह काम गोरी फौजों के बस का नहीं है। बम्बई और मद्रास की देसी पलटनों से घुमन्तू विद्रोहियों का सम्पर्क हो गया तो नये विद्रोह फूट सकते हैं। अभी तक ये पलटनें वफादार रही हैं। नये विद्रोही शामिल न भी हों, तो भी मैदान में डेढ़ लाख हथियारबन्द आदमी हैं। जिस आबादी के पास हथियार नहीं हैं, उससे अंग्रेज़ों को न खबरें मिलती हैं, न मदद मिलती है। (पृष्ठ १६३)।

४ जून १८५८ को एंगेल्स ने लिखा, यह जानना बहुत जरूरी है कि विद्रोही यदि राजपूताना में लड़ने पहुँच जायें तो अंग्रेज क्या करेंगे। राजपूताना पूरी तरह शान्त नहीं है। कॉलिन कैम्पबेल को जगह-जगह छावनियों में सैनिक रखने होंगे। लखनऊ की लड़ाई के समय उनके पास जितनी फौज थी, वह अब आधी ही रह गयी है। लखनऊ और दिल्ली की तरह रुहेलखण्ड ले लेने से भी कोई फैसला न होगा। जमकर लड़ने की शक्ति विद्रोह ने अवश्य खो दी है लेकिन अपने मौजूदा बिखरे हुए रूप में वह कहीं ज्यादा खतरनाक है। अंग्रेज़ों को मजबूर होकर गर्मी में लम्बे मार्च करना पड़ता है और इससे उनकी फौज बर्बाद हो रही है। विद्रोह के नये केन्द्रों पर ध्यान दीजिए। ज्यादातर पुराने सिपाही रुहेलखण्ड में जमा हैं। घाघरा के उत्तर-पूर्व में अवधवासियों ने मोर्चा सँभाला है। बुन्देलखण्ड के विद्रोही इस समय काल्पी में इकट्ठा हो रहे हैं। अंग्रेज़ों ने भारत में इतनी बड़ी फौज किसी एक जगह पहले कभी इकट्ठा न की थी। वह फौज चारों तरफ बिखर गयी है और उसके सामने जितना काम है, वह उसे कर नहीं सकती। धूप और बरसात से फौज की तबाही भयानक होगी। यूरप के लोग हिन्दुओं से नैतिक रूप में जितने भी श्रेष्ठ हों, इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुओं की शारीरिक श्रेष्ठता अपने देश की धूप और बरसात सह लेने में है और हो सकता है कि इस कारण अंग्रेजी फौज का नाश हो। भारत जानेवाली फौज इस समय दिखायी नहीं देती। जुलाई-अगस्त से पहले बड़ी कुमक भेजने का विचार नहीं है। इसलिए अक्तूबर-नवम्बर तक कैम्पबेल के पास केवल एक फौज होगी। उसी से विद्रोहियों का मुकाबला करना होगा और यह फौज लगातार घटती जा रही है। यदि इसी समय विद्रोही हिन्दू राजपूताना और महाराष्ट्र में बगावत फैलाने में सफल हो गये तो क्या होगा? ब्रिटिश फौज में अस्सी हजार सिक्ख हैं। उनका दावा है कि जीत उन्हीं के कारण हुई है। उनका मिजाज आजकल अंग्रेज़ों के माफिक नहीं है। अगर इन्होंने विद्रोह कर दिया तो क्या होगा? (पृ. १६७-१६८)।

इस शृंखला के अन्तिम लेख में १७ सितम्बर १८५८ को एंगेल्स ने लिखा, गर्मी और बरसात के कारण लड़ाई बन्द है। कॉलिन कैम्पबेल ने जोरदार कोशिश करके अवध और रुहेलखण्ड के महत्वपूर्ण स्थान ले लिये हैं। अवध का मानसिंह अंग्रेज़ों से मिल गया है। उसके पूर्व देसी सहयोगियों ने उसकी नाकेबन्दी कर

रहना मुश्किल हो जायेगा। भारतवासियों में अंग्रेज़ों के सबसे ताकतवर दुश्मन सिक्ख थे। उन्होंने अंग्रेज़ी राज को भारी मुसीबत में फँसते देखा है। उसे उबारने में उन्होंने बड़ा योगदान किया। उन्हें यह भी विश्वास है कि उनका योगदान ही निर्णायक था। इससे अधिक स्वाभाविक विचार उनके लिए और क्या होगा कि अंग्रेज़ी राज की जगह सिक्ख राज कायम करने का समय आ गया है और दिल्ली या कलकत्ता से सिक्ख महाराज भारत पर हुकूमत करे? हो सकता है कि यह विचार अभी परिपक्व न हुआ हो, अंग्रेज़ों ने सिक्खों को इस तरह जहाँ-तहाँ रखा हो कि विद्रोह होते ही गोरी पलटनें उसे दबा दें। लेकिन दिल्ली और लखनऊ के बाद जिसने भी सिक्खों के रंग-ढंग का वर्णन पढ़ा होगा, वह मानेगा कि यह विचार उनमें मौजूद है।

"फिलहाल अंग्रेज़ों ने भारत को फिर से जीत लिया है। बंगाल सेना की बगावत से जो महान् विद्रोह शुरू हुआ था, लगता है, वह सचमुच ठण्डा पड़ गया है। दूसरी बार भारत को जीतने से यह नहीं हुआ कि वहाँ के निवासियों का मन अंग्रेज़ों के काबू में ज्यादा आ गया है। हत्याकाण्डों की अतिरंजित और झूठी खबरों से उकसाये जाने पर अंग्रेज़ी फौज ने क्रूरता से बदला लिया। उसने अवध के राज्य को थोक और खुदरा दोनों तरीके से हथियाने की कोशिश की। इन दोनों बातों से विजेताओं के प्रति कोई विशेष प्रीति पैदा नहीं हुई। इसके विपरीत वे खुद ही कहते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के मन में ईसाई दखलन्दाज़ के प्रति जो घृणा परम्परा से चली आ रही थी, वह पहले से भी ज्यादा तेज़ हो गयी है। यह घृणा इस समय बेकार जान पड़ती है, फिर भी उसका महत्व है क्योंकि सिक्ख-पंजाब के ऊपर खतरे के बादल मँडरा रहे हैं।" (पृष्ठ १६०)।

(घ) मुख्य निष्कर्ष

एंगेल्स एशिया की दो साम्राज्यवादी ताकतों रूस और इंग्लैण्ड की सम्भावित टक्कर की बात भी सोच रहे थे। उनका विचार था कि साइबेरिया और भारत के बीच में जिस स्थान पर उनकी टक्कर होकर रहेगी, वह स्थान पेकिंग है। एशियाई महाद्वीप में पेकिंग से पश्चिम की तरफ रेखा खींचिए, इसी पर प्रतिद्वन्दी हितों की टक्कर बार-बार होगी। इस प्रकार सम्भव है, वह समय दूर न हो जब वक्षु (ऑक्सस) नदी के मैदानों में हिन्दुस्तानी सिपाही और रूसी कौसक एक-दूसरे से मिलेंगे। यदि ऐसा मिलन होता है तो डेढ़ लाख भारतवासियों की ब्रिटिशविरोधी भावना गम्भीर चिन्ता का विषय होगी। (उप.)।

मार्क्स ने भारत, चीन, इंग्लैण्ड और रूस के बारे में जब यह बात कही थी, तब से संसार में बहुत बड़े परिवर्तन हो चुके हैं। इन सारे परिवर्तनों के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अस्तित्व अभी है और भारत पर उसका सीधा नियन्त्रण भले न हो, वह हर उपाय से उसे दबाकर अपने हित में चलाने का प्रयत्न लगातार करता है। साम्राज्यवाद है, इसलिए साम्राज्यविरोधी भावना का महत्व भी है। १८५७ की लड़ाई में अंग्रेज़ों ने जिस क्रूरता से काम लिया, भारतीय जनता के हृदय पर उसकी अमिट छाप है। उस क्रूरता की याद साम्राज्यविरोधी भावना को

ताजा रखती है। भावी सामाजिक परिवर्तनों के लिए यह भावना महत्वपूर्ण है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में साम्राज्यवाद का अन्त कब होता है, और कितनी जल्दी होता है, यह भारत, चीन और रूस की जनता पर बहुत कुछ निर्भर है। एंगेल्स ने जिन डेढ़ लाख भारतवासियों की बात कही थी, वे ब्रिटिश फौज में भर्ती होनेवाले भारतवासी थे। उनकी साम्राज्यविरोधी भावना इसलिए महत्वपूर्ण थी कि साम्राज्य उन्हीं के सहारे टिका हुआ था।

१८५७-५८ वाले मार्क्स और एंगेल्स के इन निबन्धों का मूल तत्व यह है कि अंग्रेज भारत पर उसी देश के लोगों की फौज के जरिये शासन करते हैं और इस फौज का खर्च भी वे भारतवासियों से वसूल करते हैं। इससे जहाँ भारत की कमजोरी प्रकट होती है, वहीं अंग्रेजी राज की कमजोरी भी जाहिर हो जाती है। जिस देशी फौज के बल पर वे भारत पर राज करते हैं, वह देशी फौज उस राज का विध्वंस करने का साधन भी बन सकती है, यह १८५७ की लड़ाई से साबित हो गया। भारत आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ था, इसलिए अंग्रेज देशी फौज का संगठन कर सकते थे और वह देशी फौज विद्रोह न करेगी, इतिहास की ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं थी। भारत की राजनीतिक कमजोरी से अंग्रेजों ने लाभ उठाया। लाभ उठाने का जो तरीका उन्होंने अपनाया, वही उनकी हानि का कारण भी बना। मार्क्स और एंगेल्स के इन लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस दिन अंग्रेज देशी सेना का भरोसा न कर सकेंगे, उस दिन वे भारत पर शासन भी न कर सकेंगे। यह निष्कर्ष १९४५-४७ की घटनाओं से सही साबित हुआ। ब्रिटिश सेनापति ऑकिनलेक, वाइसराय वेवल और उनके सहायकों ने भारत की स्थिति के बारे में जो दस्तावेज तैयार किये, उनमें साफ जाहिर है कि अंग्रेजों को देशी फौज पर भरोसा न रह गया था। बम्बई में जब नाविक विद्रोह हुआ, तब अंग्रेज समझ गये कि सेना के भीतर विद्रोह-भावना फैल रही है और वह किसी भी समय भयानक विस्फोट का रूप ले सकती है। बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में वे दूसरे अठारह सौ सत्तावन का सामना करने को तैयार न थे। इसलिए उन्हें भारत छोड़कर विदा होना पड़ा।

मार्क्स और एंगेल्स के लेखों में कहीं इस बात की ओर संकेत नहीं है कि सन् सत्तावन की लड़ाई में भारत की पराजय अनिवार्य थी। १८५३ में मार्क्स ने लिखा था, पराजित होना भारत की नियति है, प्रश्न केवल यह है कि वह ब्रिटेन से पराजित होता है या किसी अन्य देश से। चार साल में यह धारणा बदल गयी थी। लड़ाई की घटनाओं के दौरान जैसे-जैसे वे भारतीय प्रतिरोध का विवेचन करते गये, वैसे-वैसे वह धारणा और भी बदलती गयी। विद्रोह शुरू होने पर मार्क्स को लगा था कि अंग्रेज बहुत जल्दी दिल्ली पर कब्जा कर लेंगे। किन्तु कब्जा करने में काफी देर हुई। उन्होंने देखा कि विद्रोही सैनिक शहर से बाहर निकलकर अंग्रेजों पर जोरदार हमले करते थे। जिस बात की कमी थी, वह थी ऊँचे दर्जे का प्रशिक्षित सैनिक नेतृत्व। लखनऊ के पतन के बाद उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि इससे विद्रोह समाप्त न होगा। उन्हें अन्त तक आशा थी कि बम्बई और मद्रास की सेनाएँ विद्रोह में भाग लेंगी। उन्हें यह भी आशा थी कि महाराष्ट्र, राजस्थान

और पंजाब में विद्रोह फैल जायेगा। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि १८५७ की लड़ाई के दौरान और उस लड़ाई के अध्ययन के कारण मार्क्स और एंगेल्स की भारत-सम्बन्धी तथा पराधीन देशों से सम्बन्धित कई धारणाओं में परिवर्तन हुआ। भारतीय जनता की इस लड़ाई को वह अब यूरोप के सर्वहारा वर्ग की सहायता के रूप मे देख रहे थे। १४ जनवरी १८५८ को मार्क्स ने एंगेल्स को लिखा था, फौज पर मौसम का बुरा असर पड रहा है। विभिन्न लेखों मे हिसाब लगाकर मैंने दिखाया है कि मरनेवालो की रफ्तार सरकारी रिपोर्टों में दिखायी हुई रफ्तार से कही ज्यादा है। फौज मे आदमी ज़ाया हो रहे हैं। लड़ाई चलाने के लिए अंग्रेज़ों को अपनी चांदी गलानी पड़ रही है। इस समय भारत हमारा सबसे अच्छा सहयोगी है। (India is now our best ally)। (पृ. २०८)।

यदि बंगाल सेना विद्रोह कर सकती थी तो बम्बई और मद्रास की सेनाएँ भी विद्रोह कर सकती थी। जो लोग भारतीय पराजय को अनिवार्य मानते है, वे यह नही बताते कि बंगाल सेना का विद्रोह अनिवार्य क्यों था और बम्बई-मद्रास सेनाओ का विद्रोह न करना क्यों अनिवार्य था। वे यह नही बताते कि बहादुरशाह, नाना साहब, अवध की बेगम का विद्रोह मे भाग लेना क्यो अनिवार्य था और सिंधिया तथा होल्कर का विद्रोह मे भाग न लेना क्यो अनिवार्य था। अवध के लोगो ने अपना राज खोया था। वे लड सकते थे, पंजाब के लोगों ने अपना राज खोया था पर वे न लड़ सकते थे, ऐसी किसी अनिवार्यता का आधार पराजयवादियों ने नही बताया। मार्क्स और एंगेल्स का विश्लेषण पराजयवाद से कोसों दूर है। विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद भी वे भविष्य की ओर देखते हैं और आशा करते है कि भारतवासी अपना यह अनुभव भूलेंगे नही और समय आने पर फिर लड़ेंगे। इसके विपरीत पराजयवादी लोग भारत की हार को अनिवार्य तो मानते ही है, वह अंग्रेजो से लड़ने को भी प्रतिक्रियावादी कार्य मानते है। उनकी निगाह मे वही लड़ाई ठीक होती है जिसमे जीत हो जाये। यदि लड़ाई में हार जायँ तो वे लड़नेवालो को कभी माफ नही करते और पुश्त-दर-पुश्त उन्हें कोसते रहते है। १९०५ में रूसी क्रान्ति असफल हुई। उसके बाद रूस मे भी पराजयवादी भावना फैली थी। लेनिन और उनके सहयोगियो ने उस पराजयवाद को अस्थायी सिद्ध कर दिया।

मार्क्स और एंगेल्स ने कही यह नही कहा कि सामन्तवाद के रहते भारतीय-पक्ष की विजय हो ही न सकती थी। उन्होने यह नही कहा कि सारे सामन्त प्रतिक्रियावादी थे। वे सामन्तों की सकारात्मक भूमिका सम्भव मानते थे। उन्हे आश्चर्य उन सामन्तो पर था जो अपने देशवासियों के विरुद्ध अंग्रेज़ो का साथ दे रहे थे। जो सामन्त अंग्रेज़ो का साथ दे, वह प्रगतिशील, जो विरोध करे, वह प्रतिक्रियावादी, ऐसा तथाकथित भौतिकवादी विवेचन मार्क्स और एंगेल्स के लेखो में नही है। सामन्तों की सकारात्मक भूमिका मानने पर भी वे इस वर्ग की राजनीतिक कमज़ोरी अच्छी तरह पहचानते थे। अंग्रेज़ो ने इस कमज़ोरी से लाभ उठाया और १८५८ मे इसी वर्ग से समझौता करके वे उसे अपना सामाजिक

ताजा रखती है। भावी सामाजिक परिवर्तनों के लिए यह भावना महत्वपूर्ण है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में साम्राज्यवाद का अन्त कब होता है, और कितनी जल्दी होता है, यह भारत, चीन और रूस की जनता पर बहुत कुछ निर्भर है। एंगेल्स ने जिन डेढ़ लाख भारतवासियों की बात कही थी, वे ब्रिटिश फौज में भर्ती होनेवाले भारतवासी थे। उनकी साम्राज्यविरोधी भावना इसलिए महत्वपूर्ण थी कि साम्राज्य उन्हीं के सहारे टिका हुआ था।

१८५७-५८ वाले मार्क्स और एंगेल्स के इन निबन्धों का मूल तत्व यह है कि अंग्रेज भारत पर उसी देश के लोगों की फौज के जरिये शासन करते हैं और इस फौज का खर्च भी वे भारतवासियों से वसूल करते हैं। इससे जहाँ भारत की कमजोरी प्रकट होती है, वहीं अंग्रेजी राज की कमजोरी भी जाहिर हो जाती है। जिस देशी फौज के बल पर वे भारत पर राज करते हैं, वह देशी फौज उस राज का विध्वंस करने का साधन भी बन सकती है, यह १८५७ की लड़ाई से साबित हो गया। भारत आर्थिक रूप से पिछड़ा हुआ था, इसलिए अंग्रेज देशी फौज का सगठन कर सकते थे और वह देशी फौज विद्रोह न करेगी, इतिहास की ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं थी। भारत की राजनीतिक कमजोरी से अंग्रेजों ने लाभ उठाया। लाभ उठाने का जो तरीका उन्होंने अपनाया, वही उनकी हानि का कारण भी बना। मार्क्स और एंगेल्स के इन लेखों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस दिन अंग्रेज देशी सेना का भरोसा न कर सकेंगे, उस दिन वे भारत पर शासन भी न कर सकेंगे। यह निष्कर्ष १९४५-४७ की घटनाओं से सही साबित हुआ। ब्रिटिश सेनापति ऑकिनलेक, वाइसराय वेवल और उनके सहायकों ने भारत की स्थिति के बारे में जो दस्तावेज तैयार किये, उनसे साफ जाहिर है कि अंग्रेजों को देशी फौज पर भरोसा न रह गया था। बम्बई मे जब नाविक विद्रोह हुआ, तब अंग्रेज समझ गये कि सेना के भीतर विद्रोह-भावना फैल रही है और वह किसी भी समय भयानक विस्फोट का रूप ले सकती है। बदली हुई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में वे दूसरे अठारह सौ सत्तावन का सामना करने को तैयार न थे। इसलिए उन्हें भारत छोड़कर विदा होना पड़ा।

मार्क्स और एंगेल्स के लेखों मे कही इस बात की ओर संकेत नहीं है कि सन् सत्तावन की लड़ाई मे भारत की पराजय अनिवार्य थी। १८५३ में मार्क्स ने लिखा था, पराजित होना भारत की नियति है, प्रश्न केवल यह है कि वह ब्रिटेन से पराजित होता है या किसी अन्य देश से। चार साल में यह धारणा बदल गयी थी। लड़ाई की घटनाओं के दौरान जैसे-जैसे वे भारतीय प्रतिरोध का विवेचन करते गये, वैसे-वैसे वह धारणा और भी बदलती गयी। विद्रोह शुरू होने पर मार्क्स को लगा था कि अंग्रेज बहुत जल्दी दिल्ली पर कब्जा कर लेंगे किन्तु कब्जा करने मे काफी देर हुई। उन्होंने देखा कि विद्रोही सैनिक शहर से बाहर निकलकर अंग्रेजों पर जोरदार हमले करते थे। जिस बात की कमी थी, वह थी ऊँचे दर्जे का प्रशिक्षित सैनिक नेतृत्व। लखनऊ के पतन के बाद उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि इससे विद्रोह समाप्त न होगा। उन्हें अन्त तक आशा थी कि बम्बई और मद्रास की सेनाएँ विद्रोह में भाग लेंगी। उन्हें यह भी आशा थी कि महाराष्ट्र, राजस्थान

और पंजाब में विद्रोह फैल जायेगा। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि १८५७ की लड़ाई के दौरान और उस लडाई के अध्ययन के कारण मार्क्स और एगेल्स की भारत-सम्बन्धी तथा पराधीन देशों से सम्बन्धित कई धारणाओं में परिवर्तन हुआ। भारतीय जनता की इस लड़ाई को वह अब यूरोप के सर्वहारा वर्ग की सहायता के रूप मे देख रहे थे। १४ जनवरी १८५८ को मार्क्स ने एगेल्स को लिखा था, फौज पर मौसम का बुरा असर पड रहा है। विभिन्न लेखो मे हिसाब लगाकर मैंने दिखाया है कि मरनेवालों की रफ्तार सरकारी रिपोर्टों मे दिखायी हुई रफ्तार से कही ज्यादा है। फौज मे आदमी जाया हो रहे है। लडाई चलाने के लिए अग्रेज़ो को अपनी चाँदी गलानी पड़ रही है। इस समय भारत हमारा सबसे अच्छा सहयोगी है। (India is now our best ally)। (पृ. २०८)।

यदि बगाल सेना विद्रोह कर सकती थी तो बम्बई और मद्रास की सेनाएँ भी विद्रोह कर सकती थी। जो लोग भारतीय पराजय को अनिवार्य मानते है, वे यह नही बताते कि बगाल सेना का विद्रोह अनिवार्य क्यो था और बम्बई-मद्रास सेनाओ का विद्रोह न करना क्यो अनिवार्य था। वे यह नही बताते कि बहादुरशाह, नाना साहब, अवध की बेगम का विद्रोह मे भाग लेना क्यो अनिवार्य था और सिंधिया तथा होल्कर का विद्रोह मे भाग न लेना क्यो अनिवार्य था। अवध के लोगो ने अपना राज खोया था। वे लड़ सकते थे, पंजाब के लोगों ने अपना राज खोया था पर वे न लड़ सकते थे, ऐसी किसी अनिवार्यता का आधार पराजयवादियों ने नही बताया। मार्क्स और एगेल्स का विश्लेषण पराजयवाद से कोसों दूर है। विद्रोह के समाप्त हो जाने के बाद भी वे भविष्य की ओर देखते है और आशा करते है कि भारतवासी अपना यह अनुभव भूलेंगे नही और समय आने पर फिर लडेंगे। इसके विपरीत पराजयवादी लोग भारत की हार को अनिवार्य तो मानते ही है, वह अग्रेज़ो से लड़ने को भी प्रतिक्रियावादी कार्य मानते हैं। उनकी निगाह मे वही लडाई ठीक होती है जिसमे जीत हो जाये। यदि लड़ाई मे हार जायँ तो वे लडनेवालो को कभी माफ नही करते और पुश्त-दर-पुश्त उन्हें कोसते रहते है। १९०५ मे रूसी क्रान्ति असफल हुई। उसके बाद रूस में भी पराजयवादी भावना फैली थी। लेनिन और उनके सहयोगियों ने उस पराजयवाद को अस्थायी सिद्ध कर दिया।

मार्क्स और एगेल्स ने कही यह नही कहा कि सामन्तवाद के रहते भारतीय-पक्ष की विजय हो ही न सकती थी। उन्होने यह नही कहा कि सारे सामन्त प्रतिक्रियावादी थे। वे सामन्तों की सकारात्मक भूमिका सम्भव मानते थे। उन्हें आश्चर्य उन सामन्तो पर था जो अपने देशवासियो के विरुद्ध अग्रेजों का साथ दे रहे थे। जो सामन्त अंग्रेज़ो का साथ दे, वह प्रगतिशील, जो विरोध करे, वह प्रतिक्रियावादी, ऐसा तथाकथित भौतिकवादी विवेचन मार्क्स और एंगेल्स के लेखों में नहीं है। सामन्तों की सकारात्मक भूमिका मानने पर भी वे इस वर्ग की राजनीतिक कमज़ोरी अच्छी तरह पहचानते थे। अग्रेज़ो ने इस कमज़ोरी से लाभ उठाया और १८५८ मे इसी वर्ग से समझौता करके वे उसे अपना सामाजिक

आधार बना रहे थे। इसलिए भविष्य में स्वाधीनता संग्राम तभी सफल हो सकता था जब अंग्रेज़ों का यह सामाजिक आधार नष्ट किया जाय। मार्क्स और एंगेल्स ने भारतीय किसानों की स्थिति पर ध्यान केन्द्रित किया। अंग्रेज़ किस तरह किसानों को तरह-तरह से शारीरिक यन्त्रणा देते थे और मालगुजारी वसूल करते थे, इसका उन्होंने मार्मिक वर्णन किया है। किसानों के इस उत्पीड़न से उन्होंने यह नतीजा निकाला कि ऐसी स्थिति में किसानों का विद्रोह करना स्वाभाविक है। फौज के बाहर किसानों ने कहाँ-कहाँ किस हद तक लड़ाई में हिस्सा लिया और सिपाहियों का साथ दिया, इसके बारे में तथ्य उन्हें अभी सुलभ न थे। आगे चलकर जो तथ्य सुलभ हुए, उनसे उनका विवेचन पुष्ट होता है। अंग्रेज़ी राज किसानों के असह्य उत्पीड़न पर टिका हुआ था, यह धारणा किसानों के सन्दर्भ में विद्रोह-सम्बन्धी तथ्यों से पुष्ट होती है।

मार्क्स और एंगेल्स ने सन् सत्तावन की लड़ाई का विवेचन करके जो निष्कर्ष निकाले, वे सभी देशों के, खासतौर से पराधीन देशों के, क्रान्तिकारी आन्दोलनों के लिए महत्वपूर्ण हैं। पहला निष्कर्ष यह है कि जहाँ कुछ खास नगरों की रक्षा करते हुए युद्ध करना है, वहाँ पराधीन जनता के नेताओं को आवश्यक विज्ञान और युद्ध-कौशल की जानकारी होनी चाहिए। ऐसी जानकारी न होने पर शत्रुपक्ष अपने साधनों का उपयोग करके विजय प्राप्त कर सकता है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि साम्राज्यवादी शत्रु जो रणनीति अपनाता है, पराधीन देश की जनता उसकी काट छापेमार लड़ाई से कर सकती है। शत्रु बहुत से केन्द्रों में बिखर जायेगा, हर जगह अपनी सैनिक चौकियों में उसे अपनी टुकड़ियाँ रखनी होंगी, संचार-साधन दूर-दूर तक फैले होंगे। ऐसी हालत में छापेमार दस्ते उसके संचार-साधनों को भंग कर सकते हैं, पड़ोसी क्षेत्रों से उसका खाद्य-सामग्री जुटाना असम्भव कर सकते हैं। छापेमार योद्धा किसान-जनता से एकता कायम करके रसद लेकर चलने की परेशानी से बच सकते हैं। अपने देश की धरती पर वहाँ की गर्मी-बरसात विदेशियों के मुकाबले छापेमार योद्धा ज्यादा अच्छी तरह बर्दाश्त कर सकते हैं। इस प्रकार जो विदेशी शत्रु उद्योगधन्धों में और विज्ञान में आगे बढ़ा हुआ है, उसे परास्त किया जा सकता है। एंगेल्स के ये विचार रूस समेत अनेक देशों की क्रान्तियों में अमल में लाये गये। इस प्रकार उनके विवेचन का महत्व भारत के अलावा अन्य देशों के लिए भी सिद्ध हो चुका है।

मार्क्स ने फ्रान्स के वर्गसंघर्ष पुस्तक १८५० में लिखी। ४५ वर्ष बाद एंगेल्स ने इसके नये संस्करण की भूमिका लिखते समय कहा, यदि समकालीन इतिहास के भरोसे घटनाओं और घटनाक्रमों के बारे में फैसला करना पड़े, तो उनके अन्तिम आर्थिक कारणों तक पहुँचना कभी सम्भव ही न होगा। किसी दौर के आर्थिक इतिहास का साफ़ सुथरा सर्वेक्षण उस समय प्राप्त हो ही नहीं सकता। वह बाद में ही प्राप्त होगा जब सामग्री बटोरने और उसकी छानबीन करने का काम पूरा हो जायेगा। (सेलेक्टेड वर्क्स; खण्ड १, पृष्ठ १८६)। जो बात समकालीन इतिहास को लेकर राजनीतिक घटनाओं के विवेचन पर लागू होती है, वह बात समकालीन इतिहास को लेकर सैनिक घटनाओं के विवेचन पर भी लागू होती है। आर्थिक महत्व के सारे तथ्य

तुरत नही मिल जाते, सैनिक महत्व के तथ्य और भी कम मिलते है। अंग्रेज युद्ध में अपने पक्ष को न्यायपूर्ण सिद्ध करने के लिए दूसरे पक्ष की वास्तविक या काल्पत क्रूरता की कहानियाँ खूब प्रचारित करते थे। एगेल्स ने इस प्रचार से विचलित न होकर साफ-साफ लिखा था कि सिपाहियो की क्रूरता की कहानियाँ अ रजित और झूठी है। वह तथ्य-सग्रह के लिए कितने आतुर रहते थे, यह मार्क्स के नाम उनके ३१ दिसम्बर १८५७ के पत्र से मालूम होता है। लिखा था : भारत के समाचार देनेवाले अखबारो की तलाश मे मैंने सारा शहर छान डाला। परसो मैंने 'गार्जियन' पत्र की अपनी सारी प्रतियाँ तुम्हारे पास भेज दी थी। 'गार्जियन,' 'एक्जामिनर' और 'टाइम्स' के अक यहाँ मुझे नही मिल रहे है। वेलफील्ड के पास और अंक नही है। मैं समझता था, तुमने मगल तक अपना लेख लिख लिया होगा। ऐसी हालत मे मैं अपना लेख नही लिख सकता। इससे मेरा मन यो और भी खिन्न है कि चार हफ्तो मे यह पहला मौका है जब और जरूरी काम छोडे बिना तीसरे पहर का समय लेख लिखने के लिए खाली है। भविष्य मे जब सैनिकपक्षवाले लेखों की जरूरत हो, तब यथासम्भव जल्दी अपना इरादा बता देना। फिलहाल चौबीस घण्टे का समय मेरे लिए बहुत है। जो भी हो, सूचनाएँ इतनी कम है और सबकुछ कानपुर से कलकत्ता भेजे हुए तारो पर निर्भर है कि उन पर टिप्पणी करना लगभग असम्भव है। (पृष्ठ २०७)। तथ्य-सग्रह की कठिनाई के बावजूद मार्क्स और एगेल्स लड़ाई के दौरान ऐसे लेख लिख सके, यह उनकी प्रतिभा का सबूत है। उन्होने सारे घटनाक्रम के अनेक पक्षों पर विचार किया, और उनके विवेचन मे जो गहराई है, वह तथ्य-संग्रह के लिए अपार समय मिलने पर भी अन्य लेखको के विवेचन मे दुर्लभ है।

१०. भारत का सामाजिक विकास और अंग्रेजी राज

(क) भारतीय इतिहास में प्राचीन और मध्यकालीन

मार्क्स ने भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसमे उनकी कृति भारतीय इतिहास पर टिप्पणियाँ बहुत महत्वपूर्ण है। यह पुस्तक उन्होंने १८८०-८१ के आसपास तैयार की थी, जिस समय वह भ रत की समस्या पर नये सिरे से विचार कर रहे थे। भारतसम्बन्धी टिप्पणियो मे ग्राम-समाजो पर रूसी लेखक कोवालेव्स्की के ग्रन्थ से उन्होने एक अंश का सार उद्धृत किया है। यह पुस्तक १८७९ में छपी थी और १८८०-८१ मे मार्क्स उसे पढ रहे थे। इससे टिप्पणियों का समय निर्धारित किया जा सकता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इन टिप्पणियो के आधार पर मार्क्स विस्तार से भारत के बारे में न लिख सके। टिप्पणियों-वाली पुस्तक उन्होने प्रकाशन के लिए तैयार न की थी। उनके काम करने का ढंग यह था कि तथ्य संग्रह करके मसौदा तैयार करते थे, फिर पुस्तक पूरी करते थे। टिप्पणियों मे भारतीय इतिहास मे सम्बन्धित तथ्य एकत्रित किये गये हैं और जगह-जगह मार्क्स ने अपनी राय भी दी है। इससे विदित होता है कि वह भारत पर विस्तार से लिखना चाहते थे। यद्यपि उस विस्तृत पुस्तक के लिखने की योजना पूरी नहीं हुई, फिर भी इन टिप्पणियों मे ऐसी सामग्री है

जिससे मार्क्स की भारतसम्बन्धी धारणाओं में परिवर्तन के प्रमाण मिलते हैं। कुछ बातें पुरानी है जिनकी यहां पुष्टि हुई है, कुछ पुरानी बातें अप्रत्यक्ष रूप से निरस्त कर दी गयी है और अनेक नयी बातें ऐसी है जो अनुसन्धान और विवेचन की नयी दिशा की ओर सकेत करती है। टिप्पणियो मे अंग्रेजों को बार-बार चुनी हुई गालियो के साथ याद किया गया है। शायद पुस्तक प्रकाशन के लिए लिखी जाती तो ये गालियां उसम न होती। द्वन्द्वात्मक ढग से दुर्भाग्य यहां सौभाग्य में बदल गया है; जो पुस्तक प्रकाशन के लिए न लिखी गयी थी, उससे मार्क्स के मनोभावों का और उनक व्यक्तित्व का ऐसा चित्र उभरकर आता है जैसा प्रकाशित कृतियो में दुर्लभ है। 'अग्रेज कुत्ते' उनके तकियाकलाम की तरह हैं और स्काउण्ड्रल्स के लिए उन्होने मूल जर्मन म क्या लिखा था, पता नही, शायद यह किताब जर्मन मे छपी न हो, रूसी अनुवाद १६४७ मे छपा था, पर विश्वभाषा अग्रजी के प्रेमी स्काउण्ड्रल्स का मतलब आसानी स समझ लेंगे। न समझें तो लुच्चा, लफगा, पाजी, बदमाश इन सबको मिलाकर स्काउण्ड्रल्स के बराबर वजन दुरुस्त कर लें।

Karl Marx: Notes on Indian History (664-1858) पुस्तक मास्को से प्रकाशित हुई है। रूसी अनुवाद १६४७ मे छपा था, अग्रेजी अनुवाद के प्रकाशन का वर्ष पुस्तक मे नही दिया गया। यहां अग्रेजी अनुवाद के आधार पर मार्क्स की मूल स्थापनाओ का विवेचन किया गया है और पृष्ठ सख्या उक्त मास्को प्रकाशन की है। मार्क्स मानते थे कि भारतीय ग्राम-समाज अत्यन्त प्राचीन काल से किसी परिवर्तन के बिना यहां विद्यमान थे। भारतीय इतिहास मे जो प्राचीन था, वही अंग्रेजों के आने तक आधुनिक था और मध्यकालीन भी था। किन्तु इस पुस्तक मे भारत की प्राचीनता को उसके शेष इतिहास से अलग किया गया है। पुस्तक का घटनाक्रम सातवी सदी स शुरू होता है किन्तु जैसा कि उनके अध्ययन का तरीका था, वह किसी भी प्रपंच का विवेचन करते हुए उसके पुराने इतिहास पर भी निगाह डाल लेते थे। यूरुप के सन्दर्भ म प्राचीनता का अर्थ मार्क्स की रचनाओं मे दास-प्रथावाले यूनानी और रोमन समाज होता था। भारत मे प्राचीनता का ऐसा ही अर्थ हो, यह आवश्यक नही। मार्क्स ने एक जगह भारत पर विदेशी आक्रमणो की सूची बनायी और ३३१ ई. पू. से शुरू करके १०१५ पर सूची समाप्त की। इस सूची मे उन्होने तक्षशिला के राजा के लिए लिखा कि उसने "**सारे हिन्दुस्तान पर कन्नौज** से शासन करनेवाले महान् राजा **पोरुस** अथवा पुरु के विरुद्ध सहयोग-सन्धि कर ली।" (पृ ६६)। महमूद गजनी द्वारा कश्मीर पर अधिकार किये जाने की घटना का उल्लेख करने के बाद कोष्टकों मे मगध के राज्य का संक्षिप्त विवरण दिया है। लिखा है, "**मगध का राज्य** बहुत ही दिलचस्प था। इसके **बौद्ध राजाओं** ने विस्तृत भूमि पर शासन किया। बहुत दिनो तक वे सब **क्षत्रिय** जाति के थे। फिर एक राजा **शूद्र** जाति का पैदा हुआ। मनु की चार जातियो [अर्थात् वर्णों] मे शूद्र सबस नीचा होता है। उसका नाम **चन्द्रगुप्त** था। यूनानी उस सान्द्रकोतुस कहते थे। उसने राजा का वध किया और स्वय राजा बना। वह **सिकन्दर महान्** के समय मे था। आगे चलकर हम **अन्य तीन शूद्र वंशो** का उल्लेख मिलता है। इनमे अन्तिम था **आन्ध्र** जो ४३६ ई. मे समाप्त हुआ। **मालवा के राजाओं** म एक

थे विक्रमादित्य। हिन्दू पञ्चाङ्ग में उनका संवत् अब भी चलता है। वह ५८ ई. पू में शासन करते थे।" (पृ. ६७-६८)

मालवा और मगध के राज्यो की चर्चा के बाद दक्षिण भारत के प्रदेशो का उल्लेख है। इसी प्रसंग मे रामायण की चर्चा इस प्रकार है, "**रामायण में अवध के राजा राम** के वीरतापूर्ण कृत्यों का गौरव गान है। कहा जाता है कि वह १४०० ई. पू. मे हुए थे। *काव्य के अनुसार* **दक्षिण** *और* **लंका** *की विजय-यात्रा मे वह* हिन्दुओ के विजयी नेता थे। आख्यानो मे वर्णित उस **अभियान** मे हिन्दुओं ने दक्षिण भारत मे अनेक **सभ्य जातियों** (नेशन्स) को पाया **तमिल** लोग **तमिल भाषा** बोलते थे, अन्य लोग **तिलगों के देश** मे रहते थे और **तेलुगू** बोलते थे। **सबसे प्राचीन राज्य तमिल** थे।" (पृ. ६८)। यहाँ मार्क्स ने स्पष्ट रूप से एक प्राचीन युग की ओर संकेत किया है। इस युग की गाथाओ का एक भण्डार **रामायण** है। दूसरे भण्डार **महाभारत** की जानकारी भी मार्क्स को है। प्राचीन तमिल राज्यो के उल्लेख के बाद उन्होने लिखा कि पाण्ड्य नाम के गडरिया राजा ने पाँचवी सदी ई. पू. के आसपास एक छोटे-से प्रदेश मे अपना राज्य कायम किया। "राजधानी, प्राचीन नगर **मदुरा**; और प्रदेश, **मदुरा** तथा **तिन्नेवेल्ली के वर्तमान** जिले जो कर्णाटक के धुर दक्षिणी छोर पर है; १७३६ ई तक स्वतन्त्र रहा। **तब आरकट के नवाब** ने उसे जीता।" (पृ. ६८-६९)। यहाँ एक बार फिर प्राचीनता का उल्लेख है और यह बात लक्ष्य की गयी है कि पाँचवी सदी ई. पू. से लेकर अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध तक मदुरइ-केन्द्रित तमिल राज्य अपनी अटूट सत्ता बनाये रहा था। तमिल भाषा, तमिल जाति और तमिल संस्कृति के लिए मदुरइ-केन्द्र की प्राचीनता और उसकी स्वाधीनता अत्यन्त महत्वपूर्ण रही हैं, यह निष्कर्ष आसानी से निकाला जा सकता है। यह सब लिखते समय मार्क्स को यह अवश्य याद आया होगा कि *तमिल प्रदेश की संस्कृति कम-से-कम उतनी प्राचीन है जितनी यूनान की है।* चोल राज्य का उल्लेख करते हुए मार्क्स ने नोट किया कि यहाँ तमिल भाषा बोली जाती थी और १६७८ मे मराठा सरदार वंकोजी ने उस पर अधिकार किया। चेर राज्य मे त्रावनकोर, कोयम्बतूर और एक अश मलाबार का शामिल थे। केरल के लिए लिखा है कि उसमे हिन्दुस्तान के ब्राह्मणों ने उपनिवेश बनाये और उस जाति के (अर्थात् ब्राह्मणो के) अभिजात वर्ग ने उस पर शासन किया। कर्णाटक के लिए लिखा है कि प्राचीनतम विवरणो के अनुसार यह प्रदेश पाण्ड्य और चेर राजाओ मे विभ.जित दिखायी देता है। यहां शक्तिशाली बल्लाल वश के राजाओं ने शासन किया। १३१० मे अलाउद्दीन खिलजी के नेतृत्व मे मुसलमानो ने इनके शासन का अन्त किया। आन्ध्र प्रदेश के लिए लिखा है कि यहाँ कई वशों ने राज्य किया। इ मे गणपति राजा बड़े प्रतापी हुए। चार सौ वर्ष तक अनेक वंशों के राजाओ ने आन्ध्र पर शासन किया, फिर १३३२ मे मुहम्मद तुगलक के नेतृत्व मे मुसलमानो ने उनके शासन का अन्त किया।

यादवो के लिए लिखा है कि ये कहाँ के थे यह अस्पष्ट है और उनके बारे में विशेष जानकारी नही है। फिर कर्णाटक के बारे मे लिखा, यहाँ के चालुक्य राजपूत थे और इन्ही की एक शाखा पूर्वी तेलंगाना पर शासन करती थी। चालुक्यो का .

कलिंग राज्य उड़ीसा की सीमाओं तक फैला गया था। मार्क्स ने नोट किया, उड़ीसा के राज्य का पहला उल्लेख महाभारत में है और ऐतिहासिक रूप से ज्ञात समय ४७३ ई. है जब शासक वंश ने यवन आक्रमणकारियों को बाहर निकाला। ३३ केसरी राजाओं ने ११३१ तक शासन किया। उसके बाद गंग वंश ने १५५० तक राज्य किया। फिर सलीमशह सूर —जलाल खाँ— ने वहाँ अधिकार किया। यहाँ मार्क्स ने उड़ीसा के लिए महाभारत का उल्लेख किया है और उसके साथ ज्ञात इतिहास के संवत् का हवाला भी दिया है। प्राचीन राज्यों के इस क्रम में उन्होंने लिखा है कि पेरिप्लुस के यूनानी लेखक ने तटवर्ती दो बड़े नगरों का उल्लेख किया है जो महत्त्वपूर्ण व्यापारकेन्द्र थे। एक था तगर, दूसरा प्लियन। मार्क्स ने लिखा है, इनके बारे में कुछ ज्ञात नहीं, कहा जाता है कि ये गोदावरी नदी के आसपास कहीं थे। "हिन्दुस्तान के 'प्राचीन' के लिए तुलनीय हैं हस्तिनापुरम् (वह छोटा राज्य जिसके लिए वह युद्ध हुआ था जो भारतीय इलिअद महाभारत में [वर्णित] है); प्राचीन धार्मिक नगर मथुरा और पांचाल।" (पृ. ७०)। इस प्रकार उत्तर और दक्षिण भारत दोनों के प्राचीन इतिहास पर मार्क्स की नजर थी और दो-तीन जगह उन्होंने जिस तरह प्राचीन शब्द का व्यवहार किया है, उससे स्पष्ट है कि वह इस प्राचीन युग को सामाजिक विकास की दृष्टि से बाद के समय से अलग रखते हैं। प्राचीनता के इस विवरण में कहीं ग्राम-समाजों का उल्लेख नहीं है। इससे यह न समझना चाहिए कि मार्क्स के लिए उनका अस्तित्व न था। किन्तु भारत में, और वह भी प्राचीन युग में, नदियों के आसपास व्यापारकेन्द्र थे, उनका यह उल्लेख महत्वपूर्ण है। यूनानी लेखक ने जिन दो नगरों का नाम लिया, उनके बारे में विशेष जानकारी न मिली। इससे निष्कर्ष यह निकालना चाहिए कि प्राचीन भारत में जहाँ-जहाँ व्यापारकेन्द्र थे, यातायात के साधन थे, उन सबका अध्ययन मार्क्सवादियों के लिए जरूरी है। ग्राम-समाजों के साथ इन व्यापारकेन्द्रों पर ध्यान देने से ही प्राचीन भारत की सही तस्वीर सामने आ सकती है। मार्क्स मनु के नाम और कृतित्व से परिचित थे। वर्णव्यवस्था में कौन ऊँचा है, कौन नीचा है, यह जानते थे। मगध के राज्य को उन्होंने बहुत दिलचस्प इसलिए कहा कि वहाँ क्षत्रिय राजा का वध करके शूद्र वंश के राजा ने शासन किया। इससे निष्कर्ष यह निकालना चाहिए कि उस समय वर्णव्यवस्था उतनी कठोर न थी जैसी वह धर्मशास्त्रों में दिखायी देती है। शासकों में एक ही वर्ण के या उच्च वर्णों के ही लोग न थे, निम्न वर्ण के भी थे। वर्णव्यवस्था किस समय और किन प्रदेशों में कितनी कठोर थी, कब और कहाँ-कहाँ वह किस तरह टूटी, मार्क्सवादी विद्वान् इस समस्या का विवेचन करें, तो उन्हें सामन्ती भारत की और अधिक जानकारी मिल सकेगी।

देखना चाहिए कि सामन्तवाद, सामन्ती वर्ग, सामन्ती भूसम्पत्ति जैसी चीजें मार्क्स की इन टिप्पणियों के अनुसार भारत में थीं या नहीं। मार्क्स ने लिखा है कि १७०२ में औरंगजेब ने मीर जाफ़र को बंगाल का दीवान बनाया। उसने सूबे को चकलों में बाँटा। हर चकले का एक हाकिम होता था जो टैक्स वसूल करता था। **"आगे चलकर इन हाकिमों ने अपने पदों को मौरूसी बना लिया और स्वयं को 'जमींदारी राजा' कहने लगे।"** (पृ. ५८)। इससे यह पता चला कि जो पहले

टैक्स वसूल करनेवाले हाकिम थे, वे मौरूसी ज़मीदार बने। हैदर अली के सिलसिले में मार्क्स ने लिखा कि राजा ने उसे ज़मीन दी। हैदर अली को मैसूर का सेनापति बनाया गया और उसे इतनी भूमि दी गयी कि आधे राज्य पर उसका अधिकार हो गया। (पृ. ९२)। इससे यह विदित हुआ कि मुगल बादशाह सैनिक सेवाओं के लिए जैसे जागीरें देते थे, वैसे ही दक्षिण भारत के हिन्दू राजा भी सैनिक तथा अन्य किसी प्रकार की सेवा के लिए जागीर देते थे। सिक्खों से अंग्रेजों की लड़ाई के प्रसंग में मार्क्स ने टिप्पणी लिखी, **"सिक्ख नेताओं की निजी भूसम्पत्ति छीन ली गयी।"** (पृ. १७५)। इसका मतलब यह हुआ कि कम-से-कम पंजाब में सामन्तों के पास अपनी भूसम्पत्ति थी। अनेक स्थानों पर मार्क्स ने अभिजात वर्ग की चर्चा की है। मालवा के हाकिम-परगना आसफजाह के लिए लिखा है कि वह एक तुर्क सरदार (noble) का बेटा था (पृ. ६०)। केरल के प्रसंग में इस बात का उल्लेख पहले हो चुका है कि वहाँ ब्राह्मणों का अभिजात वर्ग शासन करता था। (पृ. ६९)। *इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि अभिजात वर्ग में अनेक* जातियों और वर्गों के लोग शामिल थे। हैदराबाद की घटनाओं के प्रसंग में मार्क्स ने पठान नवाबों का उल्लेख किया है, जिन्होंने पहले नाजिरजंग को मारा था, फिर मुज़फ्फरजंग को मारा। (पृ. ७५)। अफगानिस्तान के विवरण में मार्क्स ने दुर्रानी सरदारों (nobles) का जिक्र किया है। (पृ. १५५)। यह माना जा सकता है कि ये तो कबीलों के सरदार थे, इनका सामन्तवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह दलील मराठों के सम्बन्ध में नहीं दी जा सकती। होल्कर के लिए मार्क्स ने लिखा कि वह मराठा अभिजात वर्ग (nobility) में दूसरे नम्बर पर था। (पृ. ११५)।

अभिजात वर्ग का सम्बन्ध सामन्ती भू स्वामित्व से है या वंशगत कुलीनता से ही, इस समस्या का समाधान मार्क्स के अन्य उल्लेखों से हो जाता है। अवध से सन्धि करते हुए हेस्टिंग्स ने दावा किया कि रुहेलखण्ड फ़ैज़ुल्ला की जागीर भर था जो उसके 'सामन्ती स्वामी' (feudal lord) अवध के नवाब से उसे मिली थी। (पृ. १०८)। एक है बड़ा सामन्त, दूसरा है छोटा सामन्त। बड़ा सामन्त छोटे सामन्त को जागीर देता है। छोटा सामन्त इसे अपनी सम्पत्ति नहीं कह सकता। यह तर्क अंग्रेजों का ही था। जब उन्नीसवीं सदी का आरम्भ हुआ, तब भारत में मार्क्स के अनुसार केवल एक बड़ी शक्ति रह गयी थी। यह शक्ति मराठों की थी। यह शक्ति पाँच मुख्य दलों में विभाजित थी। पहला दल पेशवा का था। छोटी रियासतें स्वतन्त्र थीं, पेशवा के अधीन भी थीं। पेशवा को वे मौरूसी प्रभुसत्ता के रूप में मानती थीं, और उसके समक्ष 'सामन्ती अधीनता' (feudal submission) स्वीकार करती थीं। (पृ. १२६)। आशय यह है कि पेशवा कमजोर था, इसीलिए *छोटी-छोटी रियासतें न तो पूरी तरह स्वाधीन थीं, न पूरी तरह पराधीन* थीं। उनकी पराधीनता सामन्ती ढंग की थी जहाँ छोटे सामन्त बड़े सामन्त को अपना राजा मानते हैं। ध्यान देने की बात है कि जैसे मुगल राज्य सत्ता के टूटने पर उत्तर भारत में छोटे-बड़े राजा और नवाब स्वतन्त्र हो गये, वैसे ही मराठा राज्यसत्ता के विघटित होने पर सिंधिया, होल्कर, गायकवाड़, भोंसले स्वतन्त्र हो

और छोटी-छोटी रियासतें भी पूरी नहीं तो आधी स्वतन्त्र हो गयीं। इससे द यह हुआ कि सामन्तवाद की जड़ें अभी मजबूत थीं और केन्द्रबद्ध सत्ता के थिल होने पर वे तुरन्त अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा करने लगती थीं। ध के अमीरों के प्रसग मे मार्क्स ने लिखा कि ये बलूची थे और तालपुरा कबीले रदार थे। इन्होंने पठानों से सिन्ध को छीना, उसे आपस मे बाँट लिया और "सामन्ती व्यवस्था (feudal system) कायम की।" (पृ. १६०)। ये उल्लेख रोचक है। पहले जो कबीले के सरदार थे, वे एक बड़ा इलाका जीतकर वहाँ न्ती व्यवस्था कायम करते हैं अर्थात् स्वयं सामन्त बन जाते है। अंग्रेज़ों ने अमीरों से खिराज की बडी रकम माँगी। उन्होंने (अंग्रेज़ों ने) "बेहूदगी से वेशर्म बहाना पेश किया कि अमीरों ने अफगानिस्तान के शाह शुजा का न्ती खिराज नहीं चुकाया।" (पृ. १६०)। छोटा सामन्त बड़े सामन्त को राज देता है। अंग्रेज़ इस व्यवस्था को अपने हित मे इस्तेमाल कर रहे थे। ानिस्तान का बादशाह शुजा अंग्रेज़ों की कठपुतली था। उसके नाम पर ज सामन्ती खिराज अपने लिए चाहते थे यानी भारत के सबसे बड़े सामन्त अंग्रेज थे। वर्मा के प्रसग मे मार्क्स ने लिखा कि आवा के वर्मी लोग पेगू राज धीन थे। उन्होंने पेगू के अपने से बड़े सामन्तों को (feudal superiors) रास्त किया और सारे देश के शासक बन गये। (पृ. १४८)। अफगानिस्तान कर वर्मा तक सामन्ती सम्बन्ध कायम थे, यह इन उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता भारतसम्बन्धी टिप्पणियों को देखने के बाद यह कहना उचित न होगा कि सं के लिए एशिया में सामन्तवाद था ही नहीं।

) व्यापारकेन्द्र और जातीयता

के बाद देखना यह चाहिए कि सामन्ती भारत मे समाज की प्रगति रुक गयी या कहीं विकास के कोई लक्षण भी दिखायी देते थे। कन्नौज के राज्य के मार्क्स ने लिखा है कि जब १०१७ मे महमूद गजनी ने उसकी राजधानी पर कार किया, तब वह बहुत ही समृद्ध था। (पृ. ६७)। जिस देश मे राज्यसत्ता आधार अत्यन्त सीमित पैदावारवाले स्वायत्त ग्राम-समाज होंगे, उसमें अन्य सी राज्यों की अपेक्षा विशेष समृद्धि नहीं हो सकती। कन्नौज का राज्य और की राजधानी किसानों की अतिरिक्त उपज के बल पर समृद्ध हुए थे, और मय की प्रगति से समृद्ध हुए थे। सम्पत्ति के केन्द्रीकरण से आकर्षित होकर एशिया से अनेक आक्रमणकारी दलों ने कन्नौज जैसे राज्यों का ध्वंस किया रोमन साम्राज्य के अन्तिम दिनों में जर्मन आक्रमणकारियों की भूमिका यहाँ आ जाती है।

सामाजिक विकास की दृष्टि से मार्क्स का सबसे महत्वपूर्ण उल्लेख दिल्ली ारे मे है। अकबर के समय मे दिल्ली अत्यन्त समृद्ध नगर था। मार्क्स ने बर के लिए लिखा, "उसने दिल्ली को उस समय के संसार का सबसे सुन्दर और वडा शहर बना दिया।" (पृ. ४३)। अकबर दिल्ली में न रहता था। बाद- के न रहने पर भी कोई शहर असाधारण रूप में बड़ा हो तो इसका कारण

व्यापार ही हो सकता है। बर्नियर ने लिखा था कि भारत के शहर देहात की तरह हैं; जहाँ बादशाह रहता है वहाँ उसकी फौज, राज-कर्मचारियों, मुसाहबों आदि का हुजूम रहता है। इसलिए भारत के शहरों की तुलना यूरोप के शहरो से नही की जा सकती। मार्क्स ने जब बर्नियर की पुस्तक पढी, तब उन्होने यह बात मान ली थी किन्तु यहाँ वह दिल्ली को भारत का ही नहीं, दुनिया का सबसे बड़ा शहर कह रहे थे। और वह बडा शहर होने के अलावा सुन्दर शहर भी था। मार्क्स यूरुप और इंग्लैण्ड के बडे शहरो से परिचित थे। भारतसम्बन्धी अन्य यात्रा-वृत्तान्त पढने के बाद उन्होने बर्नियरवाली स्थापना रद्द करके भारतीय नगरो के विकास के बारे मे नये सिरे मे अवश्य सोचा होगा। ग्राम-समाजोंवाले अवरुद्ध विकास के देश मे ऐसे नगरो का विकास सम्भव नही है, जो दुनिया के बडे-से-बडे शहरों से तुलनीय हो। सोलहवी-सत्रहवी सदियो मे यूरोप के व्यापारिक पूँजीवाद ने काफी प्रगति कर ली थी। उस यूरुप के शहरो से दिल्ली बढकर था क्योकि व्यापारिक पूँजीवाद मे भारत पीछे न था। व्यापार से सम्बन्धित एक उल्लेख बगाल को लेकर है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी मीर कासिम से नाराज़ थी। दिल्ली के बादशाह फर्रुखसियर ने १७१५ मे कम्पनी को सामूहिक रूप से दस्तक दे दी थी यानी कम्पनी जो माल आयात करे, उस पर चुगी देने मे उसे मुक्त कर दिया था। जितने भी अग्रेज़ निजी व्यापार करते थे, वे भी इसे अपना अधिकार मान बैठे। मीर कासिम क्लर्कों की इस अनधिकार चेष्टा का विरोधी था। जिस माल पर चुगी न दी गयी थी, उसे मीर कासिम के हाकिमो ने जब्त कर लिया। कम्पनी ने हुक्म दिया कि मीर कासिम के हाकिम चुगी वसूल करें तो उन्हे गिरफ्तार कर लिया जाये। "मीर कासिम ने इसका जवाब इस तरह दिया कि उसने **सभी मुग़ल व्यापारियों को फरमान दे दिया कि वे चुंगी दिये बिना बन्दरगाह से अपना माल ले जायें।** इस प्रकार उसने अग्रेज 'क्लर्कों' की **बराबरी के स्तर पर** उन्हे सुविधा दे दी।" (पृ. ८५)। यहाँ दो देशों के व्यापारी मुकाबले मे खडे हुए हैं। एक तरफ अग्रेज़ व्यापारी है, दूसरी तरफ भारत के मुगल व्यापारी है। अंग्रेज़ चाहते है कि हिन्दुस्तानी व्यापारियों से चुंगी ली जाये, उनसे चुगी न ली जाये। इस उल्लेख से पहला निष्कर्ष यह निकला कि अंग्रेज़ व्यापारियो से होड करनेवाला भारतीय व्यापारियो का एक वर्ग यहाँ अठारहवी सदी मे विद्यमान था। दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि अंग्रेजो ने इस वर्ग को आर्थिक होड द्वारा परास्त नही किया, उन्होने भारतीय सामन्तो से मिलकर, युद्ध के ज़रिये अपना राज्य विस्तार करते हुए राजनीतिक शक्ति के बल पर यहाँ के व्यापार का नाश किया। मीर कासिम और अंग्रेजो मे युद्ध हुआ। अग्रेजों ने मीर कासिम को हटाकर मीर जाफर को गद्दी पर बिठाया। मीर कासिम ने सभी अंग्रेज बन्दियों का वध कर दिया और इनके साथ **मुर्शिदाबाद के बड़े साहूकारों** ('the great Murshidabad bankers') का वध भी किया। (उप.)। मुर्शिदाबाद के सेठ अपनी सम्पदा के लिए प्रसिद्ध थे। साहूकारी का काम व्यापार से सम्बन्धित था। देश के औद्योगिक विकास के लिए महाजनों के पास पर्याप्त पूँजी थी, यह निष्कर्ष निकला।

अग्रेजी राज कायम होने से पहले भारत मे कोई नये सामाजिक गठन उभर

रहे थे या नही, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। जाति (nationality) पूँजीवादी व्यवस्था की उपज मानी जाती है। मार्क्स ने अनेक स्थानों पर जाति शब्द का प्रयोग किया है। यह सामन्ती व्यवस्था की लघु जाति हो सकती है, पूँजीवादी व्यवस्था की वह जाति भी जो लघु जातियो के मेल से बनती है। शिवाजी राजा बने। उन्होंने राजपूतों और अन्य पड़ोसियों से सन्धियाँ की। मार्क्स ने लिखा, "इस प्रकार मराठे एक जाति बने जिन पर एक स्वतन्त्र राजा शासन करता था।" (पृ. ५१)। यह उल्लेख १६६६ ई. के अन्तर्गत है। आगे जब पेशवा बाजीराव ने १८१७ मे अंग्रेज़ों के सामने आत्मसमर्पण किया, तब मार्क्स ने नोट किया, "मराठा राज्य की प्रभुसत्ता का अन्त हुआ जिसकी शुरूआत १६६६ मे शिवाजी ने की थी।" (पृष्ठ १४४)। अब सन्देह न रहना चाहिए कि मार्क्स जिस मराठा जाति की बात कह रहे थे, वह आधुनिक काल की मराठी भाषी जाति ही है। अठारहवीं सदी का समय सामन्तवाद का विघटन काल है किन्तु वह जातीय राज्यों की स्थापना का युग भी है। सत्रहवीं सदी मे मराठी भाषी जाति का निर्माण हुआ। निर्माण-प्रक्रिया और पहले शुरू हुई थी; वह प्रक्रिया दीर्घकालीन होती है, वह अलग बात है। किन्तु शिवाजी ने साधारण सामन्ती राज्य कायम न किया था, उन्होंने जातीय राज्य की नीव डाली थी और इस जाति की प्रभुसत्ता को अंग्रेज़ों ने समाप्त किया, यह निर्विवाद है।

भारतीय जातियों के स्वाधीनता-संघर्ष मुग़ल सत्ता स्थापित होने के पहले से चले आ रहे थे। तुग़लकों के जमाने में अनेक भागों में विद्रोह हुए। मार्क्स ने नोट किया कि मालवा और पंजाब के विद्रोह आसानी से दबा दिये गये किन्तु बंगाल का विद्रोह सफल हुआ। कृष्णा नदी के मुहाने से कन्याकुमारी तक के समुद्रतटवर्ती प्रदेश ने विद्रोह किया और स्वतन्त्र हुआ [अर्थात् तमिलनाडु स्वतन्त्र हुआ]; तेलंगाना और कर्णाटक ने सफलतापूर्वक विद्रोह किया। गुजरात ने विद्रोह किया। सुल्तान ने गुजरात पर धावा बोल दिया और लूटमार की। (पृ. २७)। मार्क्स ने यहाँ जिन प्रदेशों का उल्लेख किया है, वे भौगोलिक इकाइयाँ मात्र नही हैं। वे जातीय क्षेत्र हैं, इसका प्रमाण यह है कि मार्क्स अनेक बार इन क्षेत्रो की भाषाओं का भी उल्लेख करते हैं। एक जगह उन्होने केवल तेलंगाने का ज़िक्र किया, दूसरी जगह लिखा कि तेलुगु भाषा अब भी गंजम और पल्लीकोट के बीच बोली जाती है। तेलगाना मे उत्तरी सरकार हैदराबाद, बालघाट, कर्णाटक शामिल बताये गये हैं। (पृ. ३२)। आन्ध्र और तेलंगाना का क्या सम्बन्ध है, मैसूर और कर्णाटक का क्या सम्बन्ध है, कर्णाटक तेलंगाना से अलग है या उसका हिस्सा है, ये बातें स्पष्ट न की गयी हो तो चिन्ता की बात नहीं। चिन्तन के लिए मुख्य बात यह है कि मार्क्स के लिए भारत मे केवल हिन्दू-मुसलमान नही हैं, विभिन्न जातियाँ हैं और इनकी अलग-अलग भाषाएँ हैं। भारत के इस पक्ष पर देश या विदेश मे अभी बहुत कम लोग ध्यान दे रहे थे।

मार्क्स ने नोट किया कि १७६३ मे दिल्ली के कठपुतली बादशाह ने फ़रमान जारी किया कि कर्णाटक का नवाब दक्खिन के वर्तमान या भावी किसी भी सूबेदार के अधीन न होगा। "इस प्रकार कर्णाटक की स्वतन्त्र प्रभुसत्ता कायम हुई।"

(पृ. ९१)। अंग्रेज़ ज़मीदारों और साहूकारों ने कर्णाटक में लूट मचायी। और नवाब ने समूचे कर्णाटक को तबाह कर दिया।" (पृ. ११०)। इन उ यह विदित होता है कि भारत में प्रत्येक जाति की जैसी स्थिति होती थ उस पर अलग से ध्यान देते थे। मलिक काफ़ूर ने १३१० में कर्णाटक त दक्षिणी प्रदेशों को जीता। "तमिल धरती पर यह पहला मुस्लिम आक्रमण (पृ. २५)। तमिल धरती का अर्थ है तमिलभाषी जाति की धरती। जहां रामायण का उल्लेख किया है, वहां उन्होंने यह भी लिखा "तमिल लो भाषा बोलते हैं।" (पृ. ६८)। यहां तमिल शब्द जाति और भाषा दोनों क देता है। तेलंगाना की भाषा तेलुगु ही है, यह भी मार्क्स के उल्लेख से स "अन्य लोग तेलिंग प्रदेश के हैं जहां की लोकभाषा तेलुगु है।" (उप.)। क तमिल और तेलुगु इन दो भाषाओं के अस्तित्व से मार्क्स अच्छी तरह परि जहां सामाजिक विकास अपेक्षाकृत कम हुआ था, वहां के लिए लिखा : ' एक अनगढ़ बोली है जो उड़ीसा में बोली जाती है। उड़ीसा और मराठ बीच गोंड रहते हैं जो एक ऊबड़खाबड़ बोली बोलते हैं।" (पृ. ९८)। में "भारत से अंग्रेजों को निकालने के लिए मैसूरवासियों और मराठों शानदार संघ कायम हुआ।" (पृ. १०२)। मराठों में होल्कर, सिंधिया, और पेशवा थे। इन सबके लिए मार्क्स ने जातिवाचक मराठा शब्द का प्रयोग इतिहास की पुस्तकों में हैदरअली का उल्लेख इस तरह मिलता है मानो लड़ाई एक मुसलमान सामन्त की लड़ाई भर हो, मैसूर या कर्णाटक में बस जाति की लड़ाई न हो। किन्तु मार्क्स ने मैसूरवासियों का उल्लेख इस तर है कि हैदरअली का विशेष सम्बन्ध इस प्रदेश से स्पष्ट हो जाय। अंग्रे कायम होने से पहले यहां की विभिन्न जातियां समय-समय पर अंग्रेज़ों से वे सामन्तों के नेतृत्व में लड़ी, इससे यह तथ्य निरस्त नहीं हो जाता कि ये ल विभिन्न जातियों की लड़ाइयां भी थीं। अंग्रेज़ों के विरुद्ध राष्ट्रीय संग्रा जाये, इसके लिए जरूरी था कि इन जातियों में नये स्तर पर एकता का जाये। यह एकता धर्म के नाम पर कायम न हो सकती थी, उसके लिए एकता का एक नया आदर्श जरूरी था। १८५७ में जो स्वाधीनता संग्राम शु उसकी यही विशेषता थी जो पहले के युद्धों में नहीं थी।

एक जातीय क्षेत्र हिन्दुस्तान था। यह क्षेत्र वह है जहां मुगल राज्यस केन्द्र था और जहां १८५७ की लड़ाई मुख्य रूप में हुई। इस प्रदेश हिन्दुस्तान शब्द का प्रयोग मुग़ल काल से चला आ रहा था। मार्क्स ने सिक लड़नेवाले राजा पुरु के लिए जब यह लिखा कि वह सारे हिन्दुस्तान पर कर रहे थे (पृ. ६६), तब वह इस जातीय क्षेत्र को उसके पुराने इतिहास रहे थे। राघोबा के लिए मार्क्स ने लिखा कि १७५८ में उसने अहमदशाह से पंजाब ले लिया और सारे हिन्दुस्तान को मराठा शासन के अधीन करने गाजिउद्दीन के साथ षड्यन्त्र किया। (पृ. ६४)। यहां हिन्दुस्तान प्रदेश सारे देश के पर्याय रूप में न देखकर जातीय इकाई के रूप में देखते हैं। अ

गयी और वे हिन्दुस्तान के मालिक से बन गये। (पृ. ८६)। यहाँ भी वह हिन्दुस्तान को एक प्रदेश के रूप में देखते हैं। १७६३ में सिंधिया ने होलकर को परास्त किया और इस प्रकार वह हिन्दुस्तान का पूर्ण स्वामी बन गया। (पृष्ठ ११५)। १२३२ में शम्सुद्दीन उस सारे क्षेत्र में बादशाह मान लिया गया जो 'सही-सही हिन्दुस्तान' ('Hindustan proper') है। (पृ. २३)। हिन्दुस्तान शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था और उसका एक प्रदेशगत अर्थ भी था, दोनों बातें इस उल्लेख से प्रकट होती हैं। अकबर ने १६०० में अपने पुत्र दानियाल को अहमदनगर का घेरा डालने के लिए भेजा, फिर स्वयं वहाँ पहुँचा। इधर सलीम ने विद्रोह किया, इस कारण अकबर को हिन्दुस्तान लौट आना पड़ा। (पृ. ४४)। १६०५ में जब जहाँगीर बादशाह हुआ, तब हिन्दुस्तान शान्त था किन्तु दक्खिन में उपद्रव हो रहे थे। (उप.)। आगे चलकर हम देखेंगे कि १८५७ के सिलसिले में लड़ाई के मुख्य क्षेत्र के लिए एंगेल्स ने फिर हिन्दुस्तान शब्द का प्रयोग किया है। इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि समूचे भारत के इतिहास के सन्दर्भ में उस क्षेत्र के विशेष इतिहास पर भी ध्यान देना चाहिए जो पुराने समय से लेकर १८५७ तक जातीय इकाई के रूप में विद्यमान था।

किसी भी जाति की एकता उसके आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लिए जरूरी है। जातीय एकता सामन्ती अलगाव को दूर करके ही कायम होती है, इसलिए वह सामन्तविरोधी प्रक्रिया है। साम्राज्यवाद अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए सामन्ती शक्तियों से सहयोग करता है, वह किसी भी जाति की आन्तरिक एकता को अपने लिए खतरनाक समझता है। इस कारण किसी भी जाति के एकताबद्ध होने की प्रक्रिया साम्राज्यविरोधी प्रक्रिया भी होती है। राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है कि राष्ट्र की प्रत्येक जाति स्वयं भी एकताबद्ध हो। भारतीय इतिहास की एक विशेषता यह है कि जिस समय जातीय एकता की यह प्रक्रिया आगे बढ़ रही थी, उस समय अंग्रेजों ने सामन्तों के साथ मिलकर इसे पीछे ठेल दिया। इस कारण अंग्रेज राष्ट्रीय एकता कायम न कर सकते थे। उनका उद्देश्य था विभिन्न जातियों को भीतर से छिन्न-भिन्न करके उन्हें आपस में लड़ाते हुए एक निरंकुश राजसत्ता के अधीन उन सबका शोषण करना। अब देखें, मार्क्स ने किस तरह जातीय क्षेत्रों की एकता या विभाजन का उल्लेख किया है। सिन्ध के लिए मार्क्स ने लिखा, सिकन्दर के समय में यह स्वतन्त्र राज्य था। बाद को इसका विभाजन हुआ और एक बार फिर वह संयुक्त भी हुआ। (पृ. ६७)। केरल के लिए लिखा कि क्रमशः वह गुटों में बँट गया और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। (पृष्ठ ६६)। राजपूतों के बारे में एक उल्लेख बहुत महत्वपूर्ण है: "राजपूत बहुत अच्छे सैनिक थे पर बिखरे हुए थे; एकताबद्ध राजपूत प्रभुसत्ता कभी सुनी नहीं गयी।" (पृ. ६५)। भारतीय सामन्तवाद से राजपूतों का गहरा सम्बन्ध था। यह सामन्तवाद एकताबद्ध बड़े राज्य कायम करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। इसका बहुत बड़ा कारण स्वयं राजपूतों का एकताबद्ध न होना था। वे समूचे राजस्थान को एक ही प्रभुसत्ता के अधीन कभी संगठित नहीं कर पाये, तब वे समूचे भारत अथवा केवल उत्तर भारत में ही एक शक्तिशाली और टिकाऊ केन्द्रबद्ध राज्य कैसे कायम

करते ? मार्क्स ने पहले लिखा था कि एशिया में निरंकुश राज्यसत्ता का आधार खेती के लिए सिंचाई की अनिवार्य व्यवस्था है जिसे अलग-थलग ग्रामसमाज कायम नही कर सकते। इस कारण नीचे ग्रामसमाज और ऊपर निरंकुश राज्यसत्ता, यह एशिया की अपनी विशेषता हुई। राजस्थान में अवध या पंजाब की अपेक्षा सार्वजनिक सिंचाई की आवश्यकता अधिक ही थी। राजस्थान का काफी हिस्सा रेगिस्तान है। किन्तु इसी राजस्थान में एकताबद्ध राज्यसत्ता का अभाव था। इससे निष्कर्ष यह निकला कि निरकुश राज्यसत्ता की व्याख्या सिंचाई की आवश्यकता के आधार पर नही की जा सकती। राजस्थान से अफग़ानिस्तान की स्थिति तुलनीय है। दोनों पहाड़ी प्रदेश है। मार्क्स ने १८१६ के घटनाक्रम का विवरण देते हुए लिखा, महमूदशाह कमज़ोर शासक था, वास्तविक सत्ता फ़तह खाँ और बारकज़ाई लोगो के हाथ मे थी। फ़तह खाँ के छोटे भाई दोस्त मुहम्मद ने उसके साथ योजना बनायी कि गद्दी पर बारकज़ाई बैठें किन्तु इससे पहले वे [दोनों भाई] चाहते थे कि सारे अफ़गानिस्तान को एक व्यक्ति के अधीन कर दिया जाय। (पृ. १५६)। भले ही किसी देश में निरंकुश राज्यसत्ता कायम हो, किन्तु परस्पर लड़ते हुए छोटे-बड़े सामन्तो मे विभाजित होने से वह स्थिति अच्छी है। अफ़ग़ानिस्तान ने अंग्रेज़ो का डटकर मुकाबला किया, इसका एक कारण एकताबद्ध राज्य का कायम होना था यद्यपि इस तरह के राज्य के कायम होने से कबीलों का अस्तित्व समाप्त नही हो गया।

(ग) प्रतिरोध की क्षमता

कहाँ लोग अंग्रेज़ो का विरोध करते हैं, कहाँ उनसे मिल जाते हैं, स्वभावत: इस पर मार्क्स की निगाह थी। अंग्रेज़ी राज्य के प्रसार में भारतवासियों को सहायता करनी चाहिए या उसका विरोध करना चाहिए, इस सम्बन्ध मे मार्क्स का दृष्टिकोण समझना कठिन नही है। सिराजुद्दौला के संघर्ष का विवरण देते हुए मार्क्स ने लिखा, "बंगाल से अब पूरी तरह और कारगर ढंग से अंग्रेज़ दखलन्दाज़ों को निकाल बाहर किया गया।" (पृ. ८१)। बंगाल के लिए अंग्रेज़ दखलन्दाज़ थे। दखलन्दाज़ों को सिराजुद्दौला ने निकाला तो यह अच्छा काम हुआ। मार्क्स यह नही कहते कि सिराजुद्दौला सामन्त था और वह अंग्रेज़ों का विरोध करके प्रतिक्रियावादी काम कर रहा था। १७५७ में क्लाइव ने 'गद्दार' मीर जाफ़र को बंगाल, बिहार और उड़ीसा का सूबेदार बनाया। (पृ. ८२)। मार्क्स ने मीरजाफ़र के लिए गद्दार शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि वह अंग्रेज़ों में जाकर मिल गया था। १७८० में अंग्रेज़ों को भारत से निकालने के लिए मराठों और मैसूरवासियों ने 'शानदार संघ' ('Grand confederacy') बनाया। (पृ. १०२)। यह संघ केवल इसलिए शानदार न था कि उसमे हैदरअली और सिंधिया आदि अनेक सामन्त शामिल थे, वह शानदार इसलिए भी था कि उसका उद्देश्य अंग्रेज़ों को भारत से निकालना था। अंग्रेज पहले यहाँ उत्पादन का पुराना तरीका खत्म कर दें और नया तरीका चालू कर लें, तब उन्हें निकाला जाय, ऐसे किसी काम के इन्तज़ार की ज़रूरत न थी। अंग्रेज़ों ने कुछ समय के लिए अफ़गानिस्तान पर अधिकार कर

गयी और वे हिन्दुस्तान के मालिक से बन गये। (पृ. ८६)। यहाँ भी वह हिन्दुस्तान को एक प्रदेश के रूप में देखते हैं। १७६३ में सिंधिया ने होल्कर को परास्त किया और इस प्रकार वह हिन्दुस्तान का पूर्ण स्वामी बन गया। (पृष्ठ ११५)। १२३२ में शमसुद्दीन उस सारे क्षेत्र में बादशाह मान लिया गया जो 'सही-सही हिन्दुस्तान' ('Hindustan proper') है। (पृ. २३)। हिन्दुस्तान शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता था और उसका एक प्रदेशगत अर्थ भी था, दोनों बातें इस उल्लेख से प्रकट होती हैं। अकबर ने १६०० में अपने पुत्र दानियाल को अहमदनगर का घेरा डालने के लिए भेजा, फिर स्वयं वहाँ पहुँचा। इधर सलीम ने विद्रोह किया, इस कारण अकबर को हिन्दुस्तान लौट आना पड़ा। (पृ. ४४)। १६०५ में जब जहाँगीर बादशाह हुआ, तब हिन्दुस्तान शान्त था किन्तु दक्खिन में उपद्रव हो रहे थे। (उप.)। आगे चलकर हम देखेंगे कि १८५७ के सिलसिले में लड़ाई के मुख्य क्षेत्र के लिए एंगेल्स ने फिर हिन्दुस्तान शब्द का प्रयोग किया है। इन उल्लेखों से यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि समूचे भारत के इतिहास के सन्दर्भ में उस क्षेत्र के विशेष इतिहास पर भी ध्यान देना चाहिए जो पुराने समय से लेकर १८५७ तक जातीय इकाई के रूप में विद्यमान था।

किसी भी जाति की एकता उसके आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास के लिए जरूरी है। जातीय एकता सामन्ती अलगाव को दूर करके ही कायम होती है, इसलिए वह सामन्तविरोधी प्रक्रिया है। साम्राज्यवाद अपना प्रभुत्व कायम रखने के लिए सामन्ती शक्तियों से सहयोग करता है, वह किसी भी जाति की आन्तरिक एकता को अपने लिए खतरनाक समझता है। इस कारण किसी भी जाति के एकताबद्ध होने की प्रक्रिया साम्राज्यविरोधी प्रक्रिया भी होती है। राष्ट्रीय एकता के लिए आवश्यक है कि राष्ट्र की प्रत्येक जाति स्वयं भी एकताबद्ध हो। भारतीय इतिहास की एक विशेषता यह है कि जिस समय जातीय एकता की यह प्रक्रिया आगे बढ़ रही थी, उस समय अंग्रेजों ने सामन्तों के साथ मिलकर इसे पीछे ठेल दिया। इस कारण अंग्रेज राष्ट्रीय एकता कायम न कर सकते थे। उनका उद्देश्य था विभिन्न जातियों को भीतर से छिन्न-भिन्न करके उन्हें आपस में लड़ाते हुए एक निरंकुश राजसत्ता के अधीन उन सबका शोषण करना। अब देखें, मार्क्स ने किस तरह जातीय क्षेत्रों की एकता या विभाजन का उल्लेख किया है। सिन्ध के लिए मार्क्स ने लिखा, सिकन्दर के समय में यह स्वतन्त्र राज्य था। बाद को इसका विभाजन हुआ और एक बार फिर वह संयुक्त भी हुआ। (पृ. ६७)। केरल के लिए लिखा कि क्रमशः वह गुटों में बँट गया और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। (पृष्ठ ६६)। राजपूतों के बारे में एक उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण है: "राजपूत बहुत अच्छे सैनिक थे पर बिखरे हुए थे; एकताबद्ध राजपूत प्रभुसत्ता कभी सुनी नहीं गयी।" (पृ. ६५)। भारतीय सामन्तवाद से राजपूतों का गहरा सम्बन्ध था। यह सामन्तवाद एकताबद्ध बड़े राज्य कायम करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। इसका बहुत बड़ा कारण स्वयं राजपूतों का एकताबद्ध न होना था। वे समूचे राजस्थान को एक ही प्रभुसत्ता के अधीन कभी संगठित नहीं कर पाये, तब वे समूचे भारत अथवा केवल उत्तर भारत में ही एक शक्तिशाली और टिकाऊ केन्द्रबद्ध राज्य कैसे कायम

र्स ने पहले लिखा था कि एशिया में निरंकुश राज्यसत्ता का आधार
सिंचाई की अनिवार्य व्यवस्था है जिसे अलग-थलग ग्रामसमाज कायम
ते। इस कारण नीचे ग्रामसमाज और ऊपर निरंकुश राज्यसत्ता, यह
अपनी विशेषता हुई। राजस्थान में अवध या पंजाब की अपेक्षा सार्व-
ाई की आवश्यकता अधिक ही थी। राजस्थान का काफ़ी हिस्सा
। किन्तु इसी राजस्थान मे एकताबद्ध राज्यसत्ता का अभाव था।
र्थ यह निकला कि निरंकुश राज्यसत्ता की व्याख्या सिंचाई की
के आधार पर नही की जा सकती। राजस्थान से अफगानिस्तान की
ीय है। दोनों पहाडी प्रदेश है। मार्क्स ने १८१६ के घटनाक्रम का
हुए लिखा, महमूदशाह कमजोर शासक था, वास्तविक सत्ता फ़तह
रकज़ाई लोगो के हाथ मे थी। फतह खाँ के छोटे भाई दोस्त मुहम्मद ने
योजना बनायी कि गद्दी पर बारकज़ाई बैठें किन्तु इससे पहले वे
] चाहते थे कि सारे अफगानिस्तान को एक व्यक्ति के अधीन कर
(पृ. १५६)। भले ही किसी देश मे निरंकश राज्यसत्ता कायम हो,
र लड़ते हुए छोटे-बडे सामन्तो मे विभाजित होने से वह स्थिति अच्छी
निस्तान ने अंग्रेज़ो का डटकर मुकाबला किया, इसका एक कारण
ाज्य का कायम होना था यद्यपि इस तरह के राज्य के कायम होने से
अस्तित्व समाप्त नही हो गया।

ाध की क्षमता

ंग्रेजों का विरोध करते हैं, कहाँ उनसे मिल जाते हैं, स्वभावत: इन पर
निगाह थी। अंग्रेजी राज्य के प्रसार में भारतवासियों को सहायता
ए या उसका विरोध करना चाहिए. इस सम्बन्ध मे मार्क्स का दृष्टि-
ा कठिन नही है। सिराजुद्दौला के संघर्ष का विवरण देते हुए मार्क्स ने
ाल से अब पूरी तरह और कारगर ढंग से अंग्रेज दखलन्दाज़ों को
र किया गया।" (पृ. ८१)। बंगाल के लिए अंग्रेज दखलन्दाज थे।
को सिराजुद्दौला ने निकाला तो यह अच्छा काम हुआ। मार्क्स यह
क सिराजुद्दौला सामन्त था और वह अंग्रेजों का विरोध करके प्रगति-
ाम कर रहा था। १७५७ में क्लाइव ने 'गद्दार' मीर जाफर को बंगाल,
उडीसा का सूबेदार बनाया। (पृ. ८२)। मार्क्स ने मीरजाफर के लिए
का प्रयोग इसलिए किया है कि वह अंग्रेज़ों से जाकर मिल गया था।
ंग्रेजों को भारत से निकालने के लिए मराठों और मैसूरवासियों ने
घ' ('Grand confederacy') बनाया। (पृ. १०२)। यह संघ केवल
ादार न था कि उसमे हैदरअली और सिंधिया आदि अनेक सामन्त
वह शानदार इसलिए भी था कि उसका उद्देश्य अंग्रेज़ों को भारत से
ा। अंग्रेज पहले यहाँ उत्पादन का पुराना तरीका खत्म कर दें और
चालू कर लें, तब उन्हें निकाला जाय, ऐसे किसी काम के इन्तज़ार की
ो। अंग्रेज़ों ने कुछ समय के लिए अफगानिस्तान पर अधिकार कर

लिया। मार्क्स ने नोट किया कि १८४० और ४१ में "कन्दहार में गम्भीर विद्रोह हुए सख्ती से इनका दमन किया गया। हेरात के लोगों ने खुल्लमखुल्ला अंग्रेजों के विरोध का ऐलान किया। 'बलपूर्वक सत्ता हथियानेवाले अंग्रेजो' ('British usurpers') के खिलाफ सारे देश मे गुस्सा फैल गया।" (पृ. १६३)। अंग्रेजी राज के हिमायती कह सकते है, अफ़गानिस्तान भारत से भी पिछडा हुआ देश था। उचित था कि वहाँ के निवासी पुरानी व्यवस्था बदलने के लिए अंग्रेजों का स्वागत करते, किन्तु हुआ यह कि अपने पिछड़ेपन के कारण वे अंग्रेजो को अन्यायपूर्वक सत्ता हथियानेवाला कह रहे थे। और ऐसा लगता है कि मार्क्स को भी इन पठानों से सहानुभूति थी। २३ नवम्बर १८४१ को लड़ाई हुई। अंग्रेज बुरी तरह हारे। दिसम्बर मे खाने-पीने की सामग्री खत्म हो गयी। "आसपास के इलाके के लोगों ने एक स्वर से कहा, इन्हें सामान न मिलने पाये।" (पृ. १६४)। केवल सामन्त अंग्रेजो से न लड रहे थे, उनके साथ साधारण लोग भी लड रहे थे। उनके स्वाधीनता प्रेम ने उन्हें सिखाया था कि अंग्रेजो को खाने-पीने की सामग्री न मिलने पाये। पन्द्रह हजार ब्रिटिश फौज ने अफगानिस्तान से कूच किया। छावनी से निकले ही थे कि भारी बर्फबारी हुई। मुसीबत में फँसे सैनिको को पठानों ने घेर लिया। "तंग दर्रे मे देशी लोगों (natives) ने पहाड़ियों के ऊपर से 'ब्रिटिश कुत्तों' ('British dogs') पर गोलियाँ बरसायी। इस तरह सैकडो ही खेत रहे जब तक कि दर्रे का आखिरी छोर साफ नहीं कर दिया गया। वहाँ केवल ५००-६०० भूखे, घायल आदमी बचे जो अपना वापसी कूच जारी रखें। सीमा की तरफ जब वे घिसटते हुए मार्च कर रहे थे, तब वे भी भेड़ों की तरह काट डाले गये।" (पृष्ठ १६५)। एक तो अंग्रेजों ने मार खायी, इस पर मार्क्स ने उन्हे कुत्ता और भेड बनाया। यह कार्य उचित था या अनुचित, यह वैज्ञानिक भौतिकवाद के विशेषज्ञ तय करें। १८८१ के आसपास जब मार्क्स भारतीय इतिहास पर टिप्पणियां लिख रहे थे, तब उनके सामने अफगानिस्तान और उसके साथ भारत के पिछले राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम का महत्व असन्दिग्ध था, यह बात मान लेनी चाहिए।

अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार किया। यहाँ के सामन्तों ने भारी कमजोरी दिखायी, यह निर्विवाद है। सामन्ती विघटन के समाज मे कही कोई प्रतिरोध के तत्त्व थे या नही, यह देखना चाहिए। भारत मे निरंकुश राज्यसत्ता थी और राजा को ईश्वर का अवतार माना जाता था। किन्तु इतिहासकार एल्फिस्टन ने अपने भारत का इतिहास ग्रन्थ में लिखा था, "पूर्व में [अर्थात् एशिया के देशों मे] दुष्ट राजा से छुटकारा पाने में आमतौर से जरा भी झिझक नहीं दिख यी देती। अतः किसी एक आदमी के कुशासन से भारी हानि हो जाय, ऐसा कम ही होता है।" (पृ. २७)। एल्फिस्टन इंग्लैण्ड के रहनेवाले थे जहाँ की जनता ने अपने राजा को मौत के घाट उतार दिया था। उन्होने जब भारत के बारे मे दुष्ट राजाओं से तुरन्त छुटकारा पाने की यह बात लिखी, तब कुछ सोच-समझकर ही लिखी होगी। इसे भारतीय जनता की जनतान्त्रिक और क्रान्तिकारी परम्परा की पुष्टि मानना चाहिए। मार्क्स ने एल्फिस्टन का वाक्य अपनी टिप्पणियों मे उद्धृत किया और उसे रेखांकित भी किया। यदि उक्त स्थापना के साथ हम जर्मन जाति के बारे में

स्वयं मार्क्स की स्थापना रखकर देखें, तो प्रतीत होगा कि कुल मिलाकर भारत की जनता घाटे में नहीं रहती और यहाँ प्रतिरोध की यथेष्ट सम्भावना थी, यह माना जायेगा। मार्क्स ने १८४२ में लिखा था, "जर्मन लोग स्वभाव से बहुत ही वफादार, ताबेदार और जीहुजूर होते हैं। (Germans are by nature most devoted, servile and respectful)" (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृष्ठ १७२)।

मार्क्स ने राजपूतों के लिए लिखा था कि वे बहादुर सैनिक होते हैं किन्तु एकतावद्ध प्रभुसत्ता कायम नहीं कर सके। (पृ. ३४)। साहस और वीरता की कमी नहीं थी, कमी थी राजनीतिक समझ और सगठन की। जब हुमायूँ भागकर मारवाड़ पहुँचा, तब वह जैसलमेर की मरुभूमि में मारा-मारा फिरा "जहाँ उसके खेमे और थोड़े-से अनुयाइयों के खेमों पर बार-बार हमले किये गये।" (पृष्ठ ३७)। मुग़ल अपनी राज्यसत्ता बहुत आसानी से कायम नहीं कर सके। अकबर ने चित्तौड़ का घेरा डाला। "बहादुरी से मुकाबला करने के बाद और तीर से उसके नायक के मारे जाने के बाद" वह अकबर के अधिकार में हुआ। (पृ. ४०)। अकबर ने साम्राज्य को व्यवस्थित किया। वह "धार्मिक मामलों की ओर से उदासीन था, इसलिए सहिष्णु था। उसके मुख्य धार्मिक और साहित्यिक सलाहकार फ़ैजी और अबुल फ़ज़ल थे। फ़ैजी ने रामायण और महाभारत समेत प्राचीन संस्कृत काव्यों का अनुवाद किया। (बाद को अकबर ने गोवा से एक पुर्तगाली रोमन कैथालिक पादरी बुलवाया। फ़ैजी ने ईसाई धर्म ग्रन्थों का भी अनुवाद किया।) हिन्दुओं के प्रति उदारता का भाव था, अकबर ने केवल सतीप्रथा को समाप्त करने पर जोर दिया।" उसने जजिया समाप्त किया; यह कर हर हिन्दू को बाध्य होकर मुसलमान सरकार को देना होता था। (पृ. ४२)। इन्हीं दिनों इंग्लैण्ड में बूढ़ी स्त्रियों को डायन समझकर जलाने की प्रथा थी। भारत बहुत बड़ा देश है, इंग्लैण्ड छोटा-सा टापू है। यदि कोई पता लगा सके तो लगाये कि सोलहवीं-सत्रहवीं सदियों में आबादी के हिसाब से इंग्लैण्ड में डायनें ज्यादा जलायी गयी या भारत में विधवाएँ। जहाँ तक धार्मिक सहिष्णुता का सम्बन्ध है, अकबर तो मुसलमान था और हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु था, इंग्लैण्ट में जब प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों से बन पड़ता था, वे रोमन कैथालिक ईसाइयों को जलाते थे और रोमन कैथालिकों से बन पड़ता था तो यही व्यवहार वे प्रोटेस्टेन्टों के साथ करते थे। ईसाई धर्म के विभाजन ने, रोमन कैथालिकों और प्रोटेस्टेन्टों के भेद ने आज तक यूरुप की राजनीति को जितना प्रभावित किया है, उतना अंग्रेज़ी राज कायम होने तक भारत की राजनीति को हिन्दू-मुस्लिम भेद ने प्रभावित नहीं किया। मार्क्स ने नोट किया था कि शेरशाह का मन्त्री हेमू था। (पृ. ३८)। औरंगजेब का पुत्र अकबर, दुर्गादास के साथ भागकर, मराठों के पास गया था। होल्कर ने अमीर खाँ से मिलकर सिंधिया का विरोध किया था। (पृ. १२७)। हैदरअली का राज-काज चलानेवाला मन्त्री पूर्णया था। (पृ. १०३)। निस्सन्देह ये उल्लेख इस तरह से नहीं किये गये मानो मार्क्स हिन्दू-मुस्लिम समस्या का अध्ययन कर रहे हों। किन्तु इतना वह अवश्य जानते थे कि औरंगजेब की नीति सभी मुसलमान बादशाहों

की नीति नही थी। शाहजहाँ के चार बेटे थे। इनमें औरंगजेब तीसरा, हृदयहीन और हर चीज़ नाप-तौलकर आगे बढ़नेवाला (calculating and cold) था। उसमे सत्ता पाने की आकांक्षा थी और वह समझता था "साम्राज्य को चलानेवाली महान् प्रेरक शक्ति धर्म है, इसलिए उसने इस्लाम का अलम्बरदार बनकर लोकप्रियता हासिल करने की कोशिश की।" (पृ. ४८)। औरंगजेब को कितनी लोकप्रियता मिली, यह मुगल साम्राज्य के विघटन मे साबित हो गया।

मार्क्स ने नजीबुद्दौला के पुत्र रुहिल्ला सरदार जबीता खाँ के लिए लिखा कि वह दिल्ली का शासन अच्छे ढंग से चला रहा था। (पृ. ८८)। अन्य रुहिल्ला सरदार अमीर खाँ के लिए लिखा कि उसकी सेना भारत की सर्वश्रेष्ठ फौजो मे थी। (पृ. १४०)। १८४३ मे अंग्रेज फौज ने चम्बल नदी पार करके सिंधिया के राज्य मे प्रवेश किया। रानी ने आत्मसमर्पण करना चाहा "किन्तु उनकी साठ हजार फौज दो सौ तोपों के साथ आगे बढी और उसने अंग्रेजों को चम्बल के पार खदेड़ दिया।" (पृ. १६६)। राजा हो या रानी, हर स्थिति मे सैनिक उसकी आज्ञा मानने को तैयार न थे। रानी की फौज का यह कार्य उसी परम्परा के अनुकूल था जिसके अनुसार यहाँ की जनता दुष्ट राजा से छुटकारा पाने मे झिझकती न थी। पुरानी परम्परा के अलावा इस फौज ने नया कमाल यह किया कि उसने अंग्रेजो को चम्बल पार खदेड़ दिया। यदि अंग्रेज एक जगह खदेड़े जा सकते थे, तो दूसरी जगह उनकी विजय ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार अनिवार्य नहीं हो जाती।

मुगल साम्राज्य का विघटन होने पर अवध का नवाब स्वतन्त्र हो गया, उसके पास विस्तृत राज्य और 'बढ़िया फ़ौज' थी। (पृष्ठ ६५)। १७७४ मे अंग्रेजों और अवध की सेनाओं ने मिलकर रुहेलखण्ड में प्रवेश किया, "बहादुर रुहेले लगभग नेस्तनाबूद कर दिये गये। इसके अलावा रुहेलखण्ड को उजाड़कर डाकू वापस लौटे।" (पृष्ठ ६६)। अवध की शानदार फौज का उपयोग अपने ही देश के एक भाग रुहेलखण्ड के विरुद्ध किया गया। जिन डाकुओं ने रुहेलखण्ड को उजाडा, वे अंग्रेज थे। अवध के किसानों को फौज मे भरती करके उनकी सहायता से अंग्रेजो ने पंजाब जीता, फिर पंजाबियो (मुख्यत: सिक्खों) की मदद से अवध को जीता और अवध के सिपाहियों को परास्त किया। अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार कर लिया तो इसका कारण यह नही था कि उन्होने बहुत अधिक सामाजिक प्रगति कर ली थी। कारण यह था कि भारत संक्रमण की दशा मे था, सामन्तवाद टूट रहा था और नयी व्यवस्था को पनपने का मौका न मिला था। अंग्रेजो को पंजाब मे कड़े प्रतिरोध का सामना करना पडा। साठ हजार सिक्ख-फौज सतलज पार करके फीरोजपुर के पास मुकाबले के लिए आ पहुँची। गवर्नर जनरल हार्डिंज और सेनापति ह्यू गफ उनका सामना करने के लिए बढ़े। "नोट करें कि अंग्रेजों पर जो आफत आयी, वह सिक्खो की बहादुरी के अलावा बहुत कुछ गफ के गधेपन के कारण आयी। वह समझता था कि वह जैसे चाहे वैसे सिक्खों से निपट लेगा; जैसे दक्खिन के हिन्दू आसानी से डर जाते थे, वैसे ही संगीनों से हमला करने पर यहाँ भी डर जायेंगे।" (पृष्ठ १७१)। यदि अंग्रेज गलती कर सकते थे तो हिन्दुस्तान के लोग भी अपनी गलतियो से सबक लेकर

और भी मुस्तैदी से अंग्रेजों का मुकाबला कर सकते थे। अंग्रेजोंने नेपाल पर हमला किया। १८१५ में अंग्रेजी फौज दो हिस्सों में बँटकर आगे बढ़ी। इनमें प्रत्येक टुकड़ी पर "गुरखों ने हमला किया और उसे हरा दिया", अंग्रेज सेनापति आगे-पीछे मार्च करता रहा और अन्त में "अकेला ही सीमा के उस पार भाग खड़ा हुआ।" (पृष्ठ १४२)। कुछ-कुछ वैसी दशा हुई जैसी अफगानिस्तान में अंग्रेजों की हुई थी। यदि नेपाल, अफगानिस्तान और भारत के लोग मिलकर अंग्रेजों का मुकाबला करते, अपनी अलग-अलग अंग्रेज-विरोधी लड़ाइयों में तालमेल स्थापित करते, तो एशिया के इस भाग का इतिहास ही कुछ और होता। भारत के लोग नेपाल की घटनाओं के प्रति उदासीन रहे हों, ऐसा नहीं था। मार्क्स ने लिखा, "गुरखा युद्ध के प्रारम्भिक दौर में कम्पनी के बार-बार हारने पर देशी राजाओं में उथल-पुथल शुरू हुई, खासकर हाथरस और बरेली में विद्रोह हुए।" (पृ. १४२)। ये घटनाएँ उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक की थीं। जो विद्रोह हुए, वे बहुत सीमित क्षेत्र में हुए। इस क्षेत्र को विस्तृत करना जरूरी था। अंग्रेजों ने नेपाल के सामन्तों से समझौता किया। परिणाम यह हुआ, "बहुत से गुरखा लोग अंग्रेजी फ़ौज में भर्ती हुए, उन्हें गुरखा पल्टनों में भर्ती होने को बाध्य किया गया। १८५७ के सिपाही विद्रोह में वे अंग्रेजों के बहुत ही काम के सिद्ध हुए।" (उप.)। नेपाल और भारत ने समय पर आपसी सम्बन्ध मजबूत न किये, उसका परिणाम यह हुआ कि सिक्खों की तरह गुरखों ने सन् '५७ के विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों की मदद की। मार्क्स ने १८५७-५८ की घटनाओं का संक्षिप्त विवरण देते हुए नेपाल को फिर याद किया। अवध की बेगम ने आखिरी समय में कई जगह मुकाबला किया, फिर नाना साहब के साथ राप्ती नदी पार करके "अंग्रेजों के पालतू कुत्ते (the English dog-man) नेपाल के जंग बहादुर के राज्य में चली गयी। उसने अंग्रेजों को अपने राज्य में विद्रोहियों का पीछा करने की अनुमति दी।" (पृष्ठ १८५)। दरअसल गुरखा फौज के विरोध के कारण जंग बहादुर की हिम्मत न हुई कि वह अवध की बेगम, नाना साहब तथा हिन्दुस्तानी फ़ौज के नेताओं को अंग्रेजों के हवाले करे। मार्क्स ने सिन्धिया को भी अंग्रेजों का पालतू कुत्ता कहा। (उप.)। जो लोग १८५७-५८ में भारत की पराजय को अनिवार्य मानते हैं, वे यह भी मानें कि राणा जंग बहादुर और सिन्धिया का अंग्रेजों का पालतू कुत्ता बनना अनिवार्य था।

इस तरह की अनिवार्यता का एक परिणाम यह होगा कि अंग्रेजों में इन्सानों से ज्यादा कुत्ते दिखायी देने लगेंगे। जिस अंग्रेज ने कलकत्ते की नींव डाली थी, उसे बंगाल से मुगलों ने निकाल दिया और डर के मारे वह दूसरे सौदागरों के साथ जान लेकर भागा। फिर औरंगजेब की अनुमति से 'कुत्ते' बाहर से लौट आये। (पृष्ठ ५६)। यह घटना १६९० की है। १६९८ में "औरंगजेब ने कुत्तों अर्थात् कम्पनी को तीन गाँव खरीदने की अनुमति दी।" (पृष्ठ ५७)। १७७५-७७ में मद्रास के अध्यक्ष लॉर्ड पिगो ने प्रशासन में भ्रष्टाचार की छानबीन करते हुए पौल बेनफील्ड के विरुद्ध जाँच शुरू की क्योंकि इस 'कुत्ते' ने तंजौर की माल-गुजारी पर धोखाधड़ी से अपना हक जाहिर किया था। (पृष्ठ १०६)। पठानों ने

अफगानिस्तान से लौटते हुए 'ब्रिटिश कुत्तों' पर गोलियाँ बरसायी। (पृष्ठ १६५)। नाना साहब ने पिता की पेंशन माँगी, अंग्रेजों ने इंकार किया। नाना चुप रहे, बाद को 'अंग्रेज कुत्तों' से बदला लिया। (पृष्ठ १७६)। कुछ अन्य प्रकार के पशु भी मनुष्य के रूप मे यहाँ दिखायी देते थे। १८४० मे मैकनाटन और कौटन नाम के दो अंग्रेज काबुल गये। ये ऐसे 'गधे' थे कि उन्होंने बाला हिसार का ऊँचा किला शाहशुजा को उसके हरम के लिए दे दिया और वहाँ से फौजें छावनी मे ले आया। (पृष्ठ १६३)। आॅकलैण्ड के बाद लार्ड एलेनबरो भारत का गवर्नर जनरल बना, इस बडे मुँहवाले 'हाथी' को शान्तिनीति पर चलने के लिए भेजा गया था लेकिन उसके दो साल तक भारत मे रहते समय तलवार कभी म्यान में न गयी। (पृष्ठ १६५)। उसके शासन काल की घटनाओ के विवरण के ऊपर सिरनामा है —"लार्ड एलनबरो (हाथी) का प्रशासन १८४२-४४"। १७७३ मे मराठों ने तय किया कि अवध को लूटेंगे। अवध के रुहेले अवध के नवाब की सहायता के लिए आये। बुढ्ढ शाहआलम ने मराठों पर हमला किया और हारा। उसे कड़ा और इलाहाबाद के जिले देने पड़े। इन जिलों में बंगाल के अंग्रेजी राज्य का हिस्सा भी शामिल था। 'ब्रिटिश जानवरों' की किस्मत अच्छी थी क्योंकि पेशवा ने दक्षिण मे अभियान के लिए मराठों को बुला लिया। (पृष्ठ ८६)। जहाँ वे जानवर नही हैं, वहाँ वे गन्दे, धूर्त, कायर आदि हैं। कलकत्ते की कालकोठरी को लेकर अंग्रेजो ने बड़ा हल्ला मचाया था। मार्क्स ने लिखा है कि १४६ आदमी बीस वर्ग-फुट कमरे मे अकस्मात् ठूँस दिये गये थे। अगले दिन २३ अभी जिन्दा थे और उन्हें हुगली से नाव मे बैठकर चले जाने दिया गया। यही कलकत्ते की कालकोठरी थी जिस पर 'अंग्रेज धूर्तों' ने इतना हल्ला-गुल्ला मचा रखा है। (पृष्ठ ८१)। १७५७ के अन्त मे मीर जाफर ने जहाज में खजाना भेजा। इस पर कलकत्ते के 'भोंदू' बडे प्रसन्न हुए। १७७९ मे अंग्रेज फौज ने पूना पर हमला किया लेकिन गैर फौजी अफसर 'डर गये' और उन्होने फौज को लौटने का हुक्म दिया, मराठो ने हमला किया और 'सहमे हुए'-कमिश्नरो ने सिन्धिया से बिनती की कि उनकी जान बख्श दे। कमिश्नरो की 'कायरता' का पूर्वानुमान करके राघोबा ने स्वेच्छा से सिन्धिया के आगे आत्मसमर्पण कर दिया। (पृष्ठ १०१)। हेनरी डंडास ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टरो के बोर्ड का सदस्य था। यही 'गन्दा आदमी' १८०६ में अर्ल आफ मेलविल के रूप में भ्रष्टाचार के अभियोग में पार्लियामेण्ट की अदालत मे पेश किया गया था। (पृष्ठ १०६)। १७८४ मे पिट का इण्डिया बिल पास हुआ। अब से कमिश्नरो के बोर्ड का अध्यक्ष भारत का वास्तविक निरंकुश गवर्नर बना। 'पाजी डंडास' (मेलविल) ने सबसे पहले यह पद सँभाला। (पृष्ठ ११०)। पशुओं और मनुष्यो के अतिरिक्त मार्क्स ने अंग्रेजों की खासियत बताने के लिए कहीं-कहीं कीड़े-मकोडों का सहारा भी लिया है। आर्कट के नवाब मुहम्मद अली को रुपया उधार देकर 'कीडे' (vermin) तुरत बड़े ज़मीदार बन गये। उन्होने कर्णाटक को तबाह कर दिया। 'पिस्सू' (louse) डंडास ने मामला हाथ में लिया और 'खून चूसने वाले अंग्रेज़ बदमाशों' (*the blood-sucking English scoundrels*) के हितों का खूब ध्यान रखते हुए सबकुछ ठीक

कर दिया। (पृष्ठ ११०-११)।

(घ) अंग्रेज़ी बन्दोबस्त और विद्रोह

मार्क्स के विवरण मे यह उल्लेखनीय है कि अंग्रेज यहाँ जमीदारो और सूदखोर महाजनों की सामन्ती भूमिका पूरी करते हैं। यह भूमिका पूरी करने मे वे कानून या ईमानदारी का ध्यान बिलकुल नही रखते। आर्केट के नवाब को ऋण देनेवाले कौन थे? **'धोखेबाज अंग्रेज सूदखोर'** ('English swindler usurers')। यही सूदखोर महाजन बडे जमीदार बने और रैयत को सताकर भारी दौलत बटोरते रहे। देशी किसानो पर नये यूरोपियन अर्थात् अंग्रेज जमीदारों ने बेझिझक अत्याचार किया (उप)। निजाम के ऊपर भारी कर्ज हो गया था। पामर ऐण्ड कम्पनी नाम की अंग्रेज़ी फर्म ने उसे बडे चाव से रुपया उधार दिया और यह उधार रकम बेहिसाब बढ़ती गयी। पामर कम्पनी के लोग हैदराबाद मे अनुचित रूप से प्रभावशाली बन गये। भारत का गवर्नर जनरल हेस्टिंग्ज़ भी इस कम्पनी से सम्बन्धित था। उसने पामर ऐण्ड कम्पनी को कई ऐसे कामों के लिए अनुमति दी थी जो अनुचित कहे जाते थे। (पृष्ठ १४७)। जब अंग्रेज यहाँ जमीदारो और सूदखोरों की भूमिका पूरी कर रहे थे, तब इंग्लैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति लगभग हो चुकी थी किन्तु इन अंग्रेज़ो को औद्योगिक पूँजीवाद का प्रतिनिधि न कहा जा सकता था। व्यापारी वे अवश्य थे। ईस्ट इंडिया कम्पनी व्यापार करती थी और उसके नौकर-चाकर अलग से व्यापार करते थे। जहाँ भी वे अपना इजारा कायम कर पाते थे, वे रैयत की खाल खीच लेते थे। (पृष्ठ ८८)। वेलेज़ली का झगड़ा डायरेक्टरो से इस कारण हुआ कि वह निजी व्यापार करनेवाले अंग्रेज़ों का पक्षपाती था। (पृष्ठ १२६)। व्यापारियों, सूदखोरों और ज़मीदारो के रूप मे जब अंग्रेज़ो ने भारत पर अधिकार कर लिया, तब यहाँ के उद्योग-धन्धों को तबाह करने मे वे सफल हुए और इंग्लैण्ड का माल भारत मे बिकने लगा। अंग्रेजों ने यहाँ भूमि की जो भी व्यवस्था कायम की, उससे खेती मे पूँजीवादी उत्पादन का विकास नही हुआ, असली जमीदार अंग्रेज़ बने रहे, बाकी जमीदार उन्हें मालगुज़ारी इकट्ठा करके देनेवाले हाकिम थे। १७७२ मे वारेन हेस्टिंग्ज़ बंगाल का गवर्नर बना। क्लाइव ने जो अदालतें कायम की थी, उनमें उसने कुछ तब्दीली की लेकिन रैयत को तबाह करनेवाला जो मालगुजारी वसूल करने का तरीका था, उसे उसने खत्म नहीं किया। (पृष्ठ ९५)। हेस्टिंग्ज़ के शासनकाल के समाप्त होने पर मार्क्स ने टिप्पणी लिखी : **"सरकार ने नियम बनाये थे कि ज़मींदारों को मालगुजारी वसूल करनेवाले हाकिमों के रूप मे ही देखा जाय; मालगुजारी वसूल करके न दें तो उन्हें गिरफ़्तार किया जाय और सजा दी जाये। अंग्रेज जजों ने बडे जोश से इस नियम का पालन किया। अक्सर शक्तिशाली तथाकथित ज़मींदारो राजा पकड लिये जाते थे, जेल में डाल दिये जाते थे, और मामूली गलती पर भी उनके साथ साधारण अपराधियों-जैसा व्यवहार होता था। इस प्रकार ज़मीदारों की साख गिरी। रैयत अक्सर उन्हें भाड़ा न देती; अतः ज़मींदार रैयत से और भी मनमानी करते और उससे रुपया वसूल करते थे।"** (पृष्ठ १०६)। १७८३ में

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री फॉक्स ने पार्लियामेण्ट में अपना इण्डिया बिल पेश किया। इस बिल मे कहा गया था कि जमींदारों को मौरूसी जमींदार माना जाय। (पृष्ठ १०६)। फॉक्स का बिल पास नहीं हुआ।

मार्क्स ने अपनी एक नोटबुक में ऊपर शीर्षक दिया था 'अंग्रेजी राज और भारतीय जन-सम्पत्ति पर उसका प्रभाव'। इसी नोटबुक में उन्होंने एक सिरनामा दिया: '१७६३, जमींदारों के हित में रैयत की जमीन का छीना जाना'। आगे लिखा, बंगाल की जमीन जमींदारों की निजी सम्पत्ति मानी गयी। इससे पहले मार्क्स के अनुसार १७६५ में अंग्रेजों ने देखा कि मालगुजारी इकट्ठा करनेवाले हाकिम 'जमींदारी राजा' बन गये हैं। मुगल साम्राज्य के विघटन काल में उन्होंने यह शक्ति क्रमशः अपने हाथ में कर ली थी। उनका पद मौरूसी इसलिए हो गया था कि मुगल बादशाह को जब तक सालाना टैक्स मिलता रहे, तब तक उसे इस बात की चिन्ता न थी कि उसे भेजनेवाले के पद का स्वरूप क्या है। यह कर एक निश्चित रकम के रूप मे होता था। इलाके की सालाना उपज से उसकी जरूरतों के पूरी होने के बाद जो कुछ बचता था, वह यह कर था। जमींदार जो कुछ बादशाह को देता, उसके अलावा वह जो कुछ बटोर पाता था, वह सब उसका अपना होता था, इसलिए वह रैयत को निचोड़ लेता था। उसने लूट से धन इकट्ठा किया था, जमीन अपने अधिकार मे कर ली थी, अपनी हुकूमत चलाने के लिए सेना रखता था, इसलिए राजा होने का दावा करता था। १७६५ के बाद से अंग्रेज सरकार ने उसे कर वसूल करनेवाले मातहत हाकिम के रूप में देखा, उस पर कानून की पाबन्दी लगायी, नियमित रूप से पैसा देने में थोड़ी भी गफलत होने पर उसे पद से हटाया जा सकता था और उसे जेल भेजा जा सकता था। दूसरी तरफ रैयत की दशा में कोई सुधार न हुआ, दरअसल उसे और भी दबाया, सताया गया। मालगुजारी का सारा काम अव्यवस्थित हो गया। १७८६ में डायरेक्टरों ने यह नीति निर्धारित की कि जमींदारों से नया समझौता किया जाय। उन्हें जो कुछ भी लाभ होगा, वह उन्हें गवर्नर की इनायत से होगा, वे उस पर अपना हक जाहिर न कर सकेंगे। एक कमीशन नियुक्त किया गया जो जमींदारों की स्थिति के बारे में जांच-पड़ताल करे और अपनी रिपोर्ट दे। जमींदारों के डर के मारे रैयत ने बयान देने से इन्कार किया, जमींदार जांच-पड़ताल से बचते रहे और कमीशन का काम ठप्प हो गया। (पृष्ठ ११६-१७)।

१७६३ में कार्नवालिस ने अपनी कौंसिल से एक प्रस्ताव पास कराया जो तुरत कानून बन गया। इस कानून के अनुसार यह माना गया कि जमींदार जिस जमीन पर अधिकार का दावा करते थे, वह उनकी मानी जायेगी। वे इलाके की सारी जमीन के मौरूसी मालिक माने जायेंगे; वे सरकार के लिए जो सालाना टैक्स वसूल करते थे, वह टैक्स न होकर एक तरह का खिराज होगा। 'पाजी कार्नवालिस' के बाद सर जौन शोर गवर्नर जनरल बना था। १७६३ मे उसने कौंसिल में इस कार्य का विरोध किया, 'भारतीय परम्परा के इस व्यापक विनाश के खिलाफ' उसने जोरदार भाषण किया। पिट ने जमींदारों को मौरूसी भूस्वामी मानते हुए पक्के बन्दोबस्त वाला बिल पास कर दिया। जमींदार चकित रह गये

और उतना ही प्रसन्न भी हुए। यह कार्य जितना आकस्मिक और अप्रत्याशित था, उतना ही 'गैरकानूनी' भी था। समझा यह जाता था कि अंग्रेज हिन्दुओं के लिए कानून बना रहे हैं और जहाँ तक बन पड़ेगा, उनसे उन्हीं के कानूनों का पालन करायेंगे। अंग्रेज सरकार ने लगान (भाड़े) की बढ़ती से रैयत को बचाने के लिए उसे जमींदारों के खिलाफ़ दीवानी अदालत में फरयाद करने का हक दिया। यह बिल्कुल बेकार की बात थी; देश की जैसी हालत थी, उसमें रैयत जमींदारों के इतने दबाव में थी कि वह आत्मरक्षा के लिए उँगली भी न उठा सकती थी। कानून की एक धारा यह थी कि ज़मीन का भाड़ा हमेशा के लिए निश्चित कर दिया जाये और रैयत को इसका पट्टा दे दिया जाय। इस धारा में नयी ज़मीन पर खेती करके ज़मींदार अपनी रियासत की कीमत बढ़ा सकता था और जिन खेतों में कीमती अनाज पैदा किया जाय, उनका भाड़ा बढ़ा सकता था। "इस प्रकार कार्नवालिस और पिट ने कृत्रिम ढंग से बंगाल की ग्रामीण जनता की सम्पत्ति उससे छीन ली।" (पृष्ठ ११६-१८)। यहाँ दो बातें विशेष ध्यान देने की हैं। अंग्रेज़ ज़मीदारों द्वारा वसूल किये हुए टैक्स को खिराज कह रहे थे यानी ज़मींदार हुए मातहत सामन्त और अंग्रेज़ हुए उनके ऊपरवाले महासामन्त। अलाउद्दीन खिलजी के समय से लेकर औरंगजेब के समय तक यहाँ राज्यसत्ता के लिए किसान से सीधे कर वसूल करने के जो प्रयत्न हुए थे, अंग्रेज़ उन पर पानी फेरकर नया सामन्तवाद कायम कर रहे थे। दूसरी बात यह कि भूमि के असली मालिक किसान थे और मार्क्स उनकी ज़मीन छीनने के विरोधी थे।

इसी सिलसिले में मार्क्स ने आगे लिखा कि पक्के बन्दोबस्त के अनुसार ज़मीदार मालगुज़ारी जमा न करे, तो उसकी ज़मीन बेची जा सकती थी। ज़मींदार आसामी से जो कुछ वसूल करे, उसे कानूनी तरीके से ही वसूल करना था। ज़मींदारों ने शिकायत की कि वे आसामियों के दबाव में आ गये हैं। कानून का सिलसिला लम्बा होता है, इस तरह वे भाड़ा वसूल न कर सकते थे। तब नये नियम बनाये गये और कहा गया कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ज़मींदार आसामी को गिरफ्तार करके उससे भाड़ा वसूल कर सकता है। उधर कलेक्टर को ऐसा ही अधिकार दिया गया कि वह मालगुज़ारी अदा न करने पर ज़मींदार को गिरफ्तार कर ले। यह सब १८१२ में हुआ। (पृ. ११६-२०)। इसके बाद कवालेवस्की की पुस्तक से सारांश देते हुए मार्क्स ने एक पैराग्राफ लिखा जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारत में व्यक्तिगत भूसम्पत्ति थी या नहीं थी, अंग्रेज़ों ने जो बन्दोबस्त किया उससे यहाँ की जनता का हित हुआ या अनहित, भारत में जो विद्रोह हुए उनका सम्बन्ध अंग्रेज़ों के भूमि-सम्बन्धी बन्दोबस्तों से है या नहीं, इन सब बातों का उत्तर बीज रूप में यहाँ मिलेगा।

मार्क्स ने लिखा, "बन्दोबस्त के नतीजे : रैयत की 'सामूहिक और व्यक्तिगत सम्पत्ति' की इस लूट का पहला फल : 'ज़मींदारों' के विरुद्ध रैयत के स्थानीय विद्रोहों का तांता बँध गया; इनके दौरान कई बार ऐसा हुआ कि ज़मींदार निकाल दिये गये और उनकी जगह मालिक बनकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी आ गयी; दूसरी तरह की घटनाओं में ज़मींदार मुफ़लिस हो गये और बकाया टैक्स तथा व्यक्तिगत

भारत सरकार के प्रत्येक अफसर के लिए यह आवश्यक हुआ कि वह इंग्लैण्ड लौटने पर अपनी सम्पत्ति का ब्यौरा दे और यह भी बताये कि यह सम्पत्ति उसे कैसे मिली। इस बिल के पास होने के बाद **"कमिश्नरों के बोर्ड का अध्यक्ष भारत का असली निरंकुश गवर्नर बन गया।"** (पृ. ११०)। इस परिवर्तन से अंग्रेजों के भ्रष्टाचार मे कमी न आयी। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में फौजी अफ़सरों के भ्रष्टाचार की पोल खुली। पल्टनों के अफ़सर अपनी पल्टनों के लिए तम्बू खरीदते थे। मुनाफे का यह भी अच्छा जरिया था। सर जार्ज बारलो मद्रास का नया अध्यक्ष बना। उसने यह बेहूदगी खत्म की। कर्नल मनरो फौज में क्वार्टर मास्टर जनरल था। उसने बारलो के हुक्म से रिपोर्ट लिखी थी। उसमें उसने तम्बूवाली प्रथा को ठगी से मिलती-जुलती चीज बताया था। सेनापति जनरल मैकडोवल ने मनरो को गिरफ़्तार कर लिया। बारलो ने जनरल मैकडोवल को बर्खास्त कर दिया और कुछ ही समय बाद चार ऊँचे अफसरों को निलम्बित कर दिया। सारी फौज में बगावत की आग फैल गयी; अफसरों ने गवर्नर के नाम बदतमीजी से भरे हुए विरोध पत्र भेजे। बारलो ने देशी सिपाहियों की सहायता से अफ़सरों पर शीघ्र ही काबू पा लिया। (पृ. १३५-३६)।

उक्त घटना काफी शिक्षाप्रद है। लूट के माल में गैर फ़ौजी अफसर ही हिस्सा न बँटाते थे, उसमें फौजी अफ़सर भी हिस्सेदार थे। इनके हिस्से पर रोक लगायी जाये तो ये विद्रोह करते थे। विद्रोह करने पर गवर्नर को गोरों के खिलाफ काली पल्टनों को इस्तेमाल करने में जरा भी संकोच न होता था। कोई आश्चर्य नहीं कि जैसे-जैसे अंग्रेजों का राज फैला, वैसे-वैसे उसके खिलाफ विद्रोह भी फूटते रहे। ये विद्रोह देशी फौज के भीतर होते थे और फौज के बाहर प्रजा में भी होते थे। मार्क्स ने इन विद्रोहों का हिसाब बराबर रखा, अकेले यह तथ्य उनके दृष्टिकोण को समझने के लिए काफी है। १७८४ में बकाया तनख्वाह न मिलने से पटना में सिपाहियों ने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत की। सिपाही शहर से बाहर निकले कि शत्रु से [यानी अंग्रेजों के शत्रु से] जा मिलें। मेजर मनरो ने उन पर हमला किया, उन्हें हराया और वापस पटना ले आया। वहाँ उनके सरगना तोपों से बाँधकर उड़ा दिये गये। मार्क्स ने टिप्पणी लिखी, **"तो यह परोपकारी क्रिया उस पहले सिपाही विद्रोह के समय ही अमल में आ चुकी थी!"** (पृ. ८६)। टीपू की पराजय के बाद अंग्रेजों ने मैसूर पर अधिकार किया। इसके बाद मैसूर में 'केवल एक गम्भीर विद्रोह' हुआ; यह धुंदिया वाघ का विद्रोह था। कुछ महीनों में उसे दबा दिया गया और धुंदिया वाघ मारा गया। (पृ. १२४)। नेपाल में अंग्रेज हारे, हाथरस और बरेली में विद्रोह हुए। (पृ. १४२)। मैसूर में अंग्रेजों ने जिस राजा को गद्दी पर बिठाया था, उसने प्रजा को बहुत सताया जिससे कि १८३० में **'आधे राज्य में विद्रोह फैल गया'**; ब्रिटिश फौज ने विद्रोह का दमन किया (पृ. १५२)। सामन्त-विरोधी संघर्षों को अंग्रेज इस तरह दबाते थे। उन्होंने मैसूर को अपने अधिकार में किया, राजा के लिए चालीस हजार पाउण्ड की सालाना पेंशन बाँध दी। यह उस प्रदेश की मालगुजारी का पाँचवाँ भाग थी। मालगुजारी बढ़ा दी गयी थी, इसलिए यह अदा

बहुत मूल्यवान था। "इस प्रकार दूसरों के राज्य हथियाते समय राजाओं के लिए पेंशनें बाँधकर अंग्रेज़ों ने अधिकारविहीन राजाओं और रजुल्लों के हित में गरीब हिन्दुओं पर बोझ डाल दिया।" (पृ. १५२)।

विद्रोह कई जगह हुए। "विद्रोह—दक्षिण पूर्वी बंगाल के संथालों, धांगरों और कोलियों के जंगली कबीलों में, रामगढ़, पालामऊ और छोटा नागपुर के प्रदेशों में, और बाँकुरा के आस-पास के इलाके में चोआरों में; भारी हत्याकाण्ड के बाद दबा दिये गये।" (उप.)। १८४०-४१ में कन्दहार में गम्भीर विद्रोह हुए। इन्हें सख़्ती से दबाया गया। हेरात के लोगों ने खुल्लमखुल्ला अंग्रेज़ों के विरोध का ऐलान किया। सारे देश में ब्रिटिश आततायियों के विरुद्ध गुस्सा फैल गया। खैबर के दर्रे के खिलजी कबीलों में सबसे गम्भीर विद्रोह हुआ। जो फौज दर्रे से हिन्दुस्तान लौट रही थी उसके बहुत से आदमी मारे गये। विद्रोह को कठिनाई से दबाया जा सका। गुप्त षड्यन्त्र संगठित करने के बाद विद्रोहियों ने काबुल में २ नवम्बर १८४८ को बर्न्स के घर पर हमला किया और बहुत से अफ़सरों के साथ उसे भी मार डाला। कई पलटनें विद्रोह दबाने के लिए भेजी गयीं लेकिन गलती से काबुल की तंग गलियों में बन्द हो गयीं। (पृ. १६३)। मई १८४८ में: "सारा पंजाब इस समय विद्रोह की अवस्था में था।" (पृ. १७३)। १८५५-५६ में बंगाल की राजमहल पहाड़ियों में संथालों ने विद्रोह किया। "सात महीने की छापेमार लड़ाई के बाद फरवरी १०५६ में विद्रोह दबाया गया।" (पृ. १७६)।

विद्रोहों की इस शृंखला में सबसे बड़ा विद्रोह १८५७ का था। यह विद्रोह अंग्रेज़ों की नीति का परिणाम था, इस बारे में मार्क्स ने दुविधा की गुंजाइश नहीं छोड़ी। भारत से बिदा होते समय डलहौजी ने डींग हाँकी। और कामों के अलावा उसने नहरें बनवायीं, रेलें चलाईं, बिजली के तार का चलन किया; अवध के राज्य को हथियाने के अलावा मालगुजारी में चालीस लाख पाउण्ड की बढ़ती की; कलकत्ते से व्यापार करनेवाली जहाज़रानी लगभग दुगनी हो गयी। सार्वजनिक खाते में घाटा था लेकिन यह घाटा सार्वजनिक कामों में भारी खर्च के कारण था। "इस डींग हाँकने का जवाब थी सिपाही क्रान्ति (१८५७-१८५९)।" (पृ. १७७)। विद्रोह के विवरण में मार्क्स ने नोट किया कि बंगाल सेना में ४० हज़ार सैनिक अवध के थे और ये जाति तथा जातीयता (Caste and Nationality) से बँधे हुए थे। [दरअसल अवध के सैनिकों में मुसलमानों के अलावा हिन्दू भी कई जातियों के थे।] सारी फौज की नाड़ी एक ही गति से चलती थी। किसी एक पलटन के अफसर उसका अपमान करें तो बाकी पलटनें उसे अपना अपमान समझती थीं। अफसर कुछ न कर पाते थे। अनुशासन ढीला था। अक्सर खुली बगावत होती थी जो बहुत कुछ दिक्कत से ही दबायी जा पाती थी। बंगाल सेना ने रंगून पर हमला करने के लिए समुद्र पार जाने से साफ़ इन्कार किया। इससे उसकी जगह सिख पलटनें भेजी गयीं। "१८४९ में पंजाब को अंग्रेज़ी राज में मिलाने के बाद यह सब हुआ और १८५६ में अवध को अंग्रेज़ी राज में मिलाने के बाद हालत और भी खराब हो गयी।" (पृ. १८८)। लार्ड कैनिंग के ... मद्रास और बम्बई की फौजों के ... दुनिया में कहीं भी भेजे जाने के ...

मानकर भरती किये जाते थे; बंगाल सेना में केवल भारत में सेवा के नियम के अनुसार भर्ती की जाती थी। केनिंग ने कहीं भी जाने का नियम बंगाल सेना पर भी लागू कर दिया। फकीरों ने कहा, यह जाति बिगाड़ने की चाल है। १८५७ के आरम्भ मे सुअर और गाय की चर्बीवाले कारतूस जारी किये गये। फकीरो ने कहा, यह हर सिपाही की जाति बिगाडने के उद्देश्य से किया गया है।

विद्रोह की घटनाओं का विवरण देते हुए मार्क्स ने कुछ दिलचस्प बातें नोट की है। "अवध और उत्तर-पश्चिमी जिलों में फकीरों ने जनता को इंग्लैण्ड के विरुद्ध उभारा। (गंगा किनारे) बिठूर के राजा नाना साहेब ने रूस, ईरान, दिल्ली के शहजादों और अवध के भूतपूर्व बादशाह के साथ षड्यन्त्र किया। चर्बी लगे कारतूसों से जो सिपाही उपद्रव हुए, उनसे लाभ उठाया।" (पृ. १७६)। "विद्रोह समूचे हिन्दुस्तान में फैल गया; २० अलग-अलग स्थानों में एक साथ सिपाही-विद्रोह हुए और अंग्रेज मारे गये। मुख्य दृश्य : आगरा, बरेली, मुरादाबाद। सिन्धिया 'अंग्रेज कुत्तों' के प्रति वफादार रहा, ऐसा उसके 'सैनिकों' ने नहीं किया। पटियाला के राजा ने—शर्म की बात है!—अंग्रेजों की मदद के लिए सैनिकों का एक बड़ा दस्ता भेजा। मैनपुरी (पश्चिमोत्तर प्रान्त) में डी कंटजो नाम के जवान लेफ्टिनेन्ट-जानवर ने किला और खजाना बचा लिया।" (पृ. १८०)।

इन टिप्पणियों से पहली बात यह स्पष्ट होती है कि सिपाही अकेले विद्रोह नहीं कर रहे थे, उनके साथ जनता भी थी, और इस जनता को इंग्लैण्ड के खिलाफ उभारनेवाले प्रचारक मौजूद थे। दूसरी बात यह कि बीस अलग-अलग स्थानों में जब एक साथ विद्रोह हुआ, तो इससे साबित यह हुआ कि विद्रोह योजना के अनुसार हुआ था। मार्क्स ने बीस स्थानों में एक साथ विद्रोह होने की बात मई १८५७ की घटनाओं का विवरण देते हुए लिखी है। तीसरी बात यह कि विद्रोह सारे हिन्दुस्तान मे फैल गया। यह वही हिन्दुस्तान है जिसका जातीय क्षेत्र के रूप मे उल्लेख पहले हो चुका है। चौथी बात यह कि जो सामन्त अंग्रेजों की मदद कर रहे थे, उनके काम को मार्क्स शर्मनाक समझते थे। इन राजाओं की फौज विद्रोहियों का साथ देती थी तो इससे वह प्रसन्न होते थे। अंग्रेजों ने लखनऊ पर फिर से अधिकार किया। "उन्होंने शहर को लूटा जहाँ पूर्वी कलाकृतियों के खजाने जमा थे।" (पृ. १८४)। दिल्ली के बादशाह के पुत्र फीरोज, बिठूर के नाना-साहब, फैजाबाद के मौलवी और अवध की बेगम हज़रत महल की अगुवाई मे विद्रोही भागकर बरेली पहुँचे। (उप.)। 'कुंवरसिंह के नेतृत्व में विद्रोहियों ने लखनऊ से आती हुई लुगर्ड की फौज पर हमला किया और उसे भारी क्षति पहुँचायी।" (उप.)। १८५४ की घटनाओं का विवरण देते हुए मार्क्स ने लिखा था, झाँसी (बुन्देलखण्ड) अंग्रेजी राज मे मिला लिया गया। झाँसी का राजा पहले पेशवा को खिराज देता था। १८३२ में उसे स्वतन्त्र राजा मान लिया गया था। उसकी कोई अपनी सन्तान नही थी। उसकी मृत्यु हो गयी किन्तु उसका दत्तक पुत्र जीवित था। "श्रीमान् डलहौज़ी ने उसे मान्यता देने से फिर इन्कार किया। राज्य छिन जाने पर रानी क्रुद्ध हुई और आगे चलकर सिपाही-विद्रोह की सबसे प्रमुख नेता बनी।" (पृ. १७६)। विद्रोही जब बिखर गये, तब भी अंग्रेजों की

विभाजित फौज पर भारी दबाव डालते रहे। (पृ. १८४)। जून १८५७ के घटना-क्रम के सिलसिले में मार्क्स ने लिखा, "तगड़ी लड़ाई के बाद **नौजवान सिन्धिया** (अंग्रेजों के पालतू कुत्ते) को उसकी फौज ने ग्वालियर से बाहर निकाल दिया; वह जान लेकर आगरे भागा।" (पृ. १८५)। सिन्धिया और जगबहादुर के लिए मार्क्स ने एक से विशेषणों का प्रयोग किया।

विद्रोह के बाद अंग्रेजों ने "**अवध की जमीन हथिया ली; केनिंग ने ऐलान किया कि वह ऐंग्लो-इण्डियन सरकार की सम्पत्ति है।**" (पृ. १८६)। अगस्त १८५८ में इण्डिया बिल पास हो गया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी समाप्त हुई। "**भारत 'महान्' विक्टोरिया के साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया!**" (उप.)।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के नाम की आड़ में भारत पर अधिकार तो पहले ही से ब्रिटिश सरकार का था, १८५८ में औपचारिक रूप से उस अधिकार की घोषणा कर दी गयी। भारत ब्रिटिश साम्राज्य का प्रान्त बना; मार्क्स को यह कैसा लगा, यह विक्टोरिया के साथ 'महान्' विशेषण के प्रयोग से जाना जा सकता है। १८५७ की लड़ाई खत्म होने पर स्वाधीनता-संग्राम और सशस्त्र विद्रोहों का एक युग समाप्त हुआ। मार्क्स ने भारत सम्बन्धी टिप्पणियाँ १८५८ तक लाकर समाप्त कर दी, यह उचित ही था।

मार्क्स और एंगेल्स १८५७ की लड़ाई को कभी भूले नहीं। १९ फरवरी १८८१ को मार्क्स ने दानियेलसन को लिखा था, भारत में ब्रिटिश सरकार को आम विद्रोह का नहीं तो गम्भीर उथल-पुथल का सामना करना पड़ सकता है। अंग्रेज भारतीय जनता से सालाना लगान वसूल करते हैं, हिन्दुओं के लिए जो रेलें बेकार हैं, उनका लाभांश लेते हैं, फ़ौजी और नागरिक सेवाओं में काम करने-वालों की पेंशन वसूल करते हैं, अफ़गानिस्तान की लड़ाई तथा अन्य लड़ाइयों का खर्च वसूल करते हैं, ऐसी तमाम चीजों से अंग्रेजों की जितनी वसूली होती है, उसके बराबर की चीज बदले में वे भारत को नहीं देते। भारत के भीतर वे अपने लिये हर साल जो कुछ हथिया लेते हैं, वह अलग है। भारतवासी इंग्लैण्ड को प्रतिवर्ष बिना मूल्य पाये जो माल भेजते हैं, केवल उसका मूल्य लगाया जाय तो वह भारत के छह करोड़ खेतिहर और औद्योगिक मजदूरों की कुल आमदनी से ज्यादा होता है। यह जमकर खून बहाने की प्रक्रिया है। साल दर साल अकाल पड़ता है और ऐसे पैमाने पर पड़ता है कि यूरुप में अभी उसकी कल्पना नहीं की गयी। हिन्दुओं और मुसलमानों में सहयोग करने के लिए एक वास्तविक षड्यन्त्र चालू है। ब्रिटिश सरकार को पता है कि कहीं कोई तैयारी है किन्तु ये छिछले लोग (मेरा मतलब सरकारी आदमियों से है) अपने संसदीय तरीकों से इस तरह जड़ हो गये हैं कि वे आँख खोलकर देखना भी नहीं चाहते, आसन्न संकट कितना बड़ा है, यह समझना नहीं चाहते। दूसरों को धोखा देना, उन्हें धोखा देकर खुद को धोखा देना, संक्षेप में यही संसदीय बुद्धिमानी है। चलो, अच्छा ही है। (करेस्पाण्डेंस; पृष्ठ ३८५-८६)।

यहाँ मार्क्स ने बिलकुल स्पष्ट लिखा है कि भारत के हिन्दू और मुसलमान मिलकर अंग्रेजों से संघर्ष करेंगे तो यह कार्य स्वागत करने योग्य होगा। १८५७

मे उन्होने यहाँ की कर-व्यवस्था के बारे मे जो कुछ लिखा था, उसी का संक्षिप्त किन्तु अधिक विकसित और गहरा रूप यहाँ है। इंग्लैण्ड इस समय महाजनी पूंजी के युग में प्रवेश कर चुका था। शोषण प्रक्रिया और भी तेज हो गयी थी, साल दर साल अकाल पर अकाल पड़ रहे थे। भुखमरी से तबाह भारत की जनता इंग्लैण्ड को जो कच्चा माल भेजती थी, उसकी कीमत उसे न मिलती थी। लगान, युद्ध के खर्च, राजकर्मचारियों की तनखाहें, पेंशनों आदि के बोझ से जनता पिसी जा रही थी। यह जनता कब अपने अधिकारों के लिए लडती है, मार्क्स उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे।

१२ सितम्बर १८८२ को एंगेलस ने कॉट्स्की को जिस पत्र मे अंग्रेज मजदूरों के बारे में लिखा था कि वे विश्वबाजार के इजारे के महाभोज में शामिल हो रहे है, उसी मे उन्होने उपनिवेशों से पराधीन देशों को अलग करते हुए यह लिखा था, सही माने मे उपनिवेश वे हैं जहाँ यूरुप के लोग जाकर बस गये हैं जैसे कनाडा, आस्ट्रेलिया। दूसरी तरफ ऐसे देश है जिनमे वहीं के लोग रहते है और जिन्हें पराधीन बनाया गया है जैसे भारत, अल्जीरिया, पुर्तगालियों आदि के अधीन देश। कुछ समय के लिए सर्वहारा वर्ग इन्हें अपने नियन्त्रण मे रखेगा और फिर यथासम्भव शीघ्रता से उन्हे स्वाधीनता की ओर ले जायेगा। यह प्रक्रिया कैसे घटित होगी कहना कठिन है। "भारत शायद क्रान्ति करेगा; सचमुच इसकी सम्भावना बहुत है। जो सर्वहारा वर्ग अपना उद्धार करता होगा, वह औपनिवेशिक लड़ाइयाँ नही चला सकता। इसलिए उस क्रान्ति को विकसित होने का पूरा मौका देना होगा। अनेक प्रकार के विनाश के बिना वह क्रान्ति सम्पन्न न होगी, यह सही है किन्तु उस तरह की चीजें सभी क्रान्तियों में होती ही है। यही बात अन्यत्र भी हो सकती है यथा अल्जीरिया और मिस्र मे, और हमारे लिये वह सबसे बढ़िया चीज होगी।" (उप., पृष्ठ ३९९)।

एंगेलस ब्रिटिश मजदूरों से निराश होते हुए भी आशा करते हैं कि यूरुप मे सर्वहारा क्रान्ति होगी। भारत मे भी क्रान्ति की सम्भावना बहुत है। यह क्रान्ति होती है तो इससे यूरुप की सर्वहारा क्रान्ति को शक्ति मिलेगी। १८५७ मे उन्होने भारतीय विद्रोह के बारे मे जो कुछ लिखा था, उन्नत धारणा उसी की परिणति है।

मार्क्स ने १८५३ मे जब ब्रिटिश पूंजीवाद के लिए लिखा था कि उसने भारत के ग्राम-समाजों के अर्थतन्त्र का नाश करके प्रगति के लिए रास्ता साफ किया है, तब उन्हें आशा थी कि यह पूंजीवाद स्वयं अपने हित में भारतीय कृषि और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए कुछ न कुछ करेगा और इस आधार पर भारतवासी तब आगे बढ़ सकेंगे जब वे अंग्रेजी राज का जुआँ उतार फेंकेंगे। पूंजीवाद का महा-विनाशक रूप देखकर उन्होने आयरलैण्ड के बारे मे अपनी धारणा बदली, उसी तरह उन्होंने भारत के बारे मे अपनी धारणा बदली। १८८१ में वीरा जसूलिच के पत्र के जवाब का जो तीसरा मसौदा उन्होंने तैयार किया था, उसमें उन्होने लिखा था: "मैं अपने तर्क का समर्थन वहीं तक करता हूँ जहाँ तक उसका सम्बन्ध यूरुप के अनुभव से है। लेकिन उदाहरण के लिए जहाँ बात भारत की है, सर हेनरी मेन

और उन जैसे लोगों को छोडकर सारी दुनिया जानती है कि सामूहिक भूसम्पत्ति का खात्मा अंग्रेजों की डकैती था और उससे देशी लोग आगे नही पीछे ठेल दिये गये हैं।" ("Ich möchte Argument nur insofern Rechnung tragen, als es sich auf die Europischen Erfahrungen stützt. Was zum Beispiel Ostindien anbelangt, so ist es aller Welt mit Ausnahme von Sir H. Maine und anderen Leuten glüchen schlags, nicht unbekannt, das dort die gewaltsame Aufhebung des Gemeineigentums an Grund und Boden nur ein Akt des englischen Vandalismus war, der die Eingeborenen nich nach vorn, sondern nach rückwärts stiess.") (Werke, खण्ड १६, पृष्ठ ४०२)।

भारत अंग्रेजी राज मे प्रगति कर रहा था, मार्क्स ने यह धारणा तो निरस्त कर ही दी थी, उन्होंने विरोधी स्थापना की पुष्टि भी की थी कि अंग्रेजी राज में भारत की जनता पीछे की ओर ठेल दी गयी है। १८५७ मे और उसके बाद *अंग्रेजों से लड़कर ही भारतीय जनता इस पीछे ठेले जाने की क्रिया को रोक सकती* थी और अपने बलबूते पर आगे बढने की तैयारी कर सकती थी।

४

भारत का आर्थिक विकास

१. बर्नियर

(क) भारतीय समाज और भूस्वामित्व

भारतीय समाज के विकास के सम्बन्ध मे फ्रांसीसी यात्री बर्नियर का हवाला अक्सर दिया जाता है। उनकी अनेक स्थापनाएँ मार्क्स ने भी दोहरायी थी, इसलिए उनके भारत सम्बन्धी यात्रा-वृत्तान्त पर यहाँ अलग से विचार करना उचित होगा। बर्नियर की मुख्य स्थापना यह थी कि भारत में व्यक्तिगत भूसम्पत्ति नही थी और इस अभाव का कारण यह था कि सारी भूमि मुगल बादशाह की सम्पत्ति थी। बादशाह और उसके सेवक जनता पर मनमाना अत्याचार करते थे, इस कारण यहाँ कला-कौशल का विकास भी नही हुआ। उत्तर भारत में जो बड़े-बडे शहर थे, वे उद्योग और व्यापार के केन्द्र नही थे वरन् फौजी छावनियों जैसे थे। शहरो में फूस के छप्परोवाले घरों की कमी नही थी, इसलिए शहर और देहात में कोई खास फर्क नही था।

बर्नियर शाहजहाँ के समय मे वैद्य का काम करके जीविका अर्जित करते रहे थे। शाहजहाँ के शासनकाल के अन्तिम चरण मे औरंगजेब से उसके भाइयों के युद्ध हुए। युद्ध समाप्त होने पर बर्नियर छह साल तक भारत मे और रहे, उसके बाद अपने देश चले गये। अपने यात्रा-वृत्तान्त के साथ फ्रांस के कुछ भद्रजनों को उन्होने पत्र लिखें और इनमें यहाँ की स्थिति का वर्णन किया। ये भी उनके यात्रा-वृत्तान्त के साथ प्रकाशित हुए थे। उनकी पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद Travels in the Mogul Empire, 1656-1668 नाम से भारत में S. Chand & Co. द्वारा मुद्रित हुआ है। बर्नियर ने अपनी पुस्तक में अनेक जगह फ्रांस का उल्लेख किया है, विशेष रूप से फ्रांसीसी भद्रजनो को लिखे गये पत्रों मे वह बार-बार फ्रास की श्रेष्ठता की ओर ध्यान दिलाते है। उनके लेखन का एक उद्देश्य एशिया की तुलना मे यूरप की, भारत की तुलना मे फ्रास की, श्रेष्ठता दिखाना है। यूरप मे वह अधिकतर फ्रांस का ही उल्लेख करते हैं, इटली या इग्लैण्ड गरिमा मे फ्रांस से

तुलनीय नही है। भारत के साथ वह ईरान और तुर्की का उल्लेख करते है, कभी-कभी चीन का भी। तुलना के लिए दो मुख्य देश है भारत और फ्रांस। भारत में भूमम्पत्ति की जो विविधता थी, उसका ज्ञान उन्हें न हो तो इसमे कोई आश्चर्य नहीं किन्तु उनकी पुस्तक मे कही इस बात का संकेत नही है कि यूरुप मे, अथवा फ्राम मे ही, भूसम्पत्ति की विविधता थी। वह जिस प्रकार की सामन्ती व्यवस्था से परिचित हैं, उसे वह आदर्श समाज-व्यवस्था मानते हैं; कला-कौशल, उद्योग और व्यापार की सारी उन्नति का स्रोत उनकी समझ में यह सामन्ती व्यवस्था है। इस *व्यवस्था मे फ्रांसीसी किसान कितना उत्पीडित था, व्यापारी वर्ग कितना असन्तुष्ट* था, इसका बोध उन्हें नही है। फ्रांस की समृद्धि के, कानून और समाज-व्यवस्था के, जो गीत उन्होने गाये, वे १८वीं सदी मे मिथ्या सिद्ध हुए। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने सारी दुनिया को दिखा दिया कि फ्रास की सामन्ती व्यवस्था, सबसे पहले भूमि सम्पत्तिवाली व्यवस्था, घोर असन्तोपजनक थी। इंग्लैण्ड की औद्योगिक प्रगति की तुलना मे फ्रांस पिछड़ा रहा, इसका एक कारण भूसम्पत्ति की वह व्यवस्था थी जिसे बर्नियर आदर्श मानते थे।

फ्रांस की सामन्ती व्यवस्था की विशेषता यह थी कि सामन्त बहुत शक्तिशाली थे और सम्राट् उन्ही में एक बड़ा सामन्त था, उनका निरंकुश सम्राट् नहीं था। इसकी तुलना मे उन्हें लगता था कि भारत मे अभिजातवर्ग नही है, बादशाह के कर्मचारी अपनी सेवाओं के लिए धन या जागीरें पाते हैं। वे सब बादशाह के मातहत हैं और यह बादशाह सारे देश का निरंकुश शासक है। उत्पादन का मुख्य साधन भूमि है, इसलिए सहज निष्कर्ष निकलेगा कि सारी भूमि पर एकमात्र बादशाह का अधिकार है। यदि बर्नियर पडोसी इंग्लैण्ड की बादशाही की ओर ध्यान देते तो उन्हें विदित हो जाता कि निरंकुश राजतन्त्र वहाँ भी है। इस निरंकुश तन्त्र मे सामन्तों की शक्ति नियन्त्रित कर दी गयी थी। इससे न केवल *व्यापारिक पूँजीवाद का विकास हुआ वरन् एक बार जातीय बाजार कायम हो* जाने पर औद्योगिक पूँजीवाद भी तेजी से प्रगति कर सका। फ्रांस की तुलना में इटली निरंकुश राज्यसत्ता से और भी दूर था। वह छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। व्यापार और कला-कौशल में अभूतपूर्व उन्नति करने पर भी औद्योगिक विकास में वह पिछडा रहा। इसका कारण यह था कि एकताबद्ध निरंकुश राज्यसत्ता की सहायता से वहाँ के *व्यापारी जातीय बाजार का निर्माण न कर सके।*

दारा, शुजा, मुरादबख्श, औरंगजेब, जहाँगीर, नूरजहाँ आदि नामों की व्याख्या करते हुए बर्नियर ने यह तर्क दिया कि यूरुप में सामन्त को पदवी उसकी भूमम्पत्ति के अनुरूप दी जाती है, भारत में ऐसे नाम इसलिए दिये जाते हैं कि यहाँ सारे साम्राज्य की भूमि बादशाह की सम्पत्ति है। इसके फलस्वरूप अर्ल, मार्क्विस, ड्यूक जैसे पद यहाँ नही है। बादशाह भूमि या धन देता है, जो देता है उसे घटा-बढ़ा सकता है या छीन सकता है। (पृ. ५)। इससे उन्होंने यह नतीजा नही निकाला कि सामन्तों की शक्ति नियन्त्रित है वरन् यह निकाला कि सामन्ती सम्पत्ति का ही अभाव है। जहाँ तक किसानों का सम्बन्ध है, उनके श्रमफल का उपभोग जैसे स्वतन्त्र सामन्त करते थे, वैसे ही राजा से भूमि पानेवाले सामन्त

करते थे। बर्नियर मानते हैं कि जिन्हें भूमि दी जाती है, उन्हें किसानों पर प्राय निरंकुश अधिकार प्राप्त होता है। (पृ. २२५)। यदि जागीरदार किसानों पर निरंकुश शासन करता है, तो इसमें क्या फर्क पड़ता है कि वह भूमि का सांमश स्वामी है या निरपेक्ष स्वामी है? बर्नियर का विचार था कि फ्रांस में बड़े भूस्वामी हैं, पार्लिया-मेण्ट है, न्यायाधीश हैं और ये सब जनता की फरियाद सुनकर न्याय करते हैं। ऐसी व्यवस्था भारत में नहीं है। फ्रांस की न्याय-व्यवस्था प्रजा का दुख दूर करने में समर्थ न हुई, यह तो स्पष्ट ही है। भारत के लिए भी वह मानते हैं कि दिल्ली और आगरा जैसी राजधानी के पास या बड़े शहरों और बन्दरगाहों के पास शाही अधिकार का वैसा दुरुपयोग नहीं होता जैसा दूर के स्थानों में होता है क्योंकि इन स्थानों में भारी अन्याय शाही दरबार से छिपाया नहीं जा सकता। (पृ. २२५)। इससे इतना तो प्रकट हो ही जाता है कि स्वेच्छाचारी जागीरदार शाही दरबार से डरते हैं और निरंकुश राज्यसत्ता की भी अपनी न्याय-व्यवस्था है जो जागीरदारों के स्वेच्छाचार को रोकती है। बर्नियर ने सारी भूमि को बादशाह की सम्पत्ति मान लेने के बाद उसमें भेद किया है। एक प्रकार की भूमि वह है जो बादशाह के घराने की है, जो जागीर के रूप में नहीं दी जाती। यह भूमि काश्तकारों को दी जाती है जो सालाना भाड़ा देते हैं। दूसरी तरह की भूमि वह है जो जागीर के रूप में दी जाती है। सैनिक सेवाओं के लिए भूमि देने की प्रथा यूरप में भी थी, यह केवल भारत की विशेषता नहीं थी। जागीरदारों के पास जो भूमि है, उस पर उनका कितना अधिकार है, यह उनकी शक्ति पर निर्भर था। मुगल साम्राज्य में बहुत से राजा थे जिनका अपने राज्य पर वंशगत अधिकार था। इसी कारण बादशाह या जागीरदार के अत्याचार से पीड़ित होने पर किसान किसी राजा के यहाँ जाकर शरण लेते थे। इससे स्पष्ट है कि भूमि पर सामन्तों का अधिकार दो तरह का था, एक वंशगत, दूसरा राजाज्ञा से सीमित अवधि के लिए।

बर्नियर के अनुसार व्यापार में कोई उन्नति करे तो निरंकुश शासक उसकी धन-दौलत छीन सकता था; अतः निरकुश बादशाही के कारण व्यापार में प्रगति रुकी हुई थी। लिखा है कि यूरप के राज्यों में व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार माना जाता है, भारत में उसके अभाव से बादशाह को ही हानि होती है। किसानों और कारीगरों का जीना दूभर हो जाता है; किसान खेती नहीं करना चाहते, उन्हें इसके लिए विवश किया जाता है। कोई भी सिंचाई-व्यवस्था सुधारना नहीं चाहता और खेती चौपट हो जाती है। किसान सोचता है कि कौन मेहनत करे, पता नहीं कल कौन दूसरा अत्याचारी मालिक आ जाये; जागीरदार सोचता है, जमीन में कौन पैसा लगाये, पता नहीं कब तबादला हो जाये। इस कारण भारत ही नहीं, सभी एशियाई राज्यों में, बर्नियर के अनुसार, ह्रास की दशा दिखायी देती है। घटिया शासन-व्यवस्था के कारण हिन्दुस्तान के गाँव और शहर मिट्टी और घास-फूस के बने होते हैं और "कोई ऐसा शहर या कस्बा नहीं है जो वीरान और तबाह न हो गया हो और न हुआ हो तो जिसमें ऐसी तबाही और वीराने के चिह्न साफ दिखायी न देने लगे हों।" (पृ. २२७)। हिन्दुस्तान के साथ ईराक, तुर्की, फिलिस्तीन और मिस्र तक एशिया-अफ्रीका के अधिकांश देशों को बर्नियर ने

दासता से ग्रस्त बताया है। बर्नियर के विवरण से यह प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने भारत का कोई गाँव देखा था। जब औरंगज़ेब दिल्ली से कश्मीर जा रहा था, तब उसके साथ बर्नियर भी थे। इस यात्रा के सिलसिले मे उन्होंने लिखा है कि रास्ते मे उन्हें कोई भी गाँव या शहर देखने को नही मिला। "दिल्ली और लाहौर के बीच जो गाँव और शहर थे, उनके बारे मे कुछ न कहूँगा; दरअसल मैंने उन्हें देखा नही।" (पृ. ३२२)। इसके विपरीत बंगाल मे छोटी नदियों को नहर समझकर उन्होंने लिखा था कि पिछले ज़माने मे बड़े परिश्रम से इन्हें काटकर बनाया गया और इनके दोनो ओर गाँव और कस्बे हैं जिनमे हिन्दुओं की घनी आबादी है। (पृ. ४४२)। बंगाल के गाँव भी उन्होंने दूर से देखे थे। इसलिए भूसम्पत्ति के बारे मे उन्होंने जो बातें लिखी थी, वे प्रत्यक्ष जानकारी के बल पर न लिखी थी वरन् बादशाह का वैभव देखकर लिखी थी। यह भी ध्यान देने की बात है कि उन्होंने कहीं भी सामुदायिक सम्पत्ति की बात नही कही; न तो शहरों में और न देहात में उन्होंने इस तरह की सम्पत्ति का कोई विवरण दिया है।

व्यक्तिगत भूसम्पत्ति के लिए वह लैटिन के दो शब्दों का व्यवहार करते हैं 'मेउम्' और 'तुउम्' अर्थात् सम्पत्ति मे मेरा-तेरा का भेद नही है। तुर्की, ईरान और हिन्दुस्तान मे सम्पत्ति के अधिकार का सम्मान नही रह गया; "संसार में जो कुछ उपयोगी और अच्छा है, वही उसका आधार है।" (पृ. २३२)। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अभाव होने से हर तरफ उत्पीड़न और तबाही के दृश्य दिखायी देते हैं। यदि फ्रांस में निरंकुश राजा होते तो वहाँ खेती में उन्नति न होती और समृद्ध नगर न होते। "एशिया के राजा सबकुछ हड़प जाना चाहते हैं जिससे अन्त में वे सबकुछ खो देते हैं। ईश्वर और प्रकृति के नियमों के अनुसार जितनी निरंकुशता सम्भव है, उससे भी अधिक निरंकुश होने की अन्धी और दुष्ट आकांक्षा से वे प्रेरित होते हैं।" (उप.)। इसी प्रसंग में वह कहते हैं कि फ्रांस में कानून ऐसा विवेक-सम्मत है कि सबसे पहले बादशाह ही उसका पालन करता है। उसके मातहत कारिन्दे या काश्तकार कानून तोड़ें तो अदालत में उनके विरुद्ध फरियाद की जा सकती है। "किन्तु पूर्वी देशों मे जो निर्बल और पीड़ित हैं, उन्हें कहीं शरण नहीं मिलती; जिस कानून से सभी मसले हल हो जाते हैं, वह कानून शासक का डण्डा है और उसकी इच्छा है।" (पृ. २३६)। यद्यपि अभी यूरप के व्यापारी भारत का माल खरीदने ही आते थे, फिर भी वे यहाँ की [illegible] पर ललचायी निगाह डाल रहे थे। अन्य देशों में उन्होंने जो लूटमार की थी, वह अभी भारत में सम्भव न थी। जब यह लूटमार शुरू हुई, तब किसी सामन्ती या पूँजीवादी कानून का पता न रहा। १७वीं सदी में यूरप की [illegible] के व्यापारी, [illegible] आदि लूटमार के लिए आवश्यक [illegible]।

किन्तु बर्नियर ने यह माना है कि यहाँ अच्छे कानूनों का अभाव नहीं है; [illegible] इन्हें सही ढंग मे लागू किया [illegible] जैसे दुनिया का अन्य कोई [illegible] (पृ. [illegible])। [illegible] उन्होंने लिखा है कि [illegible] खास में जो लोग फरियादें लेकर आते हैं, उनकी अर्जियाँ बादशाह के सामने [illegible] सुनायी जाती हैं। [illegible] सुनते हैं [illegible]

जिरह करते हैं और अवसर उसी समय अपना फैसला सुना देते हैं। हफ्ते में एक दिन वह एकान्त में दो घण्टे तक निम्न स्तरों से चुने हुए दस व्यक्तियों की फरियाद सुनते हैं जिसे कोई धनी और वृद्ध भला आदमी पेश करता है। हफ्ते में अन्य एक दिन वह दो मुख्य काजियों के साथ अदालत में बैठते हैं। "इससे स्पष्ट है कि यद्यपि हम एशिया के बादशाहों को बर्बर समझते हैं, फिर भी प्रजा के प्रति जो न्याय होना चाहिए, उसके प्रति वे सदा उदासीन नहीं रहते।" (पृ. २६३)। न्याय-व्यवस्था के इस उल्लेख से सिद्ध है कि प्रजा उतनी असहाय नहीं थी जितनी उसे बर्नियर ने अन्यत्र दिखाया है।

यह कहना अनावश्यक है कि बर्नियर पूंजीवादी सम्पत्ति और सामन्ती सम्पत्ति में भेद नहीं करते। जिसे वह व्यक्तिगत भूसम्पत्ति कहते है, वह वास्तव मे सामन्ती भूसम्पत्ति है। इसे वह व्यापार और समृद्धि का आधार मानते है। फ्रांस में भूमि बिकाऊ माल राज्यक्रान्ति के बाद बनी, उसके पहले वह बिकाऊ माल नहीं थी। सामन्ती स्वामित्व उसे बिकाऊ माल बनने से रोकता था। यही इस सम्पत्ति का प्रतिक्रियावादी रूप था। किन्तु सामन्ती व्यवस्था के पोषक बर्नियर ने यह सिद्धान्त बना लिया था कि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व न रहे (*अर्थात् सामन्ती स्वामित्व न रहे*) तो इसके फलस्वरूप अत्याचार, दासता, अन्याय, भीख और बर्बरता का प्रसार होगा ही, जमीन पर खेती न होगी, सब तरफ वीराना दिखायी देगा, बादशाह तबाह हो जायेंगे और जातियों का नाश हो जायेगा। (पृ. २३८)। अपनी इसी धारणा के अनुरूप उन्होंने दिल्ली को अनेक गाँवों का समुदाय कहा है। उसमें घास-फूस के झोपड़ों की, मिट्टी के मकानों की, भरमार थी, इसलिए वह बहुत से गाँवों का समुदाय था या एक बडी फौजी छावनी था। (पृ. २४६)। उनके विचार से जहाँ बादशाह भूमि का एकमात्र स्वामी होगा, वहाँ दिल्ली या आगरा जैसी राजधानी की शक्ति का मुख्य स्रोत फौज होगी; जहाँ भी मुगल बादशाद जायेगा, दूर की यात्रा करेगा, वहाँ आबादी उसका अनुसरण करने को बाध्य होगी। दिल्ली और आगरा पैरिस से बिल्कुल भिन्न हैं। यहाँ रहने के लिए स्थान फौजी तम्बुओं से ज्यादा अच्छे न होते तो किसी छावनी से इनकी तुलना करना दुरुस्त होता। (पृ. २२०)। अपनी इसी धारणा के अनुसार बर्नियर ने लिखा है कि भारत में कला-कौशल की उन्नति नही होती, कारीगरो से मार-मारकर काम कराया जाता है। कलाकारों में प्रतिभा है किन्तु दिल्ली मे ऐसे सस्थानो का अभाव है जिनमे चतुर कारीगर एकत्रित हों। भारतीय कारीगर बहुत अच्छी बन्दूकें बनाते हैं, सुन्दर चित्रकारी करते है, यूरुप की बनी चीजों की इतनी अच्छी नकल करते हैं कि असल और नकल में भेद करना मुश्किल हो जाता है। किन्तु इनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता, उन्हें उचित पारिश्रमिक नहीं दिया जाता। रईस चाहते हैं कि हर चीज सस्ती मिले। *जब कोई काम कराना होता है तो वे बाजार से कारीगर को बुलवा लेते हैं, जरूरत हो तो बल-प्रयोग द्वारा बुलवाते हैं। काम पूरा होने पर जो मन मे आता है, दे देते हैं। कारीगर कोड़े न खाये तो अपना भाग्य सराहता है। जो कलाकार बादशाह या किसी शक्तिशाली रईस के यहाँ काम करते हैं, वे ही थोड़ी-बहुत उन्नति करते हैं।* (पृ. २२५-२६)।

बनियर ने भारत का पिछड़ापन दिखाने के लिए जितनी बातें कही हैं, उन सबका खण्डन इस पुस्तक में उन्हीं की कही हुई अन्य बातों से हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि मुगल शासक निरंकुश थे और प्रजा पीडित थी, किसानों और कारीगरों को उचित श्रमफल न मिलता था। किन्तु अंग्रेज इस देश में, और फ्रांसीसी अन्य देशों में, जो लूटमार कर रहे थे या करनेवाले थे, उसकी तुलना में मुगल निरंकुशता तुच्छ थी। अन्य देशों को छोड़ दें, स्वयं इंग्लैण्ड में जिस तरह हजारों किसान साल-दर-साल ज़मीन से खदेड़े जाकर मुफलिसी और भुखमरी के शिकार हुए, उस तरह की तबाही मुगल शासन में न थी। सामन्ती व्यवस्था के भीतर जो व्यापारिक पूँजीवाद पनप रहा था, वह इंग्लैण्ड या फ्रांस के व्यापारिक पूँजीवाद से किसी तरह घटकर नहीं था, यह तथ्य बर्नियर के यात्रा-वृत्तान्त से प्रमाणित होता है।

(ख) विश्वबाज़ार और भारतीय व्यापार

दिल्ली में एक स्थान बेगमसराय के नाम से प्रसिद्ध था। इसे शाहजहाँ की सबसे बड़ी लड़की ने बनवाया था। इसके बारे में बर्नियर ने लिखा है कि यहाँ ईरानी, उज़बक तथा अन्य देशों के धनी सौदागर एकत्र होते थे। यहाँ वे पूरी तरह सुरक्षित रहते थे क्योंकि फाटक रात को बन्द कर दिया जाता था। "यदि पैरिस में हमारे पास ऐसी बीस इमारतें शहर के अलग-अलग हिस्सों में होतीं तो बाहर से आने-वालों को सही-सलामत रहने के लिए वाजिब जगह मिल जाती, और जो अभी परेशानी होती है, वह कम हो जाती। ये लोग वहाँ कुछ दिन रहते, अपने परिचितों से मुलाकात करते और फुर्सत में सुविधा का स्थान ढूँढ लेते। ऐसे स्थान हर तरह के व्यापारी माल के गोदाम बन जाते और विदेशी सौदागरों के सामान्य अड्डे हो जाते।" (पृ. २८१)। कम-से-कम एक चीज़ बर्नियर को दिल्ली में ऐसी दिखायी दी जैसी पैरिस में नहीं थी। यह एक इमारत थी जो सौदागरों के लिए थी। इसमें मुख्यत: विदेशी सौदागर ठहरते थे और वहाँ सुरक्षित रहकर अपना काम कर सकते थे। इसे शाहजहाँ की लड़की ने बनवाया था। शाही घराने के लोगों को व्यापार से दिलचस्पी थी, उसका यह प्रमाण है। दिल्ली में पड़ोसी देशों के सौदा-गर एकत्र हों, यह तो स्वाभाविक था किन्तु वहाँ, तथा अन्य बड़े शहरों में, यूरुप के सौदागर भी जमा हों, यह बात आश्चर्यजनक थी। हॉलैण्ड के सौदागरों के बारे में बर्नियर ने लिखा है कि वे औरंगजेब से इस उद्देश्य से मिले कि उसे अपने देश के बारे में बतायें जिससे बन्दरगाहों के, तथा जिन अन्य स्थानों में उन्होंने अपने अड्डे बनाये थे, वहाँ के, हाकिमों पर अच्छा प्रभाव पड़े। वे औरंगजेब से मिल चुके हैं, यह जानने पर हाकिम उनके व्यापार में बाधा न डालेंगे और उनकी शिकायतें ध्यान से सुनेंगे। उन्होंने शासन को यह समझाने का प्रयत्न भी किया कि हिन्दुस्तान से उनका व्यापार इस देश के लिए बहुत लाभकारी है। उन्होंने उन चीज़ों की लम्बी सूची दिखायी जिन्हें उनके देशवासी खरीदते थे और "इन चीज़ों के आधार पर उन्होंने बताया कि वे हर साल हिन्दुस्तान में जो सोना-चाँदी लाते हैं, वह काफी परिमाण में होता है।" (पृ. १२६)। हॉलैण्ड के व्यापारी मुख्यत: भारत में

बना हुआ माल खरीदने आये थे। इस माल के बदले उनके पास विनिमय में देने लायक सामग्री बहुत कम थी। इसीलिए उन्होंने शासन को यह समझाया था कि उन्हें व्यापार करने दिया जायेगा तो भारत में काफी सोना-चाँदी आयेगा। बर्नियर ने आगे लिखा है कि ताँबा, रांगा, हाथी, गरम मसाला तथा अन्य माल के आयात से जो सोना-चाँदी बाहर जायेगा, उसकी ओर इन सौदागरों ने ध्यान नहीं दिलाया। ध्यान न दिलाने का एक कारण यह था कि भारत से बाहर जानेवाले सोने-चाँदी की मात्रा नगण्य थी। यूरुप के सौदागरों के सामने मुख्य समस्या यह थी कि यूरुप का तमाम सोना-चाँदी भारत चला आ रहा है, इस असन्तुलित व्यापार को कैसे बदला जाये।

बर्नियर ने आगे लिखा, "यह बात आँखों से ओझल न होनी चाहिए कि सोना-चाँदी दुनिया के और सभी हिस्सों से घूम-फिरकर आखिर में हिन्दुस्तान में आकर जमा हो जाता है और यहाँ एक हद तक खो जाता है। जो सोना-चाँदी अमरीका में प्राप्त होता है और यूरुप के विभिन्न राज्यों में बँट जाता है, वह अंशतः कई राहों से तुर्की पहुँचता है। उस देश से [तुर्की से] जिस माल का आयात होता है, उसके दाम चुकाने के लिए [यूरुप द्वारा] सोने-चाँदी की यह मात्रा दी जाती है। उसका एक अंश स्मिर्ना से होता हुआ ईरान पहुँचता है। स्मिर्ना के बन्दरगाह से जो रेशम ढोया जाता है, उसके लिए यह अंश दिया जाता है। तुर्की को कहवा चाहिए और कहवा उसे यमन (अथवा अरेबिया फेनिक्स) से प्राप्त होता है। तुर्की, यमन और ईरान के लिए इण्डीज (भारत) की उपज भी उतनी ही आवश्यक है। इसलिए होता यह है कि ये देश मजबूर होकर अपने सोने-चाँदी का एक हिस्सा बाबुलमन्दल के पास लाल सागर तटवर्ती मोका भेजते है, ईरान की खाडी के सिरे पर बसरा भेजते है, ओरमुस के पास बन्दरअब्बासी या गोमरोन भेजते हैं और इस सोने-चाँदी का निर्यात हिन्दुस्तान को होता है। हर साल उपयुक्त हवा के मौसम में उस देश से माल से लदे जहाज इन तीन प्रसिद्ध बन्दरगाहों में पहुँचते है और सोना-चाँदी ढोकर ले जाते है। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्दुस्तानी जहाज चाहे हिन्दुस्तानियों के हों और चाहे अंग्रेजों, पुर्तगालियों या डच लोगों के, ये हर साल हिन्दुस्तान से पेगू, तनासेरिम [बर्मा का प्रदेश], स्याम, लंका, अशम [सुमात्रा के उत्तरी भाग का व्यापार केन्द्र], मकासार, मालदीप और अन्य स्थानों को माल लादकर ले जाते है और उन देशों से हिन्दुस्तान मे वापस सोने-चाँदी की भारी मात्रा लाते हैं। इसका भी [illegible] थ होता है जो मोका, बसरा और बन्दरअब्बासी से लाये हुए सोने- [illegible] । डच लोग जो सोना-चाँदी जापान से लाते [illegible] हैं, आगे- [illegible] क हिस्सा हिन्दुस्तान पहुँच जाता है। जे [illegible] पुर्तगाल [illegible] मार्ग द्वारा सीधे हिन्दुस्तान लाया [illegible] देश के [illegible] है। [illegible]
बदले सौदागरी मा [illegible] " (पृ. [illegible]

भारत और यूरुप के [illegible] तरह [illegible] के
बर्नियर का [illegible] है। [illegible] ोर
उत्तरी [illegible]

व्यापारी अमरीकी रेड इण्डियन समाजों को ध्वस्त करते हुए उनका सोना-चाँदी लूटकर अपने देशों मे एकत्र करते रहे थे। भारत में उन्हें अभी लूटमार की सुविधा न थी; व्यापारिक होड़ मे भारत का मुकाबला करने की शक्ति उनमे नही थी। उनके पास समृद्धि का अभी एक ही मार्ग था कि भारतीय माल यूरुप के बाजारो मे बेचें। लेकिन इसके बदले मे क्या दें ? भारत को देने लायक उनके पास कोई तैयार माल था नही, इसलिए मजबूरी मे वे सोना-चाँदी देकर यहाँ का माल खरीदते थे। यह सोना-चांदी उनके अपने घर का था और दूसरों के घर का भी था। अमरीका से जो सोना-चाँदी लूटकर लाये थे, वह काफी मात्रा में विवश होकर भारतीय व्यापारियों को दे देते थे। विश्वबाजार कायम करने मे यूरोपियन सौदागरों की भूमिका यह थी कि वे अमरीका से, व्यापार द्वारा नही, लूट के द्वारा, जनसंहार के द्वारा, सोना-चाँदी लाते थे। भारतीय सौदागरों की भूमिका यह थी कि वे लूट के द्वारा नही, व्यापार के द्वारा, विश्वबाजार का सोना अपने यहाँ खीचते थे। दोनों के तरीके अलग-अलग थे किन्तु दोनो विश्वबाज़ार मे ही अपना धन्धा कर रहे थे। विश्वबाजार कामय करने का सारा श्रेय यूरुप के सौदागरों को दिया जाता है। भारत तो स्वायत्त ग्राम-समाजों का देश था, यहाँ के शहर कच्चे घरों, फूस के झोंपडों का जमाव थे, निरकुश शासक व्यापारियो को आगे बढने ही न देते थे, फिर भला विश्वबाज़ार के निर्माण मे भारतीय व्यापारियों का कोई योगदान कैसे हो सकता था ? किन्तु यह तथ्य अकाट्य है कि अनेक राहों से संसार के उन सभी देशों का सोना-चाँदी सिमटकर भारत आ रहा था जो किसी न किसी रूप मे विश्वबाज़ार मे जुड़े हुए थे। एक ओर तुर्की, यमन और ईरान हैं, दूसरी ओर एशियाई महाद्वीप के अलावा अफ्रीका मे लाल सागर के किनारे मोका है। तीन प्रसिद्ध बन्दरगाह हैं जहाँ भारतीय जहाज़ माल लादकर पहुँचते है और बदले मे सोना-चाँदी ढो लाते है। इंग्लैण्ड, फ्रांस, हॉलैण्ड आदि देशों के व्यापारी एशिया अफ्रीका का यह बाज़ार कायम नहीं करते। वह पहले से कायम है, वे अन्य देशो के सौदागरो के साथ पहले से चले आते हुए व्यापार मे हिस्सा बँटाते हैं। जो काम दूसरे एशियाई व्यापारी करते है, वही यूरोपियन व्यापारी भी करते है अर्थात् भारतीय माल के बदले वे सोना-चाँदी देते है, वह कहीं से भी प्राप्त हो। विश्वबाज़ार के तथाकथित यूरोपियन संस्थापक एक बहुत बडे एशियाई-अफ्रीकी व्यापार के छोटे-से भागीदार बनकर अपना भाग्य सराहते है। यह स्थिति १७वी सदी की है। जब वे भारत के राजा हो गये, तब विश्वबाज़ार का इतिहास भी बदल गया।

बर्नियर ने कही यह नहीं लिखा कि यह सारा व्यापार मुगल बादशाह द्वारा संचालित होता था। जिस देश में सारी भूमि बादशाह की हो, उसमें सारा व्यापार भी बादशाह के हाथ मे होना चाहिए था। यदि ऐसा होता तो भारत में व्यापारी न होते, केवल राज्यकर्मचारी बादशाह की ओर से व्यापार का संचालन करते, किन्तु बर्नियर को मालूम था कि भारत मे व्यापारी हैं और यह भी कि वे ज्यादातर हिन्दू हैं। व्यापारी वर्ग की चर्चा करने से पहले यह और देख लें कि हिन्दुस्तान में जो हाथियों और गरम मसाले की खपत थी, उसके लिए यहाँ से कितना सोना-

चाँदी बाहर जाता था। बर्नियर ने लिखा है, डच व्यापारी इस तरह का सामान अन्य देशों में भारत पहुँचाते हैं। कुछ सामान इंग्लैण्ड और फ्रांस में भी पहुँचता है। अरब, ईरान आदि देशों के घोड़े समरकन्द, बुखारा आदि के फल और मेवा भारत में खरीदे जाते हैं। ऐसे ही और बहुत-सी चीजें चीन, इथियोपिया आदि देशों से आती है। इस सबका निष्कर्ष यह है : "किन्तु हिन्दुस्तान में इनसब चीज़ों के आयात में सोने-चाँदी का निर्यात नहीं होता। कारण यह है कि जो सौदागर ऐसी चीजें लाते हैं, वे जानते हैं कि बदले में इस देश की बनी चीजें ले जाने से ज्यादा लाभ होगा। इसलिए विदेश में बना हुआ माल खरीदने से हिन्दुस्तान के इस काम में रुकावट नहीं पड़ती कि वह संसार के सोने-चाँदी का बड़ा भाग समेटता रहे। यह सोना-चाँदी कई रास्तों से होकर पहुँचता है लेकिन उसकी वापसी के लिए एक भी रास्ता नहीं है।" (पृ. २०४)। भारत में सोने-चाँदी की खानें नहीं हैं किन्तु यहाँ सोने-चाँदी की इफरात है। बाहर से सोना-चाँदी आता है, यहाँ से बाहर नहीं जाता। इस सोने-चाँदी का बहुत बड़ा हिस्सा मुगल बादशाह के पास होगा ही और उसकी सम्पदा अकूत है। (पृ. २०५)।

दिल्ली में सौदागरों के मकानों के बारे में बर्नियर ने लिखा है कि ये देखने में सुन्दर मालूम होते है, गोदामों के ऊपर बने हुए हैं, धूल-धक्कड़ से दूर हैं, हवादार है और उनमें भीतर रहने की काफी जगह है। जो धनी सौदागर हैं, उनके घर अलग स्थान पर है। (पृ. २४५)। आशय यह है कि जो छोटे सौदागर हैं, वे उन्हीं दूकानों पर रहते हैं जिनमें वे धन्धा करते हैं। बड़े सौदागरों की दूकानें एक जगह हैं, उनके निवास-स्थान दूसरी जगह।

व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र आगरा था। जिस पत्र में बर्नियर ने दिल्ली के साथ आगरे का वर्णन किया था, उसे दिल्ली में उन्होंने जुलाई १६६३ में लिखा था। अब बादशाह आगरे में न रहता था, भारत की राजधानी दिल्ली थी। यदि व्यापार का सारा तामझाम बादशाह के साथ चलता था तो आगरे को अब तक उजड़ जाना चाहिए था। किन्तु आगरा हराभरा दिखायी देता था, हरा—शहर में फैले हुए बागों के कारण, और भरा—राजाओं और व्यापारियों के कारण। बर्नियर ने लिखा कि देखने में सुहावना इस कारण है कि राजा और रईस छायादार पेड़ लगाते हैं। बड़ी-बड़ी इमारतों के बीच घनी पत्तियोंवाले बाग है, "और इनके बीच में बनियों या हिन्दू व्यापारियों के ऊँचे-ऊँचे पत्थर के मकान हैं जो जंगल में छिपे हुए पुराने किलों जैसे प्रतीत होते हैं।" (पृ. २८५)। अधिकांश व्यापारी हिन्दू है, ये बड़ी-बड़ी इमारतों में रहते है, ये इमारतें घने बागों के बीच में किलों जैसी दिखायी देती हैं। यदि व्यापार से प्राप्त सारी सम्पदा बादशाह के खजाने में पहुँच जाती थी, तो इन व्यापारियों के घर क्या बादशाह ने बनवा दिये थे? राजधानी कहीं हो, व्यापार राजधानी पर निर्भर नहीं था; राजधानी की समृद्धि भी व्यापार के कारण थी। दिल्ली के राजधानी बनने पर आगरा उजड़ नहीं गया, आगरे को उजाड़ा अंग्रेज़ों ने जब वे इस देश के राजा बने।

आगरे के बारे में लिखा है कि डच व्यापारियों ने यहाँ अपना अड्डा कायम किया था। उनकी फैक्ट्री में चार-पाँच आदमी रहते थे। वे यहाँ पर नील खरीदते

थे जो अधिकतर बयाना मे प्राप्त होता था। अपना छोटा-मोटा सामान भी वे यहाँ बेचते थे। लखनऊ तथा अन्य स्थानों मे वे बड़े पैमाने पर कपड़ा खरीदते थे किन्तु आर्मीनियन सौदागरों मे होड के कारण उन्हें ज्यादा लाभ न हो रहा था। सूरत तक माल ले जाने में भी उन्हें कठिनाई होती थी। (बाहर भेजने के लिए सूरत के बन्दरगाह तक माल ले जाना जरूरी था।) "किन्तु जो भी कठिनाई हो, मैं नहीं समझता कि वे अंग्रेजों का अनुसरण करेंगे और आगरे की अपनी फैक्ट्री छोड़ देंगे।" (पृ. २९३)। १७वीं सदी में विदेशी व्यापारी होड मे लगे हुए थे। इनमे यूरप के ही नहीं, एशिया के व्यापारी भी थे, और होड यूरप के व्यापारियों मे आपस में भी होती थी।

(ग) बिकाऊ माल का उत्पादन

भारत में बर्नियर के अनुसार खेती चौपट हो रही थी और कलाकार कोड़े के भय से काम करते थे। फिर भी बंगाल की समृद्धि बर्नियर को आकर्षित किये बिना न रही। मिस्र का बड़ा नाम था। लोग कहते थे, प्रकृति ने किसी प्रदेश को इतना उर्वर नहीं बनाया जितना मिस्र को। बर्नियर ने लिखा है, मैं दो बार बंगाल गया हूँ और समझता हूँ कि जो ऊँचा स्थान मिस्र को दिया गया है, वह बंगाल को दिया जाना चाहिए। यहाँ धान की उपज इतनी ज्यादा होती है कि बंगाल पडोसी राज्यों को ही नहीं, वरन् दूर के राज्यों को भी चावल भेजता है। गंगा से होकर चावल पटना भेजा जाता है, समुद्र के मार्ग से मछलीपत्तन और दूसरे बन्दरगाहों तक भेजा जाता है। वह विदेशी राज्यों को भी, मुख्यत: लंका और मालदीप को, भेजा जाता है। बंगाल में शक्कर की भी बहुतायत है। यह शक्कर गोलकुण्डा और कर्णाटक भेजी जाती है, अरब, ईराक, ईरान भेजी जाती है। बंगाल अपनी मिठाइयों के लिए भी प्रसिद्ध है और जहाँ पुर्तगाली रहते हैं, वहाँ मिठाइयाँ बनाकर वे काफी धन्धा कर लेते है। आम, अनन्नास आदि फल भी यहाँ बहुतायत से होते हैं। बंगाल मे उतना गेहूँ नही होता जितना मिस्र मे होता है। यहाँ के निवासी चावल ही ज्यादा खाते है, फिर भी यहाँ गेहूँ पैदा किया जाता है। घरेलू खपत के अलावा उससे सस्ते और बढ़िया बिस्कुट बनाये जाते हैं और अंग्रेजी, डच और पुर्तगाली जहाजों के कर्मचारियों को दिये जाते है। खाने-पीने के काम आनेवाले पशु-पक्षी, मछलियाँ, घी और चावल, सबकुछ सस्ता है और हर चीज की इफरात है। पुर्तगालियों को जब डच सौदागर खदेड़ते है, तब वे अपने अड्डे छोड़कर बंगाल में शरण लेते हैं। देश सुन्दर है, स्त्रियाँ सुन्दर हैं। "डच लोगों, पुर्तगालियों और अंग्रेजों में इस कहावत का चलन है कि बंगाल के राज्य में अन्दर आने के लिए सौ दरवाजे है, बाहर जाने का दरवाजा एक भी नही है।" (पृ. ४३९)। यह बंगाल मुगल साम्राज्य का ही एक भाग था। इसी बंगाल मे अंग्रेजी राज के दौरान भुखमरी के कारण लाखो आदमियों ने जान गँवाई।

बंगाल में व्यापार के लिए किस तरह का बिकाऊ माल सुलभ है, इसके बारे में बर्नियर ने विस्तार से लिखा है: "जहाँ तक ऐसे कीमती माल का सम्बन्ध है जो विदेशी व्यापारियों को आकर्षित करे, मुझे किसी देश का पता नहीं है जिसमे

ऐसे माल की इतनी बडी विविधता हो। शक्कर का जिक्र मैं कर चुका हूं; उ
कीमती बिकाऊ माल की सूची म रखा जा सकता है। इसके अलावा बंगाल
सूती और रेशमी कपड़ों की ऐसी इफरात है कि इस राज्य को हिन्दुस्तान का
नही, महान् मुगल के साम्राज्य का ही नही, वरन् सभी पड़ोसी राज्यों का, अं
यूरुप का भी, सूती-रेशमी भण्डार कहा जा सकता है। मुझे कभी-कभी हर त
के सूती कपडों, मोटे और महीन, सादे और रंगीन कपड़ों के उस विशाल परिमा
पर आश्चर्य होता है जिसे केवल हॉलैण्डवाले विभिन्न स्थानों को, खासतौर
जापान और यूरुप को, भेजते है। अंग्रेज, पुर्तगाली और देशी व्यापारी भी इ
चीजों को लेकर काफी व्यापार करते है। यही बात रेशम और हर तरह
रेशमी चीज़ो के बारे में कही जा सकती है। सारे मुगल साम्राज्य को, लाहौ
और काबुल तक, और सामान्य रूप से बाहर के उन सभी देशों को जिन्हें सूत
कपडे का निर्यात किया जाता है, हर साल बंगाल से कितना रेशमी कपड़ा भेज
जाता है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। यहाँ का रेशम ईरान, सीरिया, सैद
और बेरूत के रेशम जैसा बारीक नही है लेकिन उसकी कीमत बहुत कम है। मु
अधिकारी व्यक्तियों से यह पक्की जानकारी मिली है कि चुनाव ढंग से हो औ
काम होशियारी से किया जाये, तो इस रेशम से बहुत ही खूबसूरत चीज़ें ब
सकती हैं। डच लोगों ने कासिम बाज़ार की अपनी रेशम की फैक्ट्री में सात-आ
सौ देशी लोगों को काम में लगाया है। इसी तरह अंग्रेज़ और दूसरे व्यापारियों
उपयुक्त संख्या मे आदमी लगाये हैं। शोरे के लिए भी बंगाल मुख्य प्राप्ति स्थान
है। शोरे की भारी मात्रा पटना से आती है। शोरा गंगा के मार्ग से बड़ी आसान
से लाया जाता है। डच और अंग्रेज़ इण्डीज [अर्थात् इण्डोनेशियाई, द्वीपसमूह]
और यूरुप को बडे परिमाण मे शोरा भेजते हैं। और अन्त मे सबसे बढ़िया लाख
अफीम, मोम, इत्र, मिर्च और अनेक प्रकार की जड़ी-बूटी इस हरे-भरे राज्य से
सुलभ होती है। और आपको लगेगा कि मक्खन [घी] मामूली-सी चीज है; यह
उसकी इतनी इफरात है कि यद्यपि निर्यात करने में इसके पीपे भारी-भरकम
होते हैं, फिर भी समुद्री मार्ग से वह अनगिनत स्थानों को भेजा जाता है।"
(पृ. ४३९-४०)।

खाने-पीने की चीजों से लेकर पहनने-ओढ़ने की चीजों तक बंगाल में व्यापार
के योग्य हर तरह के माल की इफरात थी। यह माल उच्च वर्गों के हाथ बेचा
जाता था और साधारण लोगों के हाथ भी। मोटे सूती कपड़े की खपत साधारण
लोगों में थी। शक्कर, घी जैसी चीजें उच्च और साधारण, दोनों तरह के लोगो के
काम की थी। कुछ चीजें बाहर से मँगायी जाती थीं जैसे शोरा। बंगाल समुद्री
व्यापार-मार्गों का केन्द्र था, इसलिए वहाँ से शोरा अन्य स्थानों को भेजा जाता
था। रेशमी-सूती कपड़े तैयार करने का काम जुलाहे पुराने औजारों से करते थे।
जहाँ अंग्रेजो और दूसरे व्यापारियो ने कारखानों मे कारीगर जमा करके काम
कराना शुरू किया था, वहाँ भी मशीनो से काम न लिया जाता था, पुराने ढग की
दस्तकारी का ही चलन था। बर्नियर के विवरण मे यह स्पष्ट नहीं है कि कारखानों
में केवल विदेशी व्यापारी कारीगरों को जमा करते थे या देशी व्यापारी भी उनसे

उन्हीं तरह काम लेते थे। ऐसी व्यापारी इस तरह कारीगरों को रखा करके उनसे काम लेते हों, उसकी पूरी सम्भावना है। इसका कारण यह है कि दिल्ली में ऐसे कारखाने थे जिनमें कारीगर इकट्ठे होकर काम करते थे। बर्नियर ने इनके बारे में लिखा है कि अनेक स्थानों में बड़े-बड़े कमरे, 'कारखाने' (Karkanays) या कारीगरों के लिए काम करने के स्थान हैं जिन्हें कारखाना कहते हैं। एक में कसीदा काढ़ने-वाले कारीगर मिस्त्री की देखरेख में अपने काम में मशगूल दिखायी देंगे, दूसरे में सुनार मिलेंगे, तीसरे में चित्रकार, चौथे में लकड़ी के काम पर पालिश करने-वाले, पाँचवें में बढ़ई, खराद करनेवाले (turners), दर्जी और मोची, छठे में रेशमी वस्त्र, ब्रोकेड और बढ़िया मलमल की चीजें बनानेवाले मिलेंगे जो पगड़ियाँ, सुनहले फूलोंवाले कमरबन्द, स्त्रियों के पाँयचे बनाते हैं, जो इतने मुलायम और नाजुक होते हैं कि एक रात में ही फीके हो जाते हैं। कारीगर हर सबेरे अपने कारखाने पहुँचते हैं, दिनभर काम करते हैं और शाम को घर लौट जाते हैं। इस तरह शान्त और नियमित ढंग से वे अपना समय बिताते हैं। जो जैसा है, वह उससे और बड़ा बनने की कोशिश नहीं करता। कसीदा काढ़नेवाला अपने लड़के को यही काम सिखाता है। सुनार का लड़का सुनार बनता है, वैद्य का बेटा अपने लड़के को वैद्य बनने की शिक्षा देता है। हर आदमी अपने पेशे में ही ब्याह-सम्बन्ध करता है और यह रीति मुसलमानों और हिन्दुओं, दोनों में कड़ाई से निबाही जाती है। (पृ. २५८-२५९)। बर्नियर की पुस्तक के सम्पादक आर्चिबाल्ड कान्स्टेबल ने एक पाद-टिप्पणी में बताया है कि बनारस के महाराज के रामनगरवाले महल में ऐसे कारखाने अब भी देखे जा सकते हैं "जिनसे कारीगरी का ऊँचा परम्परागत मानदण्ड कायम रखने में अथवा शिल्प की बहुत-सी विशेषताएँ कायम रखने में कम सहायता नहीं मिली।" (पृ. २५८)। केवल बादशाह और उसके बड़े सरदारों ने ही ऐसे कारखाने न लगाये थे, दिल्ली और आगरा से दूर बनारस के राजा ने भी ऐसे कारखाने लगाये थे। कान्स्टेबल की टिप्पणी १८९१ में लिखी गयी थी। इससे पता चलता है कि कारखानेवाली यह परम्परा १९वीं सदी के अन्त तक मिटी न थी, और पुराने सामन्ती राज्य, ब्रिटिश भारत का पूरी तरह अंग न बन पाने से, उसे बचाये हुए थे। इसका प्रभाव सारी नगर की दस्तकारी पर पड़ता था, यह बात कान्स्टेबल की टिप्पणी से स्पष्ट है। दिल्ली और आगरे के कारखानों का प्रभाव सारे देश की दस्तकारी पर पड़ा हो तो इसमें आश्चर्य न होना चाहिए। अन्यत्र बर्नियर ने इसी प्रसंग में लिखा है, "हिन्दुस्तान (इन्डीज) में बहुत पहले कला-कौशल अपनी खूबसूरती और नफासत खो देता यदि बादशाह और मुख्य अमीर अपने यहाँ कुछ ऐसे वेतनभोगी कलाकार न रखते जो उनके मकानों में काम करते हैं, बच्चों को सिखाते हैं [अर्थात् कला की शिक्षा देते हैं] और इनाम की उम्मीद से तथा कोड़े के डर से मेहनत करने के लिए प्रेरित होते हैं।" (पृ. २२८)। कारीगर किसी भी प्रेरणा से काम करते हों, वे बड़े आदमियों के यहाँ कारखानों में एकत्र होते थे, यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है। भले ही उनका काम उच्च वर्ग के लिए ही हो, पर यह उच्च वर्ग दिल्ली या आगरा तक सीमित नहीं था। दिल्ली या आगरा के कारीगरों का प्रभाव अन्य केन्द्रों पर

भी पडता था। यह स्मरण रखना चाहिए कि मुगल बादशाह और बड़े-बड़े हाकिम तथा अमीर व्यापार मे हाथ बँटाते थे। व्यापार से जो आमदनी उन्हे होती थी, वह व्यापारियों को लूटने से नही, माल खरीदने और बेचने से होती थी। फ्रास और भारत के सामन्तों में यह महत्वपूर्ण भेद था। बर्नियर ने अपने फ्रांसीसी आश्रयदाताओं और सरक्षकों को प्रसन्न करने के लिए फ्रांस की बड़ी प्रशंसा की और वहां की समाज-व्यवस्था को कला-कौशल की उन्नति के लिए बहुत उपयोगी बताया। किन्तु अन्य स्रोतों से यह तथ्य उजागर होता है कि फ्रांस की सामन्ती व्यवस्था व्यापार और उद्योग-धन्धों की प्रगति मे बहुत बडी बाधा थी। यह बाधा राज्यक्रान्ति द्वारा ही हटायी जा सकी। भारत में मुगल राज्यसत्ता विशुद्ध सामन्ती राज्यसत्ता नहीं थी। वह व्यापार और उद्योग-धन्धों की उन्नति मे सहायक थी। भारत में एक बहुत बड़ा बाजार मौजूद था; भारत से बाहर एशिया, अफ्रीका और यूरुप के अन्य देशों तक भारत में बना हुआ माल भेजा जाता था। सारी दुनिया का सोना-चाँदी सिमटकर भारत आये और जुलाहा अपने गाँव की, या शहर के कुछ लोगों की, जरूरत भर को घर मे कपड़े बुनता रहे, यह सम्भव न था। कारखानों में कारीगरों का इकट्ठा होना श्रम के संगठन का नया तरीका था। इसका उपयोग व्यापार के लिए मुगल सामन्तो ने न किया हो, हिन्दू व्यापारियो ने न किया हो, यह सम्भावना तर्कसंगत नही जान पड़ती। बंगाल से बहुत बडे पैमाने पर रेशमी और सूती वस्त्र भेजे जाते थे। बर्नियर ने बंगाल को संसार के लिए रेशमी-सूती वस्त्रों का भण्डार कहा था। सम्भावना यह है कि १७वी सदी मे इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड के व्यापारी बंगाल में पहले से चली आती कारखानेदारी की प्रथा का अनुसरण कर रहे थे। व्यापार के हर क्षेत्र में हम देखते हैं कि यहाँ जिस रीति का चलन था, विदेशी व्यापारी उसी के अनुरूप अपने कार्य का संगठन करते थे। वे भारतीय व्यापार का अंग बनते थे। व्यापार के लिए आवश्यक माल यहाँ की पद्धति से तैयार किया जाता था; इसलिए विदेशी व्यापारी यहाँ के कारखानोवाली पद्धति का अनुसरण करें, यह स्वाभाविक था। १७वी सदी का हॉलैण्ड उद्योग-धन्धो मे पिछड़ा हुआ था; बंगाल के व्यापार मे हॉलैण्डवासी अंग्रेज़ों से आगे थे, अंग्रेजो के पहले से काम कर रहे थे। इंग्लैण्ड में कारखानों में माल बनाने की प्रक्रिया अभी बहुत प्रारम्भिक अवस्था मे थी और इन कारखानो मे बना हुआ माल यूरुप या एशिया के बाजारों मे अभी कोई महत्व की जगह न पा सका था। इसके विपरीत भारतीय माल की माँग देश-विदेश मे सब जगह थी। ऐसी मांग का असर उत्पादन की पद्धति पर पड़ना ही चाहिए। यदि यह मान भी लें कि १७वीं सदी के भारतीय कारखाने केवल बड़े-बडे सामन्तों की जरूरतें पूरी करने के लिए थे, तो भी इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि ऐसे श्रम-सगठन का उपयोग व्यापारी और उद्योगपति भी कर सकते थे। अंग्रेज़ों ने भारतीय व्यापार के साथ औद्योगिक श्रम के इन नये संगठन-रूपों का भी नाश किया। इन कारखानो का एक पक्ष और भी ध्यान देने योग्य है। इन कारखानों मे हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मो को माननेवाले कारीगर एक साथ काम करते थे। इन कारखानों मे चित्रकारो, लुहारो, सुनारों के साथ मोची भी काम

करते थे। भले ही ये लोग अपने-अपने पेशे के अनुरूप अपनी ही विरादरी में ब्याह-शादी करते हों, अनेक विरादरियों के लोगों का एक जगह इकट्ठा होना ही आगे चलकर इन विरादरियों के बन्धन तोड़नेवाला था। इन कारखानों को तोड़कर अंग्रेजों ने जाति-विरादरी के बन्धन नही तोड़े, उन्होंने इन बन्धनों को और मजबूत किया। बर्नियर ने इनाम की उम्मीद और कोड़े के डर की बात कही है लेकिन कारीगरों के वेतन पाने की बात भी लिखी है (keep in their pay a number of artists)। इससे पता चलता है कि इन कारीगरों को बँधी हुई तनख्वाह दी जाती थी, सामन्ती ढंग से दबाव डालकर बेगार न करायी जाती थी। जहाँ कारीगर तनख्वाह लेकर काम करे, उत्पादन के साधन उसके अपने न हों, जो माल बनाये उस पर उसका अधिकार न हो, वहाँ उत्पादन की इस पद्धति को क्या कहेंगे? क्या यह सामन्ती उत्पादन-पद्धति है? यदि कारीगरों का बनाया हुआ माल बाजार मे बेचा जाये और मुनाफा कमाया जाये तो यह पूँजीवादी पद्धति कहलायेगी। तनख्वाह देकर कारखाने का मालिक मजदूर की श्रमशक्ति खरीदता है और श्रम-संगठन का सामूहिक तरीका अपनाता है। श्रमिक अलग-अलग स्वतन्त्र उत्पादकों की हैसियत से काम नही करते, अपनी श्रमशक्ति बेचकर मालिक के लिए काम करते हैं। यदि कहा जाये कि कारखानों का मालिक सामन्त है और अपने कुनबे की जरूरतों के लिए ही कारीगरो से इस तरह काम कराता है, तो भी मानना होगा कि सामन्त ऐसी पद्धति से काम ले रहा है जो पूँजीवादी उत्पादन की विशेषता है।

(घ) सौन्दर्यबोध और आधुनिकताबोध

बर्नियर ने कलाकारों के भय की बात लिखी है और कला को सँवारने के लिए उन्हें उचित प्रेरणा नहीं मिलती, इस पर बहुत जोर दिया है। भय और दबाव से श्रेष्ठ कलात्मक रचनाएँ सम्भव नही होतीं। भारत मे एक ऐसी कलाकृति थी जिसकी उपेक्षा बर्नियर भी नहीं कर सके। यह कृति थी आगरे का ताजमहल जिसे औरंगजेब के बाप ने बनवाया था और उसी युग मे बनवाया था जिसमे बर्नियर को कला-कौशल का ह्रास होता दिखायी दिया था। ताजमहल जैसी चीज फ्रांस में नही थी पर फ्रांस की श्रेष्ठता के दावेदार बर्नियर को ताजमहल मोह चुका था। क्या हिन्दुस्तान में रहते-रहते उनका सौन्दर्यबोध कुण्ठित हो गया था? ताज-महल का विवरण देने के बाद उन्होने लिखा, "पिछली बार जब मैं ताजमहल का मकबरा देखने गया, तब मेरे साथ फ्रास के एक सौदागर भी थे। हम दोनों का मत था कि इस अद्‌भुत इमारत की जितनी बड़ाई की जाये थोडी है। अपनी राय जाहिर करने की मुझे हिम्मत न हुई, डर था कि हिन्दुस्तान में बहुत दिनो तक रहने से मेरा सौन्दर्यबोध भ्रष्ट न हो गया हो। मेरा साथी हाल ही मे फ्रांस से आया था। इसलिए मेरे मन को बड़ी तसल्ली हुई जब मैंने उन्हें यह कहते सुना कि उन्होंने यूरप मे ऐसी भव्य और गरिमायुक्त कोई इमारत न देखी थी।" (पृ. २९५)। यदि यूरप, विशेषकर फ्रास, की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था कला-कौशल की उन्नति के अधिक अनुकूल थी, तो ताजमहल से भी ज्यादा सुन्दर

इमारतें फ्रांस में होनी चाहिए थी। लेकिन दुर्भाग्य की बात कि परिस्थितियाँ वहाँ अनुकूल थी और सुन्दर इमारत बनी भारत में। स्वायत्त ग्राम-समाज, निरंकुश राज्यसत्ता और ताजमहल का सौन्दर्य, इन तीनों में क्या सम्बन्ध है? ग्राम-समाज स्वायत्त नहीं थे, राज्यसत्ता निरंकुश इस अर्थ में थी कि वह सामन्तों को नियन्त्रित किये थी और किसानों का शोषण करती थी। सामन्तों को नियन्त्रित रखना उद्योग और व्यापार की उन्नति के लिए आवश्यक था। जो निरंकुशता उद्योग और व्यापार में सहायक हो, वह सामन्ती निरंकुशता से भिन्न होगी। किसी युग की श्रेष्ठ कलाकृतियों में जो सौन्दर्यबोध मूर्तिमान होता है, वह सामाजिक परिवेश से अलग-थलग नहीं, उससे सम्बद्ध होता है, वह सौन्दर्यबोध स्वयं सांस्कृतिक विकास का परिणाम होता है, और सांस्कृतिक विकास सामाजिक परिस्थितियों से ऊपर उठकर कहीं शाश्वत सत्य के आकाश में प्रकट नहीं होता। जमुना नदी के किनारे ताजमहल की नींव बड़ी गहराई में डाली गयी थी; उसमें जो सौन्दर्यबोध मूर्तिमान है, उसकी जड़ें भी १७वीं सदी के भारतीय समाज में बड़ी गहरी चली गयी थीं। पिछड़े हुए बर्बर या अर्धसभ्य समाजों में ताजमहल जैसी कलाकृतियाँ सम्भव नहीं होतीं।

औरंगज़ेब से जब उनका उस्ताद मिलने आया तब औरंगज़ेब ने उसे काफी सख्त बातें सुनायी। बर्नियर ने इनका विवरण विस्तार से दिया है। औरंगज़ेब की बातें ध्यान देने योग्य हैं। उन्हें पढ़कर यह सोचना चाहिए कि ये बातें सामन्तवाद को पुष्ट करनेवाली हैं या उसकी जड़ काटनेवाली हैं। औरंगज़ेब ने उन पर अमल किया या नहीं, वह अलग बात है; उसके दिमाग में ऐसी बातें आयीं, यह तथ्य अपने-आप में इतिहास के लिए महत्वपूर्ण है। औरंगज़ेब का उस्ताद दिल्ली आया, उसे आशा थी कि उसकी बड़ी आवभगत होगी, इनाम और खिताब मिलेंगे। हर प्रभावशाली व्यक्ति से, यहाँ तक कि रोशनारा बेगम तक से, उसने औरंगज़ेब पर ज़ोर डलवाने का प्रयत्न किया, पर तीन महीने तक औरंगज़ेब ने उसकी तरफ रुख भी न किया। आखिरकार उसने भेंट की। भेंट के समय बर्नियर के आश्रयदाता दानिशमन्द खाँ मौजूद थे। उनसे सुनी हुई बातें बर्नियर ने लिखीं। औरंगज़ेब ने कहा, आपने मुझे सिखाया कि सारा फिरंगिस्तान (अर्थात् यूरुप) एक मामूली टापू है। वहाँ का सबसे शक्तिशाली सम्राट् पहले पुर्तगाल का राजा था, फिर हॉलैण्ड का राजा हुआ और बाद को इंग्लैण्ड का राजा। फिरंगिस्तान के दूसरे राजाओं के बारे में आपने बताया कि फ्रांस और अन्दालूसिया के बादशाह हमारे छोटे राजाओं की तरह हैं और हिन्दुस्तान के बादशाह और सभी बादशाहों से बढ़कर हैं, वे दुनिया को जीतनेवाले, सारी दुनिया के बादशाह हैं, चीन, ईरान आदि के राजा इनके नाम से काँपते हैं। ऐसा था आपका भूगोल का ज्ञान, इतिहास का ज्ञान! "क्या मेरे उस्ताद के लिए ज़रूरी न था कि वह संसार की हर जाति की विशेषताओं से मुझे परिचित कराते, उनकी शक्ति और साधनों के बारे में मुझे बताते, उनकी युद्ध करने की रीति, उनके धर्म, रिवाज, शासन-पद्धति के बारे में बताते, यह बताते कि उनका हित मुख्य रूप से किस बात में है; और ऐतिहासिक पठन-पाठन के नियमित क्रम द्वारा मुझे राज्यों के उद्भव से परिचित कराते, उनके

उत्थान और पतन की जानकारी देते, उन घटनाओं या दुर्घटनाओ के बारे मे बताते जिनके कारण ऐसे बड़े परिवर्तन, ऐसे जबरदस्त इन्कलाब हुए हैं। मानवजाति के इतिहास का ऐसा व्यापक और गम्भीर ज्ञान देना तो दूर रहा, मैं आपसे अपने पुरखों के, इस साम्राज्य के विख्यात सस्थापकों के, नाम भी न जान सका। आपने मुझे उनके जीवन-चरित से, पहले की घटनाओ से, उनकी उस अद्भुत प्रतिभा से पूरी तरह अनजान बना रखा जिससे उनकी विस्तृत विजय सम्भव हुई। पड़ोसी जातियों की भाषाओं की जानकारी बादशाह के लिए अनिवार्य होनी चाहिए लेकिन आपने मुझे अरबी पढना-लिखना सिखाया। बेशक आपने सोचा होगा कि जिस जबान के लिखने-पढने मे कोई भी आदमी दस-बारह साल तक कड़ी मेहनत के बिना काबिल नहीं हो सकता, उसे सिखाने मे बहुत-सा वक्त जाया करके आपने हमेशा के लिए मुझ पर अहसान किया है। आप यह भूले गये कि किसी शाहजादे की शिक्षा के लिए कितने महत्वपूर्ण विषय समेटने चाहिए। आप यों पढ़ाने लगे मानो शाहज़ादे के लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी व्याकरण मे खूब कुशल हो जाना हो और ऐसा ज्ञान पाना हो जो किसी शास्त्री के लिए जरूरी होता है। इस तरह आपने शब्द रटाने के नीरस, बेफायदा और कभी न खत्म होने वाले काम मे मेरी जवानी का कीमती वक्त बरबाद किया।" (पृ. १५६-५७)।

इसके बाद बर्नियर कहते हैं कि कुछ विद्वान् बादशाह की चापलूसी करने के लिए और उनकी बातों को और ज़ोरदार बनाने के लिए या मुल्ला से (यानी औरंगज़ेब के उस्ताद से) जलन होने के कारण कहते हैं कि बादशाह की बात यहीं खत्म नही हुई, उन्होंने आगे और बातें भी कही। औरंगज़ेब ने कहा, क्या आप यह न जानते थे कि बचपन में किसी को अच्छी बातें बतायी जायें तो वे उसे याद रहेंगी और बडे काम करने लायक बनायेंगी? "क्या हम केवल अरबी के माध्यम से प्रार्थना कर सकते है या कानून और विज्ञान की जानकारी पा सकते हैं? मातृ-भाषा के माध्यम से हम दुआ करें तो क्या वह कबूल न होगी, मातृभाषा द्वारा ठोस जानकारी आसानी से न दी जा सकेगी?" (पृ. १५६)। आपने मेरे पिता शाहजहाँ से कहा कि आप मुझे दर्शनशास्त्र की शिक्षा दे रहे हैं। मुझे अच्छी तरह याद है कि कई साल तक आपने व्यर्थ की बातो मे मेरे दिमाग को परेशान रखा। ये ऐसी बातें थी ज़िन्दगी से जिनका कोई सम्बन्ध न था, वहीं मेहनत से तैयार की हुई अटकलें थी जो शीघ्र ही भुला दी जाती थी। इन बातों का असर सिर्फ यह होता है कि बुद्धि का नाश होता है और आदमी जिद्दी हो जाता है। मेरे जीवन के सबसे कीमती साल आपने अपनी प्रिय अटकलबाज़ियाँ सिखाने में बर्बाद किये। आपसे बिदा होते समय मुझे विज्ञान की कोई जानकारी नहीं थी, मैं केवल कुछ और विचित्र शब्द दोहरा सकता था जो तगड़े से तगड़े [illegible] नौजवान को पस्त कर देते। जो लोग दार्शनिक बनने का ढोंग करते हैं, उनके अज्ञान और घमण्ड को छिपाने के लिए ये शब्द गढ़े गये थे। ऐसे लोग [illegible] दूसरों पर यह रोब डालना चाहते है कि ज्ञान में उनसे बढ़ चढ़कर हैं और अस्पष्ट शब्द-डम्बर के नीचे ज्ञान के गम्भीर रहस्य छिपे हुए हैं जिन्हें बस वे लोग ही जानते हैं। "यदि आपने मुझे वह दर्शन सिखाया होता जिससे दिमाग तर्क की बात [illegible]

है, ऐसी कोई बात स्वीकार नही करता जिसका आधार खूब पुष्ट तर्क न हो; यदि आपने मुझे ऐसी सीख दी होती जो मन को ऊँचा उठाती है, भाग्य के थपेड़ों का सामना करने के लिए उसे शक्ति देती है, जिससे ईर्ष्या के लायक वह सन्तुलन पैदा होता है जो न सुख मे फूलकर कुप्पा होने देता है, न मुसीबत मे गिरकर पस्त होने देता है, यदि आप मुझे मनुष्य के स्वभाव की पहचान कराते, मुझे अभ्यास कराते की हमेशा मूल सिद्धान्तों के सन्दर्भ में सबकुछ देखूं, विश्व की भव्य और व्यापक धारणा कराते, उसके विभिन्न अंगों की व्यवस्था और नियमित गति का ज्ञान कराते; मैं कहता हूँ कि आपने मुझे इस तरह का दर्शनशास्त्र पढ़ाया होता तो अरस्तू के प्रति सिकन्दर जितना कृतज्ञ था, मैं उससे भी ज्यादा आपका ऋणी होता।" (पृ. १६०)। क्या आपने कभी मुझे समरविद्या सिखाई थी, किसी नगर का घेरा कैसे डालना चाहिए, समर-भूमि मे सेना कैसे सजानी चाहिए, कभी आपने बताया था? अच्छा हुआ कि मैंने आपके मुकाबले ज्यादा बुद्धिमान लोगों से इन विषयो मे शिक्षा प्राप्त की। (पृ. १६१)।

पहले की कही हुई और बाद की इन बातों मे कोई विशेष अन्तर नही है। औरंगज़ेब के चिन्तन की मुख्य दिशा यह है कि मनुष्य को शिक्षा ऐसी मिलनी चाहिए जिससे उसके जीवन का सम्बन्ध हो। अरबी व्याकरण रटने और दार्शनिक ज्ञान के नाम पर हवाई समस्याओं से जूझने के बदले इस संसार का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। सामन्तो के गुरु उनकी निराधार प्रशंसा करते थे, उनकी शक्ति का ऐसा बखान करते थे जिसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध न होता था। औरंगज़ेब ने अतिशयोक्तिपूर्ण चापलूसी की तीव्र निन्दा की। चीन और ईरान के राजा हिन्दुस्तान के बादशाहो के नाम से काँपते है, ऐसी बातें सामन्तों को खुश करती थीं। औरंगज़ेब ने विभिन्न जातियों के इतिहास, उनके रीति-रिवाज और शासन-पद्धति के ज्ञान पर जोर दिया, कहा कि इन जातियो की भाषाओं की जानकारी भी उच्च शिक्षा का अंग होनी चाहिए। भारत और यूरुप में दर्शनशास्त्र के नाम पर कभी बाल की खाल निकालना सिखाया जाता था। औरंगजेब का कहना था कि मनुष्य को ऐसा दर्शन सिखाना चाहिए जो वास्तविक जीवन की कठिनाइयों का सामना करने की शक्ति दे। विशेष रूप से महत्वपूर्ण है मनुष्य के विवेक पर जोर; जो बात तर्कसंगत हो, वही माननी चाहिए। भले ही औरंगज़ेब स्वयं कट्टरमतवादी रहा हो, यह दृष्टिकोण कट्टर मतवाद का खण्डन करनेवाला था। औरंगज़ेब ने चाहे दूसरो से सुनी हुई बात ही कही हो, उससे सिद्ध यह होता है कि भारत के लोग अपने बलबूते पर नयी विवेकपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था कायम कर सकते थे।

औरंगज़ेब ने शिक्षा समस्या पर शासकवर्ग के हित की दृष्टि से विचार किया था, जनसाधारण को शिक्षित बनाने का सवाल न था किन्तु यह शासकीय दृष्टिकोण सामन्ती दृष्टिकोण के प्रतिकूल था। पुरानी शिक्षापद्धति मे अरबी और संस्कृत की पढाई पर सबसे ज्यादा जोर था। संस्कृत की पढाई मे व्याकरण का स्थान सबमे ऊपर था। यही स्थिति अरबी को लेकर मुसलमान विद्वानों के यहाँ थी। धर्म की भाषा सामान्य भाषा भी हो सकती है, यह बात सामन्तीव्यवस्था के पुरोहितों ने कभी स्वीकार नही की। यूरप मे जर्मन, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं मे

बाइबिल का अनुवाद करनेवालो ने जबरदस्त सामाजिक सुधार का काम किया। भारत के भक्त कवियों ने, निर्गुणपन्थी सन्तों ने, लोकभाषाओं मे धर्म की बातें समझायीं। यह कार्य बाइबिल के अनुवाद से भी अधिक महत्वपूर्ण था क्योकि भारतीय कवियों की रचनाएँ किसी धर्मग्रन्थ का अनुवाद नही थी, वे कर्मकाण्ड से मुक्त एक नये लोकधर्म की स्थापना करनेवाली थी। किन्तु हिन्दुओं और मुसलमानों मे धार्मिक कृत्यों, सामाजिक संस्कारो आदि के लिए अब भी संस्कृत और अरबी का प्रयोग होता है। आकाशवाणी से सस्कृत मे समाचारो का जो प्रसारण होता है, उसे भी धार्मिक कृत्य ही मानना चाहिए। मैकाले ने १९वी सदी के पूर्वार्द्ध में जब अपनी शिक्षा-सम्बन्धी योजना प्रस्तुत की, तब अरबी और सस्कृत के पक्षपाती उसके विकल्प के रूप मे कोई नयी शिक्षा-व्यवस्था प्रस्तुत करने में असमर्थ थे। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाये, यह कहनेवाले थोड़े से ही लोग थे।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाये या प्राचीन साहित्य पढाया जाये, आधुनिक भाषाओं मे शिक्षा दी जाये या प्राचीन भाषाएँ सीखने पर ही जोर दिया जाये, यह समस्या यूरुप के विद्वानो के सामने भी थी। बर्नियर के यात्रावृत्तान्त के सम्पादक कान्सटेबल ने एक पादटिप्पणी मे बताया है कि औरगजेब ने जो बातें कही थी, उनसे बेहद मिलती-जुलती बातें १८९० मे जर्मन बादशाह ने बर्लिन मे कही थी। दोनों की तुलना करने के लिए कान्सटेबल ने अग्रेज़ी के 'टाइम्स' पत्र से जर्मन बादशाह की बातो का विवरण दिया है। बादशाह का भाषण सार्वजनिक उपासना मन्त्रालय (the ministry of Public Worship) के अन्तर्गत हुआ। शिक्षा-कार्य धार्मिक कर्मकाण्ड के अधीन था, इसीलिए बादशाह ने उस मन्त्रालय के अन्तर्गत भाषण किया। मन्त्री ने कहा कि इस बात पर विचार करना चाहिए कि स्कूलों मे पढ़ाई पुराने क्लासिकल मार्ग से होती रहे या आधुनिक जीवन के अनुरूप उसे ढाला जाये। जर्मनी मे विद्वानों की भरमार है और जीवन-संघर्ष में उन्हें अपने लिए कोई रास्ता नही दिखायी देता। बादशाह ने कहा, हमारे स्कूलों से (पढ़ाई पूरी होने पर) आदमी नही निकलते, रट्टू तोते निकलते है। वे लैटिन और क्लासिकल ज्ञान पर वह समय नष्ट करते है जो जर्मन भाषा और जर्मन इतिहास पर व्यय होना चाहिए। किसी भी जर्मन के लिए प्राचीनता के सारे इतिहास की तुलना में जर्मन भाषा और इतिहास का ज्ञान कही अधिक आवश्यक है। शिक्षा-व्यवस्था में अनेक दोष हैं और इनमे सबसे बडा दोष है क्लासिकल शिक्षा के प्रति पक्षपात। सभी स्कूलों में शिक्षा का आधार जर्मन भाषा होनी चाहिए, उद्देश्य यह होना चाहिए कि नौजवान यूनानी और रोमन बनकर नही, जर्मन बनकर निकलें। जर्मन बादशाह ने ये बातें १८९० में कही थी, औरंगजेब ने अपनी बातें १६६६ से पहले कही थी। स्वयं इंगलैण्ड में अभी ग्रीक और लैटिन पढने पर बड़ा जोर था। इंगलैण्ड के बहुत से राजनीतिज्ञ एटन कालेज में पढे थे। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ग्लैड्स्टन को भी वहाँ शिक्षा मिली थी। १८९१ मे उन्होने उस स्कूल में जाकर अपनी वृद्धावस्था में भाषण किया। उसमें उन्होने लडकपन में पायी हुई शिक्षा को सराहा और पुराने ढंग की शिक्षा का समर्थन किया। उन्होने कहा, अपने जीवन

के अनुभव से मुझमे यह विश्वास पैदा हुआ है कि यदि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मन को बडे-बड़े काम करने के योग्य बनाना है, तो इसके लिए सबसे बढ़िया साधन प्राचीन संस्कृति की, और सबसे पहले ग्रीक संस्कृति की, शिक्षा है। यह शिक्षा सर्वोच्च, सर्वाधिक स्थायी और सबसे ज्यादा लचीला साधन है। कान्सटेबल ने ग्लैड्स्टन का भाषण भी उद्धृत किया है। (पृ. १५६)। ब्रिटेन मे जो सामन्ती अवशेष बने हुए थे, वहाँ के सामाजिक जीवन पर चर्च का जो प्रभाव था, वह सब ग्रीक-लैटिन भाषाओं के अध्ययन पर बल देता था, अंग्रेज़ी भाषा को उपेक्षा की दृष्टि मे देखता था, विद्यालयों को वैज्ञानिक विचारधारा के केन्द्र बनने से रोकता था। अंग्रेज जाति ने जिस प्रगतिशील संस्कृति का निर्माण किया, उसका श्रेय शासको, पुरोहितो और शिक्षा संस्थाओं के कर्णधारों को नहीं है। इन सबके विरोध का सामना करते हुए इंग्लैण्ड मे वैज्ञानिक चिन्तन का विकास हुआ। मैकाले ने भारत मे जो शिक्षा-व्यवस्था चलायी, उसका उद्देश्य वैज्ञानिक विचार-धारा का प्रसार नही था। वैज्ञानिक शिक्षा व्यवस्था इंग्लैण्ड मे ही कायम न हुई थी, भारत मे कोई अंग्रेज़ उसे कैसे कायम करता ? मैकाले की शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य था अंग्रेजी राज चलाने के लिए कारिन्दे तैयार करना, बुद्धिजीवियो मे अंग्रेजी राज के समर्थक तैयार करना। २०वी सदी मे, भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद भी, बहुत मे बुद्धिजीवी सोचते है, अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा पाये हुए लोग अंग्रेजी राज के पहले तो थे नही। जब ऐसे बुद्धिजीवी नही थे, तब सामाजिक या सांस्कृतिक जीवन में कोई आधुनिक बात अंग्रेज़ी राज से पहले कैसे पैदा हो सकती थी ? इनके बच्चे अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा देनेवाले स्कूलों में जाते हैं; सन्तान से अंग्रेजी सुनकर वे परम प्रसन्न होते हैं। इन बुद्धिजीवियों की तुलना में अरबी के विरुद्ध मातृभाषा का पक्ष लेनेवाला औरंगज़ेब अत्यन्त प्रगतिशील विचारक था। अंग्रेज़ी के समर्थक कहते हैं कि यह भाषा दुनिया के ज्ञान-विज्ञान को देखने-समझने के लिए एकमात्र खिड़की है। पर इस खिड़की के बिना भी भारत के लोग यूरुप के बारे मे, वहाँ के दार्शनिको और विचारकों के बारे में, जानकारी प्राप्त कर रहे थे, और ऐसी जानकारी वे औरंगज़ेब के जमाने मे प्राप्त कर रहे थे, यह तथ्य अकाट्य है। बर्नियर ने दानिशमन्द खाँ के लिए लिखा है कि वह तीसरे पहर का अपना दार्शनिक अध्ययन छोड नही सकते; विदेशी मामलों के सचिव का काम उनके लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना यह अध्ययन। "खगोल विद्या, भूगोल और शरीर के अगों का विश्लेपण उनके प्रिय विषय है और वह बडे चाव से गसेन्दी और देकार्त के ग्रन्थ पढ़ते हैं।" ("Astronomy, geography and anatomy *are his favourite pursuits* and he *reads with avidity* the works of Gassendy and Descartes.") (पृ. ३५३)। यह वही गसेन्दी है जिन्होने यूनानी दार्शनिक एपीकुरुस का उद्धार किया था और जिनका उल्लेख १८४१ मे मार्क्स ने अपने शोधप्रबन्ध की भूमिका मे किया था। दानिशमन्द खाँ ने रक्तप्रवाह के बारे मे अंग्रेज़ विद्वान् विलियम हार्वे के अनुसन्धान के बारे में बर्नियर से जानकारी हासिल की थी। फ्रांसीसी विद्वान् ज़ा पेके ने शरीरतन्त्र के विश्लेपण पर काम किया था, इनके कार्य के बारे में भी दानिशमन्द खाँ ने बर्नियर

से जानकारी प्राप्त की थी। बर्नियर ने गसेन्दी और देकार्त के दार्शनिक ग्रन्थ फ्रांसीसी से फारसी मे अनुवाद करके दानिशमन्द खाँ को सुनाये थे और "पाँच-छह साल तक मेरा यही मुख्य कार्य था।" (पृ. ३२५)। इसका अर्थ यह है कि औरंगजेब और उसके भाइयो के बीच लडाई खत्म होने के बाद बर्नियर छह साल तक इंग्लैण्ड और फ्रांस के ज्ञान-विज्ञान से दानिशमन्द खाँ को परिचित कराते रहे। इससे जाहिर है कि भारत मे अंग्रेजी राज कायम न होता, तो भी यूरुप के ज्ञान-विज्ञान से भारतीय विद्वान् अपरिचित न रह जाते।

दिल्ली मे शासक वर्ग के लोग ज्योतिषियो का भरोसा करें, यह परम्परा काफी पुरानी है। बर्नियर के जमाने मे बादशाह का ज्योतिषी साइत बिचारता था लेकिन एक दिन वह खुद पानी मे गिरा और डूब गया। लोग कहने लगे कि बडा अनुभवी ज्योतिषी था, दूसरो को उनका भविष्य बताया करता था और जिस दुर्घटना में खुद उसकी जान जानेवाली थी, उसका पता भी न था। फिरंगिस्तान मे (अर्थात् यूरुप मे) विज्ञान ने उन्नति की है। वहाँ ज्योतिषियो को ठग समझा जाता है। ज्योतिषी लोग ऐसी बातें सुन-सुनकर बहुत अप्रसन्न हुए।(पृ. १६२)। यदि दिल्ली के लोग ज्योतिषियो पर हँसते थे, तो मानना होगा कि १७वी सदी के मुकाबले मे २०वी सदी की दिल्ली ने बहुत प्रगति नही की।

स्वयं बर्नियर को विज्ञान से अधिक धर्म का भरोसा था। एशिया के लोग असभ्य और बर्बर हैं, इस धारणा का आधार ईसाई मत का पक्षपात भी था। हिन्दुस्तान के लोगों को कैसे ईसाई बनाया जाये, यह समस्या बर्नियर के सामने थी। यहाँ बहुत से ईसाई ऐसे थे जिनका चरित्र देखकर कोई ईसाई धर्म के प्रति आकर्षित न हो सकता था। बर्नियर ने लिखा कि दुनिया के हर हिस्से में ईसाइयों को ऐसे प्रचारक भेजने चाहिए जिनका चरित्र ईसा के शिष्यो जैसा हो। उन शिष्यों को जबर्दस्त सफलता मिली थी; उसी तरह आधुनिक प्रचारकों को सफलता न मिलेगी। "मैं काफिरों (infidels) के बीच बहुत रहा हूँ। आदमी का मन कितना अन्धा होता है, यह मैं खूब जानता हूँ। इसलिए मैं नही मानता कि एक दिन मे दो-तीन हजार आदमियो के धर्म-परिवर्तन का समाचार सुनायी देगा। मुसलमानों में सफलता की आशा खासतौर से नही है, चाहे बादशाह हो चाहे प्रजा हो। पूरब के सभी प्रचार-संस्थानो में जा चुका हूँ। इसलिए अपने अनुभव के बल पर कहता हूँ कि प्रचारको के शिक्षा-कार्य और उनके दान से हिन्दुओं मे चाहे कुछ प्रगति हो, यदि आप सोचें कि दस साल मे भी आप एक मुसलमान को ईसाई बना लेंगे, तो आपको निराश होना पड़ेगा।" (पृ. २९०)। १८५७ की पृष्ठभूमि समझने के लिए ईसाई मत के लिए बर्नियर जैसे व्यक्ति का यह आग्रह याद रखना चाहिए।

(ङ) भारतविजय की आकांक्षा

अन्य बातों के साथ बर्नियर ने भारत की सैन्यशक्ति का भी अध्ययन किया। कितने घुड़सवार है, कितने पैदल सैनिक है, कितनी तोपें है, किस-किस तरह की तोपें हैं, इन सब बातो का वर्णन उन्होने विस्तार से किया। इस विवरण मे दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा कि पहले मुगल लोग तोपखाने का

के अनुभव से मुझमें यह विश्वास पैदा हुआ है कि यदि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मन को बड़े-बड़े काम करने के योग्य बनाना है, तो इसके लिए सबसे बढ़िया साधन प्राचीन संस्कृति की, और सबसे पहले ग्रीक संस्कृति की, शिक्षा है। यह शिक्षा सर्वोच्च, सर्वाधिक स्थायी और सबसे ज्यादा लचीला साधन है। कान्सटेबल ने ग्लैड्स्टन का भाषण भी उद्धृत किया है। (पृ. १५६)। ब्रिटेन में जो सामन्ती अवशेष बने हुए थे, वहाँ के सामाजिक जीवन पर चर्च का जो प्रभाव था, वह सब ग्रीक-लैटिन भाषाओं के अध्ययन पर बल देता था, अंग्रेज़ी भाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देखता था, विद्यालयों को वैज्ञानिक विचारधारा के केन्द्र बनने से रोकता था। अंग्रेज जाति ने जिस प्रगतिशील संस्कृति का निर्माण किया, उसका श्रेय शासकों, पुरोहितों और शिक्षा संस्थाओं के कर्णधारों को नहीं है। इन सबके विरोध का सामना करते हुए इंग्लैण्ड में वैज्ञानिक चिन्तन का विकास हुआ। मैकाले ने भारत में जो शिक्षा-व्यवस्था चलायी, उसका उद्देश्य वैज्ञानिक विचारधारा का प्रसार नहीं था। वैज्ञानिक शिक्षा व्यवस्था इंग्लैण्ड में ही कायम न हुई थी, भारत में कोई अंग्रेज उसे कैसे कायम करता? मैकाले की शिक्षा-पद्धति का उद्देश्य था अंग्रेज़ी राज चलाने के लिए कारिन्दे तैयार करना, बुद्धिजीवियों में अंग्रेज़ी राज के समर्थक तैयार करना। २०वीं सदी में, भारत के स्वाधीन हो जाने के बाद भी, बहुत से बुद्धिजीवी सोचते हैं, अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा पाये हुए लोग अंग्रेज़ी राज के पहले तो थे नहीं। जब ऐसे बुद्धिजीवी नहीं थे, तब सामाजिक या सांस्कृतिक जीवन में कोई आधुनिक बात अंग्रेज़ी राज से पहले कैसे पैदा हो सकती थी? इनके बच्चे अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से शिक्षा देनेवाले स्कूलों में जाते है; सन्तान से अंग्रेज़ी सुनकर वे परम प्रसन्न होते हैं। इन बुद्धिजीवियों की तुलना में अरबी के विरुद्ध मातृभाषा का पक्ष लेनेवाला औरंगजेब अत्यन्त प्रगतिशील विचारक था। अंग्रेज़ी के समर्थक कहते हैं कि यह भाषा दुनिया के ज्ञान-विज्ञान को देखने-समझने के लिए एकमात्र खिड़की है। पर इस खिड़की के बिना भी भारत के लोग यूरप के बारे में, वहाँ के दार्शनिकों और विचारकों के बारे में, जानकारी प्राप्त कर रहे थे, और ऐसी जानकारी वे औरंगजेब के जमाने में प्राप्त कर रहे थे, यह तथ्य अकाट्य है। बर्नियर ने दानिशमन्द खाँ के लिए लिखा है कि वह तीसरे पहर का अपना दार्शनिक अध्ययन छोड नहीं सकते; विदेशी मामलों के सचिव का काम उनके लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना यह अध्ययन। "खगोल विद्या, भूगोल और शरीर के अंगों का विश्लेषण उनके प्रिय विषय हैं और वह बड़े चाव से गसेन्दी और देकार्त के ग्रन्थ पढ़ते है।" ("Astronomy, geography and anatomy are his favourite pursuits and he reads with avidity the works of Gassendy and Descartes.") (पृ. ३५३)। यह वही गसेन्दी है जिन्होंने यूनानी दार्शनिक एपीकुरस का उद्धार किया था और जिनका उल्लेख १८४१ में मार्क्स ने अपने शोधप्रबन्ध की भूमिका मे किया था। दानिशमन्द खाँ ने रक्तप्रवाह के बारे में अंग्रेज विद्वान् विलियम हार्वे के अनुसन्धान के बारे में बर्नियर से जानकारी हासिल की थी। फ्रांसीसी विद्वान् जां पेके ने शरीरतन्त्र के विश्लेषण पर काम किया था, इनके कार्य के बारे में भी दानिशमन्द खाँ ने बर्नियर

से जानकारी प्राप्त की थी। बर्नियर ने गसेन्दी और देकार्त के दार्शनिक ग्रन्थ फ्रांसीसी से फारसी में अनुवाद करके दानिशमन्द खाँ को सुनाये थे और "पाँच-छह साल तक मेरा यही मुख्य कार्य था।" (पृ. ३२५)। इसका अर्थ यह है कि औरंगजेब और उसके भाइयों के बीच लडाई खत्म होने के बाद बर्नियर छह साल तक इंग्लैण्ड और फ्रांस के ज्ञान-विज्ञान से दानिशमन्द खाँ को परिचित कराते रहे। इससे जाहिर है कि भारत में अंग्रेजी राज कायम न होता, तो भी यूरुप के ज्ञान-विज्ञान से भारतीय विद्वान् अपरिचित न रह जाते।

दिल्ली में शासक वर्ग के लोग ज्योतिषियों का भरोसा करें, यह परम्परा काफी पुरानी है। बर्नियर के जमाने में बादशाह का ज्योतिषी साइत विचारता था लेकिन एक दिन वह खुद पानी में गिरा और डूब गया। लोग कहने लगे कि बडा अनुभवी ज्योतिषी था, दूसरों को उनका भविष्य बताया करता था और जिस दुर्घटना में खुद उसकी जान जानेवाली थी, उसका पता भी न था। फिरंगिस्तान में (अर्थात् यूरुप में) विज्ञान ने उन्नति की है। वहाँ ज्योतिषियों को ठग समझा जाता है। ज्योतिषी लोग ऐसी बातें सुन-सुनकर बहुत अप्रसन्न हुए। (पृ. १६२)। यदि दिल्ली के लोग ज्योतिषियों पर हँसते थे, तो मानना होगा कि १७वीं सदी के मुकाबले में २०वीं सदी की दिल्ली ने बहुत प्रगति नहीं की।

स्वयं बर्नियर को विज्ञान से अधिक धर्म का भरोसा था। एशिया के लोग असभ्य और बर्बर है, इस धारणा का आधार ईसाई मत का पक्षपात भी था। हिन्दुस्तान के लोगों को कैसे ईसाई बनाया जाये, यह समस्या बर्नियर के सामने थी। यहाँ बहुत से ईसाई ऐसे थे जिनका चरित्र देखकर कोई ईसाई धर्म के प्रति आकर्षित न हो सकता था। बर्नियर ने लिखा कि दुनिया के हर हिस्से में ईसाइयों को ऐसे प्रचारक भेजने चाहिए जिनका चरित्र ईसा के शिष्यों जैसा हो। उन शिष्यों को जबर्दस्त सफलता मिली थी; उसी तरह आधुनिक प्रचारकों को सफलता न मिलेगी। "मैं काफिरों (infidels) के बीच बहुत रहा हूँ। आदमी का मन कितना अन्धा होता है, यह मैं खूब जानता हूँ। इसलिए मैं नहीं मानता कि एक दिन में दो-तीन हजार आदमियों के धर्म-परिवर्तन का समाचार सुनायी देगा। मुसलमानों में सफलता की आशा खासतौर से नहीं है, चाहे बादशाह हो चाहे प्रजा हो। पूरब के सभी प्रचार-संस्थानों में जा चुका हूँ। इसलिए अपने अनुभव के बल पर कहता हूँ कि प्रचारकों के शिक्षा-कार्य और उनके दान से हिन्दुओं में चाहे कुछ प्रगति हो, यदि आप सोचें कि दस साल में भी आप एक मुसलमान को ईसाई बना लेंगे, तो आपको निराश होना पड़ेगा।" (पृ. २६०)। १८५७ की पृष्ठभूमि समझने के लिए ईसाई मत के लिए बर्नियर जैसे व्यक्ति का यह आग्रह याद रखना चाहिए।

(ङ) भारतविजय की आकांक्षा

अन्य बातों के साथ बर्नियर ने भारत की सैन्यशक्ति का भी अध्ययन किया। कितने घुड़सवार हैं, कितने पैदल सैनिक हैं, कितनी तोपें हैं, किस-किस तरह की तोपें हैं, इन सब बातों का वर्णन उन्होंने विस्तार से किया। इस विवरण में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। उन्होंने लिखा कि पहले मुगल लोग तोपखाने का

काम बहुत कम जानते थे, इसलिए यूरुपवालों को अच्छी तनख्वाह देते थे और इनमें कुछ अब भी बने हुए है जो दो सौ रुपये माहवार पाते है। लेकिन अब बादशाह उन्हें तोपखाने में बहुत कम भर्ती करता है और बत्तीस रुपये से ज्यादा तनख्वाह नही देता। (पृ. २१७)। इससे नतीजा यह निकला कि भारत पर विजय प्राप्त करने के लिए यूरुप के लोगों को अपने तोपचियों का भरोसा करना होगा। भारत मे तोप का जवाब तोप से दिया जा सकता है; अफ्रीका और उत्तरी-दक्षिणी अमरीका में इससे उल्टी स्थिति थी। तोप दरकिनार, वहाँ बन्दूक लेकर भी यूरुप-वालों का मुकाबला करनेवाला कोई नही था।

दूसरी बात उल्लेखनीय यह है कि बर्नियर के अनुसार भारतीय सेनाएँ संख्या के विचार से बहुत बड़ी है किन्तु युद्ध-कौशल मे दक्ष नहीं हैं, इसलिए उन्हे हराना आसान है। चाहे फ्रांस हो चाहे इंग्लैण्ड, यूरुप के जिस देश का आदमी भी एशिया मे अपना राज्यविस्तार करना चाहता था, वह स्वयं को सिकन्दर का उत्तराधिकारी मानता था। बर्नियर ने भी लिखा कि दस हज़ार यूनानियों ने जो करतब दिखाये या सिकन्दर के नेतृत्व में पचास हज़ार मखदूनियावासियो ने जो काम किया, यद्यपि मुकाबला छह-सात लाख आदमियों से था, उस सबका वर्णन पढकर अब आश्चर्य नही होता। ये बड़ी-बड़ी फौजें (अर्थात् भारतीय सेनाएँ) अक्सर बड़े काम भी कर डालती है पर जब भगदड़ शुरू होती है, तब अनुशासन कायम रखना असम्भव होता है। जैसे बाँध तोड़कर नदी बहे और पानी की रोकथाम न की जा सके, वैसा हाल होता है। "सिपाहियों को अव्यवस्थित रूप से, जानवरो के झुण्ड की तरह अनियमित ढंग से चलते देखकर मैं हमेशा सोचता था कि ऐसी फौजें चाहे जितनी बड़ी हों, उन्हे राजकुमार कोदे अथवा मार्शल तुरेन की कमान में फ्लैण्डर्स स्थित फौज के हमारे पच्चीस हजार अनुभवी सैनिक आसानी से हरा सकते है।" (पृ. ५५)। कैसे हरायेंगे, यह भी बर्नियर ने बताया। भारतीय हमले को दृढतापूर्वक सह लेने के बाद फ्रांसीसी फौज किसी भी भारतीय सेना मे भगदड़ पैदा कर देगी या फिर जैसे सिकन्दर ने किया था, वह शत्रुपंक्ति के किसी एक भाग पर टूट पडेगी। इस काम मे सफलता मिलते ही शत्रु इतना आतंकित हो जायगा कि चारो तरफ तुरत भगदड़ शुरू हो जायेगी। (उप.)।

भारतीय सेनाओं को युद्ध-विद्या मे बहुत कुछ सीखना था, यह बात सही है, किन्तु गोरी फौजों के बल पर न तो फ्रांस ने भारत को जीता और न इंग्लैण्ड ने। १७५७ में पलासी की लड़ाई से लेकर १८५७ तक बराबर लडाइयाँ होती रही और अंग्रेज़ो को जहाँ सफलता मिली, वहाँ भारतीय सैनिकों के बल पर मिली। १८५७ की लडाई मे भी भारतीय सैनिको की सहायता से ही उत्तर भारत में अंग्रेज़ अपना शासन फिर से कायम कर सके।

भारत में दुनिया भर से सोना-चाँदी खिचकर आता है। यह भारत देश असभ्य और पिछड़ा हुआ है। यहाँ के लोगों को ईसाई बनाना बहुत जरूरी है, लेकिन यह काम बहुत मुश्किल है। यहाँ बड़ी-बड़ी फौजें हैं लेकिन यूरोपियन सेनाएँ सख्या में कम होने पर भी उन्हे परास्त कर सकती हैं। बर्नियर के लिए ये सारी बातें परस्पर सम्बद्ध हैं। निगाह सोने-[illegible] है, हाथ मे झण्डा ईसाई

धर्म का है और भरोसा यूरोपियन फौजो का है। ठीक यही दृष्टिकोण अमरीकी महाद्वीपो मे स्पेन, पुर्तगाल, इंग्लैण्ड आदि के लुटेरो का था। भारत मे फ्रासीसी तो असफल रहे ही, अंग्रेज भी अपने राज्य को मुगलो के शासन से ज्यादा स्थायी न बना सके। बर्नियर ने भारत का जो विवरण प्रस्तुत किया, उसमे कहाँ कितनी सचाई है, यह जानने के लिए उनका दृष्टिकोण याद रखना चाहिए।

२. मोरलैण्ड

(क) राज्यसत्ता का गठन और विघटन

एशियाई समाज की विशेषता यह बतायी गयी है कि नीचे होते है स्वायत्त ग्राम-समाज और ऊपर होती है निरकुश केन्द्रबद्ध राज्यसत्ता। भारतीय इतिहास के लिए केन्द्रीय राज्यसत्ता का प्रश्न तब से महत्वपूर्ण रहा है जब से राज्यसत्ता का उद्भव हुआ है। राज्यसत्ता केन्द्रबद्ध है या नही, इसके अलावा इससे मिलता-जुलता दूसरा प्रश्न भी महत्वपूर्ण है : यह सत्ता केन्द्रीय है या नही। भारत मे अनेक भाषाएँ बोलनेवाले लोग हजारो साल से रहते आये हैं। इन विभिन्न भाषाएँ बोलनेवालो का कोई राष्ट्रीय इतिहास है या नही, यह उनके आपसी सम्बन्धो पर, उनकी एकता या अलगाव पर निर्भर है। इस स्थिति मे केन्द्रीय राज्यसत्ता ऐसी सत्ता होगी जो किसी एक शासन केन्द्र से इन सब लोगों को या उनमे अधिकांश को बाँधती हो। भारतीय इतिहास के अनेक युगो मे केन्द्रीय राज्यसत्ता उस क्षेत्र मे रही है जो हिन्दीभाषी जाति का क्षेत्र है। भारतीय एकता के निर्माण मे और उसकी एकता की रक्षा में हिन्दी भाषियों और उनके पूर्वजो का महत्वपूर्ण योगदान है। जब भी यह केन्द्रीय राज्यसत्ता कमजोर हुई है या टूटी है, भारत पर विदेशी आक्रमण हुए हैं और देश ने अपनी स्वाधीनता खोयी है। यह बात पहले तुर्क आक्रमणकारियों के जमाने मे देखी गयी। हर्ष जैसे चक्रवर्ती सम्राट् की जगह जब आपस में लडनेवाले सामन्तों ने ली, तब यह केन्द्रीय राज्यसत्ता कमजोर हुई और तुर्क अभियान सफल हुआ। दूसरी मिसाल अंग्रेजो की है। जब तक दिल्ली की केन्द्रीय राज्यसत्ता मजबूत रही, तब तक अंग्रेजो को अपने पैर फैलाने का मौका न मिला। यदि विशुद्ध आर्थिक होड़ मे वे शक्तिशाली होते तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बनने के बाद वे आसानी से भारत का उद्योग और व्यापार अपने हाथ मे कर लेते। किन्तु यूरोपियन व्यापारियो के राज्यविस्तार की योजना मे सबसे बड़ी बाधा दिल्ली की राज्यसत्ता थी जो केन्द्रीय ही नहीं, केन्द्रबद्ध भी थी। विभिन्न प्रान्त जब तक इस 'निरंकुश' सत्ता से जुडे रहे, तब तक विदेशियों का निरंकुश प्रभुत्व स्थापित न हो सका। यह मजे की बात है कि अनेक यूरोपियन लेखक एशियाई निरंकुशता की निन्दा करते है किन्तु साम्राज्य-विस्तार में उसने जो रुकावट डाली, उसके बारे मे वे चुप रहते है। वे भारतीय राज्यसत्ता की निरंकुशता की चर्चा इस तरह करते हैं मानों यहाँ की जनता की मुक्ति के लिए ही वे यहाँ अपनी सत्ता कायम करने आये हो।

भारत की केन्द्रीय राज्यसत्ता मे, उसके गठन और कार्यों मे, कब कौन से परिवर्तन हुए, यह प्रश्न 'निरंकुशता' शब्द के व्यवहार से टाल दिया जाता है।

राज्यसत्ता मालगुजारी किसान से उगाहती है, या किसी बिचौलिये के जरिये, सम्राट् के नीचे अनेक प्रान्तपति हैं जो उसके द्वारा नियुक्त किये गये हैं या परम्परा से चले आते भूस्वामी हैं जो अपने इलाके में स्वायत्त हैं और सम्राट् के लिए कुछ सेवाकार्य ही करते हैं, सम्राट् के पास स्थायी सेना है या अधिकतर वह भूस्वामियों द्वारा लाये हुए सशस्त्र दलों पर निर्भर रहता है, शासनतन्त्र चलाने के लिए कर्मचारियों का राज्यव्यापी, एक ही केन्द्र से संचालित समुदाय है या प्रत्येक बड़ा भूस्वामी अपने इलाके में स्वेच्छा से शासन करता है, ये सारे प्रश्न एशियाई सत्ता की निरंकुशता की व्याख्या के लिए महत्वपूर्ण हैं।

अंग्रेजी राज कायम होने से पहले केन्द्रीय राज्यसत्ता के स्वरूप में अनेक बातें पुरानी थीं और कई बातें नयी थीं। इनके विवेचन के लिए मोरलैण्ड की पुस्तक **मुस्लिम भारत की कृषि व्यवस्था** (W. H. Moreland: The Agrarian System of Moslem India) से मैं कुछ तथ्य यहाँ देता हूँ। उन्होंने अपनी पुस्तक में मुस्लिम शब्द का प्रयोग ब्रिटिश नीति के अनुरूप किया है किन्तु वह अरबों, ईरानियों, तुर्कों आदि का भेद जानते हैं। [**अकबर की मृत्यु के समय का भारत** (*India at the Death of Akbar*) नाम की अन्य पुस्तक में उन्होंने लिखा है कि अकबर का साम्राज्य स्थापित होने से पहले की पाँच-छह शताब्दियों में जो मुसलमान आये थे, वे मुगल अभियान से पहले ही यहाँ के लोगों में अच्छी तरह घुल-मिल गये थे और आमतौर से उन्होंने बाबर और हुमायूँ के खिलाफ संघर्षों में भारतीय पक्ष का समर्थन किया था। (पृ. २२)। हिन्दुस्तान के मुसलमान बाबर और हुमायूँ से लड़े, इस तथ्य से विदित होगा कि इतिहास को हिन्दू-इतिहास और मुस्लिम-इतिहास में बाँट देने से भारी भ्रम फैलता है।]

अकबर ने राज्यसत्ता को जो स्वरूप दिया, वह औरंगजेब के समय तक चला। राज्यसत्ता और शासनतन्त्र की बहुत-सी बातें उसने पठान बादशाह शेरशाह से पायी थीं और शेरशाह से पहले राज्यसत्ता और राज्यतन्त्र में कुछ महत्वपूर्ण सुधार अलाउद्दीन खिलजी ने किये थे। अलाउद्दीन, शेरशाह, अकबर, इन शासकों ने विभिन्न समय में राज्यसत्ता को नया स्वरूप देने का प्रयत्न किया। यह स्वरूप बार-बार बना और बिगड़ा। स्वरूप एक-सा नहीं रहा, इसका कारण क्या था? इसका कारण यह था कि जिन आर्थिक हितों के लिए यह स्वरूप निश्चय किया जा रहा था, वे पुरानी व्यवस्था में पनप रहे थे, अभी काफी शक्तिशाली न हुए थे, पुराना परिवेश नये विकासमान हितों को दबा लेता था। जो लोग समझते हैं कि राज्यसत्ता निरंकुश थी, इस निरंकुशता का प्रतीक बादशाह था, वह जो चाहता था सो करता था, और इसी से सत्ता की निरंकुशता प्रकट होती थी, वे इस तथ्य पर ध्यान नहीं देते कि तुर्क, पठान और मुगल बादशाह विभिन्न समय में एक ही तरह का प्रयास कर रहे थे और ये प्रयास बार-बार असफल भी हो रहे थे। जाहिर है, इस तरह का प्रपंच तभी घटित होता है जब उसके वस्तुगत कारण होते हैं, जब वह कुछ व्यक्तियों की इच्छा मात्र पर निर्भर नहीं होता।

अकबर के समय में सेनापतियों को जागीरें दी जाती थीं; सेना पर जो कुछ खर्च होता था, वह जागीर की मालगुजारी से प्राप्त किया जाता था। कृषि-

व्यवस्थावाली पुस्तक में मोरलैण्ड ने बताया है कि वेतन की जगह जमीन देने (assignments) की प्रथा पुरानी थी और मनुस्मृति मे यह विधान था कि जो अधिकारी सौ गाँवों का शासन-प्रबन्ध चलायेगा, वह एक गाँव की मालगुजारी अपने खर्च के लिए रखेगा। "इस विधान से ऐसा प्रतीत होता है कि मुस्लिम काल की जागीरदारीवाली कृषि सम्बन्धी बडी संस्था हिन्दू संस्कृति के यथेष्ट प्राचीन काल की है।" (पृ. १२)। मोरलैण्ड आगे कहते है कि हर्ष के कन्नौज मे सेवाकार्य के लिए जमीन देने का चलन निश्चित रूप से था और यह प्रथा विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य में भी थी। उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया है कि विजयनगर की कृषि-व्यवस्था लगभग वही थी जो गोलकुण्डा के मुस्लिम राज्य की थी। इन तथ्यों से यह संकेत मिलता है कि आर्थिक स्तर पर, हिन्दू-मुस्लिम भेद से परे, स्वतन्त्र विकास हो रहा था। राज्यसत्ता के स्वरूप में परिवर्तन आवश्यक हुए, तो इनके भी वस्तुगत आर्थिक कारण थे।

१२९६ में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का शासक बना। जिन लोगों को जमीन दी गयी थी, उनसे वह भूमि उसने १३०० के लगभग वापस ले ली। उद्देश्य यह था कि प्रभावशाली लोग समझ लें कि बादशाह की इनायत के बिना उन्हे कोई स्वतन्त्र आमदनी नही हो सकती। "अलाउद्दीन और उसके सलाहकारो का मत यह था कि राजा और सरदार तब तक बागी बने रहेंगे जब तक उनके पास बगावत के लिए आवश्यक साधन होगे। उस समय की वास्तविक स्थिति पर विचार करें तो लगेगा कि यह दृष्टिकोण सम्भवत: सही था। राजाओं के स्वतन्त्र रहने की सुदीर्घ परम्परा थी। यह स्वतन्त्रता वे केवल अपनी तलवार के बल पर कायम रखते थे। इन राजाओं का समुदाय विदेशी शासकों के प्रति वफादारी दिखाये, इसके लिए कोई खास कारण नही था। इन शासको ने देश पर बलपूर्वक अधिकार किया था और उससे भारी मालगुजारी वसूल कर रहे थे। पृथक्-पृथक् मुसलमानो की हेकडी ने बगावत के लिए भारी प्रेरणा दी होगी। इसलिए इस बात पर विश्वास करना आसान है कि राजा लोग या उनमे कुछ मौका पाते ही मुस्लिम जुआ उतार फेंकने को आतुर थे, और वे अपनी अतिरिक्त आय परम्परागत ढग से सेना सग्रह करके तथा अस्त्र-शस्त्र बटोरकर अपने को शक्तिशाली बनाने मे लगा रहे थे। जो भी हो, अलाउद्दीन ने जो दृष्टिकोण अपनाया, उससे सीधे कृषि सम्बन्धी नीति मे परिवर्तन हुआ। उद्देश्य यह था कि राजाओं को उनके अधिकांश साधनों से वंचित कर दिया जाये।" (पृ. ३२-३३)। मोरलैण्ड के इस विवरण से हम देखते हैं कि केन्द्रीय राज्यसत्ता का नेता यानी बादशाह या सुलतान तब तक निरंकुश नही होता जब तक राजाओं के पास आय के स्वतन्त्र साधन रहते है और सेना तथा शस्त्रबल रहता है। राज्यसत्ता को निरंकुश बनाने के लिए स्वाधीन राजाओं की शक्ति को नष्ट करना, क्षीण करना अथवा नियन्त्रित रखना जरूरी था। राज्य-सत्ता के स्वरूप मे अलाउद्दीन, शेरशाह और अकबर ने जो भी परिवर्तन किये, उनकी मुख्य दिशा यही थी, स्वतन्त्र राजाओ यानी सामन्तों की शक्ति को नष्ट करना या नियन्त्रित रखना।

अलाउद्दीन की नीति में दो बातें मुख्य थी : राजाओं के पास जो भूमि थी,

उसकी मालगुजारी एक ही राज्यव्यापी नियम के अनुसार निर्धारित की गयी और मालगुजारी तय करने के लिए पैमाइश को आधार बनाया गया; औसत उपज के अनुसार मालगुजारी निश्चित की गयी। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों के लगातार प्रयत्न से राजा, परगनों और गाँवों के मुखिया साधनहीन बन गये, घोड़े और हथियार खरीदने के लिए उनके पास पैसे न रहे। एक समकालीन इतिहासकार के अनुसार हिन्दुओं के घर में सोना-चाँदी न रह गया और गरीबी के कारण रानियों को मुसलमानों के यहाँ चाकरी करनी पड़ी। मोरलैण्ड कहते हैं कि इतिहासकार की भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण लगती है किन्तु बादशाह की नीति की सफलता इस बात से मालूम हो जाती है कि "उसे लागू करने के छह साल बाद राज्य में शान्ति थी।" (पृ. ३५)। अलाउद्दीन दक्षिण की विजय के लिए अपनी फौजों का उपयोग करने की स्थिति में हो गया। उसके शासनकाल के शेष भाग में किसी गम्भीर आन्तरिक विद्रोह का उल्लेख नहीं मिलता, "और हम मजे में यह नतीजा निकाल सकते हैं कि कुछ समय के लिए राजा एक तरफ कर दिये गये और राज्य के एक बड़े भाग में शासनतन्त्र किसानों से सीधा सम्बन्ध कायम कर सका।" (उप.)। सामन्ती व्यवस्था की राज्यसत्ता आमतौर से उत्पादकों से सीधा सम्बन्ध कायम नहीं करती, हर सामन्त अपने क्षेत्र के शासन का इजारा अपने हाथ में रखता है। यह इजारा हिन्दुस्तान में भी था। यदि पहले से न होता तो उसे खत्म करने की नौबत न आती। राज्यसत्ता के जिस स्वरूप को निरंकुश कहा जाता है, वह १३वीं सदी में अलाउद्दीन खिलजी का चलाया हुआ था। यह एशियाई निरंकुशता प्राचीन काल से न चली आ रही थी। १३वीं सदी से पहले केन्द्रबद्ध राज्यसत्ता के नीचे बहुत से सामन्ती केन्द्र होते थे। सामन्तवाद की विशेषता है सत्ता का विकेन्द्रित रूप। यह विकेन्द्रित रूप भारत में विद्यमान था, तभी अलाउद्दीन को यह अवसर मिला कि वह राज्यसत्ता को नया स्वरूप दे। जिस क्षेत्र पर अलाउद्दीन की नीति विशेष रूप से लागू हुई थी, उसमें दोआब सहित दिल्ली का इलाका शामिल था; मोरलैण्ड के अनुसार रुहेलखण्ड, मालवा, राजस्थान और (मुल्तान छोड़कर) पंजाब शामिल थे, गुजरात, अवध और बिहार उसमें नहीं थे। यह क्षेत्र राज्य का केन्द्रीय भाग था और दूर के प्रान्त उससे बाहर थे। दूसरे शब्दों में हिन्दी प्रदेश का दिल्लीवाला क्षेत्र अथवा कुरुजनपद केन्द्र में था और पड़ोसी पंजाब और राजस्थान भी उसमें शामिल थे।

मोरलैण्ड कहते हैं कि इतने बड़े क्षेत्र में किसानों से सीधे सम्बन्ध कायम करने का मतलब था कर्मचारियों की संख्या में तेजी से वृद्धि। इस वृद्धि में प्रजा का शोषण कितना बढ़ा और भ्रष्टाचार में कितनी वृद्धि हुई, वह अलग सवाल है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना है कि राज्यसत्ता के इस स्वरूप के साथ जिस नौकरशाही का विस्तार हुआ, उससे गाँव भी अछूते न रहे। गाँव में एक गणक होता था जो इस बात का हिसाब रखता था कि प्रत्येक हाकिम को कितना पैसा दिया गया। आगे चलकर औरंगजेब के एक मन्त्री ने अपने कर्मचारियों से कहा कि वे गाँव के गणक का सहारा लें और देखें कि हाकिम अनधिकृत वसूली तो नहीं कर रहे। "इससे हम यह वाजिब नतीजा निकाल सकते हैं कि गाँव के गणक का कार्य

असल घटा दी गयी थी और निचले स्तर पर वे बारह-तेरह साल तक स्थिर बनी रहीं। इस अवधि में आवश्यक वस्तुओं की कोई विशेष कमी नहीं हुई। अलाउद्दीन ने चीजों की कीमतें निश्चित करते हुए विस्तृत नियम बनाये। इन नियमों का सारतत्व था—सामग्री की प्राप्ति पर नियन्त्रण, परिवहन पर नियन्त्रण, जरूरत हो तो उपभोग पर नियन्त्रण, (मोरलैण्ड ने 'राशनिंग' शब्द का प्रयोग किया है)। नियमों का पालन कराने के लिए बहुत ही सुसंगठित गुप्तचर-व्यवस्था थी और नियम भंग करनेवालों को कठोर दण्ड दिया जाता था। अलाउद्दीन ने अर्थतन्त्र चलाने के लिए जो नीति अपनायी थी, वह मध्यकालीन नहीं थी, उत्पादन की एशियाई पद्धति से उसका सम्बन्ध नहीं था, वह अत्यन्त आधुनिक थी, इसका प्रमाण मोरलैण्ड है। लिखा है, "इस सारांश से विदित होगा कि ये बातें लगभग ज्यों की त्यों नियन्त्रण की उस व्यवस्था पर लागू होती हैं जिसका विस्तार युद्ध के दौरान इंग्लैण्ड में किया गया था और जिसे अनुभव ने कारगर साबित कर दिया था।" (पृ.३६)। यहाँ प्रथम महायुद्ध की ओर संकेत है। १९१४ में इंग्लैण्ड महाजनी पूँजी का गढ़ था और अपने साम्राज्य की रक्षा और प्रसार के लिए लड़ रहा था। संकट के समय वह राज्यसत्ता को निरंकुश बना रहा था जिससे कि वितरण-व्यवस्था नियन्त्रण में रहे और आर्थिक संकट के कारण युद्ध प्रयास विफल न हो जायें। अलाउद्दीन को स्थाई सेना संगठित करनी थी, आर्थिक संकट मौजूद था, चीजें महँगी होती जा रही थीं, कीमतों को स्थिर रखना जरूरी था। अर्थतन्त्र में वित्त की प्रधानता कायम हो रही थी; अलाउद्दीन की वित्तीय नीति बिखरे हुए सामन्तों के हित में नहीं थी, वह व्यापारिक पूँजीवाद के हित में थी जो अर्थतन्त्र में वित्त की प्रधानता का कारण था। जखीरेबाजों, सट्टेबाजों, मुनाफाखोरों की कारंवाई को नियन्त्रित रखने से ही व्यापारिक पूँजीवाद प्रगति कर सकता था।

अलाउद्दीन के बाद उसकी नीति का संचालन करनेवाला कोई न रहा। इससे जो बात साबित होती है, वह यह कि जिन आर्थिक हितों को उस नीति से लाभ होता था, वे अभी कमजोर थीं और सामन्ती परिवेश उन पर हावी हो जाता था। १४वीं सदी में चीजें सस्ती थीं किन्तु देश में सोने-चाँदी की कमी थी। इसका एक कारण मोरलैण्ड के अनुसार शायद यह था कि "व्यापार अभी उस राह पर न चल रहा था जिससे माँग पूरी करने के लिए यथेष्ट परिमाण में उत्तर भारत में सोना-चाँदी आता।" (पृ. ६८)। आगे चलकर व्यापार का विकास इस तरह हुआ कि भारी मात्रा में सोना-चाँदी आने लगा किन्तु १४वीं सदी में सोने-चाँदी की यथेष्ट मात्रा बंगाल और गुजरात के बन्दरगाहों से ही आ सकती थी। जब ये प्रदेश दिल्ली के शासन में होते थे, तब व्यापार स्वच्छन्दता से चालू रहता था। व्यापार के अलावा मालगुजारी नगद रूप में आती थी। "जब ये प्रदेश स्वाधीन हो जाते थे, सड़कों पर अव्यवस्था (lawlessness) फैलने से उनका सम्पर्क दिल्ली से टूट जाता था, तब मालगुजारी प्राप्त न होती थी और लाज़मी तौर से व्यापार में रुकावट पैदा होती थी।" (पृ. ६८-६९)। यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है कि केन्द्र-बद्ध और केन्द्रीय राज्यसत्ता से व्यापार का सम्बन्ध किस तरह का है। जब बंगाल

शेरशाह अकबर से पहले] चालू था।" (पृ. ५२)।

फिरोजशाह के मरन के बाद केन्द्रीय सत्ता विघटित हुई। १५वीं सदी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण और खानदेश, गुजरात और मालवा, बंगाल और जौनपुर स्वतन्त्र राज्य बन गये। (पृ. ६२)। इस तरह के घटनाक्रम की आवृत्ति कई बार आगे भी होनेवाली थी। केन्द्रीय सत्ता जहाँ जरा कमजोर हुई, वहीं दूर के और पड़ोस के भी सामन्त स्वाधीन हुए। पठान बादशाहों के समय में जागीरदारी प्रथा के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया गया, वह दिलचस्प है। उन्होंने एक बार इन्हें मौरूसी सम्पत्ति माना किन्तु "बादशाह ने एक ओर व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा दूसरी ओर राजकीय पदों और जागीरों में स्पष्ट भेद करने पर जोर दिया। जो व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, वह विरासत के कानून के अनुसार वितरित की जा सकती थी, किन्तु राजकीय पदों और जागीरों के मामले में कोई अन्तर्निहित या आनुषंगिक अधिकार नहीं थे। इस भेद को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राप्त तथ्यों के अनुसार पठानों को वेतन-रूप में जो जागीर दी जाती थी, उसमें भूमि और किसानों का प्रबन्ध करने में वे प्रायः स्वतन्त्र थे।" (पृ. ६८)। यहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का उल्लेख महत्वपूर्ण है। वेतन-रूप में जो भूमि दी जाती थी, वह सामन्तों की निजी सम्पत्ति से भिन्न थी। निजी सम्पत्ति मौरूसी थी और वह वारिसों में बाँटी जाती थी। इस सामन्ती कुटुम्बगत सम्पत्ति का चलन इतना ज्यादा था कि वेतन-रूप में दी जानेवाली जागीर भी लगभग निजी सम्पत्ति बन जाती थी। उसे मौरूसी सम्पत्ति समझने का रुझान मौजूद था और व्यवहार में वेतनभोगी सेनानायक अपनी जागीर में उसी तरह स्वतन्त्र था जिस तरह पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त भूमि पर सामन्त।

उत्तर भारत में व्यापार का जो विकास हो रहा था, वह दिल्ली को अपना महत्वपूर्ण केन्द्र बना रहा था। १४वीं सदी के पूर्वार्द्ध में मुहम्मद तुगलक ने जब दिल्ली को छोड़ने और दक्षिण में राजधानी बनाने का निश्चय किया, तब उसका प्रतिकूल असर व्यापार पर पड़ा। "देश की अतिरिक्त उपज के लिए दिल्ली शहर बहुत बड़ा बाजार था। जब यह बाजार एकबारगी खत्म कर दिया गया, तब ऐसी फसल उगाने से कोई लाभ न था जो बेची न जा सके। दूसरे शब्दों में खेती-बाड़ी में भारी कमी हुई होगी और उसी अनुपात से मालगुजारी में कमी आयी होगी।" (पृ. ४८-४९)। मुहम्मद तुगलक ने अपनी नीति से कुछ समय के लिए दिल्ली को वीरान कर दिया था। आसपास के गाँव दिल्ली के बाजार से जुड़े हुए थे। दिल्ली के उजड़ने से पड़ोसी क्षेत्रों की खेती-बाड़ी पर गहरा असर हुआ। यदि इन क्षेत्रों के गाँव स्वायत्त होते तो चाहे दिल्ली में आदमी रहें, चाहे दिल्ली उजड़ जाये, उनके कृषितन्त्र में कोई फर्क पड़नेवाला न था। किन्तु ये गाँव स्वायत्त नहीं थे, वे अतिरिक्त उपज दिल्ली के बाजार में बेचने के लिए उगाते थे। जब बाजार न रह गया, तब अतिरिक्त उपज के लिए कोई प्रेरणा भी न रही। १३३७ में दिल्ली नगर फिर राजधानी बना, सैनिकों के अलावा दिल्ली के पुराने नागरिक वापस आये। अब उन्हें खाने-पीने का सामान मिलना दूभर हो गया क्योंकि तब तक खेती चौपट हो चुकी थी। व्यापार का एक अन्य महत्वपूर्ण केन्द्र कन्नौज था।

मुहम्मद तुगलक ने सैनिकों और अधिकांश नागरिको के साथ कन्नौज से कुछ दूर गंगा किनारे पड़ाव डाला। कन्नौज के निकट पड़ाव डालने का कारण यह था कि यह नगर अवध जनपद से जुड़ा हुआ था। इसीलिए मुहम्मद तुगलक को यहाँ खाने-पीने का सामान जुटाने मे कठिनाई नही हुई और दिल्ली लौटने से पहले वहाँ वह कई वर्ष तक रहा। यद्यपि मुहम्मद तुगलक का नाम मूर्ख और सनकी आदमी के लिए प्रयुक्त होने लगा, फिर भी दिल्ली और कन्नौज में इस तरह जो सम्पर्क कायम हुआ, उसका प्रभाव हिन्दी प्रदेश की भाषायी स्थिति पर पडा। मुल्ला दाऊद से लेकर मलिक मुहम्मद जायसी तक अवधी मे जो पछाँही प्रयोग मिलते है, उनका एक कारण मुहम्मद तुगलक के जमाने मे बड़े-बडे जनसमुदायों का घनिष्ठ सम्पर्क मे आना था। ये समुदाय अनेक जनपदो के थे और इनमे प्रमुख अवध तथा कुरुजनपद और इन दोनों के बीच ब्रज तथा कनौजी के क्षेत्र थे। मुहम्मद तुगलक के समय मे तो पूरी राजधानी ही कन्नौज के पास पहुँच गयी। इससे जो सम्पर्क कायम हुआ, वह अस्थायी था, किन्तु व्यापार से जो सम्पर्क कायम हो रहा था, वह स्थायी था और इस कारण मुल्ला दाऊद और जायसी की तरह तुलसीदास के **रामचरित-मानस** में भी पछाँही प्रयोगों की भरमार है। दक्षिण मे जिस हैदराबादी हिन्दी का विकास हुआ, वह तेलुगु और मराठी का प्रभाव ग्रहण करने से पहले उत्तर भारत की अनेक जनपदीय भाषाओं के तत्व अपने भीतर समेट चुकी थी। गाँवों के स्वायत्त न रहने, जनपदीय अलगाव के टूटने का यह भी एक प्रमाण है।

लोदी बादशाहो के जमाने मे, १५२६ से कुछ पहले, फरीद खाँ नाम के सरदार को उसके पिता ने वेतन-रूप में प्राप्त जागीरो का प्रबन्ध करने के लिए कहा। यह फ़रीद खाँ आगे चलकर शेरशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बादशाह बनने से पहले ही सामन्तों और किसानो के प्रति शेरशाह ने अपना मत निश्चित कर लिया था। "उसने देखा, कुछ जमीन किसानो के पास है और कुछ सामन्तो के। उसकी धारणा थी कि समृद्धि का वास्तविक स्रोत किसान हैं, सामन्त खतरनाक झंझट की चीज़ हैं।" (पृ. ६९)। किसान पैमाइश के आधार पर लगान दें या बटाई पर खेती करें, इसका फैसला फ़रीद खाँ ने किसानों पर छोड़ दिया। कोशिश यह की कि चौधरी यानी परगने का मुखिया तथा मुकद्दम यानी गाँव का मुखिया किसानों से नाजायज वसूली न करे। इससे सकेत यह मिलता है कि शासक की ओर से जो आदमी लगान वसूल करता था, वह यथासम्भव अपनी हैसियत उस इलाके के मालिक जैसी बना लेता था। मोरलैण्ड ने फरीद खाँ की तुलना अला-उद्दीन से बिल्कुल सही की है। जैसे अलाउद्दीन ने नाजायज वसूली रोकने की कोशिश की थी, वैसे ही फरीद खाँ ने उसे रोकने की कोशिश की। जहाँ मुखिया लोगों ने विद्रोह किया, वहाँ फरीद खाँ ने उनके विद्रोह का दमन किया। बादशाह होने पर शेरशाह ने अपने सारे राज्य में पैमाइश के आधार पर मालगुजारी निश्चित करने की प्रथा चलायी। जहाँ भी सामन्तों ने इसका विरोध किया, शेरशाह ने उनका दमन किया। केवल मुल्तान के क्षेत्र को अपवाद माना गया; वहाँ उपज का चौथा भाग कर-रूप मे देने की प्रथा का पालन किया गया। शेरशाह के समय मे सेनानायकों को वेतन-रूप मे जागीरें दी जाती रहीं। शेरशाह के मरने के बाद

बिरादरियों के लोग थे। जब बिरादरियाँ इस तरह गाँवों तक में सिमटकर आने लगें, तब समझना चाहिए कि वे टूटने लगी हैं। मोरलैण्ड ने एक पादटिप्पणी मे लिखा है कि पुराने आलेखो मे बिरादरीवाले किसानो को गाँव के जमीदार, पत्ती-दार या बटाईदार कहा गया है। "कभी-कभी उन्हें मिलाकर 'ग्राम-समाज' (village community) कहा जाता है किन्तु 'ग्राम-समाज' में अक्सर आबादी के और तत्व भी सिमट आते है। अर्थ की दुविधा के अलावा 'ग्राम-समाज' के साथ इतनी तरह की अस्पष्ट व्यंजनाएँ जुड़ गयी हैं कि मैंने इस शब्द का प्रयोग न करना ही उचित समझा।" (पृ. १६१)। *ग्राम-समाजों की चर्चा करते समय मोरलैण्ड की यह* टिप्पणी भी ध्यान मे रखने योग्य है।

मैयाचारवाले गाँव सभी जनपदों में एक ही अनुपात से फैले हुए न थे। आगरा शहर के उत्तर में जमुना किनारे बहुत से बिरादरीवाले गाँव थे किन्तु और पूरब की तरफ बिरादरियोंवाले गाँव विरले ही थे। अनेक इलाको मे सामन्तों के अधिकार पुराने जमाने से चले आ रहे थे। "सामन्त और किसानों का सम्बन्ध 'लगभग वही था जो यूरुप के देशों में जमींदार (landlord) और उसके आसा-मियों के बीच होता है।' आमतौर से किसान किसी एक बिरादरी के न होते थे। वे कई जातियो (castes) और कबीलो के मिले-जुले लोग होते थे।" (पृ. १७३)। मानना होगा कि कुछ अंग्रेजों को प्रायः वैसे ही सामन्ती सम्बन्ध यहाँ दिखायी दिये थे जैसे यूरुप मे थे। यूरुप के जमीदारो से भारतीय भूस्वामियों की तुलना मोरलैण्ड ने नही की; उन्होने किसी पुराने अंग्रेज अफसर के आलेख का हवाला दिया है। सामन्त के मरने पर उसका अधिकार वारिसो मे न बाँटा जाता था। उसकी जगह नया सामन्त आ जाता था और आमतौर से वह अपने सम्बन्धियों की आवश्यकताएँ पूरी करने का ध्यान रखता था। अवध के सामन्तो के परम्परा-गत इतिहास के अनुसार जो व्यक्ति वारिस होता था वह अविभाजित अधिकार प्राप्त करता था। मोरलैण्ड कहते हैं "इस तथ्य से हमे निपटना होगा। उससे सम्पत्ति और सामन्त के अधिकार मे भेद प्रकट होता है। विकसित धर्मशास्त्र के अनुसार सम्पत्ति स्वामी के मरने पर आमतौर से *बाँटी जाती थी। इससे भिन्न* सामन्त का अधिकार बाँटा न जाता था; और मानना चाहिए कि यह प्रभुसत्ता का अवशेष है। किसी सामन्त ने दिल्ली के या अन्यत्र के मुसलमान वंश की प्रधानता स्वीकार कर ली, तो इससे उसके अपने इलाके (domain) में उसकी स्थिति मे तब तक कोई फर्क न पड़ता था, जब तक उसे उसका अधिकार अपने हाथ में रखने दिया जाता था। जब उसके अधिका" समाप्त किये जाते थे, तब ऐसा अधिक शक्ति के कारण ही होता था। किसी सामन्त के प्रदेश में अब भी जो आम धारणा प्रचलित है, उसी के अनुरूप तथ्यों की उक्त व्याख्या है। सामन्त का इलाका उसका राज्य होता है, उसके भीतर उसकी इच्छा ही बहुत कुछ कानून होती है।" (पृ. १७४)। भारत में सामन्तवाद के चलन का यह भी एक प्रमाण है।

मोरलैण्ड ने अपनी दूसरी पुस्तक **अकबर की मृत्यु के समय भारत** (इंडिया ऐट द डेथ आफ अकबर) मे खेत मजदूरो के लिए लिखा है कि वे बँधुआ मजदूरों की तरह होते थे। अपने काम के लिए उन्हे परम्परा के अनुसार उतनी चीज़ें दी

जाती थी जितनी से उनके और उनके परिवार का पालन हो सके। (पृष्ठ १७७)। जहाँ सामन्तवाद का विकास होगा, वहाँ बँधुआ मजदूरों की प्रथा भी होगी। मोरलैण्ड ने खेत मज़दूरो को बँधुआ मजदूर बिल्कुल ठीक कहा है। उन्होंने अपनी पुस्तकें यह दिखाने के लिए लिखी हैं कि अंग्रेजी राज मे किसानों की दशा अकबर या औरंगजेब के समय मे ज्यादा खराब नही थी। मुगलो के ज़माने मे किसान जो कुछ पैदा करते थे, उससे टैक्स वगैरह देने के बाद मुश्किल से पेट भरने को ही अन्न बचता था। मोरलैण्ड ने विचार प्रकट किया है कि इस समय भी (यानी बीसवीं सदी मे) भारतीय कृषि पालन-पोषण भर को उपजवाली मंजिल मे है। किसान का मुख्य उद्देश्य अपने परिवार के लिए अन्न पैदा करना होता है। (पृष्ठ १०२)। अकबर के समय मे खेती का यही हाल रहा हो, तो भी अंग्रेजी राज के लिए यह प्रशसा की बात नही थी कि इतने दिनो मे पुरानी खेती मे कोई मौलिक परिवर्तन न हुआ था। किन्तु अकबर के समय मे व्यापार का जितना विकास हुआ था, उसमे यह सम्भव ही नही था कि कृषितन्त्र केवल किसान-परिवारो के लिए आवश्यक उपज तक सीमित रहता। एक बहुत बडा परिवर्तन यह था कि अब लोग निहत्थे थे, पर अंग्रेज़ो से पहले बहुत लोगो के पास हथियार थे। यहाँ लोहे के बने सामान की खपत के प्रसंग मे मोरलैण्ड ने लिखा है कि काफ़ी लोग हथियार लेकर चलते थे। (पृष्ठ १५०)। हथियार लेकर चलने से कृषितन्त्र का सीधा सम्बन्ध नही है किन्तु उससे यह अवश्य प्रकट होता है कि अंग्रेज़ी राज मे किसान जितना असहाय था, उतना वह पहले नही था।

राज्यसत्ता किसान से सीधा सम्बन्ध रखना चाहती थी। मोरलैण्ड के अनुसार शासन का आदर्श यही था कि राज्यसत्ता और किसान के बीच सीधा सम्बन्ध कायम रहे, मालगुज़ारी तय करने और उसे वसूल करने का काम केन्द्र के नियन्त्रण मे रहे और हाकिमो को वसूली का हिसाब-किताब विस्तार से देना पड़े। (पृष्ठ ३१)। इस तरह आदर्श की बात वही उठेगी जहाँ भूमि पर किसानों का व्यक्तिगत अधिकार होगा। कानून से वह जमीन किसान की है या ज़मीदार की या बादशाह की, यह अलग सवाल है। व्यवहार में किसान अपनी ज़मीन का मालिक था और इसीलिए सीधे उससे मालगुज़ारी वसूल करने का सवाल उठता था। जहाँ सामुदायिक श्रम और सामुदायिक सम्पत्ति का चलन होगा, वहाँ किसी किसान से व्यक्तिगत रूप से मालगुजारी वसूल करना सम्भव न होगा।

(ग) व्यापार और जहाजरानी

अकबर की मृत्यु के समय भारत पुस्तक मे मोरलैण्ड ने विशेष रूप से भारतीय व्यापार पर ध्यान दिया है। जो लोग सत्रहवी सदी में इंग्लैण्ड को पूँजीवादी देश मानते है और भारत को पिछडा हुआ सामन्ती या प्राक्सामन्ती देश कहते हैं, वे मोरलैण्ड के इस निष्कर्ष पर गम्भीरता से विचार करें कि उस समय व्यापार मे भारत यूरुप की तुलना में अधिक प्रगति कर चुका था। समकालीन इतिहासकारों के विवरण मे जो भी गलतियाँ हो सकती थी, उन सबको मान लेने के बाद भी "मेरे विचार से इस बात में सन्देह नही रह जाता कि उद्योगधन्धो के मामले में

आज की अपेक्षा पश्चिमी यूरुप से भारत अपेक्षाकृत अधिक बढ़ा हुआ था।" (पृष्ठ १४५)। सत्रहवीं सदी में भारत पश्चिमी यूरुप से अपेक्षाकृत आगे बढ़ा हुआ था किन्तु बीसवीं सदी मे वह उससे बहुत पीछे था। यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि अंग्रेज़ी राज मे उद्योगधन्धों के साथ यहाँ का व्यापार नष्ट कर दिया गया। पुराने समय में भारत के नगर व्यवसाय करने के लिए उपयुक्त स्थान थे या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए मोरलैण्ड ने विदेशी यात्रियों के बारे मे लिखा है कि वे भारत की परिस्थितियों की तुलना अपने देश की परिस्थितियो से करते थे। १६०० के आसपास पश्चिमी यूरुप की हालत आज की-सी नही थी। आज की तुलना मे पुराने शहर सुरक्षित नही थे, घूस देने और किसी बड़े आदमी का प्रभाव डालने से काम बनता था। "कुल मिलाकर लगता है, शहर रहने और व्यवसाय करने के लिए काफी आरामदेह स्थान थे और विदेशी व्यापारी वहाँ की व्यवस्था से बहुत कुछ सन्तुष्ट थे।" (पृष्ठ ३५)। जहाँ तक डाकुओं का सम्बन्ध है, "राजमार्गों पर डकैती की आशंका यूरुप मे थी और भारत मे भी। जिन परिस्थितियो को आज हम असह्य कहेंगे, उन्हे जहाँगीर के समय मे कोई यात्री सन्तोषजनक कह सकता था।" (पृष्ठ ३६)।

उद्योग और व्यापार मे सर्वोपरि स्थान सूती कपड़ों का था। मोरलैण्ड ने लिखा है कि सूती कपड़ों की बुनाई भारत का सबसे बड़ा उद्योग थी और यह कहना उचित होगा कि सूती कपड़ों की कुल पैदावार १६०० के औद्योगिक संसार का एक महान् तथ्य थी। इस उद्योग की विशालता ने पुर्तगालियों को बहुत प्रभावित किया था। एक यात्री का कहना था कि आशा अन्तरीप (केप आफ गुड होप) से लेकर चीन तक हर मर्द और औरत सिर से पैर तक भारतीय करघों में तैयार किये गये कपड़ों से ढँका होता था। (पृष्ठ १६७)। इस वर्णन में अतिशयोक्ति है किन्तु उससे इस बात का पता अवश्य लगता है कि कपड़े का व्यापार भारतीय बाजार तक सीमित नही था, उसका प्रसार एशिया और अफ्रीका के बाजारों तक था। अफ्रीका के लिए मोरलैण्ड ने लिखा है कि वहाँ बहुत कम लोग कपड़े पहनते थे, पर जो पहनते थे, उन्हे अधिकांश वस्त्र भारत से ही प्राप्त होते थे। वहाँ पुर्तगाली छावनियों में जो सैनिक रहते थे, वे तथा कबीलों के सरदार, मुसलमान व्यापारी, जनसाधारण में कुछ सभ्य लोग भारतीय वस्त्रों का व्यवहार करते थे। अरब लोगो मे ऐसे माल की खपत ज्यादा थी। यह माल मिस्र पहुँचता था और वहाँ से भूमध्य सागर होता हुआ अन्य देशो मे वितरित होता था। सोलहवीं सदी मे काफी माल बर्मा पहुँचता था। मलय देश के दक्षिण में मलाका द्वीप समूह व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। भारत से चलनेवाले जहाज़ काफी कपड़े लेकर वहाँ पहुँचते थे। वहाँ कपड़े देकर वे बदले में गर्म मसाला लेते थे या चीन से माल खरीदते थे। स्पेन के जहाज़ कभी-कभी भारतीय वस्त्र फिलीपीन्स ले जाते थे और शायद मेक्सिको भी पहुँचते थे। सारांश यह कि "घरेलू बाजार मे कपड़े की जितनी खपत थी, प्राय: उस सब पर इजारा भारतीय करघों का था। इसके अलावा निर्यात के लिए तीन मुख्य बाजार थे, अरब और उसके आगे का क्षेत्र, बर्मा और पूर्वी द्वीप। इनके साथ एशिया के और कई भागों में तथा पूर्वी

अफ्रीका के तटवर्ती क्षेत्र में इस माल के लिए छोटे-मोटे बाज़ार थे।" (पृष्ठ १६६)।

अंग्रेजों ने, उनके साथ यूरुप के अन्य व्यापारियों ने, जो विश्वबाज़ार कायम किया, उससे पहले एशिया और अफ्रीका में एक बहुत बड़ा बाजार कायम था और यूरुप इस बाज़ार से जुड़ा हुआ था। अमरीकी महाद्वीपों का पता लगने के बाद यह बाज़ार बहुत विस्तृत हो गया किन्तु इन महाद्वीपों का पता लगने से पहले विश्वबाज़ार का अभाव नहीं था। इस विशाल बाज़ार के लिए भारतीय माल तैयार करनेवाले केन्द्र सारे देश में फैले हुए थे। बड़े पैमाने पर उद्योग चलेगा तो कुछ केन्द्र ऐसे होंगे जो कुछ खास तरह का ही माल तैयार करेंगे। इस कारण भारत में कुछ स्थान विशेष प्रकार के वस्त्रों के लिए विख्यात हो गये। मोरलैण्ड मानते हैं कि माल ढोने की सुविधा होने से कुछ खास इलाकों में उद्योगधन्धों का काफी केन्द्रीकरण हुआ। ये स्थान या तो समुद्रतट पर थे या भीतरी जलमार्गों के पास थे। कपड़े का उद्योग सारे देश में फैला हुआ था, इसमें सन्देह नहीं। जब कोई यूरोपियन यात्री देश के भीतरी भाग में पहुँचता था, वह अपने रास्ते में कपड़े तैयार होते देखता था। मोरलैण्ड के अनुसार यह मानने का पर्याप्त कारण है कि किसी क्षेत्र में जो कपड़ा पहना जाता था, वह अधिकतर वहीं के शहरों और बड़े गाँवों में तैयार किया जाता था। यात्री और सौदागर देखते थे कि लाहौर, मुल्तान, बुरहानपुर, गोलकुण्डा आदि नगरों में ऊँचे दर्जे का माल मिलता है और "यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि नफ़ीस कपड़ों के लिए आम बाजार जैसी चीज़ मौजूद थी यद्यपि माल ढोने के भारी खर्च का दबाव इस पर पड़ता होगा।" (पृष्ठ १७०)।

व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र खम्भात की खाड़ी थी। देश के दूर-दूर भागों से यहाँ माल इकट्ठा किया जाता था और वह पूर्व और पश्चिम, दोनों ओर भेजा जाता था। खम्भात का कपड़ा अफ्रीकी समुद्र तट पर, अदन में, ईरान की खाड़ी में दिखायी देता था। लंका, बर्मा, मलाका और साथ के द्वीपों में तथा चीन के समुद्र-तट तक उसकी खपत का विवरण मिलता है। अंग्रेज़ सौदागर कुछ खास तरह का माल आगरे में खरीदते थे और उसे सात सौ मील दूर सूरत में बेचते थे। सूती कपड़ों के उद्योग के साथ रँगाई का धन्धा जुड़ा हुआ था। बर्मा में रंगीन कपड़ों की विशेष माँग थी। भारत में कपड़ा-उद्योग का सगठन किस प्रकार किया गया था? मोरलैण्ड का अनुमान है कि उद्योगधन्धों का जैसा गठन यूरुप में था, वैसा ही भारत में था। उनका तर्क है कि "यूरुप से आनेवाले लोग यहाँ कोई नयी बात देखते तो उसका उल्लेख अवश्य करते। ऐसी किसी नयी बात का उल्लेख नहीं है, इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय पद्धति बुनियादी तौर से वैसी ही थी जैसी उस समय यूरुप में प्रचलित थी। दूसरे शब्दों में कारोबार के प्रबन्ध का काम उद्योग के काम से अलग न किया गया था, और कारीगर ऊँचे दर्जे के पूँजीवादी संचालन के बिना उत्पादन का कार्य कर रहे थे।" (पृष्ठ १७२)। मोरलैण्ड की यह टिप्पणी इस बात की ओर ध्यान दिलाती है कि सत्रहवीं सदी के यूरुप में अभी पूँजीवादी उत्पादन का व्यापक चलन न हुआ था।

बाहर से जो लोग व्यापार के लिए भारत आते थे, उनमें यहूदी और आर्मीनियन भी थे। इनके अलावा अरब और ईरानी काफी समय से व्यापार में आगे बढ़कर हिस्सा ले रहे थे। मोरलैण्ड अरबों, ईरानियों और भारतीय मुसलमानों का भेद जानते थे। उन्होंने लिखा है कि १५०० से पहले की शताब्दियों में अरबों और ईरानियों ने मोज़ाम्बीक से लेकर मलाका तक समूचे हिन्द महासागर के व्यापार पर अपनी प्रधानता कायम कर ली थी। भारत के पूर्वी, पश्चिमी समुद्र-तटों पर उन्होंने अपनी बस्तियाँ बसा ली थी। "इन बस्तियों मे जो मुसलमान रहते थे, वे सब विदेशी हो, या मुख्यतः विदेशी हों, ऐसी बात नहीं थी।" (पृष्ठ २२)। मुसलमानो में बहुत से भारतीय थे जिन्होंने धर्म-परिवर्तन किया था। सोलहवीं सदी मे पुर्तगालियों ने हिन्द महासागर पर इन मुसलमानों की प्रधानता खत्म कर दी किन्तु वे उन्हें व्यापार से नही निकाल पाये। भारत के प्रायः हर बन्दरगाह मे मुसलमान मौजूद थे। जहाँ पुर्तगालियों ने अपना प्रभुत्व कायम कर लिया था, वहाँ भी मुसलमान थे। ये व्यापारी अपने जहाजों का सामान वितरित करने के लिए बन्दरगाहों से देश के भीतर पैठते थे। विजयनगर के समृद्धिकाल मे वहाँ मुसलमानो की काफ़ी आबादी थी।

सोलहवीं सदी में पूर्वी देशों का माल लाल सागर या ईरान की खाड़ी होकर यूरुप पहुँचता था। इटली के सौदागर पूर्वी भूमध्यसागर का सारा व्यापार अपने हाथ में किये थे। पूर्वी माल पर उन्हें तुर्की और मिस्र के अधिकारियों को भारी चुंगी देनी होती थी। पुर्तगाली चाहते थे कि दक्षिणी अफ्रीका का चक्कर लगाकर अपने जहाज़ों के द्वारा यह सामान यूरुप ले जायें। इस तरह वे धन तो कमायेंगे ही, मुस्लिम राज्यों की समृद्धि भी खत्म कर देंगे। इन राज्यों को वे ईसाई धर्म का शत्रु मानते थे। उनका उद्देश्य था कि भारतीय समुद्रों पर प्रभुत्व कायम करें और इस प्रकार व्यापार की प्रगति पर नियन्त्रण रखें। इस उद्देश्य से उन्होंने समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों मे अपनी बस्तियाँ बसायीं और किले बनाये। ऐसी बस्तियाँ पूर्वी अफ्रीका के समुद्रतट, ईरान की खाड़ी, भारत के पश्चिमी समुद्रतट और मलाका के जलडमरू मध्य तक थी। उनका मुख्य नगर गोवा था। व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र खम्भात की खाड़ी थी किन्तु वहाँ पुर्तगालियों की बस्तियाँ नहीं थी। दमन और दीव के अड्डों से वे खम्भात की गतिविधि पर नियन्त्रण रखते थे। पूर्वी समुद्रतट पर उनकी स्थिति मजबूत न थी। बंगाल की खाड़ी में अधिकतर डकैती और लूटमार के जरिये वे अपना काम चलाते थे। भारत के भीतरी भागों मे वे बहुत कम पाये जाते थे। (पृष्ठ २३-२४)। ईरान, अरब, आर्मीनिया, चीन और जापान मे भी सौदागर आते थे। निष्कर्ष यह कि भारत संसार से अलग-थलग पड़ा हुआ देश नहीं था। यात्रा के कष्ट सहकर जो भी वहाँ आना चाहे, वह आ सकता था।

मोरलैण्ड के विवरण से भारतीय व्यापार की मुख्य कमजोरी का पता चलता है। देश के भीतर का व्यापार भारतवासियों के हाथ मे था; विदेश से जो लोग माल खरीदने आते थे, उन्हें माल देकर ये व्यापारी खूब धन कमा रहे थे। जब तक व्यापार स्थल-मार्गों मे होता था या जल-मार्गों पर अरबों, ईरानियों

और भारतवासियों का प्रभुत्व था, तब तक इन व्यापारियों की स्थिति मज़बूत थी। किन्तु सोलहवीं सदी में जल-मार्गों पर एशियाइयों की जगह यूरोपियन शक्तियाँ हावी होने लगीं। भारतीय व्यापारी घर बैठे मुनाफ़ा कमा रहे थे, समुद्री मार्ग उन्होंने दूसरों के लिए छोड़ रखे थे। इन मार्गों पर जब यूरुप के लोगों ने कब्जा करना शुरू किया, तब भारतीय व्यापार को तुरत धक्का न लगा। यूरुप की ये शक्तियाँ समुद्री मार्गों पर अधिकार करने के लिए आपस में लड़ती रहीं, तब भी भारतीय व्यापार को क्षति न पहुँची। किन्तु जैसे ही इनमें से एक ने, यानी इंग्लैण्ड ने, जल-मार्गों पर अपना इजारा कायम किया, वैसे ही भारतीय व्यापार की नाकेबन्दी शुरू हो गयी। जिसके हाथ में जल-मार्ग होंगे, उसके हाथ में भारत और यूरुप का व्यापार भी होगा। जल-मार्गों पर इजारा कायम करके अंग्रेज़ों के हाथ में ऐसी शक्ति आ गयी जिसके द्वारा वे भारतीय व्यापारियों को नष्ट कर सकते थे। अंग्रेज़ व्यापारियों की प्रतिद्वन्दिता एक ओर पुर्तगाल, स्पेन, हालैण्ड आदि के व्यापारियों से थी, दूसरी ओर उनकी प्रतिद्वन्दिता भारतीय व्यापारियों से भी थी। अभी ब्रिटिश उद्योगधन्धों के द्वारा तैयार किये गये माल को भारत में बेचने का प्रश्न न था। प्रश्न यह था कि भारतीय माल को यूरुप तक पहुँचाने का इजारा किसके पास रहता है। व्यापार की लड़ाई में, समुद्री मार्गों पर अधिकार होने के कारण, विजय पाकर अंग्रेज इस स्थिति में हुए कि भारत का माल यूरुप में बेचें और इसके बाद इंग्लैण्ड का बना हुआ माल भारत में और सारी दुनिया में बेचें। भारत के व्यापारी वर्ग ने समुद्री मार्ग विदेशियों के लिए छोड़कर जो गलती की थी, उसके दूरगामी परिणाम हुए। यह वर्ग पहले देश की सीमाओं के भीतर बन्द कर दिया गया, फिर उसकी समृद्धि का आधार नष्ट कर दिया गया। जो उद्योग धन्धे व्यापारियों के लिए माल जुटाते थे, वे नष्ट कर दिये गये। इंग्लैण्ड के व्यापारी भारत के पतनशील सामन्तों से मिलकर यहाँ अपना राज्य-विस्तार कर सके। राज्यशक्ति के द्वारा उन्होंने भारत के विकास को तो रोका ही, उन्होंने दुनिया के दूसरे देशों पर भी अपना प्रभुत्व जमाया और उनकी प्रगति में बाधा डाली। अठारहवीं सदी में अंग्रेज़ों से भारतवासियों की जो लड़ाइयाँ हुईं, उनके वस्तुगत परिणामों का विवेचन इसी परिप्रेक्ष्य में करना चाहिए। लड़ाइयाँ करनेवालों का लक्ष्य कुछ भी हो, उनका नतीजा यह था कि अंग्रेज़ों को राज्यविस्तार करने में कठिनाई हुई। औद्योगिक क्रान्ति से पहले विश्वबाजार में व्यापार को लेकर किसका नियन्त्रण कायम होता है, इस बात का फैसला सारी दुनिया के भावी विकास के लिए निर्णायक था। इस दृष्टि से भारतीय व्यापार की कमज़ोरी का असर सारी दुनिया के इतिहास पर पड़ा। जब तक केन्द्रबद्ध राज्य-सत्ता थी, तब तक यूरुप के व्यापारी जल-मार्गों पर हावी होते हुए भी भारत पर अधिकार न कर सके। किन्तु जैसे ही केन्द्रीय सत्ता विघटित हुई, वैसे ही जल-मार्गों पर अपने इजारे से उन्होंने पूरा लाभ उठाया और एक के बाद दूसरा प्रदेश जीतते चले गये। १८५७-५८ की लड़ाई में भी जल-मार्गों का महत्व साफ दिखायी दिया। प्रमुख समुद्री शक्ति होने के कारण अंग्रेज़ों को इस बात में सफलता मिली कि वे भारत में अपने विरोधियों की नाकेबन्दी कर लें। भारत-

वासी अपने देश में अंग्रेजों की नाकेबन्दी करें, इसके बदले हुआ यह कि सात समुन्दर पार के अग्रेजो ने इस देश के भीतर यही के निवासियों की नाकेबन्दी कर ली। व्यापारी वर्ग की यह परम्परागत कमजोरी वर्तमान काल में भी ध्यान देने योग्य है। जब तक हिन्द महासागर पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व कायम रहेगा, तब तक केवल भारत के लिए नही, एशिया-अफ्रीका के देशों के लिए भी संकट बना रहेगा।

भारत मे जहाज बनाने का धन्धा काफी बड़े पैमाने पर होता था। जिस समय पुर्तगाली व्यापारी जलमार्गों पर हावी हो रहे थे, उस समय भी "भारतीय समुद्रों मे अधिकांश व्यापार भारत मे बने हुए जहाज़ों के द्वारा होता था। इनमें अधिकतर जहाज़, और निश्चित रूप से जो बड़े जहाज थे वे सब, पश्चिमी समुद्रतट पर बनाये जाते थे। इन्हें बनाने का कोई एक ही केन्द्र नही था। कई बन्दरगाहों पर ऐसा काम होता था, शर्त यह थी कि जंगल वहाँ से पास हों। यह भी लगभग निश्चित है कि बगाल से लेकर दूर सिन्ध तक समुद्रतटवाले व्यापार के लिए जितनी नावों की जरूरत होती थी, उतनी भारत मे ही बनायी जाती थी। इस प्रकार उस समय के मानदण्डों स परखा जाय तो विदित होगा कि जहाज़रानी का कुल परिमाण बहुत बड़ा था।" (पृष्ठ १५६)। इस सिलसिले मे मोरलैण्ड ने मुसाफिरो को ले जानेवाले बड़े जहाजों का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है कि इनके निर्माण में भारत सबसे आगे था, ऐसा प्रतीत होता है (The great passengers ships in the construction of which India appears to have taken the lead) (उप.)। जहाज बनानेवाले कौशल की कमी नही थी। जिन जहाज़ों पर भारतीय माल बाहर भेजा जाता था, उनके बनानेवाले भारत मे थे। जहाज़ों से माल भेजनेवाले व्यापारियो के पास पूंजी की कमी नही थी। जो लोग जहाज बनवाते थे, उनके पास भी पूंजी की कमी नही थी। अक्सर ऐसा होता था कि जो व्यक्ति व्यापार के लिए माल जुटाता था, वही जहाज भी बनवाता था। इस प्रकार औद्योगिक विकास के लिए पूंजी की कमी नही थी किन्तु यह विकास तब सम्भव था जब विश्वबाज़ार की निरन्तर बढ़ती हुई माँगों के साथ उस बाज़ार के केन्द्रो तक पहुँचने के जलमार्ग भारत को सुलभ हो।

१४६८ में वास्को-द-गामा ने जब आशा अन्तरीप का चक्कर लगाया, तब उसने देखा कि मदागास्कार से लेकर मलाका तक भारतीय समुद्रों पर मुसलमान सौदागरों का अधिकार है। अधिकांश जहाज़ों के मालिक और प्रबन्धक वही थे, और स्थल व्यापार मे भी उनका महत्वपूर्ण हिस्सा था। अन्य व्यापारी अपने माल के लिए भाड़ा देकर जहाजो में जगह पा सकते थे, और अपने माल के साथ यात्रा भी कर सकते थे। मोरलैण्ड कहते है कि बगाल, कारोमण्डल या गुजरात के सौदागर कितने जहाज़ों के मालिक थे, इसका पता नही किन्तु मुसलमानों की प्रधानता थी, यह बात निश्चित है। पन्द्रहवी सदी में इन मुसलमान सौदागरों की स्थिति मजबूत थी। इनका व्यवसाय पश्चिमी समुद्रतट पर था। (पृष्ठ १८६-८७)। सोलहवीं सदी में पुर्तगाली कमज़ोर पड़े और उनका स्थान हालैण्ड और इंग्लैण्ड के व्यापारियो ने लिया। मोरलैण्ड कहते हैं, "यह बात ध्यान देने की है कि समुद्रों पर

प्रभुत्व पाने की लड़ाई में किसी भी बड़े भारतीय राज्य ने हिस्सा नही लिया। वे बुनियादी तौर से स्थल-शक्ति थे। विदेशी व्यापार से जो लाभ होता था और बन्दरगाहो से जो मालगुजारी मिलती थी, वह सब उन्हें अच्छा लगता था लेकिन मार्गों में व्यापार की सुरक्षा के लिए उन्होंने कुछ न किया। अकबर गुजरात से लाल सागर तक जहाज भेजता था किन्तु ये जहाज़ पुर्तगालियो से लाइसेंस पाकर यात्रा करते थे। विजयनगर का समुद्री व्यापार १५४७ की सन्धि से प्रायः पुर्तगालियो के ही हाथो मे पहुँच गया। दक्षिण का बीजापुर राज्य पुर्तगालियों से स्थल पर झगडा करके सन्तुष्ट था, समुद्र से उन्हे निकालने की आशा वह कर भी न सकता था। कालीकट का ज़मोरिन 'डाकुओं' को संरक्षण देने के लिए यथा-सम्भव प्रयत्न करता था, इनमे कुछ उसे खिराज भी देते थे किन्तु खुले युद्ध मे वह भी पुर्तगालियो का सामना न कर सका। उसकी गुप्त कार्रवाइयो के अलावा देशी सौदागर किसी और सुरक्षा का भरोसा न कर सकते थे, वे अपने ही साधनों पर निर्भर थे।" (पृष्ठ १६०)। यहाँ भारतीय राज्यो की कमज़ोरी स्पष्ट हो गयी है। सामन्ती शासक व्यापार से लाभ उठाते थे किन्तु विदेशी डाकुओं के मुकाबले देशी व्यापारियो को आवश्यक संरक्षण न दे सकते थे। देशी व्यापारी वर्ग अपने मुनाफे से सन्तुष्ट था। सामन्ती शासको को हटाकर अपनी सत्ता कायम करे, फिर विदेशियों का मुकाबला करे, उसमे न तो ऐसी दूरदर्शिता थी, न इसके लिए आवश्यक शक्ति थी।

पश्चिमी समुद्रतट पर सूरत, भडौच और खम्भात सबसे बड़े बन्दरगाह थे। ये सब मुगल साम्राज्य मे थे। यहाँ से पुर्तगाली बडे पैमाने पर व्यापार करते थे। दमन और दीव के किलों से खम्भात की खाडी मे पहुँचनेवाले जहाज़ों पर पुर्तगाली निगाह रखते थे। मुगल अधिकारियों से पूछे बिना वे लोगों को लाइसेंस देने लगे और उनके लाइसेंस लेने पर ही उन्हें व्यापार करने देते थे। फिर भी पुर्तगालियो के लाइसेंस के बिना, और कभी-कभी उन्हे ठेंगा दिखाते हुए, इस समुद्र-तट से भारतीय जहाज़ अफ्रीका, मलाका और अरब देश तक जाते थे। जो लोग हज करते थे, वे सूरत के बन्दरगाह से जाते थे। मोरलैण्ड के अनुसार यह सम्भव है कि बहुत से यात्री अपने साथ व्यापार के लिए माल भी ले जाते रहे हो। मुसा-फिरों की यात्रा और व्यापार का आपसी सम्बन्ध घनिष्ठ था। मलाका मे मुसल-मान सौदागरों की भरमार थी। यह स्थान पुर्तगालियों के आने से पहले चीनी और भारतीय समुद्रो के सारे व्यापार का केन्द्र था। मोरलैण्ड ने बारबोसा का यह कथन उद्धृत किया है कि यह सबसे धनी व्यापारिक बन्दरगाह है, यहाँ सबसे बड़े सौदागर मिलते है और सारी दुनिया में सबसे बड़ी जहाज़रानी और आवाजाही का केन्द्र यही है। मोरलैण्ड के अनुसार यहाँ दक्षिण भारत के चेट्टि लोग भी बसे हुए थे। वहाँ के लोग खाने-पीने की चीज़ें भी बाहर से मँगाते थे। इस स्थान का महत्व इसलिए था कि वह चीन, स्याम और पडोसी द्वीप समूह से भारत, अरब और यूरुप के माल के विनिमय का केन्द्र था। (पृष्ठ २००)। जहाँ इतने बड़े पैमाने पर विनिमय होता हो, वहाँ लोग उत्पादन की एशियाई पद्धति की बात करें, यह तथ्य आश्चर्यजनक है।

(घ) व्यापार और उद्योग-धन्धों का संगठन

उद्योग और व्यापार के संगठन के बारे में यहाँ जो स्थिति थी, उसमें कोई प
किये बिना यूरुप के व्यापारी उसका उपयोग करने लगे। विनिमय और उ
लिए यहाँ व्यापक संगठन मौजूद था। मोरलैण्ड के अनुसार एक बड़े क्षेत्र
व्यापारिक समुदायों के फैले रहने से व्यवसाय के सगठन में सुविधा हुई
सुविधा विशेष रूप से विनिमय के मामले में देखी जाती थी। सूरत में जो
सौदागर पहले-पहल आये, वे हुण्डियों के द्वारा निकट और दूर के स्थानों त
भेजने लगे। सूरत से भड़ौंच तक ही नही, आगरे तक भी वे इस तरह पैस
सकते थे। बैंकिंग की यह पुरानी व्यवस्था भारत तक सीमित नहीं थी। ज
सौदागरों का गुट ईरान भेजा जाता था, तो उसे हिदायत होती थी कि वह
से हुण्डी प्राप्त कर ले जो लाहौर या इस्फहान में भुनायी जा सके। उधार क
व्यवस्था का चलन राजनीतिक सीमाओं से बिलकुल स्वतन्त्र था और यह
क्षेत्र में था। इससे यह निष्कर्ष निकला कि व्यापार-सम्बन्धी नैतिकता ऊँ
की थी। कुछ समकालीन प्रेक्षकों का मत इस बात के समर्थन में उद्धृत किय
सकता है। मोरलैण्ड कहते हैं, इसके विपरीत मत के समर्थन में भी उद्धरण
जा सकते है। उनसे लगेगा कि भारतीय व्यापारी ईमान धर्म का बिलकुल वि
न करते थे किन्तु इस सारी प्रमाण सामग्री को पेश करना बेकार होगा, क
उसकी सही व्याख्या स्पष्ट ही है। भारतीय व्यापारियों ने दूसरी जाति
उतने ही अनुभव वाले सौदागरो के समान एक अपनी परम्परागत नैतिक
विकास कर लिया था। वे कुछ सीमाएँ स्वीकार करते थे, उनकी कार्यवाही
सीमाओं के भीतर ही होती थी। इन सीमाओं के भीतर विदेशी तथा उनके
समाज के लोग उनका भरोसा कर सकते थे। विदेशी व्यापारियो की अ
परम्पराएँ थी, और वे भारतीय परम्पराओं से भिन्न थी। विदेशी व्यापारी
तरह लाभ उठाना वाजिब मानते थे, उस तरह जब भारतीय व्यापारी को
उठाते न देखते थे, तब उन्हे सुखद आश्चर्य होता था। किन्तु कभी-कभी वे भार
व्यापारियों को ऐसे काम करते देखते थे जैसे वे खुद न करते। (पृष्ठ २३२-३

यूरुप के व्यापारियों मे ही नही, तुर्क आक्रमणकारियो से जब यहाँ के साम
की टक्कर हुई, तब यह नैतिकता का भेद सामने आ गया। सामन्त आप
लड़ते थे और कुछ नियमों का पालन करते थे। इसी तरह यहाँ के व्यापारी
खरीदकर बेचते और मुनाफा कमाते थे और कुछ नियमों का पालन करते
तुर्क आक्रमणकारियों की तरह यूरुप के व्यापारियों की नैतिकता भी भिन्न
की थी। व्यापार की लड़ाई मे प्रतिद्वन्दी को पछाड़ने के लिए वे हर तरह के द
पेंच काम मे लाते थे। पुराने व्यापारियों से आधुनिक भारतीय व्यापारियों
तुलना करते हुए मोरलैण्ड ने लिखा है, "सोलहवी सदी मे, जैसे कि आज भी
(अर्थात् भारतीय व्यापारियों को) सबसे ऊँचे दर्जे के सौदागरों में गिनना चाहि
यूरुप से आनेवाले लोग उन्हें यहूदियो से ऊँचा दर्जा देते थे। जो भी उस समय
बाजारों में यहूदियों की स्थिति जानता-पहचानता है, वह इस प्रमाण सामग्री

निर्णायक मानेगा। [फ्रांसीसी यात्री] तवर्नियर का अनुभव व्यापक था, इसलिए पारखी के रूप में उसकी योग्यता असाधारण थी। उसने लिखा था—'तुर्क साम्राज्य के भीतर रुपये-पैसे के मामलों में जो यहूदी लोग हुए हैं, वे आमतौर से असाधारण योग्यतावाले माने जाते है, लेकिन वे भारत के सराफों की शागिर्दी करने लायक भी नही है।' (पृष्ठ २३३)।

सैकड़ों साल तक एशिया और यूरुप में यहूदी महाजन वित्तीय मामलों में अपनी दक्षता दिखाते रहे थे। पश्चिमी देशों में वे ईसाइयो के कोपभाजन बने, इसका एक कारण व्यापारियो के प्रति अभिजात वर्ग की घृणा थी। धार्मिक विद्वेष उभारकर यूरुप के भूस्वामी यहूदियों की सम्पत्ति आसानी से लूट सकते थे। भारत मे व्यापार और वित्तीय व्यवस्था की प्रगति मे ऐसी कोई साम्प्रदायिक बाधा न थी। व्यापार की दुनिया मे हिन्दू और मुसलमान मिलकर काम करते थे, वर्ना यहाँ पर हुण्डियोंवाली व्यवस्था का चलन ही न होता। जब अमरीका में पूँजीवाद का प्रसार हुआ, तब यहूदी वहाँ भी पहुँचे और वे अमरीकी समाज का प्रभावशाली अंग बने। इसलिए तवर्नियर ने जब यहूदियों को भारतीय सराफों के शागिर्द होने योग्य भी न माना था, तब इसका अर्थ यह है कि उस समय भारतीय वित्त-व्यवस्था संसार की सर्वश्रेष्ठ व्यवस्था थी।

भारत के लोग पूँजी के संचरण के बदले सोना-चाँदी गाड़कर रखते थे, यह प्रवाद दूर-दूर तक फैला हुआ था। यह स्पष्ट नही है कि बड़े पैमाने पर सूती माल तैयार करने और जहाज़ बनाने के लिए आखिर पूँजी कहाँ से आती थी। यूरुप के सौदागरों के पास ऐसा कोई तैयार माल नही था जिसकी खपत भारत मे होती। इसलिए वे अपना सोना-चाँदी ढोकर यहाँ लाते थे और भारतीय माल के बदले उसे यहाँ दे जाते थे। वे स्वयं दूसरी जगह से सोना-चाँदी बटोरने के फिराक मे रहते थे। एक जगह से लाये, दूसरी जगह दे आये। अमरीका से सोना आया, यूरुप और इंग्लैण्ड पहुँचा, फिर भारत आ गया; भारत से बाहर जाता न दिखायी देता था। इसलिए यूरोपियन व्यापारियों का यह सोचना स्वाभाविक था कि भारत में सोना-चाँदी गाड़ दिया जाता है। मोरलैण्ड मानते है कि सत्रहवीं सदी के अभिजात वर्ग मे धन को गाड़कर रखने के बदले उसे खर्च करने का ही चलन ज्यादा था। बादशाह और राजा, मुसाहिब और हाकिम दूसरों को दिखाना चाहते थे कि वे रईस हैं और शान-शौकत से रहते हैं। कम-से-कम सामन्त वर्ग बेहिसाब खर्च के लिए बदनाम था। इसके अलावा मोरलैण्ड ने यह सम्भावना स्वीकार की है कि सौदागरों के पास धरोहर के रूप मे धन जमा किया जा सकता था, यानी जैसे बैंकों मे सूद पर पैसा जमा किया जाता है, वैसे ही सौदागरों के पास पैसा जमा किया जाता था। मोरलैण्ड ने इस बात का उल्लेख भी किया है कि अकबर के परिवार के कुछ लोग व्यापार करते थे और इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उनका अनुसरण दूसरों ने भी किया होगा। यूरुप और एशिया के व्यापार-सम्बन्धों का निष्कर्ष सर टामस रो के इस वाक्य से व्यंजित है—'एशिया को धनी बनाने के लिए यूरुप का रक्त बहाया जा रहा है।' (पृष्ठ २६४)। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध मे स्थिति बिलकुल बदल गयी थी और दादाभाई नौरोजी के प्रचार-

अभियान का मुख्य सूत्र यह था कि इंग्लैण्ड को धनी बनाने के लिए भारत का रक्त बहाया जा रहा है। पुर्तगाली अपने यहाँ से चाँदी लाते थे और जो माल पूर्व या पश्चिम को भेजते थे, चाँदी देकर उसे खरीदते थे। लाल सागर से जो व्यापार होता था, उससे भारी धनराशि मिलती थी। भारत से जो माल निर्यात किया जाता था, वह मोचा मे नगद धन लेकर बेचा जाता था। ईरानी व्यापार से भी काफी चाँदी आती थी। पूर्वी अफ्रीका में जो सोना मिलता था, वह पुर्तगाली बस्तियों का प्रधान लक्ष्य था अर्थात् पुर्तगालियों के माध्यम से अफ्रीकी सोना भारत पहुँचता था। "पूर्व और पश्चिम दोनों ओर से खजाना लाया जाता, पीगू, श्याम, द्वीप समूह और जापान, लगभग सभी देशों से खजाना लाया जाता था। चीन ही अपवाद था जहाँ खजाने के निर्यात पर पाबन्दी थी। लगता है कि ऐसी ही पाबन्दी भारत मे भी थी।" (उप.)।

अनेक उद्योग ऐसे थे जिनमे सैकडों श्रमिक एक साथ काम करते थे। दक्षिण भारत मे दो क्षेत्र ऐसे थे जहाँ हीरे प्राप्त होते थे। एक क्षेत्र ऐसा था जहाँ रेतीली धरती मे हीरे मिलते थे। यहाँ उन्हे ढूँढने के लिए ही श्रम का संगठन जरूरी था। दूसरी तरह के क्षेत्र मे मिट्टी को साफ करना जरूरी था और इसके लिए काफी तादाद में मजदूरों को जुटाना होता था। तवर्नियर के विवरण के अनुसार किसी सौदागर ने एक भूमिखण्ड पर अपना हक दिखाया। वहाँ वह दो-तीन सौ मजदूरों को लगाता था। ऊपर की मिट्टी मर्द खोदते थे, स्त्रियाँ और बच्चे यह मिट्टी एक हाते के भीतर डाल देते थे, फिर मटकों में पानी भरकर उसे भिगोते थे। हाते की नालियों से कीचड़ बाहर निकल जाता था; जो रेत बचती थी, उसे सुखाकर पछोरते थे। फिर सारी सामग्री जमीन पर डालकर उसे लकड़ियों से पीटते थे और इसके बाद हीरे चुनते थे। मजदूरों को जो पगार दी जाती थी, वह तवर्नियर के अनुसार बहुत कम थी। मजदूर चोरी न करें, इसके लिए निगरानी रखनेवाले आदमी होते थे। यद्यपि पगार कम थी, फिर भी कुल मिलाकर बड़ी धनराशि बाँटी जाती थी। (पृष्ठ १४२)। हीरे-जवाहरात बड़े आदमियों के काम आते थे किन्तु नमक साधारण आदमियों के लिए भी जरूरी था। इसे पाने के लिए भी श्रम को सगठित करना जरूरी था। सांभर झील, पंजाब की खानो और समुद्र के पानी से नमक प्राप्त किया जाता था। घरेलू व्यापार का परिमाण काफी बडा प्रतीत होता है।" (पृष्ठ १४३)। यानी थोडे से स्थानो से प्राप्त नमक का वितरण सारे देश मे होता था। मानी बात है कि स्वायत्त ग्राम समाजों के सीमित उत्पादक के आधार पर सारे देश के लिए नमक प्राप्त करके वितरित न किया जा सकता था। खानों से ताँबा, लोहा आदि प्राप्त करने के लिए श्रम का संगठन जरूरी था। मोरलैण्ड के अनुसार ताँबा कम प्राप्त होता था और महँगा था। लोहे के लिए उनका कहना है कि ताँबे की अपेक्षा इसका उत्पादन अधिक विस्तृत था। लोहा बाहर से मँगाया जाता था, इसका प्रमाण नहीं है। लोहे की खानें बहुत जगह थीं और उनमे लोहा निकाला जाता था, इसके प्रमाण मोरलैण्ड के अनुसार मैदानी इलाकों को छोड़कर देश के हर भाग मे मिलते हैं। अबुलफजल के अनुसार बंगाल, इलाहाबाद, आगरा, बरार, गुजरात, दिल्ली और कश्मीर मे लोहे का उत्पादन होता था। इसके अलावा दक्षिण भारत मे भी लोहे का निर्यात

होता था। "जो लोहा निकाला जाता था, वह अक्सर ऊँचे दर्जे का होता था। कम-से-कम दक्षिण भारत मे कारीगर इस्पात बनाने का कोई तरीका जानते थे। मेरी समझ मे पश्चिमी तट से मुख्यतः इसी का निर्यात होता था।" (पृष्ठ १४०)। धरती से कच्चा लोहा निकालना, उससे इस्पात बनाना, उसका उपयोग निर्यात की मुख्य वस्तु के रूप मे करना, यह सब औद्योगिक कौशल के विकास का प्रमाण है। और यह सारी प्रक्रिया अनेक श्रमिकों के एक साथ काम किये बिना सम्भव न थी। भले ही इमारतो मे लोहे की खपत कम रही हो, भारत मे हथियारो की खपत काफी थी और इसके लिए लोहे का उत्पादन जरूरी था। कारीगरो के औजार, कीलें, घोडों की नालें आदि आदि के लिए लोहा जरूरी था। अधिकांश भारत मे खेती के लिए ऐसा हल इस्तेमाल होता था जिसमे लोहे का फाल लगा होता था। किसान की कुल्हाडी, फावड़ा, खुरपी, हँसिया, लुहार का हथौडा, बढई का आरा आदि आदि औजार दूर-दूर तक गांवो मे इस्तेमाल होते थे। कडाही, तवा, कलछी जैसी चीजें हर गृहस्थ के घर मे थी। इससे औद्योगिक विकास की कुछ कल्पना की जा सकती है। फुटकर कारीगर माल बनाते थे, मोरलैण्ड कहते हैं, इसका मतलब यह नही है कि भारत उस समय बडे-बडे काम आयोजित न कर सकता था। इलाहाबाद का किला, फतहपुर सीकरी की राजधानी, पुर्तगालियो के जहाज़ ये सब बडे काम थे। ऐसे हर बडे काम के लिए नये सिरे से व्यवस्था करनी होती थी। किसी सौदागर को जहाज़ की जरूरत है तो लकडी काटने से लेकर जहाज़, बनाने तक सारी प्रक्रिया उसी को पूरी करनी होती थी। (पृष्ठ १७३)। यह मोरलैण्ड का अनुमान मात्र है। यदि जहाज बनाने का स्वतन्त्र उद्योग संगठित न होता तो इतने बड़े पैमाने पर जहाज़रानी सम्भव न होती, दूसरो को जहाज़ बेचे न जा सकते। मोरलैण्ड ने दिल्ली के कारखानों का विवरण बर्नियर से उद्धृत किया है और उनका सम्बन्ध अबुलफज़ल द्वारा उल्लिखित कारखानों से जोडा है। अबुलफजल ने अपने समय के कारखानो का विस्तृत ब्योरा नही दिया। मोरलैण्ड कहते हैं कि बर्नियर के समय के कारखाने उत्पादन की भिन्न मंज़िल की सूचना देते हैं। कारीगर अब किसी के निर्देशन मे काम करते थे। जो अधिकारी प्रबन्ध करते थे, वे सामग्री जुटाते होगे। ये लोग कौशल के निखार की ओर भी ध्यान देते होगे। "यह सम्भव है कि दस्तकारी की कुछ शाखाओ मे ऐसे ही निजी कारखाने भी चालू रहे होंगे, यद्यपि उस समय के इतिहासकार इसके बारे मे कुछ नही कहते।" (पृष्ठ १७४)। उद्योग-धन्धों की अनेक शाखाओं मे जिस परिमाण मे उत्पादन होता था, उसके लिए अनेक श्रमिकों का एक साथ काम करना अनिवार्य था। सम्भावना यह है कि अकबर ने यहाँ कारखानों का चलन देखकर शाही जरूरतो के लिए वैसे ही कारखाने कायम किये थे। उद्योगधन्धों मे उसने नये संगठन का चलन किया होगा, इसकी सम्भावना इसलिए नही है कि स्वतन्त्र कारीगरों से जितना भी और जैसा भी माल आवश्यक हो, उसे बादशाह तैयार करा सकता था।

सूरत मे वीरजी वोरा [वोहरा ?] नाम के एक बहुत बडे सौदागर थे। उनके लिए कहा जाता था कि वह दुनिया के सबसे धनी सौदागर हैं। सूरत के थोक

बाजार मे जो चीज भी बिकती थी, उससे वीरजी का सम्बन्ध होता था। इनके व्यवसाय का विवरण मोरलैण्ड ने भारत के आर्थिक इतिहास पर अपनी पुस्तक **अकबर से औरंगजेब तक** (From Akbar to Aurangzeb) में दिया है। इस विवरण मे उन्होने व्यापार-संघों (syndicates) का हवाला दिया है। वीरजी बड़े पैमाने पर व्यवसाय करते थे और जिन संघों पर वह हावी थे, वे पाँच से दस लाख रुपयो तक के मूल्यवाला जहाजों का सारा सामान खरीदने को तैयार रहते थे। इस तरह की खरीद से कुछ बिकाऊ माल पर उनका अस्थायी इजारा हो जाता था। डच व्यापारी जो गरम मसाला खरीदकर लाते थे, उसे भी खरीदकर महँगे दामों बेचते हुए वह भारी मुनाफा कमाते थे। सूरत मे काली मिर्च की खरीद-फ़रोख्त पर भी उनका नियन्त्रण था। केरल के समुद्र-तट पर जहाँ पुर्तगाली हावी नही थे, वहाँ का व्यापार उनके नियन्त्रण में था। उनके कारोबार की शाखाएँ अहमदाबाद, आगरा, बुरहानपुर, गोलकुण्डा में थीं, मलाबार और पूर्वी समुद्र-तट पर थी। जावा, बसरा और गमरून (Gombroon) से उन्होंने सम्बन्ध कायम किया था। इन स्थानो को वह अक्सर अंग्रेज़ी जहाजों से अपना माल भेजते थे। बाजार पर उनका प्रभुत्व इतना बढ गया कि अंग्रेज़ व्यापारियो की निगाह मे वह खटकने लगे। यूरुप से जो भी माल आता था, उसका एकाधिकार उनके पास था। सूरत में कोई भी व्यापारी उनकी इच्छा के विरुद्ध खरीद-फ़रोख्त न कर सकता था। एक बार ईस्ट इण्डिया कम्पनी से उनका झगड़ा हुआ। मामला फैसले के लिए लन्दन भेजा गया। कम्पनी ने वीरजी के खिलाफ फैसला किया लेकिन उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए कीमती भेंट भी भेजी। इससे वह प्रसन्न न हुए; वह कुछ दिन तक इतने नाराज़ रहे कि अंग्रेज़ो को ब्याज की किसी भी दर पर रुपया उधार देने को राज़ी न हुए। (पृष्ठ १५४)। अंग्रेज़ यहाँ के व्यापारियों से रुपया उधार लेकर व्यापार करते थे और यदि ये व्यापारी चाहते तो उनका व्यापार करना असम्भव हो जाता। मोरलैण्ड ने लिखा है, "काफी समय तक वह अंग्रेज़ों के कारोबार के लिए पैसे देते रहे; इस दौरान वह सम्भवतः उन्हें देश से निकाल बाहर कर सकते थे।" (पृष्ठ १५५)। जिन्हें निकाल बाहर करना चाहिए था, उन्हें उधार पैसा देकर भारत के धनी व्यापारियों ने अपना ही नाश किया। मोरलैण्ड के अनुसार अंग्रेज़ों को अक्सर कर्ज़ लेने की ज़रूरत होती थी। ज्यादातर कर्ज़ उन्हें सूरत में वीरजी से मिलता था। "बाजार मे उनकी स्थिति इतनी मजबूत थी कि यह नतीजा निकालना उचित होगा कि वह चाहते तो उधार रकमे देने से दूसरों को भी रोक सकते थे। इसके विपरीत एक बार जब अंग्रेज असाधारण कठिनाइयो मे थे, तब वह दो लाख की रकम उधार देने को तैयार हो गये। एक बार और इसकी आधी राशि देने का अचानक वादा करके उन्होंने अंग्रेज़ों की साख गिरने से बचा ली।" (उप.)। कर्ज़ देते समय वह किसी जमानत की माँग न करते थे; जमानत माँगना बेकार होता क्योंकि अंग्रेज़ों के पास धरोहर के रूप में देने को कुछ था नही।

वीरजी मुख्यतः व्यापारी थे। माल खरीदना और बेचना उनका काम था, और हर तरह के माल मे उन्हें दिलचस्पी थी। अक्सर वह जहाजों पर माल

लादने का काम भी करते थे। साहूकारी का धन्धा उनके पास था। लोग उनके यहाँ पैसे जमा करते थे। उनकी फर्म की शाखाओं से लोग पैसे ले सकें, इसके लिए वह हुण्डियाँ जारी करते थे।

पूर्वी समुद्र-तट पर वीरजी के जोड़ीदार मलय नाम के बड़े व्यवसायी थे। उनका कारोबार दूर-दूर तक फैला हुआ था। इनके छोटे भाई का नाम चिनन चेट्टि था। यह चेट्टियों का परिवार था। उत्तर भारत का श्रेष्ठि दक्षिण भारत में चेट्टि हो गया था। चिनन चेट्टि ने सेनानायक का काम भी किया था। इस परिवार का विशेष सम्बन्ध जहाजरानी से था। इस प्रसग मे मोरलैण्ड ने इस सम्भावना की चर्चा की है कि समुद्री बीमे के धन्धे का विशेष व्यवसाय के रूप में विकास हुआ होगा। बीमे का कारोबार खूब व्यापक था, यह बात वह मानते हैं। मोरलैण्ड पूंजी की बात भी करते हैं। सत्रहवी सदी के भारतीय व्यापार-केन्द्रों में बहुत से व्यवसायी एकत्र होते थे। "उनकी योग्यता और पूंजी पर उनके अधिकार (command over capital) के अनुसार उनका दर्जा निश्चित होता था।" (पृष्ठ १५८)। पूंजी शब्द का प्रयोग सही है। बड़े पैमाने का कारोबार पूंजी के बिना सम्भव नही है।

पूंजीवाद का विकास कैसे होता है, यह समझने के लिए मोरलैण्ड का दिया हुआ एक तथ्य ध्यान देने योग्य है। यूरुप के व्यापारी यहाँ का माल खरीदने लगे, तब यहाँ के उत्पादन पर उसका प्रभाव पड़ा या नही, इस समस्या का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि उद्योग-धन्धों में किसी महत्वपूर्ण तब्दीली के चिह्न नही दिखायी दिये। पश्चिमी यूरुप की नयी माँग पूरी करने के लिए सिर्फ सूती कपड़ों के उत्पादन मे वृद्धि हुई। "उस समय के व्यापारियों के पत्र-व्यवहार में बुनकरों की स्थिति साफ दिखायी देती है। एक तरह से हर आदमी अपने तईं काम करता था, किन्तु दूसरी तरह से वह उस पूंजीपति के हाथ में था जो आवश्यक सामग्री खरीदने के लिए, और काम के समय जीविका के लिए, पेशगी पैसा देता था। व्यापारियो द्वारा पेशगी पैसा देने की प्रथा इतनी-जानी-पहचानी है कि उसकी और व्याख्या करना जरूरी नही है। डच और अंग्रेज खरीददारोने देखा कि यह प्रथा मजबूती से कायम है। उन्हें जो माल चाहिए था, उसे पाने के लिए उन्होंने इस प्रथा के अनुसार काम किया। इस प्रथा को अमल में लाना आसान नही था, जैसा कि हम देख चुके हैं। लेकिन पूंजी जुटाने का जब तक कोई वैकल्पिक तरीका न हो, तब तक उससे काम लेना अनिवार्य था।" (पृ. १६२)। पेशगी पैसा देने की प्रथा को 'ददनी' कहते थे। यह प्रथा यूरुप के सौदागरों ने यहाँ चालू न की थी, उनके आने के पहले ही यहाँ उसका व्यापक चलन हो चुका था। व्यापारी जो पेशगी पैसा देता था, उसे पूंजी कहना उचित है, पेशगी पैसा देकर बुनकरों से माल खरीदनेवाले व्यापारी को पूंजीपति कहना उचित है। यहाँ केवल पूंजी और पूंजीपति शब्दों के सही या गलत प्रयोग की बात नहीं है, बात है उत्पादन के नये तरीके की, नये सामाजिक सम्बन्धों की। पूंजीवादी उत्पादन का यह आदिम तरीका था और भारत मे अंग्रेजों के आने के पहले से कायम था। वह अंग्रेजी राज कायम होनेके पहलेसे ही नही, अंग्रेजो के, डच और पुर्तगालियोंके यहाँ

आने के पहले से कायम था। उत्पादन का यह तरीका पूंजीवादी था, इसका प्रमाण लेनिन है।

रूस मे अनेक विद्वान् ऐसे थे जो बडे-बड़े कारखानों मे मशीनों का व्यवहार होते न देखकर कहते थे : पूंजीवाद कहाँ है.? लेनिन ने स्त्रूवे द्वारा लोकवाद की आलोचना पर **लोकवाद की आर्थिक विषयवस्तु** नाम की पुस्तिका में टीका-टिप्पणी की थी। स्त्रूवे ने रूस में पूंजीवादी विकास स्वीकार करते हुए लिखा था, "एक वार जब श्रम का विभाजन हो जाता है, तब उसे यथासम्भव व्यापक बनाना होना है। इसके पहले कि उत्पादन का पुनर्गठन कौशल के आधार पर हो, विनिमय (बाज़ार में खरीद-फरोख्त) की नयी परिस्थितियों का असर इस बात मे दिखायी देगा कि उत्पादक आर्थिक रूप से सौदागर (माल के खरीदनेवाले) पर निर्भर हो जाता है। सामाजिक दृष्टि मे यह बात निर्णायक महत्व की है। श्री वी. वी. जैसे 'सच्चे मार्क्सवादी' इस बात को आँखों से ओझल हो जाने देते है। विशुद्ध कौशलीय प्रगति का महत्व उन्हे अन्धा बना देता है।" स्त्रूवे की इस धारणा को प्रस्तुत करने के बाद लेनिन ने लिखा : "माल खरीदनेवाले का प्रकट होना निणायक महत्व का है, इस बात का हवाला गम्भीर सत्य है। निर्णायक इसलिए है कि वह बिना किमी सन्देह की गुंजाइश के यह साबित कर देता है कि यहाँ हमे उत्पादन का पूंजीवादी सगठन मिलता है। वह साबित करता है कि 'विकाऊ मालवाला अर्थतन्त्र वित्तीय अर्थतन्त्र होता है, पूंजीवादी अर्थतन्त्र होता है', यह स्थापना रूस पर भी लागू होती है, और वह उत्पादक को पूंजी के अधीन बनाती है। उत्पादक की स्वतन्त्र कार्यवाही के ज़रिये ही इस अधीनता से छुटकारा मिल सकता है, और कोई रास्ता नहीं है।" (कलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १, पृ. ४२७)। जैसे रूस मे कुछ लोग कौशल-सम्बन्धी बडे परिवर्तन से ही पूंजीवाद का सम्बन्ध जोडते थे और सौदागर द्वारा उत्पादकों को पेशगी पैसा देने के सामाजिक महत्व को न समझ पाते थे, वैसे ही भारत मे 'ददनी' प्रथा का महत्व अधिकांश इतिहासकार और अर्थशास्त्री नही समझ पाये। भारत मे जिस पैमाने पर सूती माल का उत्पादन होता था, उस पैमाने पर अलग-थलग जुलाहे व्यापारी के हस्तक्षेप के बिना माल पैदा न कर सकते थे। बाज़ार का निर्माण, इस बाजार में माल की बढ़ती हुई माँग, इन दो बातों ने व्यापारी के हस्तक्षेप को अनिवार्य बना दिया था। पेशगी पैसा लेनेवाला बुनकर माल बनाने से पहले ही उसे बेच चुका होता है अर्थात् वह अपनी श्रमशक्ति बेच चुका होता है; माल तैयार करने के बाद वह उस माल का मालिक नहीं रह जाता। मोरलैण्ड ने बिलकुल ठीक लिखा है कि एक तरह से हर आदमी अपने तई काम करता था, यानी ऊपर से देखने में ऐसा लगता था कि वह स्वाधीन उत्पादक है किन्तु पेशगी रकम देनेवाला व्यापारी बाज़ार मे तैयार माल खरीदनेवाला गाहक नही था, वह माल तैयार करानेवाला पूंजीपति था। यह नयी तरह का सामाजिक सम्बन्ध था जिसमे बुनकर व्यापारी के अधीन होता था। इसलिए मोरलैण्ड ने लिखा है कि दूसरी तरह से वह बुनकर पेशगी पैसा देनेवाले पूंजीपति के हाथ मे होता था। जब कई व्यापारियों में आपसी होड होती थी, तब बुनकरों के लिए पेशगी रकम के बारे मे मोल-तोल करने की कुछ सुविधा हो सकती थी

किन्तु जब किसी धन्धे में व्यापारियों के किसी गुट का इजारा हो जाता था, तब वे बुनकरों के श्रम का शोषण सख्ती से करते थे।

ददनी प्रथा का चलन केवल सूती कपड़ा उद्योग मे नही था। मोरलैण्ड कहते हैं, लगता है जो प्रथा बुनाई के उद्योग में थी, उसका चलन व्यापक था। "उदाहरण के लिए शोरे की आपूर्ति पटना के आसपास पेशगी रकम देने पर निर्भर थी। बयाना और सिन्ध में नील की आपूर्ति के लिए पेशगी पैसा देना होता था। यही बात पूर्वी समुद्र-तट पर थी। अलबत्ता गुजरात मे इस उद्योग का काम स्थानीय पूंजीपतियो के हाथ मे था जो उत्पादको को धन देते रहे होगे।" (पृ. १९३)। इससे विदित होता है कि सूती उद्योग के अलावा अन्य उद्योगों मे भी पूंजीवादी उत्पादन का चलन था। भारत में व्यापारिक पूंजीवाद का ही प्रसार न हुआ था, औद्योगिक पूंजीवाद के प्रारम्भिक रूप का चलन भी दूर-दूर तक था। जिस माल की भी माँग देशी-विदेशी बाजार मे होती थी, उसकी आपूर्ति के लिए व्यापारी ददनी प्रथा का सहारा लेते थे। आरम्भ मे यूरुप के व्यापारियों ने जैसे यहाँ की साहूकारी-प्रथा के अनुरूप अपना व्यवसाय किया, यहाँ की व्यापार-प्रथाओ के अनुरूप अपना धन्धा चलाया, वैसे ही उन्होने यहाँ की पहले से प्रचलित उद्योग-प्रथा को भी अपनाया। यह एशिया की कोई खास उत्पादन-पद्धति नही थी, यह सामन्ती उत्पादन-पद्धति नही थी, यह पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति थी, बेशक वह बड़े कारखानों मे मशीनोंवाले उत्पादन की पद्धति नही थी, किन्तु पूंजीवाद की शुरूआत मशीनी उत्पादन से नहीं होती, उसके पहले दस्तकारी और ददनी प्रथा का ही चलन होता है।

कारीगरों को कितनी पगार दी जाये, यह व्यापारियो की नीति पर निर्भर था, राज्यसत्ता या बादशाह की इच्छा पर नही। मोरलैण्ड ने लिखा है कि एक जगह से दूसरी जगह पहुँचने पर शहरी मजदूरों की पगार मे फर्क दिखायी देता था किन्तु किसी एक क्षेत्र में जो पगार दी जाती थी, उसमे उल्लेखनीय एकरूपता थी। कारीगर का धन्धा कौन-सा है, इस पर पगार निर्भर नहीं थी। आगरे के बारे मे पेलसार्ट ने लिखा था कि सभी श्रेणियों के कारीगरो के लिए पगार की दर एक-सी थी। कुछ साल पहले पूर्वी समुद्र-तट के बारे में यही बात मेथवोल्ड ने लिखी थी। (पृ. १९४)। अनेक स्थानो पर सभी तरह के कारीगरो को प्राय: एक-सी पगार मिलती थी, इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि कारीगरों की तुलना मे व्यापारी अधिक संगठित थे, इसलिए वे आवश्यक माल की आपूर्ति के लिए अपने हित में पगार की दर निश्चित करते थे। भारतीय बाजार का केन्द्रीय स्थान आगरा था, इसलिए "ऐसी बातो में अधिकाश भारत के लिए आगरा मानदण्ड निश्चित करता था।" (पृष्ठ १९४)। बादशाह आगरे मे रहता है या दिल्ली में, मानदण्डों का निश्चित होना इस पर निर्भर नही था; मानदण्ड निश्चित होते थे भारतीय बाजार में किसी नगर के उद्योग और व्यापार का केन्द्र बनने से।

(ङ) भारतीय बाजार और यूरोपियन व्यवसाय की समस्याएँ

भारत में व्यापार के जो तरीके प्रचलित थे, यूरुप के सौदागरों ने उन्हे अपनाया

पर कुछ बातो मे उन्होने नये तरीके भी चलाये। इनमे एक तरीका यह था कि वे भारतीय कपडो को विनिमय के माध्यम के रूप में इस्तेमाल करते थे। मोरलैण्ड कहते हैं कि पूर्वी देशो मे थोडा-सा ही समय बिताने के बाद डच सौदागरों को अनुभव हुआ कि व्यापार से मुनाफा कमाने के लिए उन्हें अपने कार्यक्षेत्र में भारत को शामिल करना होगा। इसका कारण यह था कि काली मिर्च और गरम मसाले के उत्पादको से भारतीय सूती कपड़ा देकर ही खरीद सकते थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपो में द्रव्य का चलन बहुत कम हुआ था। व्यवसाय मे सफल होने के लिए जरूरी था कि फसल के तैयार होने के समय व्यापारी भारतीय कपडा लिये मौजूद रहें। डच सौदागर ऐसा कपडा बिचौलियों से खरीदें तो भारी कीमत देनी पडती थी। इसलिए उन्होने तय किया कि सीधे हिन्दुस्तान से कपडा खरीदना चाहिए। उनके इस प्रयत्न का जो पहला उल्लेख मिलता है, वह १६०१ का है। जो काम डच सौदागरो ने किया, वही काम कुछ समय बाद अंग्रेजो ने किया। (पृष्ठ ३१-३३)।

दक्षिण एशिया के कुछ द्वीपों मे सोना मिलता था। यूरुपवालों के लिए एशिया मे व्यापार करने का उद्देश्य सोना-चांदी प्राप्त करना था जिससे भारतीय कपड़ा खरीदा जा सके। डच और अंग्रेज सौदागर भारतीय कपडों से सुमात्रा और बोर्नियो मे सोना खरीदते थे। भारत में सूती माल खरीदने के लिए पूंजी प्राप्त करने का यह एक तरीका था। (पृष्ठ ६४)। दूसरा तरीका भारत मे कर्ज लेकर कपडा खरीदना था। आजकल इस प्रथा का व्यापक चलन है। पहले किसी बडे पूंजीवादी देश से कर्ज लो और फिर उससे माल खरीदो। यह प्रथा बहुत पुरानी है। फर्क यह है कि कर्ज लेने और देनेवाले तब आज से भिन्न थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को लन्दन मे पूंजी इकट्ठा करना कठिन मालूम होता था, इसलिए उसे भारत में कर्ज लेने के लिए मजबूर होना पड़ता था। (पृष्ठ ६२)। कभी-कभी डच सौदागर भी इसी नीति के अनुसार काम करते थे। अंग्रेज जो माल बेच सकते थे, उसकी मांग नही थी, इसलिए किसी-न-किसी तरकीब से सोना-चांदी प्राप्त करके वे यहां का माल खरीदते थे। मोरलैण्ड ने लिखा है कि एक तरीका यह भी था कि यूरुप के सौदागर कारोबार इस तरह चलायें कि पूंजी से जो मुनाफा मिले, उसी को यूरुप भेजें, पूंजी वापस न भेजें, उसे व्यापार के लिए बचाये रहें। १६२३ मे कोएन नाम के डच अधिकारी ने यह सुझाव दिया कि जितनी भी पूंजी सुलभ हो, वह सब उत्पादन के मुख्य साधनों (कई हजार 'गुलामों') में लगायी जाय और कम्पनी के अधिकृत क्षेत्र का विकास किया जाये जिससे कि भारत के भीतरी व्यापार से और यहां की मालगुजारी से हालैण्ड को पैसा भेजा जा सके। इस तरह हर साल पूंजी आयात करने की समस्या खत्म हो जायेगी। (पृष्ठ ६३)। कोएन का यह सुझाव ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इससे पता चलता है कि यूरुप के सौदागरों के लिए एशिया मे राज्य विस्तार करना क्यों जरूरी हुआ। अपना माल बेचने के लिए वे यहां की भूमि पर अधिकार न करना चाहते थे, वे अधिकार करना चाहते थे यहां का माल खरीदने को आवश्यक पूंजी जुटाने के लिए। जितनी भूमि पर अधिकार हो जायेगा, उतनी भूमि की मालगुजारी से भारतीय माल खरीदा जा

रखेगा। अंग्रेज़ों ने बंगाल में यही किया था। बंगाल पर अधिकार करने से भारतीय माल खरीदने के लिए आवश्यक पूँजी की समस्या हल हो गयी। जैसा कि हमने इस पुस्तक के पहले खण्ड में देखा है, बर्क ने इस नीति की कड़ी आलोचना की थी।

पश्चिमी यूरुप तक भारतीय कपड़े पहले केवल स्थल मार्ग से पहुँचते थे। पश्चिमी यूरुप में सूती कपड़ों की खपत के लिए बहुत बड़ा बाजार था और इससे अंग्रेज सौदागरों ने लाभ उठाया। जो माल अंग्रेज भारत में खरीदते थे, उसे वे यूरुप में बेचते थे। इंग्लैण्ड में उसकी खपत बहुत ही कम थी किन्तु फ्रांस में सूती कपड़ों की माँग बहुत थी। भूमध्यसागर के तटवर्ती देश, लालसागर और ईरान की खाड़ी से होकर, पूर्वी देशों का माल प्राप्त करते रहे थे। पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम चरण में व्यापार के पुराने मार्गों में ऐटलाण्टिक समुद्रतट के देशों तक पूर्वी माल पहुँचता था। जब पुर्तगाल से भारत का सम्बन्ध नये समुद्री मार्ग से जुड़ गया, तब वहाँ पूर्वी माल अधिक मात्रा में पहुँचने लगा। पुराने स्थल मार्गों से व्यापार होता रहा किन्तु उन मार्गों का पुराना इजारा टूट गया। पुर्तगालियों ने भारत का सूती माल पश्चिमी अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका तक बेचा। कपड़ों के अलावा सूती धागे का व्यापार भी बड़े पैमाने पर हुआ। यद्यपि व्यापारियों की संख्या बढ़ गयी थी किन्तु अंग्रेजों के आने के बाद व्यापार में गुणात्मक परिवर्तन हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता। मोरलैण्ड ने लिखा है कि जो सामान पहले स्थल मार्ग से जाता था, वह अब समुद्री मार्ग से जाने लगा। एशिया के सभी बाजारों को मिलाकर देखें तो प्राप्त जानकारी के आधार पर यही कह सकते हैं कि अंग्रेजों ने जब व्यापार शुरू किया, तब इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि भारतीय सूती माल के निर्यात में कोई भारी प्रसार हुआ। सूती माल के साथ मोरलैण्ड और तरह के माल को भी जोड़ लेते हैं जो भारत से एशिया को जाता था। इसके निर्यात में भी प्रसार का प्रमाण नहीं है। रेशम, चमड़े और गुलामों के निर्यात में डच सौदागरों ने जरूर नया काम किया। (पृ. ७४-७५)। भारत मुख्यतः सूती कपड़ों का निर्यात करता था। ये कपड़े एशिया के देशों को जाते थे, यूरुप जाते थे। यूरुप के व्यापारियों ने इस व्यापार में कोई नयी प्रगति करके नहीं दिखायी। उन्होंने व्यापार के मार्ग बदल दिये और दूसरे व्यापारियों का स्थान ले लिया। जहाँ तक विश्वबाजार में भारतीय माल की खपत का सम्बन्ध है, उनकी कारंवाई से उसमें कोई विशेष परिवर्तन न हुआ। इसका अर्थ यह है कि इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति से पहले तक अंग्रेज़ डच, पुर्तगाली या अन्य यूरोपियन व्यापारी विश्वबाजार में ऐसा कोई परिवर्तन न कर सके थे जिसका उल्लेखनीय प्रभाव भारत के निर्यात व्यापार पर पड़ता।

एक और नयी चीज़ का निर्यात यूरुप के सौदागरों ने शुरू किया, वह शोरा थी। सत्रहवीं सदी में यूरुप के व्यापारियों ने बारूद का इस्तेमाल बड़े पैमाने पर शुरू किया। इसके लिए शोरे की जरूरत थी और यह जरूरत स्थानीय शोरे से पूरी न होती थी। "जब यह पता चला कि भारत में शोरे की लगभग अपरिमित मात्रा है, तब इससे उन लड़ाकू जातियों को भारी लाभ हुआ जो इसे समुद्री मार्ग

से ले जाने की स्थिति में थी।" (पृष्ठ ११९) । पहले पुर्तगाली, फिर डच और उनके बाद अंग्रेज भारत के विभिन्न भागों से सैकड़ों टन शोरा ढोकर ले गये। पटना में डच और अंग्रेज़ सौदागरों ने अपनी कोठियाँ बनायी । कुछ ही दिन मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल मे आठ सौ टन शोरा भेजने की व्यवस्था की। १६६१ मे डच सौदागरों ने १४८० टन शोरा भेजा। इस समय तक शोरा व्यापार की प्रमुख वस्तु बन गया था । पहले वह अनेक क्षेत्रों से प्राप्त किया जाता था, अब सबसे ज्यादा और सस्ता शोरा बिहार से प्राप्त किया जाता था। भारत से प्राप्त इस शोरे से अंग्रेजो ने बारूद बनायी और उसका उपयोग भारतीय जनता के विरुद्ध किया । दुनिया मे अपना साम्राज्य कायम करने में बारूद से उन्हें बहुत मदद मिली और इस बारूद का मुख्य स्रोत भारत था। भारतीय शासकों और व्यापारियो की अदूरदर्शिता यहाँ फिर प्रत्यक्ष हो जाती है।

मोरलैण्ड ने कहा है कि चीन को छोड़कर कोई भी एशियाई शक्ति ऐसी नही थी जिसके पास जहाज़ी बेड़ा जैसी कोई चीज़ रही हो। (पृ. ४)। आरम्भ में डच सौदागर भी लड़ाई की आवश्यक सामग्री के बिना चलते थे। उनका उद्देश्य था, जहाँ पुर्तगाली प्रभाव नही है, वहाँ के एशियाई देशों से व्यापार-सम्बन्ध कायम करें। किन्तु १६०३ के बाद डच जहाज़ जब व्यापार के लिए चलते थे, तब ज़रूरत हो तो लडने को भी तैयार रहते थे। भारतीय जहाजरानी क्रमशः अपना स्थान यूरुपवालो को देनी चली गयी। डच और अंग्रेज़ व्यापारियो ने पहले से चले आने-वाले व्यापार को बहुत कुछ अपने हाथ मे कर लिया। "यह निष्कर्ष मजे में निकाला जा सकता है कि जो भारतीय सौदागर जहाज़ों के मालिक भी थे, उन्हें इस परिवर्तन से घाटा हुआ। किन्तु यह निष्कर्ष सभी भारतीय सौदागरो पर लागू न होगा, जहाज़-निर्माताओं को छोडकर वह अन्य भारतीय उत्पादकों पर भी लागू न होगा।" (पृष्ठ ८६) । मोरलैण्ड का विचार है कि यूरोपियन जहाजों द्वारा माल भेजने से भारतीय व्यापारियों को लाभ हुआ था। सम्भव है, लाभ हुआ हो पर यह लाभ अस्थायी था। अंग्रेजों के पास जहाज ही नही, जलमार्ग भी थे, और उनके जहाज़ केवल माल ढोने के लिए नही, लड़ाई के लिए भी तैयार थे। इंग्लैण्ड की राज्यसत्ता व्यापारियों के अधिकार में हो या उनकी बहुत शुभचिन्तक हो, ऐसी बात नही थी। मोरलैण्ड ने इंग्लैण्ड की राज्यसत्ता से हालैण्ड की राज्यसत्ता की तुलना करते हुए लिखा है कि डच कम्पनी मे जो सौदागर थे, वे राज्यसत्ता की प्रमुखशक्ति थे और वे उसमे अपनी योजनाओं पर अमल करा सकते थे किन्तु "इस समय लन्दन की पार्लियामेण्ट अंग्रेज़ व्यापारियों (adventurers) के प्रभाव में बहुत ही कम थी" (पृ. ६१)। इस प्रकार राज्यसत्ता और व्यापारियों के सम्बन्ध के विचार से भारत की तुलना मे इंग्लैण्ड कुछ आगे बढ़ा हुआ न था। मोरलैण्ड ने लिखा है कि उस समय की भारतीय सरकारें सभी निरंकुश होती थीं। (पृष्ठ २३३)। किन्तु व्यापार की प्रगति के लिए यह निरंकुशता आवश्यक थी। व्यापार ही नहीं, खेती की प्रगति के लिए भी बड़े पैमाने पर सिंचाई की व्यवस्था राज्य-सत्ता ही कर सकती थी। मोरलैण्ड के अनुसार सत्रहवीं सदी के मुगल साम्राज्य मे सार्वजनिक कार्यों पर काफी धन खर्च किया गया। इनमें जो कार्य उपयोगी कहे

जा सकते थे, उनमे जहाँगीर के समय में बुरहानपुर की सिंचाई व्यवस्
शाहजहाँ के समय मे नयी नहरों का बनाया जाना या पुरानी नहरो
जाना था। (पृष्ठ १६५)। चाहे बडी इमारतें हो, चाहे नहरें निकालने
हो, इस सबके लिए पूँजी दरकार थी, भले ही पूँजी लगाने का काम सर
किया हो।

मोरलैण्ड को व्यापार की पुरानी परिस्थितियो मे एक दोष यह दि
है कि समय-समय पर सरकारी अफसर व्यापार के काम मे दखल देते
शहर का कोतवाल स्वयं या अपने किसी आदमी के ज़रिये किसी भी चीज
या खरीदने का इजारा अपने हाथ मे कर सकता था। जब ऐसा होत
व्यापारियो की आपसी होड समाप्त हो जाती थी। "राज्यसत्ता की आव
को देखते हुए कभी-कभी इस हस्तक्षेप को उचित ठहराया जा सकता
यह सम्भव था कि उचित ठहराने की बात केवल बहाना हो। किन्तु
कोतवाल (गवर्नर) ने राँगे का इजारा अपने हाथ मे ले लिया तो विदेश
गरो ने बहुत गम्भीरता से इसकी शिकायत नही की। सारे देश मे शोरे
पर पाबन्दियाँ लगायी गयी या जब सिक्के ढालने के लिए ताँबे की कमी
उसे फिर से निर्यात करने पर रोक लगा दी गयी। विदेशी व्यापारियो ने
की भी बहुत गम्भीरता से शिकायत नही की। वे शिकायत तब करते थे
सूती माल, गर्म मसाला और खाद्यान्न पर भी इजारा कायम किया जा
यह माल बटोर लिया जाता था, और ऐसा केवल राज्यसत्ता या उसके
लाभ के लिए किया जाता था या फिर कुछ अधिक व्यापक एकाधिकारी
के खिलाफ शिकायत की जाती थी।" (पृष्ठ १४६)। यूरुप के व्यापारिय
चलता था, तब वे भी किसी-न-किसी माल पर अपना इजारा कायम
कम-से-कम भारतीय राज्यसत्ता कभी-कभी सार्वजनिक हित मे कुछ
खरीद-फरोख्त अपने हाथ मे ले लेती थी। यह भी ध्यान देने की बात है
सत्ता और व्यापारियो का गहरा सम्बन्ध था। मोरलैण्ड ने लिखा
व्यापारिक केन्द्रों मे स्थानीय नगरपाल अक्सर व्यापारी समाज से नियु
जाते थे। सरकारी अफसर व्यापार में भाग न ले, ऐसा कोई नियम
इसलिए जब व्यापार सम्बन्धी कारोबार मे वे भाग लेते थे, तो अपनी
शक्ति का प्रयोग भी करते थे। (पृष्ठ १४७)।

कुल मिलाकर सत्रहवीं सदी में भारतीय बाजार की स्थिति आधुनिक
बाजारो से मिलती-जुलती थी। उस समय के बाज़ार का वर्णन करते हुए
ने लिखा है: "सारे देश मे मान्य बाजार भाव दिखायी देते थे। माँग और
में तब्दीली के हिसाब से भाव मे चढाव-उतार आता था। उत्पादन की
हिसाब से साधारण कीमत निश्चित होती है, इस धारणा से लोग खूब
थे। खरीद-फरोख्त करनेवालों मे तगडी प्रतिद्वन्द्विता दिखायी देती थी
तलाश में रहते थे कि कुछ खास जानकारी उन्ही को मिले। लोग अपने गु
थे और व्यापारिक इजारे संगठित करते थे। दलालों का एक बड़ा वर्ग

बीमे के लिए वित्तीय तन्त्र का जो विकास हुआ था, वह मार्के का था। सत्रहवीं सदी के सूरत में लोग व्यापारिक संकट में वैसे ही परिचित थे जैसे आधुनिक बम्बई में। दिवालियेपन के बारे में कोई कानून नहीं था लेकिन इस प्रपंच को आमतौर से मान्यता प्राप्त थी।" (पृष्ठ १४५-४६)।

जब मोरलैण्ड जैसा अर्थशास्त्री सत्रहवीं सदी के सूरत की तुलना बीसवीं सदी की बम्बई से करे, तो मान लेना चाहिए कि भारत में अंग्रेजी राज कायम होने से पहले पूँजीवाद का विकास हो रहा था।

३. इरफ़ान हबीब

(क) शहर और देहात

भारत के आर्थिक और सामाजिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि यहाँ अंग्रेजी राज कायम होने से पहले पूँजीवाद का विकास शुरू हुआ था या नहीं। सामन्ती व्यवस्था के भीतर भारतीय कृषितन्त्र में कोई परिवर्तन हो रहा था या नहीं, इसका पता लगाने के लिए यहाँ इरफ़ान हबीब की मुगल भारत सम्बन्धी पुस्तक के आधार पर कुछ बातों पर विचार करेंगे। डा. हबीब की पुस्तक का नाम है **दि ऐग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इण्डिया (१५५६-१७०७)**। यह १९६३ में एशिया पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक का महत्व यह है कि लेखक ने फारसी के अनेक नये स्रोतों से मूल्यवान सामग्री एकत्र करके भारत के एक महत्वपूर्ण युग की आर्थिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है। लेखक ने अपना ध्यान कृषि-सम्बन्धी परिस्थितियों पर केन्द्रित किया है, किन्तु अध्ययन इससे अधिक व्यापक है और इसका कारण यह है कि अकबर से औरंगजेब के समय तक कृषि-व्यवस्था समाज के शेष अर्थतन्त्र से अलग-थलग न रह गयी थी। खेती की उपज केवल उत्पादकों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए होती है या अन्य वर्ग उससे लाभ उठाते हैं, बाजार में बिक्री के लिए उपज का कितना हिस्सा कहाँ और कैसे पहुँचता है, खेती करनेवालों के सामाजिक सम्बन्ध किस तरह के हैं, शासक वर्ग और राज्यसत्ता का सम्बन्ध किसानों से किस तरह का है, इन बातों पर विचार किया गया है। उत्तर भारत में घरेलू बाजार का निर्माण, शहरों और गाँवों में श्रम का विभाजन, समूचे अर्थतन्त्र में द्रव्य की भूमिका, इरफ़ान हबीब की पुस्तक का वास्तविक विषय यह है।

डा. हबीब ने जिस क्षेत्र पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है, वह मुख्यतः हिन्दी-भाषी प्रदेश है। इसके एक ओर बंगाल है, दूसरी ओर गुजरात और उत्तर में पंजाब। बंगाल, गुजरात और पंजाब तीनों प्रदेशों से हिन्दी प्रदेश का सम्बन्ध बहुत दृढ़ है। इस सारे क्षेत्र में व्यापार और उद्योग-धन्धों के बड़े-बड़े केन्द्र हैं, इनमें सबसे बड़ा और सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र आगरा है।

मुगलों के समय में जिसे हिन्दुस्तान कहते थे, वह बंगाल, पंजाब और गुजरात के बीच का हिन्दीभाषी प्रदेश था। इलाहाबाद और अवध दो अलग सूबे थे। इलाहाबाद के सूबे में बघेलखण्ड और बुन्देलखण्ड के हिस्से भी शामिल थे। अवध प्रान्त गण्डक से लेकर गंगा नदी तक फैला हुआ था। आगरे का सूबा अलग था।

इसमें गंगा-जमुना के बीच की भूमि के अलावा चम्बल नदी के उत्तर और दक्षिण का बहुत-सा इलाका शामिल था। अकबर के राज्य में लगभग १२० बड़े शहर थे, ३२०० कस्बे थे, इनमें प्रत्येक के साथ सौ से लेकर एक हजार गाँव तक सम्बद्ध थे। "१७वीं सदी में सबसे बड़ा शहर आगरा था। जब यहाँ बादशाह का दरबार था, तब अन्दाज लगाया गया है कि आबादी पाँच लाख से लेकर छह लाख साठ हजार तक थी। जब बादशाह का दरबार दिल्ली चला गया, तब भी यह शहर दिल्ली से बड़ा बना रहा हालाँकि दिल्ली को उस समय पैरिस के बराबर आबादी-वाला शहर कहा गया था और यूरप का सबसे बड़ा शहर पैरिस था।" (पृ. ७५-७६)। कुछ यात्रियों ने लिखा है कि जहाँ बादशाह रहता था, बड़ा शहर वहीं आबाद होता था। यह बात सही नहीं है क्योंकि बादशाह के दिल्ली में बसने पर भी आगरा उससे बड़ा शहर बना रहा। अपने वैभव के दिनों में लाहौर ऐसा शहर माना गया था जो एशिया अथवा यूरप के किसी भी शहर से टक्कर लेता था। पटना की आबादी दो लाख थी। १७वीं सदी के आरम्भ में अहमदाबाद के लिए कहा गया था कि वह लन्दन के बराबर है जिस लन्दन में उसके उपनगर भी शामिल हों। इरफान हबीब ने लिखा है कि ढाका, राजमहल, मुलतान और बुरहानपुर की आबादी के बारे में ऐसा विवरण नहीं मिलता। किन्तु क्लाइव ने जब मुर्शिदाबाद देखा था, तब यह नगर उसे लन्दन जैसा बड़ा मालूम हुआ था। इरफ़ान हबीब ने बिल्कुल ठीक लिखा है कि जो तथ्य मिलते है, उनसे मालूम होता है कि देश की कुल आबादी में शहरी आबादी का अनुपात बहुत बड़ा था। १६वीं सदी में ये शहर तबाह हुए और तबाही के बाद उन्हें पनपने में बहुत समय लगा। २०वीं सदी के आरम्भ में शहरी और देहाती आबादी का अनुपात उस स्तर तक नहीं पहुँचा जिस स्तर तक वह मुगल काल में था। अवश्य ही यह मोटे तौर पर अनुमान की बात है।

उक्त प्रसंग में एक पादटिप्पणी में इरफान हबीब ने बताया है कि आगरे की जितनी आबादी आँकी गयी थी, उसकी तुलना में ब्रिटिश भारत का १६वीं सदी में सबसे बड़ा नगर कलकत्ता छोटा था। १८६१ के कलकत्ते की आबादी अकबर और शाहजहाँ के आगरे की आबादी से ज्यादा थी। "किन्तु इस बीच भारत की जनसंख्या में भारी वृद्धि हुई थी, इसलिए सापेक्ष दृष्टि से कलकत्ता मुगलों की राजधानी से बहुत पीछे था। छोटे नगरों का ह्रास २०वीं सदी तक जारी रहा। १६०१ से १६३१ के बीच कुल आबादी को देखते शहरी आबादी का जो अनुपात बढ़ा, वह नगण्य था।" (पृष्ठ ७६-७७)। एक ओर अहमदाबाद, दूसरी ओर पटना और ढाका, उत्तर में लाहौर, इन बड़े-बड़े नगरों का विकास न तो सामन्ती व्यवस्था के ठहराव का चिह्न था, न पूंजीवादी विकास के अभाव का। शहरों की आबादी को खाने का सामान कहाँ से मिलता था? खाने का सामान शहरों में न पैदा होता था, वह गाँव में पैदा किया जाता था। यदि ग्रामीण समाज केवल अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उत्पादन करते तो शहर के लोग भूखों मर जाते। यदि खाने खरचने से जो थोड़ा-बहुत अन्न बचता, वही शहरों तक पहुँ[illegible] भी वहाँ की आबादी को भोजन का टोटा रहता। इसलिए यह म[illegible] होगा कि

खेती का काफी हिस्सा ऐसा था जिसका सम्बन्ध बाज़ार से था, जो शहरों में खपत के लिए ही पैदा किया जाता था। इरफान हबीब ने यहाँ सही नतीजा निकाला है कि खेती की कुल उपज का काफी बड़ा हिस्सा शहरो में खप जाता होगा, "और बहुत थोड़े गाँव ऐसे रह गये होंगे, जिन पर शहरी बाज़ार के खिंचाव का असर न पड़ा हो।" (पृष्ठ ७७)। जहाँ भी ऐसे बड़े-बड़े नगर होंगे, वहाँ कृषि-तन्त्र शहरों से अलग-थलग एक स्वायत्त व्यवस्था के रूप में टिका नही रह सकता। १६वी-१७वी सदियो के उत्तर भारत के इतिहास का यह अकाट्य तथ्य है कि अधिकांश गाँव शहरी बाज़ार से जुड गये थे।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि शहरों को खाने का सामान तो गाँव से मिलता था किन्तु पहनने का सामान वे खुद अपने यहाँ तैयार करते थे। शहरो मे बना हुआ माल देहात में बिके चाहे न बिके, महत्वपूर्ण बात यह है कि शहरों में उद्योग-धन्धे, गाँव से अलग, स्वतन्त्र रूप से चालू थे। 'पूँजी' के तीसरे खण्ड में सौदागरी पूँजी की चर्चा करते हुए मार्क्स ने बताया है कि जैसे ही शहरी उद्योग-धन्धे ग्रामीण उद्योग-धन्धों से अलग होते हैं, वैसे ही इन शहरी उद्योग-धन्धों की उपज बिकाऊ माल का रूप ले लेती है और *इस तरह बिक्री के लिए उसे व्यापार के माध्यम की* जरूरत होती है। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार है बिकाऊ माल का उत्पादन। यह उत्पादन पहले छोटे पैमाने पर शुरू होता है, फिर बड़े उद्योग-धन्धों का रूप लेता है। उत्तर भारत के नगर १६वी-१७वी सदियो मे यूरुप और इंग्लैण्ड के नगरों से बड़े थे। ये व्यापार-केन्द्र थे और उद्योग-धन्धो के केन्द्र भी थे। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि इंग्लैण्ड और यूरुप की अपेक्षा शहरी आबादी की जरूरतें पूरी करने के लिए १६वी-१७वी सदियों के भारत मे बिकाऊ माल का उत्पादन अधिक होता था। यह बिकाऊ माल किसी एक सूबे या प्रदेश के लिए ही जरूरी न था, विभिन्न प्रदेशो में व्यापार के द्वारा बिकाऊ माल का विनिमय होता था, और यह माल एशिया और यूरुप के बाज़ारो के लिए भी तैयार किया जाता था। यह स्वाभाविक था कि कुछ क्षेत्र कुछ खास चीज़ें पैदा करें और दूसरे प्रदेशो को भेजें। इसका असर खेती पर पड़ा। बड़े-बड़े इलाको में ऐसी चीज़ो की खेती होती थी जो निर्यात-व्यापार के ही काम आती थी।

(ख) बिकाऊ माल का उत्पादन और इजारेदारी

इरफान हबीब ने लिखा है कि जिन्हें आजकल 'कैश क्रौप' कहते हैं, वे मुगलकाल में लगभग वही थी जो अब हैं। इन्हें जिन्स-ए-कामिल या जिन्स-ए-आला कहते थे और ये बिक्री के लिए होती थी। इनमें कपास और गन्ने की खेती मुख्य थी। खानदेश मे कपास की उपज विशेष रूप से होती थी किन्तु सामान्य रूप मे सारे उत्तर भारत में कपास की खेती होती थी। बंगाल में कपास की खेती समाप्त हो गयी किन्तु मुगल काल मे होती थी। इरफान हबीब का अनुमान है कि भौगोलिक दृष्टि से १६वीं सदी मे कपास की खेती का इलाका बहुत संकुचित हो गया। बंगाल मे गन्ने की उपज भी खूब होती थी। बंगाल की शक्कर ऊँचे दर्जे की मानी जाती थी और परिमाण के विचार से उसकी पैदावार काफी थी। पटसन की खेती

का पतन होने के बाद यहाँ रूई की खेती में कमी हुई। आगरे से लाहौर तक का क्षेत्र रूई की खेती के लिए प्रसिद्ध था। आगरे के निकट बयाना के क्षेत्र में सबसे अच्छी किस्म के नील की खेती होती थी। गुजरात और अजमेर के आसपास साधारण किस्म की नील पैदा की जाती थी। कपास, गन्ना और नील, कच्चे-माल इन तीन चीज़ों के लिए ऐसे क्षेत्र बन गये थे जहाँ इन्हीं की पैदावार अधिक होती थी। यह स्वाभाविक था कि ऐसे क्षेत्रों के लोग खाने-पीने का सामान दूसरे इलाकों से प्राप्त करें। इरफ़ान हबीब के अनुसार खाद्य सामग्री का आयात सबसे अधिक गुजरात में होता था। गेहूँ तथा दूसरी खाद्य सामग्री उसे मालवा और अजमेर से मिलती थी; दक्षिण से चावल आता था। इसके बदले गुजरात अन्य प्रदेशों को कपास का निर्यात करता था। सूरत और बुरहानपुर के बीच की कपास पैदा की जाती थी; इसके व्यापार का मुख्य केन्द्र था आगरा। आगरे से कपास और सूत बंगाल से लेकर ईरान की खाड़ी और लालसागर के बन्दरगाहों तक पहुँचाया जाता था। गुजरात की कपास पूरब और मछलीपट्टम को भी भेजी जाती थी। मजे की बात है कि जहाँ इतने बड़े पैमाने पर कपास का उत्पादन होता, वहाँ खाद्य सामग्री दूसरे प्रदेशों से मँगानी पड़ती। दूसरे प्रदेश काफ़ी मात्रा में ऐसी सामग्री केवल बिक्री के लिए पैदा करते। इसका अर्थ यह हुआ कि बिकाऊ माल का उत्पादन केवल शहरों में नहीं होता, उसका उत्पादन गाँवों में भी होता है। लाहौर के बाज़ार में मुरादाबाद और सरहिन्द से चावल पहुँचता था। कश्मीर में नमक दूसरे प्रदेशों से पहुँचता था। सूती कपड़ा भी वहाँ दूसरे प्रदेशों से पहुँचता था। पूर्वी प्रदेशों से गेहूँ, चावल, घी आगरे में आता था। कहते हैं कि इस आयात व्यापार के बिना आगरे के लोग जीवित न रह पाते। बंगाल और पटना से वहाँ शक्कर आती थी और बंगाल को नमक आगरे से जाता था। शक्कर, गेहूँ आदि बहुत-सी चीज़ें गुजरात को आगरा होकर भेजी जाती थीं। आगरे के व्यापारिक महत्त्व का एक कारण नील की खेती थी। 'दुनिया में सबसे अच्छी नील [आगरे के] पड़ोस में होती थी। यह भारत के सब हिस्सों को भेजी जाती थी। इसके अलावा इसके लिए एक अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार भी था। पहले मछलीपट्टम के सौदागरों को बेचने के लिए लोग नील ढोकर लाहौर ले जाते थे। जब सूरत से समुद्री व्यापार का चलन हुआ, तब आगरा उसकी एकमात्र नहीं तो मुख्य मण्डी बन गया। सूरत का यह व्यापार १७वीं सदी के आरम्भ में बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। इसके बाद इसका ह्रास हुआ।" (पृष्ठ ३२-३३)। ह्रास का कारण बताते हुए लिखा है कि वेस्ट इण्डीज़ में गुलामों से खेती कराने से वहाँ का नील सस्ता पड़ता था। जो भी हो, नील का व्यापार इस बात का उदाहरण है कि आगरा जैसा शहर राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से जुड़ा हुआ था और उस व्यापार का प्रभाव खेती पर पड़ रहा था।

व्यापारिक पूँजीवाद की एक प्रवृत्ति है इजारा कायम करने की। इस इजारेदारी की एक मिसाल अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी। यह प्रवृत्ति भारत में थी और मुग़ल शासक अनेक चीज़ों के व्यापार का इजारा अपने पास रखते थे। इरफ़ान हबीब कहते हैं कि जहाँ किसान अच्छी किस्म की नील की खेती करते थे,

खेती का काफी हिस्सा ऐसा था जिसका सम्बन्ध बाजार से था, जो शहरों में खपत के लिए ही पैदा किया जाता था। इरफान हबीब ने यहाँ सही नतीजा निकाला है कि खेती की कुल उपज का काफी बडा हिस्सा शहरो में खप जाता होगा, "और बहुत थोड़े गाँव ऐसे रह गये होगे, जिन पर शहरी बाजार के खिंचाव का असर न पड़ा हो।" (पृष्ठ ७७)। जहाँ भी ऐसे बड़े-बडे नगर होगे, वहाँ कृषि-तन्त्र शहरों से अलग-थलग एक स्वायत्त व्यवस्था के रूप में टिका नही रह सकता। १६वी-१७वी सदियो के उत्तर भारत के इतिहास का यह अकाट्य तथ्य है कि अधिकांश गाँव शहरी बाजार से जुड गये थे।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि शहरो को खाने का सामान तो गाँव से मिलता था किन्तु पहनने का सामान वे खुद अपने यहाँ तैयार करते थे। शहरों में बना हुआ माल देहात मे बिके चाहे न बिके, महत्वपूर्ण बात यह है कि शहरो मे उद्योग-धन्धे, गाँव से अलग, स्वतन्त्र रूप से चालू थे। 'पूँजी' के तीसरे खण्ड में सौदागरी पूँजी की चर्चा करते हुए मार्क्स ने बताया है कि जैसे ही शहरी उद्योग-धन्धे ग्रामीण उद्योग-धन्धों से अलग होते हैं, वैसे ही इन शहरी उद्योग-धन्धों की उपज बिकाऊ माल का रूप ले लेती है और इस तरह बिक्री के लिए उसे व्यापार के माध्यम की जरूरत होती है। पूँजीवादी व्यवस्था का आधार है बिकाऊ माल का उत्पादन। यह उत्पादन पहले छोटे पैमाने पर शुरू होता है, फिर बड़े उद्योग-धन्धों का रूप लेता है। उत्तर भारत के नगर १६वी-१७वी सदियो मे यूरुप और इंग्लैण्ड के नगरो से बड़े थे। ये व्यापार-केन्द्र थे और उद्योग-धन्धो के केन्द्र भी थे। इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत न होगा कि इंग्लैण्ड और यूरुप की अपेक्षा शहरी आबादी की जरूरतें पूरी करने के लिए १६वीं-१७वीं सदियों के भारत में बिकाऊ माल का उत्पादन अधिक होता था। यह बिकाऊ माल किसी एक सूबे या प्रदेश के लिए ही जरूरी न था, विभिन्न प्रदेशो मे व्यापार के द्वारा बिकाऊ माल का विनिमय होता था, और यह माल एशिया और यूरुप के बाजारों के लिए भी तैयार किया जाता था। यह स्वाभाविक था कि कुछ क्षेत्र कुछ खास चीजें पैदा करें और दूसरे प्रदेशो को भेजें। इसका असर खेती पर पड़ा। बड़े-बड़े इलाकों में ऐसी चीजों की खेती होती थी जो निर्यात-व्यापार के ही काम आती थीं।

(ख) बिकाऊ माल का उत्पादन और इजारेदारी

इरफ़ान हबीब ने लिखा है कि जिन्हे आजकल 'कैश क्रौप' कहते हैं, वे मुगलकाल मे लगभग वही थी जो अब हैं। इन्हे जिन्स-ए-कामिल या जिन्स-ए-आला कहते थे और ये बिक्री के लिए होती थी। इनमें कपास और गन्ने की खेती मुख्य थी। खानदेश मे कपास की उपज विशेष रूप से होती थी किन्तु सामान्य रूप से सारे उत्तर भारत मे कपास की खेती होती थी। बंगाल में कपास की खेती समाप्त हो गयी किन्तु मुगल काल में होती थी। इरफ़ान हबीब का अनुमान है कि भौगोलिक दृष्टि से १६वी सदी में कपास की खेती का इलाका बहुत संकुचित हो गया। बगाल में गन्ने की उपज भी खूब होती थी। बंगाल की शक्कर ऊँचे दर्जे की मानी जाती थी और परिमाण के विचार से उसकी पैदावार काफी थी। पटसन की खेती

का चलन होने के बाद वहाँ गन्ने की खेती में कमी हुई। आगरे से लाहौर तक का क्षेत्र गन्ने की खेती के लिए प्रसिद्ध था। आगरे के निकट बयाना के क्षेत्र मे सबसे अच्छी किस्म के नील की खेती होती थी। खुर्जा और अलीगढ़ के आसपास साधारण किस्म की नील पैदा की जाती थी। कपास, गन्ना और नील, कम-से-कम इन तीन चीज़ों के लिए ऐसे क्षेत्र बन गये थे जहाँ इन्ही की पैदावार अधिक होती थी। यह स्वाभाविक था कि ऐसे क्षेत्रों के लोग अपने खाने का सामान दूसरे इलाको से प्राप्त करें। इरफान हबीब के अनुसार खाद्य सामग्री का आयात सबसे अधिक गुजरात मे होता था। गेहूँ तथा दूसरी खाद्य सामग्री उसे मालवा और अजमेर से मिलती थी, दक्षिण से चावल आता था। इसके बदले गुजरात अन्य प्रदेशों को कपास का निर्यात करता था। सूरत और बुरहानपुर के बीच जो कपास पैदा की जाती थी, उसके व्यापार का मुख्य केन्द्र था आगरा। आगरे से कपास और सूत केरल से लेकर ईरान की खाडी और लालसागर के बन्दरगाहों तक पहुँचाया जाता था। गुजरात की कपास यूरुप और मध्यपूर्व को भी भेजी जाती थी। मानी बात है कि जहाँ इतने बडे पैमाने पर कपास का उत्पादन होगा, वहाँ खाद्य सामग्री दूसरे प्रदेशों से मँगायी जायगी। दूसरे प्रदेश काफी मात्रा में ऐसी सामग्री केवल बिक्री के लिए पैदा करेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि बिकाऊ माल का उत्पादन केवल शहरों मे नही होता, उसका उत्पादन गाँवों में भी होता है। लाहौर के बाज़ार में मुरादाबाद और सरहिन्द से चावल पहुँचता था। कश्मीर में नमक दूसरे प्रदेशों से पहुँचता था। सूती कपड़ा भी वहाँ दूसरे प्रदेशों से पहुँचता था। पूर्वी प्रदेशों से गेहूँ, चावल, घी आगरे मे आता था। कहते है कि इस आयात व्यापार के *बिना आगरे के लोग जीवित न रह पाते*। बंगाल और पटना से वहाँ शक्कर आती थी और बंगाल को नमक आगरे से जाता था। शक्कर, गेहूँ आदि बहुत-सी चीजें गुजरात को आगरा होकर भेजी जाती थी। आगरे के व्यापारिक महत्व का एक कारण नील की खेती थी। "दुनिया मे सबसे अच्छी नील [आगरे के] पड़ोस मे होती थी। यह भारत के सब हिस्सों को भेजी जाती थी। इसके अलावा उसके लिए एक अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार भी था। पहले मध्यपूर्व के सौदागरों को बेचने के लिए लोग नील ढोकर लाहौर ले जाते थे। जब यूरुप से समुद्री व्यापार का चलन हुआ, तब आगरा इसकी एकमात्र नही तो मुख्य मण्डी बन गया। यूरुप का यह व्यापार १७वी सदी के आरम्भ में बहुत ही महत्वपूर्ण था। उसके बाद उसका ह्रास हुआ।" (पृष्ठ ७२-७३)। ह्रास का कारण बताते हुए लिखा है कि वेस्ट इण्डीज़ मे गुलामों से खेती कराने से वहाँ का नील सस्ता पडता था। जो भी हो, नील का व्यापार इस बात का उदाहरण है कि आगरा जैसा शहर राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से जुड़ा हुआ था और इस व्यापार का प्रभाव खेती पर पड़ रहा था।

व्यापारिक पूँजीवाद की एक प्रवृत्ति है इजारा कायम करने की। इस इजारेदारी की एक मिसाल अंग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी। यह प्रवृत्ति भारत में थी और मुगल शासक अनेक चीज़ों के व्यापार का इजारा अपने पास रखते थे। इरफ़ान हबीब कहते हैं कि जहाँ किसान अच्छी किस्म की नील की खेती करते थे,

वहाँ उन तक नील के व्यापारी पहुँचते होंगे। "लेकिन यह बहुत सम्भव है कि बहुत से किसान खुले बाजार तक पहुँच ही न पाते होंगे। जिनसे वे कर्ज लेते थे, उन्हें वे ठेके की शर्तों के अनुसार अपना माल बेचने पर मजबूर होते थे। कर्ज देनेवाले चाहे सौदागर हों, चाहे गाँव के महाजन हों, नतीजा वही होता था कि किसान को जो कीमत मिलनी चाहिए थी, वह न मिलती थी।" (पृष्ठ ७८)। जब कोई महाजन या सौदागर किसान को कर्ज देकर माल पैदा कराता है, ठेके की शर्तों के अनुसार उसे अपना माल बेचने पर मजबूर करता है, तब सामन्ती व्यवस्थावाली उत्पादन-पद्धति समाप्त होने लगती है और पूँजीवादी व्यवस्थावाली उत्पादन-पद्धति शुरू हो जाती है।

१६२८ में बयाना के पास अंग्रेज नील की खेती करनेवाले किसानों को पेशगी रुपया दे देते थे। बाजार भाव साढ़े छत्तीस रुपये मन का था। अंग्रेज साढ़े चौबीस रुपये मन के हिसाब से नील खरीदते थे। (पृष्ठ ७८, पादटिप्पणी १५)। यह पूँजीवादी पद्धति की प्रारम्भिक अवस्था का उदाहरण है। सूरत के पास देशी व्यापारी, अंग्रेजों के दलालों से मिलकर, गाँववालों को सड़ा अनाज देते थे और उसके बदले में सूत खरीदते थे। (उप.)। यहाँ भी पहले से अनाज देकर व्यापारी माल पर अपना अधिकार जमा लेता है। बात इधर-उधर कुछ व्यापारियों की न थी। मुगल शासक वर्ग को व्यापार से गहरी दिलचस्पी थी। कभी-कभी स्थानीय अधिकारी किसान को मजबूर करते थे कि वह एक ही गाहक या गाहकों के गुट के हाथ अपना माल बेचे। उद्देश्य यह था कि उस माल की उपज पर अधिकारी अपना इजारा कायम कर लें। (पृष्ठ ७९)। १६३३ में तीन साल के लिए सारे राज्य में बादशाह ने नील पर इजारा कायम किया। आगरा सूबे के किसानों ने इजारे का विरोध करने के लिए अपने पौधे उखाड़ डाले। परिणाम यह हुआ कि तीन साल की अवधि पूरी किये बिना बादशाह को इजारा खत्म करना पड़ा। (पृष्ठ ८०)। इजारे की प्रवृत्ति पूँजीवाद के साथ उसके जन्म-काल से जुड़ी रहती है। यह प्रवृत्ति बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कारनामों से जाहिर थी, पर उसमे पहले यही प्रवृत्ति औरंगजेब के शासन में भी दिखायी दी थी। नील की खेती पर इजारा उसकी बिक्री से अधिक मुनाफा कमाने के उद्देश्य से कायम किया गया था। बिक्री के लिए नील की खेती कराना, उस पर इजारा कायम करना, यह पूँजीवाद है। इजारे के विरोध में जिन किसानों ने अपने पौधे उखाड़ फेंके, उन्होंने भारत में पूँजीवाद-विरोधी संघर्ष की शुरूआत की।

औरंगजेब ने अपने शासन के आठवें साल में गुजरात के दीवान के नाम एक फ़रमान जारी किया था जिसमें सेठों के गलत कामों का उल्लेख था। हाकिम, सेठ और देसाई (गाँव के मुखिया) गुजरात के ज्यादातर परगनों में दूसरों को नयी फ़सल का गल्ला खरीदने नहीं देते। पहले वे खुद खरीद लेते हैं; जो सड़ा गल्ला होता है, वह अच्छे माल के भाव पर व्यापारियों को जबर्दस्ती बेचते हैं और दाम अच्छे माल के वसूल करते हैं। अहमदाबाद के आसपास और कुछ दूसरे परगनों में कुछ लोगों ने चावल की खरीद-फ़रोख्त पर इजारा कायम कर लिया है। उनकी अनुमति के बिना कोई भी न चावल खरीद सकता है और न बेच सकता है।

१६४७ में अहमदाबाद के अंग्रेज शिकायत कर रहे थे कि सूबेदार शाइस्ता खाँ चाहता है कि यहाँ का एकमात्र व्यापारी वही हो। यदि उसे सारी नील की उपज हथियाने में सफलता मिली, तो हो सकता है कि कुछ दिन में हमें (अंग्रेज़ों को) उससे चावल और मक्खन भी खरीदना पड़े। इसके बाद शाइस्ता खाँ बंगाल गया। उसके प्रशंसकों का कहना था कि बंगाल के हाकिमों ने खाने-पहनने की तमाम चीज़ों पर अपना इजारा कायम कर रखा था और जिस भाव चाहते थे, उस भाव बेचते थे। शाइस्ता खाँ ने हुक्म दिया कि जो व्यक्ति भी चाहे, वह माल बेचे, और जो चाहे वह खरीदे। किन्तु अंग्रेज़ों को शिकायत थी कि शाइस्ता खाँ के अफसर बिकाऊ चीज़ों पर अपना इजारा यहाँ तक कायम किये हैं कि घासफूस, ईंधन और चारे पर भी उनका इजारा है और जो भी व्यापार करना चाहता है, वह चाहे देशी हो या विलायती, वे उसे सताते हैं। (पृष्ठ ८०, पादटिप्पणी २३)। शाइस्ता खाँ ने अपने कारनामों में उसी प्रवृत्ति का परिचय दिया था जिसका परिचय अंग्रेज़ अपनी कार्रवाई से दे रहे थे या देनेवाले थे। शाइस्ता खाँ के विरुद्ध उनकी शिकायत देशी इजारेदार के खिलाफ विदेशी इजारेदार की शिकायत थी।

उत्तर भारत में घरेलू बाज़ार का निर्माण किस तरह हो रहा था और किसान किस तरह उससे सम्बद्ध हो रहे थे, उसका एक प्रमाण यह है कि आगरा सूबे में विदेशी सौदागरों को यह छूट दी गयी थी कि वे चाहे तो स्थानीय व्यापारियों से माल खरीदें और चाहें तो सीधे किसानों से खरीदें (पृष्ठ ८१, पादटिप्पणी २५)। औरंगज़ेब के शासनकाल के आरम्भ में अनाज की कमी हुई, तो दिल्ली के लोग गाँवों में जा-जाकर उसे ख़रीदने लगे। (उप.)। जिन लोगों ने दिल्ली जैसे शहर को अनाज बेचा होगा, उन्होंने खाने-खरचने से बचा हुआ थोड़ा-सा गल्ला न बेचा होगा वरन् बिक्री के लिए काफी गल्ला पैदा किया होगा। यह सही है कि गल्ले की बिक्री में जो पैसा मिलता था, उसका काफी हिस्सा मालगुज़ारी के रूप में सरकार को दे दिया जाता था किन्तु जिस तरह कुछ क्षेत्रों में खासतौर से बिक्री के लिए नील या गन्ने की खेती होती थी, उससे अनुमान यह होता है कि मालगुज़ारी जमा करने के बाद उत्पादक या व्यापारी के पास काफ़ी पैसा बच जाता था। मुगलकाल में व्यापारियों और साहूकारों का एक बहुत बड़ा वर्ग था। किसान की कमाई एक ओर सरकारी अफसरों और शासकों को प्राप्त होती थी, दूसरी ओर उसका बहुत बड़ा भाग इन व्यापारियों को मिलता था। व्यापारियों की समृद्धि का कारण ही यह था कि वे किसान से बिकाऊ माल पैदा कराके मुनाफा कमाते थे। किसान की श्रमशक्ति का पूँजीवादी शोषण आरम्भ हो गया था; इजारेदार व्यापारी, महाजन और साहूकार किसान के श्रम के बल पर करोड़पति बन रहे थे।

(ग) घरेलू बाज़ार और कृषितन्त्र

इरफ़ान हबीब ने इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि बाज़ार में जैसी माँग होती थी, उसी के अनुरूप किसान खेती करते थे। १६३०-३२ में अकाल पड़ा। जो किसान पहले कपास की खेती करते थे, वे अब खाद्य सामग्री के लिए खेती

करने लगे क्योंकि इस समय अनाज बेचने से ज्यादा कीमत मिलती थी। (पृष्ठ ८१)। इस सिलसिले में तम्बाकू की खेती भी उल्लेखनीय है। तम्बाकू भारत के लिए नयी चीज़ थी किन्तु एक बार चलन होने पर उसकी खेती भी होने लगी। बाजार में तम्बाकू की कितनी माँग होगी, इसका अनुमान लगाकर किसान खेती करते थे। (उप.)। जिस देश मे केवल खाने-खरचने के लिए खेती होती है, जिसमें गाँवों का अर्थतन्त्र अपने मे पूर्ण, शहर से स्वतन्त्र होता है, उसमें इस तरह बड़े पैमाने पर तम्बाकू जैसे पदार्थ की खेती हो ही नही सकती।

यह भी ध्यान देने की बात है कि मुगलकाल मे जितने बडे क्षेत्र मे कपास और गन्ने की खेती होती थी, उतने बडे क्षेत्र मे अंग्रेज़ी राज में न होती थी। (पृ. ६०, पादटिप्पणी ११)। गन्ना और कपास की खेती मुख्यत: बिक्री के लिए होती थी। भौगोलिक दृष्टि से खेती का इलाका अंग्रेजी राज की तुलना में पहले बड़ा था, यह तथ्य अपने आपमे महत्वपूर्ण है। उससे पता चलता है कि भारत के पूँजीवादी विकास को अंग्रेजों ने कितनी जबर्दस्त क्षति पहुँचायी। इस बात के आँकडे नही हैं कि व्यापारी कुल कितना माल एक जगह से दूसरी जगह ले जाते थे। इरफ़ान हबीब कहते हैं, "फिर भी यह साफ संकेत मिलता है कि दूर के बाजारो के लिए उत्पादन उस समय की भारतीय खेती का महत्वपूर्ण पहलू था। बडे-बडे प्रदेशों मे खाद्यान्न की फसलें भी दूर-दूर के व्यापार की आवश्यकताओं मे प्रभावित होती थी, विशेष रूप से बगाल से जिन चीजों का निर्यात होता था और गुजरात में जिन चीजो का आयात होता था, उनसे इस बात का पता चलता है। यह बात स्वभावत: उन फसलों के लिए और भी सही है जो बिक्री के लिए ही होती थीं और उन खास इलाकों के लिए सही है जो चीजों की उम्दा किस्म पैदा करने के लिए विख्यात थे जैसे कि नील के लिए बयाना और सरखेज, केसर के लिए कश्मीर। इसलिए व्यापार पर साधारण किसान की निर्भरता निस्सन्देह बहुत ज्यादा रही होगी।" (पृ. ७५)।

घरेलू बाजार के निर्माण के लिए माल ढोने की व्यवस्था का होना बहुत जरूरी है। भारत के बंजारे भारी मात्रा मे माल ढोने में सबसे आगे थे। उनके एक-एक गिरोह मे ६००-७०० आदमी होते थे, माल ढोने के लिए १२,००० से २०,००० तक बैल होते थे। इनके जरिये वे १६०० से लेकर २७०० टन तक माल एक बार में ढो सकते थे। जब किसी बड़ी फौज के लिए माल ढोना होता था, तो वे एक लाख बैल तक जुटा लेते थे। (पृष्ठ ६२)। इरफ़ान हबीब के अनुसार प्रतिवर्ष वे जितना सामान ढोते थे, वह इतना होता था कि उसकी तौल लाखों टन में की जा सकती थी। (पृष्ठ ६३)। इस तरह माल ढोने मे खर्च भी कम पड़ता था। माल ढोनेवाले बंजारे रास्ते मे बैलो को चराते जाते थे, इसलिए चारे-भूसे पर उन्हें अलग से पैसा न खर्च करना पड़ता था। (पृष्ठ ६३, पादटिप्पणी ८)।

माल ढोने का काम सबसे ज्यादा नदियों से होता था और बंजारो की ढुलाई से भी सस्ता होता था। बंगाल, सिन्ध और कश्मीर मे नावों से माल ढोया जाता था। सिन्ध मे छोटी-बड़ी ४० हज़ार नावें माल ढोती थी, कश्मीर में ३० हज़ार

नावें इस काम के लिए थी। (पृष्ठ ६३, पादटिप्पणी १२-१३)। आगरे से ३०० से ५०० टन तक माल लादकर बड़े-बड़े बजरे जमुना और गंगा के मार्ग से पटना और बंगाल पहुँचते थे। एक लेखक के अनुसार पटना और हुगली के बीच चलनेवाली एक-एक नाव १३० से लेकर २०० टन तक वजन लादकर चलती थी। आगरे की तरह लाहौर और मुल्तान भी बन्दरगाह थे जहाँ से माल लादकर नावें सिन्ध जाती थी। इरफ़ान हबीब के अनुसार आगरे से बंगाल को दस हज़ार टन तो नमक ही हर साल भेजा जाता था। इससे पता चलता है कि नदियों से बहुत बड़े पैमाने पर माल ढोने का काम होता था। समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों में जहाज भी माल ढोने का काम करते थे। मुख्य चीज़ है माल का ढोया जाना। कितना माल ढोया जाता है, वह साधारण आदमियों के काम आता है या इत्र या रेशम की तरह बड़े आदमियों के लिए ही होता है, इस पर निर्भर है कि घरेलू बाजार का निर्माण कहाँ तक हुआ है। इरफ़ान हबीब ने जो तथ्य दिये हैं, उनसे स्पष्ट है कि साधारण आदमियो के खाने-पीने की चीजें बड़े पैमाने पर दूर-दूर तक भेजी जाती थी। उन्होने ठीक हीलिखा है कि जिन गाँवों में बिक्रीवाली फसलें उगायी जाती थी, उनमे खाने-पीने का सामान बाहर से ही आता होगा। नमक, गुड़, तेल या घी जैसी चीजें सभी गाँवों की आवश्यक मात्रा में अपने यहाँ सुलभ न हो सकती थी। इसलिए शहरी व्यापार से अलग देहाती व्यापार का विकास भी हो रहा था।

मुगल शासकों ने मालगुजारी वसूलने के लिए बहुत से गाँवो की नाप-जोख कर ली थी। कुछ सूबों मे सभी गाँवों की या ज्यादातर गाँवों की नाप-जोख हो गयी थी, कुछ में कम की हुई थी। सम्भव है कि जिनसे आमदनी ज्यादा होती थी या हो सकती थी, उनकी नाप-जोख पहले की गयी हो। औरंगज़ेब के समय मे आगरा सूबे के लगभग सभी गाँवों की नाप-जोख हो चुकी थी। १९०९-१० में इस इलाके मे खेती की जितनी जमीन थी, औरंगजेब के समय मे, उसी इलाके में, खेती की जमीन इसका ५/६ थी। अंग्रेजों के शासनकाल मे जंगल आदि साफ करने के बाद केवल १/६ कृषिभूमि बढ़ी थी। किन्तु १८८१ और उसके बाद के आँकड़ों मे जितने गाँवों की सख्या का पता चला, उसकी तुलना में औरगज़ेब के समय में एक तिहाई गाँव ज्यादा थे। (पृष्ठ १४)। इससे नतीजा यह निकलता है कि आबादी बढ़ने के साथ-साथ अकाल और भुखमरी के कारण गाँवों की सख्या कम भी हुई। दिल्ली के सूबे में हरियाणा, रुहेलखण्ड और दोआब का ऊपरी हिस्सा शामिल थे। *औरंगज़ेब के समय में यहाँ के भी प्राय: सभी गाँवों की पैमाइश हो गयी थी।* मज़ेदार बात यह है कि अकबर के समय से औरंगज़ेब के समय तक खेती का इलाका लगभग एक-तिहाई बढ़ गया था। १९०९-१० में यहाँ जितने क्षेत्र में खेती होती थी, पुराना कृषि-क्षेत्र उसका ४/५ था। १८८१ में जितने गाँव थे, उनकी तुलना में औरंगज़ेब के समय में वहाँ डेढ़ गुने गाँव ज्यादा थे। इसी प्रकार १८८१ की तुलना मे इलाहाबाद के सूबे मे एक तिहाई गाँव ज्यादा थे और अवध मे ड्योढ़े थे।

खाने-पीने की चीजों मे फलों का स्थान महत्वपूर्ण था। किसानों के अपने बाग थे और इन बागों के फल वे बेचते थे। इसके सिवा अभिजात-वर्ग के लोग बाग

लगवाते थे और बागों के फल स्वयं ही न खाते थे वरन् उन्हें बेचते भी थे। औरंगजेब के शासन के आठवें साल एक फ़रमान में कहा गया था कि हाकिम और सरकारी कर्मचारी अपने बागों में और सरकार के बागों में साग और फल उगाते हैं और दुगने दाम पर व्यापारियों को बेच देते हैं और उनसे जबर्दस्ती दाम वसूल करते हैं। उस समय व्यापार की जो व्यापक प्रवृत्ति थी, उसके अनुरूप ही बिक्री के लिए बाग लगाने का काम था। जहाँ व्यापार से मुनाफ़ा कमाने की बात होगी, वहाँ जखीरेबाज़ी भी होगी। व्यापारियों ने अन्दाज लगाया कि खाद्यान्न की कमी होगी। उसे उन्होंने गोदामों में भर लिया। आगरा सूबे में १६५७ में बहुत अच्छी फसल हुई। इसकी आशा न थी। व्यापारियों ने गल्ला, शक्कर और कपास की जखीरेबाज़ी की थी। अच्छी फसल होने के बाद उन्हें लगा कि अब अपनी चीज़ों के लिए लागत का एक-तिहाई मूल्य भी न मिलेगा। (पृ. ७९, पादटिप्पणी २२)।

इरफ़ान हबीब ने जितने तथ्य दिये हैं, उनसे घरेलू बाज़ार के निर्माण का पता चलता है, *बड़े पैमाने पर बिक्री के लिए माल पैदा किया जाता था,* इस बात का पता चलता है। जो माल कारीगर शहरों में बनाते थे, यहाँ उसकी चर्चा नहीं है। व्यापार का इतना विकास हुआ था कि दूर-दूर तक शहर और गाँव एक ही बाज़ार से जुड़ गये थे। किन्तु इरफान हबीब का कहना है, "आज का सुगठित जातीय बाज़ार (नैशनल मार्केट) रेलों की देन है।" (पृष्ठ ६१)। माल रेलों से ढोया जाता है या नावों और बैलों से, यह बात महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कितना माल ढोया जाता है, यह माल किस तरह का है और कितने गाँव और शहर इसमें परस्पर जुड़ते हैं। अंग्रेजों ने भारत को अपने कारखानों के लिए कच्चा माल देनेवाला देश बनाकर यहाँ के घरेलू बाज़ार का नाश किया, उसका निर्माण नहीं किया।

एक बात ध्यान देने की यह है कि इंग्लैण्ड में जब वहाँ के जातीय बाज़ार का निर्माण हुआ, तब रेलों का चलन न हुआ था। फ्रांस, इटली, रूस आदि अनेक देशों की यह स्थिति है। इसका कारण यह है कि रेलों का चलन पूँजीवाद की दूसरी मंजिल में होता है, औद्योगिक क्रान्ति के दौरान होता है, भाप से चलनेवाली मशीनों का प्रयोग होने पर रेलमार्गों का निर्माण होता है। किन्तु घरेलू बाज़ार का निर्माण पूँजीवाद की पहली मंजिल में होता है, *व्यापारिक पूँजीवाद के युग में* होता है, उस समय होता है जिस समय माल ढोने और ले जाने के पुराने तरीके ही चालू होते हैं। भारत में १९वीं सदी से पहले रेलों का निर्माण नहीं हुआ, इससे यह साबित नहीं होता कि यहाँ घरेलू बाज़ार का निर्माण न हुआ था।

एक प्रदेश का बाज़ार-भाव दूसरे प्रदेश के बाज़ार-भाव पर कैसे असर डालता है, इसके उदाहरण हबीब की पुस्तक में हैं। और ये प्रमाण किसी एक प्रदेश में नहीं वरन् विभिन्न प्रदेशों के बीच एक राष्ट्रीय बाज़ार के निर्माण की सूचना देते हैं। सोलहवीं सदी को देखते सत्रहवीं सदी में खाने-पीने की चीजों की कीमतें बढ़ीं; इनमें शक्कर भी थी। मुगल साम्राज्य के केन्द्रीय भाग में, हिन्दुस्तान में, शक्कर की कीमत चालीस फीसदी बढ़ गयी। गुजरात में शक्कर आगरे से पहुँचती थी। १६२२ में *अहमदाबाद* में शक्कर बहुत महँगी बिक रही थी। सूरत में अंग्रेज़ों को

महँगाई से निपटने के लिए नीचे आगरे से शक्कर मँगानी पड़ी; जब देखा कि वह भी महँगी पड़ती है, तब उन्होंने बंगाल से मँगाने का फैसला किया। सबसे सस्ती शक्कर बंगाल में मिलती थी और वह उम्दा भी होती थी। आगरे की मण्डी में भी बंगाल से शक्कर आती थी। किन्तु जिस समय गुजरात और हिन्दी प्रदेश में शक्कर का भाव चढ़ रहा था, उस समय बंगाल में भी उसका भाव चढ़ा। "शताब्दी के आरम्भ में बंगाल का भाव भी चढ़ा और गुजरात तथा केन्द्रीय प्रदेश के भाव तक पहुँच गया।" (पृष्ठ ८६)। यदि शक्कर जैसी चीज का भाव बंगाल से लेकर गुजरात तक एक साथ चढ़ता-उतरता है तो यह घरेलू बाजार के निर्माण का बहुत बड़ा प्रमाण है।

यातायात की सुविधा के लिए यह बहुत जरूरी है कि डाकुओं और लुटेरों से मार्ग सुरक्षित रहें। मुगल काल में व्यापार की उन्नति का बहुत बड़ा कारण बड़े-बड़े राजमार्गों का सुरक्षित रहना था। किसी हाकिम के इलाके में माल लूटा जाये तो उसे लुटेरों को ढूँढकर माल वापस करना होता था और ऐसा न कर पाये तो उसका मूल्य उसे चुकाना होता था। मैदानों में सुरक्षा अधिक हो और दुर्गम स्थानों में कम हो, यह स्वाभाविक है। "फिर भी कुल मिलाकर जो तस्वीर बनती है, खासतौर से भारत में यूरोपियन व्यापारियों के अनुभव से जो तस्वीर बनती है, वह यह है कि इक्का-दुक्का यात्री को भले ही जोखिम का सामना करना पड़ता हो, मुगल साम्राज्य के अधिकांश क्षेत्र में काफिलोंवाला व्यापार काफी सुरक्षा के साथ सम्पन्न होता था।" (पृष्ठ ६९)। यदि उस समय इंग्लैण्ड या यूरप के अन्य देशों के राजमार्गों और उन पर ढोये जानेवाले माल का विवरण पढ़ें, तो पता चलेगा कि लूटपाट वहाँ कुछ ज्यादा ही होती थी, भारत की अपेक्षा कम नहीं।

व्यापार की उन्नति में बीमा-सम्बन्धी व्यवस्था का बड़ा योगदान था। बीमा शब्द यहाँ १७वीं सदी में प्रचलित था और सुजानराय ने अपनी पुस्तक में उसका प्रयोग किया था। (पृष्ठ ७०, पादटिप्पणी ४६)। जो सामान ढोया जाता था, उसका बीमा कर दिया जाता था। यदि सामान लुट जाये या किसी तरह बर्बाद हो जाये, तो बीमा करानेवाले व्यापारी को अपना पैसा मिल जाता था। बीमे के साथ उधार-व्यवस्था के चलन ने व्यापार की प्रगति में सहायता की। अंग्रेजी राज कायम हो जाने के बाद तक हुण्डियों का चलन बना हुआ था। बड़े बड़े साहूकार बैंकों का कार्य करते थे। एक जगह रुपया जमा कर दिया, दूसरी जगह पहुँचने पर हुण्डी दिखाकर साहूकार की फर्म की शाखा से रुपये वसूल कर लिये। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह कि रोजगार में जिसकी जैसी साख हुई, उसके अनुसार उसने कर्ज लिया। हुण्डियों द्वारा यह उधार-व्यवस्था दूर-दूर तक व्यापार का प्रसार कर रही थी और साहूकार ब्याज की साधारण दर पर रुपया उधार देते थे। "अंग्रेजी दस्तावेज़ों को देखने से सन्देह नहीं रह जाता कि व्यापार में हुण्डियों का प्रयोग बड़े पैमाने पर होता था। जब बड़ी रकम एक जगह से दूसरी जगह पहुँचानी होती थी, तब हुकूमत भी हुण्डियों से काम लेती थी। हुण्डियों का बाजार इतना अच्छा विकसित हो चुका था कि वास्तविक व्यवसाय के समय बहुत कम नगदी इस्तेमाल की जाती थी।" (पृष्ठ ७०, पादटिप्पणी ४५)।

लगवाते थे और बागों के फल स्वयं ही न खाते थे बरन् उन्हें बेचते भी थे। औरंगजेब के शासन के आठवें साल एक फ़रमान में कहा गया था कि हाकिम और सरकारी कर्मचारी अपने बागों में और सरकार के बागों में साग और फल उगाते हैं और दुगने दाम पर व्यापारियों को बेच देते हैं और उनसे जबर्दस्ती दाम वसूल करते हैं। उस समय व्यापार की जो व्यापक प्रवृत्ति थी, उसके अनुरूप ही बिक्री के लिए बाग लगाने का काम था। जहाँ व्यापार से मुनाफ़ा कमाने की बात होगी, वहाँ जखीरेबाजी भी होगी। व्यापारियों ने अन्दाज लगाया कि खाद्यान्न की कमी होगी। उसे उन्होंने गोदामों में भर लिया। आगरा सूबे में १६५७ में बहुत अच्छी फसल हुई। इसकी आशा न थी। व्यापारियों ने गल्ला, शक्कर और कपास की जखीरेबाजी की थी। अच्छी फसल होने के बाद उन्हें लगा कि अब अपनी चीजों *के लिए लागत का एक-तिहाई मूल्य भी न मिलेगा। (पृ. ७६, पादटिप्पणी २२)।*

इरफ़ान हबीब ने जितने तथ्य दिये हैं, उनसे घरेलू बाजार के निर्माण का पता चलता है, बड़े पैमाने पर बिक्री के लिए माल पैदा किया जाता था, इस बात का पता चलता है। जो माल कारीगर शहरों में बनाते थे, यहाँ उसकी चर्चा नहीं है। व्यापार का इतना विकास हुआ था कि दूर-दूर तक शहर और गाँव एक ही बाजार से जुड़ गये थे। किन्तु इरफ़ान हबीब का कहना है, 'आज का सुगठित जातीय बाजार (नैशनल मार्केट) रेलों की देन है।" (पृष्ठ ६१)। माल रेलों से ढोया जाता है या नावों और बैलों से, यह बात महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कितना माल ढोया जाता है, यह माल किस तरह का है और कितने गाँव और शहर इससे परस्पर जुड़ते हैं। अंग्रेज़ों ने भारत को अपने कारखानों के लिए कच्चा माल देनेवाला देश बनाकर यहाँ के घरेलू बाजार का नाश किया, उसका निर्माण नहीं किया।

एक बात ध्यान देने की यह है कि इंग्लैण्ड में जब वहाँ के जातीय बाजार का निर्माण हुआ, तब रेलों का चलन न हुआ था। फ्रांस, इटली, रूस आदि अनेक देशों की यह स्थिति है। इसका कारण यह है कि रेलों का चलन *पूँजीवाद की दूसरी* मंजिल में होता है, औद्योगिक क्रान्ति के दौरान होता है, भाप से चलनेवाली मशीनों का प्रयोग होने पर रेलमार्गों का निर्माण होता है। किन्तु घरेलू बाजार का निर्माण पूँजीवाद की पहली मंजिल में होता है, *व्यापारिक पूँजीवाद के युग में* होता है, उस समय होता है जिस समय माल ढोने और ले जाने के पुराने तरीके ही चालू होते हैं। भारत में १६वीं सदी से पहले रेलों का निर्माण नहीं हुआ, इससे यह साबित नहीं होता कि यहाँ घरेलू बाजार का निर्माण न हुआ था।

एक प्रदेश का बाजार-भाव दूसरे प्रदेश के बाजार-भाव पर कैसे असर डालता है, इसके उदाहरण हबीब की पुस्तक में हैं। और ये प्रमाण किसी एक प्रदेश में नहीं वरन् विभिन्न प्रदेशों के बीच एक राष्ट्रीय बाजार के निर्माण की सूचना देते हैं। सोलहवीं सदी को देखते सत्रहवीं सदी में खाने-पीने की चीजों की कीमतें बढ़ीं; इनमें शक्कर भी थी। मुगल साम्राज्य के केन्द्रीय भाग में, हिन्दुस्तान में, शक्कर की कीमत चालीस फीसदी बढ़ गयी। गुजरात में शक्कर आगरे से पहुँचती थी। १६२२ में अहमदाबाद में शक्कर बहुत महँगी बिक रही थी। सूरत में अंग्रेज़ों को

महँगाई से निपटने के लिए सीधे आगरे से शक्कर मँगानी पड़ी; जब देखा कि यह भी महँगी पड़ती है, तब उन्होंने बंगाल से मँगाने का फैसला किया। सबसे सस्ती शक्कर बंगाल में मिलती थी और वह उम्दा भी होती थी। आगरे की मण्डी में भी बंगाल से शक्कर आती थी। किन्तु जिस समय गुजरात और हिन्दी प्रदेश में शक्कर का भाव चढ़ रहा था, उस समय बंगाल में भी उसका भाव चढ़ा। "शताब्दी के आरम्भ में बंगाल का भाव भी चढ़ा और गुजरात तथा केन्द्रीय प्रदेश के भाव तक पहुँच गया।" (पृष्ठ ८६)। यदि शक्कर जैसी चीज का भाव बंगाल से लेकर गुजरात तक एक साथ चढ़ता-उतरता है, तो यह घरेलू बाज़ार के निर्माण का बहुत बड़ा प्रमाण है।

यातायात की सुविधा के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि डाकुओं और लुटेरों से मार्ग सुरक्षित रहें। मुगल काल में व्यापार की उन्नति का बहुत बड़ा कारण बड़े-बड़े राजमार्गों का सुरक्षित रहना था। किसी हाकिम के इलाके में माल लूटा जाये तो उसे लुटेरों को ढूँढ़कर माल वापस करना होता था और ऐसा न कर पाये तो उसका मूल्य उसे चुकाना होता था। मैदानों में सुरक्षा अधिक हो और दुर्गम स्थानों में कम हो, यह स्वाभाविक है। "फिर भी कुल मिलाकर जो तस्वीर बनती है, खासतौर से भारत में यूरोपियन व्यापारियों के अनुभव से जो तस्वीर बनती है, वह यह है कि इक्का-दुक्का यात्री को भले ही जोखिम का सामना करना पड़ता हो, मुगल साम्राज्य के अधिकांश क्षेत्र में काफिलोंवाला व्यापार काफी सुरक्षा के साथ सम्पन्न होता था।" (पृष्ठ ६९)। यदि उस समय इंग्लैण्ड या यूरुप के अन्य देशों के राजमार्गों और उन पर ढोये जानेवाले माल का विवरण पढ़ें, तो पता चलेगा कि लूटपाट वहाँ कुछ ज्यादा ही होती थी, भारत की अपेक्षा कम नहीं।

व्यापार की उन्नति में बीमा-सम्बन्धी व्यवस्था का बड़ा योगदान था। बीमा शब्द यहाँ १७वीं सदी में प्रचलित था और सुजानराय ने अपनी पुस्तक में उसका प्रयोग किया था। (पृष्ठ ७०, पादटिप्पणी ४६)। जो सामान ढोया जाता था, उसका बीमा कर दिया जाता था। यदि सामान लुट जाये या किसी तरह बर्बाद हो जाये, तो बीमा करानेवाले व्यापारी को अपना पैसा मिल जाता था। बीमे के साथ उधार-व्यवस्था के चलन ने व्यापार की प्रगति में सहायता की। अंग्रेज़ी राज कायम हो जाने के बाद तक हुण्डियों का चलन बना हुआ था। बड़े-बड़े साहूकार बैंकों का कार्य करते थे। एक जगह रुपया जमा कर दिया, दूसरी जगह पहुँचने पर हुण्डी दिखाकर साहूकार की फर्म की शाखा से रुपये वसूल कर लिये। इससे अधिक महत्वपूर्ण यह कि रोज़गार में जिसकी जैसी साख हुई, उसके अनुसार उसने कर्ज़ लिया। हुण्डियों द्वारा यह उधार-व्यवस्था दूर-दूर तक व्यापार का प्रसार कर रही थी और साहूकार व्याज की साधारण दर पर रुपया उधार देते थे। "अंग्रेज़ी दस्तावेज़ों को देखने से सन्देह नहीं रह जाता कि व्यापार में हुण्डियों का प्रयोग बड़े पैमाने पर होता था। जब बड़ी रकम एक जगह से दूसरी जगह पहुँचानी होती थी, तब हुकूमत भी हुण्डियों से काम लेती थी। हुण्डियों का बाज़ार इतना अच्छा विकसित हो चुका था कि वास्तविक व्यवसाय के समय बहुत कम नगदी इस्तेमाल की जाती थी।" (पृष्ठ ७०, पादटिप्पणी ४५)।

इरफान हबीब ने लिखा है कि परिवहन की परिस्थितियाँ ऐसी थी कि वे कीमती माल ढोने के लिए ही ज्यादा उपयुक्त थी। (पृष्ठ ७०)। गुजरात जैसा एक बड़ा प्रदेश खाद्य-सामग्री का आयात करता था। स्वाभाविक है कि यह खाद्य सामग्री बहुत बड़े पैमाने पर दूसरे प्रदेशों से गुजरात पहुँचती थी। गुजरात दरकिनार, आगरा चावल, गेहूँ और घी पूर्वी क्षेत्र से मँगाता था "जिनके बिना, यह कहा जाता था, वह अपना पेट न भर सकता था।" (पृष्ठ ७२)। यदि उत्तर भारत का सबसे बड़ा नगर आगरा अपने जनपद मे प्राप्त अन्न से अपने नागरिकों का पेट न भर सकता था वरन् इसके लिए वह पूर्वी क्षेत्र पर निर्भर था, तो इससे सिद्ध यह होता है कि कीमती चीजो के अलावा साधारण खपत की चीजें भी बड़े पैमाने पर एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश भेजी जाती थी। आगरे की इस स्थिति का बहुत बड़ा कारण उसका उद्योगधन्धों और व्यापार का केन्द्र होना था। अनेक विद्वानों के लिए १७वी सदी के शहरीकरण का अन्दाज लगाना मुश्किल है। १७वी सदी में यहाँ इतना आर्थिक विकास हो चुका था कि न केवल गाँवों और शहरों के बीच उत्पादन को लेकर विभाजन था वरन् विभिन्न प्रदेशों के बीच भी ऐसा विभाजन था। इरफान हबीव की इस स्थापना से सहमत होना कठिन है कि मुगल काल की अपेक्षा अंग्रेज़ी राज मे जो भूमि जिस तरह की खेती के लायक है, उस पर वैसी ही खेती अधिक होती थी; मुगलकाल मे मुख्य फसलें प्रायः हर प्रदेश में वहीं के खाने-खरचने के लिए होती थीं। और मुख्य जोर अनाज की फसलों पर था, इसलिए सुकाल में फालतू अन्न बेकार जाता होगा। (पृष्ठ ५६)। किस भूमि मे कौन-सी फसल उगाने से उत्पादक को अधिक लाभ होगा, मुगल राज और अंग्रेजी राज की तुलना के लिए इस विषय में बंगाल को लिया जा सकता है। भारत के सबसे समृद्ध प्रदेशो मे बंगाल था। पूर्वी बंगाल मे कपास की खेती होती थी। १८८६-८७ की एक सरकारी रिपोर्ट मे कहा गया था, "*ढाका और मैमनसिंह जिलो के* बड़े भूभाग मे पहले कपास बड़े पैमाने पर उगायी जाती थी। यह भूभाग कपास की खेती के लिए बहुत उपयुक्त था। यहाँ जो कपास उगायी जाती थी, वह दुनिया मे सबसे अच्छी कपास मानी जाती थी। इसी कपास से ढाका की मलमल तैयार होती थी। उस मशहूर मलमल की समाप्ति के बाद उस भूखण्ड मे कपास की खेती प्रायः पूरी तरह समाप्त हो गयी है।" (पृष्ठ ३९, पादटिप्पणी ३९)। अंग्रेजी राज कायम होने के बाद बंगाल मे कपास की खेती फिर कभी कहने-सुनने लायक न हुई। पूर्वी बंगाल आज निर्धनतम प्रदेश है किन्तु यहाँ की धरती मे भी वह कपास पैदा होती थी जो दुनिया मे सबसे अच्छी मानी जाती थी। बंगाल के कपड़ा उद्योग को नष्ट करना अंग्रेजों के हित मे था। कपड़ा-उद्योग नष्ट करने के साथ उन्होंने कपास की खेती नष्ट की। इसे उपयुक्त भूमि में उपयुक्त फसल उगाने का उदाहरण नही कहा जा सकता।

बंगाल मे पहले पटसन की पैदावार छोटे पैमाने पर होती थी। १९वी सदी मे "चावल और शक्कर के बदले बंगाल में पटसन की पैदावार बढ़ायी गयी और उस सूबे में जो खाद्य-सामग्री की बराबर कमी बनी रहती है, शायद उसका यही कारण है।" (पृष्ठ ४१-४२)। बंगाल की धरती उपजाऊ है, वहाँ पटसन पैदा होता

है, गेहूँ, चावल, कपास और गन्ने की उपज भी वहाँ होती थी। अ
उनके साथ कुछ देशी व्यापारियों को, पटमन की उपज से खास
परिणाम यह हुआ कि देश का अत्यन्त समृद्ध भाग निरन्तर मुखम
होने लगा। बगाल मे अब भी गन्ना पैदा होता है, पहले इतना होता थ
बाहर भेजी जाती थी। बगाल मे चावल अब भी होता है। पहले इतन
कि बाहर भी भेजा जाता था। आज किसी को विश्वास न होगा पर शा
औरंगज़ेब के जमाने मे "मक्खन [अर्थात् घी] इतने बड़े परिमाण मे बंगा
था कि आम जनता के भोजन मे प्रयुक्त होने के अलावा वह बाहर भी भे
था।" (पृष्ठ ५४)। बगाल रेशम के उत्पादन के लिए भी प्रसिद्ध था।
चीज़ों मे रेशम और साधारण चीजो मे घी, चावल और शक्कर, बंगाल में इन
इफरात थी और दूसरे प्रदेशो की तुलना मे वे सस्ती भी थी। "इसमें सन्दे
कि बंगाल उस समय इस बात के लिए प्रसिद्ध था कि चीज़ें सस्ती है और निय
लिए अतिरिक्त खाद्य-सामग्री का विशाल भण्डार प्राप्त है।" (पृष्ठ ७१)। व
केरल तक चावल, शक्कर, घी समुद्री मार्ग से भेजा जाता था। केरल को अफीम
भेजी जाती थी। (बेशक यह कीमती चीज़ हुई।) शक्कर गुजरात और ईरान
भेजी जाती थी। कभी-कभी दक्षिण भारत को गेहूँ भेजा जाता था। १७वी सदी
डच व्यापारी बंगाल का रेशम अपन देश हॉलैण्ड को, उसके अलावा जापान को भे
भेजते थे। मुगल राज्य के अन्य भागो के व्यापारियों से होड़ के कारण उनके
रेशम-व्यापार पर रोक लगी थी, वर्ना उनकी इच्छा थी कि सारा व्यापार उन्ही के
हाथ में हो। आगे चलकर सूत और शक्कर बंगाल से यूरुप भेजे जाने लगे। चावल
और रेशम गंगा के मार्ग से होकर पटना आता था, रेशम और शक्कर बंगाल से
आगरा पहुँचती थी और आगरा से होती हुई गुजरात पहुँचती थी। (पृष्ठ ७१-
७२)। अंग्रेज़ी राज कायम होने से जैसी बर्बादी बंगाल मे हुई, वैसी बर्बादी भारत
के किसी अन्य प्रदेश मे नही हुई। किन्तु अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका के
जैसे तगड़े समर्थक बंगाल मे है, वैसे किसी अन्य प्रदेश मे नही है। इसका कारण
वह ज़मीदारी व्यवस्था है जो अंग्रेज़ों ने बंगाल में कायम की थी। अंग्रेजों का यह
वफ़ादार और ताबेदार वर्ग उनके राज का दृढ समर्थक बना रहा। बंगाल के बुद्धि-
जीवियो पर इस वर्ग का गहरा प्रभाव रहा है। इन बुद्धिजीवियों मे जातीय चेतना
का अभाव नही है किन्तु यह जातीय चेतना 'भद्र लोक' के दृष्टिकोण से बँधी हुई
है और अंग्रेज़ी राज मे बगाल की बहुसंख्यक जनता की तबाही को नज़रन्दाज
करती है। कहना न होगा कि बंगाल मे इसके अनेक और महत्वपूर्ण अपवाद है।

इरफान हबीब ने भारतीय ग्रामों की स्वायत्त अर्थव्यवस्था का ज़िक्र किया
है। गांव के लोग अपने कपड़ों के लिए सूत कात लेते थे, अपनी ज़रूरत के लिए
तेल और शक्कर (या गुड़) पैदा कर लेते थे, किसान को अपनी गृहस्थी चलाने के
लिए सारा जरूरी सामान जुलाहे, बढई, लुहार और कुम्हार से मिल जाता था।
बाहर से सामान मँगाने की उसे जरूरत न होती थी। (पृष्ठ ६०)। इसमे सन्देह
नही कि भारत मे ऐसे गाँव थे किन्तु इससे यह समझना कि अधिकांश गाँव इसी
तरह के थे, सही न होगा। इरफान हबीब मानते है कि नील की खेती मुख्यत: दूर

के बाजारों के लिए होती थी। (पृष्ठ ८८)। जो लोग नील की खेती करते थे, वे खाने का सामान दूसरी जगह से पाते थे। इसी तरह बड़े-बड़े क्षेत्रों में कपास और गन्ने की खेती होती थी। वहाँ स्वायत्त अर्थतन्त्र वाले गाँव हों, यह सम्भव न था। जब तम्बाकू का चलन हुआ, तब बड़े पैमाने पर इसकी खेती होने लगी और साधारण लोग भी हुक्का पीने लगे। ये सारी बातें ग्रामीण अर्थव्यवस्था की स्वायत्तता को नष्ट करनेवाली थीं। अनेक लेखकों के समान इरफान हबीब ने भी माना है कि भारतीय गाँवों में उद्योग-धन्धों का काम खेती के साथ जुड़ा हुआ था और अंग्रेजों ने इन घरेलू उद्योग-धन्धों का नाश किया। किसान खेत में अनाज पैदा करता था, घर में वह हाथ की चक्की से पीस लिया जाता था; धान पैदा करता था, वह घर में कूट लिया जाता था। यह हुआ कृषि और उद्योग धन्धों का गँठजोड़। किन्तु कपास की खेती करनेवाले स्वयं कपास साफ न करते थे। यह काम धुनिया का था। कपास की सफाई के बाद किसान उसे भले ही चरखे से कात ले पर कपड़ा बुनने का काम जुलाहे का था। धुनिया और जुलाहे का अस्तित्व गाँव में श्रम-विभाजन का प्रमाण है। तिल्ली, सरसों, राई आदि किसान पैदा करता था किन्तु उनसे तेल निकालने का काम तेली करता था। यह भी श्रम-विभाजन था। आगरा सूबे में बड़े पैमाने पर नील की खेती होती थी। जो खेती करे वही रंग भी निकाले, यह आश्चर्य की बात होगी। कपड़ा रँगनेवालों की अलग बिरादरी रँगरेजों की थी। कपड़ा रँगना रंग निकालने से ज्यादा मुश्किल काम न होगा। विशेषज्ञ की जरूरत होगी कपड़े रँगने के लिए नहीं वरन् रंग निकालने के लिए। कम-से-कम गुजरात में किसान ऐसे लोगों को अपनी उपज देते थे जो बिक्री लायक रंग निकालते थे। (पृष्ठ ५९)। गुजरात में उतने बड़े पैमाने पर नील की खेती न होती थी जितने बड़े पैमाने पर आगरा के सूबे में होती थी। इसलिए यह सम्भव है कि रंग निकालनेवालों की अलग बिरादरी बन गयी हो।

नील की खेती करनेवाला किसान रंग चाहे खुद तैयार करे, चाहे दूसरे से कराये, उसे बेचने के लिए बाजार जाना जरूरी था। जो माल बिक्री के लिए पैदा किया जाता था, वह तो बाजार में बिकता ही था, मालगुजारी देने के लिए भी किसान को गल्ला बेचना होता था। इस तरह वह बाजार से अलग रहकर अपना अर्थतन्त्र न चला सकता था। देहाती बाजार में गल्ले के व्यापारी उस अर्थतन्त्र का महत्वपूर्ण अंग थे। देहात के गल्ले से ही शहर के लोग अपना पेट भरते थे, इसलिए देहाती बाजार शहर के बाजार से जुड़ा हुआ था। जो जमीन शहर के पास थी और उपजाऊ थी, वह स्वभावतः अधिक लाभदायी थी। ऐसी जमीन जोतने के लिए किसानों पर दबाव डालना जरूरी न था। "यहाँ किसानों के सामने मालिक जो भी शर्तें रखें, वे मान जाते थे। अधिकारियों या जमींदारों को यह डर न था कि एक किसान को बेदखल किया तो दूसरा न आयेगा।" (पृष्ठ ११८)।

(घ) वित्तीय अर्थतन्त्र और पुरानी व्यवस्था का विघटन

देहाती और शहरी बाजार के निर्माण के कारण ग्राम-समाज स्वायत्त जीवन न बिता सकते थे। इरफान हबीब ने लिखा है कि गाँवों की उपज का बड़ा हिस्सा

शहरी बाजार मे चला जाता था, उसके बदले शहरों से गाँवों को प्राय. कुछ
मिलता था। "इस प्रकार विकाऊ माल के उत्पादन (अर्थात् बाजार के
उत्पादन) की जरूरतो ने गाँव पर गहरा असर डाला, फिर भी उसे अपनी
आवश्यकताएँ अपने भीतर से पूरी करनी होती थी। इस कारण वित्तीय अर्थत
तथा स्वायत्तता, दोनो की परिस्थितियाँ साथ-साथ बनी रही।" (पृष्ठ ११६,
डा. हबीब यह मानते है कि विकाऊ माल का उत्पादन और स्वायत्त अर्थतन्त्र
परस्पर विरोधी चीजें है। इसमे वह यह नतीजा निकालते है कि खेती मे एक ओ
उत्पादन का व्यक्तिगत तरीका कायम रहा, दूसरी ओर ग्राम-समाज का संगठन
हुआ; जिसका स्वायत्त अर्थतन्त्र है, वह किसान का कुटुम्ब नही ग्राम-समाज है।
यह ग्राम-समाज कभी पूरी तरह स्वायत्त था, इसमे सन्देह है। पूरे देश मे एक से
ग्राम-समाज नही थे, यह निश्चित है। खेती मे व्यक्तिगत पैदावार जब तक केवल
खाने-खरचने के लिए होगी, तब तक ग्राम-समाज की स्वायत्तता कायम रह सकती
है। किन्तु मुगलकालीन भारत मे जो अन्तर्विरोध था, वह कुटुम्बगत उत्पादन और
ाम समाज के बीच नही था, 'अन्तर्विरोध था बिकाऊ माल के उत्पादन और
ायत्तता मे'। स्वायत्तता का आधार ही यह है कि किसान-कुटुम्ब गाँव की
जरूरते पूरी करने के लिए खेती करते है। उस स्थिति मे बिकाऊ माल के उत्पादन
का सवाल नही उठता। जब उत्पादन का काफी हिस्सा बिक्री के लिए होगा, तब
इस तरह का उत्पादन स्वायत्तता की सीमाएँ तोडकर गाँव को देहाती और शहरी
बाजार मे जोड देगा। यहाँ स्वायत्तता तोडनेवाली दो बाते है: एक तो ऐसी उपज
जो बिक्री के लिए ही है जैसे कपास या नील की उपज; इसके अतिरिक्त जो
अनाज खाने-खरचने से बचता था, वह भी बाजार मे बेचा जाता था। इस कारण
बाजार का प्रभाव गाँव के अलगाव को खत्म करता था।

स्वायत्तता के खत्म होने का एक प्रमाण यह था कि गाँव मे धनी और निर्धन
का भेद बढ रहा था, पुरानी जाति-प्रथा टूट रही थी और नये वर्ग उसका स्थान
ले रहे थे। जहाँ भी ग्राम-समाज मे धनी-निर्धन का भेद बढ़ेगा, वहाँ उसकी
स्वायत्तता टूटेगी। डा. हबीब ने माना है कि जहाँ एक ओर ऐसे आर्थिक और
सामाजिक कारण थे जो किसानो को एक ही ग्राम-समाज मे संगठित करते थे,
वहाँ इनके साथ अन्य कारण भी ऐसे थे जिनसे ग्राम-समाज विघटित होते थे और
ऐसे गाँव बसाये जाते थे जिनमे उस तरह के समाज गठित न हों। विकाऊ माल
के उत्पादन से किसानो मे विभिन्न आर्थिक स्तर बने। "जैसे-जैसे धनी स्तरो और
बाकी लोगो के बीच का फासला बढा, वैसे-वैसे अनिवार्य रूप से जाति या विरादरी
के बन्धन ढीले हुए। यह अपेक्षा की जा सकती है कि एक मंजिल ऐसी आयी जब धनी
किसान ग्रामसमाज के दूसरे लोगो पर हावी होने लगे।" (पृष्ठ १२८)। १९वी
दी के रूस मे भी ग्राम-समाज इसी तरह टूट रहे थे। रूस के जो विद्वान् उस समय
पने यहाँ पूंजीवाद के अस्तित्व से इन्कार करते थे, उन्हें लेनिन ने विकाऊ
ल के उत्पादन के कारण ग्रामसमाजो के टूटने की प्रक्रिया समझायी थी। भारत
यह प्रक्रिया कम-से-कम १६वी सदी से चालू थी। इसीलिए केन्द्रीय सरकार
कमो को यह हिदायत करती थी कि मालगुजारी के मामले मे गाँव के बडो का

भरोसा न करें, ये लोग छोटे किसानों को परेशान करेंगे। (पृष्ठ १२८, पृ. २३०)। भारत में वर्ण-व्यवस्था बहुत दिनों से टूट रही थी। मुगलकाल में उसका टूटना शुरू नहीं हुआ, टूटने में तेजी आयी। तेजी आने का कारण यह था कि अर्थतन्त्र में वित्त की प्रधानता होने से, बिकाऊ माल की पैदावार से, नये वर्ग बनने से पुराने पेशोंवाली जातियों का टूटना अनिवार्य था। अकबर के समय में ब्राह्मण जमींदार अपना जमींदारी हक दूसरे के हाथ बेच रहे थे। (पृष्ठ १६३)। औरंगजेब के समय में कुछ मुसलमान और एक गैरमुस्लिम बढ़ई अपनी मिल्कियत कलवारों के हाथ बेच रहे थे। (उप.)। बढ़ई और कलवार जमींदारी बेचते या खरीदते थे। इसी तरह ब्राह्मण पुराना पेशा छोड़कर जमींदार बनते या जमींदारी बेचते थे। सनातनी दृष्टि से कलियुग आ गया था और वर्णाश्रमधर्म नष्ट हो रहा था, शूद्र द्विजों की बराबरी कर रहे थे अथवा द्विज शूद्रों के बराबर हो रहे थे। सामन्ती व्यवस्था की विशेषता यह है कि उत्पादन मुख्यतः खाने-खरचने के लिए होता है, वस्तुओं का विनिमय अत्यन्त सीमित होता है, अर्थतन्त्र में वित्त की भूमिका सकुचित होती है और कुटुम्बगत उत्पादन में जो बाप का पेशा होता है, वही सन्तान का होता है। सामन्ती व्यवस्था के विघटन का कारण होता है बिकाऊ माल का उत्पादन, बाजार का निर्माण, विनिमय का प्रसार, अर्थतन्त्र में वित्त की प्रधानता। न केवल उपज बेची जाती थी वरन् कुलीनता भी बिकने लगी। जमींदारी का हक ऐसी सम्पत्ति हो गया जो खरीदा और बेचा जा सके। "तब वित्त पुरानी बिरादरियों के किले तोड़ सकता था और उनके सिंहद्वार बाहरवालों के लिए खोल सकता था।" (पृष्ठ १६२)। अभिजात-वर्ग का सबसे बड़ा आधार भूस्वामित्व था। जमीन का मालिक होना, दूसरों से खेती कराना, स्वयं हल न छूना, यह अभिजात वर्ग का चिह्न है। जब जमींदारी हक बिकाऊ माल बन गया, तब इससे सिद्ध यह हुआ कि अभिजातपन की भी बिक्री होने लगी। भौतिकवादी दृष्टि से इस सारी उथल-पुथल का कारण काफी बड़े पैमाने पर बिकाऊ माल का उत्पादन था।

जैसे जमींदारी का हक बिकाऊ माल बन गया, वैसे ही जागीरदारी भी बिकाऊ माल जैसी चीज बन गयी। सरकार की सेवा के लिए लोगों को जागीरें दी जाती थीं। जिस पद पर वे काम करते थे, उसका वेतन निश्चित था। उतना वेतन जितने इलाके की मालगुजारी से मिले, उतना इलाका जागीर में दिया जाता था। जागीर एक प्रकार का वेतन थी, इसलिए जागीरदार को एक जगह से दूसरी जगह भेजा भी जा सकता था। यह सारी व्यवस्था अर्थतन्त्र में वित्त की प्रधानता से उत्पन्न हुई थी। डा. हबीब ने लिखा है कि जागीरदारी प्रथा का चलन तभी हो सकता था जब एक विशेष प्रकार के अर्थतन्त्र का चलन हो। सामान्यतः जागीरदार का भूमि पर कोई अधिकार न होता था। उसे मालगुजारी का एक भाग मिलता था और यह मालगुजारी वित्त के रूप में आँकी जाती थी। यह उसी समाज में सम्भव था जिसमें वित्त की प्रधानता सुदृढ़ हो गयी हो, "किन्तु इसके लिए यह भी आवश्यक था कि कृषि की उपज का व्यापार विकास के ऊँचे स्तर तक पहुँच चुका हो।" (पृष्ठ ३१९)। जहाँ मालगुजारी एकत्र करने की पद्धति एक-सी हो, शासन-

पद्धति एक-सी हो, यातायात के साधनो पर सरकारी नियन्त्रण हो, वहाँ व्य
सम्बन्धी कारंवाई मे अच्छी प्रगति हो सकेगी। किन्तु इरफान हबीब का मत
जागीरदारी प्रथा ने बादशाही को मज़बूत किया और खुद अपने अस्तित
आर्थिक आधार को मज़बूत किया। "पाश्चमी यूरुप के सामन्ती भूस्वामी के f
रीत मुगल जागीरदार को यह भय नही था कि वित्त और व्यापार के प्रभाव
उसकी सत्ता नष्ट हो जायगी।" (उप.)। जागीरदार अपनी जागीर का मौरूस
मालिक नही था; उसे राज्यसत्ता का भय था जो व्यापार को बढावा देती थी।

अकबर या औरंगज़ेब के समय मे ज़मीदारी या जागीरदारी बिकाऊ माल
बन गयी थी, इसका कारण पूंजीवादी सम्बन्धो का विकास था। इरफान हबीब
यह स्वीकार नही करते कि मुगलकालीन भारत मे पूंजीवादी सम्बन्धो का विकास
हो रहा था किन्तु वह जो तथ्य देते है, उनसे सिद्ध यही होता है। अकबर से
औरंगज़ेब तक मुगलबादशाही ऐसी निरकुश राज्यसत्ता का रूप है जो सामन्तों की
शक्ति को क्षीण करती है, एक विशाल क्षेत्र मे उन्हे एक ही सत्ता के अधीन रहने
को विवश करती है। निरकुश बादशाही की यह भूमिका इंग्लैण्ड की महारानी
एलिज़ाबेथ प्रथम और उनके उत्तराधिकारियो की भूमिका से मिलती-जुलती है।
यह राज्यसत्ता सामन्तवाद को समाप्त नही करती, केवल उसे क्षीण करती है,
इसके अतिरिक्त वह व्यापार और बिकाऊ माल के उत्पादन को बढ़ावा देती है।
मुगल बादशाही और इंग्लैण्ड मे गृहयुद्ध मे पहले की राज्यसत्ता मे अन्तर यह है
कि इंग्लैण्ड मे व्यवसायी वर्ग को राज्यसत्ता में हिस्सा नही मिला किन्तु मुगल-
बादशाही मे शासक-वर्ग, यहां तक कि शाही घराने के लोग और स्वयं अकबर
बादशाह, व्यापार-सम्बन्धी कार्रवाई मे सीधे भाग लेते है। इसलिए मुगल राज्य-
सत्ता विशुद्ध सामन्ती राज्यसत्ता नही है, वह पूंजीवादी हितो को बढावा देनेवाली
राज्यसत्ता है और उसका सम्बन्ध पूंजीवाद की पहली मंज़िल से है जिसे व्यापारिक
पूंजीवाद कहा जाता है। मुगल राज्यसत्ता की अर्थनीति किसी बादशाह की व्यक्ति-
गत इच्छा का परिणाम न थी, वह वस्तुगत आर्थिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित
हुई थी। इन परिस्थितियों का निर्माण और विकास अकबर बादशाह से ही पहले
नही, पठान बादशाह शेरशाह से भी पहले से हो रहा था। भारत मे किसान अपना
कर वित्त-रूप मे जमा करें, यह प्रथा पहले से प्रचलित थी। इरफान हबीब ने नोट
किया है कि भारत के केन्द्रीय भागों मे अर्थात् हिन्दी प्रदेश मे तेरहवी सदी से
कसानों द्वारा वित्त रूप मे कर देने की प्रथा का चलन था। (पृष्ठ २३६)।
ाल साम्राज्य मे जो विकास हुआ वह यह कि कश्मीर, उड़ीसा और राजस्थान
दुर्गम क्षेत्रो को छोड़कर समूचे साम्राज्य मे वित्तीय कर-व्यवस्था का चलन
। इस वित्तीय व्यवस्था के चलन का परिणाम यह था कि व्यापारी और
कार को राज्यसत्ता की नीति से सीधे लाभ होने लगा। राज्यसत्ता से सामन्तो
हृत होता था, उस हित मे हिस्सा बँटानेवाले महाजन और व्यापारी भी थे।
न हबीब ने बड़े पते की बात लिखी है कि घरेलू बाज़ार से किसान का जो
था, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि "वित्त रूप में (मालगुजारी की)
ने से (किसान की) अतिरिक्त उपज मे एक अन्य वर्ग को हिस्सा मिलना

शुरू हुआ और यह हिस्सा बढ़ता गया। यह वर्ग गाँव के महाजन और देहाती व्यापारी का था।" (पृष्ठ २३६)। किसान अपनी अतिरिक्त उपज का थोड़ा भी हिस्सा बचा न ले, इस आशंका से सरकारी नीति ऐसी बनी कि खेत काटने से पहले किसान अपनी मालगुजारी चुका दे। डा. हबीब के अनुसार यह प्रथा १७वीं सदी में व्यापक हो गयी थी। पहले गल्ला बेच देने पर मालगुजारी देनी होती थी, अब बेचने से पहले ही उसे अदा करना होता था। इससे किसान को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था, लेकिन फसल काटने से पहले मालगुजारी वसूल तभी की जा सकती थी जब अर्थतन्त्र में वित्त की भूमिका खूब मजबूत हो गयी हो। "हाकिम ऐसी माँग कर ही न सकते थे जब तक उन्हें पहले से भरोसा न हो कि किसान अपनी फसल गल्ले के व्यापारी या महाजन के यहाँ बन्धक रखकर पैसा दे सकते हैं।" (पृष्ठ २४२)। किसान जब कोई चीज़ गिरवी रखता है, तब वह आशा करता है कि उधार चुका देने पर वह चीज़ उसे वापस मिल जायेगी। यहाँ फसल के वापस मिलने का सवाल न था। व्यापारी के हाथ गयी तो वह बिक ही गयी; महाजन के हाथ गयी तो वह उसे व्यापारी के हाथ बेच देगा। गाँव में बहुधा एक ही व्यक्ति महाजनी करता था और व्यापार का काम भी करता था। उस अवस्था में फसल महाजन के यहाँ बन्धक है तो भी वह बिकी हुई के बराबर है। महाजन या व्यापारी फसल कटने पर उसमें किसान को थोड़ा-सा हिस्सा देगा। वह हिस्सा उसके परिवार के पालन-पोषण के लिए पर्याप्त है या नहीं, इससे उसे मतलब नहीं। *मालगुज़ारी वसूल करनेवाला हाकिम जब आसामी के बाल*-बच्चों तक को बेच सकता था, तब किसान को उसके पालन-पोषण के विचार से उपज का एक भाग दिया जाये, महाजन के लिए इस तरह के सोच-विचार का प्रश्न न था। वास्तव में यहाँ खेती में पूँजीवाद के प्रारम्भिक सम्बन्ध शुरू हो रहे थे। जैसे शहर का व्यापारी कारीगर को पेशगी धन देकर उसके बनाये हुए माल का स्वामी पहले ही बन जाता है, वैसे ही यहाँ फसल कटने से पहले ही महाजन या व्यापारी फसल का स्वामी बन गया है। व्यापारी को 'अतिरिक्त' उपज मिलती है, यह कहना तभी तक सही है जब तक हम स्पष्ट समझते रहें कि उपज का 'अधिक' भाग व्यापारी और राज्यसत्ता के हाथ में चला जाता है, केवल 'अल्प' भाग किसान के लिए बचता है। यह अल्प भाग उपज का मूल भाग हुआ, उसका अधिक भाग अतिरिक्त उपज हुआ! निस्सन्देह इस तरह के अर्थतन्त्र से निर्धन किसानों की मुसीबतें बढ़ जाती थीं, जो धनी किसान नील, कपास या गन्ने जैसी बिकाऊ माल की फसलें उगाते थे, वे मजे में रहते थे। "एक बार खेती की उपज-वाला व्यापार इतना विकसित हो जाये कि किसान बाजार पर निगाह रखते हुए फसल उगाये, तो उसे उगायी हुई फसल का एक भाग मालगुजारी के रूप में देने में तब कठिनाई होगी जब अधिकारी जिद करेंगे कि वे उसे उपज के रूप में ही लेंगे।" (पृष्ठ २३६)। आशय यह है कि बिकाऊ मालवाली फसलें उगाने पर वित्त रूप में मालगुजारी देना धनी किसान के लिए लाभकारी था। जो किसान इस तरह की फसलें उगाते थे, वे साधारण किसान नहीं थे। खाने-खरचने के उद्देश्य से नहीं, लाभ की दृष्टि से वे खेती करते थे। बहुत जगह इरफान हबीब ने

खेतिहर मज़दूरों का ज़िक्र किया है। गांव मे जिनके पास भूमि नहीं है, उन बेगार कराना सामन्ती-व्यवस्था की विशेषता है। मुगलकाल मे बेगार साधारणत हाकिमों के दौरो मे करायी जाती थी, उत्पादन से उसका सीधा सम्बन्ध न था। खेत-मज़दूरो को पगार देने की भी चर्चा है। मानी बात है कि गांव के धनी किसान ही पगार देकर मज़दूरों से खेती करा सकते है। इसका अर्थ यह है कि गांव मे एक छोटा-सा पूंजीपति वर्ग उभर रहा था जिसका सीधा सम्बन्ध उत्पादन से था। धनी किसानों के इस वर्ग को देहाती पूंजीपति वर्ग कहना वैसे ही उचित है जैसे उस समय के भूमिहीन मज़दूरों को देहाती सर्वहारा कहना उचित है। मुगल राज्यसत्ता के बने रहने से इस वर्ग को सीधे लाभ हो रहा था।

मुगल साम्राज्य के सभी भागों मे मालगुज़ारी वित्त रूप मे ली जाती हो, ऐसा न था। प्रयत्न यह था कि जो मालगुज़ारी निश्चित की जाये, वह वित्त रूप मे हो। जहाँ मालगुज़ारी की किसी व्यवस्था के अन्तर्गत उपज का एक भाग लिया जाता था, वहाँ उस भाग का परिमाण वित्त रूप मे निर्धारित होता था। मालगुज़ारी निश्चित होता था। मालगुज़ारी की निर्धारित धनराशि सौ रुपये है, तो सौ रुपये मे जितना अनाज बाज़ार मे खरीदा जा सकता होगा, उतना मालगुज़ारी के रूप में दिया जायेगा। मालगुज़ारी निश्चित करने का मूल आधार वित्त था। मुगल बादशाह खेती के विकास के लिए जो सुविधाएँ देते थे, उनसे लाभ मुख्य रूप मे धनी किसानो को ही हो सकता था। किसान ने साल भर के लिए निर्धारित खेती की भूमि के अलावा और अधिक भूमि पर फसल उगायी, तो इस पर उसे मालगुज़ारी मे छूट मिल सकती थी। (पृष्ठ २५२)। किसी गांव मे कुओ की हालत खराब है; उन्हें दुरुस्त करनेवाले को मालगुज़ारी मे छूट मिल सकती थी, केवल प्रत्येक कुएँ के लिए कुछ कर देना होगा। जहाँ बिकाऊ मालवाली खेती होती थी, वहाँ यदि नयी भूमि पर वैसी खेती हो, तो मालगुज़ारी की दर घटा दी जाती थी। यदि बिकाऊ मालवाली खेती मे बँटाई की प्रथा का चलन हो और किसान उपज का एक हिस्सा सरकार को देता हो, तो बँटाई की जगह सामान्य कर-व्यवस्था लागू होने पर पहले साल चौथाई मालगुज़ारी ही ली जाती थी। (पृष्ठ २५३)। केन्द्रीय शासन सिंचाई के लिए जो व्यवस्था करता था, उससे भी सर्वाधिक लाभ धनी किसानों को हो सकता था।

पूंजीवाद के अभ्युदय काल मे इंग्लैण्ड के ज़मीदारो ने ग्राम-समाजो की चरी की भूमि पर अधिकार कर लिया था। यह भूमि किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी, उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाया गया था। मुगल शासनकाल मे सार्वजनिक चरी की भूमि पर 'काह चरायी' नाम का कर लगाया गया। (पृष्ठ २४४)। यह सार्वजनिक चरी की भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार जमाने का प्रयत्न था।

जिस अर्थतन्त्र मे वित्त और बाज़ार का इतना महत्व हो, उसमे पूंजीवादी अर्थतन्त्र की मन्दी और तेजी का आना स्वाभाविक है। अर्थतन्त्र मे वित्त की प्रधानता होने से नयी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं, "और पूंजीवादी संकटों और मन्दी के युग से बहुत-बहुत पहले मुगल प्रशासन बाज़ार भाव की असाधारण गिरावट से परेशानी मे पड़ जाता था। इसलिए सरकारी कायदो मे उपज की कमी, सूखा

और अकाल जैसी प्राकृतिक विपदाओं के साथ गिरे हुए भाव का भी यथार
उल्लेख होने लगा।" (पृष्ठ २४६)। यदि भावों की असाधारण गिरावट पूंजीव
व्यवस्था का संकट नहीं है तो यह बताना होगा कि सामन्ती व्यवस्था में यह स
किस तरह पैदा होता है। डा. हबीब को दृढ़ विश्वास है कि अंग्रेजी राज का
होने से पहले भारत में पूंजीवादी सम्बन्धों का विकास न हुआ था, किन्तु
अर्थतन्त्र का वह वर्णन कर रहे हैं, वह केवल अर्द्ध सामन्ती है। उसमें ऐसे सं
का पैदा होना पूंजीवादी सम्बन्धों के विकास का प्रमाण है।

पूंजीवादी सम्बन्धों के विकास के साथ किसानों में धनी और निर्धन का
बढ़े, यह स्वाभाविक है, निर्धन किसान खेत छोड़कर भागने पर विवश हों,
स्वाभाविक है। स्त्रियों और बच्चों को बेचना उनकी तबाही का एक रूप है,
परिवार के साथ गांव छोड़कर भागना, किसी दूसरे इलाके में बस जाना तबा
का दूसरा रूप है। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह उत्पीड़न समय के साथ बढ़
गया है। जितना उत्पीड़न अकबर के समय में था, उससे ज्यादा औरंगजेब के सम
में था। जिन दस्तावेज़ों को इरफान हबीब ने अपने अध्ययन का आधार बना
है, उनके बारे में लिखा है कि उनमें ऐसे उल्लेखों की भरमार है जिनसे पता चल
है कि "जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे उत्पीड़न बढ़ता गया, खेती
गिरावट आयी और खेत छोड़कर भागनेवाले किसानों की संख्या बढ़ती गयी
(पृष्ठ ३२४)। सामन्ती व्यवस्था में जो चीज़ अपवाद रूप में होती है, वह अ
सामान्य रूप में हो रही थी। डा. हबीब ने फ्रांसीसी यात्री बर्नियर का हवाल
दिया है जिनके अनुसार देहात छोड़कर लोग शहरों में मज़दूरी के लिए भागने ल
और लिखा है, "मुगल काल में शहरी आबादी अपेक्षाकृत बहुत बड़ी थी। शह
में जो अनगिनत चपरासी, अकुशल मज़दूर और गुलाम भर गये थे, उनका स्रो
देहात ही रहा होगा।" (पृ. ३२६)। यदि भारतीय व्यापारी इस समय ब
पैमाने पर माल पैदा करने के लिए कारखाने लगाते, तो शहरों में पगारजीव
मज़दूर इकट्ठा करने में उन्हें कुछ भी कठिनाई न होती।

भाव में गिरावट आना असामान्य बात थी, सामान्य बात थी भाव में निरन्त
तेज़ी आना। १७वीं सदी में हर चीज़ का भाव निरन्तर बढ़ता गया। (पृ
३२६)। इसका अर्थ यह है कि अर्थतन्त्र में वित्त की प्रधानता होने से व्यापार
वर्ग चढ़ती हुई कीमतों से लाभ उठाकर समृद्ध होता जा रहा था। इसीलिए मुगल
कालीन भारत के देशी और विदेशी पर्यवेक्षक धनी और निर्धन के भेद का विश
वर्णन करते हैं। पुराने सामन्तवाद की तुलना में नये अर्थतन्त्र ने वित्त की प्रधानत
के कारण शोषण की नयी प्रक्रिया चालू कर दी थी। मुगल राज्यसत्ता का पतन
निस्सन्देह पूंजीवादी संकट का परिणाम नहीं था किन्तु यह समझना भी भूल होगी
कि पूंजीवादी सम्बन्धों के विकास से इस पतन का कोई सम्बन्ध न था। बेकार
आदमियों की, जीविका की तलाश में शहरों में इकट्ठा होनेवाले भूमिहीन किसानों
की समस्या पूंजीवादी सम्बन्धों के विकास से ही पैदा हुई थी। एक बड़े क्षेत्र में
बाज़ार का निर्माण, इस बाज़ार के माध्यम से किसान की उपज के बड़े भाग को
राज्यसत्ता और महाजन-व्यापारी जो हड़प जाते थे, उसका कारण सामन्ती

व्यवस्था के भीतर नये विकासमान पूंजीवादी सम्बन्ध थे।

अकबर से औरंगजेब के समय तक दो प्रवृत्तियाँ समानान्तर विकसित हो
दिखायी देती है। पहली प्रवृत्ति उद्योग-धन्धो के विकास, व्यापार में प्रगति, बाजा
के निर्माण, किसानो के शोषण मे वढती आदि की है। दूसरी प्रवृत्ति राज्यसत्
के सामन्ती स्वरूप की वृद्धि और पुष्टि है। अकबर की राज्यसत्ता भी सामन्ती
राज्यसत्ता थी किन्तु वह निरंकुश राज्यसत्ता सामन्ती शक्तियो को अपने अधीन
करके आर्थिक विकास मे सहायता दे रही थी। औरंगज़ेब के समय में यह विकास
वन्द नही हो गया किन्तु इसमे राज्यसत्ता की नकारात्मक भूमिका वढ़ती गयी।
अकबर की अपेक्षा औरंगज़ेब सामन्तों पर कही अधिक निर्भर था। इसका एक
उजागर उदाहरण उसकी धर्म सम्बन्धी नीति थी। अकबर ने धार्मिक मामलो में
जो नीति अपनायी थी, वह वस्तुगत परिस्थितियो के अनुकूल थी। औरंगज़ेब ने
समाज के आर्थिक विकास के साथ आगे वढ़ने के वदले पीछे हटना शुरू किया।
इसका परिणाम था धार्मिक भेदभाव की नीति। उसने हिन्दुओ पर फिर से
जज़िया नाम का कर लगाया। युद्धो के कारण खाली होनेवाले खजाने को भरने
का यह एक महत्वपूर्ण साधन था। इरफान हवीब ने लिखा है कि १६७९ मे
औरंगज़ेब ने जज़िया कर लगाया, इससे देहाती कर-व्यवस्था के परिमाण मे भारी
वृद्धि हुई। कर वसूल करने के लिए हाकिमो का एक अलग संगठन कायम किया
गया। शहरों मे नागरिको से व्यक्तिगत स्तर पर यह कर लिया जाता था। गांवों
के लिए पहले यह व्यवस्था की गयी कि जिस गाँव की मालगुजारी एक लाख दाम
हो, उससे सौ रुपये वसूल किये जायें अर्थात् मालगुजारी का चार फीसदी जजिया
के रूप मे अलग से वसूल किया गया। आगे चलकर शहरो और गांवो, दोनों के
लिए विस्तृत सूचियाँ तैयार की गयी कि किन-किन लोगों से यह कर वसूल करना
है। एक गाँव में २८० मर्द थे; १८५ पर यह कर लगा। इनमे १३७ अल्पतम दर
से सालाना तीन रुपये दो आना कर देते थे। उस समय सामान्य शहरी मज़दूर
को महीने भर काम करने के वाद इतना पैसा मिलता था। इसका परिणाम यह
हुआ कि गरीब आदमियों पर जज़िया का असर सबसे ज्यादा पड़ा।

मुगल वादशाह अपनी शाही फौज के अलावा युद्ध मे सेना एकत्र करने के लिए
राजाओं और जागीरदारों पर निर्भर रहते थे। सेना मे जिसको जैसा मनसव
दिया, उसके अनुसार सेना के पोषण के लिए उसको वैसी जागीर दी। औरंगज़ेब
के शासन में इतने युद्ध हुए और सेना की आवश्यकता इतनी अधिक हुई कि
मनसवदार तो नियुक्त हो गये किन्तु उन्हें देने के लिए जागीरें न रह गयी।
सामन्ती व्यवस्था पर निर्भरता वढने का यह प्रमाण है। "१६८२ से लेकर अपनी
मृत्यु तक औरंगज़ेब ने दक्खिन मे निरन्तर युद्ध किया। मुगल साम्राज्य की सारी
सैनिक शक्ति जुटा देने पर भी उसे इसमें सफलता न मिली। इन वर्षो मे मनसव-
दारों की पाँति में दक्खिनी राज्यो के अफसरों की बड़ी भर्ती हुई, जिन मराठों
को खरीदना था या कम-से-कम तटस्थ बना देना था, उनकी भर्ती हुई। इसके
फलस्वरूप मनसवदारों की संख्या इतनी वढ़ गयी कि जितनी जागीरें थी, उनसे
उनको तनख्वाह न दी जा सकती थी।" (पृष्ठ २६९-७०)। यह सामन्ती

व्यवस्था का संकट था।

जब सामन्ती व्यवस्था टूट रही हो और नये पूँजीवादी सम्बन्ध उभर रहे हों, तब दो ही बातें हो सकती है, या तो समाज के सूत्रधार आगे बढ़ें या पीछे हटें। आगे बढने का मतलब यह था कि व्यापारी और महाजन मिलकर राज्यसत्ता को नया रूप दें, पीछे हटने का मतलब था कि व्यापारी वर्ग सामन्ती शक्तियों को फिर से उभरने दे और अपने ऊपर हावी हो जाने दे। भारत में सामन्त वर्ग विघटित हो रहा था। उसकी अपेक्षा व्यापारी वर्ग अधिक संगठित था किन्तु वह किसानो को अपने साथ मिलाकर राज्यसत्ता पर धावा बोलने में असमर्थ रहा। इसका एक कारण यह था कि व्यापारी वर्ग और मुगल राज्यसत्ता का अन्तर्विरोध वैसा तीव्र न था जैसा इग्लैण्ड और फ्रांस में था। दूसरा कारण यह था कि किसान व्यापारी वर्ग को मुक्तिदाता के रूप मे नहीं शोषक के रूप मे देखता था। तीसरा कारण यह था कि किसानों का नेतृत्व करने के लिए छोटे-छोटे ज़मीदार देहात में भरे हुए थे। इनके पास सैनिक शक्ति भी थी और स्वयं किसान इस सैनिक शक्ति का अग थे। बादशाही खत्म होने पर उत्तर भारत में नवाबी का दौर आया। दिल्ली का बादशाह स्वयं एक छोटा-सा नवाब बनकर रह गया। इधर अवध के नवाब बादशाह हो गये। इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति से पहले जैसे वहाँ का भूस्वामी वर्ग एक बार फिर शक्तिशाली हुआ, साहित्यकारों और कलाकारों का आश्रयदाता बना, साहित्य मे रीतिवादी धारा फिर प्रवाहित हुई, वैसे ही भारत मे नवाबी के जमाने मे राजा, नवाब, रईस, ज़मीदार साहित्यकारों के आश्रयदाता बने और गजल, दोहा और कवित्त-सवैया की रीतिवादी धारा पूरी शक्ति से प्रवाहित हुई।

(ङ) सामन्तवाद के अन्तर्विरोध और किसान

मुगल बादशाही का मुख्य अन्तर्विरोध भारत की बहुसख्यक किसान जनता से था। इस बादशाही की आधारभूमि हिन्दी भाषी प्रदेश तथा बंगाल, गुजरात और पंजाब प्रान्त थे। पुराने समय का किसान उतना असहाय नही था जितना वह पुस्तकों मे बहुधा चित्रित किया जाता है। इस देश मे काफी किसान ऐसे थे जो हथियार चलाना जानते थे और हथियार रखते थे। इरफान हबीब ने आईने अकबरी का हवाला देते हुए मालवा क्षेत्र के बारे मे लिखा है कि वहाँ के किसान और कारीगर हथियार लेकर चलते थे। (पृष्ठ ३३०)। यह कोई मालवा के किसानों की ही विशेषता न थी। अबुलफज़ल ने आगरा सूबे की जलवायु मे ऐसी विशेषता देखी जिससे सारे 'हिन्दुस्तान' में यहाँ के किसान अपनी बगावत और बहादुरी के लिए मशहूर हुए। जमुना नदी के दोनो ओर के क्षेत्रो में शाही फौजें बागी-किसानों के दमन के लिए निरन्तर भेजी जाती रही। एक बार स्वयं अकबर को फौज का नेतृत्व करना पड़ा। जलेसर के राजा ने किसानों की सहायता से शाही फौज का मुकाबला किया। जहाँगीर के राज में मथुरा के आसपास किसान घने जंगलों से लाभ उठाकर निडर घूमते थे और जागीरदारो को मालगुजारी न देते थे। इनके दमन के लिए शाही फौज भेजी गयी। दमन असफल रहा और बारह साल बाद फिर

फौज भेजी गयी। शाहजहाँ के राज मे भी मथुरा के आसपास के बागी पूरी त
बादशाह के अधीन न हुए थे। १६५६ मे, सादुल्लाखाँ के मरने पर, आगरा
निकट उसकी जागीर के गाँव के किसान फिर विद्रोह कर बैठे। ये तथ्य इरफा
हबीब के ग्रन्थ मे है। (पृ. ३३९-४०)।

मुगल शासक-वर्ग के बारे मे इरफान हबीब ने लिखा है कि इस वर्ग की एकता
और आन्तरिक सुदृढता बादशाह की निरकुश सत्ता के रूप मे प्रकट हुई।
(पृष्ठ ३१९)। वास्तव मे मुगल शासक वर्ग मे अनेक स्तर थे, इनके हित एक-
दूसरे से टकराते थे और बादशाही के विघटन का बहुत बडा कारण इनका आपसी
सघर्ष था। सबसे पहले तो शाही घराने के लोगो मे ही आपसी विरोध था और
यह विरोध सबसे बीभत्स रूप मे औरगजेब तथा उसके भाइयो के बीच लड़ाई के
रूप मे प्रकट हुआ। सामन्ती-व्यवस्था मे कौन कितना कुलीन है, शाही घराने से
किसका कितना निकट या दूर का सम्बन्ध है, ये प्रश्न महत्वपूर्ण थे। दक्षिण मे
युद्ध चलाने के लिए जब औरंगजेब ने नये-नये दक्खिनी मनसबदार नियुक्त किये
तो शाही घराने से सम्बद्ध मनसबदार नाराज़ हुए। "पुराने अभिजात-वर्ग के लोग
(तथाकथित खानजादान) यह देखकर बहुत ही क्रुद्ध हुए कि दक्खिनियो को पद
देते समय उनके हक की अनदेखी की गयी है। किन्तु इस संकट के असली शिकार
हुए छोटे मनसबदार जिनके पास न पैसा था, न ऐसा प्रभाव था कि दरबार के
अफसरो को जागीर देने के लिए राजी कर सकें।" (पृष्ठ २७०)। इस प्रकार
छोटे और वडे मनसवदारो में, उत्तरी और दक्षिणी मनसबदारो मे आपसी तनाव
मौजूद था।

मुगल शासक-वर्ग का एक प्रभावशाली भाग जागीरदारो का था। जागीरदार
भी कई तरह के थे। वडे-वड़े राजपूत राजाओं के वशगत राज्य एक विशेष प्रकार
की जागीर माने गये थे। इन्हे 'वतन' कहा जाता था और ऐसी जागीरो को राज-
वश के बाहर किसी दूसरे को न दिया जा सकता था। जो जागीरें स्थानान्तरित
हो सकती थी और जो न हो सकती थी, उनमे महत्वपूर्ण भेद था। 'वतन' कहलाने-
वाली जागीरों मे सामन्तवाद लगभग पुराने रूप मे था। इन जागीरो के मालिकों
के लिए बादशाह चक्रवर्ती सम्राट् के समान था। वे उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार करते
थे, उनके राज्य के भीतरी कामों मे प्रभुसत्ता दखल न देती थी। केन्द्रीय शासन
ने मालगुज़ारी वसूल करने के जो नियम बनाये थे, वे इनके यहाँ लागू न होते थे।
उनके यहाँ से होकर जो व्यापारी अपना धन्धा करते थे, उन पर वे अपनी कर-
व्यवस्था लागू करते थे। (पृष्ठ १८४-८५)। इनके अतिरिक्त साधारण जागीर-
दार थे जिनकी शक्ति बहुत सीमित थी। ये कभी भी एक जगह से दूसरी जगह
भेजे जा सकते थे, इसलिए वे जागीर की उन्नति की ओर विशेष ध्यान न देते थे।
जिस काम से भी उन्हे लाभ हो, उसमे आगे चलकर किसान चाहे तबाह हो जायें,
वे उसे करने मे न हिचकिचाते थे। उनका तर्क यह था कि भूमि की उन्नति के
लिए हम मेहनत करें तो उसका फल न हमें मिलेगा और न हमारी सन्तान को
मिलेगा। इसलिए जितना धन कमाते बने, कमा लेना चाहिए; किसान पर जो
बीते सो बीते। (पृष्ठ ३२०-२१)। स्थानान्तरित होने से जागीरदार कमजोर

होते थे और केन्द्रीय सत्ता मजबूत होती थी; इसके साथ ही केन्द्रीय सत्ता इन्हीं जागीरदारों पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर थी। इससे सामन्ती-व्यवस्था में ही ऐसा अन्तर्विरोध पैदा हुआ कि उसे हल करना केन्द्रीय सत्ता के लिए असम्भव हो गया। केन्द्रीय सत्ता व्यापारियों और किसानों की सहायता से जागीरदारों की शक्ति पूरी तरह खत्म कर सकती थी किन्तु वह व्यापारियों की अपेक्षा जागीरदारों पर अधिक निर्भर थी। १८वीं सदी के लेखक शाह वलीउल्लाह ने लिखा था कि किसानों, सौदागरों और कारीगरों पर भारी कर लगाया जाता है और वे इतना सताये जाते हैं कि जो कमज़ोर हैं, वे भागते हैं और मारे जाते हैं, और जो शहज़ोर हैं वे बगावत करते हैं। (पृष्ठ ३२६, पादटिप्पणी ४५)। इस उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि मुगल शासन-व्यवस्था से एक ओर जहाँ व्यापारी को लाभ था, वहाँ दूसरी ओर उसे इससे हानि भी थी। वलीउल्लाह ने जिन सौदागरों की चर्चा की है, वे अवश्य ही साधारण स्तर के रहे होंगे। छोटा भूमिधर और छोटा व्यापारी, ये दोनों ही मुगल शासन में पीड़ित थे और इसलिए किसानों के साथ मिलकर उस शासन का विरोध करना उनके लिए स्वाभाविक था। जागीरदार मुख्यतः खेती करनेवालों से मालगुज़ारी वसूल करते थे किन्तु बड़े-बड़े शहरों और बन्दरगाहों के बाज़ारों को भी कभी-कभी जागीर के रूप में बादशाह किसी को दे देता था। (पृष्ठ २५६)। सूरत जैसे व्यापार-केन्द्र को भी जागीर रूप में दिया गया था। (उप., पादटिप्पणी १०)। ऐसी हालत में कुछ स्थानों के बड़े व्यापारी भी जागीरदारी व्यवस्था से पीड़ित रहे होंगे। मुगल शासन चलाने के लिए कर्मचारियों की एक विशाल सेना थी। केन्द्रबद्ध राज्यसत्ता विशाल नौकरशाही के बिना अपना काम नहीं चला सकती। यह नौकरशाही स्वयं शासक वर्ग का महत्वपूर्ण अंग बन जाती है। किसानों के जो सबसे बड़े उत्पीड़क हज़ारों की संख्या में शहरों और गाँवों में फैले हुए थे, वे इसी समुदाय के थे। जागीरदारों और ज़मींदारों से इन हाकिमों का अन्तर्विरोध बराबर बढ़ता गया। बादशाही के अन्तिम दिनों में यह नौकरशाही अपनी बेईमानी के लिए खूब बदनाम हुई। केन्द्रीय सत्ता के टूटने और नवाबी के उभरने का यह भी एक कारण था।

सामन्ती शासक-वर्ग का सबसे महत्वपूर्ण भाग ज़मींदार थे। केन्द्रीय सत्ता से इनका विरोध भी सबसे शक्तिशाली था। यद्यपि केन्द्रीय सत्ता ने बराबर प्रयत्न किया कि ये केवल मालगुज़ारी वसूल करनेवाले कर्मचारी मात्र रह जायँ, पर वे देहात में अब भी शक्तिशाली थे। वे पुराने भूमिधर थे, किसानों से उनका घनिष्ठ सम्पर्क था, ज़मींदारी को वे अपनी वंशगत सम्पत्ति मानते थे। केन्द्रीय सत्ता से उनका संघर्ष मुगल शासन के प्रारम्भ से अन्त तक कभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। बहुधा ऐसा होता था कि मुगल शासन से पीड़ित होने पर किसान भागकर किसी शक्तिशाली ज़मींदार के इलाके में शरण पाते थे। बादशाही और ज़मींदारों के संघर्ष को इरफ़ान हबीब ने दो उत्पीड़क वर्गों का आपसी युद्ध कहा है। (पृष्ठ ३३५)। वर्ग तो एक ही था, उसके स्तर अनेक थे। सामन्त-वर्ग का सबसे निचला स्तर स्वभावतः किसानों के अधिक निकट था। इसलिए किसान ज़मींदारों के साथ मिलकर लड़े। केन्द्रीय सत्ता से ज़मींदारों की लड़ाई सामन्ती व्यवस्था के

गहरे संकट की सूचना देती थी। अपनी जाति-बिरादरी के नेता होने के अलावा ज़मीदार छोटे-मोटे सेनापति भी थे। शाही अभियानो के लिए सेना जुटाने मे उनका हाथ भी होता था। ज़मींदार होने का मतलब यह था कि वह बादशाह की ज़रूरत पर एक निश्चित संख्या में सैनिक जुटायेगा। आईने अकबरी के अनुसार पूरे मुगल राज्य मे ज़मीदारो द्वारा एकत्रित फौज ४४ लाख से ऊपर थी। (पृष्ठ १६३)। ज़मीदारो के पास साधारणतः अपने किले होते थे, विशेष रूप से अवध मे ऐसे किलो की भरमार थी। "ये किले ज़मीदारों की सैन्य शक्ति के स्पष्ट दीखनेवाले प्रतीक थे। वे उनके गढ़ थे, अड्डे थे, वहाँ उनकी छावनियाँ थी। किन्तु उनकी असली ताकत उनके लाखो सैनिकों मे थी।" (पृष्ठ १३३)। यदि ऐसे ज़मीदारों ने केन्द्रीय सत्ता की लड़ाई हो और ज़मीदार किसानो से मिल जायें, तो उस केन्द्रीय सत्ता का नष्ट होना अनिवार्य है।

ज़मीदार अपनी बिरादरी के नेता अवश्य थे किन्तु अपने हित में वे अपनी बिरादरी के अलावा दूसरों के साथ मिलकर भी लड़ते थे। इसका एक रोचक उदाहरण बैंसवाड़े का है। वहाँ एक बैस ज़मीदार ने अपने किले का प्रबन्ध एक पठान को सौंप दिया था, पठान और बैस दोनों मिलकर मुगलों से लड़े। (पृष्ठ १६६)। औरंगज़ेब के सरकारी इतिहासकार ने लिखा था कि हिन्दुस्तान के ज़मीदार किसानों के साथ मीठा व्यवहार करते हैं, शाही हुकूमत के इलाको में जो नियम कायदे हैं, उनका पालन नही करते। यही कारण था कि शाही इलाको मे भागकर किसान ज़मीदारों के इलाको मे पहुँचते थे। (पृष्ठ ३३६)। पुराने ज़मीदारों से परेशान होकर औरंगज़ेब ने दरबार की तरफ़ से नये ज़मीदार नियुक्त किये। उद्देश्य यह था कि पुराने ज़मीदारों के मुकाबले नये स्थानीय अधिकारी खड़े किये जायें। (पृष्ठ ३३५)। अंग्रेज़ों ने यही काम बहुत बड़े पैमाने पर किया। पुराने ज़मीदारो की जगह नये ज़मीदार खड़े किये। १८५७ मे 'हिन्दुस्तान' के पुराने ज़मीदार जब किसानों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों से लड़े, तब वे पुरानी रीति निबाह रहे थे। वे मुगल बादशाही से इसी तरह लड़े थे।

औरंगज़ेब के विरुद्ध मराठों की विजय का एक कारण किसानों और ज़मींदारों का सहयोग था। १७०० मे भीमसेन नाम के एक सरकारी कर्मचारी ने लिखा था कि ज़मीदार शक्तिशाली हो गये है और मराठों से मिल गये हैं। महाराष्ट्र के जो लोग औरंगज़ेब से लड़ रहे थे, वे एक बिरादरी के न थे; जो ज़मींदार मराठों का साथ दे रहे थे, वे भी एक बिरादरी के न थे। इस तथ्य से इन्कार करना सम्भव नहीं है कि बादशाही के खिलाफ़ लड़नेवालों मे एक ही स्थान पर अनेक बिरादरियों के लोग एकत्र हो जाते थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि मुगल साम्राज्य में बहुत से रैयती गांव थे। यहाँ ज़मीदारी थी ही नही। रैयती गाँवों के आदमी जब लड़े होगे, तब किसी न किसी रूप मे उनकी पंचायतें उनके संघर्ष को संगठित करती रही होंगी। भीमसेन के अनुसार दरबार में यह शिकायत पहुँची कि शाही इलाको के किसानो का सहयोग मराठों को मिल जाता है। तब शाही फरमान निकला कि हर गाँव में जितने घोड़े और हथियार हों, वे ज़ब्त कर लिये जायें। ज़्यादातर गाँवो मे जब ऐसा हुआ, तब किसान घोड़े और हथियार जुटाकर

मराठों से जा मिले। (पृष्ठ ३४७)। यहाँ जमीदारों का उल्लेख नही है। 'किसानों' के पास घोडे और हथियार हैं। बादशाह ने उन्हें जब्त करने का हुक्म दिया है। जमीदारी नेतृत्व के विना किसान या तो अपने हथियार और घोडे लेकर भागे थे या इनके जब्त हो जाने पर उन्होने और कही से इनका प्रबन्ध किया था। किसान जमीदारी नेतृत्व के बिना भी लड सकते है और लड़े, इसमे सन्देह नही है।

भीमसेन ने आगे लिखा है कि जमीदार हर बहाने से किसानो से पैसा ऐंठते हैं। अपनी जमीन की जो मालगुजारी उन्हे बादशाह को देनी होती है, उसे वे अपनी गाँठ से नही देते, किसानो से वसूल करते है। (उप.)। स्पष्ट ही अनेक प्रकार के जमीदार थे। इस तरह के जमीदारो को किसान अपना नेता न बना सकते थे। भीमसेन ने मराठों की लूटमार का जिक्र किया है किन्तु यह भी लिखा है कि जब मराठों के बहुत से किले औरंगजेब के हाथ में आ गये तो मराठो ने शाही इलाको मे रहनेवाले किसानो के यहाँ अपने परिवार छोड़ दिये। (पृष्ठ ३४८)। मराठों की सफलता मे शाही और गैरशाही दोनों तरह के इलाकों के किसानो का बहुत बड़ा योगदान था। इरफान हबीब ने बादशाही के विरुद्ध किसानों की लड़ाई की ओर विशेष ध्यान दिया है। उनके दिये हुए तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि बिरादरियाँ टूट रही थी, जाति-प्रथा के बन्धन ढीले हो गये थे, इसलिए जो लोग पहले नीची जाति के माने जाते थे, वे भी अब हथियार लेकर लड़ रहे थे। सिक्खों के बारे में इरफान हबीब ने लिखा है कि उनके अनेक गुरु खेती या व्यापार करते थे। १७वी सदी के पूर्वार्द्ध मे सिक्खों ने अपनी सैन्य शक्ति एकत्र की। इतिहासकार खफी खाँ ने लिखा था कि १७०९ मे बन्दा ने बहुत बडी फौज इकट्ठा की, उसमें हिन्दुओ की नीची जातियो के लोग थे और लड़ने-मरने को तैयार थे। खफी खाँ का हवाला देते हुए इरफान हबीब ने लिखा है, "इस विद्रोह के मुख्य आधार नीची जातियो के लोग थे, इसका पता इस बात से लगता है कि १९वी सदी के आरम्भ मे सिक्खों के अधिकाश बड़े सरदार बढ़ई, चमार और जाट आदि निम्न जातियों के लोग थे।" उन्होने सतीशचन्द्र द्वारा उद्धृत १७वी सदी के एक लेखक वाजिद का हवाला भी दिया है। वाजिद के अनुसार भंगी या चमार अपना घर छोड़कर गुरु के यहाँ पहुँच जायें तो थोडे ही दिनों मे अफसर बनकर वह अपने घर आ जाता है। (पृ. ३४५))। सतनामी सम्प्रदाय अपने विद्रोह के लिए विशेष प्रसिद्ध हुआ। एक समकालीन इतिहासकार के अनुसार सतनामी लोग ज्यादातर खेती करते थे या छोटा-मोटा व्यापार करते थे। वे किसी का अत्याचार न सहते थे। उनमें अधिकांश हथियार लेकर चलते थे। अन्य समकालीन इतिहासकार ने लिखा है कि वे बहुत ही गन्दे रहते है तथा हिन्दुओं और मुसलमानों मे भेद नही करते। (पृष्ठ ३४३)। निस्सन्देह जाति-प्रथा ही न टूट रही थी, हिन्दुओं और मुसलमानों का भेद भी मिट रहा था। समाज के निम्नवर्ग के लोग धर्म और वर्ण की सीमाएँ लाँघकर वर्ग आधार पर संगठित हो रहे थे। सतनामियों का विद्रोह देखकर समकालीन इतिहासकार चकित रह गये थे। उनकी समझ में यह भाग्य का खेल था कि बढ़ई, मेहतर, चमार और छोटी जातियों के कारीगर

सरकश हो उठे है, उनके सिर में बगावत भर गयी है। मेवात मे ये लोग अचानक टिड्डी दल की तरह फैल गये, लड़ाई का उपयुक्त सामान न होने पर भी उन्होंने शाही फौज के खिलाफ महाभारत मचा दी। (पृष्ठ ३४४)। भारत में जनवादी क्रान्ति की यह शुरूआत थी, उसकी एक झलक मात्र थी। १८५७ से पहले यह सब हो चुका था। अंग्रेज़ी राज मे यदि उसकी आवृत्ति हुई तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए।

मुगल साम्राज्य एक अन्य अन्तर्विरोध हल नही कर पाया, वह विभिन्न प्रदेशो में रहनेवाली, विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाली जातियो का अन्तर्विरोध था। बिरादरीवाली जातियों से ये जातियाँ अलग हैं। ब्रज में जो विद्रोह हुआ वह जाटों का विद्रोह कहलाया। जाट उत्तर भारत के बहुत बड़े क्षेत्र में फैले हुए है किन्तु जाटों की राज्यसत्ता का आधार ब्रजभूमि थी और ब्रज एक जनपद है। जैसे छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड में अपनी राज्यसत्ता स्थापित की थी, वैसे ही सूरजमल ने ब्रज में अपना राज्य बनाया था। ये जनपदों पर आधारित राज्य थे। वास्तव में जाट कोई जाति नही है। सामन्ती व्यवस्थावाली जाति (कास्ट) की विशेषता है उसका किसी पेशे के आधार पर बनना। कुम्हार, लुहार, चमार आदि बिरादरियाँ अपने नाम से ही पेशे की सूचना देती हैं। सामन्ती समाज में बहुत से कबीले बहुत कुछ अपना पुराना रूप कायम किये रहे। जाट ऐसा ही कबीला था। जाट सामन्ती व्यवस्था वाली किसी जाति का नाम नही है। गूजरों में यह बात और भी स्पष्ट देखी जा सकती है। ये लोग सामन्ती व्यवस्था में अपना पुराना गण-समाजवाला रूप कुछ-कुछ बनाये हुए थे। ऐसे लोग बादशाही से लड़े; जो लोग सामन्ती व्यवस्था से अलग कबीलों के रूप में संगठित थे, वे भी लड़े। मुगलों ने बहुत-से गण-समाज नष्ट कर दिये, बहुत से कबीले पुरानी ज़मीन छोड़कर भागे और दूसरी जगह बस गये। बादशाही को खत्म करने में इन कबीलों का भी हाथ था।

जैसे ब्रज जनपद के शासक जाट थे, वैसे ही अवध जनपद के शासक मुसलमान थे। शासको के जाट या मुसलमान होने से राज्यो की जनपदीयता में बट्टा नहीं लगता। पंजाब मे शासक सिक्ख थे; सिक्ख राज्य वास्तव में पंजाबी राज्य था। मराठों को किसी जाति-बिरादरी से जोड़ना सम्भव नही। मराठों का राज्य मराठीभाषी जाति (नैशनैलिटी) का राज्य था, इसमें सन्देह नही। विभिन्न जनपदों और जातीय प्रदेशों को नये सिरे से एक सूत्र मे बाँधना आवश्यक था। १८५७ में यह प्रयत्न हुआ किन्तु औरंगज़ेब के बाद अभी अलगाव की भावना प्रबल थी, दूसरे के प्रदेश पर अधिकार जमाने की भावना प्रबल थी। जिस क्षेत्र में सामन्ती व्यवस्था को अपेक्षाकृत अशक्त बनाया गया था, वह हिन्दुस्तान अर्थात् हिन्दी प्रदेश था। जमीदारों के बारे में अपने मुख्य निष्कर्ष देते हुए इरफान हबीब ने लिखा है कि लाहौर से बिहार तक ज़ब्ती सूबों के क्षेत्र मे सामन्तों के अस्तित्व का चिह्न कम है, उसके इर्द-गिर्द वे फैले हुए दिखायी देते हैं। जम्मू से कुमायूँ तक और तराई से जहाँ-तहाँ और भी पूरब तक रजवाड़ों की श्रृंखला है। चनाब नदी के पश्चिम में बलूच सरदार थे। मैदानों के दक्षिणी छोर पर हरियाणा के कुछ भागों में राजपूत राजा थे। आगरा, इलाहाबाद और बिहार सूबों के दक्षिणी

भागों में विन्ध्याचल को छूते हुए ऐसे क्षेत्र थे जो शाही हुकूमत की सीमाओं से बाहर थे। "यह मानते हुए कि कुछ अपवाद हैं, हम पेलसार्ट और मनुच्ची के साथ कह सकते हैं कि हिन्दुस्तान खास में राजाओं और खानदानी ज़मींदारों की हुकूमतवाले इलाके पहाड़ों और जंगलों के पीछे ही दिखायी देते थे।" (पृष्ठ १८७-८८)। जैसे मराठों का अपना प्रदेश था, वैसे ही हिन्दीभाषियों का अपना प्रदेश था। मुगल राज्यसत्ता की आधार-भूमि यह हिन्दुस्तान था। उसके सीमान्तों पर रजवाड़ों की शृंखलाएँ थीं, यह तथ्य ऐतिहासिक विवेचन के लिए महत्वपूर्ण है। हिन्दी प्रदेश में सामन्तवाद जहाँ निर्बल हो रहा था, वहाँ उसे नयी शक्ति देनेवाले स्रोत भी आसपास विद्यमान थे। औरंगज़ेब की बादशाहत खत्म करने में हिन्दुस्तान के किसानों की भूमिका महत्वपूर्ण थी।

(च) व्यक्तिगत भूसम्पत्ति और वर्ग-संघर्ष

भारत में व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति थी या नहीं, इस समस्या पर काफ़ी बहस हुई है। इरफ़ान हबीब ने ध्यान दिलाया है कि यूरुप के सभी यात्रियों ने एक स्वर से कहा है कि भूमि पर बादशाह का अधिकार था, किन्तु समकालीन भारतीय लेखकों ने कहीं भी बादशाह को भूमि का स्वामी नहीं माना। अबुल फज़ल ने किसान और सौदागर पर टैक्स लगाने की बात कही है। बादशाह अपनी प्रजा की सुरक्षा का ध्यान रखता है, इसलिए वह प्रजा पर टैक्स लगाता है। किसान बादशाह की ज़मीन में खेती करता है और इसके लिए उसे मालगुज़ारी देता है, इसका उल्लेख नहीं है। (पृष्ठ १११)। अबुल फज़ल द्वारा किसान और सौदागर का एक साथ उल्लेख अकारण नहीं है। सौदागर की व्यक्तिगत सम्पत्ति के बारे में किसी को सन्देह नहीं होता। जैसे सौदागर की सम्पत्ति, वैसे ही किसान की सम्पत्ति। इरफ़ान हबीब ने शहरी क्षेत्रों के बारे में लिखा है कि वहाँ व्यक्तिगत भू-सम्पत्ति की धारणा निश्चित रूप से विद्यमान थी। बादशाह की प्रजा स्वयं बादशाह के हाथ ज़मीन बेचती है; उस भूमि पर बादशाह का अधिकार है, इसके विरुद्ध दावा करती है। शहरों के बाहर भी, अनेक दस्तावेज़ों के अनुसार, ज़मीन के मालिकों और उनकी मिल्कियत का उल्लेख है। यूरुपवालों को लगता था कि जागीरदार यूरुप के अभिजात-वर्ग के समान हैं। बादशाह जागीरदारों को एक जगह से दूसरी जगह भेज देता था, इसलिए उन्होंने नतीजा निकाला कि ज़मीन पर जागीरदारों की जगह बादशाह का अधिकार है। ज़मीन पर किसान का व्यक्तिगत अधिकार हो सकता है, यह बात उनकी कल्पना से परे थी। देश के बहुत से भागों में रैयती गाँव थे जहाँ न जागीरदार था और न ज़मींदार था। "यूरुप के यात्रियों को भूमि की उपज में हिस्सा बँटानेवाले दो ही वर्ग दिखायी देते थे, एक ओर किसान, दूसरी ओर बादशाह और उसके जागीरदार। वे किसानों को मालिक के रूप में कल्पित न कर सकते थे, इसलिए भूमि का स्वामी अकेला बादशाह रह गया।" (पृष्ठ ११३)।

इरफ़ान हबीब की अपनी राय यह है कि किसान को अपनी ज़मीन जोतने का मौरूसी हक था किन्तु वह उसका मालिक न था। इस राय के विपरीत उन्होंने

ग्फी रों का हवाला दिया है जिसके अनुसार मालगुज़ारी वसूल करनेवाले हाकिम किसानों की निजी और वंशागत भूमि बेच लेते थे। (पृष्ठ ११३)। यदि यह माना जाये कि वंशगत ज़मीन व्यक्तिगत सम्पत्ति न थी वरन् परम्परा से चली आती हुई किसान की ऐसी भूमि थी जिससे उसे बेदखल न किया जा सकता था, तो भी हाकिम ऐसी जमीन बेच लेते थे, इसमें पूरी तरह स्पष्ट है कि जमीन निजी सम्पत्ति के रूप में बेची और खरीदी जाती थी। वह बेची और खरीदी तभी जा सकती थी जब वह किसी-न-किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति मानी गयी हो। इरफान हबीब कहते हैं कि कई दस्तावेज़ों में मिल्की ज़मीन का इस तरह उल्लेख है कि लगता है, वहाँ भूमि के मालिक किसानों की चर्चा है। (पृष्ठ ११४)। आईने-अकबरी का हवाला देते हुए वह कहते हैं कि खेत पर किसान का मौरूसी अधिकार था। मुहम्मद हाशिम के नाम फ़रमान में किसान के अधिकार का इस तरह उल्लेख है कि उससे ज्ञान होता है कि वह अधिकार बेचा जा सकता था। (पृष्ठ ११५)। जैसे ज़मींदार का अधिकार बेचा जा सकता था, वैसे ही किसान का अधिकार बेचा जा सकता था। यदि जोतने के अधिकार और भूमि पर सम्पत्तिगत अधिकार में भेद किया जाये, तब भी साबित यह होता है कि ज़मीदार और किसान दोनों के अधिकार बिकाऊ माल बन चुके थे। ऐसा तभी सम्भव है जब काफी बड़े पैमाने पर बिकाऊ माल का उत्पादन एवं वितरण होने लगा हो। इरफ़ान हबीब का मत है कि किसान को अपनी ज़मीन बेचने का अधिकार नहीं था; ज़मीन उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति तब होती जब वह अपनी इच्छानुसार उसे अपने पास रखता या दूसरे को बेच देता। उनके अनुसार एक तरह से तो जमीन किसान की थी, पर दूसरी तरह से किसान ज़मीन का था, वह उसे जोतने-बोने से इन्कार न कर सकता था। (उप.)। राज्यसत्ता को किसान की खेती से भारी आमदनी होती थी, वह उसे बाध्य करती थी कि खेती करता रहे। बँधुआ मजदूरों और किसानों में बहुत बड़ा अन्तर है। बँधुआ मजदूर ज़मीन छोड़कर कहीं जा नहीं सकते, जमीन बिके तो उसके साथ वे भी बेच दिये जाते हैं। इसके विपरीत यहाँ किसान सताये जाने पर एक जगह से दूसरी जगह जाकर ठिकाना कर लेते थे, वे अपनी भूमि जोतने का अधिकार दूसरे को दे सकते थे या उसे बेच सकते थे। मारवाड़ का एक किसान बिहार में जाकर बस गया था। "किसानों की यह गतिशील होने की क्षमता उस समय के सामाजिक और आर्थिक जीवन का ऐसा लक्षण है जिस पर हमारी निगाह ठहर जाती है। मनुष्य के उत्पीड़न या अकाल का यह पहला उत्तर था जो किसान देता था। इससे यह बात समझ में आती है कि उसका उत्पीड़क क्यों यह चाहता था कि उसके पास इतना बल हो कि किसान को भागने से रोक सके।" (पृष्ठ ११७)। बँधुआ मज़दूर के लिए जमीन छोड़कर भागना असम्भव है। इक्का-दुक्का भाग जायें, वह अपवाद की बात है। यहाँ किसानों के जीवन का एक विशिष्ट लक्षण है कि वे एक जगह से हटकर दूसरी जगह अपना गाँव बसा लेते हैं। औरंगज़ेब के समय में किसानों ने जो भूमिका निबाही, वह उन स्वाधीन किसानों की भूमिका है जो राज्य की कर-व्यवस्था और हाकिमों की निरंकुशता से क्षुब्ध होकर अपने अधिकारों के लिए लड़े। औरंगज़ेब के साम्राज्य को, मुगलों की निरंकुश

राजसत्ता को ध्वस्त करने का मुख्य श्रेय किसानों को है। मुगल दस्तावेज़ों में मराठों को 'नामरदारान' (पृष्ठ ३४७, पादटिप्पणी ४६) कहा जाता था। यह शब्द बहुत रोचक है। मुगल अपने जागीरदारों से परिचित थे, राजपूत राजाओं से परिचित थे। इन जागीरदारों और राजाओं की सेना अपने सरदारों के अधीन होकर लड़ती थी। किन्तु मराठों की सेना जागीरदारों और राजाओं के बिना भी लड़ती थी। इसीलिए मुगलों को सभी मराठे सरदारविहीन जान पड़ते थे।

डा. हबीब ने एक वाक्य बड़े मार्के का लिखा है। ग्राम समाजों का प्रसंग है। लिखा है, "बिकाऊ माल का उत्पादन और उसके साथ चलनेवाली लाज़मी प्रक्रिया व्यक्तिगत भूस्वामित्व, इन दोनों के कारण गाँव में किसी भी प्रकार की समानता का बना रहना अवश्यही असम्भव हो गया होगा।" (पृष्ठ ११६)। (Commodity production and its corollary, individual landholding, must have necessarily ruled out any kind of equality in the village.) यहाँ बिकाऊ माल के साथ व्यक्तिगत भूस्वामित्व का उल्लेख अर्थशास्त्र-सम्बन्धी सही सूझबूझ का प्रमाण है। बिकाऊ माल केवल शहरों मे तैयार न किया जाता था, वह गाँवो मे भी तैयार किया जाता था। शहरों में बिकाऊ माल तैयार करनेवाला आदमी व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्वामी न हो, यह सम्भव नही है। इसी तरह गाँवों में भी बिकाऊ माल पैदा करनेवाले किसान अपनी भूमि के मालिक होगे। पूंजीवाद विकास की पहली मंज़िल मे कारीगर और किसान दोनों उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं। अकबर से औरंगज़ेब के समय तक बिकाऊ माल की पैदावार जिस पैमाने पर हुई, वह भूमि पर व्यक्तिगत सम्पत्ति के बिना सम्भव न थी। जहाँ भूमि व्यक्तिगत सम्पत्ति न होगी, वहाँ वह सामूहिक सम्पत्ति होगी। किन्तु भारत के प्रसिद्ध ग्रामसमाज सामूहिक रूप में न तो खेती करते थे और न भूमि के स्वामी थे। चरी की भूमि पर पूरे ग्राम-समाज का अधिकार था। खेती की ज़मीन इससे भिन्न थी। इरफान हबीब ने ग्राम-समाजों के प्रसंग मे ठीक लिखा है कि भूमि पर इस समाज का सामूहिक स्वामित्व न था। (पृष्ठ १२३)। खेत पर सामूहिक स्वामित्व नहीं है, उस पर बादशाह का अधिकार नही है, स्वाभाविक है कि उस पर अधिकार किसान का होगा।

गाँवो मे विभिन्न वर्ग उभर रहे थे, धनी और निर्धन किसानों का भेद बढ़ रहा था। यह स्थिति व्यक्तिगत सम्पत्ति से सम्भव हुई। अधिकाश गाँवो मे समाज का एक अंश ऐसा था जो भूमिहीन था, यह अंश शूद्र वर्ण के लोगो का था। इनका काम ज़मीन के मालिको की सेवा करना था। वास्तविक बँधुआ मज़दूर या अर्द्ध-दास ये थे। जब तक गाँव के खाते-पीते लोग एक जगह बसे हुए हैं, तब तक ये शूद्र भी वहाँ बसे हुए हैं। जब ये खाते-पीते लोग उठकर दूसरी जगह जायेंगे, तब उनके ये सेवक भी साथ जायेंगे। पुरानी वर्ण-व्यवस्था के अनुसार जो भूमिधर द्विज थे, वे हल न चलाते थे। यह काम शूद्र का था। द्विज किसान भूमि का स्वामी था और शूद्र उसका अर्द्धदास था। उत्तर भारत मे जाटों और राजपूतों की सामाजिक स्थिति मे अन्तर था। जाटों को हल चलाने से कोई परहेज न था; राजपूत इस काम से यथासम्भव बचते थे। जाट और राजपूत वर्णव्यवस्थावाली जातियाँ नही हैं,

किसी पेशे के अनुसार इनका यह नाम नही रखा गया, पुराने कबीलों के लोग पुरानी जीवनचर्या छोड़कर सामन्ती व्यवस्था के अनुरूप खेती-किसानी मे लग गये। इसी प्रकार गूजर और अहीर खेती के कामो के लिए शूद्रो पर उस तरह निर्भर न थे जिस तरह राजपूत या ब्राह्मण निर्भर थे। जब हम किसानो की बात करते हैं, तब उनके अनेक स्तरों को ध्यान मे रखना आवश्यक है। मुसलमानों मे भी इसी प्रकार विभिन्न स्तरों के लोग थे जिनका सम्बन्ध किसानी या कारीगरो से था।

औरंगज़ेब के समय मे शूद्रो की स्थिति में परिवर्तन हो रहा था। इनके बारे मे इरफ़ान हबीब ने लिखा है कि ज़मीदारों और काश्तकारों के खेतो मे चमार पगार लेकर काम करते थे। (पृष्ठ १२०)। सामन्ती व्यवस्था की विशेषता है भूमिहीन सेवकों से बेगार कराना। बदले मे कुछ खाने-पीने को दे दें, यह मालिक की इच्छा पर निर्भर है। चमार खेत पर काम करे और इसके लिए उसे पगार दी जाये, यह नियम पूँजीवादी व्यवस्था का है। भूमिहीन मजदूर अपनी मेहनत से गाँव मे भी पगार कमाने लगा था, यह उसके शूद्रत्व की समाप्ति की घोषणा थी। वह अर्द्धदास से अब ग्रामीण सर्वहारा बन रहा था। ज़मीदारों के साथ जिन काश्तकारों के यहाँ उसके काम करने का उल्लेख है, वे स्पष्ट ही ऐसे किसान हैं जो अपनी ज़मीन के मालिक है। जो शूद्र बेगार करने के बदले पगार लेकर मजदूरी करते थे, वे अपनी पुरानी वर्णगत दासता से बाहर निकल आये थे। जो शूद्र जाति-पाँति का भेद तोड़कर, हिन्दू-मुसलमान का भेद समाप्त करके, हथियार लेकर राज्यसत्ता से लड़ते थे, वे अपने अधिकारों के लिए ही नही, समाज के सभी उत्पीड़ित और निर्धनजनो की मुक्ति के लिए लड़ते थे। यह लड़ाई सीमित थी और उसे निर्दयतापूर्वक दबाया गया, इससे उसका ऐतिहासिक महत्व कम नही होता। ध्यान देने की बात यह है कि सबसे पहले बिकाऊ माल के उत्पादन से शहर के कारीगर प्रभावित हुए। भारत में और यूरुप के अनेक देशों मे शहर का जुलाहा विशेष रूप से प्रगतिशील दिखायी देता है। इसका कारण यह है कि कपड़े के उत्पादन और बिक्री से उसका सीधा सम्बन्ध है। गाँव के शूद्रों मे जो हलचल पैदा हुई, उन्हें सर उठाने का जो अवसर मिला, इसका कारण सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। इन परिस्थितियों की विशेषता है पुराने उत्पादन और वितरण की सीमाओं का टूटना, लाभ के लिए माल तैयार करना, नील, गन्ने आदि की खेती करना। बाज़ार के निर्माण से, द्रव्य के चलन से ऐसी स्थिति पैदा हुई कि पुराने वर्ग टूटें और नये वर्ग बनें।

मुगल राज्यसत्ता की विशेषता यह थी कि मालगुज़ारी वसूल करने के लिए वह सीधे किसान से सम्पर्क कायम करना चाहती थी। विशेष रूप से जिस प्रदेश को हिन्दुस्तान कहा जाता था, उसमें चाहे किसान को छूट देने का प्रश्न हो, चाहे कर वसूल करने का प्रश्न हो, राज्यसत्ता सीधे किसान से व्यवहार करना सही मानती थी। उसका आदर्श यही था। इससे सिद्ध यह होता है कि व्यवहार में राज्यसत्ता किसान को भूमि का स्वामी मानती थी। यह स्थिति पूँजीवाद के अबाध विकास के लिए पर्याप्त नहीं थी। सामन्ती बन्धन अब भी मज़बूत थे। जो विकास हुआ, वह सामन्ती व्यवस्था के गर्भ में हुआ। परस्पर विरोधी घटनाएँ हो रही थीं।

मराठों की राज्यसत्ता किसी जनपद तक सीमित नहीं थी। वह मराठीभाषी जाति की राज्यसत्ता थी, किन्तु मुगल बादशाही खत्म होने पर या उसके कमजोर पड़ने पर जब अवध में नवाबी कायम हुई, तब यह कोई प्रगतिशील कदम न था। पंजाब और महाराष्ट्र में जातीय राज्य कायम हुए। हिन्दीभाषियों का जातीय प्रदेश हिन्दुस्तान मुगलशासन में एकताबद्ध था। इस एकताबद्ध राज्य के टूटने पर छोटे-बड़े सामन्तों को उभरने का मौका मिला। बड़े सामन्तों और छोटे जमींदारों में भेद करना आवश्यक है। बड़े-बड़े राजा और नवाब किसानों के मुख्य शोषक थे। इनकी तुलना में छोटे जमींदार किसानों के बहुत कुछ सहयोगी थे। यही कारण है कि वे किसानों के साथ मिलकर औरंगजेब से लड़े और १८५७ में अंग्रेजों से लड़े। जमींदारों के बारे में इरफान हबीब ने एक निराशाजनक बात यह लिखी है कि इनका वर्ग आपस में बुरी तरह विभाजित था, स्थानीयता और बिरादरी के बन्धनों से जकड़ा हुआ था, इस कारण वह एकताबद्ध होकर शासक वर्ग न बन सका और न साम्राज्य का निर्माण कर सकता था। "देश के सबसे शक्तिशाली वर्ग की इस असमर्थता से कम-से-कम एक कारण का पता चल जाता है जिसमें मध्यकालीन भारत में साम्राज्य-निर्माण की प्रेरणा विदेशी विजेताओं से ही प्राप्त हुई।"(पृष्ठ १६६)। विदेशी विजेताओं ने जब अपना विदेशीपन छोड़ा, तुर्की छोड़कर वे यहाँ की भाषाएँ बोलने लगे, तभी वे साम्राज्य का निर्माण कर सके। इस साम्राज्य के मुख्य आधार यहीं के सामन्त थे जिनका एक अंश जमींदार थे। मुगलों ने फ़ारसी को राजभाषा बनाया, वह वास्तव में उनके लिए विदेशी भाषा थी। किन्तु साम्राज्य-निर्माण से भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य है साम्राज्य का नाश। इरफ़ान हबीब को इस बारे में सन्देह नहीं है कि किसानों ने जमींदारों के नेतृत्व में मुगल साम्राज्य का नाश किया। इसका नाश करने के बाद वे सामन्तविहीन राज्य का निर्माण नहीं कर सके, वह उनकी सीमा थी। इतिहास से जो सीख मिलती है, वह यह कि भारतीय किसान यदि औरंगजेब जैसे प्रतापी बादशाह की सत्ता को ध्वस्त कर सकते थे तो आज वे मजदूरों के साथ मिलकर सामन्ती और साम्राज्यवादी उत्पीड़न से मुक्त एक शक्तिशाली और स्थायी राज्य का निर्माण भी कर सकते हैं।

(छ) पूंजीवाद की व्याख्या

पूंजीवाद शब्द की व्याख्या को लेकर कई तरह के भ्रम उत्पन्न होते हैं। इन भ्रमों के कारण किसी भी समाज का विकास समझने में गलतियाँ हो सकती हैं। मार्क्स ने पूंजी (प्रथम खण्ड) में अपना ध्यान औद्योगिक पूंजी के अध्ययन पर केन्द्रित किया था। पूंजीवाद का अर्थ बहुत से विद्वानों के लिए औद्योगिक पूंजीवाद है। भ्रमों की जड़ है सामाजिक विकास में विनिमय की सापेक्ष स्वतन्त्र सत्ता, उसकी भूमिका को न पहचानना। इसका एक परिणाम है भारतीय बाज़ार को बरबाद करने में अंग्रेज़ों की भूमिका को न पहचानना। दूसरा परिणाम है, औद्योगिक पूंजीवाद से पहले इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस, इटली आदि यूरुप के देशों में तथा भारत में जो आधुनिक जातियों का निर्माण हुआ, जातीय भाषाओं का जो प्रसार हुआ, उसे न

पहचानना, उससे आर्थिक विकास के लिए जो अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलते है, उनकी अनदेखी करना। इसी के साथ कला और साहित्य के क्षेत्र में जो युगान्तरकारी विकास यूरुप और भारत में हुआ, उसकी नयी सामाजिक पृष्ठभूमि की अनदेखी की जाती है, कला और साहित्य के इतिहास मे सामाजिक पृष्ठभूमि के लिए जो अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलते है, उनका उपयोग नही किया जाता। सामाजिक विकास की जो वक्र रेखा बनती है, उत्पादन और विनिमय उसकी कोटि और भुजा है, एंगेल्स की यह बात ब्रिटिशपूर्व भारत के समाज का विवेचन करते समय याद रखनी चाहिए। पूंजीवाद की व्याख्या को लेकर जो भ्रम पैदा होते हैं, उनका मूल कारण यदि विनिमय की भूमिका को न पहचानना है तो गौण कारण उत्पादन के नये किन्तु गैरमशीनी रूपो की व्यापकता को न पहचानना है। इन नये रूपों मे ददनी प्रथा है जिसका व्यापक चलन भारत मे था, यहाँ यूरोपियन व्यापारियो के अड्डे कायम होने से पहले था और औद्योगिक क्रान्ति से पहले इंग्लैण्ड और रूस जैसे यूरुप के देशों में था। यह प्रथा व्यापक होने के अलावा दीर्घकालीन भी होती है; शताब्दियाँ बीत जाती है, तब नये बाज़ार कायम होने पर, पुराने बाज़ारों का विस्तार होने पर, बाज़ार में बड़े पैमाने पर तैयार किये हुए माल की खपत की सम्भावना होने पर, और मुख्यत: पराधीन देशो की लूट से तथा गौणरूप मे घरेलू लूट से पूंजी संग्रह हो जाने पर मशीनी उत्पादन की नौबत आती है। यूरुप का ऐसा कौन-सा देश है जो दूसरे देशों को लूटे बिना मशीनी उत्पादन की मंज़िल तक पहुँचा हो ? देखिए न, औद्योगिक पूंजी कैसे जन्मते ही अपना अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप उजागर करती है ! गैरमशीनी उत्पादन के पूंजीवादी रूपों की व्यापकता और दीर्घकालीनता को उपेक्षाभाव से देखने का परिणाम यह होता है कि अंग्रेज़ों ने भारत में इन रूपों का नाश करके देश को जो पीछे ठेल दिया, वह उनकी विनाशकारी भूमिका हम पहचान नहीं पाते; भारत के पीछे ठेले जाने की क्रिया से इंग्लैण्ड के आगे ठेले जाने की क्रिया का अभिन्न सम्बन्ध है, यह सत्य आँखों से ओझल रहता है।

इरफान हबीब ने मुगल भारत के अर्थतन्त्र में पूंजीवादी विकास की निगूढ़ क्षमता पर (Potentialities of Capitalistic Development in the Economy of Mughal India, 'Enquiry', Winter 1971) विचार करते हुए लिखा है : हम मानते है कि पूंजीवादी सम्बन्ध केवल बाज़ार या द्रव्य के सम्बन्ध नहीं हैं; वे ऐसे सम्बन्ध हैं जो उत्पादन की उस विशेष पद्धति पर आधारित हैं जिसमें उत्पादक अपने औजारों से जुदा कर दिया जाता है, वह स्वयं तो पगारजीवी मजदूर हो जाता है और उत्पादन के औजारों और इनके साथ कच्चे माल तथा तैयार माल का मालिक हो जाता है उससे काम करानेवाला पूंजीपति। इरफान हबीब स्वीकार करते है कि यह व्याख्या पूंजीवाद को उस आर्थिक संगठन तक सीमित कर देती है जो औद्योगिक क्रान्ति के शुरू हो जाने पर प्रधान हुआ। वह जानते हैं कि इस पर वे लोग आपत्ति कर सकते हैं जो बाज़ारवाले अर्थतन्त्र (मार्केट इकौनॉमी) के चलन को पूंजीवाद का सारतत्व मानते हैं और इसलिए वे यूरुप में पूंजीवाद का अभ्युदय काल १८वी-१९वी सदियों से बहुत पहले मानते

मराठों की राज्यसत्ता किसी जनपद तक सीमित नहीं थी। वह मराठीभाषी जाति की राज्यसत्ता थी, किन्तु मुगल बादशाही खत्म होने पर या उसके कमजोर पड़ने पर जब अवध मे नवाबी कायम हुई, तब यह कोई प्रगतिशील कदम न था। पंजाब और महाराष्ट्र में जातीय राज्य कायम हुए। हिन्दीभाषियों का जातीय प्रदेश हिन्दुस्तान मुगलशासन में एकताबद्ध था। इस एकताबद्ध राज्य के टूटने पर छोटे-बड़े सामन्तों को उभरने का मौका मिला। बड़े सामन्तों और छोटे ज़मीदारों में भेद करना आवश्यक है। बड़े-बड़े राजा और नवाब किसानों के मुख्य शोषक थे। इनकी तुलना मे छोटे ज़मींदार किसानों के बहुत कुछ सहयोगी थे। यही कारण है कि वे किसानों के साथ मिलकर औरंगज़ेब से लड़े और १८५७ में अंग्रेज़ों से लड़े। ज़मीदारों के बारे में इरफ़ान हबीब ने एक निराशाजनक बात यह लिखी है कि इनका वर्ग आपस मे बुरी तरह विभाजित था, स्थानीयता और बिरादरी के बन्धनों से जकड़ा हुआ था, इस कारण वह एकताबद्ध होकर शासक वर्ग न बन सका और न साम्राज्य का निर्माण कर सकता था। "देश के सबसे शक्तिशाली वर्ग की इस असमर्थता मे कम-से-कम एक कारण का पता चल जाता है जिसमें मध्यकालीन भारत में साम्राज्य-निर्माण की प्रेरणा विदेशी विजेताओं से ही प्राप्त हुई।"(पृष्ठ १६६)। विदेशी विजेताओं ने जब अपना विदेशीपन छोड़ा, तुर्की छोड़कर वे यहाँ की भाषाएँ बोलने लगे, तभी वे साम्राज्य का निर्माण कर सके। इस साम्राज्य के मुख्य आधार यहीं के सामन्त थे जिनका एक अंश ज़मीदार थे। मुगलों ने फ़ारसी को राजभाषा बनाया, वह वास्तव मे उनके लिए विदेशी भाषा थी। किन्तु साम्राज्य-निर्माण से भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य है साम्राज्य का नाश। इरफान हबीब को इस बारे मे सन्देह नहीं है कि किसानों ने ज़मीदारों के नेतृत्व में मुगल साम्राज्य का नाश किया। इसका नाश करने के बाद वे सामन्तविहीन राज्य का निर्माण नहीं कर सके, वह उनकी सीमा थी। इतिहास से जो सीख मिलती है, वह यह कि भारतीय किसान यदि औरंगज़ेब जैसे प्रतापी बादशाह की सत्ता को ध्वस्त कर सकते थे तो आज वे मजदूरों के साथ मिलकर सामन्ती और साम्राज्यवादी उत्पीड़न से मुक्त एक शक्तिशाली और स्थायी राज्य का निर्माण भी कर सकते हैं।

(छ) पूंजीवाद की व्याख्या

पूंजीवाद शब्द की व्याख्या को लेकर कई तरह के भ्रम उत्पन्न होते हैं। इन भ्रमों के कारण किसी भी समाज का विकास समझने मे गलतियाँ हो सकती हैं। मार्क्स ने पूंजी (प्रथम खण्ड) मे अपना ध्यान औद्योगिक पूंजी के अध्ययन पर केन्द्रित किया था। पूंजीवाद का अर्थ बहुत से विद्वानों के लिए औद्योगिक पूंजीवाद है। भ्रमों की जड़ है सामाजिक विकास मे विनिमय की सापेक्ष स्वतन्त्र सत्ता, उसकी भूमिका को न पहचानना। इसका एक परिणाम है भारतीय बाज़ार को बरबाद करने में अंग्रेज़ों की भूमिका को न पहचानना। दूसरा परिणाम है, औद्योगिक पूंजीवाद से पहले इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस, इटली आदि यूरुप के देशों में तथा भारत मे जो आधुनिक जातियों का निर्माण हुआ, जातीय भाषाओं का जो प्रसार हुआ, उसे न

पहचानना, उससे आर्थिक विकास के लिए जो अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं, उनकी अनदेखी करना। इसी के साथ कला और साहित्य के क्षेत्र में जो युगान्तरकारी विकास यूरुप और भारत मे हुआ, उसकी नयी सामाजिक पृष्ठभूमि की अनदेखी की जाती है, कला और साहित्य के इतिहास से सामाजिक पृष्ठभूमि के लिए जो अप्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं, उनका उपयोग नही किया जाता। सामाजिक विकास की जो वक्र रेखा बनती है, उत्पादन और विनिमय उसकी कोटि और भुजा हैं, एंगेल्स की यह बात ब्रिटिशपूर्व भारत के समाज का विवेचन करते समय याद रखनी चाहिए। पूँजीवाद की व्याख्या को लेकर जो भ्रम पैदा होते है, उनका मूल कारण यदि विनिमय की भूमिका को न पहचानना है तो गौण कारण उत्पादन के नये किन्तु गैरमशीनी रूपों की व्यापकता को न पहचानना है। इन नये रूपों में ददनी प्रथा है जिसका व्यापक चलन भारत मे था, यहाँ यूरोपियन व्यापारियो के अड्डे कायम होने से पहले था और औद्योगिक क्रान्ति से पहले इंग्लैण्ड और रूस जैसे यूरुप के देशों में था। यह प्रथा व्यापक होने के अलावा दीर्घकालीन भी होती है; शताब्दियाँ बीत जाती हैं, तब नये बाज़ार कायम होने पर, पुराने बाज़ारों का विस्तार होने पर, बाज़ार में बड़े पैमाने पर तैयार किये हुए माल की खपत की सम्भावना होने पर, और मुख्यतः पराधीन देशों की लूट से तथा गौणरूप में घरेलू लूट से पूँजी संग्रह हो जाने पर मशीनी उत्पादन की नौबत आती है। यूरुप का ऐसा कौन-सा देश है जो दूसरे देशों को लूटे बिना मशीनी उत्पादन की मंजिल तक पहुँचा हो? देखिए न, औद्योगिक पूँजी कैसे जन्मते ही अपना अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप उजागर करती है! गैरमशीनी उत्पादन के पूँजीवादी रूपों की व्यापकता और दीर्घकालीनता को उपेक्षाभाव से देखने का परिणाम यह होता है कि अंग्रेज़ों ने भारत में इन रूपों का नाश करके देश को जो पीछे ठेल दिया, वह उनकी विनाशकारी भूमिका हम पहचान नहीं पाते; भारत के पीछे ठेले जाने की क्रिया से इंग्लैण्ड के आगे ठेले जाने की क्रिया का अभिन्न सम्बन्ध है, यह सत्य आँखों से ओझल रहता है।

इरफान हबीब ने मुगल भारत के अर्थतन्त्र में पूँजीवादी विकास की निगूढ़ क्षमता पर (Potentialities of Capitalistic Development in the Economy of Mughal India, 'Enquiry', Winter 1971) विचार करते हुए लिखा है: हम मानते है कि पूँजीवादी सम्बन्ध केवल बाज़ार या द्रव्य के सम्बन्ध नही हैं; वे ऐसे सम्बन्ध हैं जो उत्पादन की उस विशेष पद्धति पर आधारित हैं जिसमें उत्पादक अपने औजारों से जुदा कर दिया जाता है, वह स्वयं तो पगारजीवी मजदूर हो जाता है और उत्पादन के औजारों और इनके साथ कच्चे माल तथा तैयार माल का मालिक हो जाता है उसमे काम करानेवाला पूँजीपति। इरफान हबीब स्वीकार करते हैं कि यह व्याख्या पूँजीवाद को उस आर्थिक संगठन तक सीमित कर देती है जो औद्योगिक क्रान्ति के शुरू हो जाने पर प्रधान हुआ। वह जानते हैं कि इस पर वे लोग आपत्ति कर सकते हैं जो बाज़ारवाले अर्थतन्त्र (मार्केट इकोनॉमी) के चलन को पूँजीवाद का सारतत्व मानते हैं और इसलिए वे यूरुप में पूँजीवाद का अभ्युदय काल १८वीं-१९वीं सदियों से बहुत पहले मानते

है। मेरी समझ में प्रश्न यह नहीं है कि पूंजीवाद का सारतत्व क्या है, प्रश्न यह है कि व्यापारिक पूंजीवाद, औद्योगिक पूंजीवाद और महाजनी पूंजीवाद ये तीन तरह के पूंजीवाद है या नहीं अथवा पूंजीवादी विकास की ये तीन मंजिलें हैं या नहीं और हर मंजिल मे व्यापार-उद्योग-महाजनी, ये तीन काम बराबर चालू रहते हैं या नहीं और हर मंजिल मे इनकी भूमिका बदलती है या नहीं। व्यापारिक पूंजीवाद मे उद्योग और महाजनी का अभाव नहीं होता, औद्योगिक पूंजीवाद में व्यापार और महाजनी का अभाव नहीं होता, और महाजनी पूंजीवाद में उद्योग और व्यापार का अभाव नहीं होता। व्यापारिक पूंजीवाद मे व्यापार की, औद्योगिक पूंजीवाद मे उद्योग की, महाजनी पूंजी में महाजनी की प्रधानता होती है, इसी से पूंजीवाद के तीनों रूपों अथवा मंजिलो का नामकरण होता है। भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में प्रश्न यह होगा. यहाँ व्यापारिक पूंजीवाद का विकास हुआ था या नहीं? इस पूंजीवाद के अन्तर्गत उत्पादन में कोई परिवर्तन हुआ था या नहीं? अंग्रेजो ने घरेलू बाजार (और उसके साथ भारत के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार) का नाश किया था या नहीं? भारत मे पूंजीवादी उत्पादन के जो नये रूप पनप रहे थे, उनका नाश किया था या नहीं?

इरफान हबीब के अनुसार बहुत से शहरी कारीगर अपना बिकाऊ माल सीधे उपभोक्ताओं के हाथ बेचते रहे होंगे। कुछ सीधे रईसों के उपभोग के लिए माल तैयार करते थे। इससे व्यापारियों के कामकाज का दायरा सीमित होता होगा किन्तु ज्यादा सीमित न होता होगा। जहाँ तक कीमती चीजों के व्यापार का सम्बन्ध है, "खासतौर से जो चीजें दूर के बाजार के लिए थीं", वहाँ हम देखते है कि सौदागर कारीगरों से भारी मात्रा में माल खरीदते थे। इस तरह के व्यवसाय में लगायी हुई 'पूंजी के परिमाण' के बारे में यूरोपियन यात्रियों की सूचना से जानकारी हो सकती है। १६६३ मे सूरत के व्यापारी बहुत धनी थे और कुछ तो पचास-साठ लाख रुपयों के धनी थे। समुद्र पार के देशों से व्यापार करने के लिए उनके पास पचास जहाज थे। बीरजी वोरा अस्सी लाख के आसामी थे। अब्दुल गफूर के पास भी इतनी ही सम्पदा मानी जाती थी और कहा जाता था कि उनके पास बीस-तीस जहाज हैं। पूरी ईस्ट इण्डिया कम्पनी जितना व्यापार करती थी, उतना व्यापार वह अकेले करते थे। व्यापारियों की सम्पदा के विचार से सूरत कोई अनोखा शहर न था। एक यूरोपियन यात्री ने आगरे के व्यापारियो की अपार सम्पदा का वर्णन करते हुए लिखा था कि कुछ घरो मे सिक्कों के ऐसे अम्बार लगे थे मानो अनाज के ढेर हों। "इसमें सन्देह नहीं कि कुछ प्रतिकूल बातों के बावजूद भारतीय व्यापारियों ने जो सम्पदा बटोरी थी, वह खासी थी।"

इरफ़ान हबीब ने ध्यान दिलाया है कि व्यापारियों के अलावा रईसों (nobles) ने भी व्यापार में पैसा लगाया था। इसका उत्कृष्ट उदाहरण मीर जुमला है "जो अपने समय के सबसे बड़े सौदागरों में" था। मौका मिले तो व्यापार मे पैसा लगाकर मुनाफा कमाने से रईसों को परहेज न था; जहाजों की लदान मे भी पैसा लगाकर मुनाफा कमाने का ढंग उन्होंने अपनाया था। लेकिन बहुत जगह जब पूंजी-निवेश के साथ यत्नपूर्वक इजारा भी कायम ... था, तब यह न कहा जा

सकता था कि इस निवेश से व्यापारिक पूंजी के भण्डार मे वढ़ती हुई है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है मुगल रईसों के पास जो भारी साधन थे, उन्हे देखते व्यापार मे उन्होंने बहुत कम पूंजी लगायी।

यहाँ एक टिप्पणी इजारे पर दरकार है। पूंजीवाद किसी भी दौर मे इजारेदारी से मुक्त नही होता। व्यापारिक पूंजीवाद के दौर मे इजारेदार कम्पनियाँ ही व्यापार में प्रमुख होती है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ऐसी ही इजारेदार कम्पनी थी। वह अपने व्यापार क्षेत्र-में दूसरे अंग्रेज व्यापारियो को घुसने न देती थी। उसने यह एकाधिकार ब्रिटिश अभिजात वर्ग को घूस देकर प्राप्त किया था। बंगाल मे शासन कायम होते ही उसने व्यापार-क्षेत्र से, राजकीय शक्ति का प्रयोग करके, भारतीय व्यापारियों को बाहर निकाला। किसी भी दौर के पूंजीपति हों, वे राज्यशक्ति का उपयोग अपना एकाधिकार जमाने के लिए बराबर करते है। राज्यसत्ता और होती किसलिए है? औद्योगिक पूंजीवाद स्वच्छन्द व्यापार की गुहार तब तक मचाता है जब तक वह पुरानी इजारेदार कम्पनियो को अपनी राह मे रुकावट खड़ी करते देखता है। जैसे ही यह रुकावट दूर होती है, वह अपने बाज़ार मे किसी दूसरे देश के व्यवसाइयों को घुसने नही देता। महाजनी पूंजी के दौर में इजारेदारी नयी मंज़िल मे प्रवेश करती है। व्यापारिक पूंजीवाद मे किसी देश की एक कम्पनी का इजारा उस देश की अन्य कम्पनियो के खिलाफ होता है; औद्योगिक पूंजीवाद मे किसी एक देश के व्यवसाइयो का इजारा अन्य देशों के व्यवसाइयों के खिलाफ होता है; महाजनी पूंजीवाद के दौर मे अन्तर्राष्ट्रीय संघों का इजारा सभी पूंजीवादी देशों के गैरइजारेदार व्यवसाइयों के खिलाफ होता है। पहले कम्पनी का इजारा, फिर राष्ट्रीय इजारा, अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय इजारा, इस तरह पूंजीवाद के विकास के साथ इजारेदारी बढती है और उसके साथ पूंजीपति वर्ग के अन्तर्विरोध बढते है। राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलनों और सर्वहारा वर्ग के मुक्ति आन्दोलनों को इन अन्तर्विरोधों के कारण अपना संघर्ष चलाने मे अनेक सुविधाएं प्राप्त होती हैं। मुगल रईसों ने इजारेदारी के लिए राज्यशक्ति का उपयोग किया तो इससे व्यापारिक पूंजी के भण्डार की बढ़ती पर आंच नही आती।

दूसरी टिप्पणी मुगल रईसों की व्यापार सम्बन्धी कार्यवाही पर दरकार है। ऐसी कार्यवाही जितना ही उजागर होगी, उतना ही मुगल राज्यसत्ता के विशुद्ध सामन्ती स्वरूप में बट्टा लगेगा। ये रईस और शाही घराने के लोग अलग-अलग, व्यक्तिगत रूप से ही व्यापार न करते थे, वे इसके लिए राज्यसत्ता का उपयोग भी करते थे। डा. डी. पन्त ने १९३० में प्रकाशित अपनी पुस्तक **मुगलों की व्यापार-नीति** ('The Commercial Policy of the Moghuls') में ठीक लिखा था कि "उन दिनों राज्यसत्ता सबसे वड़ा सौदागर थी।" (पृ. ६४)। अकबर ने गुजरात, आगरा और कश्मीर के अनेक प्रमुख धन्धों पर अपना इजारा कायम किया था। इनमे घोड़ों की खरीद-फरोख्त शामिल थी। नील के व्यापार और बारूद के कारोबार पर शाहजहाँ का इजारा था। आसफ़जाह शाहजहाँ का ससुर था, मीर जुमला उसका दीवान था, जहाँनारा उसकी लड़की थी। ऐसे लोग व्यापार करेंगे तो राज्यसत्ता का उपयोग अपने हित मे करेंगे ही। यही काम नील और जरी के

वस्त्रों के व्यवसाय से मुनाफा कमानेवाली नूरजहाँ ने किया था। अकबर पर १९१९ में प्रकाशित अपनी पुस्तक में विन्सेन्ट स्मिथ ने लिखा था : "अकबर स्वयं एक व्यापारी था और व्यापार से मुनाफा कमाने में उसे शर्म न थी।" (पृष्ठ ४११)। अंग्रेजी राज कायम होने से पहले भारत में व्यापारिक पूंजीवाद का विकास यूरुप और इग्लैण्ड की तुलना में कम न हुआ था, इतिहासकारों और अर्थशास्त्रियों के बीच इस धारणा को १९४७ तक खासी मान्यता प्राप्त थी। इस धारणा को नकारने की प्रवृत्ति बढ़ी भारत से अंग्रेजों के विदा होने के बाद।

मुगलकाल की साहूकारी व्यवस्था के बारे में इरफान हबीब ने अपने उसी निबन्ध में बताया है कि सराफ अपनी हुण्डियों के जरिये एक जगह से दूसरी जगह तक रुपया ही न भेजते थे वरन् सौदागरों की हुण्डियाँ भुनाकर बहुत हद तक व्यापार में पैसा भी लगाते थे, "विशेष रूप से दूर के और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में।" हुण्डियों का चलन इतना ज्यादा था कि अहमदाबाद के बाजार में व्यापारी सिर्फ़ कागजों की हेराफेरी से भुगतान कर देते थे या अपनी लेनी-देनी का हिसाब दुरुस्त कर लेते थे। सराफों के यहाँ लोग रुपये जमा करते थे, उनसे रुपये उधार भी लेते थे। सराफ धन जमा करनेवाले साहूकारों (deposit bankers) का काम करते थे। जो रकम शाही खजाने में जमा होने को थी, वह भी उनके पास उधार के रूप में पहुँच जाती थी। वे सौदागरों को भारी रकमें उधार देते थे, इसलिए यह सम्भव है कि उनके पास जमा की हुई धनराशि का कुछ भाग 'सौदागरी पूँजी' में बदल जाता था। [जो रकम शाही खजाने के लिए थी किन्तु साहूकारों को उधार मिल जाती थी, वह लाजमी तौर पर दूसरों को उधार दी जाती थी। व्यापार के लिए पूंजी की माँग बराबर बढ़ रही थी, इसीलिए ब्याज की दर चढ़ी हुई थी। ब्याज की ऊँची दर पर भारी रकमें उधार लेने का काम अधिकतर व्यापारी ही करते होंगे। इस तरह शाही खजाने की रकम साहूकारों से होती हुई व्यापारियों तक पहुँचकर राज्यसत्ता और व्यापारियों के सम्बन्ध को मजबूत करती थी।]

इरफ़ान हबीब कहते है : सौदागरी पूंजी के विकास के विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय अर्थतन्त्र काफी आगे बढी हुई मंजिल तक पहुँच गया था। यह बात ध्यान देने की है कि सत्रहवी सदी के यूरोपियन सौदागर और कारिन्दे भारतीय उधार व्यवस्था की कोई गम्भीर आलोचना नहीं करते; यूरोपियन व्यवस्था से उसका भेद, उसकी विशेषताएँ वे पहचानते हैं किन्तु यूरोपियन व्यवस्था की तुलना में भारतीय व्यवस्था को हेठी दिखाने का रुझान उनमे नहीं है।

इरफान हबीब का मत है कि मुगल भारत के अर्थतन्त्र के बारे मे जितनी जानकारी है, उससे मार्क्स की यह धारणा पुष्ट होती दिखायी देती है कि सौदागरी पूंजी अपने ही विकास द्वारा औद्योगिक पूंजी का रूप नहीं ले सकती। मार्क्स की स्थापना सही है, उसके साथ दो बातें और भी सही है। सौदागरी पूंजी के अभाव मे औद्योगिक पूंजी का जन्म नहीं होता; उसके जन्म के लिए सौदागरी पूंजी का पहले से विद्यमान होना जरूरी है। विनिमय के प्रसार से बाजार का निर्माण हो जाने पर ही उद्योगधन्धों को पूंजीवादी ढंग से चलाने की जरूरत पैदा होती है। इसके सिवा

४. दादाभाई नौरोजी

(क) महाजनी पूंजी के दौर में भारत

१८७५ के लगभग इंग्लैण्ड ने महाजनी पूंजी के युग में प्रवेश किया। इस युग में अंग्रेज़ो ने पहले की अपेक्षा और भी जोरशोर से घोषणा की कि वह भारत में उस देश के निवासियो की खुशहाली के लिए अपना राज कायम किये हुए है। अब भारत मे कम्पनी का राज नही था, भारत परसीधे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट का शासन था, भारत के लोग महारानी विक्टोरिया की प्रजा थे। ब्रिटिश साम्राज्य में सभी नागरिक बराबर थे। इसी युग मे भारतीय जनता के शोषण में वेहिसाब बढ़ती हुई, भुखमरी से लाखो आदमियो की जानें गयी, अंग्रेजों की लूट और भयानक रूप में सामने आयी। इस समय अंग्रेज़ो ने भारतीय जनता के असन्तोष को दबाये रखने के लिए *पढ़े-लिखे लोगों मे अपने सहायकों को संगठित करना शुरू किया।* उन्होंने इण्डियन नैशनल कांग्रेस नाम की संस्था को जन्म दिया। ऐसी संस्था महाजनी पूंजी के युग मे बनी, उससे पहले नही। इसका कारण यह था कि औद्योगिक पूंजीवाद की तुलना मे अब महाजनी पूंजीवाद के अन्तर्विरोध और भी तीव्र हो उठे थे। अंग्रेज यह समझ गये थे कि केवल शस्त्रबल से असन्तोष को दबाने का परिणाम होगा क्रान्ति। उन्हें हिन्दुओ और मुसलमानों में फूट डालने की अपनी नीति का भरोसा था, ज़मींदारों और राजाओं का भरोसा था पर इतना ही काफी नहीं था। वे शिक्षित लोगो में साम्राज्य के समर्थकों का दल तैयार करना चाहते थे जो जनता के असन्तोष को संवैधानिक तरीके से प्रकट करे और उसे क्रान्तिकारी रूप न लेने दे। *कांग्रेस के एक संस्थापक दादाभाई नौरोजी थे।* वह उच्च शिक्षा प्राप्त मध्य-वर्ग के प्रतिनिधि थे, इसके अतिरिक्त वह उन व्यवसायियो के प्रतिनिधि भी थे जो अंग्रेज़ों के साथ मिलकर धन्धा करते थे लेकिन अंग्रेज़ों के दबाव से परेशान भी थे। एलफिन्सटन कालेज मे दादाभाई नौरोजी गणित और विज्ञान (Natural Philosophy) के प्रोफ़ेसर नियुक्त हुए थे। १८५५ मे दो अन्य पारसी सज्जनों के साथ लन्दन और लिवरपूल में उन्होने भारतीय व्यवसाय का पहला प्रतिष्ठान चालू किया था। वह १८८१ तक व्यापारी और कमीशन एजेण्ट का काम करते रहे। उन्होंने लन्दन मे ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन नाम की संस्था कायम की जिसकी सहायता के लिए उन्होंने भारतीय नरेशों से भी धन प्राप्त किया। इसकी एक शाखा उन्होंने बम्बई में कायम की। कुछ समय तक वह बड़ौदा के दीवान रहे। १८९२ में वह सेन्ट्रल फिन्सबरी क्षेत्र से हाउस आफ कामन्स के सदस्य चुने गये। १८९५ तक वह कामन्स के सदस्य रहे। १८९३ में जब उन्होंने कांग्रेस की अध्यक्षता की, तब वह ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सदस्य भी थे। वह राजनीति में उन लिबरल लोगों के साथ थे जो मानते थे कि अंग्रेज़ी राज से भारत को लाभ हुआ है, *अंग्रेज़ी भाषा, अंग्रेज़ी शिक्षा, अंग्रेज़ी शासन-पद्धति भारतवासियों की प्रगति में सहायक हुई हैं।* भारत को अंग्रेज़ी राज में ही रहना चाहिए किन्तु वह जोर देकर कहते थे कि यह तभी होगा जब अंग्रेज अपनी शासन-पद्धति में बुनियादी परिवर्तन करेंगे। दरअसल दादाभाई नौरोजी ने अपने लेखों और भाषणों द्वारा महाजनी पूंजी के

शोषण का वीभत्स रूप दुनिया को दिखा दिया। इस दृष्टि से उनका यह कार्य अन्य लिबरलों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है और जो लोग अभी तक अंग्रेजी राज की 'प्रगतिशील' भूमिका नही समझ पाये, उनकी तुलना में तो वह श्रेष्ठ क्रान्तिकारी सिद्ध होते हैं।

भारत में अंग्रेजी राज कैसे कायम हुआ? क्या अंग्रेजो ने शस्त्रबल मे भारत को पराजित किया अथवा आर्थिक होड मे उन्होंने विजय प्राप्त की? दादाभाई नौरोजी का कहना था, "तुमने भारतीय साम्राज्य तलवार से नहीं जीता। इन डेढ़ सौ वर्षों मे तुम युद्ध करते रहे हो जिसमे यह विशाल साम्राज्य निर्मित हुआ है। इसमें करोड़ों रुपये का धन लगा है। क्या तुमने इसमे एक छदाम भी दी है? तुमने हिन्दुस्तानियों से कौड़ी-कौडी दिलवायी है। तुमने यह विशाल साम्राज्य हमारी कमाई से बनाया है और अब सुनो कि हमने तुमसे इसके लिए क्या इनाम पाया है। भारत मे यूरोपियन फौज किसी भी समय अपेक्षाकृत क्षुद्र ही रही है। गदर के समय यहाँ तुम्हारी चालीस हजार फौज ही थी। जो दो लाख भारतीय फौज थी, उसने तुम्हारी लडाइयाँ लडी थी, तुम्हारे लिए खून बहाया था, उसने तुम्हें यह आलीशान साम्राज्य दिया था। भारत की कमाई और खून के बल पर यह साम्राज्य निर्मित हुआ है और अब तक कायम रखा गया है। इन लड़ाइयों मे जो भारी खर्च हुआ और इसके साथ जो साल-दर-साल तुम भारत से करोडों, अरबों रुपया ढोकर ले जाते हो, उससे भारत बिल्कुल पस्त हो गया है, उसमे अब खून नही रह गया। कोई ताज्जुब नहीं कि ऐसा समय आया है कि भारत अब दम तोड़ रहा है। इस देश की दौलत जो बराबर ढोकर ले जाते रहे हो, उसने तुमने उसे इस दशा तक पहुँचा दिया है।" (Speeches and Writings of Dadabhai Naoroji, Madras, पृष्ठ २२१-२२२; दादाभाई ने यह भाषण १६०० मे भारत में अकालपीड़ितो की सहायता के लिए आयोजित सभा में दिया था।)

यद्यपि भारत पस्त होकर दम तोड रहा था, फिर भी दादाभाई नौरोजी को विश्वास था कि ब्रिटिश जाति की न्यायप्रियता का भरोसा किया जाये, उसे भारत की सही स्थिति बता दी जाये तो वह अवश्य यहाँ उचित परिवर्तन करेगी। यदि उसने परिवर्तन न किये तो उपद्रव भी हो सकते हैं यानी क्रान्ति की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता।

भारत की स्थिति पर जो भी विचार करता था, वह स्वभावतः मुगल शासकों से अंग्रेजों की तुलना करता था। निरकुशता के मुकाबले अंग्रेजो जनतन्त्र की श्रेष्ठता का बखान इस तरह के विवेचन में अक्सर देखा जाता था। किन्तु एक बहुत बड़ा अन्तर था और वह यह कि पहले भारत की सम्पदा भारत ही मे रहती थी किन्तु वह अब भारत से बाहर जा रही थी। दादाभाई नौरोजी ने १८७१ में वित्तसम्बन्धी जाँच कमेटी के सामने अपने वक्तव्य में कहा था, "पहले जो विजेता आये, वे या तो लूट का माल लेकर चले ही गये या फिर वे इस देश के शासक बन गये। जब लूटपाट करके वे चले गये, तब बेशक उन्होने भारी घाव किये। लेकिन भारत ने अपने उद्योग के बल पर फिर जीवन पाया और उसके घाव भर गये। जब हमला करनेवाले देश के राजा बन गये, तब वे यहीं बस गये। उन दिनों राजा

के चरित्र के अनुरूप उसका राज्य कैसा भी रहा हो, कम-से-कम उस समय इस देश से भौतिक या नैतिक सम्पदा के ढो ले जाने का सवाल न था। देश में जो कुछ पैदा होता था, वह देश मे रहता था; उसकी सेवाओं (services) मे जो ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया जाता था, वह उसके अपने लोगों मे ही रहता था। अंग्रेजों की स्थिति विचित्र है। जो पहले लड़ाइयाँ चलायी गयी, उनसे सार्वजनिक कर्ज (public debt) के रूप में भारी घाव लगे; जीवन रक्त के निरन्तर प्रवाह से ये घाव बराबर हरे रहते हैं और चौड़े होते जाते हैं। पुराने शासक कसाई जैसे थे, कभी इधर छुरा मारा, कभी उधर मारा, लेकिन अंग्रेजों के पास उनका वैज्ञानिक छुरा है और वह सीधा कलेजे तक पहुँचता है और कमाल यह है कि घाव दिखायी नही देता; सभ्यता, प्रगति और जाने क्या-क्या, ऊँची-ऊँची बातों का पलस्तर चढ़ा दिया जाता है और घाव ढँक जाता है। अंग्रेज शासक भारत की चौकीदारी करने के लिए सिंहद्वार पर खड़े हैं और सारी दुनिया को सुनाकर कहते हैं, जो भी आयेगा, उससे भारत की रक्षा करेंगे, अभी भी रक्षा कर रहे हैं; और सन्तरी बनकर जिस खजाने की हिफाजत कर रहे है, उसे खुद ही पिछवाडे से उठाये लिये जाते है।" (उप., परिशिष्ट, पृ. १९८-९९)।

सवाल यह पैदा होता है कि वैज्ञानिक छुरा जब कलेजे तक पहुँच रहा हो तब आत्मरक्षा के लिए भारत छुरेवाज का विरोध करे या नही ? दादाभाई नौरोजी जानते थे कि शिक्षित वर्ग एक दिन अशिक्षित जनसाधारण का साथ देगा और इससे क्रान्ति हो सकती है। इसलिए वह अंग्रेजो को सचेत करते रहते थे। उन्होंने उसी वक्तव्य में कहा था, "शिक्षित लोग निर्जीव कठपुतलियाँ हैं, इनके ऊपर स्कूली शिक्षा के चमकीले कागज चिपकाये हुए हैं। चमकीले कागज चिपक जाने के बाद उनकी जिन्दगी का उद्देश्य खत्म हो जाता है। इसका लाजिमी नतीजा क्या होगा ? पानीदार घोडा, लगाम न लगायी जाय तो मनचाहे ढंग से भागेगा जो सामने आयेगा, उसे कुचलकर मार डालेगा।...शिक्षित पीढ़ी की आवाज बेशक अभी कमजोर है। नवजात शिशु के समान वर्तमान असन्तोष अभी सिर्फ दर्द से रो रहा है। उसकी भावनाओं ने कोई रूप या आकार ग्रहण नही किया, कोई रास्ता नही अपनाया। लेकिन वह बढ़ रहा है। बढ़ते-बढ़ते क्या बनेगा, भगवान ही जाने। चलते-फिरते कोई भी देख सकता है कि यदि भारत का वर्तमान भौतिक और नैतिक विनाश जारी रहा तो लाजमी तौर से भारी उथल-पुथल होकर रहेगी (a great convulsion must inevitably arise)। इसमें या तो भारत निरंकुशता और विनाश के अंगी बूट के नीचे और भी चूर कर दिया जायेगा या सम्भव है वह विनाशकारी हाथ और सत्ता को ध्वस्त करने में सफल हो।" (उप., पृष्ठ १९२)। यहाँ क्रान्ति की सम्भावना का स्पष्ट उल्लेख है। यह सम्भावना औद्योगिक पूँजीवाद के दौर में थी और वह महाजनी पूँजीवाद के दौर मे बनी हुई थी, बल्कि और भी बढ गयी थी। दादाभाई समझ रहे थे कि उथल-पुथल करनेवाले लोग शिक्षित वर्ग के ही होंगे किन्तु इतिहास ने दिखाया कि शिक्षित जनों से अलग भारत के किसान अपने-आप फूट पड़नेवाले आन्दोलनों मे हिस्सा लेते हैं और पढ़े-लिखे लोग उनका साथ दें तो दोनों मिलकर बहुत बड़ी

साथ देते हैं। एक ही खून का जो कुदरती सम्बन्ध है, उसे वे खत्म नहीं कर सकते। (पृष्ठ ६३)। बंगाल से दूर गुजरात के बारे में उन्होंने कहा कि वहाँ के हिन्दू और मुसलमान एक ही भाषा गुजराती बोलते हैं और सब एक ही स्रोत के हैं। इसी तरह महाराष्ट्र के हिन्दू और मुसलमान एक ही भाषा मराठी बोलते हैं और एक ही स्रोत के हैं। यही हालत सारे भारत में है; केवल उत्तर भारत में मूल हमलावर मुसलमानों के वंशज हैं लेकिन अब वे भी भारत की जनता हैं। (पृ. ६३-६४)। यहाँ दादाभाई नौरोजी अपने समय के और बाद के भी बहुत से विचारकों से आगे हैं। वह जातीय एकता पर बल देते हैं, बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात में हिन्दू-मुसलमानों के जातीय जीवन की एकता, उनकी भाषा की एकता पर जोर देते हैं। उनके लिए अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दुओं से अलग मुसलमानों के आत्मनिर्णय का सवाल न था।

एशिया में राज्यसत्ता निरंकुश होती है, मुगल शासक निरंकुश थे, अंग्रेजों ने निरंकुशता खत्म करके जनतान्त्रिक व्यवस्था कायम की, यह प्रचार सौ साल पहले जितना होता था, उससे ज्यादा अब होता है। दादाभाई नौरोजी ने अंशतः यह धारणा स्वीकार की थी किन्तु उन्होंने पुरानी निरंकुशता की आलोचना करने के साथ अंग्रेजों की निरंकुशता का भी ज़ोरदार विरोध किया था। १८७१ वाले वक्तव्य में उन्होंने कहा था कि उथल-पुथल होने पर अंग्रेजी निरंकुशता और विनाश का जंगी बूट उसे दबा सकता है। निरंकुशता और विनाश का यह जंगी-बूट अंग्रेज बराबर पहने हुए थे, उथल-पुथल होने पर ही उसका उपयोग करते, ऐसी बात नहीं थी। उसी वक्तव्य में उन्होंने अंग्रेजों की निरंकुशता पर बहुत स्पष्ट कहा था, "सर्वैधानिक शासन के लिए वीरतापूर्ण संघर्षों के गौरवपूर्ण इतिहास के बाद इंग्लैण्ड अब भारत में ऐसे अंग्रेजों को पाल-पोस रहा है जो निरंकुशता में प्रशिक्षित हैं और उसके आदी हैं; निरंकुश शासक में जो बेसब्री, हेकड़ी और मनमानी करने की चाह होती है, वह सब धीरे-धीरे उनमें जड़ जमा रही है। इसके साथ उन्हें संवैधानिकता का स्वांग करने का अतिरिक्त प्रशिक्षण मिला है। क्या यह सम्भव है कि ऐसी आदतें सीखकर, निरंकुशता की ऐसी ट्रेनिंग पाकर, भारत से अफसर लोग लौटें और कुछ समय बीतने पर अंग्रेजों के चरित्र और उनकी संस्थाओं को प्रभावित न करें? जो अंग्रेज भारत में हैं, वे भारत को ऊपर उठाने के बदले अब तक खुद एशियाई निरंकुशता की निचली सतह तक गिरते और पतित होते गये हैं। (The English in India, instead of raising India, are hitherto themselves descending and degenerating to the lower level of Asiatic despotism)" (परिशिष्ट, पृष्ठ २०२)।

निरंकुश राज्यसत्ता में साधारण प्रजा [illegible] मजदूरों की तरह रहती है। सामन्ती राज्यसत्ता की [illegible] विशेषता है। [illegible] मुट्ठी-भर समर्थकों को छोड़कर आम जनता [illegible] मजदूर बने [illegible] मजदूर का दर्जा ज्यादा अच्छा है [illegible] कि बंधुआ मजदूर [illegible] है। अंग्रेजों की [illegible]

अंग्रेजों ने भारत की हर चीज पर कब्जा जमा रखा है। सरकारी अफसरों को छोड़ दें तो व्यापारी, पूंजीपति, बागान के मालिक, जहाजो के मालिक अंग्रेज हैं; इससे भारत की जरूरत की चीजें इन अंग्रेजो के हाथ में पहुँच जाती हैं और हिन्दुस्तानियों को बहुत ही कम आमदनी पर काम करना पड़ता है। "एक तरह से आम भारतवासी [अमरीका के] दक्खिनी राज्यों के गुलामों से बदतर हालत में हैं। गुलाम सम्पत्ति थे, इसलिए मालिक उनकी देखभाल करते थे। भारतवासी खाने-पीने की चीजें न मिलने से लाखों की संख्या में भले मर जायें, इनकी देखभाल करना किसी का काम नहीं है। गुलाम अपने मालिकों की जमीन और साधनों पर काम करते थे; मुनाफ़ा मालिक को मिलता था। भारतवासियो को अपनी जमीन और अपने स्रोतों पर काम करना पड़ता है और मुनाफ़ा वे विदेशी मालिकों के हवाले करते हैं।" (पृष्ठ १५३-५४)। इस प्रकार भारतवासी खरीदे हुए गुलाम नहीं थे, बिनमोल के बँधुआ मजदूर थे। उनसे मेहनत कराओ, मेहनत का फल ले जाओ, वे भूख से मरें, मालिक को इसकी चिन्ता नहीं। सामन्ती व्यवस्था में भारत के लाखों आदमियो ने भूख से इस तरह जान न दी थी। इसलिए कहना चाहिए कि अंग्रेजो ने जो बँधुआ प्रथा चलायी, वह इतिहास में अभूतपूर्व थी। अंग्रेजी राज से मुकाबले में सामन्ती निरंकुशता मात हुई। दादाभाई नौरोजी सतीप्रथा समाप्त करने के लिए अंग्रेजो की प्रशंसा करने के साथ बार-बार भुखमरी पर ध्यान केन्द्रित करते थे, जो लाखो आदमी मरते थे, उसके लिए सीधे अंग्रेजों को दोषी ठहराते थे। उनमें और अंग्रेजी राज के समर्थक अन्य समाज-सुधारकों में यह महत्वपूर्ण भेद था।

(ख) लूट और भुखमरी

भारत से जो सम्पदा ढोकर अंग्रेज ले जाते थे, उसका एक परिणाम था भुखमरी। १९०१ में इंग्लैण्ड की एक सभा में उन्होंने कहा कि पिछली भुखमरी से साढ़े आठ करोड़ लोग सीधे प्रभावित हुए। इस पर भी उनसे कहा जाता था कि गोरे अफसरों की तनख्वाह, पेंशन वगैरह के लिए २० करोड रुपया सालाना देते रहें। देश के साधन इस तरह तबाह हो चुके थे कि थोड़ा-सा अकाल पड़ने पर भी भुखमरी की नौबत आ जाती थी। एक बार के बाद जब दूसरी बार भुखमरी फैलती थी, तब तबाही और भी ज्यादा होती थी। भारत मे निरन्तर भुखमरी की दशा थी। जब फसल अच्छी होती थी, उस समय भी लाखों हिन्दुस्तानी आधे पेट खाकर जीते थे। जब भुखमरी में लाखों आदमी मरने लगते थे, तभी इंग्लैण्ड के लोगो को पता चलता था कि भारत मे भुखमरी है। (पृष्ठ २३९)। भारत से सम्पदा ढोने का काम निरन्तर बढता गया, उसके साथ ही भुखमरी में मरनेवालों की संख्या भी बढ़ती गयी। "भुखमरी का सही कारण इन दिनों सूखा पड़ना नहीं है। लोगों के पास पैसा हो और भोजन न मिले, तो वे जरूरत की चीजें दूसरी जगह से खरीद सकते हैं। इस कारण भुखमरी का सवाल भारत और इंग्लैण्ड की एक ज्वलन्त समस्या है और एक दिन वह सबसे बडे घरेलू प्रश्नों में गिना जायेगा और विशाल ब्रिटिश साम्राज्य का मुख्य प्रश्न बन जायेगा।" (पृष्ठ २३७)।

महाजनी पूंजी के युग मे अंग्रेजों ने यहां जो व्यवस्था कायम की थी, वह अंग्रेजो के दृष्टिकोण से भी विशुद्ध पूंजीवादी नही थी। पूंजीवाद का नियम है आर्थिक होड किन्तु अंग्रेज इस होड़ से बचते थे। लार्ड वेल्वी के नाम पत्रों मे दादाभाई नौरोजी ने भारतीय व्यय-व्यवस्था की चर्चा करते हुए लिखा था, "अब यह बात एक बार फिर साफ समझ लेनी चाहिए कि यदि कोई पूंजीपति, महाजन, व्यापारी या उद्योगपति अपनी ओर से भारत आये और मुनाफा कमाये तो इस पर कोई आपत्ति न होगी, **शर्त यह है कि खुली होड़ में हमें भी भरसक प्रयास करने की छूट हो।** लेकिन जब तक हम मुफलिस बने हुए है, खर्च की व्यवस्था और प्रबन्ध के मौजूदा अस्वाभाविक और जोर-जबरदस्तीवाले तरीके से हमारी आर्थिक स्थिति एकदम असहाय लोगो की है, तब तक विदेशियों का (यूरोपियनों अथवा इण्डियनो का) सारा मुनाफा ब्रिटिश इण्डिया के लिए कभी न पूरी होनेवाली क्षति है।" (पृ. ३२२; शब्दों पर जोर दादाभाई नौरोजी का है.)। यहाँ उदीयमान पूंजीवाद के प्रतिनिधि दादाभाई अंग्रेज़ों को ललकारते हैं कि हिम्मत हो तो खुली होड मे सामने आओ। तुम्हारे पास लूटी हुई विशाल सम्पदा है और मुनाफा बराबर कमाते जा रहे हो। हम भारत से ब्रिटिश पूंजी को निकालने की बात नही कहते, हम बस उसके सामने खुद भी टिके रहना चाहते हैं। किन्तु अंग्रेज इसके लिए भी तैयार नही थे। वे तैयार तभी हुए जब इसके लिए उन्हें मजबूर किया गया। १८७१ वाले वक्तव्य मे दादाभाई ने कहा था, लोग आर्थिक नियमो की बात करते है, कहते हैं कि ये किसी पर दया किये बिना लागू होते हैं। पर ये लोग भूल जाते हैं कि भारत में आर्थिक नियमों के सहज लागू होने जैसी चीज़ ही नही है। जो चीज़ दया के बिना लागू की जाती है, वह ब्रिटिश नीति है। इस नीति से अंग्रेज़ भारत मे आकर यहां का माल हड़प जाते हैं और निर्मम होकर इंग्लैण्ड को धन भेजते चले जाते है। "संक्षेप में बात यह है कि यहां पर निर्मम रूप से आर्थिक नियमो को उलट दिया गया है। जिस ढंग से भारत का खून बराबर निकाला जाता रहा है, उससे ये नियम उलट गये हैं। इससे भारत का नाश हो रहा है। जब दोष तुम्हारा है, तब बेचारी प्रकृति पर दोष क्यों मढते हो? प्राकृतिक और आर्थिक नियमों को खुलकर पूरी तरह अमल में आने दो, फिर देखो हिन्दुस्तान दूसरा इंग्लैण्ड बनता है कि नही। और तब स्वयं इंग्लैण्ड को आज के मुकाबले कही ज्यादा लाभ होगा।" (परिशिष्ट, पृ. २०४)। अंग्रेज़ों ने पूंजीवाद के आर्थिक नियम भारत पर लागू होने नही दिये, उन्होंने खुली आर्थिक होड़ मे भारतीय उद्योग और व्यापार को तबाह नही किया। राजनीतिक रूप से भारत पर अधिकार करने के बाद उन्होंने उसका आर्थिक शोषण किया। उनकी लूट में और पुराने गैर पूंजीवादी लुटेरो की लूटमार में अन्तर था। १९०१ वाले व्याख्यान में दादाभाई ने कहा था कि महमूद गजनी ने भारत पर अट्ठारह बार हमला किया और उसे लूटा लेकिन जितना तुम एक साल में लूटकर ले जाते हो, उतना वह अट्ठारह बार मे न ले जा सका था। उसने जो घाव किये, उनका सिलसिला अट्ठारहवें आघात के बाद खत्म हो गया पर तुम्हारा घाव करने का सिलसिला जारी है। इस शताब्दी के आरम्भ में तुम तीस लाख ले जाते थे, अब सालाना

तीन करोड़ ले जाते हो। हम मरें चाहें जियें, तीन करोड रुपये कीमत का सामान तुम्हारे यहाँ पहुँचना ही चाहिए। (पृष्ठ २३८-३९)।

लूट के रूप बदलते रहे किन्तु अंग्रेज़ी राज के आरम्भ से लेकर बाद तक लूट का काम चालू रहा। १९वी सदी मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों के कोर्ट ने और स्वयं गवर्नर जनरल ने अपने दस्तावेजों मे लिखा था कि कम्पनी राज मे भारी भ्रष्टाचार है और भारतवासियो का भारी उत्पीडन किया जाता है। (पृष्ठ २३७)। अंग्रेजों ने बार-बार वादे किये और वादों को कभी पूरा नही किया। वादे न पूरे करने का परिणाम यह हुआ कि "भारत के शासनतन्त्र में लोभ और उत्पीड़न की व्यवस्था अब भी कायम है। केवल अंग्रेजो के हित मे स्वार्थी ढंग से देश का शोषण किया जाता है। धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप मे उसकी सम्पदा बाहर जा रही है। भारत से प्रतिवर्ष तीन से चार करोड पाउण्ड तक की राशि बाहर जाती है, ऐसा शोषण संसार का कोई भी देश सह नहीं सकता। उसकी उत्पादन की शक्ति घट रही है और वहाँ के लोग लाखो की संख्या में भूख से मर रहे हैं। इस सबकी ज़िम्मेदारी अंग्रेज़ी राज पर है। (पृष्ठ २७३)।

अंग्रेज़ों का हित इस बात में था कि भारत की जनता को पेट भर रोटी मिले, खर्च से कुछ बचत हो तो उससे कपड़े-लत्ते खरीदे। इस तरह भारत में ब्रिटिश माल की खपत बढ सकती थी। अंग्रेज राजनीतिक साधनों से आर्थिक होड़ पर प्रतिबन्ध लगाये हुए थे किन्तु इससे जो लाभ उन्हें होना चाहिए था, वह न हो रहा था। ऊपर से देखने में ब्रिटिश माल के निर्यात के आँकड़े विदेशी उद्योगपतियों को प्रसन्न कर सकते थे किन्तु भारत की जनसंख्या को देखते हुए यदि इन आँकड़ों को परखा जाये तो पता चले कि आबादी के हिसाब से यह निर्यात व्यापार बहुत ही तुच्छ है। दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश पूँजीपतियों को बार-बार याद दिलाते थे कि भारत को साँस लेने की थोड़ी-सी सुविधा दो, फिर देखो कितना माल बिकता है। १८९५ मे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट से उन्होंने कहा, इस समय भारत से इंग्लैण्ड का व्यापार किसी मसरफ का नही है। जो ब्रिटिश माल भारत भेजा जाता है, वह सालाना फी आदमी के हिसाब से दो शिलिंग का पड़ता है। यदि भारत खुशहाल होता और माल खरीदने के लिए उसके पास पैसा होता तो अंग्रेज़ चुंगी लगाने और बाज़ार न मिलने की शिकायत न करते। भारत मे तीस करोड़ सभ्य आदमियों का बाज़ार है। यदि इन लोगों की ज़रूरतें पूरी कर दी जायें, स्वच्छन्द व्यापार भारत के हाथ में हो तो बेकारी जैसी चीज़ इंग्लैण्ड में रहे ही नही। भारत को जितनी चीज़ों की ज़रूरत होगी, वे सब इंग्लैण्ड से भेजी जा सकती हैं। (पृ. १६१-६२)। लार्ड वेल्बी के नाम एक पत्र में उन्होंने बताया कि १८९३ मे जो ब्रिटिश माल भारत भेजा गया, वह दो करोड़ अट्ठासी लाख पाउण्ड का था। साढ़े अट्ठाईस करोड की आबादी के लिए यह माल फी आदमी सालाना दो शिलिंग पड़ा। इसका काफी बड़ा हिस्सा देशी रियासतों मे पहुँचता है, सीमान्त प्रदेशों मे पहुँचता है। ब्रिटिश भारत की बाईस करोड़ दस लाख प्रजा मुश्किल से एक शिलिंग या पन्द्रह पेन्स का माल हर साल खरीदती है। ब्रिटिश भारत को अंग्रेज़ बस इतना ही माल निर्यात करते हैं। यदि ब्रिटिश भारत के साथ अधिक न्यायपूर्ण व्यवहार हो, उसे फलने-फूलने दिया जाये, तो

सारी दुनिया को अंग्रेज जितना माल भेजते है, उतना या उससे ज्यादा माल अकेले भारत को भेजा जा सकेगा। लंकाशायर के मित्र अपना हित पहचानें, तो वे देखेंगे कि भारत के बाजार मे जितना माल खप सकता है, उतना लंकाशायर भेज ही न पायेगा। "क्या लंकाशायर कभी आँखें खोलेगा और स्वयं को तथा भारत को समृद्ध बनने देगा?" (पृ. ३२४)। लंकाशायर आँखें खोलनेवाला नहीं था। कारण यह था कि ब्रिटिश मजदूरों को पगार देकर, उत्पादन और वितरण में पूंजी लगाकर, वह जो मुनाफा कमाता था, उससे ज्यादा रकम अंग्रेजों को पूंजी लगाये बिना मिल रही थी। हजारों अंग्रेजों को भारतीय शासन और फौज में भारी तनख्वाहों पर ऊँचे पद मिलते थे, नौकरी के बाद पेंशन मिलती थी; जहाँ भी लड़ाई हो, उसके लिए हिन्दुस्तानी फौज ही इस्तेमाल न की जाती थी, हिन्दुस्तानियो से लड़ाई का खर्च भी वसूल किया जाता था। भारत को खेतिहर देश बनाये रखने से बहुत सस्ते दामों पर कच्चा माल प्राप्त होता था। कच्चा माल देनेवाले, अंग्रेजी फौज और शासन का भार उठानेवाले भारत के किसान थे। इन्हें खुशहाल बनाकर अंग्रेज नयी मुसीबत क्यों मोल लेते?

विदेशी माल की खपत भुखमरी के शिकार करोड़ो किसानों में नहीं थी, उसकी खपत थी राजाओं, नवाबों, जमीदारों, उच्च शिक्षित वर्ग, अच्छी तनख्वाहे पानेवाले नौकरीपेशा लोगो मे, फौजी अफसरो और हाकिमों में। दादाभाई नौरोजी ने फी आदमी दो शिलिंग के माल का जो हिसाब लगाया था, उसका आधार दरअसल यह छोटा-सा शहरों में रहनेवाला वर्ग था। यह बात दादाभाई नौरोजी के अलावा लार्ड मैकाले भी जानते थे कि भारत के लोग नंगे-भूखे न रहे तो विदेशी माल ज्यादा बिकेगा और इंग्लैण्ड खुशहाल होगा। दादाभाई ने अनेक लेखों और भाषणों में मैकाले का हवाला दिया पर अंग्रेजों पर इसका कोई असर न हुआ। ब्रिटिश पूंजीवाद ने इंग्लैण्ड में ही सामन्ती अवशेषों से समझौता किया था; भारत में उसने १८५७ के बाद स्वाधीन सामन्तों को अपने मातहत किया, उन्हें अपनी सत्ता का समर्थक बनाया, नये जमीदारों के रूप में उसने ऐसा सामन्त वर्ग पैदा किया जैसा भारत मे पहले था नहीं। अंग्रेजी राज की ये सारी गैरपूंजीवादी विशेषताएँ महाजनी पूंजी के दौर में कायम रहीं। महाजनी पूंजी के दौर का अंग्रेज़ी राज साम्राज्यवाद की वह विशेषता उजागर करता है जिसमें खुद पूंजीवाद का विकास रुक जाता है। भारत मे देशी उद्योग-धन्धों का विकास अंग्रेज क्यों करते जब वे इंग्लैण्ड के ही औद्योगिक विकास में रोक लगा रहे थे। रोक लगाने का तरीका था भारत को बँधुआ मजदूर के दर्जे से ऊपर न उठने देना, जितना माल भारत में बिक सकता था, उतना न बेचना।

दादाभाई नौरोजी बँधुवा मजदूर के लिए अंग्रेजी के एक प्रचलित शब्द 'हेलोट' का प्रयोग करते थे। यूनान में जो भूमिहीन हलवाहे बडे भूस्वामियों की जमीन पर खेती करते थे, वे 'हेलोट' कहलाते थे। दादाभाई नौरोजी ने अंग्रेजों को समझाया, करोड़ों भारतवासी जिस तबाही और मुफलिसी में जीवन बिताते हैं, उसे तुम समझ नही सकते। यदि इंग्लैण्ड में वैसी ही हुकूमत कायम हो जाये जैसी भारत में है, तो यह धनी देश भी उतना खिराज न दे पायेगा जितना हम विजित जाति के

रूप में मजबूर होकर देते हैं। "मान लो इंग्लैण्ड पर फ्रांसीसियों ने अधिकार कर लिया, यहाँ फ्रांसीसी पूंजी लगायी, सारा मुनाफा ढो ले गये, इस देश के लोगों को उतना ही पैसा दिया, जितना शारीरिक श्रम करनेवालों को मिल सकता है। फौजी और गैरफौजी सारे ऊँचे पदों पर अंग्रेजों की जगह फ्रांसीसी हों, इसके अलावा तुम्हें सालाना तीन करोड़ पाउण्ड फ्रांस को खिराज के रूप में देने पड़ें, तो तुम भी मुफलिसी और मुसीबत के शिकार होगे और समय-समय पर अकाल और महामारी से आबादी का नाश होगा। अब हमारी जगह खुद को रखो और फैसला करो कि हम ब्रिटिश प्रजा हैं या ब्रिटिश हेलौट हैं।" (पृ. २४०)। जो भूमिहीन है, अधिकारहीन है, दूसरे के लिए मेहनत करता है, वह हेलौट है। और उसकी हालत खरीदे हुए गुलाम से बदतर है। वेल्बी के नाम एक पत्र में उन्होंने लन्दन के 'टाइम्स' पत्र का हवाला देते हुए कहा : इस पत्र के अनुसार वह जमाना गया जब दक्षिण अफ्रीका में मुट्ठी-भर विशेषाधिकार प्राप्त लोगों के हित में शासन की हेलौट व्यवस्था संगठित की गयी थी। अब जानकार जनमत के सामने यह व्यवस्था नहीं चल सकती। दादाभाई ने कहा कि यह बात ब्रिटिश भारत पर भी लागू होती है। वह जमाना गया जब शासन की हेलौट व्यवस्था चलती थी, जो मुट्ठी-भर विशेषाधिकार प्राप्त *लोगों के लिए थी; इससे डेढ़ सौ साल तक अंग्रेज बदनाम* होते रहे, अब वह जानकार जनमत और स्वयं जनता के असन्तोष के सामने टिकी नहीं रह सकती। (पृ. ३२७)। मानी बात है कि जहाँ प्रजा अधिकारहीन होगी, वहाँ राज्यसत्ता निरंकुश होगी। दादाभाई नौरोजी ने भारत की ब्रिटिश राज्यसत्ता की निरंकुशता की ओर बार-बार ध्यान दिलाया। भारत में एक विधान परिषद् (लेजिस्लेटिव काउन्सिल) थी। यह इस तरह गठित की गयी थी कि उसमें बहुमत हमेशा सरकार का रहे। उसके तीन-चार सदस्य भारतवासी थे। उनके कहने से कोई कानून न बन सकता था, कानून वही बनेगा जिसे भारत सरकार चाहेगी। परिषद् में बहुमत जनता ने कायम न किया था, सरकार ने अपने लिए खुद कायम कर लिया था। जो आमदनी हो, वह कैसे खर्च की जाये, इस पर विचार करना किसी भी देश के राजनीतिक जीवन के लिए बहुत जरूरी होता है, "किन्तु भारत में बजट-कानून (लेजिस्लेटिव बजट) जैसी चीज न थी। प्रतिनिधि सदस्यों को कोई प्रस्ताव पेश करने का या बजट के किसी मुद्दे पर मत विभाजन का अधिकार न था। निरंकुश शासन की निरंकुश इच्छा के अनुसार ही बजट पास कर दिया जाता था।" (पृ. २४५)। एशियाई निरंकुशता से इस निरंकुशता की तुलना करनी चाहिए। अंग्रेजों ने भारत में ऐसी राज्यसत्ता कायम की थी जिसकी निरंकुशता की मिसाल सामन्ती इतिहास में मिलना मुश्किल थी। राज्यसत्ता की इस निरंकुशता की चर्चा ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादारी का ऐलान करनेवाले दादाभाई नौरोजी ने की थी। भारत से जो सम्पदा विदेश जाती थी, वह इस निरंकुशता के कारण ही जाती थी। "हम गरीब हैं, एकदम असहाय हैं, निरंकुशता के अधीन हैं, पैसा किस तरह खर्च हो, इस बारे में कुछ कह नहीं सकते। पूंजी संग्रह करने में हम असमर्थ हैं, इसलिए विदेशी पूंजी द्वारा शोषित होने के लिए मजबूर हैं।" (पृ. ३१८-१९)। उन्होंने हिसाब लगाया कि अंग्रेज हर साल भारत

से लगभग छत्तीस करोड़ रुपये ढो ले जाते हैं। उन्होंने लिखा, "जहाँ तक अंग्रेजी राज में भारत पर खर्च के निरंकुश प्रबन्ध और खर्च की निरंकुश व्यवस्था के आर्थिक प्रभाव का सवाल है, पैंतीस करोड़ नब्बे लाख की सारी रकम भारत के क्षीण स्रोतों से चूस ली जाती है।" (पृ. ३२०)। जैसे भुखमरी का सम्बन्ध भारतीय सम्पदा के विदेश जाने से था, वैसे ही सम्पदा के इस निर्यात से निरंकुशता का सम्बन्ध भी था।

सम्पदा के निर्यात का एक परिणाम यह था कि उद्योग-धन्धों में लगाने के लिए भारतीय पूँजी का संग्रह न हो पाता था। दादाभाई नौरोजी ने यह बात बार-बार स्पष्ट की थी कि सारी सम्पदा इंग्लैण्ड जायेगी तो भारत में औद्योगिक पूँजी का निर्माण न हो सकेगा। उन्होंने अपने एक वक्तव्य में अंग्रेज लेखक मिल का हवाला दिया कि पूँजी के निर्माण के बिना कोई सरकार उद्योग-धन्धों का निर्माण नहीं कर सकती और कहा, "अंग्रेज इसी पूँजी को ढोये चले जा रहे हैं और फिर बड़े ताज्जुब से हाथ फेंकते हुए कहते हैं, पता नहीं भारत के पास उद्योग-धन्धे क्यों नहीं हैं।" (परिशिष्ट, पृ. २०५)। जो लोग समझते हैं कि साम्राज्यवाद ने भारत में औद्योगिक पूँजीवाद का विकास किया, वे दादाभाई नौरोजी के शब्दों पर विचार करें।

(ग) उद्योगीकरण और स्वदेशी आन्दोलन

भारत में उद्योगीकरण के लिए मुख्य प्रेरणा स्वदेशी आन्दोलन से मिली। इंग्लैण्ड ने जब से विदेशी माल भेजना शुरू किया, तभी से उसका विरोध भी शुरू हुआ और देशी माल के व्यवहार पर जोर दिया जाने लगा। १८५७ में अवध की बेगम के इश्तहारों में यहाँ विदेशी माल खपाने की नीति का विरोध देखा जा सकता है। अवध की बेगम के लिए कहा जा सकता है कि वह प्रतिक्रियावादी सामन्त थी, दादाभाई नौरोजी के लिए ऐसी बात नहीं कही जा सकती। वह उच्च शिक्षा प्राप्त थे, भारत का पूँजीवादी विकास चाहते थे और अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका भी स्वीकार करते थे। उन्होंने १८७१ वाले वक्तव्य में कहा था कि डा. बर्डवुड ने अंग्रेज जनता का ध्यान उन गीतों की ओर खींचा है जो पश्चिमी भारत की जनता में प्रचारित हो रहे हैं। भारतीय उद्योग धन्धों और कला-कौशल के विनाश का विरोध इन गीतों में है। "मशीन का बना हुआ अंग्रेजी माल हाथ से बने महँगे माल के मुकाबले न बिकने दिया जाये, इस बेकार-सी कोशिश पर हम हँस सकते हैं। किन्तु यह आन्दोलन आगे चलकर क्या रूप धारण करेगा, इस पर हमने नहीं सोचा, समय बीतने पर इससे कौन से नये दौर सामने आयेंगे, हमने विचार नहीं किया। ये गीत अभी अंग्रेजी माल के विरुद्ध हैं। अगले समय में, यदि अंग्रेज अन्धे होकर वह समय आ जाने देंगे, तो वे दूसरी अंग्रेजी चीजों के विरुद्ध भी होंगे। वे उस विरोध की स्वाभाविक और प्रभावशाली तैयारी हैं। इन गीतों में वफादारी का इजहार है और मुझे जरा भी शक इस वफादारी की सच्चाई में नहीं है। किन्तु यदि भारत पतन के रास्ते पर बढ़ता जाता है, यदि आम जनता किसी भी सुधार के प्रति अन्त में निराश हो जाती है, यदि सरकार के

भारतीय सन्तान के खर्चे पर और उसकी बरबादी के आधार पर विदेशी सन्तान हमसे हर साल तनख्वाह, पेंशन वगैरह के रूप में २० करोड़ रुपये लेता है, वह रकम देने की आवश्यकता के कारण जब तक आर्थिक परिस्थिति तबाही पैदा करनेवाली अस्वाभाविक बनी रहती है, तब तक भारत की स्थिति पर आर्थिक नियम लागू करने की बात कहना जले पर नमक छिड़कना है।" (पृ. ६१)।
दादाभाई नौरोजी उदारपन्थी राजनीतिज्ञ थे, मानते थे कि इंग्लैण्ड और भारत की प्रजा को समान अधिकार होने चाहिए। यदि समान अधिकार हों, तब दोनों देशों के बीच बेरोक व्यापार होना चाहिए। किन्तु जब समान अधिकार न हों, जब भारतीय उद्योग तो तबाह किया जाये और अंग्रेजी उद्योग धन्धे अपना माल यहाँ बेचने को स्वतन्त्र हों, तब स्वदेशी आन्दोलन अनिवार्य हो जाता है। जिस समय दादाभाई स्वदेशी की अनिवार्यता बता रहे थे, उस समय वह चरखे की वकालत न कर रहे थे, वह पूँजीवादी उद्योग के विकास की माँग कर रहे थे।

अंग्रेज भारत में पूँजी का निर्यात करते थे। पूँजी के निर्यात का दौर महाजनी पूँजीवाद का दौर है। ब्रिटिश पूँजीवाद ने इस मंजिल में पैर कैसे रखा? उसके पास निर्यात के लिए पूँजी कहाँ से आयी? वहीं से आयी जहाँ से औद्योगिक क्रान्ति के लिए आयी थी; ब्रिटिश पूँजीवाद ने भारतीय लूट के बल पर पहले औद्योगिक पूँजीवाद की मंजिल में कदम रखा, उसके बाद उसी लूट के बल पर उसने महाजनी पूँजीवाद की मंजिल मे कदम रखा। भारत से लूटी हुई सम्पदा का एक हिस्सा जब वह भारत में ब्रिटिश उद्योग जमाने के लिए लगाता था, तब कहता था हम भारत को पूँजी का निर्यात कर रहे हैं, पूँजी लगाकर उसका उद्योगीकरण कर रहे हैं। १९०१ में इंग्लैण्ड की सभा में दादाभाई नौरोजी ने कहा था : हर साल भारत से तीन करोड़ पाउण्ड की रकम खींच ली जाती है और बदले में उसे कुछ नहीं मिलता। इस रकम का कुछ हिस्सा भारत वापस जाता है किन्तु भारतीय जनता के लाभ के लिए नहीं। "वह ब्रिटिश पूँजी के नाम पर वापस जाता है। ब्रिटिश पूँजीपति उसका उपयोग भारतीय धरती से उसकी खनिज सम्पदा निकालने के लिए करते है और इस सम्पदा से केवल अंग्रेज समृद्ध होते हैं। इस प्रकार भारत का रक्त बहाया जाता है और १८वीं सदी के मध्य से बराबर बहाया जाता रहा है।" (पृ. २५०-५१)। बात बिलकुल सही है। ब्रिटिश कम्पनियों ने जब रेलें बनाने के लिए यहाँ पूँजी लगायी, तब वे अपने लाभ के लिए भारत से लूटी हुई सम्पदा का ही एक हिस्सा यहाँ लगा रहे थे। केवल १९वीं सदी में और २०वीं सदी के पूर्वार्ध में ही नहीं, २०वीं सदी के उत्तरार्ध में भी, भारत को जो रकम उधार दी जाती है या सहायता के रूप में दी जाती है, वह अधिकतर पराधीन देशों से लूटी हुई सम्पदा का ही एक अंश होती है। उधार देने की परम्परा अंग्रेजों ने १९वीं सदी में शुरू कर दी थी। १८९४ में हाउस आफ कामन्स में अपने भाषण में दादाभाई ने कहा था, हमसे कहा जाता है कि सार्वजनिक प्रतिष्ठानों (public works) के लिए हमें जो धनराशि उधार दी गयी है, उसके लिए हमें शुक्रगुजार होना चाहिए, और हम हैं शुक्रगुजार। किन्तु हम जो कुछ पैदा करते हैं, यदि उसके उपभोग की छूट हमें हो और ब्रिटिश शासन की वाजिब कीमत

हमसे ले ली जाये, यदि हमें अपने साधनों को विकसित करने का अवसर मिले, तो हमें सूद पर पैसा उधार लेने की जरूरत ही न पड़े क्योंकि इससे भी जो रकम बाहर जाती है, उसमें वृद्धि होती रहती है। "उधार दी हुई रकमें उस सम्पदा का बहुत छोटा-सा अंश है जो भारत से बाहर ले जायी गयी है। भारत ने मूल और ब्याज के रूप में अरबों और खरबों की सम्पत्ति खोयी है और अब उससे कहा जाता है कि कुछ करोड़ के उधार के लिए वह शुक्रगुजार हो। ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी पूंजीपतियों के लिए अधिकांश ब्रिटिश भारतीय प्रजा खिदमतगारों और टहलुओं (hewers of wood and drawers of water) के समान है। ब्रिटिश भारत की जो समृद्धि ऊपर से दिखायी देती है, वह एकदम विदेशी पूंजी के कारण है। बम्बई को धनी स्थान माना जाता है। यहां कम-से-कम एक करोड़ पाउण्ड की पूंजी संचार में है; यह सारी पूंजी विदेशी यूरोपियनों की है, और देशी रियासतों के हिन्दुस्तानियों [यानी नरेशों] की है। यदि यह सारी विदेशी पूंजी एक तरफ कर दी जाये तो ब्रिटिश भारत में बहुत थोड़ी सम्पदा रह जायेगी।" (पृष्ठ १३३-३४)। इस प्रकार अंग्रेज पूंजीपति भारत का जो उद्योगीकरण कर रहे थे, वह वास्तव में उनके अपने उद्योग धन्धों का विकास था। भारत में मजदूरों को जितनी कम पगार देनी होती थी, उतनी कम पगार पर उन्हें इंग्लैण्ड में मजदूर न मिल सकते थे। इसलिए भारत में पूंजी लगाना उनके लिए लाभकारी था। किन्तु भारतीय पूंजीवाद का विकास तभी हो सकता था जब इंग्लैण्ड और भारत में बने इस विदेशी पूंजीवाले माल का बहिष्कार करके देशी पूंजी लगाकर भारतीय कारखानों में बने माल का व्यवहार होने लगे। स्वदेशी आन्दोलन ने यही किया।

(घ) विद्रोह की सम्भावना और पिछड़ा हुआ एशिया

स्वदेशी आन्दोलन क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं था किन्तु वह साम्राज्यविरोधी आन्दोलन था। और वह कभी भी क्रान्तिकारी रूप ले सकता था। १८७१ में दादाभाई नौरोजी की चिनगारीवाली बात इस तथ्य की ओर संकेत करती है। भारत में गोरी सेना बहुत थोड़ी है, अंग्रेज यहाँ देशी सेना के भरोसे राज करते हैं। यह उनके राज की बहुत बड़ी कमजोरी थी। इसी तरह शासन चलानेवाले गोरे अफसरों की संख्या बहुत कम थी। १९०१ में दादाभाई ने अंग्रेजों से कहा, फौजी और नागरिक सेवाएँ बहुत खर्चीली हैं। ये गरीब देश पर लाद दी गयी हैं। न इनके लिए हम पैसा देने योग्य हैं, न इनकी हमें जरूरत है। "यदि देश ने कभी विद्रोह किया तो करीब तीस करोड़ शत्रुओं के समूह में ये मुश्किल से जो तीस हजार नागरिक अफसर बिखरे हुए हैं, सबसे पहले इनकी शामत आयेगी।" (पृ. २४४)। १८९६ में उन्होंने वेल्बी को इंग्लैण्ड का इतिहास समझाया। बताया कि इंग्लैण्ड ने एक बादशाह का सिर काटा, दूसरे को देश से निकाल बाहर किया, संगीन की नोंक पर पार्लियामेण्ट भंग कर दी, कई गृहयुद्ध चलाये, कुछ ज्यादा दिन चले, कुछ कम दिन चले, कुछ में ज्यादा तबाही हुई, कुछ से कम तबाही हुई, पर जो भी तब्दीली हुई हो, वहाँ राज अंग्रेजों का रहा। "लेकिन हिन्दुस्तान में अंग्रेज बिलकुल दूसरी चीज हैं। वे गैर हैं। ये मुसीबत में फँसेंगे तो नतीजा

बिल्कुल दूसरा होगा।" (पृ. ३३२)। और इस सन्दर्भ में उन्होंने लन्दन के ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन के सामने दिया हुआ अपना १८६७ का भाषण उद्धृत किया, "बीस करोड़ असन्तुष्ट लोगों और एक लाख विदेशी संगीनों में टक्कर हो तो उसका आखिरी नतीजा क्या होगा, यह बताने के लिए किसी भविष्यवक्ता की जरूरत नहीं है। पानी की एक बूँद किसी मसरफ की नहीं होगी लेकिन सैलाब आवे तो हर चीज़ बह जायेगी। तेज दौड़नेवाला ही हमेशा नहीं जीतता। असन्तुष्ट जाति सौ बार असफल होकर फिर उठ सकती है लेकिन विदेशी एक-दो बार गिरा तो उसकी जान पर बन आयेगी। देशी लोग जितनी बार असफल होंगे, उतनी बार उनका बोझ और भारी होगा, किन्तु इससे वे विदेशी जुआँ उतार फेंकने के लिए और भी अधीर हो जायेंगे।" (पृ. ३३२)। १८६७! १८५७ को अभी दस साल न बीते थे और दादाभाई नौरोजी इंग्लैण्ड में घोषणा कर रहे थे कि विदेशी संगीनों से टक्कर होगी तो एक बार नहीं सौ बार हारने पर भी जीत भारतीय जनता की होगी। १८५७ की याद उनसे यह सब कहला रही थी, इसमें किसे सन्देह हो सकता है? उन्हें इंग्लैण्ड की क्रान्तियों का पता था और भारतीय जनता के संघर्ष का पता था और वह अंग्रेज़ों पर भावी और भूतपूर्व संघर्षों का दबाव डाल रहे थे कि वह भारतवासियों को अधिक सुविधाएँ दें। उनका एक प्रिय तर्क था: अंग्रेज़ों को भारतवासियों की स्थिति में रहना पड़े तो वे कितने दिन रह सकेंगे? "मान लीजिए कोई विदेशी जाति खर्च के मामले में ब्रिटिश जनता से वैसा ही निरंकुश व्यवहार करे जैसा ब्रिटिश भारत के अधिकारी भारत के साथ करते हैं, तो क्या उसके विरुद्ध विद्रोह किये बिना अंग्रेज एक दिन भी रहेंगे? नहीं, हर्गिज नहीं। लेकिन क्या ब्रिटिश जनता समझती है कि भारतवासियों के साथ जैसा सलूक भारतीय अधिकारी करते हैं मानो ये भारतवासी बेज़बान और असहाय गुलाम हों, वह उचित और न्यायपूर्ण है?" (पृ. ३६२-३६३)। यह बात भी उन्होंने १८६७ में वेल्बी के नाम पत्र में लिखी थी। क्रान्ति की सम्भावना बराबर बनी हुई थी। उस सम्भावना को प्रत्यक्ष करना उदारपन्थी राजनीतिज्ञों का काम नहीं था, वे उसकी ओर संकेत करते थे, यही बहुत था। सम्भावना को प्रत्यक्ष करने के लिए दूसरी तरह के राजनीतिज्ञ जरूरी थे। दादाभाई नौरोजी जब अंग्रेज़ों की निरंकुशता की बात करते थे, तब वे अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशीलता का खण्डन स्वयं करते थे और उदारपन्थ की सीमा पार कर जाते थे। भारत के निरंकुश राजाओं से अंग्रेज़ों की तुलना करते हुए उन्होंने उसी पत्र में कहा था, "देशी निरंकुश राजा के शासन में लोग जो पैदा करते हैं, उसे अपने पास रखते हैं और उसका उपभोग करते हैं यद्यपि कभी-कभी पीठ पर डण्डा भी खाते हैं। ब्रिटिश भारतीय निरंकुश शासक के अधीन आदमी शान्ति से रहता है, हिंसा नहीं होती, उसका सर्वस्व अनदेखे, शान्तिपूर्वक और चतुराई से छीन लिया जाता है, वह शान्तिपूर्वक भूखा रहता है और शान्तिपूर्वक मरता है, कानून और व्यवस्था कायम रहती है। पता नहीं कि अंग्रेज़ों की नियति ऐसी हो तब उन्हें कैसा लगेगा।" (पृ. ३८६)।

अत्याचार के अन्य रूपों के अलावा अंग्रेज़ों ने एशिया और यूरप में भेद करके एशियावालों को हर बात में पिछड़ा हुआ और यूरपवालों को आगे बढ़ा हुआ

बहुत जरूरी युद्ध नहीं था; उसके बारे में यह उसूल मान लिया गया था किन्तु लिबरल सरकार ने खर्च का एक हिस्सा ही दिया। "हमारी सीमाओं के बाहर जो तमाम छोटी लड़ाइयाँ होती हैं, आक्रामक कार्रवाई होती है या राजनीतिक उद्देश्य से आर्थिक सहायता दी जाती है, इस सबका खर्च भारत बर्दाश्त करे, यह बात ब्रिटिश जनता के योग्य नहीं है। यह सब जितना भारत के हित में है, उतना या उसमे भी ज्यादा उसके अपने हित में, उसके राज के हित में है।" (पृ. १६३)। अंग्रेज रूसी आक्रमण का खतरा दिखाकर भारत से युद्ध का खर्च वसूल करते थे। १८९६ में वेल्बी के नाम पत्र में दादाभाई नौरोजी ने लिखा: यदि इंग्लैण्ड से अपने सम्बन्ध को लेकर भारत सन्तुष्ट हो तो वह देशभक्ति से प्रेरित होकर इतनी बड़ी फौज जुटायेगा कि रूस को सेंटपीटर्सबर्ग वापस जाना होगा। उस हालत में ब्रिटेन के लिए लड़ते समय भारत अपने लिए भी लड़ेगा। भारत यदि सन्तुष्ट हो तो ब्रिटेन को लड़ाई के लिए यहाँ जनशक्ति का अपार भण्डार मिलेगा, भारत अकेले ब्रिटेन की तमाम लडाइयाँ सारी दुनिया में लड़ सकेगा। जरूरत इसकी है कि जो कुछ लेते हो, ईमानदारी से उसके लिए पैसा दो, अपनी भलाई के लिए जोर-जबरदस्ती और बेईमानी से भारत पर खर्च का बोझ मत डालो। भारत साथ हो तो ब्रिटेन महान् और अजेय होगा, भारत साथ न हो तो वह छोटी-सी शक्ति रह जायेगा। (पृ. ३४३)। कांग्रेस के नेताओं ने आगे चलकर दादाभाई का यह तर्क या उससे मिलता-जुलता तर्क कई बार दोहराया। इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध भारत के हित मे बिल्कुल नही थे, वे केवल ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के हित मे थे। दादाभाई नौरोजी यह बात जानते ही नहीं थे, उसे कहते भी थे। उसी पत्र में उन्होंने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त की लड़ाइयों का हवाला देते हुए लिखा था, "१८५८ की सीमाओं के उस पार जो भी छोटा-बड़ा युद्ध होता है, वह निश्चित और स्पष्ट रूप से मुख्यतः ब्रिटेन के शाही (इम्पीरियल) और यूरोपियन उद्देश्यों के लिए होता है। उसका एक ही लक्ष्य होता है कि भारत में उसकी सत्ता बनी रहे। यदि भारत में अपनी सत्ता को और यूरुप में अपनी स्थिति को बनाये रखने का सवाल न हो, तो ब्रिटेन को रत्ती भर चिन्ता न होगी कि भारत पर रूसियों ने अथवा किसी दूसरी शक्ति ने हमला किया या उस पर अधिकार कर लिया। सारा खर्च शाही और यूरोपियन उद्देश्यों के लिए होता है।" (पृ. ३४४-४५)। उत्तर-पश्चिमी सीमान्त युद्धों मे अप्रैल १८८२ से मार्च १८९१ तक करीब बारह करोड़ नब्बे लाख रुपये खर्च किये गये। "इस लगभग बारह करोड़ नब्बे लाख की रकम का पैसा-पैसा गरीब भारतवासियों से वसूल किया जाता है और यह सब स्पष्ट रूप में घोषित ब्रिटेन के शाही और यूरोपियन उद्देश्यों के लिए होता है'''हम शाही उद्देश्यों के लिए खून बहायें और सारा खर्च भी हमी दें!" (पृ. ३५४-५५)। दादाभाई नौरोजी ने बताया कि भारत की गोरी सेना ब्रिटिश फौज का अभिन्न अंग है। अंग्रेजों के लाभ, उनकी शान-शौकत के लिए ब्रिटिश फौज भारत में प्रशिक्षित होती है। भारत को अच्छी प्रशिक्षण-भूमि माना जाता है, इसके लिए खर्च चाहे जितना हो। अंग्रेज जवानों के लिए भारत आखेटभूमि है। ब्रिटेन की शाही और यूरोपियन स्थिति की सुरक्षा यहाँ से होती है। भारतवासी हेलोट बने रहते हैं या उन्हें इस

भारत का हित है। ईरान से लड़ाई हुई, उसके लिए कहा गया कि रूस आगे बढ़ता चला आ रहा है, भारत की सुरक्षा के लिए उसे रोकना जरूरी है। लेकिन ऐबीसीनिया (इथिओपिया) मे लड़ाई हुई, उसे किसी तरह भारत के हितोंसे नही जोड़ा जा सकता, न व्यापार के नाम पर न सुरक्षा के नाम पर। विदेश सचिव का कहना है कि वह भारतीय फौज का उपयोग करके युद्ध को सस्ते में खत्म कर रहे हैं। वह भारत से फौजें उधार लेते हैं। यदि फौजें बाहर न जाती, तो भी उन्हें तनख्वाह तो दी ही जाती। ऐबीसीनिया मे लड़ रही है तो वही तनख्वाह अब भी दी जा रही है। (पृ. ६३४-३५)। इस तर्क के सिलसिले में १८६३ में हाउस आफ लॉर्ड्स के सदस्य लॉर्ड नौर्थब्रुक ने कहा था, "ऐबीसीनिया की लड़ाई का सारा साधारण खर्च भारत ने दिया था। जो असाधारण खर्च था, वही यहाँ की सरकार ने दिया था। तर्क यह था कि भारत अपनी फौजों को साधारण स्थिति में तनख्वाह देता ही, अब इस मामले से उसे मुनाफा कमाने की कोशिश न करनी चाहिए। लेकिन जब गदर के दौरान फौज भेजी गयी तब यहाँ की सरकार ने भारत सरकार से कैसा वर्ताव किया? क्या उसने कहा, हम इससे मुनाफा कमाना नही चाहते? नही, कतई ऐसा नही कहा। जो भी आदमी यहाँ से भेजा गया, सारे समय का खर्च भारत से लिया गया। इन बाहर जानेवाले आदमियों का उपयोग अस्थायी रूप से ही किया गया था। रगरूटों के रूप में ड्रिल और प्रशिक्षण का खर्च भी, भेजे जाने के समय तक, भारत से लिया गया।" (पृ. ३५१)।

१८९६ मे वेल्बी के नाम पत्र में नौर्थब्रुक के भाषण का अंश उद्धृत करने के बाद दादाभाई ने लिखा: क्या इससे और भद्दी बात कोई हो सकती है? अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए तुम फौजें भेजते हो। जितना बन पड़ता है, लोग तुम्हारी उतनी सहायता करते हैं। तुम खर्च का कोई हिस्सा नही देते। वफादारी के लिए तुम इनाम यह देते हो कि खर्च का सारा बोझ और अतिरिक्त बोझ भी उन पर डाल देते हो। इस भद्दे ढंग से, अन्यायपूर्ण ढंग से, लोगों से बर्ताव करके तुम चाहते हो कि मुसीबत में वे तुम्हारा साथ दें। तब से [गदर के बाद से] तुम लोगों के प्रति अपने व्यवहार मे अविश्वास दिखाते रहे हो। तुमने लोगो पर बिना किसी जरूरत के और स्वार्थपूर्ण ढंग से एक बड़ी फौज का बोझ डाल दिया है। इसका खर्च पहले से भी ज्यादा है। जब तक फौज भेजी न जाये, तब तक उसकी ड्रिल और प्रशिक्षण के खर्च का एक हिस्सा भारत को देना पड़ता है यद्यपि सारी फौज इंग्लैण्ड मे है और ब्रिटिश सेना का अभिन्न अंग है। (पृ. ३५१-५२)। १८८२ से १८९१ तक, दस साल की अवधि के लिए, दादाभाई ने हिसाब लगाया था कि पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी सीमान्तों की लड़ाइयों में भारतीय मालगुजारी से बारह करोड़ नब्बे लाख रुपये खर्च किये गये थे और खुल्लमखुल्ला साम्राज्य के उद्देश्यों के लिए किये गये थे। उन्होंने माँग की कि ब्रिटिश खजाने से इसका एक वाजिब हिस्सा भारत को वापस मिलना चाहिए, और इसी तरह बर्मा की लड़ाई का खर्च भारत को वापस मिलना चाहिए। (परिशिष्ट, पृ. ७९)। इससे पता चलता है एक करोड़ से ऊपर की धनराशि अंग्रेज युद्ध चलाने के लिए भारत से हर साल वसूल कर रहे थे। दादाभाई ने जिसे 'इम्पीरियल' कहा है, उसे अब

'इम्पीरियलिस्ट' कहा जायेगा। साम्राज्य के प्रसार और उसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित में भारतीय किसानों को भूखा मारकर करोड़ों रुपये फौज और लड़ाइयों पर खर्च किये जाते थे। भारत की धनशक्ति के अलावा फौज में जिस जनशक्ति का उपयोग होता था, उसकी क्षति अलग से होती थी। जैसे-जैसे महाजनी पूँजी के युग में इंग्लैण्ड आगे बढ़ा, वैस-वैसे फौज, हथियारबन्दी और युद्ध, इन सबमें बढोतरी हुई। अगस्त १९१४ मे पहला विश्वयुद्ध शुरू हुआ। यह युद्ध उस नीति का परिणाम था जिसकी आलोचना दादाभाई नौरोजी जीवर-भर करते आये थे।

युद्ध छिड़ जाने पर उदारपन्थी भारतीय राजनीतिज्ञो ने सोचा कि इस समय अंग्रेज़ों की मदद की जाये तो वे यह अहसान कभी न भूलेंगे और उसके बदले मे भारत को स्वराज देंगे। युद्ध छिड़ने पर दादाभाई नौरोजी ने अंग्रेज़ो की सहायता करने के लिए देशवासियों का आह्वान किया। उन्होने अपने वक्तव्य में कहा, "मुझे ज़रा भी सन्देह नही है कि भारत की विशाल मानवता मे हर आदमी के दिल मे यही तमन्ना है कि न्याय, स्वाधीनता, सम्मान और वास्तविक मानवीय महत्ता और सुख के लिए ब्रिटिश जनता जो शानदार संघर्ष चला रही है, उसकी सहायता अपनी पूरी ताकत से करें। भारत के राजाओ ने और यहाँ की जनता ने अभी भी अपने-आप कोशिशें शुरू कर दी है। इस महान् संघर्ष मे जब तक विजय प्राप्त नही होती, तब तक हृदय से ब्रिटिश जाति की सहायता करने के अलावा भारत के मन मे और कोई विचार पैदा न होगा।" (पृ. ६८४)।

यही बात उस समय गांधीजी भी कह रहे थे। उदारपन्थी राजनीति की सीमाएँ स्पष्ट हो गयीं। साम्राज्यवाद की आलोचना करने पर भी यह राजनीति उससे क्रान्तिकारी संघर्ष करने की बात न सोच सकती थी। इससे अलग हटकर लाला हरदयाल और गदर पार्टी ने देश के सामने क्रान्तिकारी सघर्ष का राजनीतिक विकल्प रखा।

(च) नये हमलावर और सम्पदा का निर्यात

भारत से जो सम्पदा बाहर जाती है, दादाभाई नौरोजी उसके लिए ड्रेन (drain) शब्द का व्यवहार करते थे। इस शब्द का व्यवहार पहले अंग्रेज़ों ने ही किया था। मौण्टगमरी मार्टिन ने 'ईस्टर्न इण्डिया' में १८३८ मे लिखा था, ब्रिटिश इण्डिया से पिछले तीस साल में सालाना ड्रेन तीस लाख पाउण्ड का बनता है, बारह फी सदी की सामान्य भारतीय दर से चक्रवृद्धि ब्याज लगाया जाये तो बहत्तर करोड़ उनतालीस-लाख पाउण्ड की विशाल धनराशि बनेगी। (दादाभाई नौरोजी Poverty and un-British Rule in India, सूचना विभाग, भारत सरकार, पृ. ५४४)। फ्रेडरिक जौन शोर, इतिहासकार मिल आदि ने भी इस शब्द का व्यवहार किया था। मिल ने लिखा था कि देश के साधन इस ड्रेन के कारण बुरी तरह क्षीण होते जाते हैं, उनकी पूर्ति किसी चीज़ से नहीं होती। राष्ट्रीय उद्योग धन्धो की शिराओं से जीवन रक्त खीच लिया जाता है और बाद को कोई भी पोषक तत्व नही पहुँचता जिससे उसकी कमी पूरी हो। (उप.)। इसमे पता चलता

भारत का हित है। ईरान से लड़ाई हुई, उसके लिए कहा गया कि रूस आगे बढ़ता चला आ रहा है, भारत की सुरक्षा के लिए उसे रोकना जरूरी है। लेकिन ऐबीसीनिया (इथिओपिया) मे लड़ाई हुई, उसे किसी तरह भारत के हितों से नही जोड़ा जा सकता, न व्यापार के नाम पर न सुरक्षा के नाम पर। विदेश सचिव का कहना है कि वह भारतीय फौज का उपयोग करके युद्ध को सस्ते में खत्म कर रहे हैं। वह भारत से फौजें उधार लेते हैं। यदि फौजें बाहर न जातीं, तो भी उन्हें तनख्वाह तो दी ही जाती। ऐबीसीनिया मे लड़ रही हैं तो वही तनख्वाह अब भी दी जा रही है। (पृ. ६३४-३५)। इस तर्क के सिलसिले में १८६३ में हाउस आफ लौर्ड्स के सदस्य लौर्ड नौर्थब्रुक ने कहा था, "ऐबीसीनिया की लड़ाई का सारा साधारण खर्च भारत ने दिया था। जो असाधारण खर्च था, वही यहाँ की सरकार ने दिया था। तर्क यह था कि भारत अपनी फौजो को साधारण स्थिति में तनख्वाह देता ही, अब इस मामले से उसे मुनाफा कमाने की कोशिश न करनी चाहिए। लेकिन जब गदर के दौरान फौज भेजी गयी तब यहाँ की सरकार ने भारत सरकार से कैसा वर्ताव किया? क्या उसने कहा, हम इससे मुनाफा कमाना नहीं चाहते? नहीं, कतई ऐसा नही कहा। जो भी आदमी यहाँ से भेजा गया, सारे समय का खर्च भारत से लिया गया। इन बाहर जानेवाले आदमियों का उपयोग अस्थायी रूप से ही किया गया था। रंगरूटों के रूप में ड्रिल और प्रशिक्षण का खर्च भी, भेजे जाने के समय तक, भारत से लिया गया।" (पृ. ३५१)।

१८६६ में वेल्बी के नाम पत्र में नौर्थब्रुक के भाषण का अंश उद्धृत करने के बाद दादाभाई ने लिखा: क्या इससे और भद्दी बात कोई हो सकती है? अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए तुम फौजें भेजते हो। जितना बन पड़ता है, लोग तुम्हारी उतनी सहायता करते हैं। तुम खर्च का कोई हिस्सा नही देते। वफादारी के लिए तुम इनाम यह देते हो कि खर्च का सारा बोझ और अतिरिक्त बोझ भी उन पर डाल देते हो। इस भद्दे ढंग से, अन्यायपूर्ण ढंग से, लोगों से बर्ताव करके तुम चाहते हो कि मुसीबत मे वे तुम्हारा साथ दें। तब से [गदर के बाद से] तुम लोगों के प्रति अपने व्यवहार मे अविश्वास दिखाते रहे हो। तुमने लोगो पर बिना किसी जरूरत के और स्वार्थपूर्ण ढंग से एक बड़ी फौज का बोझ डाल दिया है। इसका खर्च पहले से भी ज्यादा है। जब तक फौज भेजी न जाये, तब तक उसकी ड्रिल और प्रशिक्षण के खर्च का एक हिस्सा भारत को देना पड़ता है यद्यपि सारी फौज इंग्लैण्ड मे है और ब्रिटिश सेना का अभिन्न अंग है। (पृ. ३५१-५२)। १८८२ से १८६१ तक, दस साल की अवधि के लिए, दादाभाई ने हिसाब लगाया था कि पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी सीमान्तों की लड़ाइयों में भारतीय मालगुजारी से बारह करोड़ नब्बे लाख रुपये खर्च किये गये थे और मुल्लमखुल्ला साम्राज्य के उद्देश्यों के लिए किये गये थे। उन्होंने माँग की कि ब्रिटिश खजाने से इसका एक वाजिब हिस्सा भारत को वापस मिलना चाहिए, और इसी तरह बर्मा की लड़ाई का खर्च भारत को वापस मिलना चाहिए। (परिशिष्ट, पृ. ७६)। इससे पता चलता है, एक करोड़ से ऊपर की धनराशि अंग्रेज युद्ध चलाने के लिए भारत से हर साल वसूल कर रहे थे। दादाभाई ने जिसे 'इम्पीरियल' कहा है, उसे अब

'इम्पीरियलिस्ट' कहा जायेगा। साम्राज्य के प्रसार और उसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित मे भारतीय किसानों को भूखा मारकर करोड़ों रुपये फौज और लड़ाइयों पर खर्च किये जाते थे। भारत की धनशक्ति के अलावा फौज में जिस जनशक्ति का उपयोग होता था, उसकी क्षति अलग से होती थी। जैसे-जैसे महाजनी पूंजी के युग में इंग्लैण्ड आगे बढ़ा, वैसे-वैसे फौज, हथियारबन्दी और युद्ध, इन सबमें बढ़ोतरी हुई। अगस्त १९१४ मे पहला विश्वयुद्ध शुरू हुआ। यह युद्ध उस नीति का परिणाम था जिसकी आलोचना दादाभाई नौरोजी जीवन-भर करते आये थे।

युद्ध छिड़ जाने पर उदारपन्थी भारतीय राजनीतिज्ञों ने सोचा कि इस समय अंग्रेजों की मदद की जाये तो वे यह अहसान कभी न भूलेंगे और उसके बदले मे भारत को स्वराज देंगे। युद्ध छिड़ने पर दादाभाई नौरोजी ने अंग्रेजों की सहायता करने के लिए देशवासियों का आह्वान किया। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा, "मुझे जरा भी सन्देह नहीं है कि भारत की विशाल मानवता मे हर आदमी के दिल मे यही तमन्ना है कि न्याय, स्वाधीनता, सम्मान और वास्तविक मानवीय महत्ता और सुख के लिए ब्रिटिश जनता जो शानदार सघर्ष चला रही है, उसकी सहायता अपनी पूरी ताकत से करें। भारत के राजाओं ने और यहाँ की जनता ने अभी भी अपने-आप कोशिशें शुरू कर दी हैं। इस महान् संघर्ष में जब तक विजय प्राप्त नही होती, तब तक हृदय से ब्रिटिश जाति की सहायता करने के अलावा भारत के मन में और कोई विचार पैदा न होगा।" (पृ. ६८४)।

यही बात उस समय गांधीजी भी कह रहे थे। उदारपन्थी राजनीति की सीमाएँ स्पष्ट हो गयी। साम्राज्यवाद की आलोचना करने पर भी यह राजनीति उससे क्रान्तिकारी संघर्ष करने की बात न सोच सकती थी। इससे अलग हटकर लाला हरदयाल और गदर पार्टी ने देश के सामने क्रान्तिकारी संघर्ष का राजनीतिक विकल्प रखा।

(च) नये हमलावर और सम्पदा का निर्यात

भारत से जो सम्पदा बाहर जाती है, दादाभाई नौरोजी उसके लिए ड्रेन (drain) शब्द का व्यवहार करते थे। इस शब्द का व्यवहार पहले अंग्रेजों ने ही किया था। मौण्टगमरी मार्टिन ने 'ईस्टर्न इण्डिया' में १८३८ मे लिखा था, ब्रिटिश इण्डिया से पिछले तीस साल में सालाना ड्रेन तीस लाख पाउण्ड का बनता है, बारह फी सदी की सामान्य भारतीय दर से चक्रवृद्धि ब्याज लगाया जाये तो बहत्तर करोड़ उनतालीस लाख पाउण्ड की विशाल धनराशि बनेगी। (दादाभाई नौरोजी Poverty and un-British Rule in India, सूचना विभाग, भारत सरकार, पृ. ५४४)। फ्रेडरिक जौन शोर, इतिहासकार मिल आदि ने भी इस शब्द का व्यवहार किया था। मिल ने लिखा था कि देश के साधन इस ड्रेन के कारण बुरी तरह क्षीण होते जाते है, उनकी पूर्ति किसी चीज से नही होती। राष्ट्रीय उद्योग धन्धों की शिराओं से जीवन रक्त खींच लिया जाता है और बाद को कोई भी पोषक तत्व नही पहुँचता जिससे उसकी कमी पूरी हो। (उप.)। इससे पता चलता

है कि अनेक उदारपन्थी अंग्रेज यह बात स्पष्ट देख रहे थे कि औद्योगिक विकास के लिए जो पूँजी दरकार थी, अंग्रेज उसे यहाँ जमा न होने दे रहे थे। अंग्रेज यहाँ से सोना-चाँदी ढो ले गये। दादाभाई का कहना था कि अंग्रेजो ड्रेन के लिए भारत के पास देने को चाँदी नहीं रही, इसलिए वह अपनी उपज और दस्तकारी का सामान देने लगा। इस प्रकार दिन पर दिन उसकी अपनी सन्तान का हिस्सा कम होता गया और उत्पादन की क्षमता कम होती गयी। (पृ. ८०)। सम्पदा की निकासी के अलावा दादाभाई नैतिक निकासी (moral drain) की बात भी करते थे। इसकी व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है: इंजीनियरी, मेडिकल और कुछ अन्य सेवाओं मे डिप्टी कलक्टरों या अतिरिक्त कमिश्नरो अथवा ऐसे ही छोटे पदों को छोड़ दें तो (कुछ और उच्चतर अपवादो के अलावा) कानून बनाने, शासन चलाने का ज्ञान और अनुभव, राजनीतिक नेतृत्व का ज्ञान और अनुभव उस समय इंग्लैण्ड चला जाता है जब ऐसा ज्ञान और अनुभव रखनेवाले व्यक्ति अपनी सेवा से अवकाश पाने पर इंग्लैण्ड चले जाते हैं। (पृ. ५०)। इसलिए दादाभाई चाहते थे कि शासन आदि के कार्य मे भारतवासियों को भी स्थान मिले जिससे कि राजकीय सेवाओं से जो अनुभव प्राप्त हो, वह भारत में ही रहे।

१८६८ मे मैनचेस्टर की एक सभा मे दादाभाई ने कहा था: शासक वर्ग एक ही बात जानता है, अपना भला कैसे करे। यह ऐसा सम्बन्ध है जो बहुत दिनो तक नही चल सकता। भारतीय जनता को जितना आर्थिक घाटा होता है, उससे कही अधिक नैतिक घाटा होता है। भारत के लोग जानते थे कि उनमे तरह-तरह के काम करने की क्षमता है पर उन्हें ऐसे काम करने की अनुमति नही थी। उन्हें बाध्य होकर बँधुआ मजदूर (हेलॉट) बने रहना पडता था। काम न मिलना, मनुष्य के रूप मे क्षमता का विनाश, इसका लाजिमी नतीजा—इन्सानियत के पैमाने मे बराबर नीचे गिरते जाना, यह भारी क्षति थी। (पृ. ५५६)। मौरल ड्रेन—नैतिक निकासी—का यह दूसरा पहलू है। भारतवासी काम करें, अनुभव और ज्ञान प्राप्त करें, इसके लिए अवसर नहीं था। इस तरह उनकी क्षमता का विकास न हो सकता था। दूसरी तरफ जो अंग्रेज राजकाज का अनुभव प्राप्त करें, वे अवकाश प्राप्त करने के बाद इंग्लैण्ड चले जायें, इस तरह भारत दोहरे घाटे में रहता था।

दादाभाई जानते थे कि यूरुप की समृद्धि का बहुत बड़ा कारण किसी समय भारत से उसका व्यापार था। भारत मे भुखमरी की समस्या पर इंग्लैण्ड की एक सभा में बहस हुई। १६०० मे दादाभाई नौरोजी ने बहस का जवाब देते हुए इस सभा में कहा था: किसी भी वक्ता ने इस बात का खण्डन नही किया कि ब्रिटिश नीति के कारण भारतीय साधन समाप्त हो गये है, इसलिए भुखमरी का कारण यह नीति है। कहा गया है कि भारत को उद्योग धन्धो की ओर ज्यादा ध्यान देना चाहिए और खेती पर कम निर्भर रहना चाहिए। ऐसा कहनेवाले भूल गये हैं कि ब्रिटिश नीति ने भारतीय उद्योग धन्धों का नाश किया है। पहले भारत अपने उद्योग धन्धों के लिए विख्यात था। वेनिस तथा दूसरे पुराने शहरों ने भारत में व्यापार करके भारी सम्पदा बटोरी थी किन्तु ब्रिटेन ने भारत को उसके जीवन-

Government of India under its native Rulers)। यह पुस्तिका १८६६ में फिर छापी गयी और उस समय उसके लिए दादाभाई नौरोजी ने एक छोटी-सी भूमिका लिखी। इसमें उन्होंने बताया कि देशी राजाओं के शासन में जो भी गुण-अवगुण रहे हों, एक बात निश्चित है कि अंग्रेजों ने जिस तरह यहाँ की सम्पदा ढोई है, वैसे देशी राजाओं ने कभी न ढोई थी। ब्रिटेन के हित में खर्च का जितना भी भार हो सकता है, वह भारत पर डाला जाता है। ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य भारतीय धन से और भारतीय रक्त से बना है; इसके अलावा करोड़ों पाउण्ड ब्रिटेन यहाँ से ढो ले गया है। कोई भी न्यायप्रिय अंग्रेज सही स्थिति जानने के बाद यही कहेगा कि "भारत की आर्थिक और भौतिक स्थिति के विचार से मौजूदा व्यवस्था सबसे बड़ा अभिशाप है जिसे भारत ने कभी भी सहा है। (In the material and economic condition of India the existing system has been the greatest curse with which India has been ever afflicted)" (पृ. ५१३)। इसी तरह दुर्भिक्ष आयोग के लिए दादाभाई ने १८८१ में एक स्मरणपत्र में कहा था: पुराने हमलावर ऐलान करते हुए आये थे कि वे दौलत लूटेंगे। उन्होंने दौलत लूटी और चले गये या जीत गये तो इसी देश के निवासी बन गये। भारत का महा दुर्भाग्य यह है कि इंग्लैण्ड का उद्देश्य भारत को लूटना नहीं था, यह उसकी इच्छा नहीं थी, "फिर भी घटनाक्रम ने ऐसा रूप लिया कि भारत ने दुर्भाग्य से जितने भी विदेशी हमलावरों का सामना किया, उनमें सबसे निकृष्ट इंग्लैण्ड है। (events have taken a course which has made England the worst foreign invader she has had the misfortune to have)" (पृ. १६७-६८)। जो लोग प्रगतिशील होने का दावा करते हैं और एशियाई निरंकुशता की बात करते है, उनकी तुलना में दादाभाई नौरोजी क्रान्तिकारी हैं। अंग्रेजी राज को प्रगतिशील माननेवाले भारतीय विद्वान् १६वीं सदी के लिबरल राजनीतिज्ञों से गये-बीते है। पुराने शासक निरंकुश थे, अंग्रेजों की निरंकुशता उससे कहीं अधिक हानिकर थी। इसीलिए दादाभाई नौरोजी ने इंग्लैण्ड को 'दि वर्स्ट फारेन इनवेडर' की संज्ञा दी थी।

(छ) भारत—अंग्रेजी राज से पहले

१८५३ में इंग्लैण्ड के अनेक उदारपन्थी विचारक यह देख रहे थे कि अंग्रेजी राज की तुलना में पुराने राजाओं का शासन प्रजा के लिए अधिक हितकारी था। यह डलहौज़ी का जमाना था जब अंग्रेज एक के बाद दूसरा देशी राज्य हड़पते चले जा रहे थे। उस समय इंग्लैण्ड के लिबरल राजनीतिज्ञों ने साहस के साथ देशी नरेशों के पक्ष में उक्त पुस्तिका प्रकाशित की थी। १८५७ की लड़ाई क्यों हुई, इसका बहुत अच्छा जवाब पहले से ही १८५३ की इस पुस्तिका में मौजूद है। उसका साराश यहाँ देने से बर्नियर आदि यात्रियों द्वारा किये गये प्रचार का खण्डन होगा और जो लोग २०वीं सदी के उत्तरार्ध में उस प्रचार को दोहराते है, वे देखेंगे कि उनकी दलीलों का खण्डन बहुत पहले ही हो चुका है।

पुस्तिका का सारांश इस प्रकार है। हम देशी नरेशों, अपने सहयोगियों, के

राज्य छीनने पर तुले हुए है। मुख्य दलील यह है कि हममें सब गुण है और उन
सब अवगुण है। सभी देशी राज्य बुरे है, सभी देशी शासक विलासी और अत्य
चारी हैं। प्रजा कराह रही है और हमें उसका उद्धार करना ही चाहिए। जिस
सिर पर पगड़ी है, वह दो कौड़ी का आदमी है, जिसके सिर पर टोप है, वह बड़
है। जब तक ऐंग्लो-सैक्सन भारत नही पहुँचा, तब तक वहाँ अच्छा शासन था ह
नहीं। भारतवासी को नागरिक जीवन की कला ऐंग्लो-सैक्सन ने सिखायी; उस
उसे बताया शासन कैसा होना चाहिए। यूनान और रोम की पुरानी इमारतो क
अवशेष वहाँ की जनता की प्रतिभा और अभिरुचि का सबूत है। "प्राचीन भार
के अवशेष और भी भव्य है किन्तु वे केवल स्वार्थ और प्रदर्शन के स्मारक हैं।"
(पृ. ५१४)। जो चीज पश्चिम मे प्रशंसा के योग्य है, वही चीज पूर्व में प्रशंसा के
योग्य नहीं है। जब हम पश्चिम में उपयोग और अलंकरण की बड़ी-बड़ी चीजें देखते
हैं, तब हम उन्हें समृद्ध और शान्तिपूर्ण शासनो का प्रमाण मानते है। पूर्व में ऐसी
ही चीजें देखकर दूसरा फैसला करते है। इस समय हम पूर्ववर्ती शासकों के सिचाई
सम्बन्धी भव्य निर्माण-कार्यो के बल पर लाखों की मालगुजारी वसूल करते हैं;
देश मे ऐसे कार्यो के अवशेष बिखरे पडे है। "हम उनकी अनदेखी करके निकल
जाते है; उनकी नकल करने मे जो हमारे अपेक्षाकृत तुच्छ प्रयास हैं, हम उन्हीं
की चर्चा करते है।" (उप.)। कहा जाता है कि हमने भारत के लोगो को निहा-
यत झूठा और गिरा हुआ पाया। हिन्दुओं मे जो खराबियाँ पहले से थी, मुसल-
मानों के राज मे वे खूब पनपी। बड़े से बड़े देशी राजाओं से तुलना की जाये तो
हमारे महा आलसी और स्वार्थी गवर्नर भी भलाई और उपकार के आदर्श ठहरेंगे।
मुगल बादशाहो की विलासी स्वार्थपरता ने जनता को पतित और निर्बल बना
दिया। "इस देश मे पब्लिक प्रेस हमारे हाथ मे है, जनता के मन की सहानुभूति
हमारे साथ है। इसलिए पूर्ववर्ती शासको की तुलना मे अपने बडप्पन का बखान
करना आसान काम है। हम अपनी कहानी खुद ही कहते है, हमारी गवाही मे
कोई खोट नही है, किन्तु पूर्ववर्ती शासकों के पक्ष मे कही कोई बात मिले, तो हम
कहते हैं कि यह विवरण सन्दिग्ध है।" (पृ. ५१४-१५)। १४वी सदी में मुगलों
की विजय से हम १९वी सदी की ब्रिटिश विजय की तुलना करते है। इन्साफ की
बात यह है कि हिन्दुस्तान पर मुसलमान-आक्रमण की तुलना करनी चाहिए
इंग्लैण्ड पर उस समय के नार्मन आक्रमण से; मुसलमान बादशाहों के चरित्र की
तुलना करनी चाहिए पश्चिम मे उनके समकालीनों के चरित्र से। जब ऐंग्लो-
सैक्सन पर नार्मन ने विजय पायी, तब अंग्रेज कहलाना गाली की तरह था। जो
न्याय की गद्दी पर बैठे थे, वे साधारण चोरों और लुटेरों से भी बड़े लुटेरे
और अत्याचारी थे। बड़े आदमियों में धन का ऐसा लोभ समाया था कि धन
किस तरह के उपायों से मिलता है, इसकी चिन्ता न रह गयी थी। अय्याशी इस
हद तक बढ़ी थी कि स्काटलैण्ड की एक राजकुमारी ने अपनी देह की रक्षा के
लिए धार्मिक पोशाक पहनना जरूरी समझा था।

कहा जाता है कि मुसलमान खानदानों ने भारत को बुरी तरह लूटा और
अत्याचार किया। जब मुसलमानों से लड़ने यूरुप के ईसाई यरूशलम ११वीं सदी

के अन्त में पहुँचे, तब उन्होंने शहर के चालीस हजार पुरुषों-स्त्रियों, बूढ़ों-बच्चों, जवानों को किसी भेदभाव के बिना मौत के घाट उतार दिया। उसी समय इंग्लैण्ड मे लड़ाइयों ने ऐसा भयानक रूप लिया कि लोगों ने खेती करना छोड़ दिया, और १४वीं सदी मे हमने फ्रांस मे जो लड़ाइयाँ कीं, उनसे ज्यादा विनाशकारी और भयानक युद्ध किसी युग या देश मे सुने नहीं गये। मुसलमान विजेताओं की क्रूरता की कहानी तो अधिकारी विद्वानों ने लिखी है, उनके उपकार की कहानी उतने अधिकारी विद्वानों ने नहीं लिखी। "समकालीन ईसाई विजेताओं की क्रूरता के प्रमाण भरे पड़े हैं; कहीं उनके उपकार का भी कोई प्रमाण है?" (पृष्ठ ५१५)।

व्यवस्थित रूप से मोटे-मोटे ग्रन्थों मे देशी राजाओं और देशी हुकूमतों के चरित्र को नीचा दिखाने की कोशिश की जाती है जिससे कि उनकी जमीन जायदाद छीनने के लिए उचित बहाना मिल जाये। यह फैशन हो गया है कि १५वीं-१६वीं सदी के भारत की तुलना १६वीं सदी के इंग्लैण्ड से की जाये और इस पर अपने को सराहा जाये। इस तरह तो प्रारम्भिक ईसाई शताब्दियों मे दोनों देशों की तुलना करना भी सही होगा; उस समय भारत सभ्यता के शिखर पर था और इंग्लैण्ड तलहटी मे था।

प्राचीन काल मे यूनानियों ने देखा था कि भारत में विदेशी व्यापार के अनेक केन्द्र हैं, अनेक व्यापारिक नगर है। व्यापार से पता चलता है कि कोई राष्ट्र आगे बढ़ा हुआ है या नहीं। आरिअन (Arrian) ने लिखा है कि भारतवासी स्वतन्त्र थे, युद्ध हो या शान्ति, फौज को नियमित वेतन मिलता था, घोड़े और हथियार राज्यसत्ता देती थी, वे देश को तबाह न करते थे। खेतों की पैमाइश की गयी थी और सिंचाई के लिए पानी के वितरण की उचित व्यवस्था थी। सौदागरों और व्यापारियों से कर वसूल किया जाता था। स्त्रावो ने राजपथों की प्रशंसा की है। देश मे हर तरह की खाने-पीने की चीजें मिलती थीं। ईसाई संवत् आरम्भ होने से पहले अशोक ने अपने पूरे राज्य में औषधालय कायम किये, राजमार्गों के किनारे पेड़ लगवाये, कुएँ खुदवाये। विक्रमादित्य के समय मे जनता सभ्य और बहुसंख्यक थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों तरह के लेखक यह मानते हैं कि मुस्लिम विजय के समय देश समृद्ध था। कर्णाटक और तेलंगाना के राज्य १४वीं सदी में कायम किये गये। बीजानगर की-सी समृद्धि पहले किसी ने देखी न थी। दक्षिण के राजाओं मे ऐसा हेलमेल था कि हिन्दू और मुसलमान राजा आपस मे शादी-ब्याह के सम्बन्ध करते थे, मुसलमान सेना के ऊँचे पदों पर हिन्दू थे और हिन्दू सेना के ऊँचे पदों पर मुसलमान थे। बीजानगर के एक राजा ने मुसलमान प्रजा के लिए एक मस्जिद बनवायी थी। शेरशाह ने पूर्व मे बंगाल से लेकर पश्चिम में सिन्धु नदी तक राजमार्ग का निर्माण किया। इस मार्ग के किनारे हर डेढ़ मील पर एक कुआँ था और हर पड़ाव पर एक सराय थी। इस मार्ग से पूरी यात्रा चार महीने मे समाप्त होती थी। सड़क के दोनों ओर छायादार पेड़ थे। अकबर अपनी उदारता, साहस, सहनशीलता आदि के लिए प्रसिद्ध था। उसने बाल-विवाह पर रोक लगायी और विधवाओं को फिर से ब्याह करने की अनुमति दी। हिन्दू

विधवाओं को उनकी इच्छा के विरुद्ध जलाने पर निश्चित रोक लगायी
मुसलमानों के साथ हिन्दुओं को राजकीय सेवाओं में लिया, हिन्दुओं
हुआ टैक्स खत्म किया, युद्ध के बन्दियों को गुलाम बनाने पर पूरी पाबन्दी
मालगुजारी के हाकिमों को जो आदेश दिये थे, उनसे प्रजा की सुख-सुविध
उदार शासन-व्यवस्था का पता चलता है।

अकबर के पोते शाहजहाँ का शासनकाल भारत का सबसे समृद्ध शासन
था। वह देश की शासन-व्यवस्था का बराबर ध्यान रखता था। औरंगज़े
अत्याचारी शासन में भी पहले की समृद्धि बनी रही। मुगल साम्राज्य के विघ
काल में नादिरशाह १७३९ में दिल्ली से जो अपार सम्पदा ले गया, उससे
चलता है कि देश अब भी बहुत कुछ समृद्ध था।

शिवाजी ने औरंगज़ेब के राज्य में मुगल साम्राज्य की नींव हिला दी। व
योग्य और कुशल सेनापति थे। प्रजा की रक्षा के लिए उन्होंने जो नियम बनाये थे
उनका पालन वह प्रान्तीय और ग्रामीण अधिकारियों से कड़ाई से कराते थे। युद्ध
से जो कठिनाइयाँ पैदा होती हैं, उन्हें कम करने के लिए उन्होंने बड़े मानवीय
नियम बनाये थे। उन्होंने ऐसी शासन-व्यवस्था कायम की थी कि उनकी मृत्यु के
अस्सी साल बाद तक वह कायम थी। अंकेतील दु पेरों ने १७५८ में महाराष्ट्र के
लिए लिखा था, यहाँ आकर ऐसा लगता है कि हम सुखी और सरल जीवन के
स्वर्ण युग में पहुँच गये हैं जहाँ प्रकृति अभी पहले जैसी बनी हुई है और युद्ध और
मुसीबत क्या है, लोग जानते नहीं है। लोग प्रसन्न और स्वस्थ दिखायी देते थे
और अतिथि सत्कार की कोई सीमा नहीं थी। हर घर का दरवाजा खुला था;
मित्र, पडोसी, अजनबी, सभी का स्वागत था। (पृ. ५२३)।

पेशवा माधव राव मालगुजारी वसूल करनेवाले कर्मचारियों पर कड़ी निगाह
रखते थे, साधारण किसानों की फरियाद तुरत सुनते थे। उस समय महाराष्ट्र की
भूमि अपनी उर्वरता के अनुरूप भारत के अन्य किसी भी भाग से अधिक समृद्ध थी।
सर जौन मैलकम ने लिखा था, १८०३ में ड्यूक ऑव वेलिंगटन के साथ वह महा-
राष्ट्र के दक्षिण भाग में गया, धरती की उपज और व्यापारिक सम्पदा की ऐसी
समृद्धि मैंने उसके बाद और किसी देश में नहीं देखी। विशेष रूप से कृष्णा नदी के
किनारे की विशाल भूमि की ओर मैं संकेत कर रहा हूँ। राजधानी पूना धनी
व्यापारिक नगर के रूप में फल-फूल रहा था (पृ. ५३३)।

हैदर अली प्रायः लड़ाइयों में फँसे रहते थे, फिर भी शासन व्यवस्था का
ध्यान बराबर रखते थे। "उनके राज्य के हर भाग में उद्योगपति और व्यापारी
फल-फूल रहे थे। खेती-बाड़ी उन्नति कर रही थी, नये उद्योग कायम किये गये थे
और राज्य में सम्पदा एकत्र हो रही थी।" (पृ. ५२५)। टीपू सुल्तान के लिए
उन्होंने भरा-पूरा खजाना, शक्तिशाली साम्राज्य और तीन लाख सैनिकों की अनु-
शासित फौज छोड़ी। उस समय टीपू के राज्य में चारों तरफ घूमकर मूर नाम के
अंग्रेज ने लिखा था, "जब किसी नये देश में घूमता हुआ कोई आदमी देखता है
जमीन अच्छी तरह जोती-बोयी जाती है, आबादी घनी है, लोग मेहनती हैं,
शहर बसाये गये हैं, व्यापार का प्रसार हो रहा है, नगरों की संख्या बढ़ रही

है, हर चीज फल-फूल रही है जिससे खुशहाली का पता चलता है, तो वह आदमी स्वभावतः इस नतीजे पर पहुँचेगा कि शासन-व्यवस्था ऐसी है कि वह लोगों को पसन्द है। यह तस्वीर टीपू के देश की है और वहाँ की शासन-व्यवस्था के बारे में हम इसी नतीजे पर पहुँचे हैं।" (उप.)। किन्तु यह समझना भूल होगी कि यह सारी समृद्धि हैदर अली या उनके बेटे की देन थी। उसकी नींव उनसे पहले पुराने हिन्दू राजाओं ने डाली थी। उन्होंने मैसूर में आलीशान नहरें बनायी थीं। इनके कारण उपजाऊ भूमि से अच्छी फसल मिलेगी, यह बात निश्चित रहती है। (पृ. ५२६)।

मैलकम ने मालवा के बारे में लिखा था, पिण्डारी, मराठा फौजें और लगता है सारे हिन्दुस्तान के लुटेरों के दल इस सुन्दर प्रदेश में सिमट आये थे। फिर भी दूर रहते हुए जो सुना था और पास जाकर जो देखा, उसमें इतना फर्क था कि मुझे बड़ा ताज्जुब हुआ। वहाँ की शासन-व्यवस्था का अधिकार मेरे हाथ मे था, इसलिए सरकारी दस्तावेजों से जो कुछ जाना जा सकता था मैंने जान लिया। "इसमे सन्देह नही कि मैंने जब कार्यभार सम्हाला, तब मुझे पूरा विश्वास था कि यहाँ व्यापार का नाम-निशान न होगा। मै समझता था कि अपनी स्थिति के कारण पश्चिमी भारत के धनी प्रान्तों और हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिमी सूबों तथा और पूरब की ओर सागर तथा बुन्देलखण्ड के प्रान्तों के बीच होने के कारण सारा व्यापार मालवा से होकर होता था। यह व्यापार बहुत दिन चला पर अब वहाँ उधार-व्यवस्था समाप्त हो गयी होगी। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि राजपूताना, बुन्देलखण्ड और हिन्दुस्तान तथा गुजरात के बडे व्यापारियों और महाजनो से पत्र-व्यवहार के दौरान उज्जैन तथा दूसरे शहरों मे बड़ी-बड़ी रकमों को लेकर व्यवहार बराबर चलता रहा था। इन शहरों मे अच्छी साखवाले महाजन या साहूकार खूब समृद्ध थे। इस प्रान्त से काफी माल बराबर आता-जाता रहता था जिसकी कुल कीमत बड़ी थी, किन्तु बीमे के दफ्तर भारत के हर भाग मे थे, इनमे मुख्य महाजन शामिल थे, बीमे की कार्रवाई कभी बन्द नही हुई, यद्यपि सकट के समय देय रकम (प्रीमियम) काफी ऊँची हो जाती थी।" (पृष्ठ ५३४)।

राजस्थान और रुहेलखण्ड की यात्रा करने के बाद भरतपुर राज्य के बारे में बिशप हेबर ने लिखा था, दक्षिणी रुहेलखण्ड छोड़ने के बाद कम्पनी के राजवाले राजपूताना का जो हिस्सा मैंने देखा था, उससे कहीं ज्यादा अच्छी हालत भरतपुर राज्य की थी। आबादी ज्यादा नही थी लेकिन गाँव अच्छी खासी हालत में थे। मुझे लगा या तो भरतपुर का राजा आदर्श राजा है या फिर देशी राज्यों के मुकाबले ब्रिटिश प्रान्तों की शासन-व्यवस्था देश की उन्नति के लिए अनुकूल नही है। (पृ. ५३६)।

रुहेलखण्ड के बारे मे एक सरकारी रिपोर्ट में कहा गया था, यदि रुहिल्लों की शासन-व्यवस्था से अपनी हुकूमत की तुलना करें तो यह सोचकर दुख होता है कि पलड़ा रुहिल्लों का ही भारी रहेगा। बीस साल मे रुहेलखण्ड तथा अवध के नये प्राप्त जिलों की कुल मालगुजारी दो लाख पाउण्ड सालाना कम हो गयी है। "हम यह देखे बिना नहीं रह सकते कि पड़ोसी प्रदेशों में अधिक पूँजी लगाने और

अधिक उद्यम करने से कितना बडा अन्तर पैदा होता है। यहाँ का इलाका मानो तबाही का शिकार हो गया है किन्तु राजा दयाराम और भगवन्तसिंह के इलाको मे खूब फसलें हो रही थी। मौसम अनुकूल नही था, फिर भी ज्यादा मेहनत और देखभाल से उपज अच्छी हुई। जो इलाका वीरान दिखायी देता था, वह अंग्रेजी राज मे था और पाँच साल तक हमारे अधिकार मे रह चुका था।" (पृ.५३७)।

अवध और उसके शासको को खूब गालियाँ दी गयी थी। फिर भी इस बात का पक्का सबूत है कि न तो उस देश की वैसी हालत थी और न शासको का वैसा चरित्र था जैसा हमारे अफसरो ने उसे दिखाया है। बिशप हेबर ने लिखा था, जिस अत्याचार का वर्णन किया जाता है, वह सच होता तो यहाँ इतने उद्योग और इतनी आबादी के दर्शन न होते। हर जगह लोग शराफत से पेश आते थे, हमारे निकलने के लिए हाथियो और गाडियो को एक तरफ कर देते थे। "लन्दन मे दस विदेशियो के साथ जैसा व्यवहार होता, कुल मिलाकर उससे कही ज्यादा यहाँ आवभगत और अतिथि सत्कार की भावना दिखायी दी।" (पृ. ५३८)। बादशाह ने ठीक कहा था कि उसके राज्य मे खेती की हालत, जैसी मैं सोच रहा था, उससे कही ज्यादा अच्छी थी। शक होता है कि अवध की मुसीबत और अराजकता बढ़ा-चढाकर बयान की जाती है। बादशाह को पूर्वी भाषाविज्ञान (oriental philology) और दर्शनशास्त्र पढ़ने का शौक है और उसे इन विषयों का विद्वान् माना जाता है। इनके अलावा उसे यन्त्रविद्या और रसायनशास्त्र (mechanics and chemistry) से गहरी दिलचस्पी है। वह दयालु और इन्साफपसन्द है। वह बहुत ही लोकप्रिय है। हिंसा या अत्याचार का कोई कार्य उससे नही हुआ। (पृ. ५३८)।

जिस समय अवध पर अंग्रेजों का सीधा अधिकार न हुआ था, अवध का नवाब अंग्रेजो का सहयोगी था, उस समय भी "उसका राज्य अंग्रेजों के खाने-खसोटने के लिए जानवर की लाश जैसा था। वारन हेस्टिंग्स ने लिखा था कि हिन्दुस्तान के सभी राजा हमारी फौज से जितना डरते है, उतना ही हमारी मित्रता से डरते हैं। हिन्दुस्तान का हर आदमी अंग्रेजो के सम्पर्क से डरता है। जिन्होने यह सम्पर्क कायम किया, उन्हे बुरी तरह अपमानित होना पड़ा।" (पृ. ५३०)। अंग्रेजी सम्पर्क से पहले अवध अत्यन्त समृद्ध था। किसी दबाव के बिना तीस लाख पाउण्ड की सालाना आमदनी होती थी। वहाँ हमने अपनी फौज रखी, अधिकारियों की जमात इकट्ठा कर दी और प्रदेश निर्धन हो गया। १८१५ से १८२५ के बीच कर्ज के नाम पर हमने नवाब से चालीस लाख की रकम वसूल की। गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक का कहना था कि हमने अपनी शक्ति का भय दिखाकर यह रकम वसूल की। इसके लिए नवाब को बादशाह का बेमानी खिताब दिया। १८३१ मे यह राज्य बियाबान प्रदेश बन गया। अवध का यह इतिहास उन लोगों ने नही लिखा जिन पर मुसीबत पड़ी थी, उसे मुसीबत ढानेवालो ने लिखा है। "वह उन तथ्यों पर आधारित है जो हमारे दस्तावेजों मे हैं और इसलिए असंदिग्ध हैं। यदि अवध में शासन अच्छा नही है, जनता उत्पीड़ित और निर्धन है, तो दोष किसका है, देशी राजाओं का या उनका जिन्होने इन राजाओं को कुचला है?" (पृ. ५३२)।

बंगाल के लिए मैकाले ने लिखा था, निरंकुश मुसलमान राजा और मराठा लुटेरों के बावजूद समस्त पूर्व में बंगाल धनी राज्य माना जाता है। आबादी बराबर बढ़ती जाती थी, उसके धन-धान्य से सुदूर प्रान्तों का पोषण होता था, लन्दन और पैरिस की अभिजात देवियाँ वहाँ के करघों की मुलायम पैदावार में शरीर ढाँकती थीं। (पृष्ठ ५२७)। हौलवेल ने लिखा था कि हिन्दुस्तान की प्राचीन सरकार की न्यायप्रियता, अनुशासन आदि के अवशेष बंगाल में ही रह गये हैं। लोगों की सम्पत्ति और स्वाधीनता को कोई हाथ नहीं लगा सकता। डकैती की बात सुनने में नहीं आती। यात्री के पास व्यापार का माल हो चाहे न हो, उसकी सुरक्षा का भार शासन पर होता है और इसके लिए उसे कुछ खर्च करना नहीं होता। (उप.)। ढाका के समृद्ध प्रान्त के हर हिस्से में खेती-बाड़ी होती थी। लोगों के सुख-सन्तोष की सभी चीजें पैदा होती थीं। बंगाल पर अंग्रेजों का शासन हुआ और दस साल में सबकुछ बदल गया। क्लाइव ने लिखा था कि बंगाल को छोड़कर ऐसी अराजकता, ऐसा भ्रष्टाचार, ऐसी लूटखसोट और कहीं देखी-सुनी नहीं। बंगाल, बिहार और उड़ीसा का पूरा प्रबन्ध कम्पनी के हाथ में है। नवाब से लेकर छोटे से छोटे ज़मींदार तक सबसे पैसा वसूल किया गया है। कम्पनी के नौकरों ने व्यापारियों को गुमाश्ता बनाया। इन्होंने कम्पनी के नाम पर ऐसे काम किये हैं कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को अंग्रेज शब्द से घृणा हो गयी है। (पृ. ५३०)। बंगाल में अकाल पड़ा। कौर्नवालिस ने लिखा था, खेद के साथ कहना पड़ता है कि सालों से व्यापार और खेती में गिरावट आती रही है। शहर के बनियों और साहूकारों को छोड़कर इस प्रदेश के निवासी गरीब और मुफलिस बनते जा रहे हैं। (उप.)। वैन्सिटार्ट ने बंगाल के लिए लिखा था, किसी ने इस तथ्य को नकारने की कोशिश नहीं की कि बंगाल के किसान इतने तबाह हैं जितने कि कोई कल्पना कर सकता है। गन्दी झोपड़ियों में रहते हैं जो कुत्तों के रहने लायक भी नहीं हैं। तन पर चीथड़े हैं, परिवार को एक बार से अधिक भोजन नहीं मिलता। जीवन की अति साधारण सुख-सुविधा क्या होती है, बंगाल की प्रजा नहीं जानती। (पृ. ५४०)। या तो ब्रिटिश सरकार ने बंगाल के लोगों को इस दुर्दशा में पाया था या फिर उनकी यह दुर्दशा अंग्रेजी राज में हुई। यदि यह उनकी सामान्य दशा थी तो अंग्रेज सरकार ने एक शताब्दी तक क्या किया जो उन्हें उबार नहीं पायी? और यदि उनकी यह दुर्दशा अब हो गयी है तो सरकार को इसके लिए अपने बचाव में क्या कहना है? "अकबर के समय से लेकर १८३७ में मीरजाफर की हुकूमत तक सालाना मालगुजारी की राशि में बहुत कम तब्दीली हुई, उसे वसूल करने के तरीके लगभग वही रहे। लेकिन मीरजाफर ने गद्दी पर बैठने के बाद हमें जो रकम देने का वादा किया था, इसके साथ ही उसे दिल्ली के बादशाह को जो सालाना खिराज देना था, इससे उसने ज़मीन का लगान बढ़ा दिया और तरह-तरह से पैसा खींचने लगा। हमने यह सब अतिरिक्त वसूली जारी रखी। १७६५ से १७९० तक मालगुजारी की व्यवस्था में हम बराबर परिवर्तन और प्रयोग करते रहे। बकाया धनराशि काफी हो गयी और देश के लिए कहा जाने लगा कि वह अभी भी पस्त और मुफलिस हो गया है।"

(पृ. ५४०)। भारत की प्रगति का इतिहास हमने मोटे-मोटे ग्रन्थो मे लिखा है। इन सबका सारांश यह है कि १५वीं-१६वी सदियो की हिन्दू और मुसलमान हुकूमतो से १६वी सदी की ईसाई भारतीय सरकार ज्यादा अच्छी है। "हम बड़े होने का जो दावा करते है, यह उसकी सीमा है। इस दावेका समर्थन अपने पूर्ववर्ती शासकों के कार्य और चरित्र को घटिया बताते हुए और अपने कार्य और चरित्र को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाते हुए ही हम कर सकते है। और आखिर मे यह शक बना ही रहेगा कि इस तौल मे हमारा पलड़ा दरअसल भारी है।" (पृष्ठ ५४१)।

५. ऐम. ऐन. राय

संक्रमणकालीन भारत (India in Transition) मे ऐम. ऐन. राय ने यह स्वीकार किया था कि अंग्रेजी राज कायम होने से पहले यहाँ पूँजीवादी विकास आरम्भ हो चुका था। उन्होने लिखा था, ब्रिटिश आक्रमण की पहले की शताब्दियो मे उद्योग धन्धो का विकास हुआ, उसके फलस्वरूप व्यापार का प्रसार हुआ। इससे शहरों की वृद्धि हुई। अठारहवी सदी के आरम्भ मे शहरी आबादी का जो अनुपात था, वह उन्नीसवी सदी के अन्त तक कम हो गया। [अर्थात् अंग्रेज़ी राज मे शहरो का देहातीकरण हुआ]। शहरी आबादी का एक बड़ा हिस्सा व्यापार और उद्योग धन्धो मे संलग्न था। जिस हद तक उद्योग धन्धो पर नियन्त्रण कायम हुआ [अर्थात् दस्तकारी पर सौदागरी नियन्त्रण कायम हुआ], उस हद तक स्वाधीन कारीगरों का स्थान पगारजीवियों ने लिया, ये लोग पगारजीवी चाहे आशिक रूप मे हो और चाहे पूर्ण रूप मे हों। इस तरह अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध मे भारत की शहरी आबादी का एक हिस्सा सर्वहारा था किन्तु औद्योगिक पूँजी ने [अर्थात् ब्रिटेन की औद्योगिक पूँजी ने] भारत को दूसरे ढंग से प्रभावित किया। क्रान्तिकारी सामाजिक शक्ति होने के बदले उसने देश को प्राकृतिक अर्थतन्त्र की ओर ठेल दिया। देश इस प्राकृतिक अर्थतन्त्र से पहले ही आगे बढ़ चुका था। अंग्रेजी राज के प्रारम्भिक वर्षों मे मशीनी उद्योगो से तैयार किये हुए अंग्रेजी माल ने भारतीय शहरो को बर्बाद कर दिया। सूती उद्योग का एक प्रमुख केन्द्र ढाका था। १७७० मे उसकी आबादी २ लाख थी; १८४० मे घटकर वह ६० हजार रह गयी। अठारहवी सदी के मध्य मे शहरों मे रहनेवाले लोग अनुमानतः कुल आबादी का ५०% थे; उन्नीसवी सदी के अन्त में वे १५% ही रह गये। पुराने समृद्ध नगरो का यह ह्रास सारे देश मे दिखायी दिया। फिर नये और आधुनिक शहर निर्मित किये जाने लगे। यूरप की तरह ये शहर औद्योगिक केन्द्रों के आसपास निर्मित नही हुए वरन् समुद्रतट पर बनाये गये। इसका कारण आयात-निर्यात व्यापार था जो तेजी से हो रहा था। समुद्रतट से दूर, देश के भीतर, जो नये शहर बने, वे शासन-केन्द्र थे या ऐसे ठिकाने थे जहाँ निर्यात के लिए कच्चा माल बटोरा जाता था और जनता तक पहुँचाने के लिए तैयार माल का आयात होता था। स्वभावतः इन नये शहरों के अधिकांश निवासी पगारजीवी थे लेकिन यहाँ औद्योगिक सर्वहारा का अभाव साफ़ दिखायी देता था। थोड़े-बहुत महत्व के जिस राष्ट्रीय उद्योग को भी साँस लेने की मोहलत थी, वह सुदूर गाँवो के भीतर

अपनी जान बचाये था; मशीन से बने हुए माल के हमले से जो उद्योग अपनी रक्षा कर सका, वह भी इन गाँवों में शरण लेने को बाध्य हुआ। देशी व्यापारी वर्ग ने देखा कि गाँव के दिवालिया कारीगरों की बनायी हुई थोड़ी-सी चीजों को बेचने से सस्ता विदेशी आयातित माल बेचने में ज्यादा लाभ है। इस प्रकार जो दस्तकारी उद्योग सत्रहवीं सदी के अन्त तक सामाजिक उत्पादन की पहली मंजिलों तक विकसित हो चुका था, वह अब व्यक्तिगत आधार [वाले उत्पादन की स्थिति] की ओर फिर ठेल दिया गया। [अर्थात् सत्रहवीं सदी के अन्त तक भारत में पुराने कारीगर कारखानों में मिलकर काम करने लगे थे। यह उनके उद्योग का समाजीकरण हुआ। अंग्रेजी राज में ये कारखाने टूट गये; तब कारीगर अलग-थलग पहले की ही तरह व्यक्तिगत रूप से धन्धा करने लगे। इस तरह अंग्रेजों ने उद्योग धन्धों को उत्पादन की नयी राह पर आगे बढ़ने से रोका और पूँजीवाद की प्रारम्भिक मंजिल से ठेलकर उन्हें सामन्ती मंजिल में पहुँचा दिया।] भारत के नये शहर देश की आन्तरिक सामाजिक प्रगति के परिणाम नहीं थे, वे विदेशी शासक की चौकियाँ थे, विदेशी पूँजीपतियों के व्यापार के अड्डे थे। किन्तु उनका यह मूल कृत्रिम रूप जल्दी ही बदल गया। उनमें रहनेवाले निम्न पूँजीवादी लोग, बौने पगारजीवी बुद्धिजीवी लोग, क्रमशः भारतीय समाज के सबसे प्रगतिशील वर्ग के रूप में विकसित हुए। इन्हीं लोगों में से और इनके साथ प्रगतिशील जमीदारों और देशी व्यापारियों में से आधुनिक पूँजीपति वर्ग का अभ्युदय हुआ। किन्तु इस वर्ग के अधिकांश लोगों की आर्थिक हालत सर्वहारा वर्ग की-सी थी। (डौक्युमेंट्स; खण्ड १; पृ. ३७१-७२)।

शहरों का देहातीकरण हुआ, यह बात विलियम डिग्बी कह चुके थे। राय ने जो नयी बात कही थी, वह यह थी कि अंग्रेजी राज कायम होने से पहले यहाँ दस्तकारी उद्योग सामाजिक उत्पादन अर्थात् पूँजीवादी उत्पादन की प्रारम्भिक मंजिलों में प्रवेश कर चुका था। अंग्रेजों ने इस प्रक्रिया को भंग किया और उद्योग धन्धों को पुरानी पद्धति की ओर ठेल दिया। उन्होंने जो शहर बसाये, वे मूलतः साम्राज्यवाद की आर्थिक और प्रशासनिक जरूरतें पूरी करने के लिए थे। एक बहुत बड़ी जरूरत फौजी छावनियों की थी। इसलिए बहुत से शहरों में एक अलग इलाका दिखायी देता था जो सदर बाजार या कैंटोनमेण्ट एरिया कहा जाता था। इसी तरह कुछ शहर इसलिए बड़े समझे गये कि वहाँ ऊँची अदालतें थी और उनमें मुकदमा लड़नेवालों की वकालत करनेवाले काफी संख्या में वकील रहते थे। अक्सर इनका अपना इलाका सिविल लाइन्स कहलाता था। और सरकारी तन्त्र चलानेवाले छोटे-बड़े बाबुओं, तहसीलदारों, डिप्टी-कलक्टरों और थोड़े से आई. सी. एस. अफसरों की शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय कायम किये जाते थे। उच्च शिक्षा के लिए यहाँ के मेधावी छात्र इंग्लैण्ड जाते थे और इंग्लैण्ड से प्रशिक्षित होकर मेधावी अध्यापक इन विश्वविद्यालयों में अध्यापन करते थे। इस तरह के शहरों का बहुत अच्छा नमूना इलाहाबाद था, बहुत कुछ अब भी है।

एम. एन. राय ने लिखा था, उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण तक भारतीय पूँजीपति साम्राज्यवादी पूँजी की दुम थे। १८८० वाले दशक में उन्होंने कहा,

हमारी स्थिति अधिक सम्मानजनक होनी चाहिए। भारतीय पूंजीवाद
पुनर्जागरण में उद्योगीकरण की ओर तगड़ा रुझान था। (उप., पृ. ३७
पच्चीस साल पहले भारतीय समाज की सतह पर आधुनिक पूंजीवाद का जो प्र
महसूस किया गया था, वह इतना ही था कि व्यापार बड़े पैमाने पर संगठित कि
गया था और वे प्रशासनिक नौकरशाही संस्थान दिखायी देते थे जो पूंजीवा
राज्यसत्ता की विशेषता है। ये सब इंग्लैण्ड की उद्योग-व्यवस्था की प्रतिक्रि
थे। ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी भारत को गुलाम बनाये थी, ये सब उसी की शोषण
योजना के अभिन्न अंग थे। (पृ. ३७४)। एक विदेशी ताकत ने भारत मे
औद्योगिक क्रान्ति को रोका था, सामाजिक शक्तियो की सामान्य भूमिका को
अस्त-व्यस्त किया था, इसलिए आधुनिक भारत के उद्योग केन्द्र उन्ही इलाको मे
नही बने जहां पहले धनी व्यापारी और समृद्ध कारीगरोवाले नगर फल-फूल रहे
थे। परम्परा से बंगाल भारत के सूती उद्योग का केन्द्र था। अब यह सूती उद्योग
देश के दूसरे भाग में विकसित हुआ। कलकत्ते के आस-पास सूती उद्योग के बदले
टसन-उद्योग के कारखाने कायम हुए। "सर्वहारा आबादीवाले आधुनिक उद्योग-
न्द्र पिछली शताब्दी के अन्तिम दशको से विकसित होने लगे। किन्तु देशी पूंजी-
पति किसी उल्लेखनीय सीमा तक आधुनिक उद्योग धन्धो का निर्माण कर सके,
इसके लिए उन्हे पहले विदेशी शासक से लम्बे संघर्ष से गुजरना पड़ा।" (उप.,
पृ. ३७५-७६)।

भारत मे अंग्रेजो राज से पहले जो विकास हुआ था, उसका अनिवार्य परिणाम
था आधुनिक जातियो का गठन। इस सम्बन्ध में ऐम. ऐन. राय ने लिखा था, अंग्रेजो
की जीत के समय यानी अठारहवी सदी के मध्य मे भारत का आर्थिक और राज-
नीतिक विकास इस तरह हुआ था कि यहाँ के लोगो को एक सम्बद्ध राष्ट्रीय इकाई
के बदले महाद्वीप मे रहनेवाली अनेक जातियाँ कहा जा सकता था। यह कल्पना
करना बिल्कुल सम्भव है कि पूंजीवादी साम्राज्यवाद ने दखल देकर यहाँ की
आर्थिक प्रगति को रोकने के साथ राजनीतिक एकता लाद दी; यह न होता तो
"भारत आज उस सामाजिक-राजनीतिक मंजिल में होता जो आधुनिक यूरुप की-
सी होती। यूरुप एक महाद्वीप है जिसमे आर्थिक और सामाजिक विकास की भिन्न
स्तरोवाली अनेक स्वाधीन जातियाँ रहती है, एकताबद्ध कोई एक जाति नही
रहती। वहाँ [भारत मे] ऐतिहासिक घटनाक्रम अठारहवी सदी के अन्त तक
ऐसा नही था जिससे लगे कि विभिन्न और अक्सर विरोधी समुदाय घुल मिलकर
एकताबद्ध राष्ट्रीय इकाई बनने जा रहे है।" (उप., पृ. ३८२-८३)।

ऐम. ऐन. राय ने जातियो के गठन की बात सही कही है किन्तु उनके आपसी
सम्बन्ध जिस तरह विकसित होते आये थे, उसकी ओर उन्होने ध्यान नही दिया।
१९४६ में जब पूरनचन्द जोशी ने १७ संविधान सभाओं का प्रस्ताव रखा था,
तब उन्होने भी अंग्रेजी राज कायम होने से पहले जातियों के निर्माण की बात कही
थी। जातियो के आपसी सम्बन्ध की ओर जोशी ने भी ध्यान न दिया था।

साम्राज्यवाद की नीति भारत का औद्योगिक विकास करने की नही थी,
इसलिए जो औद्योगिक प्रगति हुई, वह भारतीय जनता के संघर्ष

थी। इस संघर्ष का एक रूप था स्वदेशी आन्दोलन। यद्यपि ऐम. ऐन. राय मानते थे कि लोकमान्य तिलक जैसे नेता पुरानपन्थी राष्ट्रवादी है, इसलिए प्रतिक्रियावादी हैं, फिर भी उन्होने यह माना था कि वे पूँजीवादी विकास के लिए लड़े थे। यदि वे पूँजीवादी विकास के लिए लड़े थे तो वे पुरानपन्थी न हो सकते थे। राय ने उन्हे पुरानपन्थी कहा और पूँजीवादी विकास के लिए संघर्ष करनेवाला भी बताया। यह अन्तर्विरोध राय के चिन्तन में था लेकिन उसे उन्होंने भारतीय नेताओं पर आरोपित किया। उन्होने लिखा, जो आक्रामक राष्ट्रवादी थे, वे पुराने संविधानवादी नेताओ से अधिक क्रान्तिकारी साबित हुए। यह सब हुआ जब उन्होंने अपना आक्रामक रूप समाजसुधार के क्षेत्र मे नहीं वरन् आर्थिक क्षेत्र में दिखाया और पता लगाया कि देशी पूँजीपति वर्ग के विकास को बढावा देने के लिए सबसे अच्छा तरीका कौन-सा है। उन्होने उन लोगो की आलोचना की जो विश्वास करते थे कि सरकार भारतीय उद्योग धन्धों को संरक्षण प्रदान करने की बात मान जायेगी। विलायती माल का बायकाट और स्वदेशी (देशी वस्तुओं के व्यवहार को प्रोत्साहन), ये दो तरीके उनकी समझ में सबसे अच्छे थे जिनसे राष्ट्रीय उद्योग धन्धों के विकास मे मदद मिल सकती थी। (उप., पृ. ३५१)। यद्यपि राय मानते थे कि स्वदेशी आन्दोलन व्यर्थ है पर वह यह मानने को बाध्य थे कि इसका उद्देश्य भारतीय पूँजीपतियों द्वारा उद्योग धन्धो का विकास था।

६. जेंक्स

अंग्रेज भारत मे जो पूँजी लगाते थे वह उन्हे कहाँ से मिलती थी, पूँजी लगाने का परिणाम भारतीय जनता के लिए क्या होता था, भारत के निकट और उससे दूर के युद्धों पर जो धन खर्च किया जाता था, वह कहाँ से प्राप्त होता था, इन सब प्रश्नों पर कुछ शिक्षाप्रद बातें लेलैण्ड हेमिल्टन जेंक्स नाम के विद्वान् ने कही है। उनकी बहुत-सी बातें दादाभाई नौरोजी की स्थापनाओं से मिलती जुलती है। उनकी पुस्तक दि माइग्रेशन आफ ब्रिटिश कैपिटल टु 1875 १९२७ मे प्रकाशित हुई। १९६३ में उसका जो सस्करण लन्दन, न्यूयार्क आदि अनेक स्थानो से निकला, उससे यहाँ कुछ बातें उद्धृत करता हूँ। जेंक्स ने १८५७ की लड़ाई के लिए कहा है कि साम्राज्य के इतिहास मे इससे एक मोड़ आया। इंग्लैण्ड के लोग समझने लगे कि भारत मे सभ्यता का प्रकाश फैलाना जरूरी है और इसके साथ मुनाफ़ा भी कमाना है। व्यापारिक पूँजीवाद की आखिरी निशानी थी ईस्ट इण्डिया कम्पनी; उसका बलिदान किया गया। भारत के शासन का भार सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथ में आया। १८५७ से १८६५ तक ब्रिटिश पूँजी के निर्यात की दिशा मुख्य रूप से भारत की ओर थी।

जेंक्स के अनुसार शुरू-शुरू में बहुत कम ब्रिटिश पूँजी भारत मे लगायी गयी। १८वीं सदी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार मुख्यतः डच पूँजी के बल पर चलाया गया था। ब्याज की सस्ती दर पर ऋण मिल जाता था। फिर मुगल साम्राज्य के इलाकों पर कब्जा होता गया; उनसे आमदनी हुई। आगे चलकर जो युद्ध हुए और देशी इलाके अंग्रेजी राज में मिलाये गये, उनके लिए कलकत्ते मे

सार्वजनिक ऋण लिया गया। इसमे कम्पनी के फौजी और गैरफौजी सेवक अपना संचित धन लगाते थे, और इसमे उनका लूट का माल भी शामिल था। जब स्वतन्त्र व्यापारिक संस्थान व्यवसाय करने लगे, तो उनके लिए भी धन कम्पनी के सेवको की लूट और बचत से प्राप्त हुआ। १८५८ मे यह सार्वजनिक ऋण चार करोड चालीस लाख पाउण्ड था, इसका दो-तिहाई हिस्सा रुपयो की शकल मे यूरोपियन नागरिको ने दिया था। जब भारत के गोरे अफसर इग्लैण्ड वापस जाते थे तो वे व्यवसाय मे अपने हिस्सों, उधार दी हुई रकमों के दस्तावेज़ साथ ले जाते थे। जो धन भारत की मालगुजारी से या लूट से प्राप्त किया गया था, वही भारत मे फिर लगाया गया था, वह ब्रिटिश पूंजी का निर्यात नही था। इस प्रकार भारत से जो सालाना धनराशि बाहर जाती थी, वह बढती गयी। लन्दन की नौकरशाही, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हिस्सेदारो के लाभाश और पेशनें भारत से वसूल की जाती रही। इससे ब्रिटिश जाति को अपनी भारतीय रियासत से ७० साल तक ३० से ४० लाख पाउण्ड तक की सालाना आमदनी होती रही। (पृ. २०८)।

कम्पनी के लिए भारत एक रियासत की तरह था। वह अपने राज्य को वैसा ही समझती थी जैसा कोई 'पूर्वी निरकुश राजा' अपनी रियासत को समझता है। यानी उसका शोषण करते जाओ लेकिन सुधार के लिए कुछ न करो। एक महत्व-पूर्ण अन्तर यह था कि यूरोपियन ज़मीदार अनुपस्थित रहता था। (पृ. २०६)।

भारत पर अंग्रेजी राज के पहले सौ साल का परिणाम यह हुआ कि मैनचेस्टर से होड होने के कारण सूती उद्योग धन्धे तबाह हुए, अनाज पैदा करने के बदले गन्ना, नील और पोस्ते की खेती हुई और रैयत को मजबूर किया गया कि पहले की अपेक्षा अपनी वार्षिक उपज का अधिक भाग बाज़ार में बेचे जिससे वह सरकार को लगान दे सके। १८४५ के आसपास लन्दन मे करीब एक दर्जन कम्पनियाँ बनी जो भारत मे रेलें बनाने को उत्सुक थी। १८४६ मे लार्ड हार्डिज ने कहा कि फौज रेलमार्ग से चलने लगे तो सालाना ५ लाख रुपये की बचत होगी। एक दर्जन कम्पनियों मे ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी और ग्रेट इण्डियन पेनिनसुलर कम्पनी बची। ई. आई. र. और जी. आई. पी. की लाइनें इन्ही के नाम से प्रसिद्ध हुई। १८५७ की घटनाओ ने साबित किया कि अंग्रेजो के लिए रेलें बनाना क्यों जरूरी था। देशी इलाके अंग्रेजी राज मे मिलाने की नीति से जो विद्रोह हुआ, उससे निपटने मे रेलें काम आयी। "जो रेलवे लाइनें अभी सुलभ थी, उनसे भारत के ऊपरी हिस्सो तक फौजो के पहुँचने मे कई दिनों के समय की बचत हुई। तार व्यवस्था रेलमार्गो के साथ चली, एक हद तक पहले चली। उससे बिखरे हुए ब्रिटिश कमान सम्बद्ध हो सके। इस प्रकार भारतीय विद्रोह के प्राथमिक परिणामों मे एक यह था कि भारत मे यातायात व्यवस्था पर द्रव्य बाज़ार का उत्साह केन्द्रित हुआ।" (पृष्ठ २१४)। अर्थात् जिन अंग्रेज़ों के पास पैसा था, वे बड़े उत्साह से उसे रेलों मे लगाने को तैयार थे। इस कथन से स्पष्ट है कि सबसे पहले फौजी आवश्यकता के कारण अंग्रेजो ने रेलें चलायी और विद्रोह के अनुभव के बाद उन्होंने इस काम को और भी तेजी से आगे बढ़ाया। सरकार ने रेलमार्गों मे पैसा लगानेवालों को ब्याज की गारण्टी दी। जिन लोगों ने इंग्लैण्ड मे रेलमार्गों के निर्माण

में पूंजी लगायी थी और जिन्हें उपयुक्त मुनाफ़ा न मिला था, वे ब्याज की गारण्टी से बहुत प्रसन्न हुए। रेलों के अलावा कुछ लोग नहरें बनाने में भी पैसा लगा रहे थे। एक मद्रास नहर और सिंचाई कम्पनी थी, उसने गारण्टी की हुई पूंजी की १६ लाख पाउण्ड रकम खर्च की, तेरह साल मे नहर बनाकर तैयार की किन्तु नहर मे पानी न भरा जा सका, और आगे भरा जायेगा, इसकी कोई गारण्टी न थी। (पृष्ठ २१६)। यानी पूंजी पर सूद की गारण्टी होनी चाहिए, नहर मे पानी आयेगा, इसकी गारण्टी जरूरी न थी।

भारत मे अंग्रेज जो सार्वजनिक निर्माण कार्य कर रहे थे, उसका बोझ यहाँ की प्रजा पर पडता था। जेंक्स कहते है, "इस प्रगति के लिए भारतीय करदाता को पैसे देने होते थे। कार्य-संचालन मे कहीं उसकी बात न सुनी जाती थी। भारत-सरकार ग्रेट-ब्रिटेन के करदाताओं के प्रति जिम्मेदार थी। ब्रिटिश जनमत यह दिखाने को उत्सुक था कि भारत के लिए कम्पनी के मुकाबले ब्रिटिश सरकार ज्यादा काम कर सकती है।" (पृष्ठ २१६)। कुछ अंग्रेज यह मानते थे कि रेलों के चालू होने से भारत अब पहली बार राष्ट्र (नेशन) बनेगा। (बहुत से भारतीय विचारक यह बात अब भी दोहराते है।) अन्य अंग्रेज कहते थे कि रेलें चलाने से भारतवासियो के अन्धविश्वास नष्ट होंगे और धर्मनिरपेक्ष सरकार कायम होगी।

१८६१ में अमरीका में गृहयुद्ध छिड गया। अंग्रेजों के लिए वहाँ पूंजी लगाना निरापद नही था। यूरुप में नये प्रतिद्वन्दी पैदा हो रहे थे, इसलिए भारत मे अंग्रेजो को पूंजी लगाने की इच्छा और भी अधिक हुई। पूंजी का इतना निर्यात हुआ कि १८६० के दशक मे इंग्लैण्ड के कुछ पूंजीपति हल्ला मचाने लगे कि इस निर्यात से ब्याज की दर बढ़ रही है। जेंक्स का मत है कि भारत सरकार यदि स्वयं रेलें बनाती तो भारतीय करदाता पर कम बोझ पड़ता। १८६८ के बाद उसने यही किया। भारत में अंग्रेज़ी राज का तात्कालिक हित इसमें था कि रेल-मार्ग जल्दी-से-जल्दी बनाये जायँ। यदि भारत सरकार सार्वजनिक ऋण लेती तो पैसा लगानेवालों को उतनी ऊँची दर पर ब्याज न मिलता किन्तु रेलें बनाने की जल्दी थी, इसलिए पूंजी लगानेवालो को ऊँची दर पर ब्याज मिला।

विद्रोह के दमन के बाद यह तय हुआ कि भारत में ब्रिटिश सैनिकों की संख्या बढ़ायी जाय। १८६० के दशक मे ऐसी सैनिक व्यवस्था कायम हुई कि यूरुप की किसी बादशाहत पर इतना धन खर्च न होता था जितना इस व्यवस्था पर हुआ। भारत के बाहर ब्रिटिश साम्राज्य की समूची सेना पर जितना धन खर्च होता था, उससे ज्यादा धन भारत की इस सैनिक व्यवस्था पर होता था, और कहा यह जाता था कि रेलें चालू होने पर दस पलटनों का काम एक पलटन से ही हो जायेगा। फौजों के लिए नयी बैरकें बनाने पर एक करोड़ पाउण्ड खर्च किये गये। भारत पर जितना बोझ डालना सुविधाजनक प्रतीत हुआ, वह अद्भुत है। विद्रोह का खर्च, कम्पनी के अधिकारों का ब्रिटिश सरकार के पक्ष में हस्तान्तरण का खर्च, चीन और अबीसीनिया मे एक साथ चलाये जानेवाले युद्धों का खर्च, लन्दन मे हर तरह का सरकारी खर्च जिसका कोई दूर का भी नाता भारत से हो, यहाँ तक कि इण्डिया आफिस में झाड़पोंछ करनेवाली स्त्रियों के वेतन का

खर्च, उन जहाजों का खर्च जो याना करते थे किन्तु युद्ध में भाग न लेते थे, भारत जाने से पहले छह महीने तक इंग्लैण्ड मे जिन गोरी पलटनों का प्रशिक्षण होता था, उनका खर्च, यह सब उस रैयत से वसूल किया जाता था जिसके प्रतिनिधि कहीं थे ही नहीं। १८६८ में तुर्की के सुल्तान ने लन्दन की राजकीय यात्रा की। उनके लिए इण्डिया आफिस मे औपचारिक नृत्य-समारोह हुआ और उसका खर्च भारत से वसूल किया गया। ईलिंग नाम के स्थान मे एक पागलखाना खोला गया, जंजीबार के शिष्टमण्डल को कुछ चीजें भेंट दी गयी, चीन और ईरान मे ब्रिटेन के राजनयिक प्रतिष्ठान कायम हुए, इन सबका खर्च भारत मे वसूल किया गया। भूमध्य सागर मे जो जहाजी बेडा था, उसके स्थायी खर्च का एक अंश और इंग्लैण्ड मे भारत तक तार लगाने का पूरा खर्च १८७० से पहले भारतीय खजाने से वसूल किया गया। तब कोई आश्चर्य नहीं कि भारत पर सीधा ब्रिटिश सरकार का शासन होने के बाद पहले १३ वर्षो मे सलाना मालगुजारी ३ करोड़ ३० लाख पाउण्ड से बढकर ५ करोड़ २० लाख पाउण्ड हो गयी, और घाटे की रकम १८६६ से १८७० तक इकट्ठा होकर १ करोड १५ लाख पाउण्ड हो गयी। १८५७ से १८६० के बीच घरेलू ऋण ३ करोड पाउण्ड हो गया और बराबर बढता गया। अंग्रेज राजनीतिज्ञ अर्थशास्त्र और वित्तीय तन्त्र मे तब ख्याति प्राप्त करते थे जब भारतीय हिसाब-किताब मे जोड-तोड़ करने में बडी होशियारी मे उनका कौशल प्रकट होता था।" (पृष्ठ २२३-२४)

भारत से यहाँ की सम्पदा किस तरह विदेश जाती थी, इसका विवेचन करते हुए जेंक्स कहते है, पूंजी इस आशय से लगायी जाती है कि उसमे लाभ होगा। बाहर पूंजी लगायी तो आशा की जाती है कि पूंजी लगानेवाले को उसके घर पर *आमदनी होती रहेगी। "अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने अंग्रेज व्यवसायियो से वादा किया* था कि उन्हें भारतीय रैयत की ओर से आमदनी होती रहेगी। इस वादे से आशा के फलस्वरूप १८५४ से १८६९ के बीच करीब ५ करोड पाउण्ड ब्रिटिश पूंजी भारत में लगायी गयी।" (पृष्ठ २२५)। पूंजी लगाने से भारत को जो पैसा देना पड़ा, वह भारतीय अर्थशास्त्र मे 'इकौनामिक ड्रेन' कहा जाता है। जेंक्स कहते हैं कि जो अग्रेज भारत में पूंजी लगाते थे, वे मुनाफा तो कमाना चाहते ही थे, इंग्लैण्ड मे उतनी पूंजी लगाने से जितना मुनाफा मिलता, यहाँ उससे ज्यादा मुनाफ़ा चाहते थे। पर वे यह न जानते थे कि इससे भारत की गरीबी बढ रही है। हाइड क्लार्क ने साफ़गोई से काम लेते हुए कहा था, "असली कारनामा यह है कि हिन्दू रेले बनायें और मुनाफ़े का बड़ा हिस्सा हमे प्राप्त करने दें।" (पृष्ठ २२६)। आगे चलकर नया माल जुटाने के लिए पैदावार मे बढती होगी, व्यवसाय का दायरा बढेगा, देश की वर्तमान श्रमशक्ति मे रेलों के इंजन भी जुड जायेंगे, वर्तमान स्तर की तुलना में सम्पत्ति और क्षमता का भारी विकास होगा, यह आशा भी की जाती थी।

इस तरह की आशाओं के बारे मे जेंक्स का कहना है, "यह साबित करना मुश्किल है कि रेलें चलाने का ऐसा निर्णायक परिणाम हुआ। बेशक उनके लिए *पूंजी देशी लोगों से नहीं ली गयी। ब्रिटेन मे भी रेलों का विकास इतनी तेज़ी से*

न हुआ था। काम के रेलमार्ग और भी धीमी गति से बनाये गये थे। इन देशों में स्थानीय व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ सड़कों और नहरों का सघन विकास हुआ था और स्थानीय बाजार बड़े शहरी केन्द्रों से जोड़ दिये गये थे। (पृ. २२७)। भारत में इससे उलटी स्थिति थी; स्थानीय बाजारों को मिलाकर राष्ट्रीय बाजार बनाने के बदले अंग्रेज पहले से बने बाजार का नाश कर रहे थे। जो लोग पहले की स्थिति नहीं जानते, वे रेलें चलने के बाद के संकुचित बाजार को देखकर समझते हैं, यह सब बहुत बड़ी उपलब्धि है और इसका श्रेय अंग्रेजी राज को है। जेंक्स ने अंग्रेज लेखक बेजहॉट का हवाला दिया है जो कहते थे कि भारत व्यापार की परम्परागत भूमि है। इसके बाद जेंक्स कहते हैं, "रेल-व्यवस्था पर यह राजनीतिक आकांक्षा हावी थी कि महाप्रान्तों की राजधानियों को एक दूसरे से जोड़ दिया जाय और उन सबको उत्तर पश्चिमी सीमान्त से जोड़ा जाय। इसमें सम्भावना यह थी कि वर्तमान आर्थिक संस्थाओं का रूपान्तर न होगा बल्कि वे अस्त-व्यस्त हो जायेंगी।" (पृ. २२७)। जेंक्स ने यहाँ जो कुछ कहा है, उससे इस पुस्तक के पहले खण्ड में रेलों से सम्बन्धित नलिनाक्ष सान्याल की जो बातें उद्धृत की गयी हैं, उनकी पुष्टि होती है। विदेशी और भारतीय विचारकों में कुछ लोग अवश्य ऐसे थे जो यह देख रहे थे कि रेलों के सम्बन्ध में अंग्रेज शासकों ने जो प्रचार किया है, वह झूठ है। भारत का आर्थिक विकास करने के बदले रेलों के द्वारा उसका शोषण करने में अंग्रेजों को सुविधा हुई है। जेंक्स ने इसी प्रसंग में आगे कहा है, भारत में रेलों के लिए जो पूँजी भेजी गयी, उसने उपभोग-वस्तुओं का रूप न लिया, उससे जीवन-स्तर ऊँचा नहीं हुआ, भारत में ऐसा जोरदार औद्योगिक विकास न हुआ जिससे रेलों के लिए निर्माण सामग्री प्राप्त होती। भारत में रेलों की स्थिति उन देशों की-सी थी जिनमें मशीनें बाहर से मँगायी जाती हैं। इसका नतीजा यह होता है कि श्रम में किफायत करने के लिए लोगों के पेशे बरबाद होते हैं। ब्रिटेन, जर्मनी और अमरीका में जब उद्योगीकरण हुआ तो जिनके पेशे बेकार हुए, उन्हें कोयला खानों में काम मिला, उन्हें मशीनें बनाने का काम मिला। यह सब भारत में नहीं हुआ। "भारत में कोयला था, लोहा था। किन्तु इनके विकास की राह देखने का समय व्यवसाय और साम्राज्य के पास नहीं था। ये सब चीजें इंग्लैण्ड से लाकर जुटानी थीं। १८८० के दशक तक जो पूँजी भारतीय रेलों में लगायी गयी, उसके तिहाई भाग से कुछ अधिक पूँजी इंग्लैण्ड में रेलों के लोहे पर और पूरब तक उसे ढो ले जाने पर व्यय हुई थी। कोयला इंग्लैण्ड से भेजा जाता था। रेलें बनाने और उन्हें चलाने का काम अंग्रेज कर्मचारी करते थे। फोरमैन से लेकर ऊपर तक के कर्मचारी अंग्रेज थे और उन्हें तनख्वाह अंग्रेजी स्टैण्डर्ड से मिलती थी। इस कारण भारतवासियों को रेलों से जो लाभ हो सकता था, वह और भी कम हो गया।" (पृष्ठ २२७-२८)।

बाकी दो-तिहाई रेल पूँजी भारत को चाँदी के रूप में भेजी जाती थी। चाँदी के इस निर्यात का एक फल यह हुआ कि पैसे का मूल्य गिरा और चीजों की कीमत बढ़ी। १८६३ में बम्बई महाप्रान्त में इस बात की जाँच की गयी कि कीमतें क्यों बढ़ रही हैं। पता चला कि अपेक्षाकृत थोड़े समय में अनाज की कीमत तिगुनी हो

गयी है और आम चीजों की कीमत दुगनी हो गयी है। पगार की दर पचास फीसदी बढ़ी है। बम्बई के आसपास उद्योग और व्यापार की प्रगति के लिए कुछ प्रेरणा मिली किन्तु यह प्रगति बहुत ही अनिश्चित थी। जो लोग नियमित पगार पर निर्भर थे, उनकी हालत संकटग्रस्त हो गयी क्योंकि नियमित पगारवाले पहले के आर्थिक सम्बन्ध रह न गये थे। जेंक्स साहसपूर्वक कहते है, "ब्रिटिश पूंजी ने भारत मे जो परिवर्तन किया, उसका एक दुःखद परिणाम था बार-बार के दुर्भिक्ष। जो लोग अंग्रेजी राज के हिमायती है, उन्हे इस प्रपंच की व्याख्या करने के लिए काफी पृष्ठ खर्च करने होंगे।" (पृष्ठ २२९)। भारत मे ब्रिटिश पूंजी लगाने से भारत की जनता पर बोझ बढा, इस धारणा के समर्थन मे जेंक्स ने रमेश दत्त का यह कथन उद्धृत किया है: जब किसी देश मे टैक्स वसूल किया जाता है और वही खर्च किया जाता है, तब द्रव्य वही की जनता के बीच घूमता है, व्यापार, उद्योग और खेती को बढावा देता है और किसी-न-किसी रूप मे आम जनता तक पहुँचता है। किन्तु जब किसी देश मे टैक्स वसूल किया जाय और वसूली की रकम बाहर भेज दी जाय, तो वह द्रव्य उस देश के हाथ से सदा के लिए निकल जाता है। वह न उद्योग-व्यापार को बढावा देता है और न किसी भी रूप में जनता तक पहुँचता है। (३९) इस प्रकार ब्रिटिश पूंजी के निर्यात से भारतीय जनता की तबाही कम न हुई बल्कि और बढी। इस तबाही का सजीव प्रमाण वे लोग थे जो बार-बार लाखों की संख्या मे दुर्भिक्ष के कारण मरते थे। यह ब्रिटिश पूंजी कहने भर को निर्यात की जाती थी, वास्तव मे पहले ही उसका ब्रिटेन मे आयात हो चुका था, और उस आयात का स्रोत था भारत।

७. मेरठ में कम्युनिस्ट नेताओं का बयान

भारत के आर्थिक विकास के बारे मे, ब्रिटिश पूंजीवाद और भारत के सम्बन्धो के बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातें मेरठ के मुकदमे के दौरान कम्युनिस्ट नेताओ ने अपने बयान मे कही थी। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय मे जोशी अभिलेखागार मे मेरठ मुकदमे से सम्बन्धित सामग्री की जो फोटो कॉपी है, उसके आधार पर यहाँ कुछ बातों का उल्लेख किया जाता है। पृष्ठ-संख्या भी दी जा रही है जिसमे कोई विस्तार से इस समस्या का अध्ययन करना चाहे तो उसे सुविधा हो। कहना अनावश्यक है कि मूल रूप मे सारी सामग्री अंग्रेजी मे है।

कम्युनिस्ट नेताओ ने अपने बयान मे ब्रिटिश पूंजीवाद की अलग-अलग मंजिलें बतायी हैं और भारत मे अंग्रेजी राज की भूमिका को इन्ही मंजिलो के अनुरूप विवेचित किया है। पहली स्थापना है, भारत और ब्रिटेन का सम्बन्ध उन मंजिलो के अनुरूप विकसित हुआ है जो ब्रिटिश पूंजीवाद के विकास की मंजिलें हैं। "ब्रिटिश पूंजी ने भारत मे अपना प्रभाव तथाकथित व्यापारिक साम्राज्यवाद के युग मे कायम किया। उस समय मुनाफ़ा कमाने का मुख्य साधन सौदागरी पूंजी का उपयोग था। इस दौर मे और अठारहवीं सदी के अन्त तक अंग्रेजों की कार्रवाई लगभग खुली डकैती थी। यह बात सभी लोग जानते हैं। अठारहवीं सदी के अन्त तक भारत पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का राजनीतिक नियन्त्रण कायम हो गया था।"

(पृष्ठ २६७४)। बयान में अंग्रेजों की लूट का विस्तृत विवरण जानने के लिए लाला लाजपतराय की पुस्तक अनहैप्पी इण्डिया के चौबीसवें अध्याय का हवाला दिया गया है। इसके बाद पूँजीवाद की दूसरी मंजिल के बारे में यह स्थापना है, "मोटे तौर से पूरी उन्नीसवीं सदी के दौरान शोषण का मुख्य साधन औद्योगिक पूँजी की कार्यवाही थी अर्थात् ब्रिटेन में बने हुए सामान को भारत में बेचना और भारत से सस्ते माल का ब्रिटिश उद्योगपतियों द्वारा उपयोग। बाजार की सुरक्षा के लिए जो कदम उठाये गये, जैसे कि ब्रिटिश उद्योग से होड़ करनेवाले भारतीय दस्तकारी उद्योग का भौतिक रूप से विनाश, ब्रिटिश माल के लिए जबरन चलाया हुआ स्वच्छन्द व्यापार—उत्पादन के साधन इस व्यापार के बाहर थे—ऐसी बातें सब लोग जानते हैं।" (पृष्ठ २६७५)। यहाँ जिस बाजार की सुरक्षा की बात कही गयी है, वह भारतीय बाजार है। दस्तकारी उद्योग ब्रिटिश उद्योग से होड़ करता था, मशीनी उत्पादन केवल आर्थिक तरीके से भारतीय दस्तकारी को पछाड़ न पाता था, इसलिए भौतिक रूप से इस दस्तकारी तन्त्र का विनाश करना जरूरी हुआ। बयान में जो भौतिक विनाश (फ़िज़िकल डिस्ट्रक्शन) की बात कही गयी है, उसका अर्थ यही है। एक बार भारतीय दस्तकारी का नाश हो चुका, तब अंग्रेजों ने स्वच्छन्द व्यापार की नीति अपनायी। इस नीति का मतलब यह था कि किसी स्वाधीन देश में अपना माल खपाने के लिए अंग्रेजों को जो चुंगी देनी पड़ती, वह भारत में उन्हें न देनी पड़ती थी। इसके सिवा पराधीन भारत से ब्रिटिश पूँजीपति अपने कारखानों के लिए बहुत सस्ते में कच्चा माल प्राप्त कर सकते थे। इस तरह सस्ता माल उन्हें किसी स्वाधीन देश से न मिल सकता था। उत्पादन के साधन वे मशीनें हैं जिनसे अंग्रेज अपने कारखानों में बिकाऊ माल तैयार करते। कारखानों का बना हुआ माल वे भारत में बेचते थे लेकिन कारखानों में चलनेवाली मशीनें न बेचते थे क्योंकि उनकी नीति भारत के उद्योग-धन्धों का विकास करने की नहीं थी वरन् अपने उद्योग धन्धों द्वारा तैयार किये हुए माल को यहाँ बेचने की थी।

बयान में पूँजीवाद की तीसरी मंजिल के बारे में कहा गया है "तीसरा दौर मोटे तौर पर बीसवीं सदी का है। उसकी विशेषता है—महाजनी पूँजी का बढ़ता हुआ महत्व। भारत में ब्रिटिश पूँजी उद्योग धन्धों में या बागानों (प्लान्टेशंस) इत्यादि में लगायी जाती है या सरकारी अथवा गैरसरकारी ऋण के रूप में लगायी जाती है। जो मुनाफा मिलता है, वह औद्योगिक मुनाफे, वेतन, कमीशन (दलाली) आदि के रूप में मिलता है या सूद के रूप में मिलता है जो मुख्यतः किसानों से टैक्स के द्वारा वसूल किया जाता है।" (उप.)। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि महाजनी पूँजी को जो सूद मिलता है, उसका मुख्य स्रोत वह टैक्स है जो किसानों से वसूल किया जाता है। वेतन और सरकारी-गैरसरकारी ऋण के ऊपर अंग्रेजों को जो सूद मिलता था, वह भी एक हद तक किसानों से प्राप्त होता था। ब्रिटिश सरकार एक धनराशि सीधे किसानों से प्राप्त करती थी, दूसरी धनराशि उन बिचौलियों से प्राप्त करती थी जो अंग्रेजों की छत्रछाया में किसानों का शोषण करते थे। इस तरह महाजनी पूँजी के दौर में किसानों का शोषण और तेज हुआ। बयान में एक महत्वपूर्ण स्थापना यह है, "मौजूदा दौर में

शोषण के ये तीनों रूप एक साथ चालू है।" (उप.)। पूंजीवाद का नया दौर शुरू होता है तो पुराना दौर खत्म नही हो जाता। भारत मे अंग्रेजो की पुराने ढंग की खुली डकैती जारी थी, औद्योगिक माल बेचा जाता था और महाजनी पूंजी पर सूद भी मिलता था। इस तरह ब्रिटिश पूंजीवाद के तीन दौर, शोषण के तीन रूप, भारत मे देखने को मिलते थे। बयान मे अंग्रेज लेखक डिग्बी की पुस्तक **प्रास्पेरस ब्रिटिश इण्डिया** का हवाला देकर बताया गया है कि अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश उद्योग धन्धो का जो तीव्र विकास हुआ, उसका मुख्य कारण पलासी की लडाई से लेकर वाटरलू की लडाई तक (१७५७ से १८१४ तक) वह सम्पदा है जो अंग्रेज भारत से ढोकर ले जाते रहे। "पूरी उन्नीसवी सदी के दौरान सम्पदा को ढो ले जाने का यह क्रम (ड्रेन) जारी रहा और इस समय स्पष्ट ही इस शोषण का मूल्य भारी है। ब्रिटेन मे यूनाइटेड एम्पायर पार्टी जैसे साम्राज्यवादी गुटों का वर्तमान प्रचार खुल्लमखुल्ला ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के लिए भारत के शोषण का विशद महत्व स्वीकार करता है, उसके समग्र मूल्य को ब्रिटिश राष्ट्रीय आमदनी का खासा अनुपात मानता है।" (उप.)।

भारत मे अंग्रेजों की नीति उद्योग धन्धो का विकास करने की नहीं है, इस धारणा का समर्थन करते हुए रजनी पाम दत्त की पुस्तक **आधुनिक भारत (माडर्न इण्डिया)** का हवाला देते हुए कहा गया है कि ब्रिटिश सरकार भारत में औद्योगिक विकास के प्रति सचेत और सक्रिय रूप मे शत्रुभाव रखती थी। भारत को ब्रिटिश पूंजी का जो निर्यात हुआ, उसका विश्लेषण करने के बाद कहा गया है, "इन तथ्यों से जो परिणाम निकलता है, वह यह है कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति आमतौर से भारत के औद्योगिक विकास को नियन्त्रित रखने की थी। युद्ध के दौरान और उसके तुरत बाद तथा एक हद तक अभी पिछले दिनों जो नीति मे परिवर्तन दिखायी देता है, वह केवल आंशिक और अस्थायी है। यह स्वीकार किया जाता है कि उद्योग धन्धों में प्रगति करने का रुझान है किन्तु कुल मिलाकर साम्राज्यवाद इसका विरोध करता है और प्रगति निस्सन्देह धीमी है।" (पृष्ठ २६८७)। बयान में यह भी बता दिया गया है कि भारत मे जिन उद्योग धन्धो का विकास हुआ है, वे अधिकतर ब्रिटिश पूंजी के नियन्त्रण में हैं।

भारत मे अंग्रेजी राज की भूमिका प्रगतिशील थी या नहीं, इसके बारे मे कम्युनिस्ट नेताओं ने अपने बयान मे कहा था, "अक्सर यह दावा किया जाता है कि भारत मे अंग्रेजी राज अपनी तमाम खामियो, अपने जनतन्त्र-विरोधी स्वरूप, अपने शोषण वगैरह के बावजूद वस्तुगत रूप से प्रगतिशील रहा है। यह कल्पना की जाती रही है कि ब्रिटेन की अपेक्षाकृत विकसित सभ्यता से भारत की अपेक्षाकृत पिछड़ी सभ्यता का सम्पर्क होने पर भारत को कुछ न कुछ लाभ हुआ ही होगा। साम्राज्यवाद के हिमायती ब्रिटिश अधिकार शुरू होने पर जो कानून और व्यवस्था कायम हुई, परिवहन व्यवस्था कायम हुई, सिचाई वगैरह की जो व्यवस्था हुई, उसकी ओर सकेत करते है।" (पृष्ठ २६६५)। अंग्रेजी राज कायम न होता तो डेढ सौ साल मे किस तरह का विकास होता, इसका विवेचन सम्भव नही है, यह बताने के बाद बयान में सामन्तवाद के विघटन और भारतीय पूंजीवाद के शुरू

हो जाने के बाद कही गयी है। "जिस समय अंग्रेज भारत में आये, उस समय भारतीय सामन्तवाद ह्रास की अवस्था में था। अंग्रेज सौदागर और सैनिक एक आगे बढ़े हुए सामाजिक वर्ग के प्रतिनिधि थे। वे भारतीय शासक वर्गों को और उस भारतीय पूंजीपति वर्ग को परास्त कर सके जो अभी कमजोर था और वे अपना नियन्त्रण कायम कर सके।" (उप.)। अंग्रेज जमींदारों और व्यापारियों के जो प्रतिनिधि भारत में आये, वे किसी आगे बढ़े हुए वर्ग के प्रतिनिधि नहीं थे। स्थापना का महत्वपूर्ण अंश वह है जो भारतीय पूंजीपति वर्ग का अस्तित्व स्वीकार करता है और मानता है कि यह वर्ग कमजोर था। अंग्रेजों ने भारत को एक किया, अराजकता की जगह कानून और व्यवस्था कायम की लेकिन "उन्होंने सामन्तवाद से समझौता किया। शोषण की व्यवस्था के रूप में खुद को कायम रखने के लिए सामन्तवाद वफादार सहयोगी बनने को तैयार था। यह व्यवस्था आज तक बनी हुई है। जो सामन्ती या अर्द्ध-सामन्ती परिस्थितियाँ समूची भूमि-व्यवस्था में दिखायी देती हैं और लगभग समूचे समाज में फैली हुई हैं, वे डेढ़ सौ साल पहले पुरानी पड़ चुकी थीं। आज वे पूरी तरह पुराने पड़ चुके अवशेष हैं, पिछली शताब्दियों के अवशेष हैं जो प्रगति के मार्ग में भारी बाधा हैं। इसके साथ ही भारत का जो पूंजीपति वर्ग इस दौर में सामाजिक प्रगति का उपकरण था, वह अपने विकास के सहज मार्ग पर आगे बढ़ने से रोका गया। जिस पूंजी का संचय उसके हाथ में होना चाहिए था, जिसका उपयोग भारत के उद्योगीकरण के लिए, उसे एकताबद्ध करने के लिए, दूर-दूर के इलाकों को पूंजीवादी क्षेत्र बनाने के लिए होना चाहिए था, उसे ब्रिटेन भेज दिया गया। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने केवल निष्क्रिय रूप में नहीं वरन् सक्रिय रूप में भारत के उद्योगीकरण का विरोध किया और जैसा कि हम देख चुके हैं, यह नीति अभी जारी है।" (पृष्ठ २६६६)। अंग्रेजों ने परिवहन-व्यवस्था का विकास बाध्य होकर किया और बाध्य होकर भारतीय अधिकार में उद्योग धन्धों का कुछ विकास होने दिया। किन्तु भारतीय उद्योग धन्धों का सम्बन्ध अभी कच्चे माल से है और एक हद तक उपभोग के सामान से, खासतौर पर सूती माल से है। किन्तु उत्पादन के साधनों का निर्माण यहाँ नहीं होता। लोहे और इस्पात का उद्योग यहाँ रेल की पटरियाँ, नल, स्लीपर वगैरह बनाता है, मशीनें नहीं बनाता। रेल के डिब्बों के अलावा रेल-कारखाने और कुछ नहीं बनाते, केवल *मरम्मत का काम करते हैं।* रेल के डिब्बे बनाने का धन्धा भी संकट में है। भारत में उद्योग धन्धे हैं पर वह औद्योगिक देश नहीं है। "उसके उद्योग धन्धे मुख्य रूप से ब्रिटिश अर्थतन्त्र के पुंछल्ले हैं और ब्रिटिश शोषण को चालू रखने के साधन हैं, वे समूचे भारत के आर्थिक जीवन की प्रगति के साधन मुख्यतः नहीं हैं।" (उप.)।

कृषितन्त्र के प्रसंग में कम्युनिस्ट नेताओं ने अपने बयान में स्वीकार किया कि भारत में स्वायत्त ग्रामसमाज थे। अंग्रेजी राज में पूंजीवाद ने वित्तीय अर्थतन्त्र और व्यापार का प्रसार किया; किसानों की सामूहिक चरी की भूमि उनसे छीन ली गयी। बयान के अनुसार कृषितन्त्र जब पूंजीवाद की लपेट में आता है, तब ये विशेषताएँ सभी देशों में देखी जाती हैं। इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि कम्युनिस्ट नेताओं की समझ में स्वायत्त ग्राम-समाज भारत की विशेषता नहीं थे।

यह बात सही है। यूरुप की सामन्ती व्यवस्था मे ग्राम-समाज स्वायत्त थे। बयान
किसानों की सामूहिक भूमि का उल्लेख जिस तरह किया गया है, उससे लगता है
कि वे गांवो मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का चलन स्वीकार करते थे। यह बात भी सही
है, केवल यह व्यक्तिगत सम्पत्ति पूंजीवादी ढंग की नही सामन्तवादी थी अर्थात्
कुटुम्बगत थी। बयान के अनुसार पिछले जमाने मे किसान को अपने सामन्ती
स्वामी की सेवाएँ भी जब-तब करनी पड़ती थी। इस तरह कम्युनिस्ट नेताओ के
लिए ग्रामसमाजो के अस्तित्व का मतलब यह नही था कि भारत में सामन्तवाद
नही है। यह बात भी सही है।

अंग्रेजी राज कायम होने पर कृषितन्त्र का सकट गहरा हुआ। भारत मे पूंजी-
वाद ने व्यापारिक पूंजी के तत्वावधान मे प्रवेश किया। उसे बेशर्मी से देश को लूटने-
उद्योग धन्धों को तबाह करने और भारत मे अंग्रेजी माल की बिक्री बढाने तथा
कच्चे माल की खरीद का इजारा अपने हाथ मे रखने से दिलचस्पी थी।
"उन्नीसवी सदी मे ब्रिटिश व्यापारिक पूंजी ने जो कुछ किया, उसका फल यह
हुआ कि अभूतपूर्व और अनियन्त्रित सर्वनाश से भारतीत कृषि ग्रस्त हुई।"
कम्पनी के हाकिमो और गुमाश्तो ने लगान वसूली के नाम पर बेदर्दी से लूटपाट
की। अकाल और दुर्भिक्ष से देश तबाह हो गया। इस अमानवीय उत्पीड़न से क्षुब्ध
होकर अनेक स्थानो मे किसानो ने जमीदारो, महाजनो और सरकार के खिलाफ
विद्रोह किया। अंग्रेजों ने अनेक प्रकार की भूमि-व्यवस्था कायम की लेकिन हर
जगह किसानों का शोषण करनेवाले वे लोग थे जो दूसरों की मेहनत से जीते थे।
रैयतवारीवाले इलाकों मे और पंजाब मे खेती की जमीन किसानो के हाथ से
निकलकर जमीदारों और महाजनों की सम्पत्ति बनने लगी। "इस प्रक्रिया से
छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर चकबन्दी हो या पूंजीवादी कृषि का विकास हो, ऐसा
नही हुआ केवल दूसरों की मेहनत पर पलनेवाले मालिको की संख्या बढ गयी।
ये मालिक किसानो की लगभग पूरी उपज हड़प जाते थे।" (पृ. २७७२)।
उन्नीसवी सदी के प्रारम्भिक दशको मे ही अनेक जगह किसान विद्रोह हुए। "पुराने
शोषकों के ऊपर नये शोषको का एक स्तर और जमा दिया गया। जमीदारों और
महाजनों का स्वरूप और भी घृणित हो गया।" (पृ. २७७३)। किसानों के इस
भयानक शोषण की पृष्ठभूमि मे सन् सत्तावन का विद्रोह हुआ।

इस विद्रोह के बारे मे किसानो और सामन्तो के सम्बन्धों को ध्यान मे रखते
हुए बयान मे कहा गया है, "१८५७ का महान् विद्रोह निस्सन्देह सामन्ती राजाओं
का आखिरी निराशाजन्य प्रयत्न था जिसके द्वारा वे अपनी खोयी हुई गरिमा और
शक्ति फिर से पाना चाहते थे। इसके बावजूद बेजमीन किसानो के विशाल
समुदायो और बेकार पड़े हुए कारीगरो का तीव्र असन्तोष उसकी पृष्ठभूमि मे था
और उसने उसे जनविद्रोह (मास रिव्होल्ट) बना दिया। किसान सचेत रूप से
अपने अधिकारों के लिए न लड़ रहे थे, उत्पीडन की नयी परिस्थितियों के खिलाफ
यह किसानों का स्वत.स्फूर्त विद्रोह था।" (पृ. २७७४)। यह विद्रोह आजादी
की लड़ाई भी था, यह बात इस प्रसंग में नही कही गयी। सिपाहियों की भूमिका
का जिक्र भी नहीं है। फिर भी १८५७ के संग्राम का विवेचन करते समय किसानों

की स्थिति पर ध्यान केन्द्रित किया गया है और उसे अंग्रेजों की प्रतिक्रियावादी नीति का परिणाम माना गया है। उस समय सभी कम्युनिस्ट नेता इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे। कुछ नेता ऐसे थे जो इसे केवल सामन्तों का प्रतिक्रियावादी संघर्ष मानते थे। *कम्युनिस्ट नेताओं के संयुक्त बयान से अलग डाङ्गे ने जो बयान* दिया था, उसमें उन्होंने भगतसिंह के अनुयायियों की आलोचना इस बात के लिए की थी कि वे गदर की वर्षगाँठ मना रहे थे। डाङ्गे के अनुसार भगतसिंह शहीद होने से पहले मार्क्सवादी हो चुके थे, इसलिए वह बहादुरशाह जफ़र के नेतृत्व में होनेवाले संघर्ष को क्रान्तिकारी न मान सकते थे। मेरठ षड्यन्त्र के मुकदमे से लेकर १६७५ में कम्युनिस्ट पार्टी की पचासवीं सालगिरह तक डाङ्गे ने १८५७ की लड़ाई को सामन्तों का प्रतिक्रियावादी संघर्ष ही माना।

कम्युनिस्ट नेताओं ने मार्क्स के भारत सम्बन्धी लेखों की व्याख्या दूसरे ढंग से की। अंग्रेजों ने भारत में रेल चलायी। मार्क्स ने लिखा था, "मैं जानता हूँ कि इंग्लैण्ड के बड़े पूँजीपति इस समय भारत को रेलों का जो वर दे रहे है उसका एकमात्र उद्देश्य अपने कारखानों के लिए सस्ते दामों कपास और अन्य कच्चा माल पाना है।" मार्क्स का यह वाक्य उद्धृत करने के बाद कम्युनिस्ट नेताओं ने अपने बयान में कहा, "ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हाथ में 'राष्ट्रीयकृत' रेलें उद्योगधन्धों के विकास का साधन नहीं है। वैसे विकास से खेती पर लोगों की भारी निर्भरता कुछ कम होती। वे व्यापारिक पूँजी द्वारा किसानों के अप्रत्यक्ष शोषण का साधन है।" (पृ. २७८२)। मार्क्स के लेखों के आधार पर कुछ विचारकों ने अंग्रेजी राज की जो प्रगतिशीलता दिखायी है, वह कम्युनिस्ट नेताओं के इस बयान में नहीं है। मार्क्स ने कहा था, "ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग को और चाहे जो कुछ करना पड़े, वह जनता का उद्धार कभी नहीं कर सकता, न उसकी सामाजिक स्थिति सुधार सकता है। पूँजीपतिवर्ग इतना ही कर सकता है कि वह इन दोनों चीज़ों के लिए आवश्यक भौतिक परिस्थितियाँ तैयार कर दे।" साम्राज्यवाद खेती की समस्या हल नहीं कर सकता क्योंकि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति को हाथ नहीं लगा सकता, "वरन् उद्योगीकरण को रोकने की दृढ नीति पर चलता है, दूसरों की मेहनत पर जीनेवाले उन सभी वर्गों को बचाये और जिलाये रखता है जिनका सरोकार ज़मीन की मिल्कियत से है और वह उनके साथ नया गठबन्धन कायम करता है। साम्राज्यवाद के *अन्तर्गत* इस कारण उत्पादन-पद्धति के विकास की तुलना में किसानों का शोषण और भी तेजी से बढ़ता है। आधे मन से साम्राज्यवाद जो रियायतें देता है और आंशिक सुधार करता है, उनसे घरेलू बाजार की समस्या हल नहीं होती। खेती की समस्या के मौलिक समाधान को वह टाल नहीं सकता और यह समाधान है किसान क्रान्ति (ऐग्रेरियन रिवोल्यूशन), और इससे स्वयं उसका पतन होगा।" (पृ. २७६१)। यहाँ बिल्कुल सही बताया गया है कि अंग्रेजों ने किसानों के शोषक प्रतिक्रियावादी वर्गों से सहयोग किया, अंग्रेजी राज में किसानों का शोषण बराबर बढ़ता गया और साम्राज्यवाद को खत्म करने के लिए किसानों का संघर्ष ज़रूरी है।

बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में खेती की पैदावार में जो बढ़ती हुई, वह

कपास, पटसन और चाय मे हुई। ये सब निर्यातवाली फसलें थी। निर्यात-व्यापार का सारा लाभ ब्रिटिश महाजनी पूँजी को मिलता था। सिंचाई-व्यवस्था में जो पूँजी लगायी गयी, उस पर सूद, चाय-बागानों में जो पूँजी लगायी गयी, उस पर सूद, जहाज़रानी का सारा मुनाफ़ा, बैंकिंग कमीशन के खाते का सारा भुगतान, यह सब ब्रिटिश पूँजी के हिस्से मे था। "किसान की अतिरिक्त उपज खेती की उन्नति करके धरती को समृद्ध बनाने के काम मे नही आती, न देशी उद्योग के विकास मे काम आती है जिससे खेती पर निर्भरता कम हो। भारत के समूचे अर्थ-तन्त्र को ब्रिटिश महाजनी पूँजी जकड़े हुए है, इसके फलस्वरूप करोड़ों श्रमिकजन मुफ़लिस होते जाते है और खेती तथा उद्योग धन्धों मे ठहराव आ गया है। पिछले तीन दशकों में जो 'सुधार' किये गये है, वे मुख्यतः भारतीय खेती को सामान्य बनाने के लिए थे, अंग्रेज़ी राज मे बेशर्मी से जो लूट और डकैती हुई थी, उससे पैदा होनेवाले नुकसान को दूर करने के लिए थे। साम्राज्यवाद की कृषिनीति का सारतत्व यह है कि भारत को ब्रिटेन का खेतिहर पिछवाड़ा बना दिया जाय। भारत से कहा जाता है कि वह स्वाधीन जातियो के कामनवेल्थ—ब्रिटिश साम्राज्य—मे अपना स्थान बनाये रहे यानी ब्रिटिश उद्योग धन्धों के लिए जो कच्चा माल ज़रूरी है, गुलाम की हैसियत से उसका उत्पादक बना रहे। भारत जैसे विशाल महाद्वीप की खेती की उपज पर अपना इजारा कायम रखकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद उन दूसरे साम्राज्यवादी देशों के मुकाबले आर्थिक लड़ाई मे स्वयं को शक्तिशाली बनाता है जिनके पास उपनिवेश नहीं हैं या जिनके उपनिवेशो मे भारत की-सी उपज नही है।" (पृष्ठ २७८३)।

महाजनी पूँजी के दौर में भारतीय जनता और साम्राज्यवाद का अन्तर्विरोध और तेज़ हुआ। इसका एक चिह्न १९१९ से १९२१ तक का किसान-आन्दोलन था। बयान मे ध्यान दिलाया गया है कि किसानों का बहुत बड़ा भाग सामन्ती युग के बँधुआ मजदूरों जैसा है। खासतौर से छोटा नागपुर मे सन्थाल, कोल, गोंड आदि गुलाम बना लिये गये है। कानून के हिसाब से भारत मे न बँधुआ मज़दूर हैं और न गुलाम हैं। "लेकिन गरीब किसान बँधुआ मज़दूरो की-सी स्थिति में पहुँच जाते हैं, यह प्रवृत्ति भारत मे है। भारतीय ग्रामों के पूँजीवादी [illegible] (पृष्ठ [illegible] [illegible]गों का [illegible] [illegible]ा पड़ा था, असम के चाय-बागानो मे गुलाम काम करते है। बयान मे ब्रिटिश सरकार को ज़मीदार कहा गया है। इस सरकार-ज़मीदार के अलावा ब्रिटिश भारत में आधी भूमि जमीदारों के पास है और जिन किसानों का वे शोषण करते हैं, वे किसानों की कुल संख्या का ७३ प्रतिशत है।

बड़े ज़मींदारों का एक गढ़ संयुक्त प्रान्त है। साइमन कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार अवध के ताल्लुकदारों की कुल रियासतें २६० है, इन २६० रियासतो मे अवध की दो-तिहाई भूमि आ जाती है। अवध के ताल्लुकदार संयुक्त प्रान्त की कुल मालगुजारी का छठा भाग देते हैं। साइमन कमीशन के अनुसार आगरे के

जमींदार लगभग चार करोड़ किसानों का सारा लगान हजम कर जाते हैं। किसानों को जमीन पर जो अधिकार नहीं मिला है, वह किसानों के काम नहीं आता क्योंकि किसान कानून जानते नहीं और कचहरी जाने के लिए पैसा चाहिए। औसत किसान के पास जितनी जमीन होती है, उससे वह अपने परिवार का पालन नहीं कर सकता। किसान पर कर्ज का बोझ बराबर बढ़ता जाता है। नतीजा यह है कि भूमिहीन खेत मजदूरों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है। संयुक्त प्रान्त के एक जमींदार मुख्तारसिंह और ब्रिटिश लेबर पार्टी के नेता ब्रेल्सफोर्ड ने एक बयान में कहा था कि संयुक्त प्रान्त में किसान क्रान्ति निकट भविष्य में होनेवाली है। (पृ. २८००)।

कम्युनिस्ट नेताओं के इस बयान में व्यापारिक पूंजीवाद के युग से लेकर महाजनी पूंजीवाद के युग तक भारतीय परिस्थितियों का सारगर्भित विश्लेषण किया गया है। इसे तैयार करनेवालों के सामने समकालीन परिस्थितियों से पुराने इतिहास का सम्बन्ध प्रत्यक्ष था। इसीलिए सारे विवेचन में आन्तरिक संगति है। यह बयान पुराने इतिहास में अंग्रेजों की भूमिका को समझने में ही मदद नहीं देता, वह तत्कालीन परिस्थितियों में अंग्रेजी राज से संघर्ष करने का रास्ता भी दिखलाता है। भारतीय पूंजीवाद के बारे में उसकी कुछ स्थापनाएँ सही नहीं हैं, उनका उल्लेख आगे होगा।

८. रजनी पाम दत्त

भारत के आर्थिक विकास के बारे में रजनी पाम दत्त ने आज का भारत (**इण्डिया टुडे**) में अनेक बातें ऐसी कही हैं जो कम्युनिस्ट नेताओं के मेरठवाले बयान में भी कही गयी थीं। व्यापारिक पूंजीवाद से रजनी पाम दत्त ने औद्योगिक पूंजीवाद और *महाजनी पूंजीवाद को अलग दिखाया है। उन्होंने यह माना है कि अंग्रेजी राज से* पहले भारत में पूंजीवादी विकास शुरू हो गया था, अंग्रेजों ने उस विकास में बाधा डाली। लिखा है, अठारहवीं सदी के मध्य में कम्पनी ने भारत में राज्यविस्तार शुरू किया। जो घरेलू लड़ाइयाँ मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद भारत को झटका *दे रही थीं, वे भीतरी उथल-पुथल का ऐसा जमाना दिखा रही थीं जैसा इंग्लैण्ड* में गुलाब के फूलोंवाली लड़ाई (सामन्तों की आपसी लड़ाई) या जर्मनी में तीस साल की लड़ाई के दौरान *दिखायी दिया था। "यह उथल-पुथल पुरानी व्यवस्था* को तोड़ने और नयी व्यवस्था का मार्ग प्रशस्त करने के लिए जरूरी थी। विकास की गति सामान्य होती तो भारतीय समाज के औद्योगिक हितों, आगे बढ़ते हुए सौदागरी और जहाजरानी के हितों के आधार पर पूंजीवादी सत्ता के उत्थान के लिए वह उथल-पुथल जरूरी साबित होती।" (पृष्ठ ९५, १९४९ *का संस्करण*)। किन्तु इस समय यूरप के पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों ने हमला किया। रजनी पाम दत्त के अनुसार यूरप का यह वर्ग *अधिक विकसित था, वह सामाजिक राज*-नीतिक रूप से भीतर से अधिक सुदृढ़ था, उसके पास तकनीकी और फौजी साज-सामान ज्यादा अच्छा था। इस कारण पुरानी व्यवस्था टूटने पर जो पूंजीवादी शासन कायम हुआ, वह भारतीय नहीं विदेशी था। उसने "स्वयम् को पुरानी व्यवस्था

पर लाद दिया और उदीयमान भारतीय पूँजीपतिवर्ग के बीज नष्ट कर दिये।" (उप., पृ. ९६)।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का मूल लक्ष्य वही था जो सौदागरी पूँजी की इजारेदार कम्पनियों का होता था—व्यापार मे विदेश के माल का इजारा हासिल करके मुनाफ़ा कमाना। कम्पनी के पास भारतीय माल के बदले देने लायक कुछ न था। अफ्रीका और अमरीका में लूट से जो चाँदी-सोना मिला था, उसका उपयोग भारतीय माल खरीदने के लिए होता था। अभी भारत को सीधे लूटने के साधन कम्पनी के पास नही थे। जब अठारहवीं सदी के मध्य में अंग्रेज़ी राज क़ायम होने लगा; तब विनिमय का हिसाब दुरुस्त रखने के लिए शक्ति का उपयोग किया जाने लगा; कम-से-कम पैसे देकर ज्यादा-से-ज्यादा सस्ता माल खरीदने के लिए शक्ति का उपयोग किया गया। १७६५ के बाद से कम्पनी ने बेहिसाब लूट शुरू की और इसस आबादीवाले इलाके उजड़ गये, अकाल और दुर्भिक्ष का सिलसिला शुरू हो गया। अंग्रेज जो खिराज कम्पनी के नाम पर वसूल करते थे, उसके अलावा वे व्यक्तिगत रूप से भारी सम्पदा बटोरते थे। अठारहवीं सदी के मध्य में इंग्लैंण्ड मुख्यतः कृषिप्रधान देश था। सूती उद्योग में जो मशीनें इस्तेमाल की जाती थी, वे प्रायः वैसी ही सादी थी जैसी भारत मे थी। रजनी पाम दत्त ने यह बात सूती उद्योग का इतिहास लिखनेवाले बेन्स के आधार पर कही है। इग्लैण्ड मे औद्योगिक पूँजीवाद की प्रगति के लिए 'व्यापारिक आधार कायम हो गया था।" (पृ. १०५)। औद्योगिक प्रगति के लिए पूँजी-सचय की ज़रूरत थी, वह भारत की लूट से पूरी हुई। "अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की लूट के बल पर आधुनिक इग्लैण्ड का निर्माण हुआ।" (पृ. १०४)।

इस आधुनिक इंग्लैण्ड के प्रतिनिधि भारतीय दस्तकारी से होड करने में डरते थे। इसलिए उन्होने भारतीय रेशमी और सूती वस्त्रों के आयात पर भारी चुगी लगवायी। १८१३ मे पार्लियामेण्ट ने कम्पनी सम्बन्धी मामलो की जाँच करायी। "इस जाँच के समय ब्रिटेन मे भारतीय छीट के आयात पर ७८% चुगी लगती थी; ऐसी निषेधात्मक चुगी के बिना ब्रिटिश सूती उद्योग अपनी प्रारम्भिक मंज़िलो मे विकसित न हो सकता था।" (पृष्ठ ११३)। भारतीय माल के प्रति यह चुंगीवाली भेद-नीति उन्नीसवी सदी के पूर्वार्द्ध मे जारी रही और उसका असर तो बीसवी सदी तक रहा। भारतीय उद्योग के विनाश से ढाका, मुर्शिदाबाद, सूरत जैसे समृद्ध नगर वीरान हो गये। इनकी तबाही के बारे में माण्टगोमरी मार्टिन ने लिखा था, "मैं नही समझता कि व्यापार की खुली लड़ाई से ऐसा हुआ है; मेरी समझ में शहज़ोर ने अपनी ताकत से कमजोर को दबा लिया, इस कारण ऐसा हुआ है।" (पृष्ठ ११५)। रजनी पाम दत्त ने १९११ की मतगणना का हवाला देते हुए बताया कि यह सिलसिला बीसवी सदी मे भी कायम था। पिछले दस साल मे सूती मिल उद्योग ने प्रगति की किन्तु सूती उद्योग से सम्बद्ध मजदूरों की संख्या मे ६% की कमी हुई। कारण यह था कि हाथ से सूत कातने का उद्योग लगभग समाप्त हो गया था। औद्योगिक पूँजीवाद के दौर में जो सिलसिला शुरू हुआ था, वह महाजनी पूँजीवाद के दौर मे कायम रहा।

महाजनी पूंजीवाद के दौर के बारे में रजनी पाम दत्त ने लिखा, उन्नीसवीं सदी में औद्योगिक पूंजी द्वारा शोषण के जो विशेष रूप अपनाये गये, उनके चालू होने का मतलब यह नहीं था कि सीधी लूट के पुराने रूप खत्म हो गये हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक अंग्रेज खुलेआम खिराज (ट्रिब्यूट) वसूल करने की बात करते थे। हर साल लाखों पाउण्ड की सम्पदा भारत से ढोकर इंग्लैण्ड पहुँचा दी जाती थी। इसका एक हिस्सा घरेलू व्यय (होम चार्जेज) के नाम पर वसूल किया जाता था। दूसरा हिस्सा व्यक्तिगत रूप से भेजा जाता था। इसके बदले इंग्लैण्ड से माल न मिलता था। व्यापार की बढ़ती के साथ यह खिराज पूरी उन्नीसवीं सदी में तेज़ी से बढ़ता गया। "बीसवीं सदी में व्यापार के अपेक्षाकृत ह्रास के साथ वह और भी तेज़ी से बढ़ा।" (पृष्ठ १२३)। इसका मतलब यह है कि औद्योगिक पूंजीवाद से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लूट के जो तरीके अपनाये थे, वे औद्योगिक पूंजीवाद के दौर में ही नहीं, महाजनी पूंजीवाद के दौर में कायम रहे, कायम रहने के साथ उन्हें इस्तेमाल करने में अंग्रेज़ों ने और भी तेज़ी दिखायी। १८५१ में होम चार्जेज के नाम पर भारत ने २५ लाख पाउण्ड दिये, १६०१ में १ करोड़ ७३ लाख पाउण्ड दिये, १६१३-१४ ने १ करोड़ ६४ लाख पाउण्ड दिये और १६३३-३४ में २ करोड़ ७५ लाख पाउण्ड दिये। १८५१ में भारत को सामान बाहर ज्यादा भेजना पड़ा, बदले में माल कम मिला। यह फर्क ३३ लाख पाउण्ड का था, १६०१ में १ करोड १० लाख पाउण्ड का फर्क हुआ, १६१३-१४ में १ करोड ४२ लाख पाउण्ड का फर्क हुआ और १६३३-३४ में यह फर्क ६ करोड़ ६७ लाख पाउण्ड का हुआ। (पृ. १२५)। यह बहुत मोटा हिसाब है जिससे समझ में आ जायेगा कि महाजनी पूंजीवाद के दौर में भारतीय सम्पदा की लूट कम होने के बदले और भी तेजी से बढ़ी। एक तरफ घरेलू खर्च के नाम पर अंग्रेज करोड़ों रुपया ढो ले जाते थे, दूसरी तरफ करोड़ों का माल विलायत ले जाते थे और बदले में कुछ न देते थे।

महाजनी पूंजीवाद की विशेषता है पूंजी का निर्यात। रजनी पाम दत्त ने लिखा है कि भारत के सन्दर्भ में यह निर्यात महाजनी पूंजीवाद का मखौल था। अंग्रेज भारत को जितनी पूंजी भेजते थे, उससे कहीं ज्यादा वे खिराज के रूप में वसूल करते जाते थे। "इस प्रकार भारत में जितनी ब्रिटिश पूंजी का निवेश हुआ, वह वास्तव में भारतीय जनता को लूटकर पहले ही भारत में बटोर ली गयी थी, फिर भारत को कर्ज़दार मानकर ब्रिटेन के उधार खाते में दर्ज कर दी गयी। अब इस रकम पर भारत को आगे सूद और लाभांश देना पड़ेगा।" (उप., पृष्ठ १२७)।

रजनी पाम दत्त ने बताया है कि भारत में ब्रिटिश पूंजी के निवेश का मुख्य सूत्र था सार्वजनिक ऋण (पब्लिक डेट)। १८५८ में कम्पनी का राज सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथ में आया। उस समय कम्पनी के नाम यह कर्ज़ ७ करोड़ पाउण्ड था। रजनी पाम दत्त ने लिखा कि भारतीय लेखकों ने हिसाब लगाया है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी १५ करोड पाउण्ड खिराज के रूप में पहले ही वसूल कर चुकी थी। अंग्रेजों ने अफगानिस्तान, चीन वगैरह की लड़ाइयों के लिए जो धन

वसूल किया था, वह इस पन्द्रह करोड़ की राशि से अलग था। लेकिन अंग्रेज भारत को कर्जदार बनाकर उस पर कर्ज का बोझ बढाते गये। अठारह साल में यह कर्ज ७ करोड से बढकर १४ करोड हो गया; १९०० मे २२ करोड़ ४० लाख पाउण्ड, १९१३ मे २७ करोड ४० लाख पाउण्ड और १९३९ मे ८८ करोड ४२ लाख पाउण्ड हो गया। इस प्रकार लगभग तीन चौथाई शताब्दी मे भारत पर सार्वजनिक ऋण का बोझ १२ गुना बढ गया। (पृष्ठ १२७)।

इंग्लैण्ड मे जो भारत पर कर्ज (स्टरलिंग डेट) था, उसका अनुपात बराबर बढता गया। इसकी शुरूआत रेल कम्पनियो को निश्चित सूद देने के लिए और लडाइयां चलाने के लिए हुई थी। भारत मे अंग्रेज़ों ने चाय और रबड़ के बागानों में भी पूंजी लगायी। भारत मे ब्रिटिश बैंको के कारोबार का प्रसार हुआ। सरकारी कामों और रेलो मे सबसे ज्यादा पूंजी लगायी गयी थी। पूंजी निवेश का ब्यौरा देने के बाद रजनी पाम दत्त ने लिखा, "भारत में ब्रिटिश पूंजी के निवेश की प्रक्रिया से या तथाकथित पूंजी के निर्यात से यह नतीजा बिल्कुल नही निकलता कि भारत मे आधुनिक उद्योग धन्धों का विकास हो रहा था।" (पृ. १३०-३१)। प्रथम महायुद्ध के पहले तक ९७% ब्रिटिश पूंजी सरकारी कारोबार मे लगायी *गयी थी; भारत मे व्यापारिक प्रवेश के लिए, कच्चे माल के स्रोत के रूप मे* भारत के शोषण के लिए जो उद्देश्य जरूरी थे, उनके लिए ब्रिटिश पूंजी का निवेश हुआ; औद्योगिक विकास से इस पूंजी-निवेश का कोई भी सम्बन्ध नही था। महाजनी पूंजी के दौर मे "भारत का शोषण पुराने दौर की अपेक्षा और भी सघन हो गया।" (पृष्ठ १३७)।

अंग्रेज कहते थे, भारत संसार के उद्योगप्रधान देशो में है। यह प्रचार सही नही है। "जैसा भी औद्योगिक विकास हुआ है, वह वित्तीय और राजनीतिक क्षेत्र में ब्रिटिश महाजनी पूंजी के घोर विरोध का सामना करते हुए लड़-भिडकर किया जा सका है। वह एकांगी विकास है, मुख्य रूप से हल्के उद्योगों मे हुआ है। भारी उद्योग धन्धे निर्णायक है। वहां विकास बहुत ही कम हुआ है।" (पृ. १३८)। जनगणना से आंकड़े देते हुए रजनी पाम दत्त ने बताया कि उद्योगों पर निर्भर रहनेवाले लोगों की संख्या १९११ से १९३१ तक बीस साल में घटी और खेती पर निर्भर लोगो की संख्या बढ़ी। आबादी १२% बढी किन्तु उद्योगों पर निर्भर रहनेवालो की संख्या १२% से भी ज्यादा घटी। कुल आबादी को देखते हुए औद्योगिक मजदूरों के प्रतिशत अनुपात में २०% कमी हुई। इस प्रकार महाजनी पूंजी के दौर मे भारतीय जनता और साम्राज्यवाद का अन्तर्विरोध बराबर बढता गया।

रजनी पाम दत्त के विश्लेषण से यह साबित हुआ कि महाजनी पूंजीवाद के दौर मे लूट के पुराने अंग्रेजी तरीके कायम रहे, उनमे इजाफा हुआ, भारतीय जनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्तर्विरोध और गहरा हुआ। भारत मे जो भी औद्योगिक विकास हुआ, वह ब्रिटिश नीति का परिणाम नहीं था, वह भारतीय जनता के संघर्ष का परिणाम था। यह विश्लेषण भारत के आर्थिक विकास की समस्याएं सुलझाने के लिए अत्यन्त उपयोगी था।

कर काम करते रहे थे। यह विशेषता १९२५ के कम्युनिस्ट सम्मेलन के अवसर पर भी दिखायी दी थी। गणेशशंकर विद्यार्थी के अलावा कांग्रेस के एक अन्य प्रभावशाली नेता मौलाना हसरत मोहानी थे। वर्माजी ने जिस सभा का वर्णन किया है, उसमें हसरत मोहानी भी थे। सभा में अपने भाषण में उन्होंने, वर्माजी के अनुसार, रूस के मजदूरों और किसानों की मिसाल देकर मजदूरों से सरमायादारी निज़ाम खत्म करने की अपील की।

कांग्रेस में कई तरह के नेता थे। एक तरह के नेता वे थे जो पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए संगत रूप से साम्राज्यविरोधी लड़ाई चलाना चाहते थे, दूसरी तरह के नेता वे थे जो अंग्रेज़ों पर आन्दोलन का दबाव डालते थे, फिर समझौता कर लेते थे। ऐसे नेताओं का भेद बताते हुए शिव वर्मा ने उक्त संस्मरण में लिखा है, "एक निडर, ईमानदार और तरक्कीपसन्द कांग्रेसी नेता के रूप में मौलाना हसरत मोहानी के बारे में इसके पहले मैं काफी कुछ सुन चुका था। यह भी सुना था कि पहले विश्वयुद्ध के समय जब गांधीजी अंग्रेज़ों के लिए सिपाही भर्ती कर रहे थे, उस समय मौलाना हसरत मोहानी ने पूर्ण आज़ादी की माँग की थी। कांग्रेस के किसी अधिवेशन में इसी आशय का प्रस्ताव भी रक्खा जो पास नहीं हो सका था। उस समय कांग्रेस के अधिकांश नेताओं को अंग्रेज़ों से बड़ी उम्मीदें थीं और उनकी नेकनीयती पर पूरा भरोसा था।" मजे की बात यह हुई कि जिस समय कानपुर में यह कम्युनिस्ट सम्मेलन हुआ, उस समय दोनों तरह के कांग्रेसी नेता (और कुछ दोनों के बीच की तरह के) कानपुर में मौजूद थे। मजदूर आन्दोलन से सक्रिय सहानुभूति पहली तरह के नेताओं को थी। दिसम्बर १९२५ में ही यह बात स्पष्ट दिखायी देने लगी थी कि कम्युनिस्ट अगर शक्तिशाली साम्राज्यविरोधी मोर्चा बनायें तो उसमें किस तरह के कांग्रेसी नेता शामिल होंगे।

दिसम्बर १९२५ में कानपुर में कांग्रेस का अधिवेशन भी हुआ। कानपुर के मज़दूर नेता चाहते थे कि कांग्रेसी नेता मजदूरों को अधिवेशन में आने दें और उन्हें सम्बोधित करें। ऐसी माँग करनेवालों में कांग्रेसी नेता मौलाना हसरत मोहानी थे। कांग्रेस अधिवेशन के संयोजकों ने यह माँग अस्वीकार की। इस पर मज़दूर नेताओं ने तय किया कि वे मज़दूरों को साथ लेकर पण्डाल में प्रवेश करेंगे। अधिवेशन के संयोजकों ने मज़दूरों को रोकने के लिए स्वयंसेवकों को हिदायत कर दी। फिर भी मज़दूर गये और उनकी अगुआई कर रहे थे मौलाना हसरत मोहानी। वर्माजी ने लिखा है, "मौलाना हसरत मोहानी की रहनुमाई में जब अच्छी-खासी तादाद में मज़दूर पण्डाल के प्रवेश द्वार पर पहुँचे तो लाठियों से लैस स्वयंसेवकों की एक बड़ी टोली उनके स्वागत के लिए वहाँ पहले से तैनात थी। स्वर्गीय जोग, स्वयंसेवकों के कमाण्डर थे। उन्होंने मज़दूरों को आगे बढ़ते देख उन्हें रोकने का आदेश दिया। स्वयंसेवकों में से किसी ने मौलाना पर लाठी चला दी। वार हल्का था, फिर भी चोट तो आ ही गयी। उस समय बेगम हसरत मोहानी का रूप देखने योग्य था। काले बुर्के में वे मौलाना के ठीक पीछे चल रही थीं। लाठी चलते देख उन्होंने मौलाना को पीछे खींचा और स्वयं आगे हो गयीं। उनका रूप देखकर किसी ने उन्हें रोकने की हिम्मत नहीं

५

कम्युनिस्ट पार्टी और स्वाधीनता-आन्दोलन

१. कानपुर का कम्युनिस्ट सम्मेलन

दिसम्बर १९२५ में भारतीय कम्युनिस्टों का पहला सम्मेलन कानपुर में हुआ। इसमें एक ओर मुजफ़्फर अहमद और श्रीपाद अमृत डांगे जैसे कम्युनिस्ट नेता शामिल हुए जो हिन्दी प्रदेश से बाहर मजदूरों का संगठन कर रहे थे और उनमें समाजवादी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे, दूसरी ओर इसमें हिन्दी प्रदेश के राधामोहन गोकुलजी जैसे लोग थे जो यही काम कानपुर, आगरा आदि नगरों में कर रहे थे। राधामोहन गोकुलजी 'कम्युनिज़्म क्या है?' पुस्तक इस सम्मेलन से पहले लिख चुके थे यद्यपि वह प्रकाशित बाद में हुई। इस बात पर ज़ोर देना ज़रूरी है कि कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना से पहले कानपुर में मज़दूरों के संगठन का काम शुरू हो गया था। शिव वर्मा ने मौलाना हसरत मोहानी के संस्मरण में १९२५ के कम्युनिस्ट सम्मेलन का उल्लेख किया है, और उसकी पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए बताया है : "स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी की सदारत में कानपुर मजदूर सभा की बुनियाद पड़ चुकी थी। दफ़्तर के लिए ज़मीन भी ले ली गयी थी लेकिन इमारत बनना अभी बाकी थी। मज़दूरों की माँगों को लेकर उसी स्थान पर एक आम सभा का आयोजन था। समय से पहले ही मैदान मज़दूरों से भर गया। मैंने भी पहले जाकर मंच के सामने दरी पर जगह ले ली। लोग उत्सुकतापूर्वक विद्यार्थी-जी के आने का इन्तज़ार कर रहे थे। तभी एक सुगबुगाहट हुई—आ गये। मैदान मजदूर सभा जिन्दाबाद और गणेशशंकर विद्यार्थी की जय के नारों से गूँज उठा।" (शिव वर्मा का लेख कहाँ छपा, छपा भी कि नहीं, मुझे मालूम नहीं। उसकी टाइप की हुई प्रति उन्होंने कृपा करके मुझे दी थी, उसी से यह अंश उद्धृत है।)

वर्माजी के संस्मरण का महत्व यह है कि उससे पता चलता है कि कम्युनिस्ट सम्मेलन कानपुर में क्यों हुआ था और उसमें मज़दूरों की भूमिका क्या थी। सन् २५ से पहले और सन् २५ के बाद दूसरा महायुद्ध छिड़ने तक कानपुर के मज़दूर-आन्दोलन की यह विशेषता रही है कि उसमें कांग्रेसी नेता और कम्युनिस्ट मिल-

कर काम करते रहे थे। यह विशेषता १९२५ के कम्युनिस्ट सम्मेलन के अवसर पर भी दिखायी दी थी। गणेशशंकर विद्यार्थी के अलावा कांग्रेस के एक अन्य प्रभावशाली नेता मौलाना हसरत मोहानी थे। वर्माजी ने जिस सभा का वर्णन किया है, उसमे हसरत मोहानी भी थे। सभा मे अपने भाषण में उन्होंने, वर्माजी के अनुसार, रूस के मज़दूरों और किसानों की मिसाल देकर मज़दूरों मे सरमायादारी निज़ाम खत्म करने की अपील की।

कांग्रेस मे कई तरह के नेता थे। एक तरह के नेता वे थे जो पूर्ण स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए संगत रूप से साम्राज्यविरोधी लड़ाई चलाना चाहते थे, दूसरी तरह के नेता वे थे जो अंग्रेजों पर आन्दोलन का दबाव डालते थे, फिर समझौता कर लेते थे। ऐसे नेताओ का भेद बताते हुए शिव वर्मा ने उक्त संस्मरण मे लिखा है, "एक निडर, ईमानदार और तरक्कीपसन्द कांग्रेसी नेता के रूप मे मौलाना हसरत मोहानी के बारे मे इसके पहले मैं काफी कुछ सुन चुका था। यह भी सुना था कि पहले विश्वयुद्ध के समय जब गाधीजी अंग्रेज़ो के लिए सिपाही भर्ती कर रहे थे, उस समय मौलाना हसरत मोहानी ने पूर्ण आज़ादी की माँग की थी। कांग्रेस के किसी अधिवेशन मे इसी आशय का प्रस्ताव भी रक्खा जो पास नही हो सका था। उस समय कांग्रेस के अधिकांश नेताओ को अंग्रेज़ो से बडी उम्मीदें थीं और उनकी नेकनीयती पर पूरा भरोसा था।" मज़े की बात यह हुई कि जिस समय कानपुर मे यह कम्युनिस्ट सम्मेलन हुआ, उस समय दोनो तरह के कांग्रेसी नेता (और कुछ दोनो मे बीच की तरह के) कानपुर में मौजूद थे। मजदूर आन्दोलन से सक्रिय सहानुभूति पहली तरह के नेताओं को थी। दिसम्बर १९२५ में ही यह बात स्पष्ट दिखायी देने लगी थी कि कम्युनिस्ट अगर शक्तिशाली साम्राज्यविरोधी मोर्चा बनायें तो उसमें किस तरह के कांग्रेसी नेता शामिल होंगे।

दिसम्बर १९२५ मे कानपुर मे कांग्रेस का अधिवेशन भी हुआ। कानपुर के मज़दूर नेता चाहते थे कि कांग्रेसी नेता मजदूरों को अधिवेशन में आने दें और उन्हे सम्बोधित करें। ऐसी माँग करनेवालो में कांग्रेसी नेता मौलाना हसरत मोहानी थे। कांग्रेस अधिवेशन के संयोजकों ने यह माँग अस्वीकार की। इस पर मज़दूर नेताओ ने तय किया कि वे मजदूरो को साथ लेकर पण्डाल में प्रवेश करेंगे। अधिवेशन के संयोजको ने मज़दूरों को रोकने के लिए स्वयंसेवकों को हिदायत कर दी। फिर भी मजदूर गये और उनकी अगुआई कर रहे थे मौलाना हसरत मोहानी। वर्माजी ने लिखा है, "मौलाना हसरत मोहानी की रहनुमाई में जब अच्छी-खासी तादाद में मज़दूर पण्डाल के प्रवेश द्वार पर पहुँचे तो लाठियों से लैस स्वयंसेवको की एक बड़ी टोली उनके स्वागत के लिए वहाँ पहले से तैनात थी। स्वर्गीय जोग, स्वयंसेवकों के कमाण्डर थे। उन्होंने मज़दूरों को आगे बढ़ते देख उन्हें रोकने का आदेश दिया। स्वयंसेवकों में से किसी ने मौलाना पर लाठी चला दी। वार हल्का था, फिर भी चोट तो आ ही गयी। उस समय बेगम हसरत मोहानी का रूप देखने योग्य था। [illegible] मे मौलाना के ठीक पीछे चल रही थीं। लाठी चलते देख उन्होंने मौलाना को पीछे [illegible] और स्वयं आगे हो गयीं। उनका रूप देखकर किसी से उन्हें रोकने की [illegible]

की। देखते-देखते वह पण्डाल के अन्दर हो गयीं। अन्दर पहुँचकर उन्होंने मंच पर बैठे नेताओं को ललकारा। उन्होंने कहा, जिस वक्त आप लोग अंग्रेजो की फौज के लिए सिपाही भर्ती करवा रहे थे, उस वक्त मेरा शौहर मुकम्मिल आजादी की माँग कर रहा था और आज यहाँ बैठकर आप लोग मेरे शौहर पर लाठियाँ चलवा रहे हैं क्योंकि वह गरीबो का हिमायती है। मामला बिगड़ते देख पण्डित जवाहरलाल नेहरू को बाहर भेजा गया कि वे मज़दूरों और उनके नेताओं से मिलकर किसी प्रकार स्थिति को सुलझायें। नेहरू ने बाहर आकर लाठी चार्ज के लिए माफी माँगी और काफी देर तक मज़दूरों को सम्बोधित करते रहे। अधिवेशन की कार्यवाही रोक दी गयी। गांधीजी, मोतीलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू तथा अन्य नेताओं ने भी बाहर जाकर मज़दूरों को सम्बोधित किया और जो कुछ हुआ, उसके लिए खेद प्रकट किया।"

संस्मरण के अलावा इस सिलसिले की कुछ और बातें वर्माजी से मालूम हुई। बेगम मोहानी पण्डाल के भीतर पहुँचकर मच पर चढ़ गयी और उन्होंने अधिवेशन की अध्यक्षता करनेवाली श्रीमती सरोजिनी नायडू से माइक्रोफोन ले लिया। फिर उन्होंने गाधीजी की ओर देखते हुए अंग्रेजी फौज मे रंगरूट भरती करने की बात कही; फिर मोतीलाल नेहरू की ओर देखते हुए कहा, तुम जब बटलर के साथ दावतें खाते थे, तब मेरा शौहर जेल मे था। बेगम मोहानी के इस सम्बोधन के बाद गाधीजी ने नेहरू से कहा, तुम जाकर सम्हालो।

वर्माजी के (संस्मरण के) अनुसार बाद में इस घटना को तोड़-मरोड़कर जनता के सामने रखा गया और कहा गया कि—"कुछ कम्युनिस्ट मजदूरों की सहायता से पण्डाल मे आग लगाना चाहते थे लेकिन स्वयंसेवकों की मुस्तैदी की वजह से वे अपनी कोशिशों मे कामयाब नही हो सके।" सन् २५ के इस घटनाक्रम से कांग्रेस और कम्युनिस्टो के जिस सम्बन्ध का आभास मिला, उसकी पुष्टि आगे की घटनाओं से भी हुई। उस समय काग्रेस के अन्दर जो भी नरमदली नेताओं की आलोचना करता था और मज़दूरों का समर्थन करता था, उसे कम्युनिस्ट कहा जाता था। वर्माजी के अनुसार "कांग्रेस के अन्दर मौलाना हसरत मोहानी भी कम्युनिस्ट मशहूर हो गये। उन दिनों कानपुर मे कम्युनिस्ट कहकर आमतौर पर चार व्यक्तियों के नाम लिये जाते थे—राधामोहन गोकुलजी, सत्यभक्त, अर्जुनलाल सेठी और मौलाना हसरत मोहानी।" इनमे राधामोहन गोकुलजी नागपुर मे काग्रेस के साथ मिलकर काम कर चुके थे। वह कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन मे बंगाल के प्रतिनिधि बनकर शामिल हुए थे। सम्मेलन का आयोजन सत्यभक्त ने किया था। सत्यभक्त समाजवादी विचारधारा और मज़दूर-आन्दोलन के समर्थक थे, इसके साथ ही वह गाधीवादी विचारधारा से प्रभावित थे, और कांग्रेसी आन्दोलन का भी समर्थन करते थे। वह सुसंगत भौतिकवादी विचारक नही थे, भौतिकवाद के साथ अध्यात्मवाद की बातें भी करते थे किन्तु अंग्रेजों के विरुद्ध जो आन्दोलन भी चलाया जाये, उसका समर्थन करते थे। १९२५ में विभिन्न साम्राज्यविरोधी धाराएँ कहाँ मिलकर चलती थी और कहाँ टकराती थी, यह समझना जरूरी है। डा. गंगाधर अधिकारी ने कई खण्डों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास मे सम्बन्धित दस्तावेज सम्पादित

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के दस्तावेजों को असली कम्युनिस्ट गुटों, जैसे कि डांगे या ऐम. ऐन राय के गुटों, के दस्तावेजों के बराबर जगह देना बिलकुल गलत है। (उप., पृष्ठ ५६२)।

१९२५ में अभी भारत के भीतर कोई कम्युनिस्ट पार्टी नहीं थी, अलग-थलग कम्युनिस्ट गुट काम कर रहे थे। ये गुट कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्ध नहीं थे, केवल सम्बद्ध होना चाहते थे। ऐसी हालत में कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्ध होने की बात पर झगड़ा हुआ हो, यह एक विचित्र बात है। उस समय कम्युनिस्ट पार्टी के नाम पर एक पार्टी वह थी जिसका सगठन सत्यभक्त और राधामोहन गोकुलजी ने किया था। यदि यह पार्टी साम्यवाद की हवाई बातें करते हुए स्वाधीनता संग्राम से कतराती थी तो कम्युनिस्ट गुटों को अलग अपना गैरकानूनी सम्मेलन करना चाहिए था। एक कानूनी पार्टी द्वारा बुलाये गये खुले सम्मेलन में उन्हें शामिल ही न होना चाहिए था। किन्तु किसी कारण डांगे भी कम्युनिस्ट पार्टी का सम्मेलन खुलेआम, कानूनी तौरपर ही करना चाहते थे। डा. अधिकारी के अनुसार वह ऐसा कर नहीं पाये। जब सत्यभक्त ने सम्मेलन बुलाया, तब उसमें अनेक कम्युनिस्ट गुटों के नेता शामिल हुए। इसमें पजाब, महाराष्ट्र, बगाल और तमिलनाडु के नेता शामिल हुए थे। स्वय ऐम. ऐन. राय ने विभिन्न कम्युनिस्ट गुटों को सँदेसा भेजा था कि वे कानपुर सम्मेलन को सफल बनायें। (उप., पृष्ठ ६०६)। सम्मेलन की विषय-निर्वाचनी समिति में सत्यभक्त के अलावा घाटे भी थे। घाटे के अनुसार सत्यभक्त ने केवल 'कम्युनिस्ट पार्टी आफ इण्डिया' पर आपत्ति की क्योंकि इसमें उन्हें बोल्शेविज्म की गन्ध आती थी। वह चाहते थे कि उसका नाम इण्डियन कम्युनिस्ट पार्टी हो। अन्त में घाटे आदि का प्रस्ताव मान लिया गया। डा. अधिकारी के अनुसार सत्यभक्त सम्मेलन में अकेले पड़ गये और उनकी राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी का भी लोप हो गया। सत्यभक्त के विचार सम्मेलन में रद्द कर दिये गये, इस कारण अगले तीन-चार वर्षों में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी आगे बढ़ सकी। दोनों सोवियत विद्वानों ने उस सम्मेलन पर अच्छा निबन्ध लिखा है किन्तु उन्होंने सत्यभक्त पर और सत्यभ[illegible] दी गयी सामग्री पर एकान्त भरोसा किया है, [illegible] दृष्टि [illegible] लिया; इसलिए उन्होंने सत्यभक्त की भू[illegible] बढ़ा-चढ़ा[illegible] (उप., पृष्ठ ५६३)। उधर घाटे का कहना [illegible] सत्यभक्त ने एक नयी राष्ट्रीय कम्यु[illegible] की [illegible] उस सगठन को छोड़ दिया [illegible] उनसे सम्मेलन के दस्तावेज [illegible] इन्का[illegible] वह स्वयं अ[illegible] ४०६ [illegible]

[illegible] बम्[illegible]

सत्यभ[illegible] मे अलग [illegible]

से ऐसा लगता है कि यदि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की शाखा न बनती तो भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में बहुत बड़ी रुकावट पैदा हो जाती। सन् १९८२ में दो कम्युनिस्ट पार्टियाँ हैं और कई कम्युनिस्ट गुट हैं। कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल इस समय नहीं है। भारत की एक ही कम्युनिस्ट पार्टी को अधिकांश विदेशी पार्टियों की मान्यता प्राप्त है। यह पार्टी दूसरी कम्युनिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट गुटों को मिलाने का प्रयत्न करती रही है। इस सारे अनुभव को ध्यान में रखकर १९२५ की घटनाओं पर विचार करें तो कुछ बातें हास्यास्पद जान पड़ेंगी। मुख्य कार्य किसानों और मजदूरों को संगठित करके स्वाधीनता आन्दोलन को शक्तिशाली बनाना था। इस कार्य में जो लोग कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल में संगठनात्मक सम्बन्ध रखना चाहते थे और दूसरे लोग जो न रखना चाहते थे, वे सब मिलकर काम कर सकते थे। मिलकर काम करना इसलिए भी जरूरी था कि कम्युनिस्ट गुट बहुत छोटे थे और उनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था। डा. अधिकारी ने मुजफ्फर अहमद की पुस्तक 'समकालेर कथा' से यह अंश उद्धृत किया है. शुरू में कई साल तक कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति संगठित न की जा सकी थी। पार्टी की पहली केन्द्रीय समिति १९२५ में संगठित की गयी। पार्टी का पहला संविधान १९२६ में प्रकाशित हुआ। उस समय भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्ध (affiliated) होने की बड़ी सम्भावना थी। इस नवगठित केन्द्रीय समिति में उस कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे जो विदेश में बनी थी। पार्टी के सदस्य समझते थे कि सदस्य-संख्या काफी नहीं है, इसलिए उन्होंने पार्टी को कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्ध करने के लिए आवेदन नहीं किया। साथ ही कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल मानता था कि भारत की कम्युनिस्ट पार्टी उसी का एक अंग है। (उप., पृ. ६०८)। इस विवरण से ज्ञात होता है कि कम्युनिस्ट अभी इतने कम थे कि वे स्वयं को कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की शाखा बनने को योग्य न समझते थे, इसलिए उन्होंने सम्बद्ध होने के लिए आवेदनपत्र न भेजा था। ऐसी स्थिति में कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्धता को मुख्य समस्या बनाना तिल का ताड़ बनाना था। कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति सन् २५ तक गठित न हुई थी। यह काम दिसम्बर सन् १९२५ के सम्मेलन के बाद ही हुआ। विभिन्न कम्युनिस्ट गुटों को एक संगठित पार्टी समझकर यदि कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल अनौपचारिक रूप से उन्हें अपना अंग मानता था, तो इसे उसकी उदारता ही कहना चाहिए। जहाँ तक सत्यभक्त का सम्बन्ध है, वह कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्ध पार्टियों का साहित्य वितरित करते थे। इन पार्टियों में इंग्लैण्ड की कम्युनिस्ट पार्टी थी। इस पार्टी ने इंग्लैण्ड में जो कम्युनिस्ट साहित्य छापा था, वह सत्यभक्त की किताबों की दूकान से पुलिस द्वारा जब्त किया गया था। इसके सिवा उन्होंने इंग्लैण्ड में रहनेवाले कम्युनिस्ट शापुरजी सकलातवाला से सम्पर्क कायम किया था। सकलातवाला का सन्देश कानपुर के सम्मेलन में पढ़ा गया था। इससे इतना तो साबित होता है कि सत्यभक्त कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल और उसकी शाखाओं के कार्य के विरोधी नहीं थे, भलेही वह कम्युनिस्ट पार्टी को उसकी शाखा न बनाना चाहते हों।

डा. अधिकारी ने अपने विवरण में इस बात पर बहुत जोर दिया है कि सत्यभक्त कानूनी ढंग से काम करना चाहते थे, वह संघर्ष से बचना चाहते थे और साम्यवाद की आम बातें कहकर स्वयं को ऐसे प्रचार तक सीमित रखना चाहते थे जो कम्युनिस्टो की सही राजनीति से अलग हो। उन्होंने यह भी कहा है कि वह काउन्सिलों, जिला बोर्डों, म्युनिसिपल संस्थाओं आदि पर अधिकार करके देश का उद्धार करने की बात सोच रहे थे। मेलनीकोव और मित्रोखिन ने कम्युनिस्ट सम्मेलन के दस्तावेजों के बारे मे लिखा था : इनमें माँग की गयी थी कि कम्युनिस्ट वास्तविक, व्यावहारिक कार्य करें; इससे पार्टी यों ही आ जानेवाले व्यक्तियों से बचेगी और इसके फलस्वरूप भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सत्यभक्त की कम्युनिस्ट पार्टी से भिन्न थी। (उप., पृ ६२२)। इससे भी ऐसा प्रतीत होता है कि सत्यभक्त सक्रिय राजनीति से दूर रहना चाहते थे और कम्युनिस्ट पार्टी के नाम पर पत्रकारो की भीड इकट्ठा कर रहे थे। किन्तु डा. अधिकारी ने लिखा है : १९२३ की समाप्ति पर सत्यभक्त कानपुर लौट आये और वहाँ उन्होंने मजदूरों से सम्बन्धित कार्यवाही मे भाग लिया। १९२४ के आरम्भ मे विक्टोरिया मिल के मजदूरो ने डेढ महीने तक हड़ताल की। पुलिस ने हड़तालियों पर गोली चलायी। सरकार ने गोली चलाने की घटना की जाँच करायी। जाँच के बाद कहा गया कि हडताल शायद बोल्शेविको ने करायी है, इसकी जाँच होनी चाहिए। (उप., पृ. ५१६)। सत्यभक्त ने मजदूरों से सम्बन्धित जिस कार्यवाही मे भाग लिया था, उसकी परिणति यह हडताल थी। इसमे यह साबित नही होता कि वह सक्रिय राजनीति से अलग रहना चाहते थे और कम्युनिस्टों को मजदूरों मे काम करने से रोकना चाहते थे। सत्यभक्त ने हड़ताल का ब्योरा देते हुए कानपुर के 'वर्तमान' दैनिक पत्र मे अपनी चिट्ठी छपवायी थी। इसमे उन्होंने कहा था : कानपुर के मजदूर-आन्दोलन में ऐसे लोग हो सकते है जिनके विचार बोल्शेविक या कम्युनिस्ट हो लेकिन उनमे बोल्शेविक एजेण्ट कोई नही हैं। उन्होने यह भी कहा कि कलेक्टर ने बोल्शेविक हौआ इसलिए खड़ा किया है कि मजदूरों पर पुलिस की बर्बरतापूर्ण गोली चलाने की क्रिया पर पर्दा डाले और कानपुर के मजदूर नेताओं को बोल्शेविक षड्यन्त्रवाले मुकदमे की तरह किसी मुकदमे मे फँसाये।

दरअसल अंग्रेज यही कर रहे थे और पाँच साल बाद मेरठ षड्यन्त्र में उन्होने इसी तरह कम्युनिस्ट नेताओं को फँसाया। अंग्रेज बोल्शेविक हौआ खड़ा कर रहे है, यह कहने से यह प्रकट नही होता कि सत्यभक्त मजदूर आन्दोलन के विरोधी थे। जो लोग सत्यभक्त के दुष्प्रभाव से कम्युनिस्ट सम्मेलन को बचाने का प्रयत्न कर रहे थे, वे कानूनी तौर पर उस सम्मेलन मे भाग ले रहे थे। सम्मेलन के अध्यक्ष सिगारवेलु ने एक पार्टी बनायी थी जिसका नाम लेबर किसान पार्टी आफ हिन्दुस्तान था। डा. अधिकारी के अनुसार सम्मेलन मे यह पार्टी औपचारिक रूप मे भंग कर दी गयी—"जिससे जाहिर होता है कि उस समय धारणा यह थी कि कम्युनिस्ट पार्टी कानूनी तौर मे काम करे।" (पृष्ठ ६१५)। जिस कानूनीपन से कम्युनिस्ट सम्मेलन को बचाने के लिए असली कम्युनिस्ट गुटो के नेता कानपुर आये थे, उसी के वे शिकार हुए। तब यदि सत्यभक्त कानूनी ढंग से काम करना

चाहते थे तो इस बात को लेकर विशेष मतभेद न होना चाहिए था।

सत्यभक्त ने ऐम. ऐन. राय की तीखी आलोचना की थी। अधिकारी का कहना है, राय की राजनीति को लेकर उन्होंने यह आलोचना न की थी वरन् व्यक्तिगत चरित्र को लेकर की थी, और इसके लिए ऐम. पी. बी. टी. आचार्य और महेन्द्रप्रताप के लेखों से सामग्री जुटायी थी जो सन्दिग्ध थी। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन से भारतीय पार्टी को सम्बद्ध न करने की नीति का समर्थन किया। "इस सबसे जाहिर होता है कि सत्यभक्त मजदूर वर्ग और उसके आन्दोलन की अन्तर्राष्ट्रीयता का क ख ग भी न जानते थे, वह साम्राज्यवादी दमन के सामने घुटने टेक रहे थे और कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल के खिलाफ साम्राज्यवादियों की तरह कीचड उछाल रहे थे; साम्राज्यवादी जो कीचड उछालते थे वह उसी की आवृत्ति कर रहे थे।" (उप., पृष्ठ ६१८)।

राय के व्यक्तिगत चरित्र की चर्चा आगे करेंगे। ऐम. ऐन. राय ने सत्यभक्त के चरित्र के बारे मे लिखा था कि उन्होंने जैसी पार्टी बनायी है, उससे कोई आश्चर्य नही कि वह अंग्रेजी सरकार से न्याय प्राप्त कर रही है। (उप., पृष्ठ ६१६)। इसका आशय यही हो सकता है कि सत्यभक्त अंग्रेजों के कृपापात्र थे और उनकी सहमति मे अपनी पार्टी बना रहे थे। डा. अधिकारी ने लिखा है कि सत्यभक्त ने मई १९२६ के लेख मे कहा था कि वह राय के इस आरोप का जवाब दे रहे है कि उनकी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पुलिस की मदद से चालू की गयी है। अधिकारी कहते है कि राय ने ऐसा कोई आरोप न लगाया था। दरअसल शब्दों का हेर-फेर है। सत्यभक्त की पार्टी यदि अंग्रेज सरकार से न्याय प्राप्त करती थी, तो घुमा-फिराकर संकेत यही किया गया था कि उन पर सरकार की कृपा थी। यह कृपा पुलिस की सहायता के रूप में थी या कलक्टर के किसी संकेत के रूप में थी, यह भेद व्यर्थ है। सत्यभक्त ने राय पर आरोप लगाया था कि उन्हें मास्को से पैसा मिलता है, इसलिए वह अपनी कार्यवाही का विवरण वहाँ देते हैं। अधिकारी कहते हैं कि यह राय की राजनीतिक आलोचना नही है, सत्यभक्त में ऐसी आलोचना की क्षमता ही नही है। यह सीधे कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल पर कीचड़ उछालना है।

यह विडम्बना है कि कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल के अधिकांश नेता उस समय ऐसे लोग थे जिन पर आगे चलकर साम्राज्यवादियों के एजेण्ट होने का मुकदमा चलाया गया। त्रोत्स्की कम्युनिस्ट पार्टी से निकाले गये, कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से निकाले गये, रूस से निकाले गये, उसके बाद ऐम. ऐन. राय निकाले गये। त्रोत्स्कीवादियों के प्रभाव से कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल उस समय उग्र संकीर्णतावादी नीति अपना रहा था। यह नीति १९३४ के बाद परिवर्तित हुई। १९३४ के बाद ही स्तालिन की तथाकथित व्यक्तिपूजा आरम्भ हुई। कुछ लोगों का विचार है कि व्यक्तिपूजा से पहले वह बहुत अच्छे क्रान्तिकारी थे। दरअसल १९३४ से पहले जो तगड़े त्रोत्स्कीवादी रुझान कम्युनिस्ट आन्दोलन में थे, उन्हें खत्म करके ही स्तालिन दुनियाभर के कम्युनिस्टों मे सर्वमान्य नेता बने। भले ही सत्यभक्त ऐम. ऐन. राय और कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की राजनीतिक आलोचना करने के

अयोग्य रहे हों किन्तु उन्होंने राय के विरुद्ध जो कुछ लिखा था, वह आगे चलकर सही साबित हुआ और उनके कार्य को कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल पर कीचड़ उछालना कहना सन् ३४ मे पहलेवाले संकीर्णतावादी दृष्टिकोण से इतिहास को देखना है। जिस लेख मे उन्होंने राय को जवाब दिया था, उसी में उन्होंने कहा था कि वह कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल के विरोधी नही है और उसके प्रति हमारी सहानुभूति होना स्वाभाविक है। वह इण्टरनैशनल से सम्बद्ध होकर अपने हाथ न बाँध लेना चाहते थे और बाहर से आदेश या निर्देश प्राप्त करने के पक्ष में नही थे। भारत के कम्युनिस्टो का कार्यक्रम भारतीय समाज की आवश्यकताओ और परिस्थितियो के अनुरूप होना चाहिए। उस समय की परिस्थिति देखते हुए सत्यभक्त की ये बातें सही थी। आज यही बातें कोई कहे तो उसे कम्युनिस्ट विरोधी न कहा जायेगा। इसके विपरीत यदि कोई कहे, कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल फिर कायम होना चाहिए, इसके विना मजदूर वर्ग की सच्ची अन्तर्राष्ट्रीयता कायम नही हो सकती, तो बहुत से लोग चौंककर उसकी शकल देखने लगेंगे, और शायद सोचें भी कि इसका दिमाग तो खराब नही हो गया।

सवाल सत्यभक्त नाम के एक व्यक्ति का नही था, सवाल राधामोहन गोकुल-जी, हसरत मोहानी, गणेशशंकर विद्यार्थी जैसे लोगों का था जो मजदूरो मे काम करते थे और साम्राज्यविरोधी आन्दोलन को पूरी ताकत से आगे बढाना चाहते थे। सत्यभक्त से कम्युनिस्ट सम्मेलन को बचाने के बाद असली कम्युनिस्ट गुटो के नेताओं ने किस तरह काम किया? क्या उन्होंने मजदूर आन्दोलन को व्यापक बनाया, कांग्रेस के भीतर जो लोग सुधारवादी नीति के खिलाफ थे, उनके साथ संयुक्त मोर्चा बनाया? यदि यह सब किया होता तो आगे चलकर यानी सन् ३४ के बाद संकीर्णतावाद के खिलाफ संघर्ष करने की जरूरत न पडती। दिसम्बर १९२५ मे कम्युनिस्ट नेताओं ने जो नीति अपनायी थी, उससे मजदूर आन्दोलन और राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन को कोई बहुत बड़ी सहायता नहीं मिली। कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन पर दस्तावेजोवाले ग्रन्थ मे ३९ पृष्ठ हैं। इनमें कही कानपुर के मजदूरों का उल्लेख नही है। उस घटना का उल्लेख नहीं है जिसमे मजदूरों का नेतृत्व करते हुए हसरत मोहानी कांग्रेस के अधिवेशन में पहुँचे थे और उन पर लाठियों से वार किया गया था। शिव वर्मा के संस्मरण के बिना भी जो कम्युनिस्ट नेता कानपुर सम्मेलन मे आये थे, वे इस घटना से अवश्य परिचित रहे होंगे। हसरत मोहानी स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। डा. अधिकारी ने लिखा है, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम भारतीय कम्युनिस्ट सम्मेलन ने राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के वामपक्ष का ध्यान काफी आकर्षित किया। (उप., पृ. ६२४)। यह बात महत्वपूर्ण है। स्वाधीनता-आन्दोलन मे एक वामपक्ष मौजूद था और यह कम्युनिस्टो के इस सम्मेलन को सहानुभूति से देख रहा था। इसी वामपक्ष से संयुक्त मोर्चा बनाना सबसे ज्यादा जरूरी था। डा. अधिकारी ने १४ दिसम्बर १९२४ के 'प्रताप' का हवाला देकर लिखा है कि इसमें सत्यभक्त की कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यवाही की तिमाही रिपोर्ट छपी थी जिसमे कहा गया था कि अधिकांश सदस्य कानपुर के हैं और उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और राजस्थान के जिलों से

जाती थी। भिखमंगों को जेलखाने भेजने की आवश्यकता शासकों को बहुत कम प्रतीत हुआ करती है।" आगे चलकर कर्जन की नीति के कारण राजनीतिक आन्दोलन की नीति का प्रचार हुआ। बंग-भंग के विरोध में स्वदेशी आन्दोलन चला, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। सरकार की दमन नीति के कारण "देश के कुछ अनुभवहीन युवकों को यह विश्वास हो गया कि इन वैध आन्दोलनों द्वारा देश अपनी मनोकामना को प्राप्त नहीं कर सकता। इस विचार से वे प्रभावित हो भारतीय सत्य और न्याय के आदर्शों से विमुख होकर पश्चिमीय क्रान्तिकारी मतों का अनुसरण करने लगे।" महायुद्ध के समय हजारों युवकों को राजनीतिक अपराधों के सन्देह पर क़ैद में डाल दिया गया। अन्य देशों में राजनीतिक बन्दियों के साथ वैसा व्यवहार नहीं होता जैसा साधारण क़ैदियों के साथ होता है। भारत में इससे उलटी स्थिति थी। सत्यभक्त ने लिखा, "इनके साथ भी अभद्र, कठोर तथा असभ्यतापूर्ण बर्ताव किया जाता है, जैसा मामूली चोर-डाकुओं के साथ होता रहता है। इतना ही नहीं वरन् बहुधा तो इन अभागों के साथ और भी कुव्यवहार होता है।" इसके विरोध में ये लोग भूख हड़ताल करते हैं। जेल भेजने से पहले पुलिस "उन्हें यन्त्रणा देने का आयोजन किया करती है। पुलिस के नीच कर्मचारी कभी इस प्रकार के राजनीतिक अपराधियों को कई-कई दिन तक सोने न देकर कष्ट पहुँचाते हैं; कभी पानी न देकर प्यासा मारते हैं; कभी नाखूनों में अथवा अन्यत्र सुई या पिन चुभाकर व्याकुल करते हैं; कभी मिर्च इत्यादि के धुंआ के पास बैठाकर अस्थिर करते हैं; कभी बेंत मारकर बातें पूछने की चेष्टा करते हैं; कभी उलटा या सीधा लटकाकर भेद को पेट में से उगलवाने का उद्योग करते हैं। कहाँ तक लिखा जाय, ये नर-पिशाच, मनुष्य रूपधारी राक्षस, नृशंस, पाषाणहृदय उन कम उम्र, सुकुमार, निरीह, सुशिक्षित युवकों पर ऐसे घोर निर्दयतापूर्ण अत्याचार करते हैं, जिनके स्मरण मात्र से हृदय काँपता है।" दूसरा महायुद्ध समाप्त हो चुका था। स्वाधीनता-आन्दोलन को दबाने के लिए अंग्रेज जोरों से दमनचक्र चला रहे थे। क्रान्तिकारी बन्दियों को वे भयानक यातनाएँ देते थे। उन यातनाओं पर ध्यान केन्द्रित करके और सरकारी दमन का विरोध करके सत्यभक्त ने साहस का काम किया था। लेख के अन्त में उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया था कि "आज नहीं तो दस दिन पीछे सरकार को अपनी यह नीति बदलनी होगी।"

१९३० में सत्यभक्त की पुस्तक **कार्ल मार्क्स** पटना से प्रकाशित हुई थी। यह मेरठ षड्यन्त्र का ज़माना था। कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन को पाँच साल हो चुके थे। सत्यभक्त ने इस समय साम्यवाद के प्रति अपनी आस्था फिर प्रकट की। उनकी पुस्तक मार्क्स के जीवन और सिद्धान्तों से परिचित करानेवाली हिन्दी की प्रारम्भिक पुस्तकों में है। चार अध्यायों में मार्क्स के जीवन और चरित्र का परिचय दिया गया है। पाँचवें अध्याय में ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्गों, वर्गसंघर्ष और श्रमजीवी आन्दोलन के लक्ष्य की चर्चा है। छठे अध्याय में मार्क्स के ग्रन्थ 'पूँजी' का परिचय दिया गया है और मूल्य, मजदूरी और श्रम, अतिरिक्त मूल्य आदि का विवेचन किया गया है। पुस्तक के अन्त में सत्यभक्त ने कल्पना की है कि

हेगल, रिकार्डो आदि का अध्ययन करके मार्क्स ने जब ऐसी विचारप्रणाली निश्चित कर ली "जो कि मनुष्य जाति को भूतकाल के बन्धनों से छुडाकर एक नवीन जगत् का रास्ता दिखला दे जहाँ पर वह आध्यात्मिक सभ्यता के शिखर पर चढ सके", तब उनका हृदय "अवश्य ही आनन्द से भर उठा होगा।" आध्यात्मिक सभ्यता के प्रति आग्रह के बावजूद उन्होंने भौतिकवाद का परिचय देते हुए लिखा है कि "मनुष्य समाज को संचालित करनेवाली जो प्रधान शक्ति मनुष्यों के विवेक और विचारों मे परिवर्तन करती है...उसका जन्म विचारों से, भावनाओं से, विश्वव्यापी ज्ञान से अथवा सर्वव्यापी आत्मा से नही हुआ है वरन् जीवन की भौतिक अवस्था या नियमो द्वारा हुआ है।" (पृ. १०६)।

पुस्तक की भूमिका ओजपूर्ण शैली मे लिखी गयी है। इसमे उन क्रान्तिकारी युवकों की चेतना की झलक है जो गांधीवाद से असन्तुष्ट होकर स्वाधीनता-आन्दोलन की सफलता के लिए मार्क्सवाद से परिचय बढा रहे थे।

सत्यभक्त ने भूमिका मे लिखा है :

"कम्यूनिज्म या साम्यवाद वर्तमान समय मे ससार का सबसे बड़ा और शक्तिशाली आन्दोलन है। ससार का कोई देश, जाति और समाज इसके प्रभाव से अछूता नही बचा है। आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के प्रधान लीला-क्षेत्र अमरीका से लेकर प्राचीन सभ्यता के केन्द्र चीन और असभ्य पठानो तक मे यह अपना रंग दिखला रहा है। क्या गरीब और क्या अमीर, क्या छोटे और क्या बडे, सभी इसकी ओर उत्सुक नेत्रों से देख रहे है। गरीब इसकी बदौलत चिरकालीन कष्टो और दुर्दशा से छूटने की आशा कर रहे हैं, और अमीर इसके कारण अपने विशेष अधिकारो और वैभव के छीने जाने के भय से भयभीत हो रहे है। जिन लोगों को इससे अपनी हानि की आशंका है और जो समझते हैं कि किसी न किसी दिन यह आन्दोलन उनके ऊँचे महलो और तिजोरियों तक पहुँच जायगा और उनके 'ईश्वरप्रदत्त बड़प्पन' को मिटा देगा, वे जी-जान से इसका विरोध करने, इसे बदनाम करने और इसकी जड़ खोदने में लगे है। पर यह आन्दोलन इस समय रक्तबीज का वंशज बना हुआ है और ज्यों-त्यो [ज्यों-ज्यो] इसे दबाने और नष्ट करने की चेष्टा की जाती है, त्यों-त्यों यह अधिक फैलता तथा बढता जाता है, और संसार के श्रमजीवियों—गरीबों को, जिनकी संख्या मोटी तोंदवालों से बहुत अधिक है, और जो दिन-रात पिसते रहने पर भी भरपेट भोजन नही पाते, अधिकाधिक अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है। यही कारण है कि आज बड़े-बड़े राजा, महाराजा, सम्राट् और करोड़पति तथा अरबपति इसके नाम से दहलाते हैं और समस्त संसार में इसके कारण हलचल और उथल-पुथल मची हुई है।"

सत्यभक्त ने यह सब तटस्थ भाव मे नही, श्रमिक जनता का पक्ष लेते हुए लिखा है। साम्यवादी आन्दोलन श्रमिक जनता की मुक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है, इसे दबाने और बदनाम करने का जितना ही प्रयत्न किया जाता है, उतना ही नयी शक्ति से वह आगे बढता है, यह विचार बड़ी स्पष्टता से यहाँ प्रतिपादित है। सत्यभक्त अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के विरुद्ध होकर ऐसा

अनेक सिद्धान्तों का परिचय देते समय उन्होंने समकालीन कम्युनिस्ट आन्दोलन का समर्थन भी किया है। लेनिन ब्राऊस का हवाला देते समय लिखा है कि क्रान्ति के बाद पुरानी व्यवस्था के ढाँचे का गायब होना शुरू होता है। "अगर मेहनतपेशा लोग राज्य पाने के बाद पुरानी हुकूमत (शासन मशीनरी) को ज्यों का त्यों रहने दें तो उनको धोखा खाना पड़ेगा।" क्रान्ति की आवश्यकता पर बल देते हैं। इसके बारे में कम्युनिस्टों की राय देते हुए कहते हैं कि धनवान लोग शान्ति से अपनी हुकूमत नहीं छोड़ेंगे। यहाँ भी एक बार ये दूसरे पक्ष के हाथ में हुकूमत थी तो वे युद्ध और बलवे हुए थे। "इसलिए यह प्रकट है कि मेहनतपेशा दल धनवानों के दल के हाथ से दुनिया की बागडोर लेना चाहता है तो हुकूमत का दबदबा भी जोर देना पड़ेगा।"

सत्यभक्त ने मार्क्स द्वारा स्थापित इन्टरनेशनल का परिचय दिया, फिर बोल्शेविक क्रान्ति और तीसरे इन्टरनेशनल का ब्योरा दिया। १९२० में इस इन्टरनेशनल ने जो घोषणापत्र निकाला, सत्यभक्त ने उसका लम्बा उद्धरण दिया। घोषणापत्र में कहा गया था, पहले बहुत से समाजवादी ये ख्याल किया करते थे कि पूँजीवाद को नष्ट किये बिना ही संसार में शान्ति और सुख फैलाने की कोशिश की जाय। पर अब वे अपनी भूल समझ गये हैं। मजदूरों का मजबूत संगठन ही संसार को युद्ध के विनाश से बचा सकता है।

कम्युनिस्टों पर दोष लगाया जाता है कि वे क्रान्ति कराके सभी देशों के मालिक बनना चाहते हैं। इस प्रश्न का जवाब देते हुए इस निबन्ध में कहा गया है कि कम्युनिस्ट लोग तो आजकल संसार में मची हुई मार-काट को जल्दी से खतम करने के लिए ये सब कोशिशें कर रहे हैं। जब तक मेहनत पेशावाले लोगों की हुकूमत कायम नहीं होगी और धनवान दलवालों (पूंजीवादियों) को नहीं दबाया जायेगा तब तक यह लड़ाई झगड़े सैकड़ों वर्षों में भी खतम नहीं होंगे। इसका फल यह होगा कि बार-बार महायुद्ध होंगे; पेट डालकर लोगों को भूखा मारा जायेगा; अकाल और रोग फैलेंगे; आपस में बैर-भाव बढ़ेगा और अन्त में तमाम सभ्यता का नाश हो जायेगा।" पूंजीवाद के नकली प्रजातन्त्र "धनवानों की निरंकुश हुकूमत को ढँकने का एक पर्दा है।" कम्युनिस्टों का कर्तव्य है कि मेहनत करनेवालों को संगठित करें, लक्ष्य तक पहुँचने का रास्ता दिखायें, सिद्धान्तों की पूरी पाबन्दी करें और "अपने दल के नियमों को खूब कड़ा बनावें।"

'श्रमजीवियों को सन्देश' में भारत के श्रमजीवियों से कहा गया है कि "वे अपने ऊपर होनेवाले मालदार और जमींदार लोगों के अन्यायों को समझें और उनसे बचने के लिए अपना संगठन करें।" पुस्तक के अन्त में कुछ दिलचस्प सवाल-जवाब हैं। आखिरी प्रश्न भारत के बारे में है। क्या हिन्दुस्तान में बोलशेविज़्म की सब बातों को चलाना अच्छा है? सत्यभक्त का उत्तर है: "कम्युनिज़्म या साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य तो गरीबों पर होनेवाले अन्यायों को दूर करना और सब लोगों को उनके असली हक दिलाना है। इस उद्देश्य को पूरा करने की कोशिश वे लोग जरूर करेंगे, पर जिस देश की हालत जैसी होगी, उसके मुताबिक रास्ते से ही काम किया जायेगा।"

सन् २०-२४ के दिनों में सत्यभक्त न बोलशेविज़्म से दूर भागने की कोशिश

कर रहे थे, न कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल का विरोध कर रहे थे। इस सिलसिले में उनका जो दृष्टिकोण दिसम्बर १९२५ के लेखों में दिखायी देता है, वही बाद के लेखों में है। इन लेखों में कहीं यह आभास नहीं मिलता कि वह अंग्रेजी संविधान के अन्तर्गत चुनाव लड़कर कौंसिलों में प्रवेश करके सत्ता पर अधिकार करने की बात सोच रहे थे। समाज को बदलने के लिए क्रान्ति जरूरी है और क्रान्ति के बाद पुरानी राज्यसत्ता का ढाँचा तोड़ना जरूरी है, ये बातें उन्होंने स्पष्ट कही थीं। मजदूरों को अपनी मुक्ति के लिए संगठित होना पड़ेगा, इसके लिए क्रान्तिकारियों को कम्युनिस्ट पार्टी बनानी चाहिए और उसके नियमों का कड़ाई से पालन करना चाहिए, यह भी उन्होंने लिखा था। ऐसे लोगों से सहयोग करके कम्युनिस्ट पार्टी अवश्य ही अपने आन्दोलन को मजबूत बना सकती थी।

२ ऐम. ऐन. राय की कम्युनिस्ट पार्टी और मुज़फ़्फ़र अहमद

कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन में मुज़फ़्फ़र अहमद भी थे। उनका कार्यक्षेत्र बंगाल था किन्तु सम्मेलन के समय वह अलमोड़ा में थे। पहले सरकार ने उन्हें पकड़कर जेल में डाल दिया, फिर बीमारी के कारण उन्हें छोड़ दिया। छूटने पर वह अन्य कम्युनिस्टों से इसलिए न मिले कि वे लोग शक करेंगे कि सज़ा पूरी होने से पहले ही सरकार ने इन्हें छोड़ क्यों दिया। वह अलमोड़ा में हैं, यह बात काफी लोग जानते रहे होंगे, तभी सत्यभक्त ने उन्हें कानपुर सम्मेलन में शामिल होने के लिए निमन्त्रण भेजा था। मुज़फ़्फ़र अहमद भी कम्युनिस्टों के गैरकानूनी और गुप्त संगठन के पक्षपाती थे। सत्यभक्त से उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह सरकारी जानकारी में अवश्य रहा होगा। इसके सिवा सत्यभक्त ने उन्हें खर्च के लिए जो तीस रुपये भेजे थे, वे भी मनीआर्डर के ज़रिये ही भेजे होंगे। मुज़फ़्फ़र अहमद ने अपने संस्मरणों की एक किताब लिखी है—**माइसेल्फ ऐण्ड द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया** (कलकत्ता, १९७०)। इसमें उन्होंने कानपुर सम्मेलन का रोचक वर्णन किया है।

कानपुर सम्मेलन के बारे में उन्होंने लिखा है, यह सम्मेलन बिल्कुल बचकाना काम था। वहाँ तरह-तरह के लोग थे; पता ही न चलता था कि वे कौन हैं। (पृष्ठ ४११)। यह सम्मेलन एक लज्जाजनक काण्ड था। सत्यभक्त ने एक प्रहसन (फ़ार्स) का मंचन किया था। (पृष्ठ ४१३)। सत्यभक्त के बारे में लिखा है कि २६ दिसम्बर को सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था, उस दिन सत्यभक्त कहीं दिखायी न दिये। (पृ. ४११)। मुज़फ़्फ़र अहमद ने सत्यभक्त को साल भर पहले कानपुर षड्यन्त्र के मुकदमे के दौरान देखा था। उस [illegible] यूरोपियन पोशाक में थे, सिर पर साफा था। मुज़फ़्फ़र अहमद क[illegible] की पवित्र चुटिया को छिपाने [illegible] साफा बाँ[illegible] (पृ. ३४१)। कानपुर षड्यन्त्र में पहले [illegible] भी था [illegible] में मुज़फ़्फ़र अहमद का कहना है, य[illegible] होता [illegible] कानपुर मुकदमे की सूची में होगा [illegible] का विचार न करते। वह [illegible]

है। अब यह अलग बात है कि उन्हे प्रेरणा किसी अन्य स्रोत से मिली होगी। (पृ. ४०७)। यह बड़े सन्तोष की बात है कि उस समय के कम्युनिस्ट सत्यभक्त के विचारों का समर्थन न करते थे। सम्मेलन समाप्त होने से पहले ही वह उसे छोड़कर चले गये। सम्मेलन सम्बन्धी कागज-पत्र, सदस्यों की सूची आदि उन्होने नही दी। उन्होने राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी बनाने की कोशिश की। उसके बारे मे अखबारों में लिखा किन्तु सफल नही हुए। उन्होंने जिस कम्युनिस्ट पार्टी की घोषणा की थी, उसमें कम्युनिस्ट विचारधारा का लेशमात्र नही था। सम्मेलन में शामिल होने के लिए उनका पत्र मिला था और उन्होंने तीस रुपये भी भेजे थे। (पृ. ४०८)।

मुज़फ़्फ़र अहमद सत्यभक्त को पहले देख चुके थे। यूरोपियन पोशाक के ऊपर चोटी छिपाने के लिए पहना हुआ साफा उन्हें हास्यास्पद लगा था। इस पर भी वह कानपुर सम्मेलन में शामिल हुए, यह उनकी उदारता ही थी। यद्यपि सत्यभक्त स्वयं हास्यास्पद थे किन्तु उन्होने बहुत से अभिनेताओं को इकट्ठा करके एक प्रहसन का मंचन किया। लज्जाजनक काण्ड से वह स्वयं तो अलग हो गये किन्तु नाट्यशाला मे अभिनेताओं को छोड गये। नाटक के अन्त मे कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यसमिति बनी। मुज़फ़्फ़र अहमद कहते है, "हममे से कुछ लोगों ने कानपुर में एक कमेटी बनायी, कहना चाहिए, कमेटी बनाने के लिए हम मजबूर हुए। सत्यभक्त ने कम्युनिस्ट पार्टी का नाम कलकित किया। यदि उन्होने इस प्रहसन का आयोजन न किया होता तो कम्युनिस्ट पार्टी भूमिगत संगठन बनी रहती और डांगे शायद उसमें शामिल न होते।" (पृष्ठ ४१२)। जब क्रान्तिकारियों को किसी प्रहसन के अन्त मे 'मजबूर' होकर किसी कमेटी में शामिल होना पड़े, तो मानना चाहिए कि वे क्रान्तिकारी नेता होने के बदले किसी प्रहसन के अभिनेता होने के ही अधिक योग्य है।

सत्यभक्त २६ दिसम्बर के अधिवेशन मे कही दिखायी न दे रहे थे, फिर भी सम्मेलन की कार्रवाई के सब कागज-पत्र उन्ही के पास थे। कार्रवाई की रिपोर्ट कौन लिख रहा था? या तो सत्यभक्त सम्मेलन से बाहर बैठे उसकी कार्रवाई लिख रहे थे या मुज़फ़्फ़र अहमद के साथियों मे किसी ने कार्रवाई लिखने का कष्ट न किया और सम्मेलन के कागज-पत्र माँगने सत्यभक्त के पास पहुँचे।

सम्मेलन मे कौन-कौन आता-जाता रहा, इसका पता न था। इस बात को यों समझना चाहिए कि सबके बारे में मुज़फ़्फ़र अहमद को मालूम न था किन्तु कुछ लोगों को वह जानते थे और उसके नाम भी उन्हें याद रहे। घाटे, जोगलेकर, निम्बकर बम्बई से आये थे, कृष्णस्वामी आयंगार मद्रास से आये थे। शमसुद्दीन हसन लाहौर से आये थे। बीकानेर से जानकीप्रसाद बागरहट्टा और झाँसी से अयोध्या प्रसाद शामिल हुए थे। सभा की अध्यक्षता सिंगारवेलु चेट्टियर ने की थी और वह भी मद्रास से आये थे। ये सब लोग सत्यभक्त के विचारों का समर्थन न करते थे, फिर भी उनकी उदारता देखिये, उन्होंने सत्यभक्त को पार्टी की केन्द्रीय कार्यकारिणी का सदस्य चुना और २८ दिसम्बर को उसकी बैठक मे सत्यभक्त मौजूद भी थे। सत्यभक्त ने कम्युनिस्ट सम्मेलन के बारे में जिन लोगों को चकमा दिया, उनमें ब्रिटेन मे काम करनेवाले भारतीय कम्युनिस्ट सकलातवाला भी थे। उन्होंने किसी से पूछताछ

रहे थे, न कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल का विरोध कर रहे थे। इस सिलसिले मे
का जो दृष्टिकोण दिसम्बर १९२५ के लेखो मे दिखायी देता है, वही बाद के
ी मे है। इन लेखो से कही यह आभास नही मिलता कि वह अंग्रेजी संविधान
अन्तर्गत चुनाव लड़कर कौंसिलों मे प्रवेश करके सत्ता पर अधिकार करने की
त सोच रहे थे। समाज को बदलने के लिए क्रान्ति जरूरी है और क्रान्ति के बाद
रानी राज्यसत्ता का ढाँचा तोड़ना जरूरी है, ये बातें उन्होंने स्पष्ट कही थी।
जदूरों को अपनी मुक्ति के लिए संगठित होना पड़ेगा, इसके लिए क्रान्तिकारियों
को कम्युनिस्ट पार्टी बनानी चाहिए और उसके नियमो का कड़ाई से पालन करना
चाहिए, यह भी उन्होंने लिखा था। ऐसे लोगो से सहयोग करके कम्युनिस्ट पार्टी
अवश्य ही अपने आन्दोलन को मजबूत बना सकती थी।

२. ऐम. ऐन. राय की कम्युनिस्ट पार्टी और मुजफ़्फ़र अहमद

कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन मे मुजफ़्फ़र अहमद भी थे। उनका कार्यक्षेत्र बंगाल
था किन्तु सम्मेलन के समय वह अल्मोड़ा मे थे। पहले सरकार ने उन्हें पकड़कर
जेल मे डाल दिया, फिर बीमारी के कारण उन्हे छोड़ दिया। छूटने पर वह अन्य
कम्युनिस्टों से इसलिए न मिले कि वे लोग शक करेंगे कि सजा पूरी होने से पहले
ही सरकार ने इन्हे छोड़ क्यों दिया। वह अल्मोड़ा मे हैं, यह बात काफी लोग
जानते रहे होंगे, तभी सत्यभक्त ने उन्हे कानपुर सम्मेलन में शामिल होने के लिए
निमन्त्रण भेजा था। मुजफ़्फ़र अहमद भी कम्युनिस्टों के गैरकानूनी और गुप्त
संगठन के पक्षपाती थे। सत्यभक्त से उनका जो पत्र-व्यवहार हुआ, वह सरकारी
जानकारी में अवश्य रहा होगा। इसके सिवा सत्यभक्त ने उन्हे खर्च के लिए जो
तीस रुपये भेजे थे, वे भी मनीआर्डर के ज़रिये ही भेजे होंगे। मुजफ़्फ़र अहमद ने
अपने संस्मरणों की एक किताब लिखी है—**माइसेल्फ ऐण्ड द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया** (कलकत्ता, १९७०)। इसमे उन्होंने कानपुर सम्मेलन का रोचक
वर्णन किया है।

कानपुर सम्मेलन के बारे मे उन्होंने लिखा है, यह सम्मेलन बिल्कुल बचकाना
काम था। वहाँ तरह-तरह के लोग थे; पता ही न चलता था कि वे कौन हैं।
(पृष्ठ ४११)। यह सम्मेलन एक लज्जाजनक काण्ड था। सत्यभक्त ने एक प्रहसन
(फार्स) का मंचन किया था। (पृष्ठ ४१३)। सत्यभक्त के बारे मे लिखा है कि
२६ दिसम्बर को सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था, उस दिन सत्यभक्त कहीं
दिखायी न दिये। (पृ. ४११)। मुजफ्फर अहमद ने सत्यभक्त को साल भर पहले
कानपुर षड्यन्त्र के मुकदमे के दौरान देखा था। उस समय वह यूरोपियन पोशाक
में थे, सिर पर साफा था। मुजफ़्फ़र अहमद का विचार है कि शायद सिर की
पवित्र चुटिया को छिपाने के लिए उन्होंने साफ़ा बाँध रखा था। (पृ. ३४१
कानपुर षड्यन्त्र मे पहले सत्यभक्त का नाम भी था। इस सिलसिले में मुजफ़्फ़र
अहमद का कहना है, यदि सत्यभक्त को मालूम होता कि उनका नाम का
मुकदमे की सूची मे होगा, तो वह कभी भी अपनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ब
का विचार न करते। वह भारी कायर थे और यह बात उनके लेखों से पुष्ट

भारत मे अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद

है। अब यह अलग बात है कि उन्हें प्रेरणा किसी अन्य स्रोत से मिली होगी। (पृ. ४०७)। यह बड़े सन्तोष की बात है कि उस समय के कम्युनिस्ट सत्यभक्त के विचारों का समर्थन न करते थे। सम्मेलन समाप्त होने से पहले ही वह उसे छोड़कर चले गये। सम्मेलन सम्बन्धी कागज-पत्र, सदस्यों की सूची आदि उन्होंने नहीं दी। उन्होंने राष्ट्रीय कम्युनिस्ट पार्टी बनाने की कोशिश की। उसके बारे में अखबारों में लिखा किन्तु सफल नहीं हुए। उन्होंने जिस कम्युनिस्ट पार्टी की घोषणा की थी, उसमें कम्युनिस्ट विचारधारा का लेशमात्र नहीं था। सम्मेलन में शामिल होने के लिए उनका पत्र मिला था और उन्होंने तीस रुपये भी भेजे थे। (पृ. ४०८)।

मुजफ्फर अहमद सत्यभक्त को पहले देख चुके थे। यूरोपियन पोशाक के ऊपर चोटी छिपाने के लिए पहना हुआ साफा उन्हें हास्यास्पद लगा था। इस पर भी वह कानपुर सम्मेलन में शामिल हुए, यह उनकी उदारता ही थी। यद्यपि सत्यभक्त स्वयं हास्यास्पद थे किन्तु उन्होंने बहुत से अभिनेताओं को इकट्ठा करके एक प्रहसन का मंचन किया। लज्जाजनक काण्ड से वह स्वयं तो अलग हो गये किन्तु नाट्यशाला में अभिनेताओं को छोड़ गये। नाटक के अन्त में कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यसमिति बनी। मुजफ्फर अहमद कहते हैं, "हममें से कुछ लोगों ने कानपुर में एक कमेटी बनायी, कहना चाहिए, कमेटी बनाने के लिए हम मजबूर हुए। सत्यभक्त ने कम्युनिस्ट पार्टी का नाम कलंकित किया। यदि उन्होंने इस प्रहसन का आयोजन न किया होता तो कम्युनिस्ट पार्टी भूमिगत संगठन बनी रहती और डांगे शायद उसमें शामिल न होते।" (पृष्ठ ४१२)। जब क्रान्तिकारियों को किसी प्रहसन के अन्त में 'मजबूर' होकर किसी कमेटी में शामिल होना पड़े, तो मानना चाहिए कि वे क्रान्तिकारी नेता होने के बदले किसी प्रहसन के अभिनेता होने के ही अधिक योग्य हैं।

सत्यभक्त २६ दिसम्बर के अधिवेशन में कहीं दिखायी न दे रहे थे, फिर भी सम्मेलन की कार्रवाई के सब कागज-पत्र उन्हीं के पास थे। कार्रवाई की रिपोर्ट कौन लिख रहा था? या तो सत्यभक्त सम्मेलन से बाहर बैठे उसकी कार्रवाई लिख रहे थे या मुजफ्फर अहमद के साथियों में किसी ने कार्रवाई लिखने का कष्ट न किया और सम्मेलन के कागज-पत्र माँगने सत्यभक्त के पास पहुँचे।

सम्मेलन में कौन-कौन आता-जाता रहा, इसका पता न था। इस बात को य
समझना चाहिए कि सबके बारे में मुजफ्फर अहमद को मालूम न था किन्तु कु
लोगों को वह जानते थे और उनके नाम भी उन्हें याद रहे। घाटे, जोगलेकर, निम्बक
बम्बई से आये थे, कृष्णस्वामी आयंगार मद्रास से आये थे। शमसुद्दीन हसन ला
से आये थे। बीकानेर से जानकीप्रसाद बागरहट्टा और झाँसी से अयोध्या प्र
शामिल हुए थे। सभा की अध्यक्षता सिंगारवेलु चेट्टियर ने की थी और वह भी म
से आये थे। ये सब लोग सत्यभक्त के विचारों का समर्थन न करते थे, फिर भी उ
उदारता देखिये, उन्होंने सत्यभक्त को पार्टी की केन्द्रीय कार्यकारिणी का स
चुना और २८ दिसम्बर की उसकी बैठक में सत्यभक्त मौजूद भी थे। सत्यभ
कम्युनिस्ट सम्मेलन के बारे में जिन लोगों को चकमा दिया, उनमें ब्रिटेन में
करनेवाले भारतीय कम्युनिस्ट सकलातवाला भी थे। उन्होंने किसी से पू

किये बिना सम्मेलन में आना स्वीकार कर लिया। किन्तु ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी ने उनसे कहा, पता नही यह किन लोगों की कम्युनिस्ट पार्टी है, इसकी अध्यक्षता मत करना। (पृ. ४११)। सकलातवाला ने अध्यक्षता न की पर सम्मेलन की सफलता के लिए शुभकामना सन्देश तो भेजा ही। सिंगारवेलु के लिए मुज़फ़्फ़र अहमद ने लिखा है कि वह अन्तर्राष्ट्रीयता के घोर विरोधी थे किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय स्रोतों से द्रव्य के रूप से सहायता पाने के प्रति उनकी आस्था थी। कानपुर के कम्युनिस्ट षड्यन्त्रवाले मुकदमे के बाद उन्होंने ज़बर्दस्त कायरता का परिचय दिया। जानकीप्रसाद बागरहट्टा के लिए लिखा है कि वह अंग्रेज़ी फर्राटे से बोलते थे और बहुत चतुर आदमी थे। वह और घाटे पार्टी के सचिव चुने गये थे। अधिकारी द्वारा संकलित विवरण के अनुसार संयुक्त प्रान्त में पार्टी कार्य के संचालन के लिए सत्यभक्त को सचिव नियुक्त किया गया था।

दिल्ली से जानकीप्रसाद और मुज़फ़्फ़र अहमद साथ-साथ बम्बई गये। उन्होंने मुज़फ़्फ़र अहमद को बताया कि उन्होंने एक वेश्या से रुपये लिये थे और बताया था कि जब-तब गाना सुनने वह ऐसी जगह जाते हैं। उन्होने यह भी बताया कि वह गुप्तचर विभाग के निदेशक डेविड पेट्री से मिल चुके हैं। यह सब 'जान' लेने के बाद मुज़फ़्फ़र अहमद को 'शक' हुआ कि जानकीप्रसाद को गुप्तचर विभाग से पैसा मिलता होगा। जानकीप्रसाद लाहौर में सम्मेलन करना चाहते थे, मुज़फ़्फ़र अहमद ने भाँजी मार दी। जानकीप्रसाद को शक हुआ कि मुज़फ़्फ़र ने भाँजी मारी है और वह रोने लगे। (पृ. ४४०-४४१)।

कम्युनिस्ट पार्टी के एक सचिव का यह हाल था। दूसरे सचिव घाटे के बारे में मुज़फ़्फ़र अहमद की राय है कि वह कमजोर आदमी थे। पहले फ़ैसला किया गया था कि ३१ मई १९२७ को कम्युनिस्टों की आम बैठक होगी। मुज़फ़्फ़र अहमद ने जानकीप्रसाद से कहा था कि बैठक न करें किन्तु घाटे कमजोर आदमी होने के नाते उसमे शामिल हुए। उस बैठक में जानकीप्रसाद ने कहा, मैंने साथियों का विश्वास खो दिया है, इसलिए अब आगे किसी काम में भाग न लूंगा। इसके बाद उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी से कोई सम्पर्क न रखा। मुज़फ़्फ़र अहमद कहते हैं कि उनके बारे में हमारा सन्देह मेरठ के मुकदमे के दौरान पुष्ट हुआ (पृ. ४४१)। यानी वह अंग्रेज़ों के जासूस सिद्ध हुए। जानकीप्रसाद मानवेन्द्रनाथ राय के परम विश्वास पात्र थे।

जो लोग सत्यभक्त के विचारो से सहमत नही थे, उनकी एक मिसाल जानकीप्रसाद बागरहट्टा थे। इनसे भिन्न जो लोग सहमत थे, उनमे राधामोहन गोकुलजी को अवश्य गिना जायेगा। वह सन् १९२५ से पहले और उसके बाद भी सत्यभक्त के साथ मिलकर काम करते रहे थे। इनके बारे मे मुज़फ़्फ़र अहमद ने लिखा है, वह हिन्दी साहित्य सम्मेलन के नेता थे और हिन्दी लेखकों मे उनका सम्मान था। वह नेपाल हो आये थे और देश से निर्वासित राजा महेन्द्र प्रताप से मिल चुके थे। "उनके क्रान्तिकारी होने का यह भी एक प्रमाण था।" (पृ. ४१०)। मुज़फ़्फ़र अहमद ने सत्यभक्त के लिए लिखा कि उनकी कायरता उनके लेखों से पुष्ट होती है किन्तु किसी लेख का हवाला नही दिया। राधामोहन गोकुलजी ने साम्यवाद के

बारे में कहीं कुछ लिखा, मुज़फ़्फ़र अहमद ने इसकी जानकारी नहीं दी। कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यकारिणी ने २८ दिसम्बर वाली बैठक में मुज़फ़्फ़र अहमद के साथ कलकत्ते में पार्टी कार्य-संचालन के लिए राधामोहन गोकुलजी को भी सचिव नियुक्त किया था। हसरत मोहानी के लिए लिखा है कि उनका भाषण प्रतिक्रियावादी था और उसमें सत्यभक्त के विचार प्रतिबिम्बित थे। (पृ. ४०८)। यदि इस बात को डा. अधिकारी के कथन से मिलाकर पढ़ें कि हसरत मोहानी इस्लाम को सच्चा कम्युनिज़्म साबित कर रहे थे, तो कहना होगा कि सत्यभक्त अपने चुटियाप्रेम के बावजूद मौलाना के माध्यम से इस्लाम का प्रचार कर रहे थे। किन्तु स्वयं ऐम. ऐन. राय की धारणा, कम-से-कम १९२२ में, हसरत मोहानी के प्रति मुज़फ़्फ़र अहमद के उक्त दृष्टिकोण से बिलकुल भिन्न थी। अहमदाबाद कांग्रेस में हसरत मोहानी ने पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पेश किया था। उस सन्दर्भ में राय ने बर्लिन से प्रकाशित 'इम्प्रेकोर' ('इण्टरनैशनल प्रेस करेस्पौण्डेंस') में लिखा था : "हसरत मोहानी बड़े प्रभावशाली नेता थे। उन्होंने भारत की पूर्ण स्वाधीनता तथा प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए कांग्रेस में प्रस्ताव पेश किया था। वे जिस तरह के तरीके अपनाना चाहते थे, वे ब्रिटिश सैन्यदल से नियमित युद्ध (regular warfare) के थे। बहुत से प्रमुख समझदार लोग पकड़े जा चुके थे, इसलिए वे कांग्रेस में शामिल न हो सके थे। इसके बावजूद काफी प्रतिनिधियों ने मोहानी का समर्थन किया। प्रस्ताव पास न हुआ, इसका यह मतलब नहीं है कि भारतीय जनता अंग्रेजों से युद्धक्षेत्र में लड़ने से झिझकती है। उससे केवल यह साबित होता है कि योजना को पक्का करने के लिए थोड़ा समय और चाहिए। मोहानी उन क्रान्तिकारियों की धारणा व्यक्त कर रहे थे जिन्हें यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक बलपूर्वक अंग्रेजों को निकाला न जायगा तब तक वे भारत की धरती से विदा न होंगे।" (इम्प्रेकोर का यह लेख अधिकारी सम्पादित दस्तावेजों के पहले खण्ड में है। राय ने श्रमेन्द्र कर्मन के छद्मनाम से वह लेख लिखा था।) हसरत मोहानी भारतीय क्रान्तिकारियों के प्रतिनिधि थे; वह उचित ही प्रथम कम्युनिस्ट सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे।

राधामोहन गोकुलजी, सत्यभक्त और कानपुर के अनेक क्रान्तिकारियों से सहयोग करनेवाले प्रमुख कांग्रेसी नेता और हिन्दी पत्रकार गणेशशंकर विद्यार्थी थे। घाटे ने लिखा था कि कम्युनिस्ट सम्मेलन के लिए विद्यार्थीजी ने शुभकामना प्रकट की थी। मुज़फ़्फ़र अहमद ने इस पर नाराज होकर लिखा है, वह कांग्रेस अधिवेशन में स्वागत समिति के मन्त्री थे। कांग्रेस अधिवेशन के लिए बहुत-सी जमीन पर व्यवस्था की गयी थी। वहीं कम्युनिस्ट सम्मेलन के लिए विद्यार्थीजी ने जमीन क्यों न दे दी? (पृ. ४११)। विद्यार्थीजी ने जमीन इसलिए न दी होगी कि वह मन से कम्युनिस्ट सम्मेलन की असफलता चाहते रहे होंगे। आश्चर्य की बात यह है कि कानपुर में जब ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, तब उसमें मुज़फ़्फ़र अहमद शामिल हुए और गणेशशंकर विद्यार्थी ने ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नेताओं को प्रताप-कार्यालय में आमन्त्रित किया तो आमन्त्रितों में मुज़फ़्फ़र अहमद भी थे। विद्यार्थीजी को कम्युनिस्टों से सहानुभूति नहीं है, यह माननेवाले मुज़फ़्फ़र

अहमद प्रताप-कार्यालय चले गये, यह बहुत बड़ी बात है। वहाँ वामपन्थी मजदूर सभाइयों की अनौपचारिक बैठक हुई। मुज़फ़्फ़र अहमद के साथ डांगे भी थे। डांगे के बारे में उनका विचार है, "सत्यभक्त की तरह डांगे भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के हिमायती थे।" (पृ. ४१६) यानी अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति डांगे को भी आस्था नहीं थी। 'प्रताप'-कार्यालय में सब लोगों का फोटो खींचा गया। फोटो में डांगे कुर्सी पर बैठे हैं और मुज़फ़्फ़र अहमद अपनी यूरोपियन पोशाक में पीछे खड़े हैं। लज्जा की बात है ना ? और गणेशशंकर विद्यार्थी ? वह कुर्सियों पर बैठे हुए लोगों के चरणों में जमीन पर बैठे हैं। यह फोटो अधिकारी-सम्पादित दस्तावेजों के खण्ड ३ बी में दिया हुआ है।

मुज़फ़्फ़र अहमद ने अपना संस्मरण ग्रन्थ क्यों लिखा, इसका कारण उन्होंने आरम्भ में ही बता दिया है। संस्मरण लिखने का उद्देश्य यह बताना है कि "भारत में *कम्युनिस्ट पार्टी बनाने का काम मैंने कैसे अपने हाथ में लिया।*" (पृष्ठ १)। इस घोषणा से विश्वास हो जाता है कि उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट पार्टी जरूर बनायी होगी किन्तु जिस कम्युनिस्ट पार्टी को वह बार-बार भारत की असली और मूल कम्युनिस्ट पार्टी कहते हैं, वह भारत से बाहर बनी थी और उसके बनने से मुज़फ़्फ़र अहमद का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। असली कम्युनिस्ट पार्टी के जन्मदाताओं के बारे में उन्होंने लिखा है, हममें जो लोग भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक-सदस्य कहलाते हैं, वे ऐसा दावा किसी पुष्ट आधार पर नहीं कर सकते। पार्टी के असली संस्थापक वे लोग थे जिन्होंने सन् २०-२१ में ताशकन्द और मास्को में पार्टी सदस्यता ग्रहण की। (पृष्ठ ६५)। ऐसी पार्टी के बन जाने के बाद वह कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन में शामिल हुए, यह आश्चर्य की बात है। कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन से सम्बद्ध व्यक्तियों पर मुज़फ़्फ़र अहमद ने अन्तर्राष्ट्रीयता विरोधी होने का आरोप लगाया है। इससे आशा की जा सकती है कि जब स्वयं मुज़फ़्फ़र अहमद कम्युनिस्ट आन्दोलन में शामिल हुए, तब उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीयता का ध्यान खूब रखा होगा। किन्तु उन्होंने लिखा है, सन् २६ में कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को सम्बद्ध करने के लिए कोई आवेदनपत्र न भेजा गया था। इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है, "*यदि हम चाहते तो हम अपनी पार्टी को कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्ध मान सकते थे लेकिन उस समय यह विचार हमारे दिमाग में आया नहीं।*" (पृष्ठ ६५)। यदि ताशकन्द में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी जन्म ले चुकी थी, तो भारत के भीतर जो भी कम्युनिस्ट पार्टी बनती, वह या तो उसकी शाखा होती, या स्वतन्त्र होती। किन्तु यहाँ ऐसी स्थिति थी कि न वह सम्बद्ध शाखा थी और न स्वतन्त्र थी। यदि मुज़फ़्फ़र अहमद जैसे व्यक्ति के दिमाग में यह बात नहीं आयी कि वह अपनी पार्टी को कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से सम्बद्ध मानें, तो इससे साबित यह होगा कि उस समय उनके मन में अन्तर्राष्ट्रीयता को लेकर कोई विशेष आग्रह नहीं था; दिसम्बर १६२५ के कम्युनिस्ट सम्मेलन का विवरण देते हुए उन्होंने जो अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए आग्रह दिखाया है, वह बाद की कल्पना है; १६२५ में इस अन्तर्राष्ट्रीयता को लेकर कोई विशेष संघर्ष नहीं हुआ। सन् २६ की जिस पार्टी का वह जिक्र करते हैं, वह ताश-

फन्दवाली पार्टी नहीं है, यह कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की शाखा नहीं है, यह वही पार्टी है जो कानपुर में विभिन्न कम्युनिस्ट गुटों के प्रतिनिधियों के मिलने पर बनी थी। मुज़फ़्फ़र अहमद ने ठीक लिखा है, हम संस्थापक नहीं हैं पर यह दावा कर सकते हैं कि हमने पार्टी निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त किया था। (उप.)। यह बात सही इसलिए है कि पार्टी का निर्माण भारत में हो रहा था। यदि उसका निर्माण बाहर हो चुका होता तो उसके निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करने की बात न उठती। मार्ग प्रशस्त हुआ था विभिन्न कम्युनिस्ट गुटों के नेताओं के कानपुर में एकत्र होने से। उन्हें एकत्र करने का विचार चाहे जिसके दिमाग में आया हो, उन्हें हकीकत में एकत्र किया था सत्यभक्त ने। इसलिए यदि किसी एक व्यक्ति को कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक होने का श्रेय दिया जा सकता है, तो वह सत्यभक्त हैं। यदि वह पूरे सम्मेलन में उपस्थित न रहे, यदि उन्होंने सम्मेलन के बाद एक और कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कर डाली, तो इससे पहली कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक होने का दावा खण्डित नहीं होता। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी सत्यभक्त की बतायी राह पर न चली, इससे भी संस्थापन-कार्य खण्डित नहीं हो जाता। ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना की, उनकी बनायी राह पर न तिलक चले न गांधी, इससे संस्थापन-कार्य असिद्ध नहीं होता।

नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य जब मानवेन्द्रनाथ राय बने, तब वह अनुशीलन समिति से प्राप्त पुराना चोला उतारकर नये ढंग के मार्क्सवादी नेता बन गये थे। उनके नेतृत्व का नयापन इस बात में था कि वह भारत के किसानों और मजदूरों से दूर कहीं भी, केवल अपने बुद्धिबल से, कम्युनिस्ट पार्टी को जन्म दे सकते थे। मेक्सिको में उनका परिचय रूसी क्रान्तिकारी बोरोदिन से हुआ। बोरोदिन से उन्होंने मार्क्सवाद का ज्ञान प्राप्त किया और तुरंत उन्होंने वहाँ मेक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना कर डाली। कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की दूसरी कांग्रेस में वह मेक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि की हैसियत से शामिल हुए। (पृष्ठ ३२)। आगे मुज़फ़्फ़र अहमद बताते हैं कि बोरोदिन ने राय को समझा दिया था कि कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल में ऊँचे पदों पर केवल कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रतिनिधि नियुक्त किये जा सकते हैं। मुज़फ़्फ़र अहमद के अनुसार राय अभी केवल अपना प्रतिनिधित्व कर रहे थे। "कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की तीसरी कांग्रेस कुछ दिनों में होनेवाली थी। इसलिए राय को भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना ताशकन्द में करनी पड़ी। वरना वहाँ वह किस हैसियत से भाग लेते? वह किसका प्रतिनिधित्व करते?" (पृष्ठ ४८)।

राय मेक्सिको में एक कम्युनिस्ट पार्टी को जन्म दे चुके थे। उसके प्रतिनिधि बनकर वह कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की दूसरी कांग्रेस में शामिल हो चुके थे। अब तीसरी कांग्रेस होनेवाली थी। यदि वह पार्टी जीवित होती तो राय उसके प्रतिनिधि बने रहते। किन्तु राय को एक बार अपना प्रतिनिधि बनाकर वह पार्टी अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुकी थी। इसीलिए अब अन्यत्र दूसरी पार्टी की जरूरत हुई। मुज़फ़्फ़र अहमद ने बड़े निष्कपट भाव से लिखा है कि वह ताशकन्द में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना न करते तो किसका प्रतिनिधित्व

करते ? वास्तविक समस्या राय को प्रतिनिधि बनाने की थी; राय के सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीयता का सारतत्व यही प्रतिनिधित्व सिद्ध होता है।

१७ अक्तूबर १६२० को राय ने ताशकन्द में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की। मुजफ्फर अहमद ने (और अधिकारी ने भी) सत्यभक्त की पार्टी के नाम में कम्युनिस्ट के पहले इण्डियन शब्द पर आपत्ति की। सत्यभक्त की पार्टी इण्डियन कम्युनिस्ट पार्टी थी। उसे होना चाहिए था कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया। वैसे तो जो चीज भारत की है, वह भारतीय है; फिर भी जो अर्थ-भेद राजनीति-विशारदों ने 'इण्डियन' और 'ऑफ इण्डिया' में किया है, वह इतना सूक्ष्म है कि साधारण व्यवहार में राजनीति-विशारदों को कभी-कभी उसका ध्यान नहीं रहता। मुज़फ़्फ़र अहमद ने लिखा है कि राय ने १७ अक्तूबर १६२० को ताशकन्द मे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी बनायी। ("formed the Indian Communist *Party in Tashkent on October 17, 1920*" पृष्ठ ४६)। आगे भी उन्होंने यूरोप-स्थित भारतीय कम्युनिस्टों के गुट को अपनी पार्टी की शाखा मानकर लिखा है: भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की प्रवासी शाखा ने अपने कार्य का प्रसार जर्मनी मे किया। (पृष्ठ ६१)।

अस्तु, यह तो नाम की बात हुई; काम की बात यह है कि राय ने ताशकन्द में जो पार्टी बनायी, उसमे कुल सात सदस्य थे। इनमें एक अमरीकी महिला थी जो कुछ समय के लिए राय की पत्नी थी। एक रूसी महिला थी जो अन्य सदस्य अवनि मुकर्जी की पत्नी थी। दो महिलाओं और उनके पतियो के अलावा तीन सज्जन मुहम्मद अली, मुहम्मद शफीक और आचार्य थे। (पृष्ठ ४६)। इन सात की तुलना मे कानपुर का सम्मेलन भारतीय कम्युनिस्टो का कहीं अधिक प्रतिनिधि-सम्मेलन था, इसमें किसे सन्देह हो सकता है? जर्मनी और रूस में ऐसे काफी लोग थे जो भारतीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर चुके थे, साम्यवाद और सोवियत संघ के समर्थक थे। किन्तु राय से इनकी पटती नही थी। जिस कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना राय ने की थी, उसका सदर मुकाम राय के साथ चलता था। सन् २१ मे राय मास्को आये तो सदर मुकाम भी ताशकन्द से मास्को पहुँच गया। सन् २२ में राय बर्लिन पहुँचे, तो सदर मुकाम मास्को से बर्लिन पहुँचा। (पृष्ठ २५४)। बर्लिन में राय बड़े-बड़े होटलों में रहते थे जहाँ काफी पैसा खर्च होता था। भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन चलाने के लिए उसके नेता का यूरुप के बड़े होटलो मे ठहरना यदि आवश्यक नही तो क्षम्य अवश्य था। मुज़फ़्फ़र अहमद कहते हैं, "किन्तु उन दिनों भारत मे कम्युनिस्ट आन्दोलन के निर्माण के लिए मानवेन्द्रनाथ और उनकी पहली पत्नी एवलिन ने जो कड़ी मेहनत की, उसे हम किसी तरह भूल नहीं सकते।" (पृष्ठ २५०)। उधर बर्लिन मे राय आराम के साथ कड़ी मेहनत कर रहे थे, इधर मुज़फ़्फ़र अहमद बड़ी कठिनाई में दिन काट रहे थे। जिनके माध्यम से राय कम्युनिस्ट आन्दोलन का निर्माण कर रहे थे, उनमें मुज़फ़्फ़र अहमद प्रमुख थे। लोग उनके बारे में कहने लगे थे कि वह हमेशा पैसे माँगा करते हैं। इस बारे मे अपनी सफाई देते हुए, उन्होंने लिखा है, हमारे शत्रु यह प्रचार करते थे कि हम रूस के एजेण्ट हैं। बेशक हम कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल के एजेण्ट होना कोई शर्म की बात

न समझते थे। भारत के राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी भी लालायित रहते थे कि उन्हें कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से पैसा मिले। प्रथम महायुद्ध के दौरान उन्होंने कृतज्ञ होकर जर्मन साम्राज्य से द्रव्य स्वीकार किया था। कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की ओर से भारत में कम्युनिस्ट कार्य के लिए ऐम. ऐन. राय जिम्मेदार थे। विदेश में जो कम्युनिस्ट पार्टी स्थापित हुई थी, वह उसके नेता भी थे।

मुजफ्फर अहमद ने आगे लिखा : अतः भारत में काम के लिए हम उनसे पैसा माँगने को बाध्य थे। "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, विभाजित वफादारी जैसी चीज के कारण मुझे परेशानी नहीं थी और इसलिए मुझे यह अधिकार था कि मैं दृढ़ता-पूर्वक पैसे की माँग करूँ।" (पृष्ठ ३११)। उन्होंने इसका विवरण भी दिया है। नलिनी ने जतीन मित्र से ४००) उधार लिये थे, वह कर्ज चुकाने के लिये ३१ पाउण्ड लिये। राय को किताबें भेजनी थी, उनके लिए ३ पाउण्ड १३ शिलिंग लिये। ५० पाउण्ड अपने लिए प्राप्त किये। लिखा है : "मैं सारी दुनिया को सूचित करना चाहता हूँ कि अपने नेतृत्व के दौरान ऐम. ऐन. राय ने मुझे ५० पाउण्ड (७५० रुपये) से ज्यादा नहीं दिये।" (पृष्ठ ३६२)। इसमें से केवल दस खर्च किये, बाकी जेल जाते समय कुतुबद्दीन के पास जमा कर दिये। कानपुर मुकदमे में बैरिस्टर को पैसे दिये गये। जासूस अफसर पेट्री ने लिखा था कि ऐम. ऐन. राय हर महीने १०० रुपये देते थे। यदि इतने पैसे मिलते जाते तो तपेदिक की बीमारी न होती। पैसे के लिए बार-बार लिखा लेकिन पैसा मिला नहीं। इस पर भी वह काम करते रहे। (पृष्ठ ३१३-१४)।

अनेक कारणों से कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल में ऐम. ऐन. राय की आलोचना शुरू हो गयी थी। मुजफ्फर अहमद के अनुसार १९२७ का साल खत्म होते-होते चीन मे राय की कारवाई के कारण उनकी कड़ी आलोचना होने लगी थी। उसके बाद भारत-सम्बन्धी काम के लिए उनकी आलोचना हुई। उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट पार्टी की शक्ति और प्रभाव के बारे में जो विवरण दिये थे, वे अतिरंजित माने गये थे। इसके अलावा वह मजदूरों और किसानों की पार्टी बनाने की कोशिश कर रहे थे जो कम्युनिस्ट पार्टी के विकल्प के रूप में थी। इतनी बातें दस का हवाला देने के बाद मुजफ़्फ़र अहमद ने लिखा है, राय ने जो भी रिपोर्टें दी होंगी, उनका आधार हमारी दी हुई रिपोर्टें नहीं थी। "उन्होंने अपनी कल्पना से गढ़कर रिपोर्टें दी होंगी। यह सच है कि हम लोग एक बड़ी कम्युनिस्ट पार्टी नहीं बना पाये, यह काम हमारी सामर्थ्य से बाहर था।" (उप., पृष्ठ ४८१)। दरअसल जिस तरह काम किया जा रहा था, उस तरह काम करने से किसी मजदूर क्रान्तिकारी पार्टी का निर्माण हो ही न सकता था। जिस अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की मोहर लगाकर राष्ट्रवाद का विरोध किया गया था, उसका असली रूप यह था : ऐम. ऐन. राय हजारों मील दूर जर्मनी में [illegible] और हम लोग अलग-अलग स्थानों में बिखरे हुए थे। हम लोग एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते भी न थे। पत्रव्यवहार द्वारा सम्पर्क होता था और पुलिस को [illegible] कारवाई का पता रहता था। "किसी क्रान्तिकारी संगठन की ओर से [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन को एक विदेश द्वारा संचालित करना सम्भव नहीं [illegible] अधिकतर गुप्त हो।" (पृष्ठ ४८१)। आन्दोलन के संचालक ऐम. ऐन. राय [illegible]

में थे। वह सलाह या आदेश मास्को से प्राप्त करते थे। भारत के कम्युनिस्ट गुट अब भी बिखरे हुए थे और वे सुसंगठित पार्टी के रूप मे काम न कर रहे थे। क्रान्तिकारी पार्टी का सारा काम गुप्त रहना चाहिए, इस धारणा के कारण परस्पर सम्पर्क के लिए डाक विभाग का सहारा लिया जाता था और डाक विभाग का सारा काम सरकारी जासूसों की निगाह के सामने होता था। यदि कम्युनिस्टपार्टी गुप्त और खुले काम को मिलाकर आन्दोलन चलाती, कानूनी और गैरकानूनी दोनों तरह के संगठनों से काम लेती, तो यह स्थिति पैदा न होती। अन्तर्राष्ट्रीयता का यह अर्थ नहीं है कि आन्दोलन का संचालन बाहर से हो। विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ अपने पैरों खडी हों, एक-दूसरे से परामर्श करते हुए मिलकर काम करें, यह अधिक स्वाभाविक प्रक्रिया है। त्रोत्स्की और ऐम. ऐन. राय कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से निकाले गये, उनके साथ उनके बहुत मे अनुयायी भी निकाले गये, तब इण्टरनैशनल के काम करने के ढंग में काफी परिवर्तन हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के बारे में उसकी रणनीति मे भी परिवर्तन हुआ। इन दोनों तरह के परिवर्तनों से यह सम्भव हुआ कि कम्युनिस्टपार्टी तेजी से अपना विकास कर सके। १९२५ से १९३५ तक उसने दस साल मे जितनी प्रगति की, उससे दस गुनी प्रगति उसने १९३५ से १९४० तक पाँच साल में की। इसका कारण सही राजनीति के अलावा संगठन के नये तरीके अपनाने पर जोर भी था। यदि इस बीच कम्युनिस्ट पार्टी ने किसानो में जमकर काम किया होता, तो वह १९४१ के अपने 'सर्वहारा मार्ग' के कार्यक्रम को अवश्य अमल में लाने योग्य हो जाती। कुल मिलाकर उसकी राजनीति सही थी, समय-समय पर सुधारवादी या संकीर्णतावादी रुझान उसके काम में रुकावट डालते रहे, वह अलग बात है।

भारत की परिस्थितियो के आधार पर भारतीय क्रान्तिकारियों के भरोसे कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण न करके १९२५ में यहाँ के कम्युनिस्ट गुटों ने जो गलती की, उसका परिणाम यह हुआ कि वे ऐम. ऐन. राय जैसे अवसरवादी व्यक्ति के चंगुल में फँस गये और अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर उन्होने उसे भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को और भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन को भारी क्षति पहुँचाने दी। मुजफ्फर अहमद ने स्वीकार किया है, "ऐम. ऐन. राय ने भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन की कैसी अपार क्षति की है!" (पृ. ४८५)। यदि गलत किस्म की अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए आग्रह न किया जाता और भारतीय क्रान्तिकारियों की अपनी शक्ति का अधिक भरोसा किया जाता तो इस अपार क्षति की नौबत न आती। ऐम. ऐन. राय ने अपने चारों ओर जो अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रभामण्डल कायम किया था, उसे हटाकर उनके असली अवसरवादी स्वरूप को पहचानना और पहचानकर उसे दुनिया के सामने जाहिर करना आसान नहीं था। मुज़फ़्फ़र अहमद ने लिखा है, "मुझे आश्चर्य इस बात पर होता है कि जिस आदमी ने क्रान्ति के लिए इतने कठिन परिश्रम से स्वयं को तैयार किया था, वह कैसे उस धन को हड़प सकता था जो क्रान्ति के लिए खर्च किया जानेवाला था। भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का निर्माण करने के लिए और क्रान्ति का काम चलाते रहने के लिए मानवेन्द्रनाथ राय ने लाखों रुपये प्राप्त किये। १९२२ मे उन्होंने एक बार

१,२०,००० पाउण्ड तक प्राप्त किये थे। उस समय की विनिमय दर से यह राशि १८ लाख रुपये हुई। जब ब्रिटिश सरकार को यह सूचना मिली, तब भारत सचिव ने चौकन्ने होकर भारत सरकार को पत्र लिखा। भारत सरकार ने जवाब दिया कि भारत जैसे विशाल देश के लिए १८ लाख रुपये की धनराशि कुछ भी नहीं है और थोड़ी देर में वह सब खर्च हो जायेगी।" (पृ ४८३)। इस विवरण से प्रतीत होता है कि भारत सरकार को वास्तविक स्थिति का ज्ञान था। ऐम. ऐन. राय जिन लोगों को पैसा भेजते थे, उनकी कार्यवाही से सरकार को कोई डर न था। शायद वह समझ गयी थी कि ऐम. ऐन. राय उनके काम का आदमी है और रूस का पैसा बरबाद करता है तो इसमे हानि रूस की है, ब्रिटेन को तो लाभ है।

मुजफ़्फर अहमद आगे कहते है, ऐम ऐन. राय ने और कई बार भारी-भारी धनराशि प्राप्त की। मार्च १९२४ में उन्होंने अपनी पत्नी एवलिन को लिखा था, जो धनराशि सुलभ है, वह लगभग अथाह है। उन दिनों मुजफ्फर अहमद जेल मे थे। राय ने मुज़फ़्फ़र अहमद को एक पैसा भी न भेजा जिसे जेल के बाहरवाले साथियो तक मुजफ्फर पहुँचा देते। कम्युनिस्ट साहित्य के वितरण पर, विदेश मे कार्यकर्ताओं के रख-रखाव पर पैसा खर्च किया जाता था। राय को बर्लिन मे रहने की अनुमति नही थी, इसलिए स्विट्जरलैण्ड मे रहते थे, बर्लिन आते थे तब उन्हे ऊँचे होटलों मे ठहरना होता था जहाँ बहुत पैसा खर्च होता था। "इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए भी मुझे कहना ही पड़ता है कि पार्टी के रुपये-पैसो के मामले मे उन्होंने बेहद बेईमानी दिखायी। किसी विशाल देश के आन्दोलन का नेता यदि पैसे के मामले में बेईमान हो, तो क्या कभी भी वहाँ किसी आन्दोलन का निर्माण हो सकता है?" (पृ. ४८४)। इस तरह की बेईमानी न हो, इसके लिए ज़रूरी है कि पार्टी के भीतर जनतन्त्र हो, और पार्टी के नेता आम सदस्यों के प्रति जिम्मेदार हों, वे इन सदस्यो की निगरानी से परे न हों। मुजफ्फर अहमद ने जो प्रश्न इतने दिन बाद किया था, वह १९२५ में भी किया जा सकता था।

क्रान्तिकारियो के व्यक्तिगत चरित्र को उनके सार्वजनिक जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। राय कब और कहाँ और किस तरह कितना पैसा खर्च करते हैं, यह पार्टी अनुशासन का विषय था; वह कब कितनी स्त्रियों से सम्बन्ध तोड़ते और जोड़ते हैं, यह भी पार्टी-अनुशासन का विषय था। राय ने एवलिन ट्रेन्ट नाम की अमरीकी लडकी से विवाह किया था। सन् २५ के आस-पास वह राय को छोड़-कर अमरीका चली गयी। सन् २६ मे वह जर्मनी आयी, और उसने राय को बाकायदा तलाक दिया और अपने भरणपोषण के लिए दस हजार डालर वसूल किये। (पृ. ४८२)। यह रकम राय ने उसी धनराशि से दी होगी जो पार्टी कार्य के लिए उन्हें सुलभ थी। एवलिन के बारे मे कहा जाता था कि वह अंग्रेजों की गुप्तचर है। स्वामी विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त यह बात अक्सर मुजफ्फर अहमद से कहा करते थे। मुज़फ़्फ़र अहमद को इस बात पर विश्वास नहीं था। उन्होंने प्रश्न किया है, "वह ब्रिटिश स्त्री थी तो क्या इससे यह अनिवार्य हो जाता कि कम्युनिस्टों के प्रसंग में वह ब्रिटिश गुप्तचर भी हो?" (पृ. ४८७)। यह ...दा महिला राय के साथ उस समय थी जिस समय वह भारत में अपने

कम्युनिस्ट कार्य के बारे में मनगढ़न्त रिपोर्ट दे रहे थे; उस समय वह लाखों रुपये भारत भेज रहे थे और भारत सरकार उनके इस कार्य से चिन्तित नहीं थी। यह असम्भव है कि एवलिन को राय की असलियत का पता न हो और यह भी बहुत सम्भव है कि राय को एवलिन की असलियत का पता था।

मुजफ्फर अहमद कहते हैं, "स्त्रियों के प्रति राय का व्यवहार मैं कभी समझ नहीं सका।" (उप.)। स्त्रियों का चरित्र ही नहीं, कभी-कभी पुरुषों का चरित्र भी ज्ञानियों की समझ में नहीं आता। सन् २६ में राय की मुलाकात गाइसलर नाम की खूबसूरत जर्मन लड़की से हुई। वह उनकी बहुत घनिष्ठ मित्र बनीं। उनके मित्र उसे राय की दूसरी पत्नी जैसा मानते थे। फरवरी सन् २८ में कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की कार्य-समिति के अधिवेशन में भाग लेने के लिए राय मास्को पहुँचे। अधिवेशन के समय उनके कान में दर्द होने लगा। कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल ने उन पर कई आरोप लगाये थे। बर्लिन में राय के मित्र चिन्तित हुए "किन्तु कुमारी गाइसलर उनकी सच्ची दोस्त थीं। उन्होंने मास्को जाने की जोखिम उठायी और राय को बर्लिन ले आयीं।" (उप.)। वहाँ उनके कान का आपरेशन हुआ और वह ठीक हो गये। नवम्बर १९३० में भारत आने से पहले एक हफ्ता कुमारी गोटशाल्क के साथ बिताया। आगे चलकर वह भारत आयी और एलेन राय के नाम से विख्यात हुईं।

स्त्रियों के प्रति राय का व्यवहार, पैसे के मामले में उनकी नीति, ये सब बातें एक ही दिशा की ओर संकेत करती थीं और वह यह कि ऐम. ऐन. राय क्रान्ति के लिए नहीं क्रान्तिविरोधियों के लिए काम कर रहे थे। मुजफ्फरअहमद ने १९२२ में कम्युनिस्ट आन्दोलन में भाग लेना शुरू किया। राय से उनकी मुलाकात उस समय नहीं हुई जब राय नेता थे। प्रत्यक्ष सम्पर्क न होने पर भी वह बहुत-सी बातें जान गये थे, किन्तु उन्होंने पार्टी-अनुशासन का अर्थ यह लगाया था कि सबकुछ जानते हुए भी राय के बारे में चुप रहना चाहिए। "मैं पहले ही कह चुका हूँ कि भारत में काम के लिए कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से राय को जो पैसा मिला था, उसका काफी हिस्सा वह हड़प चुके थे। यद्यपि हम कम्युनिस्ट यह बात जानते थे, किन्तु सार्वजनिक रूप से हमने कभी इसे प्रकट नहीं किया; हमारे ओंठ सी दिये गये थे। किन्तु राय पैसा हड़पते हैं, विदेश में उनके विरोधियों ने इस बात का मौखिक रूप से खूब प्रचार कर दिया था।" (पृ. ४८८)। जब जर्मन लड़की गोटशाल्क १९३७ में राय से आकर मिली तब इन लोगों ने कहना शुरू किया: बेईमानी का पैसा राय के लिए वह लायी थी। ऐसी हालत में कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल ने राय को यदि निकाल दिया तो उसने भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन की बहुत बड़ी सेवा की। १९२७ में राय जब चीन से लौटे, तब उनके विरुद्ध ढेरों आरोप थे। "इनमें प्रत्येक आरोप गम्भीर था और सही भी था।" उनके निकाले जाने की घोषणा ३ दिसम्बर १९२९ को की गयी। (पृ. ४९०)।

अक्तूबर १९२० से लेकर दिसम्बर १९२९ तक, ताशकन्द में कम्युनिस्ट पार्टी के निर्माण से लेकर कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल से राय के निकाले जाने तक, अन्तर्राष्ट्रीयता का यह दौर पूरा हुआ।

राय ने ताशकन्द में जो पार्टी बनायी थी, उसके अध्यक्ष ऐ म. पी. आचार्य थे। उन्होंने राय का वास्तविक रूप बहुत पहले पहचान लिया था। कानपुर के कम्युनिस्ट सम्मेलन में राय को काफी परेशानी हुई और उन्होंने सत्यभक्त के खिलाफ यूरुप में (!) प्रचार आरम्भ किया। १९२६ में राय के इस कार्य की सूचना ऐम. पी. आचार्य ने सत्यभक्त को दी। इस पर सत्यभक्त ने राय के विरुद्ध एक पर्चा छापा। राय जितना सत्यभक्त से नाराज थे, उतना ही ऐम. पी. आचार्य से थे। अगस्त १९२६ में उन्होंने सत्यभक्त की आलोचना करते हुए मासेज पत्रिका के लिए जो लेख लिखा, उसमें उन्होंने आचार्य की भी खबर ली। आचार्य का कहना था कि उन्होंने रूस और जर्मनी में पूरी जांच पड़ताल कर ली है और यह निश्चित हो गया है कि "राय ब्रिटिश सरकार का एजेण्ट है।" आचार्य ने एक जर्मन पत्र में राय के साथ कुछ अन्य रूसी नेताओं की आलोचना भी की थी। राय ने कहा कि यह लेख एक असन्तुलित दिमाग की उपज है। उन्होंने जो आरोप लगाये हैं, वे हास्यास्पद हैं, उन्हें गम्भीरता से नहीं लिया जा सकता। "उदारहण के लिए राय के अलावा रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के पुराने महत्वपूर्ण सदस्यों को भी ब्रिटिश एजेण्ट कहा गया था।" (**डाक्यूमेण्ट्स**, खण्ड ३ ए, पृ. ९७)। आचार्य बड़ी सूझ-बूझ के आदमी थे। उन्होंने गलत आरोप न लगाये थे। कुछ साल बाद खुले मुकदमों में साबित हो गया कि रूसी कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक पुराने और महत्वपूर्ण सदस्य ब्रिटिश एजेण्ट थे। इनसे राय का घनिष्ठ सम्पर्क था।

३. प्रारम्भिक संकीर्णतावादी रुझान

फरवरी मार्च १९२० में ऐम. ऐन. राय बर्लिन में थे। वहाँ से उन्होंने एक कम्युनिस्ट घोषणापत्र प्रकाशित किया था। इसका सम्बन्ध भारत से है किन्तु मुख्य रूप से वह इंग्लैण्ड के मजदूरों को लक्ष्य करके लिखा गया था। उसका सा
यह है कि भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता जैसी छोटी-मोटी बातों से ब्रिटे
सर्वहारावर्ग को दिलचस्पी नहीं हो सकती; अब उसे समझ लेना है कि वह
अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा है, वैसे ही भारतीय जनता की मुक्ति के लि
संघर्ष करनेवाले क्रान्तिकारियों का आविर्भाव भारत की धरती पर हो गया है
भारत के पूंजीपतिवर्ग की भूमिका को कम करके आँकने के अलावा राय ने राष्ट्री
स्वाधीनता की भूमिका को ही कम करके आँकने से अपने मार्क्सवादी जीवन की
शुरूआत की थी। उनका यह दस्तावेज़ कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास से सम्बन्धित डा. अधिकारी के ग्रन्थ के पहले खण्ड में दिया हुआ है। इसकी कुछ मुख्य स्थापनाएं इस प्रकार हैं।

समय आ गया है कि भारतीय क्रान्तिकारी अपने सिद्धान्तों के बारे में
यान दें जिससे कि यूरुप और अमरीका के सर्वहारा भारतीय जनता के संघर्ष से
लचस्पी लें। यह संघर्ष तेजी से आर्थिक और सामाजिक मुक्ति का संघर्ष तथा
शासन को खत्म करने का संघर्ष बनता जा रहा है। भारत का राष्ट्रवादी
दोलन भारतीय जनता से अपील करने में असफल हुआ है। वह पूंजीवादी
न्त्र के लिए प्रयत्नशील है, वह जनता को यह नहीं बता सकता कि स्वाधीन

राष्ट्रीय जीवन में उसे क्या लाभ होगा। ब्रिटिश प्रभुत्व भारतीय जनता को ऐसे साधारण अधिकार भी नहीं देता जो ऐसे संघर्ष को चलाने के लिए जरूरी हों। इसलिए क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए जरूरी है कि देश की राजनीतिक मुक्ति पर अपने कार्यक्रम में जोर दे। इसका यह अर्थ नहीं है कि पूंजीवादी जनतन्त्र को वह अपना अन्तिम लक्ष्य बना ले। ऐसे जनतन्त्र में ब्रिटिश पूंजीपतियों और नौकरशाहों की जगह विशेषाधिकार प्राप्त देशी वर्ग हुकूमत करेगा और मजदूरों का शोषण करेगा। भारत का वास्तविक क्रान्तिकारी आन्दोलन मजदूरों की आर्थिक मुक्ति पर जोर देता है और वर्गचेतन औद्योगिक सर्वहारा तथा भूमिहीन किसानों की बढ़ती हुई ताकत को अपना आधार बनाता है। हम चाहते हैं कि दुनिया जान ले कि राष्ट्रवाद पूंजीपति वर्ग तक सीमित है, आम जनता आग रही है और सामाजिक क्रान्ति की पुकार सुन रही है।

पूंजीवादी राष्ट्रवादी आन्दोलन विश्व सर्वहारा संघर्ष के लिए या ब्रिटिश मजदूरवर्ग के लिए महत्वपूर्ण नहीं हो सकता। यह वर्ग अब सीख रहा है कि पूंजीवाद के अन्तर्गत झूठी प्रतिनिधि-सरकार पाना और केवल राजनीतिक स्वाधीनता पाना व्यर्थ है। साम्राज्यवादी पूंजीवाद को प्राकृतिक साधनोंवाले, सस्ते मानव श्रमवाले उपनिवेशों में बड़ा लाभ है। ब्रिटिश सर्वहारावर्ग की विजय तब तक नहीं हो सकती जब तक वह उपनिवेशों के साथियों को भी संग न ले ले। हम घोषणा करते हैं कि हमारा उद्देश्य पूंजीवादी राष्ट्रवादी सरकार की स्थापना को रोकना है। ऐसी सरकार पूंजीवाद का एक और गढ़ होगी। हम वर्गसंघर्ष के सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय जनता की बढ़ती हुई बगावत को संगठित करना चाहते हैं जिससे कि क्रान्ति का दिन जब आये, तब वह सामाजिक क्रान्ति का दिन हो। जो लोग आन्दोलन के अग्रदल में हैं, वे सारे देश को राष्ट्रवाद के अधीन एकजुट करने के विचार को ठुकराते हैं। देशी राजा, जमींदार, कारखानेदार और महाजन सरकार चलायेंगे, वे विदेशी के मुकाबले कम उत्पीड़क न होंगे। भारत कृषिप्रधान देश है। इसलिए हमारा नारा है, जमीन जोतनेवाले की हो। हमारे कार्यक्रम में कम्युनिस्ट राज्यसत्ता कायम करने के लिए वर्गसंघर्ष के आधार पर भारतीय सर्वहारा का संगठन शामिल है। यह राज्यसत्ता संक्रमण काल में सर्वहारावर्ग की डिक्टेटरशिप होगी। भारत के लिए आत्मनिर्णय की बात केवल पूंजीवादी राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन देती है। हम अपील करते हैं कि भारत के क्रान्तिकारी आन्दोलन को पूंजीवाद के खिलाफ विश्व सर्वहारा संघर्ष का महत्वपूर्ण भाग समझा जाय।

राष्ट्रीय स्वाधीनता के लक्ष्य को ठुकरानेवाली राय की ये स्थापनाएं वस्तुगत रूप से साम्राज्यवाद का समर्थन करती थीं। राय ने स्वयं को लेनिन के बराबर का सिद्धान्तकार घोषित किया था। दोनों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर था।

कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की कांग्रेस में राय ने जो मसौदा पेश किया, उसमें लेनिन ने कुछ संशोधन किये और तब वह स्वीकार किया गया। लेनिन ने अलग से अपना मसौदा भी पेश किया था जो स्वीकार किया गया था। राय के मूल मसौदे का अन्तिम अंश, दसवां और ग्यारहवां पैराग्राफ, लेनिन ने बिल्कुल निकाल दिया था। इस अंश का सीधा सम्बन्ध राय के वामपन्थी भटकाव से है। वे पैराग्राफ इस

प्रकार थे।

उपनिवेशों में *पूँजीवादी राष्ट्रीय जनवादी लोग स्वाधीन राष्ट्रीय सत्ता कायम* करने के लिए प्रयत्नशील हैं। आम मजदूर और गरीब किसान उस व्यवस्था के खिलाफ बग़ावत कर रहे हैं जो ऐसा क्रूर शोषण होने देती है। बहुत बार ऐसी बगावत जाने-समझे बिना की जाती है। उपनिवेशों में परस्पर विरोधी दो शक्तियाँ हैं, उनका विकास एक साथ नहीं हो सकता। उपनिवेशों के पूँजीवादी जनवादी आन्दोलनों के समर्थन का मतलब यह होगा कि हम राष्ट्रीय भावना की वृद्धि में *सहायता करते हैं। यह भावना अवश्य ही आम जनता में वर्गचेतना के* प्रसार को रोकेगी। सर्वहारा लोगों की कम्युनिस्ट पार्टी के माध्यम से जनता की क्रान्तिकारी कार्यवाही को प्रोत्साहन दिया जाय और उसका समर्थन किया जाय तो वास्तविक क्रान्तिकारी शक्तियाँ मैदान में आगे आयेंगी। ये शक्तियाँ केवल विदेशी साम्राज्यवाद को परास्त न करेंगी वरन् निरन्तर आगे बढ़ते हुए सोवियत सत्ता के विकास की ओर ले जायेंगी। इस तरह वे देशी पूँजीवाद के उत्थान को रोकेंगी जो पराजित विदेशी पूँजीवाद की जगह आकर जनता का शोषण और उत्पीड़न करता रहेगा।

उपनिवेशों में जितनी जल्दी हो सके, उतनी जल्दी वर्गसंघर्ष छेड़ देने का मतलब है जनता को आगाह कर देना कि यूरुप का पूँजीवाद यहाँ लाकर जमाया जा रहा है। यूरुप में परास्त होकर वह एशिया में शरण पाना चाहता है। ऐसी कोई बात हो सके, उसके पहले ही उसकी जड़ काट देनी चाहिए।

राय ने साम्राज्यवाद की जड़ काटने के मूल लक्ष्य को गौण बना दिया, देशी पूँजीवाद के ध्वंस को मूल लक्ष्य बनाया। देशी पूँजीवाद राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन से जुड़ा हुआ था। राय की रणनीति स्वाधीनता आन्दोलन में फूट डालने, मजदूर वर्ग को उस आन्दोलन से दूर रखने और इस प्रकार साम्राज्यवाद की सहायता करने की थी।

१९२१ में कांग्रेस का छत्तीसवाँ अधिवेशन अहमदाबाद में हुआ। इस अधिवेशन के लिए राय ने एक घोषणापत्र तैयार किया था। इसका सारतत्व यह है कि *भारतीय जनता को कांग्रेस के चलाये हुए असहयोग आन्दोलन का* विरोध डटकर करना चाहिए। इसमें कहा गया है: कांग्रेस के सामने सबसे बड़ी *समस्या यह है कि वह राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए जनता का हार्दिक समर्थन प्राप्त* करे, अज्ञान में डूबी हुई जनता को स्वराज्य के झण्डे के पीछे चलने को प्रेरित करे। इसके लिए यह जानना जरूरी है कि जनता किस बात से परेशान है। कुछ हजार गैरजिम्मेदार हुल्लड़बाज विद्यार्थी इकट्ठे हो जायें, उनके साथ कुछ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी हों, इनके पीछे अज्ञानी लोगों की भीड़ हो जिसमें थोड़ी देर के लिए खूब जोश पैदा कर दिया गया हो, तो ऐसी जमात राष्ट्र का राजनीतिक संगठन नहीं बन सकती। खेतों और कारखानों में काम करनेवालों को कैसे विश्वास दिलाया जाय कि राष्ट्रीय स्वाधीनता से उनकी मुसीबतें खत्म हो जायेंगी? लाखों मजदूर उन कारखानों में काम करते हैं जिनके मालिक धनी भारतवासी हैं; इनमें काफी लोग राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता भी हैं। किसान को जमीन दो, मजदूर को

रोटी दो, इस नारे से उनमें जोश पैदा होगा। राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अमूर्त सिद्धान्त के प्रति वे उदासीन रहते हैं।

असहयोग आन्दोलन राष्ट्र को एकताबद्ध नही कर सकता। वह विफल हो चुका है। विदेशी नौकरशाही को असहयोग के जरिये असमंजस मे डाला जा सकता है। बहुत से बहुत सत्याग्रह का उपयोग केवल विनाशकारी होगा। विदेशी प्रभुत्व खत्म किया जा सकता है, यह सम्भावना आम जनता को आन्दोलित करने के लिए काफी नही है। उसे साफ-साफ बताना चाहिए कि स्वराज मिलने से उसे क्या मिलेगा। स्वदेशी और बहिष्कार के कार्यक्रम से देशी उद्योगपतियो के हितो की रक्षा की जा सकती है और उन्हें आगे बढाया जा सकता है। वह कार्यक्रम ब्रिटिश सरकार को नुकसान भी पहुँचा सकता है लेकिन उसका आधार गलत किस्म का अर्थशास्त्र है, इसलिए उसकी सफलता संदिग्ध है। कांग्रेस के झण्डे के नीचे आम जनता को एकजुट करने मे बहिष्कार के नारे की असफलता अनिवार्य है। जनता के विशाल भाग की जो आर्थिक दशा है, यह उसके एकदम खिलाफ है। विदेशी वस्त्रो को जलाने के लिए जो अन्धा जोश फैला हुआ है, कांग्रेस उसको अपना आधार बनाती है तो यह रेत में महल खड़े करने की तरह होगा। यह जोश टिकेगा नही। बहुत जल्दी लोग कपड़े की कमी महसूस करेंगे। जब तक सस्ता विदेशी कपडा सुलभ होगा, तब तक यह सम्भव नही है कि लोग नंगे रहें और उसे न खरीदें। चर्खा अजायबघर की चीज बन चुका है। मशीनो के इस जमाने में ३२ करोड आबादी की जरूरतें चर्खे से पूरी हो सकती है, यह सोचना हवाई ख्वाब देखना है। विदेशी कपडो के बायकाट से उद्योगपतियों का समर्थन मिलेगा लेकिन उपभोक्ताओ का भरोसे लायक समर्थन कभी न मिलेगा। कांग्रेस का छत्तीसवाँ अधिवेशन असहयोग की राह पर और आगे बढ़ना चाहता है। कांग्रेस में लाखो नये सदस्य भर्ती हुए हैं, तिलक स्वराज फण्ड के लिए पैसा इकट्ठा किया गया है। इस सबसे यह साबित नही होता कि कांग्रेस को जनता का समर्थन मिल रहा है। सरकारी नौकरों से कहा जा रहा है कि नौकरी छोड़ दें। नब्बे फी सदी ऐसे लोग हैं जो नौकरी छोड़ दें तो भूखों मरेंगे। सविनय अवज्ञा अमल मे लायी जाय तो यह एक तरह की राष्ट्रीय हड़ताल होगी। हर आदमी काम करना बन्द कर दे तो सरकार ठप हो जायेगी। क्या कांग्रेस समझती है कि हर आदमी उसकी बात मानेगा? यदि वह ऐसा समझती है तो वह साबित करती है कि उसे जनता की हालत का पता नही है। उसे उन आर्थिक नियमों का पता नही है जिनसे सामाजिक शक्तियाँ और राजनीतिक कार्य निर्धारित होते है। नागरिक और फौजी नौकरियाँ छोड़ देने पर हजारो आदमियो की रोजी चली जायेगी। क्या कांग्रेस उनके लिए काम जुटायेगी? निम्न मध्यवर्ग के सरकारी नौकर शारीरिक परिश्रम करना पसन्द न करेंगे। सविनय अवज्ञावाला प्रस्ताव हल्के-फुल्के ढंग से ग्रहण किये जाने पर कांग्रेस को हास्यास्पद बना देगा।

राय ने सारी समस्या पर पराजयवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। कहाँ लंकाशायर की जगी मशीनें, कहाँ पिद्दी सा चर्खा! उन्होने चर्खे की हार अनिवार्य मान ली। किन्तु चर्खे की हार स्वदेशी की हार नही थी। विदेशी माल के बहिष्कार

से देशी उद्योगपतियों को लाभ हुआ। यही बात राय को नापसन्द थी। जब तक विदेशी माल बिके, तब तक सामाजिक विकास के नियमों का पालन होता है, जहाँ देशी माल बिकने लगा, वहीं इन नियमों का दिवाला निकल गया। सत्याग्रह का विकास करके उसे क्रान्तिकारी रूप देने के बदले राय उसे त्यागने की सलाह दे रहे थे।

ऐम. एन. राय की पुस्तक संक्रमणकालीन भारत (India in Transition) १९२२ में प्रकाशित हुई थी। उसमें ब्रिटिश पूंजीवाद की यह भूमिका मानी गयी थी कि उसने भारत में सामन्तवाद को खत्म कर दिया है। भारत में साम्राज्यवाद का जो मुख्य सामाजिक आधार था, उसे राय ने पहले ही समाप्त मान लिया था। इसलिए सामन्तविरोधी क्रान्ति की रूपरेखा उनके दिमाग में आ ही न सकती थी। पुस्तक के जर्मन संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा था, "यहाँ सामन्तवाद का विनाश हिंसात्मक क्रान्ति का परिणाम नहीं था; वह एक अत्यन्त विकसित पूंजीवादी राज्यसत्ता के राजनीतिक और आर्थिक उपक्रमों से दीर्घव्यापी सम्पर्क का परिणाम था।" (डाक्यूमेण्ट्स, खण्ड १, पृष्ठ ३६३)। अंग्रेजी राज सामन्तवाद का नाश कर रहा था और भारतीय राष्ट्रवाद सामन्तवाद की रक्षा कर रहा था, इस धारणा के अनुरूप राय ने १८५७ के संग्राम का मूल्यांकन किया था।

उन्होंने गदर के बारे में लिखा था, "१८५७ का विद्रोह ब्रिटिश प्रभुत्व को खत्म करने का पहला गम्भीर प्रयत्न था किन्तु उसे राष्ट्रीय आन्दोलन किसी भी तरह न कहा जा सकता था। दम तोड़ते हुए सामन्तवाद की आखिरी छटपटाहट के अलावा वह और कुछ नहीं था। विदेशी प्रभुत्व ने जनता की सामाजिक प्रगति में बाधा डाली थी; इस प्रभुत्व को खत्म करने के लिए इसने जहाँ सफल प्रयत्न किया, यह विद्रोह क्रान्तिकारी था लेकिन सामाजिक रूप से यह प्रतिक्रियावादी आन्दोलन था क्योंकि उसका उद्देश्य अंग्रेजी राज की जगह मुगलों या मराठों के सामन्ती साम्राज्यवाद को पुनर्जीवित करके प्रतिष्ठित करना था। सामाजिक रूप से उसका स्वरूप प्रतिक्रियावादी था। उसकी असफलता का कारण यही था। यदि प्रगतिशील सामाजिक विचारों और राजनीतिक कार्यक्रमवाला, देशी पूंजीपतिवर्ग के नेतृत्व में चलाया जानेवाला यह प्रगतिशील राष्ट्रीय आन्दोलन होता तो वह दबाया न जा सकता। किन्तु इस तरह का आन्दोलन उस युग में असम्भव था। इसके लिए आवश्यक सामाजिक शक्ति अभी थी नहीं।" (वही, पृ. ३०३)। राय के लिए पूंजीपति वर्ग के अलावा राष्ट्रीय आन्दोलन का नेता और कोई वर्ग हो ही नहीं सकता। किसी विद्रोह में किसानों की भूमिका महत्वपूर्ण हो, यह उनके लिए कल्पनातीत है। इसलिए इस संघर्ष में जनता की भूमिका [illegible] है। उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि विदेशी प्रभुत्व सामाजिक प्रगति में जो रुकावट पैदा कर रहा था, उसका रूप क्या था। यदि सामाजिक प्रगति के लिए पूंजीवादी विकास दरकार था तो इस विकास में सामन्ती अवशेषों से ही रुकावट पड़ सकती थी। यद्यपि अंग्रेजों ने सामन्तों की सहायता से ही सन् ५७ के संघर्ष को दबाया था, किन्तु राय ने लिखा, "१८५७ के विद्रोह के दमन के बाद सामन्तवाद को राजनीतिक क्षेत्र में पूरी तरह निर्मूल कर दिया गया। साम्राज्यवादी [illegible]

उसके खोखले कंकाल को हास्यास्पद राजसी पोशाक पहनाकर अपनी सुविधा के लिए स्थायी बना दिया; इसके बावजूद सामन्तवाद निर्मूल कर दिया गया था।" (उप.)।

१८५७ के संघर्ष को प्रतिक्रियावादी मानने का सहज परिणाम यह था कि उन उदारपन्थी बुद्धिजीवियों को प्रगतिशील माना जाय जो अंग्रेजी राज के समर्थक और सतीप्रथा आदि खत्म करके समाज को सुधारना चाहते थे। राय ने लिखा, लोग सपना देखते थे कि पूंजीवादी उदारपन्थ की भावना से प्रेरित सरकार के निर्देशन मे सामाजिक प्रगति और आर्थिक विकास के पथ पर भारत बढ़ता चला जायेगा; उनके लिए अंग्रेजी राज के अभाव का मतलब था प्रतिक्रियावादी शक्तियों का सक्रिय पुनर्जीवन जो राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक, हर क्षेत्र मे दिखायी गा। अंग्रेजी राज के खात्मे की बात उदारपन्थी बुद्धिजीवियों के दिमाग में आ ही न सकती थी। "परिवर्तनवादी या उग्रपन्थी राष्ट्रवाद उन दिनों प्रतिक्रियावादी शक्तियों पर ही आधारित हो सकता था। इन शक्तियों के मफल होने पर देश पीछे जाता, बादशाही कायम होती, सामाजिक और धार्मिक कट्टरता सुदृढ़ होती। राजनीतिक रूप से पीछे हटने का यही परिणाम होता।" (उप., पृ. ३८७)। इस प्रकार ऐम. ऐन. राय यह अनिवार्य मानते हैं कि १९वी सदी में भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन अंग्रेजी राज का समर्थन ही कर सकता था। जो भी इस राज को खत्म करने की बात करता था, वह प्रतिक्रियावादी था। मजे की बात यह है कि २०वीं सदी मे जो स्वराजपन्थी नेता अंग्रेजो से सहयोग करना चाहते थे, उन्हें तो राय प्रगतिशील मानते थे लेकिन तिलक और गाधी को वह प्रतिक्रियावादी मानते थे।

जिन लोगों ने कांग्रेस की नींव डाली, उनके लिए लिखा है, "ऐतिहासिक रूप से वे क्रान्तिकारी थे। उन्होंने दो जबर्दस्त ताकतों के खिलाफ विद्रोह किया। एक ताकत भारतीय समाज पर हावी रूढिवाद और धार्मिक अन्धविश्वासो की थी, दूसरी ताकत विदेशी पूंजीपतिवर्ग का सम्पूर्ण राजनीतिक इजारा था।" (उप.)। दरअसल काग्रेस ने अपने प्रारम्भिक दौर मे ब्रिटिश इजारे के खिलाफ बगावत न की थी, उसकी सेवा मे अपना सहयोग देने के लिए निवेदन मात्र किया था। इसके बाद राष्ट्रीय आन्दोलन ने लोकमान्य तिलक के नेतृत्व मे आगे कदम उठाया। इस कदम के लिए राय ने लिखा है कि ऊपर से देखने में यह दौर ज्यादा क्रान्तिकारी था क्योंकि उसका मूल सिद्धान्त भारत पर दूसरे राष्ट्र के शासन के अधिकार को चुनौती देना था। किन्तु अंग्रेजी राज के उदारपन्थी सहयोगियों की तुलना में यह दौर कम क्रान्तिकारी था। इसने जो राष्ट्रवाद का सिद्धान्त निकाला था, वह अमल में लाने पर राष्ट्रीय स्वाधीनता के बावजूद देश को विकास की पिछली मंजिल मे ठेल देता।" (उप. ३८८)। १८५७ मे भारतीय जनता ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रयत्न किया, वह प्रयत्न प्रतिक्रियावादी था। २०वीं सदी मे लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में भारतीय जनता ने फिर प्रयत्न किया, यह प्रयत्न भी देश को विकास की राह मे आगे बढाने के बदले पीछे ठेल देनेवाला था। इस तरह जो राष्ट्रवाद अंग्रेजी राज की हिमायत न करे, वह किसी-न-किसी बहाने प्रतिक्रियावादी हो जाता था।

उदारपन्थी पूँजीपति वर्ग और उसके बुद्धिजीवियों के लिए राय ने लिखा कि इनका आन्दोलन पुरानी सामाजिक विरासत और धार्मिक कट्टरता का नाश करनेवाला था, इसके विपरीत "पुरानपन्थी राष्ट्रवाद विदेशी हुकूमत के खिलाफ क्रान्तिकारी संघर्ष होने की अपेक्षा इस प्रगतिशील शक्ति के खिलाफ पुरानी गतिरुद्ध समाज व्यवस्था की स्वत स्फूर्त प्रतिक्रिया था और अब भी है।" (उप., पृ. ३८६)। जिस प्रगतिशील शक्ति के खिलाफ पुरानपन्थी राष्ट्रवाद उभरकर सामने आया था, वह अंग्रेज़ों से सहयोग करनेवाला पूंजीवादी उदारपन्थ था। भारत के भीतर जो शक्तियाँ प्राचीन सस्कृति और धर्म की पवित्रता के खिलाफ विद्रोह कर रही थी, राय के अनुसार वे काग्रेस मे सिमटकर आ रही थी। उनका उद्देश्य प्राचीन ऋषियों के भारत को पुनर्जीवित करना नही था जहाँ धर्म की घूँटी पीकर कारीगर अज्ञान मे डूबे रहते थे; "सामाजिक दृष्टि मे पुरानपन्थी राष्ट्रवाद इस अशुभ लगनेवाले परिवर्तनवाद के खिलाफ प्रतिक्रिया की शक्तियों का विरोध था। यह परिवर्तनवाद काग्रेस का नेतृत्व करनेवाले उन बुद्धिजीवियों का था जो 'अराष्ट्रीय' हो गये थे। जिन शक्तियों का सैनिक विस्फोट १८५७ का गदर था, पचास साल बाद पुरानपन्थी राष्ट्रवाद के राजनीतिक सिद्धान्तो के पीछे उन्ही को काम करते देखा जा सकता था।" (उप., पृ. ३६०)। १८५७ से लेकर लोकमान्य तिलक तक एक ही राष्ट्रवाद का विकास दिखाकर ऐम. ऐन. राय ने अप्रत्यक्ष रूप से १८५७ के संघर्ष की दीर्घजीवी और गम्भीर प्रेरणा स्वीकार की।

गांधीवाद के बारे मे उसी पुस्तक मे उन्होंने लिखा था, "उदारपन्थी पूँजीवादी राष्ट्रवाद मे जो वस्तुगत रूप मे क्रान्तिकारी परिस्थितियाँ मौजूद थी, उनके खिलाफ प्रतिक्रिया की शक्तियों का सबसे तीखा और जी-तोड प्रयत्न है—गांधीवाद। गाधीवाद का अवसान होने ही वाला है। इस अवसान का मतलब है प्रतिक्रियावादी शक्तियों की पराजय और राजनीतिक आन्दोलन में उनका पूर्णत: निर्मूल होना।" (उप., पृ. ३६४-६५)। और भी एक मनोरंजक स्थापना है, "*मानव प्रगति की जबर्दस्त ताकतों की टक्कर में जो टटपुँजिया मानवतावाद* बुरी तरह हक्का-बक्का रह गया है, उसका नाम है गांधीवाद" (उप., पृ. ३६७)। साम्राज्यवाद और गाधीवाद को समान रूप मे प्रतिक्रियावादी मानने का अर्थ व्यवहार मे यह होता था कि पहले देशी पूँजीवाद से निपट लो, विदेशी पूँजीवाद की बात फिर कभी सोचेंगे।

यद्यपि राय मानते थे कि साम्राज्यवाद भारत का उद्योगीकरण रोकता है, फिर भी वह यह भी कहते जाते थे कि भारत में बड़े पैमाने के उद्योग धन्धे तेज़ी से विकसित हो रहे है। "बड़े पैमाने के उद्योग धन्धों का विकास भारत का भविष्य निर्धारित करने जा रहा है। क्रान्ति शुरु हो चुकी है और लम्बे डग रखती हुई आगे बढ़ रही है। गाँव की सरचना पहले ही कमज़ोर हो चुकी थी, उसे वह उखाड़ रही है और बडे-बडे शहरों का निर्माण कर रही है जहाँ परिस्थितियों से विवश होकर बेचारे पगारजीवी गुलाम एकत्र हो रहे हैं।" (उप., पृ. ३८१)। ऐसा लगता है, इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति भारत में और भी बड़े पैमाने पर फिर से घटित हो रही थी। इस क्रान्ति का श्रेय अंग्रेज़ों के सिवा और किसे दिया जा सकता

था? सामन्तवाद खत्म हो गया, औद्योगिक क्रान्ति लम्बे डग रखते आगे बढ रही है, बड़े-बड़े शहरों में सर्वहारा वर्ग सिमट आया है, इस काल्पनिक चित्र से ऐम. ऐन. राय की सारी रणनीति और कार्यनीति पैदा होती है। जब इतना विकास हो चुका है तब सर्वहारा क्रान्ति बहुत दूर नहीं हो सकती। कल्पना के सहारे यथार्थ को मनचाहा रूप देने मे कोई भी कल्पनालोकी समाजवादी राय का मुकाबला नहीं कर सकता।

साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीपति वर्ग के आन्तरिक सम्बन्धों के बारे में राय ने लिखा था, "देशी पूंजीवाद विकसित हो रहा है; ऐसा लगता है कि यह शक्ति क्रान्ति के लिए काम न करके साम्राज्यवादी सत्ता की सहायक बनेगी। जो उदारपन्थी पूंजीपति वर्ग राष्ट्रीय जनवादी आन्दोलन का नेता है, वह वैसी क्रान्तिकारी भूमिका पूरी न करेगा जैसी यूरुप के पूंजीपति वर्ग ने १८वीं-१९वीं सदियों मे पूरी की थी। भारत मे पूंजीपति वर्ग तभी क्रान्तिकारी होगा जब साम्राज्यवादी शासक उसके आर्थिक विकास का रास्ता बन्द कर दें। किन्तु युद्ध के बाद साम्राज्यवाद औद्योगिक पूंजीवाद की अपेक्षा महाजनी पूंजीवाद पर अधिक निर्भर है। साम्राज्यवादी पूंजी के हित की मांग है कि औपनिवेशिक देश का उद्योगीकरण हो। इसलिए शोषण के मुनाफे से देशी पूंजीपतियों को पूरी तरह अलग रखना अब सम्भव नहीं है। यह आर्थिक परिस्थिति भारतीय पूंजीपतिवर्ग को क्रान्तिकारी भूमिका निबाहने से रोकती है। विशुद्ध पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति के लिए जो परिस्थितियाँ दरकार होती हैं, वे भारत में नहीं हैं। राष्ट्रीय संघर्ष वर्गसंघर्ष नहीं है। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग सामाजिक उत्पादन की पुरानी पद्धति के खिलाफ संघर्ष नहीं कर रहा। कमजोर देशी पूंजीपतिवर्ग अपने साम्राज्यवादी भाई से सहयोग करना पसन्द करता है। बदले में देश के राजनीतिक और आर्थिक प्रशासन मे ऐसी तबदीली चाहता है जिससे वर्ग रूप में विकसित होने की अधिक सुविधा उसे मिले और साम्राज्यवादी पूंजी औपनिवेशिक पूंजीपति वर्ग को ऐसी सुविधाओं की गारण्टी देने के लिए अनिच्छुक नहीं है। इसके कारण ऊपर बताये जा चुके है।" (उप., पृ. ३६४)। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन मे और भारतसम्बन्धी मार्क्सवादी विवेचन मे जहाँ भी संकीर्णतावादी रुझान उभरकर आते है, वहाँ जान में या अनजान में वे राय की किसी-न-किसी स्थापना को दोहराते हैं। राय ने **संक्रमणकालीन भारत** उस समय लिखी थी जब लेनिन जीवित थे। लेनिन के जीवनकाल मे बहुत तगड़ी संकीर्णतावादी प्रवृत्तियाँ कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल में विद्यमान थीं। इन्हें निर्मूल करने में लेनिन की मृत्यु के बाद लगभग दस साल लगे, लेकिन वे पूरी तरह निर्मूल नहीं हुईं। १९४७-४९ मे वे केवल भारत मे नहीं अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आन्दोलन में जोरों से उभरकर ऊपर आयीं। सन् ४९ के बाद संकीर्णतावादी और सुधारवादी प्रवृत्तियाँ, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर, काफी ज़ोरदार ढंग से उभरकर सामने आती रही हैं।

सर्वहारा वर्ग को राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखना, उसकी स्वतन्त्र कार्यवाही को स्वाधीनता आन्दोलन के विरोध मे खड़ा करना, राय की यह कार्यनीति थी। लिखा था, "सर्वहारा वर्ग का संघर्ष ऐसी चीज है जो राष्ट्रीय आन्दोलन से

जनक है। भारतीय मजदूर जिस चीज के लिए लड़ रहा है, वह पुरस्कार को आर्थिक दमन और सामाजिक बहिष्कार से मुक्ति है। यह बात उन आदमियों के साबित होती है जिनका दमन और नेतृत्व मजदूरवर्ग ने किया है। आज हम देखते हैं कि देश के नामो मजदूर बड़ी संख्या में आर्थिक मुक्ति को लड़ाई लड़ रहे हैं। वे लड़ाइयाँ वे पूँजीपति वर्ग से लड़ रहे हैं, इस वर्ग की जातीयता कोई भी हो। (पृ. ३८०)। जातीयता कोई भी हो, इन शब्दों का अर्थ यह है कि राष्ट्रवादी क्रान्तिकारियों के लिए साम्राज्यवादी ब्रिटिश पूँजीपतियों और उनके भारत के दबे हुए देशी पूँजीपतियों में कोई अन्तर नहीं है। ये दोनों ये शोषण को बनाए रखते हैं और यह स्वाभाविक है कि बड़े पूँजीपतियों के सामने उनका शोषण जल्दी पस्त हो जाता है और फिर वे ब्रिटिश पूँजीपतियों के साथ मिलकर भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के विरोधी बनकर खड़े हो जाते हैं। इसी जमीन ने एम. एन. राय ने अपनी प्रसिद्ध अनुपवेशीकरण (डिकोलोनाइजेशन) की स्थापना प्रचारित की थी।

इस स्थापना का संक्षिप्त इतिहास उस पत्र में है जो ४ अप्रैल १९६० को रजनी पाम दत्त ने मुजफ्फ़र अहमद के प्रश्न के जवाब में उनके पास भेजा था। लिखा था, "कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की छठी कांग्रेस में अनुपवेशीकरण-सिद्धान्त के लिए राय की सख्त आलोचना की गयी। स्थापना यह थी कि साम्राज्यवाद स्वेच्छा से सत्ता छोड़ देता है। कान के आपरेशन के कारण राय स्वयं कांग्रेस में नहीं थे, बर्लिन में थे। इस बहस और आलोचना से अंशतः मेरा सरोकार भी था। अपनी पुस्तक आधुनिक भारत (माडर्न इण्डिया) में मैंने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद भारत के प्रमुख और सतत शोषण की नयी मंजिल में प्रवेश कर रहा है। यह उद्योगीकरण के लिए एक कदम उठाकर ऐसा कर रहा है। इस कदम की रूपरेखा औद्योगिक आयोग की रिपोर्ट में है। इसके साथ ही साम्राज्यवाद भारतीय पूँजीपतिवर्ग के साथ राजनीतिक गँठबन्धन कर रहा है। यह गँठबन्धन दोहरे शासनतन्त्र (डाइआर्की) के द्वारा व्यक्त होता है और इस गँठबन्धन में भारतीय पूँजीपतिवर्ग छोटा भागीदार (जूनियर पार्टनर) है। यह स्थापना गलत थी क्योंकि उसमें माना गया था कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत उद्योगीकरण के लिए कदम उठाना सम्भव है। आगे चलकर राय ने इस सिद्धान्त को तोड़ा-मरोड़ा और विकसित किया और अपनी अद्भुत अनुपवेशीकरण की स्थापना के रूप में पेश किया। आरम्भ से ही मैं इसका तगड़ा विरोधी था।" (मुजफ़्फ़र अहमद, माइसेल्फ़ ऐण्ड द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इण्डिया, पृ. ४८०)।

अनुपवेशीकरण के सिद्धान्त का मतलब यह था कि साम्राज्यवाद पराधीन देशों में उद्योग धन्धों के विकास की अनुमति दे रहा था। साम्राज्यवादी शक्तियों ने दूसरे देशों को पराधीन इसलिए बनाया था कि वहाँ से सस्ते दामों कच्चा माल हासिल करें और वहाँ अपने कारखानों का माल बेचें। यदि उनकी नीति पराधीन देशों का औद्योगिक विकास करने की हो तो इसका अर्थ यह होगा कि साम्राज्यवाद स्वयं को विसर्जित कर रहा है और जान-बूझकर अपने लिए प्रतिद्वन्द्वी तैयार

कर रहा है। भारत मे अंग्रेजों ने जहाँ अपनी पूंजी लगायी, उनका मुख्य उद्देश्य ऐसे आनुषंगिक उद्योग कायम करना था जो साम्राज्यवादी शोषण को जारी रखने के लिए आवश्यक थे। अनुपवेशीकरण की स्थापना से आगे बढते हुए ऐम. ऐन. राय क्रमश: साम्राज्यवाद के समर्थक के रूप मे सामने आये। किन्तु कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल की छठी कांग्रेस मे पहले वह यह बात भी कह चुके थे कि अंग्रेजो ने भारत के औद्योगिक विकास मे बराबर बाधा डाली है।

'भारत मे अंग्रेजी राज के भावी परिणाम' शीर्षक मार्क्स का लेख ऐम. ऐन. राय ने नवम्बर १९२५ मे मासेज पत्रिका मे छापा था। इस लेख का महत्व बतलाते हुए राय ने लिखा था, अपने समस्त रक्तरंजित इतिहास मे भारत पर ब्रिटिश प्रभुत्व की या तो प्रशंसा की गयी है या निन्दा। कुछ लोगो के लिए वह विशुद्ध अच्छाई है, कुछ अन्य लोगों के लिए वह विशुद्ध बुराई है। १८५३ मे जब भारत की हालत के बारे में इतनी कम जानकारी थी, तब मार्क्स के विवेकशील दिमाग ने भारत की ब्रिटिश विजय के ऐतिहासिक महत्व को पहचान लिया। साम्राज्यवादी डकैती की तीव्र निन्दा करने के साथ-साथ मार्क्स ने बताया कि ब्रिटिश विजय से कैसा महान् क्रान्तिकारी परिणाम निकलेगा। उन्होने अपने सहज साहस से घोषित किया कि ब्रिटिश विजेताओं ने भारत की जो हानि की, वह उस परिणाम मे दूर न हो जायेगी। आज हम देखते है कि मार्क्स की भविष्य-वाणी कितनी सही थी। "भारत मे ब्रिटिश विजय का महत्व एक महान् क्रान्ति का महत्व है। भारतीय राष्ट्रवादियों मे कोई बिरला ही होगा जिसमे अंग्रेजी राज के इस पहलू को समझने की क्षमता हो। भारत में अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा करने के बाद अंग्रेजी राज उन शक्तियों की सामान्य प्रगति मे निश्चित रुकावट बन गया जिन्हें क्रान्ति ने मुक्त किया था। प्रारम्भिक दौर में जो कत्लेआम हुए, लूट और तबाही हुई, उनकी तुलना में अंग्रेजी राज के इस क्रान्तिविरोधी दौर ने कहीं ज्यादा नुकसान किया। अब उसे खत्म कर देने का कार्य ही बाकी रहा है। (डाक्यूमेण्ट्स, खण्ड २, पृ. ५९०)।

राय को १८५३ मे ही लिखे हुए मार्क्स के अन्य भारत सम्बन्धी लेख बर्लिन या मास्को में सुलभ रहे होंगे। उन्हे १८५७ के राष्ट्रीय विद्रोह पर लिखे हुए मार्क्स और एंगेल्स के लेख भी सुलभ होने चाहिए थे। उस समय सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और कम्युनिस्ट इण्टरनैशनल मे त्रोत्स्की और उनके सहयोगी महत्वपूर्ण पदों पर थे। ऐसा लगता है कि मार्क्स के १८५३ वाले उन लेखों का संगठित विश्वव्यापी प्रचार किया गया जिनमें अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका का उल्लेख था। जिन लेखों मे अंग्रेजी राज की प्रतिक्रियावादी भूमिका उजागर होती थी, उन्हें मानो जानबूझकर दबा रखा गया। राय मार्क्स का हवाला देकर भारतीय देशभक्तों को ललकार रहे थे—अंग्रेजी राज ने भारत मे जो महान् क्रान्ति की, उसे समझने की क्षमता किसमें है? अंग्रेजी राज यहाँ महान् क्रान्ति कर रहा था, इसीलिए सन् सत्तावन की लड़ाई सामन्तों का प्रतिक्रियावादी प्रयत्न जान पड़ती थी। गदर के बारे में राय की यह धारणा मेरठ के मुकदमे मे डांगे ने दोहरायी, रजनी पाम दत्त ने आज का भारत मे दोहरायी। भारत के औद्योगिक

विकास की नींव डालने का श्रेय अंग्रेजों को है, यह धारणा अनेक मार्क्सवादियों में बड़ी मजबूती से जड़ जमाये है। १९६४ में लिखी हुई डा. अधिकारी की एक पुस्तिका में यह धारणा विद्यमान है। उन्होंने लिखा है : "आधुनिक साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन देशों के शोषण—विशेष रूप से भारत और चीन जैसे विकसित देशों के शोषण—का स्वरूप ऐसा है कि उद्योगीकरण को विलम्बित करने और सामन्तवाद को कृत्रिम रूप से साधे रहने के बावजूद नये सामाजिक वर्गों की बढ़ती होती रही है—राष्ट्रीय पूंजीपति (औद्योगिक) वर्ग, आधुनिक मजदूर वर्ग और नये किसानों की बढ़ती होती रही है। भारत पर ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी के शासन के दौर में मार्क्स ने भारत में सामाजिक क्रान्ति की शक्तियों की जिस बढ़ती के बारे में भविष्यवाणी की थी, वह ब्रिटिश महाजनी पूंजी के शासन के दौर में और भी अधिक जारी रही।" (G. Adhikari, Communist Party and India's Path to National Regeneration and Socialism, दिल्ली, १९६४, पृष्ठ ७५-७६)। पढ़कर विश्वास नहीं होता कि डा. अधिकारी ने यह सब १९६४ में लिखा होगा। यदि वह मार्क्स का हवाला न देते तो उनके वाक्यों का यह अर्थ किया जा सकता था कि यहाँ का औद्योगिक विकास भारतीय जनता के संघर्षों का, विशेष रूप से स्वदेशी आन्दोलन का परिणाम है। किन्तु वह स्वदेशी आन्दोलन की ओर संकेत नहीं करते, वह ब्रिटिश औद्योगिक पूंजी के शासन का उल्लेख करते हैं, मार्क्स का हवाला देकर इस बात की पुष्टि करते है कि अंग्रेजी राज के फलस्वरूप यहाँ नये सामाजिक वर्गों की प्रगति हुई, फिर अपनी ओर से महाजनी पूंजी के शासन के दौर में उस प्रगति को और भी तेज होते दिखाते हैं। नये किसानों का मतलब पूंजीवादी व्यवस्था में पनपनेवाले किसान ही हो सकता है। शहरी उद्योग धन्धों के अलावा अंग्रेजों ने कृषितन्त्र में भी क्रान्ति की। क्रान्ति थोड़ा विलम्बित थी, इतनी ही कसर थी। यह सारा विवेचन राय की धारणाओं से मिलता-जुलता है।

१९२६ में ऐम. ऐन राय की पुस्तक भारतीय राजनीति का भविष्य (The future of Indian Politics) प्रकाशित हुई। इसमें उन्होंने अपनी भविष्य-दर्शी सूझ-बूझ की दाद देते हुए पूंजीवादी राष्ट्रवाद को क्रान्तिविरोधी साबित किया। उन्होंने लिखा, "जिन्होंने मार्क्सीय यथार्थवाद के आधार पर परिस्थिति को परखा था, उन्होंने बरसों पहले जो भविष्यवाणी कर दी थी, वही होकर रही। भारत में पूंजीवादी राष्ट्रवाद की परिणति साम्राज्यवाद से सम्पूर्ण समझौते में हो गयी है। भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के युद्धोत्तर दौर में राष्ट्रीय विरोध के साथ-साथ वर्गविरोध भी बढ़ा है। क्रमशः दूसरा विरोध पहलेवाले विरोध पर हावी हो गया।" (डाक्यूमेण्ट्स, खण्ड ३ ए, पृष्ठ १२७)। यहाँ राय की रणनीति बिल्कुल स्पष्ट हो गयी है। उनकी कामना है कि भारतीय जनता साम्राज्यवाद से अपने विरोध को गौण स्थान दे और पूंजीवाद को अपना मुख्य शत्रु मान ले। उनके विचार से बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में साम्राज्यवाद जमींदारों का भरोसा करता था। १९२५ तक बड़े और छोटे पूंजीपतियों के बीच दरार पड़ गयी। साम्राज्यवाद को सामाजिक आधार की जरूरत थी और अब

भारतीय पूंजीपति वर्ग तथा साम्राज्यवाद के बीच समझौते का मार्ग निष्कण्टक हो गया है। औद्योगिक पिछड़ेपन के कारण भारतीय पूंजीपति अधिकतर वितरण-वाला व्यापार करते रहे हैं और यह व्यापार ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर निर्भर था। व्यापार पर अंग्रेजों का इजारा था। जो भारतीय इसमें शामिल थे, वे अंग्रेजों के साझेदार थे। "विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व अब पुराने संकुचित सामाजिक आधार पर कायम नहीं रखा जा सकता। साम्राज्यवाद की आर्थिक परिधि में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के कम-से-कम ऊपरवाले स्तर को खींचकर ही अंग्रेजी राज के सामाजिक आधार को अधिक विस्तृत तथा गहरा बनाया जा सकता था। इसके लिए साम्राज्यवाद की आर्थिक नीति में परिवर्तन आवश्यक हुआ। युद्ध की आवश्यकताओं ने साम्राज्य-वाद को बाध्य किया कि वह भारत के आर्थिक जीवन पर अपनी पकड़ ढीली करे। इस प्रकार एक नया युग शुरू हुआ। साम्राज्यवादी हित इस तरह बदल गये कि भारतीय पूंजीपति वर्ग से समझौता करना वाञ्छनीय और लाभकारी हो गया।" (उप., पृष्ठ १२६)। राय जब चाहते थे तब भारत को तेजी से औद्योगिक प्रगति करता दिखा देते थे, जब चाहते थे तब इस प्रगति का अभाव दिखाकर भारतीय पूंजीपति वर्ग को अंग्रेजों पर निर्भर व्यापारियों तक सीमित कर देते थे। दोनों ही स्थितियों में नतीजा एक ही निकलता था—साम्राज्यवाद की अपेक्षा भारतीय राष्ट्रवाद से लड़ना ज्यादा जरूरी है। औद्योगिक विकास के लिए भारतीय जनता के संघर्ष का कोई महत्व नहीं है, साम्राज्यवादी स्वयं भारत का उद्योगीकरण सम्पन्न करा रहे हैं। राय के अनुसार वाइसराय ने १६१५ में भारत सचिव को लिखा कि भारत की औद्योगिक क्षमता बढ़ाना जरूरी है। भारतीय उद्योग कमीशन बनाया गया। उसने सिफ़ारिश की कि देश के औद्योगिक विकास में सरकार को सक्रिय भूमिका निबाहनी चाहिए। उद्योग कमीशन के अंग्रेज अध्यक्ष का कहना था कि भारत के औद्योगिक विकास से साम्राज्यवाद का आधार सुदृढ़ होगा। १६१७ में युद्ध-सामग्री तैयार करने के लिए आयोग गठित किया गया। इस आयोग का निदेशक उद्योग कमीशन का वही अंग्रेज अध्यक्ष था। "राज्यसत्ता द्वारा निर्मित इस नयी संस्था ने भारतीय उद्योग धन्धों की प्रगति को जबर्दस्त प्रेरणा दी।" (उप., पृष्ठ १३३)। इस प्रकार युद्धकाल में भारत का 'अनुपवेशीकरण' जोरों से आरम्भ हो गया अर्थात् राजनीतिक पराधीनता नाम-मात्र को रह गयी, भारत आर्थिक स्वाधीनता की राह पर तेजी से बढ़ चला।

राय ने लिखा, १६१६-२१ में क्रान्तिकारी उभार आया। इससे समझौते में कोई बाधा न पड़ी। "इसके विपरीत क्रान्ति के भय ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को साम्राज्यवाद से गले मिलने को ठेल दिया।" (उप., पृष्ठ १३५)। साम्राज्यवाद जो रिआयतें दे रहा था, राय के अनुसार उनका कारण यह था कि स्वाधीनता प्राप्ति के लिए भारतीय जनता के क्रान्तिकारी उभार को दबाने में राष्ट्रीय पूंजी-पति वर्ग की सहायता प्राप्त करे। भारत के कुछ मार्क्सवादी विवेचकों ने १६४६ में भारतीय पूंजीपति वर्ग को सुधारवादी कहने के बदले जिस तरह उसे क्रान्ति-विरोधी साबित किया था, उसका अभ्यास राय ने १६२६ में ही दे दिया था।

नवम्बर १९२७ की मासेज्ञ आफ इण्डिया पत्रिका में राय ने 'राष्ट्रीय क्रान्ति में पूँजीपति वर्ग की भूमिका' शीर्षक लेख लिखा। इसमे अंग्रेज़ी राज की भूमिका के बारे में उन्होंने लिखा, "भारत पर अंग्रेज़ों की विजय का मूलतः वही महत्व है जो पूँजीवादी क्रान्ति का है (मार्क्स)।" (डाक्यूमेण्ट्स, खण्ड ३ बी, पृ. २८५)। पूँजीवादी क्रान्ति कर देने के बाद थोडी कसर रह गयी उद्योगीकरण में। उसे भी अंग्रेज़ों ने पूरा कर दिया। "भारत मे पूँजीवादी विकास को बढ़ावा देने की नीति अपनाकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग की क्रान्तिकारी भूमिका उससे छीन ली।" (उप., पृ. २८६)। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद भारत में पूँजीवादी विकास को बढ़ावा दे रहा था, यदि राय की यह बात मान ली जाय तो कहना होगा कि वह बडे सुसंगत रूप में अपनी क्रान्तिकारी भूमिका निबाहता ही चला जा रहा था। भारत के पूँजीपति वर्ग को उसने अपना छोटा भागीदार बना लिया था। "दोनों के सामान्य हित हैं और दोनों को क्रान्ति से सामान्य भय है, इस कारण मज़दूर वर्ग के शोषण और उत्पीड़न के लिए वर्ग-संघर्ष मे और भी घनिष्ठ रूप से दोनों का संयुक्त मोर्चा बनता है।" (उप., पृष्ठ २८७)। क्रान्ति से भय के कारण साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीपति वर्ग के संयुक्त मोर्चा बनाने की बात लगभग इन्हीं शब्दों मे कम्युनिस्ट नेताओं ने १९४८ मे दोहरायी थी। कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास लिखना, उस इतिहास का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है, यह इस बात से स्पष्ट हो जायेगा कि जब १९४८ में साम्राज्यवाद और भारतीय पूँजीपति वर्ग के संयुक्त मोर्चे की बात कही जा रही थी, तब किसी ने भविष्यद्रष्टा राय को इस सन्दर्भ में याद ही न किया था।

राय ने अनुपवेशीकरण की व्याख्या करते हुए कहा, "भारत की क्रमशः 'अनुपवेशीकरण' प्रक्रिया के दो भिन्न कारण हैं। एक है पूँजीवाद का युद्धोत्तर संकट और दूसरा है भारतीय जनता का क्रान्तिकारी जागरण। भारत में अपना आर्थिक आधार दृढ़ करने और अपनी स्थिति मज़बूत करने के लिए ब्रिटिश साम्राज्य को बाध्य होकर ऐसी नीति अपनानी पड़ती है जो भारतीय पूँजीपति वर्ग को कुछ रिआयतें दिये बिना अमल मे नही लायी जा सकती। भारत के राष्ट्र-वादी पूँजीपति वर्ग ने ये रिआयतें जीतकर हासिल नही की। साम्राज्यवाद ने (अनिच्छा से, किन्तु बाध्य होकर) उन्हें दान रूप मे दिया है। इस कारण 'अनुपवेशीकरण' की प्रक्रिया भारतीय पूँजीपति वर्ग के 'निष्क्रान्तिकारीकरण' के समानान्तर चलती है।" (उप., पृष्ठ २८७)। अर्थात् साम्राज्यवाद तो बाध्य होकर क्रान्तिकारी होता जाता है, अपना शिकंजा ढीला करता है, औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देता है किन्तु देशी पूँजीपति वर्ग अपना क्रान्तिकारीपन खोता जाता है। अब उसने यह क्रान्तिकारीपन इतना खो दिया है कि वह "क्रान्ति-विरोध के पक्ष मे जा मिला है।" (उप., पृष्ठ २८८)। वह अब राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम मे (ब्रिटिश साम्राज्य से पूरी तरह बाहर होने के लिए) भाग नही लेता, न उसका नेतृत्व करता है या कर सकता है। "भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति पूँजीवादी मंजिल पार कर चुकी है। अब उसे ऐसा कार्यक्रम अमल में लाना होगा जो ऐतिहासिक और वस्तुगत रूप से पूँजीवादी क्रान्ति न होगा क्योंकि वह पूँजी-

वादी समाज की सीमाएँ लाँघकर ही सफल हो सकेगा।" (उप.)।

इस प्रकार साम्राज्यविरोधी संग्राम का कार्यक्रम हटाकर राय ने समाजवादी क्रान्ति का कार्यक्रम मार्क्सवादियों के सामने रखा। उनकी नीति पर चलने से समाजवादी क्रान्ति तो सम्पन्न न हो सकती थी, साम्राज्यविरोधी संग्राम अवश्य छिन्न-भिन्न हो सकता था। जितना ही मजदूर वर्ग अपने नेताओं के संकीर्णतावाद के कारण स्वाधीनता आन्दोलन से अलग-थलग जा पड़ता था, उतना ही पूँजीपति वर्ग को आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ मे बनाये रखने और उसे सुधारवादी ढंग से चलाने का मौका मिलता था।

१९२६ में रजनी पाम दत्त ने आधुनिक भारत (माडर्न इण्डिया) नाम की पुस्तक लिखी जो १९२७ में प्रकाशित हुई। इसमें कई स्थापनाएँ ऐसी थी जिन्हे बाद मे भारत के कम्युनिस्ट नेताओं ने दोहराया। इन स्थापनाओं का सम्बन्ध संकीर्णतावादी भटकावों से था। इसकी भूमिका मे रजनी पाम दत्त ने लिखा था, जैसे ही संकट आता है और भारत के पूँजीपति वर्ग की सम्पत्ति खतरे में पड़ती है वैसे ही वे एक सामान्य क्रान्तिविरोधी मोर्चे में जा मिलते है।

भारतीय पूँजीपति वर्ग की दोहरी भूमिका है, साम्राज्यवादी शोषक बड़ा हिस्सा हड़प जायें और वे छुटभैये बने रहें, यह स्थिति भारतीय पूँजीपतियों को अच्छी नही लगती। सारा माल उन्हें ही हड़पने को मिले तो वे परहेज न करेंगे। जनता के आन्दोलन को वे इस्तेमाल करेंगे जिससे कि अपने लिए और अच्छा सौदा पटा सकें। दूसरी तरफ जन-आन्दोलन के सचमुच विकसित होने का कोई चिह्न दिखायी दे, जिससे कि स्थिति और उनके विशेषाधिकारों को लाजमी खतरा हो, तो वे तुरत पैर पीछे हटायेंगे, साम्राज्यवादी पूँजीपति वर्ग की ओर दौड़ चलेंगे जिससे कि इस वर्ग की तोपें उनकी रक्षा करें। इस प्रकार भारतीय पूँजीपति वर्ग एक ओर राष्ट्रीय उद्देश्य के सच्चे प्रवक्ता और प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है, राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता के नाम पर जनता से कहता है, हमारे पीछे आओ और सभी वर्गभेद भूल जाओ। लेकिन जैसे ही संकट पैदा होता है और उसकी सम्पत्ति खतरे में होती है, वह वर्गहित की वेदी पर बहुत जल्दी राष्ट्रीय उद्देश्य की बलि दे देता है और एक क्रान्तिविरोधी मोर्चे के अन्तर्गत साम्राज्यवादियों से जा मिलता है। भारतीय पूँजीपति वर्ग की इस विश्वासघाती भूमिका से वर्तमान काल में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की मूल समस्या पैदा होती है।

पुस्तक मे आगे कहा गया है : भारत में जो पूँजीवादी विकास इस समय हुआ है, उसे राष्ट्रीय विकास समझना खतरनाक भ्रम है। इसके विपरीत भारत मे वर्तमान पूँजीवादी विकास के सबसे महत्वपूर्ण पहलू ऐसे हैं जिनसे वह भारत मे आधुनिक साम्राज्यवाद की नींव का पत्थर साबित होता है। साम्राज्यवाद भारतीय पूँजीवाद को अपनी लपेट में लेकर उसे अधिकाधिक अपने पीछे घसीट रहा है। नयी साम्राज्यवादी नीति बड़ी चतुराई से पूँजीवादी हितों मे राष्ट्रीय हितो का तादात्म्य स्थापित करती है। इस नीति का फल यह होता है कि राष्ट्रवादी पूँजीवादी प्रतिनिधि सहयोग की गली मे आगे बढ़ चलते है। यही नहीं, वे

दर हकीकत सीधे साम्राज्यवादी हितों के हाथों में खेल जाते है।

ये उद्धरण अधिकारी सम्पादित दस्तावेजों की पुस्तक के पहले खण्ड में हैं (पृष्ठ ३६१)। रजनी पाम दत्त की पुस्तक १९२७ मे प्रकाशित हुई थी। १९२२ में ऐम. ऐन. राय की पुस्तक संक्रमणकालीन भारत प्रकाशित हुई थी। अधिकारी ने लिखा है कि इन दोनों पुस्तकों से उद्धरण यह दिखाने के लिए दिये गये है कि राय ने अपनी पुस्तक मे जैसे विचार प्रकट किये थे, वे लेनिन की मृत्यु के बाद इण्टरनैशनल में काफी प्रसारित हुए।

राय की तरह भारत के औद्योगिक विकास का अतिरंजित चित्र खींचते हुए रजनी पाम दत्त ने उसकी तुलना में रूसी पूंजीवाद को भी पिछड़ा हुआ बताया। "पूंजीवाद विकास की और आगेवाली मंजिल तक पहुँच गया है। वर्ग-संघर्ष और भी तीव्र हो उठा है। अति आधुनिक यूरोपियन अथवा अमेरिकन टाइप के बड़े पैमानेवाले उद्योग धन्धों का विकास अपने समस्त परिणामों सहित अभी दिखायी देने लगा है। किसानों के मुफलिस और क्रान्तिकारी बनने की प्रक्रिया रूस की अपेक्षा भारत में और भी स्पष्ट है। १९२२ के बाद राजनीतिक परिस्थिति में ऐसी मंजिल भी आ गयी है जिसमें विकासमान सामाजिक संघर्ष के मुकाबले में नेतृत्व के लिए पूंजीपति वर्ग का तिरस्कार और उसका अवसान अभी भी स्पष्ट हो गये हैं।" (डाक्यूमेन्ट्स, खण्ड ३ ए, पृ. १२५)। रजनी पाम दत्त अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी राज को भारत के उद्योगीकरण का श्रेय दे रहे थे। यदि इस राज के चलते औद्योगिक विकास में भारत रूस से भी आगे बढ़ गया था तो भारत को पराधीन रहने से कोई विशेष घाटा तो नहीं हुआ! इसके साथ ही वह भारतीय पूंजीवाद और कांग्रेस के प्रभाव को बहुत कम करके आंक रहे थे।

मेरठ षड्यन्त्र के मुकदमे में कम्युनिस्ट नेताओं ने अपने बयान में कहा था, सविनय अवज्ञा आन्दोलन काफी हद तक क्रान्तिकारी आन्दोलन को भंग करने का साधन था। भारतीय पूंजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का विरोध नरमी या गरमी के साथ कर सकता है, लेकिन वह उसके विरुद्ध क्रान्ति नहीं कर सकता। जब जन-क्रान्ति का खतरा पैदा होगा, "तब वह प्रत्यक्ष और सक्रिय रूप से क्रान्तिविरोधी हो जायेगा और जनता के विरुद्ध साम्राज्यवाद का साथ देगा।" (पृ. २७०९)। पूंजीपति वर्ग राष्ट्र का प्रतिनिधि नहीं है, उसकी अगुआई नहीं कर सकता। एक ओर साम्राज्यवाद और उसके सहायक राजाओं और जमींदारों का क्रान्तिविरोधी गुट है, दूसरी ओर मजदूरों, किसानो, शहर के गरीबों, निम्न पूंजीवादियों और क्रान्तिकारी जवानो का गुट है। पूंजीपति वर्ग ऐसी शक्ति है जो कुछ समय तक इन दोनों के बीच झकोले खाता है। प्रारम्भिक मंजिलों मे वह क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास में एक हद तक सहायता करता है लेकिन आगे चलकर वह उसकी प्रगति में अधिकाधिक बाधा देता है, उसे गुमराह करता है, समस्या को उलझाता है और जब क्रान्ति शक्तिशाली हो जाती है तब वह बाध्य होता है कि और भी निश्चित रूप से क्रान्तिविरोधी ताकतों की पाँति में जाकर खड़ा हो। "राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग अन्त में क्रान्तिविरोधी भूमिका निबाहेगा, इस बारे में सन्देह नहीं है। हम देख चुके है कि वह हर तरीके से जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन

को भंग करने का प्रयास करता है। कम से कम एक अवसर पर उसने अवश्य ही जनता के खिलाफ साम्राज्यवादी पुलिस को बुलाया है। "किन्तु भारत का राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग अपने जैसे अन्य देशों के वर्गों की तरह अभी इस मंजिल तक नहीं गया।" (पृ. २७०६)।

यहाँ पूंजीपति वर्ग को ऐसा सुदृढ़ वर्ग माना गया है जिसके भीतर स्तरों का भेद नहीं है, सभी स्तर समान रूप से एक विशेष अवस्था में क्रान्तिविरोधी हो जायेंगे। बी. टी. रणदिवे ने १९४८ में भारतीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका का जो विश्लेषण किया था, वह मेरठवाले दौर की इसी समझ के अनुरूप था। और यह समझ ऐम. ऐन. राय की धारणाओं के अनुरूप थी।

कम्युनिस्ट नेताओं के संकीर्णतावादी रुझान के बावजूद जीवन की परिस्थितियाँ उन्हें कांग्रेस जनों के साथ मिलकर काम करने को विवश कर रही थीं। इसका एक उदाहरण अजय घोष के जीवन से मिलता है। वह कुछ समय तक कानपुर के एक विद्यालय में अध्यापक थे और उस विद्यालय का संचालन स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेनेवाले कांग्रेस जन कर रहे थे। सन् २०-२१ में सरकारी स्कूलों के बायकाट का जोर था। बच्चों की पढ़ाई के लिए नये गैर-सरकारी स्कूलों की व्यवस्था की गयी थी। कानपुर के कांग्रेसी नेता गुरु रघुवरदयाल ने सन् २१ में एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित किया था। यह विद्यालय राजनीतिक कार्यवाही का भी केन्द्र था। इसके प्रधानाचार्य कवि ब्रजभूषण लाल त्रिपाठी थे। वह गांधीजी के भक्त थे और सभी तरह के क्रान्तिकारियों के समर्थक भी थे। चन्द्रशेखर आजाद के प्रसिद्ध सहयोगी सदाशिवराव मलकापुरकर झाँसी में उनके शिष्य थे। झाँसी की सरस्वती पाठशाला जब सरकारी स्कूल से राष्ट्रीय पाठशाला बनी, तब कुछ दिन तक वह वहाँ अध्यापक रहे। ईश्वर-वन्दना के बदले पाठशाला के छात्र उनका रचा हुआ वन्देमातरम् गीत गाते थे। १९२२ में विश्वमित्र कार्यालय, कलकत्ता से राष्ट्रीय सिंहनाद नाम का कविता संग्रह प्रकाशित हुआ था। उसमें उनकी कविता 'कर लेने दो वार' उस समय के जुझारू कांग्रेस जनों की भावना अच्छी तरह प्रकट करती है :

> कर लेने दो वार उन्हें अपना अरमान मिटाने दो।
> हटने को हैं वीर नहीं आफत पर आफत आने दो।
> कष्ट कहाँ तक पहुँचायेंगे जी भरकर पहुँचाने दो।
> *मिट्टी मिले हुए आटे की रोटी खूब खिलाने दो।*
> सबकुछ सहने को उद्यत हैं बनकर स्यार न भागेंगे।
> मरते-मरते मर जायें पर सिंह स्वधेय न त्यागेंगे।

परिणाम यह कि कई बार पुलिस ने विद्यालय की तलाशी ली, फिर एक दिन सारा सामान उठा ले गयी, सामान नीलाम कर दिया गया। इसके बाद सन् ३२ में कानपुर के कांग्रेस जनों ने एक हाई स्कूल खोला। इसमें राष्ट्रीय विद्यालय के प्रायः सभी अध्यापक शामिल हुए, प्रधानाचार्य ब्रजभूषण लाल त्रिपाठी थे। इस हाई

स्कूल में उनके एक सहयोगी अजय घोष थे।* वह नवीं, दसवीं कक्षाओं को गणित पढ़ाते थे। शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा थी। अजय घोष ने सन् ३५ के बाद कांग्रेस के साथ कम्युनिस्ट पार्टी का संयुक्त मोर्चा बनाने मे महत्वपूर्ण भूमिका निबाही थी। कांग्रेस जनों के साथ काम करके उन्होंने जो अनुभव प्राप्त किया था, उससे उन्हें अपने राजनीतिक जीवन में अवश्य प्रेरणा मिली होगी।

इसी सन्दर्भ में कानपुर के कवि छैल विहारी कण्टक को भी याद करना उचित है। वह गाधीवादी थे, कांग्रेस के सक्रिय सदस्य थे, मजदूर वर्ग और साम्यवादी विचारधारा के प्रति उनके मन मे सहानुभूति थी। हिन्दी प्रदेश में स्वाधीनता-आन्दोलन, श्रमिको के शक्तिशाली केन्द्र कानपुर मे, किस प्रकार नयी विचारधारा से प्रभावित होकर भीतर से और भी समर्थ बन रहा था, उसका सामाजिक लक्ष्य कैसे और भी स्पष्ट होता जा रहा था, इसका प्रमाण कण्टकजी की 'मजदूर' कविता है। दया की भीख माँगने के बदले मजदूर यहाँ नये आत्मविश्वास से कहता है :

मैं मालिक मिल-रेल-ट्रेन का, मेरा सब संसार।
मैं असंख्य, पूँजीपति तो है इनेगिने दो चार॥
यों गुलाम होकर न सहूँगा अब मैं अत्याचार।
मैं जागृत मजदूर माँगता हूँ अपने अधिकार॥

यह कविता दिसम्बर १९३१ की है। इसकी भाषा ऐसी है कि मजदूर इसे आसानी से समझ सकते हैं; इसकी शैली ऐसी ओजपूर्ण है कि क्रान्तिकारी मजदूरो को वह पसन्द आयेगी और वे उसे बार-बार पढ़ेंगे।

'दुनिया के मजदूरो से' कविता मार्च १९३५ मे लिखी गयी थी। मजदूर-एकता पर जो कविताएँ लिखी गयी है, उनमे इसका स्थान सम्मानपूर्ण है; इस विषय पर ऐसी ओजस्वी रचनाएँ कम ही होगी :

एक हो दुनिया के मजदूर !
साम्यवाद का पर्व पडा है।
घर-घर मे जीवन उमड़ा है।
एक तुम्हारा ध्येय बडा है—
एक साथ सब कदम बढाओ
कोटि-कोटि कण्ठो का स्वर हो
काँप रहा अवनी अम्बर हो
सिंहासन हिल उठें भयंकर संघर्षों में
सहमे पूँजीवाद, कँपे युग, हो दुख चकनाचूर।
एक हो दुनिया के मजदूर॥

इसी धुन, इसी लय में फिर कहते हैं :

देश के ओ मजदूर-किसान, बहुत दिन सोये लम्बी तान।
उठाये सदियों से अपमान, रहे नंगे-भूखे-अनजान।

* यह जानकारी मुझे त्रिपाठीजी के पुत्र डा. उपेन्द्र से प्राप्त हुई है। उनके झाँसी के जीवन की व्यक्तिगत जानकारी मुझे है क्योंकि त्रिपाठीजी का एक शिष्य मैं भी था।

बढ़ो आने दो नयी हिलोर।
चलो सब साम्यवाद की ओर ।।

यह कविता अप्रैल १९३५ में लिखी गयी थी।

अजय घोष, रुद्रदत्त भारद्वाज, पूरनचन्द जोशी आदि कम्युनिस्ट नेताओं ने कानपुर के मजदूरों में काम करते हुए सीखा कि किस तरह मजदूरों के हित में संघर्ष चलाने के लिए जुझारू कांग्रेसजनों के साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाया जा सकता है। कम्युनिस्ट पार्टी को संकीर्णतावाद के रेगिस्तान से बाहर निकालने में कानपुर के मजदूर आन्दोलन का बहुत बड़ा योगदान था। कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के नेतृत्व में कानपुर की मजदूर सभा कैसे श्रमिक जनता के अधिकारों के लिए लड़ी, इसका विवरण इस पुस्तक के पहले खण्ड में आ चुका है।

४. क्रान्ति की सही दिशा

दूसरा महायुद्ध शुरू होने पर साम्राज्यविरोधी आन्दोलन तेजी से चलाने के लिए नयी सम्भावना पैदा हुई। पहले महायुद्ध के दौरान क्रान्तिकारियों ने बाहर से हथियार लाकर यहाँ क्रान्ति करने के छिटपुट प्रयास किये थे। इनमें सबसे संगठित और महत्वपूर्ण प्रयास गदर पार्टी का था, उसका उल्लेख पहले खण्ड में हो चुका है। तब से अब तक परिस्थिति बहुत बदल चुकी थी। अब भारत में एक संगठित कम्युनिस्ट पार्टी थी, वह गैरकानूनी थी और सदस्य भी बहुत ज्यादा नहीं थे। किन्तु उसके पास शिक्षित और साहसी कार्यकर्ता थे। और उसका राजनीतिक प्रभाव सदस्य-संख्या के अनुपात से बहुत ज्यादा था। उसके अनेक नेता कांग्रेस के सदस्य भी थे। कांग्रेस का सुधारवादी नेतृत्व क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने के पक्ष में नहीं था; वह अधिक से अधिक सत्याग्रह का कार्यक्रम रख सकता था, किन्तु सत्याग्रह भी वह बड़े पैमाने पर चलाने के पक्ष में नहीं था। इसलिए जो लोग क्रान्तिकारी ढंग से आन्दोलन चलाना चाहते थे, वे इस प्रश्न पर विचार करने को बाध्य हुए कि स्वाधीनता-आन्दोलन की बागडोर कांग्रेस के ही हाथ में रहने दी जाये या उसकी जगह कोई दूसरी पार्टी नेतृत्व सम्हाले। हिटलर ने जब सोवियत संघ पर हमला किया, तब कम्युनिस्ट पार्टी ने कुछ समय बाद अपनी नीति में परिवर्तन किया। इस परिवर्तन को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है, और इस बहुत सा लिखने के कारण लोग भूल गये हैं कि इस परिवर्तन के पहले कम्युनिस्ट पार्टी की नीति क्या थी। वह युद्ध का विरोध करती थी, यह तो वे जानते हैं किन्तु क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाने के लिए उसकी नीति क्या थी, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। १९४१ में कम्युनिस्ट पार्टी ने क्रान्ति के लिए जो कार्यक्रम बनाया था, वह कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। १९४२ में कांग्रेस ने जो आन्दोलन चलाया, वह क्यों सफल नहीं हुआ, यह जानने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के उस कार्यक्रम को देखना चाहिए। १९४५-४६ में कम्युनिस्ट पार्टी तथा अन्य वामपन्थी दलों एवं गुटों ने जो आन्दोलन चलाया, उसमें कई कमजोरियाँ थीं। उनका विवेचन उक्त कार्यक्रम को ध्यान में रखने से अच्छी तरह होगा। इसके सिवा १९४७ के बाद कम्युनिस्ट पार्टी और उसके नेतृत्व में काम करनेवाले जनसंगठनों

में कुछ कमजोरियाँ ऐसी बनी रही जिनकी ओर सन् ४१ मे भी कम्युनिस्ट पार्टी सजग थी। १९४७ के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ने १९४८-४९ मे जो नीति अपनायी, उसे समझने मे भी इस कार्यक्रम से सहायता मिलेगी। यह कार्यक्रम **सर्वहारा मार्ग (दि प्रोलिटेरियन पाथ)** नाम की पुस्तिका मे प्रकाशित हुआ।

पुस्तिका के ऊपर एक कार्टून बनाया गया है। दूर पर दिल्ली का किला है जिस पर अंग्रेजी झण्डा फहरा रहा है। इस किले की तरफ हँसिया, हथौड़ा लिये हुए जनता का बहुत बड़ा जुलूस बढ़ता जा रहा है। जनता जो नारे लगा रही है, वे कपड़े की पट्टियो पर लिखे हुए हैं। ये पट्टियाँ बाँसो मे बँधी हुई हैं और जनता उन्हे ऊपर उठाये है। सत्ता पर अधिकार करो! आम हड़ताल! टैक्स बन्द! लगान बन्द! इत्यादि। जुलूस के एक तरफ गाधीजी हैं जिनके हाथ मे एक झण्डा है, उस पर लिखा है चरखा कातो! जुलूस के दूसरी तरफ सुभाषचन्द्र बोस हैं। उनके हाथ में भी झण्डा है, उस पर लिखा है, पीछे हटने के लिए आगे बढो! जुलूस के मार्ग में कई रुकावटें है। पहली रुकावट है—साम्प्रदायिक सद्भावना के लिए जिन्ना से समझौता। दूसरी रुकावट है—राष्ट्रीय एकता के लिए राजाओ से समझौता। तीसरी रुकावट है—साम्राज्यवाद से समझौता, समझौते के लिए सत्याग्रह।

यह कार्टून काफी शिक्षाप्रद है। कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व यह मानता है कि साम्प्रदायिक भेदभाव की जड मुस्लिम लीग है, इसलिए जिन्ना से समझौता करके साम्प्रदायिक शान्ति नही कायम की जा सकती। जैसे जिन्ना से समझौता करना गलत है, वैसे ही राजाओं से समझौता करना गलत है। राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिए देशी रियासतो मे सामन्तविरोधी आन्दोलन चलाना जरूरी होगा। कांग्रेसी नेतृत्व मे जो आन्दोलन चलाया जायेगा, उसकी परिणति समझौते में होगी। इसलिए आम हड़ताल और लगानबन्दी के आन्दोलन चलाकर क्रान्ति के मार्ग पर बढ़ना चाहिए। यदि कांग्रेस के नेता इस मार्ग पर चलने से इन्कार करेंगे, तो जनआन्दोलन उन्हें एक तरफ हटाकर आगे बढ़ेगा। यह मार्ग सर्वहारा वर्ग का मार्ग है और इस वर्ग के साथ वह सारी जनता है जो साम्राज्यवाद से निर्णायक युद्ध करना चाहती है। *सर्वहारा वर्ग का यह कार्यक्रम गुप्त रूप मे प्रकाशित* और वितरित किया गया था।

सर्वहारा मार्ग नाम के इस निबन्ध के आरम्भ मे बताया गया है: हमारी पार्टी गैरकानूनी है। हम खुलकर अपने कार्यक्रम का प्रचार नही कर सकते। दूसरी पार्टियों को ऐसा करने की छूट है। लड़ाई छिड़ने के बाद कानूनी प्रकाशन-कार्य हमारे लिए असम्भव बना दिया गया है। कानूनी प्रकाशन मे हम दूसरी पार्टियों की नीति की आलोचना भर कर सकते है। जो लोग यह जानना चाहते हैं कि वर्तमान परिस्थिति में कम्युनिस्ट नीति क्या है, वे इस दस्तावेज में उसे देख सकेंगे। इससे उन्हें पता चलेगा कि इस समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद मुख्य रूप से हम कम्युनिस्टो पर आक्रमण क्यों कर रहा है। इसके बाद प्रथम महायुद्ध के समय जो जारशाही की स्थिति थी, उससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की तुलना करते हुए कहा गया है: ब्रिटिश साम्राज्य जनसमुदायो का सबसे बडा कारागार है। वह प्रत्येक

देश में सुसंगत रूप से प्रतिक्रियावाद का समर्थन करनेवाला है, फासिस्ट आक्रमण को राह देता है, फ्रांस और स्पेन मे उसने (फासिस्टविरोधी) जनमोर्चे का नाश किया है, सोवियत यूनियन में हस्तक्षेप करने और युद्ध करने के लिए उकसाता रहा है। ब्रिटिश शासक वर्ग इस समय मानव प्रगति का सबसे बड़ा शत्रु है। ब्रिटेन का मुख्य उपनिवेश भारत है और उसकी साम्राज्यवादी शक्ति का मुख्य स्रोत है। इसलिए भारत यदि स्वाधीन होता है तो इससे केवल ३५ करोड़ आदमी दासता से मुक्त न होंगे, इससे विश्व प्रतिक्रियावाद के सबसे शक्तिशाली स्तम्भ पर करारा प्रहार भी होगा। भारत की राष्ट्रीय क्रान्ति विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था में ऐसी दरार डालेगी जो भरी न जा सकेगी; उससे मिस्र, मध्यपूर्व, अफ्रीका में, ब्रिटेन और फ्रांस के हर उपनिवेश में क्रान्तिकारी आन्दोलनों को भारी शक्ति मिलेगी। नयी विश्व-व्यवस्था कायम करने की ओर वह एक निर्णायक कदम होगी।

पूँजीवाद के संकट और विश्वयुद्ध के सन्दर्भ में क्रान्तिकारी उभार की चर्चा करते हुए कहा गया है, पिछले महायुद्ध की तरह किन्तु बहुत बड़े पैमाने पर सारी दुनिया में क्रान्तिकारी उभार आ रहा है। एक ओर साम्राज्यवाद, फासिस्टवाद और युद्ध की शक्तियाँ हैं, दूसरी ओर समाजवाद, जनतन्त्र और शान्ति की शक्तियाँ हैं। इस संघर्ष में भारत तटस्थ नही रह सकता, उसे अपनी स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए इस युद्ध-संकट का क्रान्तिकारी उपयोग करना ही चाहिए। युद्ध ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए भारी संकट पैदा कर दिया है और जैसे-जैसे लड़ाई चलेगी, वैसे-वैसे यह संकट गहरा होता जायेगा। युद्ध के लिए पैसा वसूल करने के उद्देश्य से अंग्रेज भारतीय जनता के सभी स्तरों को लूटते हैं। वे राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग को भी लूटते हैं। अंग्रेज 'आर्डिनेन्सों' के जरिये राज चला रहे हैं। इससे जनता में भारी असन्तोष फैल रहा है। अन्न की कमी के कारण जगह-जगह दंगे हो चुके है। हड़तालें इतने बड़े पैमाने पर हो रही हैं जितने बड़े पैमाने पर पहले कभी न हुई थीं। साम्राज्यवाद जो कदम भी उठाता है, वह जनता को विद्रोह के रास्ते पर ठेलता है।

कम्युनिस्ट पार्टी का विचार था कि ऐसी परिस्थिति मे तात्कालिक कार्य है—भारतीय जनता द्वारा सत्ता पर अधिकार, राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति। इसके लिए पहले प्रमुख उद्योगधन्धों में आम राजनीतिक हड़ताल करना होगा और उसके साथ टैक्स और लगान न देने का आन्दोलन चलाना होगा। जब उद्योग-धन्धे ठप्प हो जायेंगे, यातायात व्यवस्था भंग हो जायेगी, सारा देहात लगानबन्दी की लपेट में आ जायेगा, जब लाखों विद्यार्थी देहात में फैल जायेंगे और सरकार और जनता के बीच आये दिन के संघर्षों मे हिस्सा लेंगे, तब युद्ध ने जो संकट पैदा किया है, उसे जनता की कार्यवाही और भी गहरा बनायेगी और तब वह क्रान्तिकारी संकट का रूप लेगा। तब एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद का शस्त्रबल होगा और दूसरी ओर राष्ट्रीय क्रान्ति की उससे भी समर्थ शक्ति होगी। तब राष्ट्रीय आन्दोलन एक नये और ऊँचे दौर में प्रवेश करेगा। यह सशस्त्र विद्रोह का दौर होगा।

यह दूसरा दौर कैसे शुरू होगा, इसकी कैफियत कम्युनिस्ट पार्टी ने इस प्रकार

दी थी : आम हड़ताल और लगानबन्दी से लाखों आदमी सरकारविरोधी संघर्ष में भाग लेंगे, सरकारी तन्त्र पस्त और अस्त-व्यस्त हो जायेगा, इससे सरकार का पतन न होगा। लेनिन ने १९०५ की क्रान्ति के बारे में कहा था, शहरों में सर्वहारा आम हड़ताल से गाँवों के किसान-आन्दोलन को मिला देने भर से ज़ारशाही का सबसे मजबूत और आखिरी स्तम्भ फौज हिल उठी। किन्तु सरकारी तन्त्र को ठप करना काफी न होगा, उसे ध्वस्त करना होगा। फौज को केवल हिला देने के बदले उसके साधारण सैनिकों को अपनी ओर मिलाना होगा। इसके लिए आन्दोलन को राष्ट्रव्यापी सशस्त्र संघर्ष का रूप लेना होगा। राष्ट्रीय सेवादल (नैशनल मिलीशिया) गाँवों और शहरों पर, थानों और छावनियों पर हमले करेंगे, सरकारी प्रतिष्ठानों का नाश करेंगे, सरकारी सैन्यदल के खिलाफ बड़े पैमाने पर हल्ला बोलेंगे। ये सब कार्य क्रमशः संघर्ष की मुख्य विशेषताएँ बनते जायेंगे। जन-आन्दोलन की परिणति यह होगी कि साम्राज्यवाद का अन्तिम स्तम्भ चरमराने लगेगा। भारतीय सेना के भीतर गम्भीर संकट पैदा होगा, साधारण भारतीय सैनिक अधिकाधिक राष्ट्रीय सेवादल से आ मिलेंगे। लोक शक्तियों के प्रहार से *राज्यसत्ता का सारा तन्त्र* चूर-चूर *हो जायेगा। जो दल और संस्थाएँ विजयी* जनक्रान्ति की प्रतिनिधि होंगी, वे अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार बनायेंगी और संविधान सभा बुलायेंगी। यह संविधान सभा व्यापक बालिग मताधिकार के आधार पर चुनी जायेगी, उसमे विजयी जनक्रान्ति की सत्ता निहित होगी। वह स्वाधीन भारत का संविधान बनायेगी।

क्रान्ति के बाद स्वाधीन भारत की रूपरेखा इस प्रकार होगी : साम्राज्यवादी राज्यसत्ता की जगह जनता का लोकवादी प्रजातन्त्र (डिमोक्रेटिक रिपब्लिक आफ दि पीपुल) कायम होगा। मौजूदा पैसा कमाऊ फौज की जगह जनता की फौज होगी। राष्ट्रीय सेवादल विकसित होकर इस फौज का रूप लेगा। वर्तमान लोक सेवा (सिविल सर्विस) और पुलिस की जगह निर्वाचित कर्मचारी और सशस्त्र स्वयंसेवक (आर्म्ड गार्ड्स) होंगे, ये जनता के सेवक होंगे, उसके स्वामी नहीं। ज़मींदारी प्रथा खत्म की जायेगी, किसानों के कर्ज रद्द कर दिये जायेंगे। मजदूर दिन में आठ घण्टे ही काम करेंगे और अल्पतम पगार निश्चित की जायेगी। साम्राज्यवाद ने जो सड़ी-गली समाज-व्यवस्था कृत्रिम ढंग से सुरक्षित की है, क्रान्ति उसे उठाकर एक तरफ कर देगी। उसकी जगह जनतन्त्र और जनता की खुशहाली के आधार पर वह नयी समाज-व्यवस्था की नींव डालेगी।

कांग्रेसी कार्यक्रम से अपने कार्यक्रम का भेद बताते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने कहा, गांधीवादी कार्यक्रम है कि साम्राज्यवाद की सहमति से संविधान सभा बुलायी जाये; इसके बदले कम्युनिस्ट पार्टी संविधान सभा को विजयी क्रान्ति की परिणति मानती है, उस सभा में सत्ता निहित होगी। गांधीवादी कल्पना औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार करती है, उसमें विदेशी फौज रहेगी, लोक सेवा (सिविल सर्विस) रहेगी, साम्राज्यवादी पुलिस रहेगी। इसके बदले जनता का प्रजातन्त्र, जनता की फौज, निर्वाचित कर्मचारी, सशस्त्र राष्ट्रीय सेवादल (आर्म्ड नैशनल गार्ड्स), जनता के सामने कम्युनिस्ट यह लक्ष्य रखते हैं। स्वराज्य की

गांधीवादी धारणा के अनुसार समाज के ढाँचे में कोई बुनियादी तब्दीली नहीं होती, लगान का भारी बोझ और साहूकार की गुलामी, ये दोनों चीजें ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। कम्युनिस्ट जमींदारी और कर्जदारी दोनों को रद्द करेंगे। गांधीवादी आदर्श है कि कारखानेदारों के पास उनकी सम्पत्ति धरोहर के रूप में है। इसके बदले कम्युनिस्ट अभी ऐसी समाज व्यवस्था के लिए लड़ेंगे जिसमें कार्य दिवस आठ घण्टे का होगा और अल्पतम पगार मिलने की गारण्टी होगी।

संघर्ष के रूपों के बारे में दस्तावेज में कहा गया है : राष्ट्रीय आन्दोलन को इस क्रान्तिकारी सतह तक ले जाने के लिए कम्युनिस्ट व्यापक पैमाने पर आम हड़ताल के हथियार का उपयोग करेंगे। जैसा कि लेनिन ने कहा था : १९०५ में इस हथियार के उपयोग ने सोते हुए रूस को जगाया और उसे क्रान्तिकारी सर्वहारा और क्रान्तिकारी जनता के रूस में बदल दिया। इस हथियार को इस्तेमाल करके रूस का सर्वहारा वर्ग जनवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन का नेता बना। राजनीतिक और आर्थिक हड़तालों को मिलाने ने आम रूसी जनता ज़ारशाही के खिलाफ सक्रिय संघर्ष में खिंच आयी, आन्दोलन का भारी प्रसार हुआ और उसमें प्रहार करने की जबर्दस्त ताकत पैदा हुई। पिछले छह महीने की घटनाओं ने दिखा दिया है कि भारतीय मजदूर वर्ग क्या कर सकता है। बम्बई के ९० हजार मजदूरों ने युद्ध के खिलाफ हड़ताल की, स्वाधीनता-दिवस पर कानपुर के ३० हजार मजदूरों ने हड़ताल की, स्वाधीनता-दिवस के प्रदर्शनों में कलकत्ता, कोयम्बतूर, शोलापुर और अन्य केन्द्रों के मजदूरों ने संगठित होकर भाग लिया। इस सबने साबित कर दिया है कि इतिहास में पहली बार भारत का मजदूर वर्ग राष्ट्रीय पैमाने पर स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर रहा है। युद्ध भत्ते की माँग को लेकर बम्बई, कानपुर, नागपुर में जो जंगी हड़तालें चल रही हैं, वे सर्वहारा को प्रशिक्षित और एकताबद्ध कर रही हैं, और फौलाद की तरह मजबूत बना रही हैं, भावी निर्णायक संघर्षों के लिए उसे तैयार कर रही हैं। इन संघर्षों के जरिये सर्वहारा वर्ग गैर-सर्वहारा जनता पर भारी असर डाल रहा है। आम हड़ताल से काम लेने का सर्वहारा कौशल कम्युनिस्ट प्रभाव के कारण छात्र-आन्दोलन का कौशल बन गया है। स्वाधीनता-दिवस पर छात्रों की जो बड़ी-बड़ी हड़तालें हुईं, छात्रों और मजदूरों के नेताओं की गिरफ्तारी के खिलाफ कलकत्ते के विद्यार्थियों ने जो हड़तालें कीं, उनसे यह सब बहुत स्पष्ट हो जाता है।

इसके बाद कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने उन कार्यों का उल्लेख किया है जिन्हें पूरा करना उसके जीवन के प्रत्येक दौर में आवश्यक रहा है। जन संघर्षों को और अधिक विकसित करना, कम्युनिस्ट पार्टी के सर्वहारा आधार को और मजबूत बनाना, कम्युनिस्ट पार्टी को जन पार्टी (मासपार्टी) के रूप में विकसित करना, आम मजदूरों को पार्टी से परिचित कराना, मजदूर सभाओं को आम मजदूरों की सभाएँ बनाना, नौजवान जुझारू मजदूरों को इकट्ठा करके स्वयंसेवक दल बनाना, ऐसा दल जो आनेवाले दौर में सर्वहारा और राष्ट्रीय सेवादल का आधार बने, ये सब तात्कालिक कार्य हैं। संघर्ष के रूपों के बारे में कहा गया है, आनेवाले तूफानी दौर में राजनीतिक दमन तेज होगा, आर्थिक संकट गहरा होगा, तब

जनता की शक्ति को पस्त होने और बिखरने से बचाने के लिए मजदूरों और छात्रों की हड़ताल बहुत कारगर सिद्ध होगी। जनता की क्रान्तिकारी भावना तेज होगी, राष्ट्रीय एकता दृढ़ होगी। मजदूर नेताओं की गिरफ्तारी पर जब छात्र हड़ताल करते हैं, किसानों और रियासती जनता के ऊपर गोली चलाये जाने पर मजदूर काम बन्द कर देते हैं, तब ऐसे कार्यों से जनता का हर स्तर समझेगा की वह संयुक्त राष्ट्रीय सेना का अंग है। जो आदमी सरकारी दमन का शिकार होगा, वह समझेगा कि वह अकेला नहीं है।

जनवादी क्रान्ति में किस वर्ग का नेतृत्व हो, यह सवाल कम्युनिस्ट पार्टी ने बहुत साफ़-साफ़ पेश किया था। राष्ट्रीय आन्दोलन की गति को जो बात निर्णायक रूप में प्रभावित करेगी, वह इस प्रश्न का उत्तर है: भारतीय किसान किसके नेतृत्व में और किसके साथ आगे बढ़ेंगे? राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति ऐसी क्रान्ति है जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सफाया करेगी, उसके साथ जमींदारी, कर्ज़दारी वग़ैरह खत्म करेगी, लगान का बोझ खत्म करेगी। ऐसी क्रान्ति के पूरा होने पर ही किसानों की बुनियादी समस्याएँ हल हो सकती हैं। राष्ट्रीय पूंजी-पति वर्ग ऐसी क्रान्ति का नेतृत्व नहीं कर सकता। यह काम केवल सर्वहारा वर्ग कर सकता है। यदि किसान पूंजीवादी नेतृत्व में काम करते हैं और उस वर्ग का ऐसा आरक्षित दल बनाते हैं जो समय आने पर युद्ध में इस्तेमाल किया जाय, तो राष्ट्रीय आन्दोलन या तो पराजित होगा या समझौता करेगा। इसलिए सर्वहारा वर्ग किसानों के साथ क्रान्तिकारी सहयोग कायम करके, किसानों का नेतृत्व पाने के लिए निर्णायक कदम उठाकर ही राष्ट्रीय क्रान्ति की सफलता निश्चित कर सकता है। पिछले चार साल में सगठित किसान-आन्दोलन ने ज़बर्दस्त प्रगति की है। उसके आधार पर कम्युनिस्ट किसान जनता को तैयार करेंगे कि नये दौर में वे अपनी भूमिका पूरी करें। किसानों के मार्च, उनकी रैली, लगानबन्दी, जमींदारों और पुलिस के खिलाफ उनके संघर्ष, कम्युनिस्ट इन सबका व्यापक प्रयोग करेंगे। "पिछले छह महीने में सबसे भद्दी बात यह हुई है कि किसान सभा के काम की तरफ मुजरिमाना रुख अपनाया गया है। किसान सभा की सदस्य-संख्या में जो तेज गिरावट आयी है, उससे यह बात साफ हो जाती है। यह रुख अन्तिम रूप में और निर्णायक रूप में छोड़ दिया जायेगा।" किसान जो माल बेचते हैं, उसका अल्पतम मूल्य निश्चित किया जाय, जो माल वे खरीदते हैं, उसका अधिकतम मूल्य निश्चित किया जाय, इन माँगों के आधार पर हर सूबे में शक्तिशाली किसान आन्दोलन विकसित किया जायेगा। ज़बर्दस्ती रंगरूटों की भर्ती, ज़बर्दस्ती से की जानेवाली तरह-तरह की वसूली, इनके खिलाफ प्रतिरोध संगठित किया जायेगा और सारे संघर्ष को देशव्यापी लगानबन्दी के आन्दोलन की ओर आगे बढ़ाया जायेगा। किसान सभाओं के जन आधार को तुरन्त मज़बूत करना, किसान सभाओं को आम किसान सभाएँ बनाना, किसानों के स्वयंसेवक-दल का संगठन करना जो आगे चलकर किसान और राष्ट्रीय सेवादल बने, देहात में पार्टी इकाइयों को मज़बूत करना, इस समय गाँवों में कम्युनिस्टों के यही कार्य हैं।

सत्याग्रह का हथियार नाकाफी है किन्तु आम जनता का सत्याग्रह हो तो

उसका स्वागत किया जायेगा। कम्युनिस्ट पार्टी का कहना था, राष्ट्रीय आन्दोलन सत्याग्रह द्वारा क्रान्तिकारी परिणाम तक नहीं पहुँच सकता, इसलिए कम्युनिस्ट उसे अस्वीकार करते हैं। किन्तु अब मजदूरों, किसानों और छात्रों की संगठित शक्ति इतनी जबर्दस्त है कि वे अपनी स्वतन्त्र कार्यवाही के जरिये आम जनता के सत्याग्रह को आम जनता का क्रान्तिकारी आन्दोलन बना सकते हैं। इसलिए आम जनता के सत्याग्रह का विरोध करना तो दूर, कम्युनिस्ट इस बात की कोशिश करेंगे कि ऐसी परिस्थिति पैदा हो जिसमें कांग्रेस को जनसंघर्ष का आह्वान करना पड़े, भले ही वह सत्याग्रह के रूप में हो। कम्युनिस्ट नेतृत्व का विचार था कि देशव्यापी सत्याग्रह का आह्वान कांग्रेस करे, तभी बड़े पैमाने पर सत्याग्रह होगा। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक, या संयुक्त वामपक्ष भी ऐसे सत्याग्रह का नारा लगाये, तो आम जनता उसमें हिस्सा न लेगी, क्योंकि वह दक्षिणपन्थियों के प्रभाव में है। इसलिए ऐसे सत्याग्रह का क्रान्तिकारी विकास न होगा और कम्युनिस्ट वैसे आह्वान का विरोध करेंगे। जब कांग्रेस जनसत्याग्रह शुरू करेगी, तब कम्युनिस्ट उसमें सक्रिय रूप से भाग लेंगे, सरकारी शक्तियों से जो भी टक्कर होगी, उसमें वे आगे बढ़कर हिस्सा लेंगे। प्रचार द्वारा और आम हड़तालों के वास्तविक विकास द्वारा कांग्रेस-प्रभावित जनता को दिखायेंगे कि संघर्ष का सर्वहारा तरीका किस तरह ज्यादा कारगर होता है और इस तरह उसे अपने पक्ष में करेंगे।

जब कांग्रेस जनसत्याग्रह शुरू करेगी, कम्युनिस्ट तभी उसमें भाग लेंगे, पार्टी ने जब यह निर्णय किया तब महत्वपूर्ण प्रश्न यह हो गया कि कांग्रेस ऐसा सत्याग्रह छेड़ेगी या नहीं। इस बारे में पार्टी नेतृत्व का कहना था : राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता जानते हैं कि जनसत्याग्रह का नतीजा क्या होगा। युद्ध के कारण गम्भीर क्रान्तिकारी संकट का दौर शुरू हो गया है। जनआन्दोलन शक्तिशाली और परिपक्व हो चुका है। ऐसी हालत में जनसत्याग्रह लाजमी तौर से क्रान्तिकारी धाराओं में बह चलेगा। इसलिए वे हर तरह के संघर्ष से बचने की कोशिश करते हैं, वे निष्क्रियता और गतिरोध के कौशल से काम लेते हैं। इस तरह गांधीवादी नेता कांग्रेसी जनता में पस्ती फैलाने की कोशिश करते हैं और ऐसा वातावरण बनाते हैं जो सम्मानजनक समझौते के अनुकूल हो। ये लोग तय कर चुके हैं कि कांग्रेस के जरिये समझौते की नीति लागू करके रहेंगे। इसलिए उन्होंने कांग्रेस को विघटित करने का अभियान चला दिया है। वे आम जनता और उसके संघर्ष से भय खाते हैं, उन्होंने इस ओर से अपना मुँह मोड़ लिया है और अब उन्हें समझौते की आशा इस बात में है कि आग भड़क उठी तो सरकार को अधिकाधिक कठिनाइयों का सामना करना होगा। साम्राज्यवाद ने जनता के सभी स्तरों के खिलाफ अपना हमला तेज कर दिया है। इनमें पूँजीपति भी हैं। इस बात से पूँजीपति संघर्ष के हिमायती नहीं हो गये। इसके विपरीत यह जानकर कि परिस्थिति विस्फोटक है, वे पहले से भी ज्यादा संघर्षों के खिलाफ हो गये हैं। युद्ध ने जो संकट पैदा किया है, वह दिन-पर-दिन गहरा होगा और परिस्थिति अधिकाधिक क्रान्तिकारी होती जायेगी, ऐसी हालत में राष्ट्रीय नेतृत्व संघर्ष से और भी भयभीत होगा और इसी बात से उसकी नीति निर्धारित होगी। इसके साथ ही

साम्राज्यवाद और पूँजीपति वर्ग के बीच का द्वन्द्व तेज़ होगा क्योंकि साम्राज्यवाद सारे देश का शोषण तेज़ करेगा। ऐसी परिस्थिति मे राष्ट्रीय नेतृत्व यह नीति निर्धारित करेगा कि साम्राज्यवाद को क्रान्ति का हौवा दिखाकर डराये, आम जनता को रोके रहे और साम्राज्यवाद से रिआयतें लेने के लिए इन्ही संघर्षों का उपयोग करे। दिन पर दिन परिस्थिति विस्फोटक होती जायेगी, दिन पर दिन राष्ट्रीय नेतृत्व संघर्ष-विरोधी बनता जायेगा और उसके दावपेंच ऐसे होगे जो राष्ट्रीय एकता को विघटित करनेवाले होगे।

गांधीवाद की सख्त आलोचना करते हुए पार्टी नेतृत्व ने लिखा : वह साम्राज्यवाद को क्रान्तिकारी शक्तियो का अलगाव करने और उनका नाश करने का अवसर देता है, वह सत्याग्रही के कर्तव्य के बारे मे शब्दजाल द्वारा अपनी कायरता और दिवालियापन छिपाता है, वह खुलकर राजनीतिक हड़तालों का विरोध करता है, जनसत्याग्रह का भी विरोध करता हैं, वह रियासतों के मामलो मे, युद्ध के मामले में, आर्डिनेन्सों के मामलो मे साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेकता है, इसके साथ ही संघर्ष की शक्तियो के खिलाफ डटकर अभियान चलाता है। युद्ध छिड़ने के बाद से गांधीवाद ने अपने अन्तिम और सबसे प्रतिक्रियावादी दौर मे प्रवेश किया है। उसकी अब कोई भी प्रगतिशील भूमिका नही रह गयी, वह एकता कायम नही रख सकता, राष्ट्रीय शिविर मे, राष्ट्रीय कांग्रेस के भीतर इस समय वह विघटन और पस्ती फैलानेवाली सघर्ष-विरोधी शक्ति है। युद्ध के मामले मे समझौता, इस समय यह गांधीवाद का सारतत्व है। अपनी नीति को लागू करने का कौशल है गतिरोध, निष्क्रियता; इसलिए गतिरोध और समझौते के खिलाफ संघर्ष का मतलब है, गांधीवाद से संघर्ष।

गांधीवाद को ललकारते हुए पार्टी नेतृत्व ने कहा : गाधीजी के नेतृत्व में आस्था की घोषणा करने के बदले जमकर उसका पर्दाफाश करना चाहिए। नीति यह न होगी कि गांधीवादी नेतृत्व को समझा-बुझाकर या धक्का देकर संघर्ष में लाया जाय, नीति यह होगी कि उसका अलगाव किया जाय और आम जनता पर उसके प्रभाव को खत्म किया जाय। उसके अहिंसावादी नकाब को उतार फेंकना चाहिए और बताना चाहिए कि वह समझौतावादी पूँजीपति वर्ग की नीति है। चरखा, खद्दर और रचनात्मक कार्यक्रम की शास्त्रीय आलोचना करने के बदले कि ये आर्थिक रूप से क्षति करते हैं, राजनीतिक रूप से आलोचना करते हुए बताना चाहिए कि यह मुख्य समस्या से अलग हटने का तरीका है और इससे राष्ट्रीय शक्तियां विभाजित होती हैं। कांग्रेस मे अधिकारवाद (ऑथोरिटेरियनिज्म) बढ रहा है, यह कहने के बदले बताना चाहिए कि कांग्रेस की कार्यसमिति मे सब लोग एक ही मत के हों, इस मांग का उद्देश्य कांग्रेस को ऐसा आज्ञाकारी संगठन बना देना है जो समझौते की नीति पर अमल करे। गांधीवाद का राजनीतिक रूप मे पर्दाफाश करना है; इस काम मे कम्युनिस्ट पूरी ताकत से जुट जायेंगे।

क्या कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद और गांधीवाद दोनों से एक साथ लड़ाई चलायेंगे? पार्टी नेतृत्व का कहना था : जनता का एक ही मोर्चा है और वह

ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ है। इस राष्ट्रीय मोर्चे के भीतर गांधीवाद संघर्ष-विरोधी विघटनकारी प्रवृत्ति है। जितना ही गांधीवाद के स्वरूप का पर्दाफाश *किया जायेगा*, उतना ही हम साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता को गोलबन्द करेंगे, समझौतावादियों का जितना ही *अलगाव होगा*, उतना ही जनता के मोर्चे में एकता कायम कर सकेंगे। दो मोर्चों वाली बात का मतलब यह होता है कि शब्दों में समझौते की निन्दा की जाय किन्तु साम्राज्यवाद और युद्ध के मामले में काम कुछ न किया जाय। उसका मतलब होता है, साम्राज्यवादी आतंक से मत लड़ो, आर्थिक बदहाली, आर्डिनेन्स-राज के खिलाफ कदम उठाने के लिए जनता को गोलबन्द मत करो। इससे समझौतावादियों और उनकी नीति को बल मिलता है। उससे जनता के जुझारू मोर्चे में फूट पड़ती है। यह गम्भीर क्रान्तिकारियों का नारा नहीं है। कांग्रेस की कार्यसमिति में जो गुटबन्दीवाले विरोधी हैं, यह उनका नारा है, यह राजनीतिक विरोधियों का नारा नहीं है। दो कांग्रेसों का नारा सुभाषचन्द्र बोस ने दिया है, कम्युनिस्ट उसे निश्चित रूप से अस्वीकार करते हैं। *संघर्ष की शक्तियाँ कांग्रेस से अलग हो जायें और* दूसरी कांग्रेस बना लें, इससे पूंजीपति वर्ग का, समझौतावादियों का राजनीतिक अलगाव न होगा। जो राष्ट्रीय एकता अब तक कायम हो चुकी है, वह और मजबूत होने के बदले उससे नष्ट हो जायेगी। उससे समझौतावादियों का नहीं, संघर्ष की शक्तियों का अलगाव होगा। उससे विघटन समाप्त न होगा बल्कि और बढ़ेगा।

पूंजीपति वर्ग को अलगाव की हालत में डालने का मतलब क्या होता है, यह समझाते हुए कम्युनिस्ट पार्टी ने कहा: इसका मतलब उसके लक्ष्य और उसकी नीति के प्रभाव से जनता को मुक्त करना है। यह कार्य केवल गांधीवाद की आलोचना से नहीं हो सकता। राजनीतिक दमन और आर्थिक शोषण के खिलाफ किसानों और मजदूरों के आन्दोलन से यह कार्य हो सकेगा। समझौता करनेवाले उस समय अलगाव की हालत में होंगे जब जनवादी प्रजातन्त्र, जनता की फौज, कर्जदारी और जमींदारी के खात्मे के नारे सारे राष्ट्रीय आन्दोलन के नारे हो जायेंगे। जब साम्राज्यवादी आतंक और आर्थिक शोषण का जवाब जनता की कार्यवाही से दिया जायेगा, कांग्रेसी नेता विश्वासघात करेंगे तो उसका जवाब भी ऐसी ही कार्यवाही से दिया जायेगा, तब मालूम होगा कि जनता ने उनकी नीति और आन्दोलन चलाने के उनके तरीके छोड़ दिये हैं। कम्युनिस्टों के लिए *साम्राज्यवादी युद्ध के खिलाफ संघर्ष और समझौते के खिलाफ संघर्ष अलग-अलग* नहीं हैं। वे विदेशी सत्ता के खिलाफ राष्ट्रीय आन्दोलन को जनक्रान्ति में बदलने के लिए एक ही संघर्ष के अन्तर्गत हैं। गांधीवादी नेतृत्व राष्ट्रीय एकता भंग कर रहा है, कांग्रेस की विरासत खत्म कर रहा है, ऐसे समय ऊपर बताये संघर्ष के द्वारा सर्वहारा वर्ग विघटनकारियों को अलग करेगा, कांग्रेस की शानदार परम्पराओं को लेकर आगे बढ़ेगा, राष्ट्र को एकताबद्ध करेगा, इस प्रकार वह *राष्ट्रीय आन्दोलन में सूत्रधार की भूमिका निबाहेगा।* यदि कोई पूछे कि समझौतावादियों का अलगाव हो जाने पर भी कांग्रेस की बागडोर उन्हीं के हाथ में रहती है, कांग्रेस के भीतर जनतन्त्र को खत्म करके वे बागडोर थामे रहते हैं, तब हमें

क्या करना होगा, तो कम्युनिस्टों का उत्तर यह होगा : ऐसी हालत पैदा होने तक जनसंघर्ष इतना शक्तिशाली हो जायेगा कि वह मौजूदा नेतृत्व को उखाड़ फेंकेगा और उसके साथ जिस संगठन को वे अपनी जेब में रखे हैं, वह भी उखाड़ फेंका जायेगा। तब तक संघर्ष की नयी संस्थायें पैदा हो जायेंगी और उनके आधार पर जनता की नयी एकता कायम हो चुकी होगी।

वैकल्पिक नेतृत्व का नारा काफी समय से ऐम. ऐन. राय भी देते आये थे। उनसे अपना मतभेद स्पष्ट करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी ने कहा : राष्ट्रीय आन्दोलन में सर्वहारा वर्ग सूत्रधार हो, यह नीति राय के वैकल्पिक नेतृत्ववाले नारे से बिल्कुल अलग है। मौजूदा नेतृत्व राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि है; वह राष्ट्रीय आन्दोलन को क्रान्ति की मंजिल तक नहीं ले जा सकता। उनके वर्गहित में और राष्ट्र के हित में जो भेद है, वह बढ़ रहा है। युद्ध का संकट जितना ही और गहरा होगा, उतना ही यह भेद बढ़ेगा। एक मंजिल में यह नेतृत्व राष्ट्रीय आन्दोलन में एकता पैदा कर रहा था, अब वह इस भेद के बढ़ने के साथ-साथ विघटनकारी होता जायेगा। जो वर्ग सबसे सुसंगत रूप से क्रान्तिकारी है, जिसका हित बहुसंख्यक जनता के हित के अनुकूल है, अभी है और साम्राज्यवाद की पराजय के बाद भी रहेगा, वही वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अधिकाधिक अपने हाथ में लेगा। सर्वहारा वर्ग संघर्ष को विकसित किये बिना किसी संगठनात्मक हथकण्डे से, कांग्रेस को विघटित करके राष्ट्रीय आन्दोलन का नेता नहीं बन सकता। जनसंघर्षों का विकास करके, राष्ट्रीय आन्दोलन पर अपनी छाप छोड़कर, राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति के पूरे कार्यक्रम का सुसंगत समर्थन करके वह नेता बनेगा। साम्राज्यवादी आतंक किसी के भी खिलाफ हो, सर्वहारा वर्ग उसका विरोध करेगा। वह कांग्रेस को, राष्ट्र को एकताबद्ध करेगा। सरकार के खिलाफ संघर्ष चलाकर वह क्रमशः राष्ट्र को एकताबद्ध करेगा और उसका नेतृत्व हासिल करेगा। ऐम. ऐन. राय ने कांग्रेसी जनसत्याग्रह का विरोध किया, बम्बई के मजदूरों की युद्ध विरोधी हड़ताल का विरोध किया। मजदूर वर्ग के स्वतन्त्र राजनीतिक कार्य का विरोध करके राय ने स्पष्ट कर दिया कि वैकल्पिक नेतृत्व उनके लिए सर्वहारा नेतृत्व नहीं है बल्कि वैकल्पिक पूंजीवादी या निम्न पूंजीवादी नेतृत्व है। इस वैकल्पिक नेतृत्व के संघर्ष का तरीका क्या होगा, मौजूदा नेतृत्व के तरीके से वह किस बात में अलग होगा, राय ने इस बात का जवाब नहीं दिया। वह कहते हैं कि सत्याग्रह तो न होगा लेकिन और क्या होगा, यह बताते नहीं! वह बता भी नहीं सकते क्योंकि सत्याग्रह का एक मात्र विकल्प आम हड़ताल और लगानबन्दी है। और इनके लिए वह कहते हैं कि इनमें व्यर्थ ही शक्ति नष्ट होती है। उनके विचार से समझौता अनिवार्य है, क्रान्तिकारियों का काम लोगों को शिक्षित करना और विचारधारात्मक संघर्ष चलाना है। जनसंघर्षों का रास्ता वह अस्वीकार करते हैं।

वामपक्ष की अन्य पार्टियों से अपना भेद बताते हुए कम्युनिस्ट पार्टी ने कहा : कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक आदि से कम्युनिस्ट इस बात में भिन्न हैं कि उनके (कम्युनिस्टों के) विचार से समझौता अनिवार्य नहीं है। आज एक कार्यनीति हो और समझौता हो जाने पर दूसरी कार्यनीति अपनायी जाय, ऐसा वे नहीं

सोचते। जनता की स्वतन्त्र कार्यवाही मुख्य अस्त्र है, इसी के द्वारा समझौता रोका जा सकता है, राष्ट्रीय एकता सुरक्षित की जा सकती है, कांग्रेस को संघर्ष की ओर ठेला जा सकता है, जनता की स्वतन्त्र कार्यवाही के लिए सत्याग्रह को जनक्रान्ति में बदला जा सकता है। जनता की स्वतन्त्र कार्यवाही ही ऐसा हथियार है कि समझौता हो भी जाये तो उसे खत्म किया जा सकता है।

जन आन्दोलन के लिए कांग्रेस महत्वपूर्ण साधन होगी, इस बारे में पार्टी का कहना था कि मज़दूरों और किसानों के वर्ग-संगठनों के द्वारा स्वतन्त्र कार्यवाही पर भरपूर ज़ोर देने के साथ-साथ कम्युनिस्ट कोशिश करेंगे कि कांग्रेसजन आन्दोलन का साधन बनें। ऊपरवाले नेता संघर्ष के लिए आवाज़ लगाते हैं या नहीं, इसकी राह देखे बिना जहाँ भी वे कांग्रेस संगठनों को प्रभावित करते होंगे, वहाँ वे कांग्रेस के स्वयंसेवक दल बनायेंगे, कांग्रेसी इकाइयों को लड़ाकू आधार पर मुस्तैद करेंगे। इन इकाइयों के पास प्रशिक्षित संगठनकर्ता होंगे, पाठ्य-सामग्री के प्रकाशन और वितरण के लिए आवश्यक तन्त्र होगा। नागरिक अधिकारों के दमन के खिलाफ स्थानीय कांग्रेसी इकाइयों को संघर्ष चलाने में पहल करनी चाहिए। लड़ाई के भत्ते के लिए, कीमतें निश्चित करने के लिए मज़दूर और किसान जो संघर्ष करें, उन्हें उसका सक्रिय समर्थन करना चाहिए। इस प्रकार विकासमान संघर्षों से नाता जोड़कर कांग्रेसी इकाइयाँ मज़बूत होंगी और कांग्रेसी नेतृत्व को प्रभावित कर सकेंगी। इस प्रकार समझौतावादियों के खिलाफ संघर्ष करके, दृढ़तापूर्वक राष्ट्रीय क्रान्ति के पूरे कार्यक्रम के लिए लड़कर, आम हड़ताल और जनता की कार्यवाही का भरपूर विकास करके कम्युनिस्ट अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध आम जनता के क्रान्तिकारी विद्रोह का आधार तैयार करेंगे। इस उद्देश्य को सामने रखते हुए वे पार्टी को मज़बूत करेंगे और उसे जन-पार्टी बनायेंगे। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए वे कांग्रेस के भीतर काम करेंगे, कांग्रेस को संघर्ष का साधन बनाने के लिए उसे मज़बूत करेंगे, उसके विघटन का विरोध करेंगे। इसी उद्देश्य को सामने रखते हुए वे वर्ग-संगठनों को मज़बूत करेंगे और मज़दूरों, किसानों और कांग्रेसी लोगों के स्वयंसेवक दल बनायेंगे। आगे चलकर इनसे क्रान्तिकारी राष्ट्रीय सेवादल बनेगा। कम्युनिस्ट नयी परिस्थिति का क्रान्तिकारी स्वरूप पहचानते हैं, वे जानते हैं कि इस दौर में प्रत्येक संघर्ष से क्रान्तिकारी सम्भावनाएँ पैदा होती हैं। इसलिए वे हर संघर्ष में आगे बढ़कर हिस्सा लेंगे। अपने काम के ज़रिये और काम के दौरान राष्ट्रीय शक्तियों के अग्रदल होने का दावा वे सिद्ध करेंगे। इस कार्यक्रम को पूरा करके भारत की कम्युनिस्ट पार्टी विश्व कम्युनिस्ट आन्दोलन में योग्य स्थान प्राप्त करेगी।

अन्त में पार्टी नेतृत्व ने कहा: साम्राज्यवाद के सड़े-गले ढाँचे को हटाकर हम कम्युनिस्ट नये भारत का निर्माण करना चाहते हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद मानव प्रगति का सबसे बड़ा शत्रु है। हम चाहते हैं कि हमारा देश उस पर घातक प्रहार करे, इस डाकू युग को खत्म करने में उसका योगदान निर्णायक हो, शान्ति, जनतन्त्र और प्रगति का नया संसार रचने में हमारे देश की भूमिका शानदार हो।

कम्युनिस्ट पार्टी ने अब तक जितने दस्तावेज़ प्रकाशित किये थे, उनमें यह

सर्वहारा मार्ग वाला दस्तावेज शायद सबसे महत्वपूर्ण था। सन् ३४ के पहले पार्टी की नीति में जो संकीर्णतावादी रुझान था, वह यहाँ लगभग समाप्त हो गया है। यहाँ देशी पूँजीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद को समान रूप से भारतीय जनता का शत्रु नहीं माना गया, साम्राज्यवाद के साथ पूँजीवाद को भी समाप्त कर देने का लक्ष्य सामने नहीं रखा गया। पहले राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति पूरी होगी, उसके बाद समाजवादी क्रान्ति की नौबत आयेगी। सन् ३४ से सन् ४० तक, विशेष रूप से कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने से लेकर युद्ध छिडने तक पार्टी की नीति मे जो सुधारवादी रुझान दिखायी दिया था, वह यहाँ लगभग समाप्त हो गया है। काग्रेस प्रमुख राष्ट्रीय संगठन है, उसके साथ मिलकर काम करना है किन्तु यदि उसका नेतृत्व क्रान्तिकारी ढग से आन्दोलन नही चलाता, तो मजदूर वर्ग उसका पिछलगुआ बनकर हाथ पर हाथ धरे बैठा नही रहेगा। यदि आन्दोलन के नाम पर पूँजीवादी नेतृत्व साम्राज्यवाद पर कुछ दबाव डालकर सन्तोष कर लेता है और उससे समझौता करता है, तो मजदूर वर्ग उसे राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर थामे न रहने देगा, वह किसानों और मजदूरो के वर्ग-सगठनो के आधार पर जनसंघर्ष चलायेगा, सुधारवादी नेतृत्व को अलगाव की हालत मे डाल देगा, साम्राज्यवाद से उसका समझौता करना असम्भव बना देगा। यह समझना कठिन नही है कि इस दस्तावेज मे पिछली पार्टी नीति की आलोचना की गयी है विशेष रूप से सुधारवादी रुझान को ध्यान में रखकर अगले दौर के लिए रणनीति निर्धारित की गयी है।

दस्तावेज मे भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद का मुख्य उपनिवेश बताया गया है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद स्वयं प्रतिक्रियावादी है, इसके अलावा वह फ़ासिस्टवाद को शह देता रहा है, सोवियत सघ पर हमला करने के लिए उसे उकसाता रहा है। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर करारा प्रहार करके यदि भारतीय जनता स्वाधीन हो जाती है, तो इससे विश्वप्रतिक्रियावाद को भारी धक्का लगेगा और एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशों के स्वाधीनता-आन्दोलनो को शक्तिशाली समर्थन प्राप्त होगा। दूसरे महायुद्ध की शुरूआत के साथ संसार मे जबर्दस्त क्रान्तिकारी उभार आया था, इसलिए भारतीय जनता का कर्तव्य था कि वह स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए युद्ध के सकट का भरपूर उपयोग करे। दरअसल क्रान्तिकारी उभार मे निपटना विश्व पूँजीवाद के लिए जरूरी था, युद्ध की शुरूआत इस कारण भी हुई थी। इसलिए भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन को इस विश्वव्यापी क्रान्तिकारी उभार के साथ ही आगे बढना था और उसके साथ बढ़कर ही वह विजयी हो सकता था। भारत मे अग्रेजी राज का आधार निरन्तर सकुचित होता जा रहा था। वह जनता के सभी स्तरों को लूट रहा था, और जो लोग लूट का विरोध करते थे, वे दमन के शिकार होते थे। भारतीय पूँजीवाद भी साम्राज्यवादी लूट से अपनी रक्षा न कर पाता था, साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद का अन्तर्विरोध बराबर बढ रहा था। किन्तु पूँजीवादी नेतृत्व अपने ढुलमुलपन का परिचय दे रहा था। भारत के मजदूर अनेक स्थानों पर हड़तालें करके अपनी जुझारू शक्ति का परिचय दे चुके थे। दस्तावेज मे बहुत सही कहा गया था कि इतिहास में पहली

और भारतीय मजदूर वर्ग राष्ट्रीय पैमाने पर स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर रहा था। उसके साथ नौजवान छात्रों का बहुत बड़ा समुदाय था। इस सारे आन्दोलन को तेजी से आगे बढ़ाने का लक्ष्य कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सामने रखा था।

संघर्ष के कौन से रूप होंगे, इस प्रश्न के उत्तर में कम्युनिस्ट पार्टी ने रणनीति सही निर्धारित की थी। आम हड़ताल एक रूप है, लगानबन्दी दूसरा। इन दोनों रूपों के क्रमिक विकास की परिणति होगी सशस्त्र संग्राम में। सशस्त्र संघर्ष को सफलतापूर्वक चलाने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सामने यह लक्ष्य भी रखा था कि फौज के सामान्य सैनिकों को जनक्रान्ति के पक्ष में कर लिया जाय। साम्राज्यवाद देशी फौज के बल पर ही भारत पर अपना अधिकार जमाये था। यह देशी फौज अपने चारों ओर के राजनीतिक आन्दोलन से प्रभावित न हो, यह सम्भव न था। यदि कम्युनिस्ट पार्टी अन्य क्रान्तिकारी दलों, गुटों और व्यक्तियों के साथ मिलकर स्वतन्त्र रूप से जन-संघर्ष चलाये, तो वह सारी राजनीतिक परिस्थिति को मौलिक रूप से बदल सकती है और सेना को भी प्रभावित कर सकती है, यह बात १६४६ के अनुभवों से बहुत अच्छी तरह साबित हो गयी। इस दस्तावेज का महत्व यह है कि क्रान्तिकारी परिस्थिति के विकास के बारे में यहाँ जो कल्पना की गयी है, वह युद्ध के समाप्त होते ही आँखों के सामने ठोस रूप में आने लगी। सुधारवादी नेतृत्व के विरोध के बावजूद जनसंघर्ष चलाये जा सकते हैं, राष्ट्रीय आन्दोलन में मजदूर वर्ग अग्रदल की भूमिका निबाह सकता है, अंग्रेजी राज का आधार इतना सकुचित है कि वह सेना का भरोसा नहीं कर सकता, उसका ध्वंस करने के लिए क्रान्ति की मुख्य शक्ति किसानों और मजदूरों का सहयोग है, ये सारी बातें १६४६ में सही साबित हुईं। कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सामने जिस परिप्रेक्ष्य की रूपरेखा बनायी थी, वह निराधार कल्पना नहीं था, उसका यथार्थ सामाजिक आधार था। सन् ४१ में जिसका पूर्वानुमान किया गया, उसका मूर्त रूप पाँच साल बाद देखने को मिला, यह बात साबित करती है कि मार्क्सवाद सही ढंग से लागू किया जाय तो निकट भविष्य के घटनाक्रम का सही पूर्वानुमान किया जा सकता है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने भारतीय क्रान्ति की ऐसी रूपरेखा बनायी, यह उसके लिए गौरव की बात है।

दस्तावेज में कहा गया था कि क्रान्ति में विजय पाने पर जनता अपनी संविधान सभा बुलायेगी। साम्राज्यवाद के विनाश के बाद जो नयी क्रान्तिकारी सत्ता स्थापित होगी, उसका माध्यम होगी यह संविधान सभा। सत्ता इसी सभा में निहित होगी। नयी राज्यसत्ता पुरानी राज्यसत्ता से बिलकुल भिन्न होगी। नयी सत्ता जनता का जनवादी प्रजातन्त्र होगी। पूँजीपति वर्ग अलगाव की हालत में होगा, क्रान्ति की बागडोर मजदूर वर्ग के हाथ में होगी, इसलिए यह प्रजातन्त्र पूँजीवादी न होकर नये ढंग का जनतन्त्र होगा। पार्टी ने उसे जनता का लोकवादी अथवा जनवादी प्रजातन्त्र कहा था। वह नये ढंग का जनतन्त्र इसलिए होगा कि वह पुरानी राज्यसत्ता समाप्त करके जनसत्ता कायम करेगा। इस जनसत्ता की विशेषता यह होगी कि पेशावराना फौज की जगह जनसेना काम करेगी। क्रान्तिकारी राष्ट्रीय सेना

दल विकसित होकर जनसेना का रूप लेगा। युद्ध समाप्त होने के बाद आज़ाद हिन्द फौज के बन्दी सैनिकों को लेकर देश में भारी आन्दोलन चलाया गया। यह आन्दोलन इतना शक्तिशाली था कि उसके दबाव से कांग्रेस ही नहीं, मुस्लिम लीग भी न बची और अंग्रेज़ों को इस मामले में निरन्तर झुकना पड़ा। एक समय जवाहरलाल नेहरू यह सोचने लगे थे कि आज़ाद हिन्द फौज के सैनिकों को केन्द्र बनाकर नयी सेना संगठित की जा सकती है; इसलिए क्रान्तिकारी सेवादल विकसित होकर जनसेना बन सकता है, कम्युनिस्टों की यह स्थापना हवाई कल्पना नहीं थी। नये जनवादी प्रजातन्त्र में पुलिस की जगह सशस्त्र स्वयंसेवक होंगे, यह बात तब चरितार्थ होने लगी जब बिहार में पुलिस ने अंग्रेज़ी राज का विरोध करना शुरू किया। सन् ४६ में अंग्रेज़ों के फौजी तन्त्र के साथ उनका पुलिस तन्त्र भी टूटने लगा था। नये जनतन्त्र में पुरानी लोक सेवाओं के बदले जनता के निर्वाचित कर्मचारी होंगे। वायसराय वेवल को सबसे ज्यादा परेशानी इस बात से थी कि पुरानी अफसरशाही शासन चलाने में असफल हो रही थी। अंग्रेज़ अफसर पस्त हो गये थे और देशी अफसरों को अंग्रेज़ी राज की शक्ति पर विश्वास न रह गया था। फौज और पुलिस के साथ अंग्रेज़ी राज को चलानेवाला गैरफौजी तन्त्र का सबसे बड़ा हिस्सा नौकरशाही का था। यह नौकरशाही पस्त और बेदम होकर बिखरने लगी थी। कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने पुरानी नौकरशाही की जगह जनता के नये निर्वाचित कर्मचारियों की बात ठीक कही थी। क्रान्ति का आधार मजदूरों और किसानों का सहयोग था; इसलिए जनवादी प्रजातन्त्र का सबसे महत्वपूर्ण काम था, जमींदारी खत्म करना, किसानों पर जो कर्ज का बोझ था, उसे रद्द करना। तेलगाना में ज़मींदारों की भूमि किसानों में बाँटी गयी और इससे कम्युनिस्ट पार्टी एक क्षेत्र में किसानों का व्यापक समर्थन प्राप्त कर सकी। यदि क्रान्तिकारी ढंग से ज़मींदारियाँ खत्म की जातीं, भूमि-सुधार पूँजीपतियों के सुधारवादी ढंग से नहीं, मज़दूरों के क्रान्तिकारी ढंग से लागू किये जाते, तो स्वाधीनता-प्राप्ति के तीस साल बाद जिस तरह आये दिन हरिजनों पर अत्याचार किये जाते हैं, उन अत्याचारों की नौबत न आती और शहरों और देहात में जो लाखों आदमी बेकारी और मुफ़लिसी में दिन काटते हैं और जिनकी गिनती औसत गरीबों में नहीं होती, वे ऐसे महागरीब हैं, यह स्थिति पैदा न होती।

दस्तावेज में कम्युनिस्ट पार्टी की दूरदर्शिता इस बात से ज़ाहिर होती है कि उसमें मज़दूरों की दो मुख्य माँगें ही रखी गयी हैं। पहली का सम्बन्ध आठ घण्टों के कार्य दिवस से है, दूसरी का सम्बन्ध अल्पतम पगार निर्धारित करने से है। बड़े उद्योग धन्धों का राष्ट्रीयकरण होगा, यह माँग कांग्रेस भी स्वीकार करती थी। यह अनुमान किया जा सकता है कि जनवादी प्रजातन्त्र में यह माँग भी पूरी की जाती। कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रीय जनवादी मोर्चे के लिए व्यापक आधार की कल्पना की थी, इसलिए मज़दूरों के हित में उसने न्यूनतम माँगें रखीं, यह उचित था। यदि आन्दोलन क्रान्तिकारी ढंग से चलाया गया तो उसका परिणाम यह जनता का प्रजातन्त्र होगा, यदि सुधारवादी ढंग से चलाया गया तो उसकी परिणति समझौते में होगी। गांधीवादी नेतृत्व जिस संविधान सभा में भाग लेगा, उसका गठन

साम्राज्यवाद की सहमति से होगा। गांधीवादी नेतृत्व भारत के लिए कनाडा जैसे उपनिवेशों का दर्जा पाकर सन्तुष्ट हो जायेगा। पुरानी नौकरशाही, पुरानी सेना, और पुलिसतन्त्र, पुरानी जमीदारियाँ और किसानों पर कर्ज का बोझ, यह सब पहले की तरह कायम रहेगा और पूँजीपति अपनी दौलत को जनता की अमानत कहकर उसका शोपण करते रहेंगे। जिस हद तक सुधारवादी नेतृत्व स्वाधीनता-आन्दोलन पर हावी रहा, उस हद तक ये सारी बातें सही साबित हुईं। किन्तु वह पूरी तरह हावी न हो सका था, एक क्रान्तिकारी नेतृत्व उभरकर उसे चुनौती देता रहा था, इस नेतृत्व मे चलनेवाले गैर-कांग्रेसी आन्दोलन का प्रभाव केवल साम्राज्यवाद पर नही पड़ा, उसका प्रभाव कांग्रेस पर और कांग्रेसी नेतृत्व पर भी पड़ा। इस कारण ऊपर कही हुई सारी बातें ज्यों कि त्यों अमल में नही आयीं, उनमें तब्दीली भी हुई।

इस दस्तावेज मे कम्युनिस्ट पार्टी ने पूँजीपति वर्ग और कांग्रेस की भूमिका पर काफी ध्यान दिया था। किसान पूँजीवादी नेतृत्व में आगे बढ़ेंगे या सर्वहारा नेतृत्व में, यह सवाल उसने तीखे ढग से पेश किया था। उसकी स्थापना यह थी: राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का नेतृत्व करे, यह क्षमता उसमें नही है। यह स्थापना बिल्कुल सही थी। कांग्रेसी नेतृत्व के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने कहा था कि वह आम जनता से, जन-संघर्षों से डरता है, इस डर के कारण उसने उधर से मुँह मोड़ लिया है। उसे आशा यह है कि सरकार जैसे-जैसे कठिनाइयों में फँसेगी, वैसे-वैसे वह समझौता करने को मजबूर होगी। यह बात १९४६-४७ मे चरितार्थ हुई। *कम्युनिस्ट पार्टी का कहना था कि जैसे-जैसे परिस्थिति क्रान्तिकारी* बनती जायेगी, वैसे-वैसे संघर्ष का भय बढता जायेगा और पूँजीवादी नेता अपनी नीति इस भय के आधार पर निश्चित करेंगे। इसके साथ ही पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद का भीतरी द्वन्द भी बढता जायेगा। ऐसी हालत में कांग्रेसी नेता साम्राज्यवाद को क्रान्ति का भय दिखायेंगे, एक तरफ वे संघर्षों को रोकेंगे और दूसरी तरफ वे साम्राज्यवाद से अधिकाधिक रिआयतें पाने के लिए इन्ही संघर्षों का उपयोग करेंगे। कम्युनिस्ट पार्टी ने यहाँ मार्क्सवाद के द्वन्द्व सिद्धान्त (डायलेक्टिक्स) को अमल में लाने का बहुत अच्छा उदाहरण पेश किया था। संघर्षों को रोकना और फिर अपने हित में उन्हीं का उपयोग करना, ये दो परस्पर विरोधी बातें है। इन विरोधी बातों के एक साथ घटित होने से ही १९४७ की विशेष परिस्थिति पैदा हुई थी। भारतीय पूंजीवाद मे अनेक स्तर थे। कुछ पूंजीपति बहुत दिनों से अंग्रेजों के साथ मिलकर व्यवसाय करते आये थे, अन्य उनका विरोध करते हुए उद्योगीकरण की राह पर आगे बढ़े थे। कुल मिलाकर पूँजीपति वर्ग सुधारवादी था, इसलिए वह जनता को नियन्त्रित रखना था, जन-संघर्षों को रोकता था। इसके साथ ही साम्राज्यवाद से उसका अन्तर्विरोध बना हुआ था, यह अन्तर्विरोध बराबर बढ़ता जा रहा था, इसलिए वह साम्राज्यवाद से अधिकाधिक रिआयतें प्राप्त करना चाहता था। यदि यह पूँजीपति वर्ग अंग्रेजों से मिल गया होता, उनका दलाल होता, तो साम्राज्यवाद से उसके अन्तर्विरोध के बढ़ने का सवाल पैदा न होता। दलाल पूँजीपति वर्ग न तो जन-संघर्षों को नियन्त्रित रखने की स्थिति में

होता है और न साम्राज्यवाद पर उनका दबाव डालने की हालत मे होता है। देशी रियासतो के शासक, ज़मींदार और ताल्लुकदार, ये सब अंग्रेज़ी राज के आश्रित थे, उसके भरोसे जी रहे थे। सन् ४६-४७ में ये किसी भी तरह जन-संघर्षों को रोकने और साम्राज्यवाद के खिलाफ उनका उपयोग करने की स्थिति में नही थे। यदि कांग्रेसी नेतृत्व दलाल पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि होता तो उसकी हालत भी राजाओं और ज़मीदारों की-सी होती। साम्राज्यवाद से अन्तर्विरोध के कारण पूंजीपति वर्ग ने स्वयं भी सीमित आन्दोलन चलाये थे; उसे लोकप्रिय सामाजिक आधार प्राप्त था, इसी आधार के कारण वह गैर-कांग्रेसी आन्दोलनों का उपयोग अपने हित मे करने योग्य बना। १६४७ मे सत्ता का जो हस्तान्तरण हुआ, उसका विश्लेषण करते हुए ये सारी बातें याद रखनी चाहिए। इस दस्तावेज मे पूंजीपति वर्ग को सुधारवादी बार-बार कहा गया है, वह साम्राज्यवाद से मिल गया है और क्रान्तिविरोधी है, यह नही कहा गया। इसके विपरीत इस बात पर काफी ज़ोर दिया गया है कि साम्राज्यवाद जनता के अन्य स्तरों की तरह पूंजीपति वर्ग को भी दबाता है और साम्राज्यवाद तथा पूंजीपति वर्ग का अन्तर्विरोध बराबर बढ़ता जाता है।

दस्तावेज में कहा गया है कि परिस्थिति जितना ही विस्फोटक होती जायेगी, उतना ही राष्ट्रीय नेतृत्व संघर्षविरोधी होता जायेगा और उसकी कार्यनीति राष्ट्रीय एकता को विघटित करनेवाली होती जायेगी। यह बात दो तरह से चरितार्थ हुई। कांग्रेस ने जितना ही जन-संघर्षों से बचने का प्रयत्न किया, उतना ही वह मुस्लिम लीग से समझौता करने पर विवश हुई। कांग्रेस पर दबाव डालने का मुख्य अस्त्र अंग्रेज़ों के पास मुस्लिम लीग थी; मुस्लिम लीग का मुख्य अस्त्र दंगे थे। अंग्रेज यह प्रकट न करते थे कि वे मुस्लिम लीग का दबाव डालकर कांग्रेस से समझौता करनेवाले है; वे दिखाते यह थे कि लीग और कांग्रेस राष्ट्रीय एकता को लेकर समझौता नही कर पाती, इसलिए वे विवश होकर दोनो को देश के विभाजन की अनुमति दे रहे है, यानी विभाजन की माँग भारतवासियो की है, अंग्रेज़ बड़ी मजबूरी मे उसे स्वीकार कर रहे हैं। अंग्रेज़ों की इस मजबूरी को खत्म करने का एक ही तरीका था, जनसंघर्षों को तब तक चलाना जब तक अंग्रेज भारत छोड़ने को मजबूर न हो जायें। कांग्रेसी नेता जन-संघर्षों की नीति का विरोध कर रहे थे, इसलिए वे उस दबाव से बच न सकते थे जो मुस्लिम लीग के द्वारा अंग्रेज़ उन पर डाल रहे थे; और इस दाबव का मतलब था राष्ट्रीय एकता का विघटन।

अभी तक साम्राज्यविरोधी मोर्चे मे कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी, दोनों शामिल थी। जनसंघर्षों के विरोध का परिणाम इस मोर्चे का टूटना था, कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी का विलग होना था, इस दृष्टि से भी कांग्रेस की सुधारवादी नीति राष्ट्रीय एकता को तोड़नेवाली थी। एक बार संघर्षविरोधी रुख अपनाने के बाद साम्राज्यवाद और पूंजीवादी नेतृत्व की नीति में बहुत बड़ी समानता पैदा होनेवाली थी। वामपक्ष का विरोध करने मे दोनो का हित था। इसलिए दस्तावेज मे कहा गया था कि कांग्रेसी नेतृत्व साम्राज्यवाद को इस बात की अनुमति देता है कि वह क्रान्तिकारी शक्तियों को अलगाव की हालत में डालकर उन्हें खत्म कर दे। यह बात

१९४६-४७ में प्रत्यक्ष हुई। दस्तावेज में कहा गया था कि देशी रियासतों के मामले में कांग्रेसी नेता साम्राज्यवाद से समझौता करने की नीति पर चल रहे हैं। १९४७ के बाद देशी रियासतों की वही स्थिति न रही जो पहले थी, किन्तु देशी नरेशों के प्रति क्रान्तिकारी संघर्ष रोकने का एक परिणाम यह हुआ कि कश्मीर की समस्या को लेकर साम्राज्यवाद भारत पर बराबर दबाव डालता रहा। दूसरा परिणाम यह हुआ कि स्वाधीन भारत की पूंजीवादी सरकार देशी नरेशों की अथाह सम्पदा का उपयोग भारत के आर्थिक विकास के लिए न कर सकी। तीसरा परिणाम यह हुआ कि सामन्ती अवशेष कायम रहे और उनमे अनेक साम्प्रदायिक दलों से मिलकर कांग्रेस पर दबाव डालते रहे। सामन्ती अवशेषों को कायम रहने देने का मतलब था विघटनकारी तत्वों को सुरक्षित बनाये रखना।

दस्तावेज ने उन आलोचकों को जवाब दिया जो कहते थे कि इस नयी रणनीति मे दो मोर्चों पर लड़ने की जरूरत होगी, पहला मोर्चा अंग्रेजों के खिलाफ़ होगा, दूसरा मोर्चा कांग्रेस के खिलाफ़ होगा। कम्युनिस्ट पार्टी का कहना था कि मोर्चा एक ही है और वह अंग्रेजों के खिलाफ़ है। अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई को सफल बनाने के लिए समझौते की नीति का विरोध करना जरूरी है। देशी पूंजीवाद उतना ही बड़ा शत्रु है जितना बड़ा शत्रु साम्राज्यवाद है, दोनो को एक साथ समाप्त करना चाहिए, यह नीति त्रोत्स्कीवादियों की थी। इससे एक कदम आगे बढ़कर ऐम.ऐन. राय कह चुके थे कि साम्राज्यवाद तो अपने आप समाप्त हो रहा है, असली लडाई तो बस देशी पूंजीवाद से है। कम्युनिस्ट पार्टी ने राय के लिए कहा कि उन्होंने मजदूर वर्ग की स्वतन्त्र राजनीतिक कार्यवाही का विरोध किया है, वह सर्वहारा नेतृत्व के विरोधी हैं, वह कांग्रेस से अलग कोई वैकल्पिक पूंजीवादी या निम्न पूंजीवादी नेतृत्व चाहते है। राय के विचार मे साम्राज्यवाद से समझौता होना अनिवार्य था। कम्युनिस्ट पार्टी ने ऐम. ऐन. राय की जो आलोचना की, वह सही थी और युद्ध के दौरान उसकी सचाई बहुत जल्दी लोगों के सामने आ गयी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे एक ओर इस दस्तावेज का ऐतिहासिक महत्व सिद्ध होता है, दूसरी ओर यह सवाल भी उठता है कि ऐसी अच्छी नीति निर्धारित करने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी उस पर अमल क्यो नही कर सकी। इस सवाल का जवाब यह है कि इस दस्तावेज में कई खामियाँ है और उन पर ध्यान देना जरूरी है। सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को लें। दस्तावेज के आरम्भ मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियावादी रूप की सही व्याख्या की गयी है। यह साम्राज्यवाद फासिस्ट जर्मनी को उकसा रहा था कि वह सोवियत संघ पर हमला करे। फासिस्टवाद ने सोवियत संघ के विरोध को अपने कार्यक्रम का मुख्य अंग बना रखा था। अभी जर्मनी और ब्रिटेन मे लड़ाई हो रही थी किन्तु जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला किया, तब क्या होगा ? दस्तावेज में ठीक कहा गया है कि विश्व पैमाने पर क्रान्तिकारी उभार आया हुआ है। इस उभार से सोवियत संघ का सम्बन्ध भी ठीक जोड़ा गया है। सवाल यह है कि जर्मनी ने सोवियत संघ पर हमला किया, तब यह हमला विश्वव्यापी इस क्रान्तिकारी उभार पर हमला माना जायेगा या नही ? दस्तावेज में भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन को विश्व के इस

क्रान्तिकारी उभार से ठीक जोडा गया है। सवाल यह पैदा होता था कि सोवियत संघ पर फासिस्ट हमला होने के बाद स्वाधीनता आन्दोलन के दांवपेंच में कोई तब्दीली होगी या नहीं। दस्तावेज में यह कल्पना नहीं की गयी कि फासिस्ट जर्मनी सोवियत संघ पर हमला करेगा। कम्युनिस्ट नेतृत्व के लिए यह और भी कल्पनातीत था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद और सोवियत संघ एक ही मोर्चे में शामिल होकर फासिस्टवाद से लडेंगे। यह सम्भव है कि जर्मनी और सोवियत संघ में जो हमला न करने की सन्धि हुई थी, उससे कम्युनिस्ट नेतृत्व निश्चिन्त हो गया था कि जर्मनी अब सचमुच सोवियत संघ पर हमला न करेगा। किन्तु अनाक्रमण सन्धि के बाद ही सोवियत सरकार ने लामबन्दी का आदेश जारी किया था। जर्मन आक्रमण से बचाव के लिए सोवियत फौजों ने फिनलैण्ड मे प्रवेश किया था। पोलैण्ड मे जर्मन फौजो के पहुँचने पर सोवियत फौजें भी वहाँ पहुँच गयी थीं। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का विश्लेषण करते समय सोवियत संघ पर जर्मन हमले की सम्भावना को भुलाया न जा सकता था। कम्युनिस्ट नेताओं ने इस सम्भावना पर विचार न किया था, इसलिए हमला होने पर वे अपनी नीति मे तुरत परिवर्तन न कर सके। जब परिवर्तन किया, तब उन्होंने यह परिवर्तन क्रान्तिकारी ढंग से नहीं, सुधारवादी ढग से किया। क्रान्तिकारी ढंग यह था कि अंग्रेजी राज से अपनी लड़ाई को उस समय के लिए गौण अन्तर्विरोध का रूप देते और फासिस्टवाद तथा सोवियत संघ के अन्तर्विरोध को मुख्य अन्तर्विरोध मानते। जैसे ही फासिस्टवाद की पराजय निकट आती दिखायी देती, वैसे ही वे गौण अन्तर्विरोध को मुख्य अन्तर्विरोध का रूप दे देते यानी सन् ४५ तक वह इतनी तैयारी कर चुकते कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर पूरी ताकत से हमला करें; यह क्रान्तिकारी तरीका था। इसके विपरीत सुधारवादी तरीका यह था कि कम्युनिस्ट नेतृत्व ने गौण अन्तविरोध को कुछ समय के लिए अन्तर्विरोध ही न माना, सोवियत संघ और ब्रिटेन के सयुक्त मोर्चे मे ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति और उसके साम्राज्यवादी स्वरूप को ही कम करके आँका, साम्राज्यवाद को जनता के खेमे मे वन्दी बनाकर पेश किया। इस कल्पना का कोई भी ठोस आधार न था। इस सुधारवादी नीति का लाजिमी परिणाम यह हुआ कि साम्राज्यवाद कांग्रेस को जिस समझौते की राह पर ठेल रहा था, उस पर आगे बढने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी भी उसे उत्साहित करने लगी और युद्ध समाप्त होने पर देश मे जो क्रान्तिकारी उभार आया, उसे जमकर जीत की मंजिल तक पहुँचाने में कम्युनिस्ट पार्टी असमर्थ रही।

राष्ट्रीय परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने इस दस्तावेज मे मुस्लिम लीग के बारे मे कुछ नहीं कहा। साम्राज्यवाद मुस्लिम लीग के द्वारा राष्ट्रीय आन्दोलन मे फूट डालता है, वह उसका मुख्य विघटनकारी अस्त्र है; इसलिए साम्राज्यविरोधी लड़ाई मुस्लिम लीग का विरोध किये बिना नहीं चलायी जा सकती, यह बात कम्युनिस्ट पार्टी के सामने स्पष्ट होनी चाहिए थी। उसके कई दस्तावेजों में मुस्लिम लीग की चर्चा अनेक प्रकार से हो चुकी थी; पाकिस्तान का प्रस्ताव पास करके मुस्लिम लीग देश के विभाजन की माँग कर रही है, यह बात सभी लोग जानते थे। इस दस्तावेज में विघटनकारी होने का श्रेय

कांग्रेसी नेतृत्व को दिया गया है। यह नेतृत्व अप्रत्यक्ष रूप से विघटनकारी था, इसलिए कि वह समझौते की राह पर चल रहा था। प्रत्यक्ष विघटनकारी शक्ति मुस्लिम लीग थी। लीग के प्रति सही दृष्टिकोण न अपनाने के कारण कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस-लीग एकता का नारा दिया। उसने साम्राज्यविरोधी कांग्रेस और साम्राज्यवाद के मुख्य अस्त्र मुस्लिम लीग को बराबरी का दर्जा दिया। ऊपर से देखने में यह एकता का नारा था, वास्तव में वह राष्ट्रीय एकता को तोड़ने का नारा था।

इस दस्तावेज में कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस को सुसंगत रूप से समझौते की राह पर बढ़ते हुए दिखाया है। उसने साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद के अन्तर्विरोध को कम करके आंका है। उसने यह कल्पना नहीं की किसी स्थिति में पूँजीवादी नेतृत्व 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' का नारा भी दे सकता है। जैसे कम्युनिस्ट नेतृत्व के लिए सोवियत संघ पर जर्मनी का आक्रमण अप्रत्याशित था, वैसे ही उसके लिए १९४२ का आन्दोलन अप्रत्याशित था। इस आन्दोलन के प्रति उचित समय पर सही रुख न अपनाने के कारण सुधारवादी नेतृत्व को अलगाव में डालने के बदले कम्युनिस्ट पार्टी स्वयं अलगाव की हालत में पड़ गयी। पार्टी नेतृत्व ने इस दस्तावेज में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फारवर्ड-ब्लाक की भूमिका को भी कम करके आंका था। सन् ४२ में ही नहीं, युद्ध समाप्त होने के बाद भी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने साम्राज्यविरोधी आन्दोलन में भाग लिया। सुभाषचन्द्र बोस ने जापान की सहायता से भारत को मुक्त करने की योजना बनायी थी, यह योजना सफल होनेवाली नहीं थी, किन्तु भारतीय जनता गांधीजी के तमाम अहिंसावाद के बावजूद अंग्रेजों से सशस्त्र संघर्ष को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखती थी। युद्ध-समाप्त होने पर आजाद हिन्द फौज के बन्दियों की रिहाई का सवाल क्रान्तिकारी उभार को आगे बढ़ाने का बहुत बड़ा साधन बना। इसका उपयोग कांग्रेसी नेतृत्व ने अपने वर्ग हित में किया।

दस्तावेज की सबसे बड़ी कमजोरी किसान आन्दोलन को लेकर है। पार्टी नेता मानते थे कि किसान आन्दोलन की अनदेखी की गयी है, इससे नतीजा यह निकलता था कि इस कमी को दूर करने में काफी समय लग सकता है। इस कारण साम्राज्य-विरोधी लड़ाई लम्बी चलेगी। लम्बी चलेगी का मतलब यह है कि आम हड़तालें, लगानबन्दी और फिर सशस्त्र विद्रोह, ये सब आसानी से और कुछ ही समय में घटित होनेवाली चीजें नहीं थी। लगानबन्दी के बाद जब सरकारी दमन तेज होगा, तब उसका मुकाबला छापेमार लड़ाई के जरिये ही किया जा सकता है, यह बात दस्तावेज में कहीं नहीं कही गयी। इसका एक कारण यह भी है कि कम्युनिस्ट पार्टी ने १८५७ के अनुभव का विवेचन मार्क्सवादी ढंग से अब तक न किया था। दस्तावेज में १९०५ की रूसी क्रान्ति का हवाला है, भारतीय क्रान्ति के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने रूसी क्रान्ति की रूपरेखा ही अपने सामने रखी थी। उसने किसानों के बारे में कहा था कि वे पूँजीपति वर्ग की आरक्षित ('रिजर्व') ताकत न बनें, इसके बदले वे मजदूर वर्ग की 'रिजर्व' ताकत बनें। यह बात वहाँ के लिए सही होगी जहाँ समाज में पूँजीपतियों और मजदूरों के दो मुख्य वर्ग हैं, इनकी

टक्कर ही सामाजिक संघर्ष का मुख्य रूप है। यह स्थिति भारत मे नही थी, यह मुख्य टक्कर साम्राज्यवाद से थी; इस टक्कर मे उद्योगप्रधान देशो की अपेक्षा कृषिप्रधान भारत के किसानो की भूमिका कही अधिक महत्वपूर्ण होनी चाहिए थी। किसान यहाँ सर्वहारा क्रान्ति की रिजर्व फौज नही है, वे जनवादी क्रान्ति की मुख्य फौज है। किसानो की यह भूमिका न पहचानने के कारण कम्युनिस्ट नेताओ ने लम्बे साम्राज्यविरोधी संग्राम की कल्पना नही की, किसानो को आधार बनाकर जो रणनीति निर्धारित की जा सकती थी, वह उन्होने निर्धारित नही की। इस कारण १९४६-४७ मे उनसे जिस क्रान्तिकारी भूमिका की अपेक्षा थी, वे उसे पूरा न कर सके।

कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओ का कहना था कि कांग्रेस बडे पैमाने पर सत्याग्रह आन्दोलन न चलायेगी; सत्याग्रह क्रान्तिकारी धाराओ मे बह चलेगा, इसलिए वह उसे रोकेगी। इसके साथ उनका कहना यह भी था कि सत्याग्रह का आह्वान कांग्रेस करेगी, तभी वह देशव्यापी बनेगा और तभी कम्युनिस्ट पार्टी उसमे भाग लेगी। यदि कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक या संयुक्त वामपक्ष भी ऐसे सत्याग्रह का नारा लगायेगा, तो आम जनता उसमे हिस्सा न लेगी और कम्युनिस्ट वैसे आह्वान का विरोध करेंगे। कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने से लेकर युद्ध छिड़ने तक साम्राज्यविरोधी राष्ट्रीय मोर्चे के सिलसिले मे जिस सुधार-वादी रुझान का परिचय दिया था, वह **सर्वहारा मार्ग** मे पूरी तरह समाप्त न हुआ था। सत्याग्रह मे हम तभी भाग लेगे जब कांग्रेस का दक्षिणपन्थी नेतृत्व उसका आह्वान करेगा; यह नेतृत्व सत्याग्रह का आह्वान कभी न करेगा; संयुक्त वामपक्ष यदि सत्याग्रह का आह्वान करेगा, तो कम्युनिस्ट पार्टी उसका विरोध करेगी—ये स्थापनाएँ सर्वहारा वर्ग के हाथ-पैर बाँधकर उसे दक्षिणपन्थी नेतृत्व के सामने निष्क्रिय बना देनेवाली थी, वामपन्थी एकता को सुदृढ करने मे बाधक थी, सर्वहारा वर्ग को अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी करने से रोकती थीं। इस कारण **सर्वहारा मार्ग** की सही बातो को पार्टी पूरी तरह अमल में न ला सकी और युद्ध के दौरान पुराना सुधारवादी रुझान नये रूप मे पूरी ताकत से उभरकर सामने आया।

५. आत्मनिर्णय का अधिकार और सुधारवादी रुझान

(क) अधिकारी की पुस्तिका

१९४२ मे डा. अधिकारी की पुस्तिका **पाकिस्तान और राष्ट्रीय एकता** (पाकिस्तान ऐण्ड नैशनल यूनिटी) प्रकाशित हुई। इसका परिचय देते हुए रजनी पाम दत्त ने मार्च १९४६ की 'लेबर मन्थली' पत्रिका में लिखा था : भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को इस बात का श्रेय है कि उसने सबसे पहले पाकिस्तान की माँग मे छिपी हुई वास्तविक जातीय भावना को १९४२ में पहचाना और मुसलमानों के बड़े समुदायो मे इस माँग को जो समर्थन मिला था, उसकी कैफियत दी। डा. अधिकारी की पुस्तिका भारत की नयी समस्याओ को समझाने मे महत्वपूर्ण योग-दान है। उनकी इस रिपोर्ट से पहले भारत के शेष राष्ट्रीय प्रगतिशील जनमत के साथ कम्युनिस्ट भी पाकिस्तान की माँग के प्रतिक्रियावादी स्वरूप का पर्दाफाश

करने पर जोर देते थे। फरवरी १९४२ में कम्युनिस्ट पार्टी के मन्त्री पूरनचन्द जोशी ने लिखा था, मि. जिन्ना पाकिस्तान का जो ख्वाब देखते हैं, उससे मौजूदा/गतिरोध कायम रहता है, इसके आगे हाथ कुछ नहीं लगता। अधिकारी की रिपोर्ट से पहली बार भारतीय जनता का विकसित होता हुआ बहुजातीय स्वरूप स्पष्ट हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन का अधिक प्रसार होने पर, खासतौर से किसानों में उसका प्रसार होने पर यह स्वरूप सामने आया।

इस विवरण से यह पता चलता है कि फरवरी १९४२ तक कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने अभी जातीय समस्या से पाकिस्तान की माँग को न जोड़ा था। यह काम उन्होंने अगस्त १९४२ के बाद किया। पाकिस्तान की माँग मूलतः एक जनतान्त्रिक माँग है और मुस्लिम लीग के प्रति कम्युनिस्ट पार्टी को अपना दृष्टिकोण बदलना चाहिए, यह बात कई साल पहले महमूदुज्ज़फर कर चुके थे। उसकी चर्चा इस पुस्तक के पहले खण्ड में हो चुकी है। पाकिस्तान की माँग को जातीय समस्या से जोड़ने की सूझ सम्भवतः डा. अधिकारी की थी। अगस्त मे भारत छोड़ो आन्दोलन के सिलसिले मे कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने इस बात को अनुभव किया होगा कि स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए विकल्प के रूप में उन्हें अपनी नीति देश के सामने रखनी चाहिए। नीति यह थी कि कांग्रेसी और लीगी नेता मिलकर आजादी की माँग करें तो अंग्रेज़ों को इस संयुक्त माँग के आगे झुकना पड़ेगा। संयुक्त माँग पेश करने में सबसे बडी रुकावट थी पाकिस्तान की माँग। वह साम्प्रदायिक माँग थी और उसके आधार पर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता कायम न की जा सकती थी। इस कठिनाई से बचने के लिए साम्प्रदायिक माँग को जातीय समस्या से जोड़कर उसे ग्राह्य बनाने की कोशिश की गयी थी। भारत की जातीय समस्या एक वास्तविक समस्या थी और अब भी है। उस समस्या को हल करने में सम्प्रदायवाद पहले भी बहुत बड़ी बाधा था, आज भी है। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने जातीय समस्या के प्रसंग मे कुछ महत्वपूर्ण बातें कही किन्तु ऐसी बातें उस समय निरर्थक इसलिए सिद्ध हुई कि पार्टी के नेता जनवादी क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य से अलग हटकर उस समस्या को अंग्रेजों के संविधानवादी चौखटे के भीतर हल करने का प्रयास कर रहे थे। इसलिए इस चौखटे को तोड़ने के बदले वे स्वयं उसके भीतर फँस गये।

डा. अधिकारी ने लिखा था, भारतीय जनता का कोई भी अंग जाति कहलायेगा यदि वह ऐसे इलाकों में रहता है जो विच्छिन्न नहीं है, यदि उसकी सामान्य भाषा है, सामान्य संस्कृति है, सामान्य मानसिक गठन और सामान्य आर्थिक जीवन है। ऐसी जाति को स्वाधीन भारतीय संघ या राष्ट्र (यूनियन) में स्वायत्त राज्य की हैसियत से बने रहने का अधिकार होगा और यदि वह चाहे तो उसे अलग होने का अधिकार भी होगा। डा. अधिकारी ने यहाँ जाति की उस परिभाषा को भारत पर लागू किया था जिसे स्तालिन ने जातीय समस्या पर अपनी पुस्तक में पेश किया था। जाति की यह परिभाषा सही है। इसमें सामान्य भाषा की बात कही गयी है, सामान्य ऐतिहासिक परम्परा की बात कही गयी है। यदि यह व्याख्या तर्कसंगत ढंग से लागू की

जाती तो न बंगाल का विभाजन हो सकता था और न पंजाब का। इन दो जातीय प्रदेशों का विभाजन न होता तो देश का विभाजन भी न हो सकता था। इसके सिवा हिन्दी प्रदेश मे हिन्दी और उर्दू को मूलत एक ही भाषा माना जाता; उर्दू को लेकर मुस्लिम लीग जो प्रचार कर रही थी, उसका साम्प्रदायिक स्वरूप जाहिर हो जाता। स्तालिन की कृति मे और न मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन की किसी कृति मे बहुजातीय राष्ट्र की व्याख्या की गयी थी। अधिकारी ने ऐसी व्याख्या के अभाव मे भारत में बसनेवाली जातियों के आपसी सम्बन्ध को नही पहचाना। सोवियत संघ में जातीय समस्या का बिल्कुल दूसरा रूप था। वहाँ रूसी जाति उत्पीड़क जाति थी, भारत में उत्पीड़क जाति अंग्रेजो की थी। रूस मे उत्पीड़क जाति का दबाव खत्म करके विभिन्न जातियो द्वारा स्वेच्छा से संघ बनाने की समस्या थी, इसलिए अलगाव के अधिकार की बात करना उचित था। भारत मे सब जातियो को मिलकर अंग्रेजो से लड़ना था, राष्ट्रीय एकता को मजबूत करके ही ये जातियाँ साम्राज्यवादी प्रभुत्व और प्रभाव से मुक्त हो सकती थी। यहाँ जातियों का अलगाव साम्राज्यवाद के हित में था, इसलिए उसका विरोध करना आवश्यक था। यदि जनवादी क्रान्ति का परिप्रेक्ष्य सामने होता तो अलगाव से होनेवाली हानि तुरत प्रकट हो जाती; जनवादी क्रान्ति के दौरान लोग अपने अनुभव से राष्ट्रीय एकता का महत्व समझते। इस परिप्रेक्ष्य के अभाव मे जब कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने संविधानवादी चौखटे के अन्तर्गत अलगाव के अधिकार की बात कही, तब एकता की जगह अलगाव पर ही जोर पड़ना स्वाभाविक था और जातीय अलगाव बहुत आसानी से साम्प्रदायिक अलगाव मे बदल गया। साधारण सुधार-वाद वह है जिससे पूँजीपति वर्ग का हित होता है, असाधारण सुधारवाद वह है जिससे साम्राज्यवाद का हित होता है। इस कारण जिस राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधियो के हाथ में थी, उसमे पाकिस्तान की उक्त व्याख्या लोकप्रिय नही हुई; उससे लाभ उठाया साम्प्रदायिक दलों ने और साम्राज्यवाद ने। राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग जब सम्प्रदायवाद के दबाव से अंग्रेजों से समझौता करने चला, तब कम्युनिस्ट पार्टी उसकी समझौतावादी नीति को ध्वस्त करने योग्य न रह गयी।

डा. अधिकारी ने लिखा था कि स्वाधीन भारत विभिन्न जातियों के स्वायत्त राज्यो का सघ होगा। जो जातियाँ गिनायी गयी, उनमें पश्चिमी पंजाबी (मुख्यतः मुसलमान) और सिक्ख भी थे। इस तरह यहाँ पंजाब को विभाजित करके मुसल-मानो को सिक्खों से अलग कर दिया गया था। पंजाबी जाति मे हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख तीनों सम्प्रदायो के लोग थे। उस जाति को खण्डित करके दो जातियों के रूप में प्रस्तुत करने का अर्थ था दो सम्प्रदायों के दो अलग-अलग राज्यों की माँग का समर्थन करना। बंगालियो को अभी एक ही जाति माना गया था। किन्तु १९४४ मे पूरनचन्द जोशी ने पश्चिमी पंजाबियों के साथ पूर्वी बंगालियो का उल्लेख करके पंजाब की तरह बंगाल को भी विभाजित करने की माँग को स्वीकृति दी।

रजनी पाम दत्त को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने काफी स्पष्ट रूप में भारत

की कम्युनिस्ट पार्टी को सावधान कर दिया था कि साम्प्रदायिकता के आधार पर जातीयता की व्याख्या करना अनुचित है। कुछ लोगों को यह भ्रम है और कुछ अन्य लोगो ने जान-बूझकर यह भ्रम फैलाया भी है कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ब्रिटिश या रूसी पार्टी के कहने से अपनी नीति निर्धारित करती है। कम से कम पाकिस्तान के मामले मे ब्रिटिश या रूसी पार्टी ने भारतीय पार्टी की नीति का समर्थन नही किया। रजनी पाम दत्त ने सन् ४२ वाली अधिकारी की रिपोर्ट के सिलसिले मे लिखा था, उस रिपोर्ट में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मनिर्णय के अधिकार का मतलब यह नही है कि अलग हो जाना अच्छी बात होगी। उस अधिकार की बुनियाद पर पहले से भी अधिक भव्य राष्ट्रीय एकता निर्मित होगी। रिपोर्ट मे पार्टी के कार्यक्रम को "पाकिस्तान के प्रतिक्रियावादी प्रचार" से अलग रखा गया था। पुराने धार्मिक पूर्वाग्रहों की आड़ मे इस्लाम को सार्वभौम बनाने की प्रतिक्रियावादी भावना को उकसाते हुए जो लोग आम जनता को पाकिस्तान के झण्डे के नीचे बटोरते है, उन्हे स्वाधीनता-आन्दोलन से अलग रखते है, उनका तीव्र विरोध करना चाहिए। अधिकारी के अनुसार मुस्लिम जनता के सामने हमारी व्याख्या इस तरह की होनी चाहिए कि पाकिस्तान के बारे में उसका मोह भंग हो जाय।

अधिकारी का हवाला देने के बाद रजनी पाम दत्त ने लिखा, यह बात नोट करने की है कि इस रिपोर्ट के जो संस्करण बाद मे प्रकाशित हुए, उनमे पाकिस्तान वाली इस स्थापना मे संशोधन किया गया है। पिछले दिनों भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने पाकिस्तान के कार्यक्रम से अपने कार्यक्रम को अलग रखने पर कम जोर दिया है। इसके बदले इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि पाकिस्तान की माँग का जो जनवादी सारतत्व है और जिस सारतत्व की माँग दरअसल मुस्लिम जनता करती है, वह "मुस्लिम जातियो के आत्मनिर्णय का अधिकार है।" रजनी पाम दत्त ने अधिकारी की स्थापना का यह बदला हुआ रूप रिपोर्ट के १९४४ वाले संस्करण से पेश किया था। यहाँ जातीयता को सीधे सम्प्रदायवाद से जोड़ दिया गया था। **गांधी और जिन्ना फिर मिलें (दे मस्ट मीट अगेन)**, नाम की पुस्तिका मे पूरनचन्द जोशी ने लिखा था, हमारे यहाँ सिन्धी, बलूची, पठान, पश्चिमी पंजाबी, पूर्वी बंगाली जैसे मुसलमान लोग रहते हैं और उनमें जातियों के आवश्यक लक्षण मौजूद हैं। मुस्लिम लीग के झण्डे के नीचे पाकिस्तान का जो आन्दोलन चलाया गया है, वह इन जातियो का राष्ट्रीय आन्दोलन है। इस पर रजनी पाम दत्त ने टिप्पणी लिखी, यह बात समझ में आती है कि मुसलमान जनता में जो लोग पाकिस्तान के समर्थक हैं, उन्हे संयुक्त अखिल भारतीय राष्ट्रीय मोर्चे मे लाने के लिए यह सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया गया है। किन्तु खतरा यह है कि पाकिस्तान के समर्थक भारतीय कम्युनिस्टो की स्थिति की गलत व्याख्या करेंगे। मुस्लिम लीग का पाकिस्तान-सम्बन्धी कार्यक्रम जातीय आत्मनिर्णय के उस कार्यक्रम से बुनियादी तौर पर अलग है जिसे कम्युनिस्ट पार्टी ने पेश किया है। यह खतरा हाल की कुछ घटनाओं से बढ़ गया है। कुछ प्रमुख वामपन्थी मुसलमान कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग में शामिल हुए। उनके इस काम को उचित बताया गया। बहुत आसानी से इनका

यह गलत अर्थ लगाया जा सकता था कि साम्राज्यवादियों की इस स्थापना का समर्थन किया जा रहा है कि कांग्रेस हिन्दू संगठन है और मुसलमानो का प्रतिनिधि संगठन मुस्लिम लीग है। कांग्रेस के दक्षिणपन्थियों ने अपना कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान चलाया तो कम्युनिस्टो ने एक साथ कांग्रेस से बाहर निकल आना उचित समझा। कारण यह बताया है कि कांग्रेसी नेतृत्व प्रतिक्रियावादी है किन्तु वे मुस्लिम लीग में सक्रिय बने रहे। इस बात की भी गलत व्याख्या की जा सकती थी कि वे कांग्रेस को अपेक्षाकृत अधिक प्रतिक्रियावादी संस्था मानते हैं और मुस्लिम लीग को राष्ट्रीय आन्दोलन की अधिक प्रगतिशील संस्था मानते है। इन खतरो के फल-स्वरूप आम राष्ट्रीय जनमत के विशाल भागो से कम्युनिस्ट एक हद तक अलग-थलग हो सकते हैं और ये भाग ऐसे है जो साम्प्रदायिक और गुटोवाले भेदभाव दरकिनार रखते हुए कांग्रेस को राष्ट्रीय स्वाधीनता का मुख्य परम्परागत आन्दोलन मानते है।

पाकिस्तान की धारणा से कम्युनिस्ट पार्टी की जातीयता सम्बन्धी स्थापनाओं को अलग करते हुए रजनी पाम दत्त ने लिखा, पाकिस्तान के कार्यक्रम मे उन विभिन्न जातियो का कही उल्लेख नही है जिन्हे कम्युनिस्ट कार्यक्रम के अनुसार आत्म-निर्णय का अधिकार है। पाकिस्तान का कार्यक्रम मुस्लिम राज्य स्थापित करने के लिए है। कम्युनिस्ट पार्टी ने सत्रह कथित जातियो के आधार पर सत्रह सविधान सभाएँ बुलाने की बात कही। पाकिस्तान-कार्यक्रम के अनुसार दो सविधान सभाएँ होनी चाहिए, एक बहुसंख्यक हिन्दू इलाको के लिए और दूसरी बहुसंख्यक मुस्लिम इलाकों के लिए। जिन्हें जातियाँ माना जाता, उनका मान्य आन्दोलन यह पाकिस्तान का आन्दोलन हो, ऐसी बात नही है। यह मुस्लिम लीग का आन्दोलन है, मुस्लिम राज्य बनाने के लिए है, उसका आधार जातीयता नही धर्म है। मुस्लिम जातियो की बात करना कहाँ तक ठीक है, यह विचारणीय है। इस तरह स्पेन, इटली, फ्रांस और ऑस्ट्रिया को कैथोलिक जातियाँ कहा जा सकता है। जातीयता का मान धर्म के मान जैसा नही होता। उदाहरण के लिए बंगाल है। वहाँ विभाजन के विरुद्ध तगडी बंगाली भावना है किन्तु धर्म के विचार से वह हिन्दुओ और मुसलमानों मे लगभग बराबर बँटा हुआ है। जातीयता और धर्म को एकरूप मान लेना खतरनाक है और सार्वभौम इस्लामवाद के हाथ मे खेलना है। मुस्लिम लीग भारत के किन्ही विशेष भागों मे रहनेवाली जातियो का आन्दोलन नही है। वह मुसलमानो को संगठित करनेवाली वैसी ही साम्प्रदायिक जमात है जैसी हिन्दुओ को संगठित करनेवाली हिन्दू महासभा है। ऐसे साम्प्रदायिक संगठन राजनीतिक पिछड़ेपन की सूचना देते हैं, उनसे विघटन का खतरा स्पष्ट ही है। इससे इस बात का महत्व कम नही होता कि भारतीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए मुस्लिम लीग के अनुयायियो को राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे मे लाना जरूरी है। म्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेसी एकता के लिए बराबर कोशिश की है। मुस्लिम लीग अनुसरण करनेवाले जनमत के प्रति उसने सहानुभूति दिखायी है, पाकिस्तान मांग के पीछे जो वास्तविक जातीय तत्व हैं, उन्हे पहचाना है और इस तरह ने बताया है कि कांग्रेस और लीग के बीच किस आधार पर एकता कायम हो

सकती है। इस तरह उसने भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सचमुच महत्वपूर्ण काम किया है।

रजनी पाम दत्त ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग की एकता पर जिस तरह जोर दिया, वह भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीति से मिलता-जुलता था। जो भेद था वह जातीय समस्या को लेकर था। जिस बात पर मतभेद नहीं था, वह यह थी कि कांग्रेस और लीग मिलकर आजादी की मांग करेंगे तो वह मांग मंजूर हो जायेगी। साम्राज्यवाद और उसके सहायक सम्प्रदायवाद का मुकाबला करने के लिए जनवादी क्रान्ति जरूरी है, यह परिप्रेक्ष्य न भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सामने था और न ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के सामने। दूसरा महायुद्ध समाप्त हो चुका था, दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के साथ भारतीय जनता भी पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य की ओर बढ़ रही थी। संघर्ष के पुराने तरीके वह छोड़ रही थी, पुराने नेतृत्व की ढुलमुल नीति से अलग हटकर वह क्रान्तिकारी मार्ग पर बढ रही थी। इस समय क्रान्तिकारी उभार का मुकाबला करने के लिए अंग्रेजों ने यह दांव खेला कि कांग्रेस और लीग आपस में समझौता कर लें तो वे कल ही भारत छोडकर चले जायेंगे। अंग्रेजों की बात मानकर जितना ही कांग्रेस-लीग एकता के लिए प्रयास किया गया, उतना ही सम्प्रदायवाद बढा और अंग्रेजों को राष्ट्रीय आन्दोलन में स्थायी फूट डालने में सफलता मिली। पराधीन देश में जनवादी क्रान्ति को भुलाकर जातीय समस्या को हल करने का जो प्रयत्न होगा, वह असफल तो होगा ही, वह देश के लिए विघटनकारी और साम्राज्यवाद के लिए लाभकारी भी होगा।

रजनी पाम दत्त ने लिखा था, भारतीय जनता साम्राज्यवाद के मुकाबले संयुक्त मोर्चा कायम कर सके, कांग्रेस और लीग की फूट से साम्राज्यवाद को लाभ न उठाने दे, इसके लिए जरूरी है कि कांग्रेस और लीग में एकता कायम हो। दुर्भाग्य से यह प्रयत्न अभी तक सफल नहीं हुआ और बहुत कुछ इसलिए नहीं हुआ कि साम्राज्यवाद अपनी चालबाजी से फूट कायम किये रहा। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दो मुख्य राजनीतिक संस्थाएँ हैं जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय स्वाधीनता पाना है। इन्हें एक ही संयुक्त मोर्चे में लाना बहुत जरूरी है। इसके सिवा मजदूरों और किसानों के संगठनों को, कम्युनिस्ट पार्टी को मोर्चे में लाना जरूरी है। एक नयी कठिनाई यह पैदा हो गयी है कि कांग्रेस और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच मतभेद बढ गया है। इससे पता चलता है कि मौजूदा दौर में वर्गविरोध तेज हो रहे हैं। राष्ट्रीय स्वाधीनता का लक्ष्य जैसे-जैसे नजदीक आता है, वैसे ही राष्ट्रीय संघर्ष की प्रगति के साथ यह भेद बढ़ता है। कम्युनिस्ट पार्टी भारतीय मजदूर वर्ग तथा संगठित किसान आन्दोलन की एकछत्र नेता है। उसकी सदस्य-संख्या तीस हजार है; १९४२ में जब वह कानूनी हुई तब यह संख्या पाँच हजार थी। भारत के राजनीतिक दलों में उसका तीसरा स्थान है और वह एकमात्र पार्टी है जो अपने भीतर हिन्दुओं और मुसलमानों को प्रभावशाली ढंग से संयुक्त करती है। उसके नेतृत्व में चलनेवाली मजदूर सभाओं की सदस्य संख्या छह लाख और किसान सभाओं के सदस्यों की संख्या १९४४ में आठ लाख तीस हजार थी। युद्ध के दौरान भारतीय

पूंजीपतियों ने भारी मुनाफा कमाया है और अपनी स्थिति मजबूत की है। उन्होंने उत्पादन की बढ़ती से उतना मुनाफा नहीं कमाया जितना युद्धकालीन वित्तीय व्यवस्था और ठेकों से, महँगाई, मुद्रास्फीति और चोरबाजारी से कमाया है। युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद को कमजोर होते देखकर उन्होंने सोचा कि अब ब्रिटिश इजारे को तोड़ा जा सकता है और राष्ट्रीय सरकार कायम होने पर बड़े पैमाने के लाभकारी औद्योगिक विकास की शुरूआत की जा सकती है। राष्ट्रीय कांग्रेस ऐतिहासिक रूप से उदीयमान पूंजीपति वर्ग की संस्था रही है। आधुनिक काल मे उसने बड़े पैमाने पर आम लोगो को सदस्य बनाया है। टाटा, बिड़ला आदि जो सबसे सुदृढ़ पूंजीपति थे, कांग्रेस के नेताओ पर उनका प्रभाव अब और भी मजबूत हुआ। इस कारण पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, कृपलानी आदि का दक्षिणपन्थी नेतृत्व और भी मजबूत हुआ और उसने कम्युनिस्ट-विरोधी अभियान शुरू किया। अभियान शुरू होने पर कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सदस्यो से कहा कि वे कांग्रेस से इस्तीफा दे दें जिससे कि अपनी बात जनता के आगे खुलकर कह सकें। निकट भविष्य मे राष्ट्रीय एकता अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए आशा करनी चाहिए कि यह विलगाव शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा। भारत के प्रगतिशील राष्ट्रवाद के सभी अगो को मिलानेवाली संस्था कांग्रेस है। भारत की बहुसंख्यक जनता आजादी की लड़ाई में कांग्रेस को अपना नेता मानती है। यह बात अतिशय महत्व की है कि कांग्रेस तथा किसान-मजदूर-आन्दोलनो और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच कारगर सहयोग कायम हो।

कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट पार्टी के बीच एकता कायम करना जरूरी था, रजनी पाम दत्त की यह बात सही थी। इसके साथ यह बात भी सही थी कि कांग्रेस पर दक्षिणपन्थी दबाव बढ रहा था और यह दबाव भारत के बड़े पूंजीपतियो का था। केवल सरदार पटेल और राजेन्द्र प्रसाद अंग्रेजों से समझौता करने के इच्छुक नहीं थे, जवाहरलाल नेहरू भी उसी समझौतावादी नीति पर चल रहे थे। ऐसी हालत में कम्युनिस्ट पार्टी जितना ही स्वतन्त्र रूप से किसान मजदूर आन्दोलन को आगे बढाती, उतना ही कांग्रेस का सुधारवादी नेतृत्व अलगाव की हालत मे पड़ता और कांग्रेस तथा कम्युनिस्ट पार्टी, किसानों, मजदूरोंऔर मध्यवर्ग तथा राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की वास्तविक एकता कायम होती। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के नेता इस रणनीति से परिचित थे, **सर्वहारा मार्ग** पुस्तिका मे, इस नीति की रूप-रेखा वे बता चुके थे। किन्तु इस समय इस धारणा का असर दूर-दूर तक था कि अंग्रेजो से लड़े बिना भी आजादी मिल जायेगी। शर्त यह है कि लीग और कांग्रेस मे समझौता हो जाय। समझौते की राह पर चलने का मतलब था, लीग के प्रभाव को बढने देना। इसलिए लीग के प्रभाव को कम करने के लिए कांग्रेस की समझौतावादी नीति का विरोध करना जरूरी था।

अंग्रेजो ने भारतीय नेताओं के सामने जो योजना रखी थी, उसके बारे में [सा]वधान करते हुए रजनी पाम दत्त ने लिखा था, इससे भारतीय जनता को अभी [य]ह अवसर नहीं मिलता कि अपना भविष्य निर्धारित करने के लिए वह जनतान्त्रिक [ढंग] से अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करे। इसके बदले इस योजना मे गोलमेज

कम्युनिस्ट पार्टी और

सम्मेलन का घिसा-पिटा तरीका अपनाया गया है, यानी ऐसी जमातों के प्रतिनिधियों को बटोरा जाय कि मालूम हो कि इनके बीच की खाई पाटी नहीं जा सकती और नतीजा यह निकले कि पंच फैसला करने के लिए अंग्रेज आगे आयें और अपना फैसला लागू करें। कूपलैण्ड ने 'भारत का भविष्य' ('द फ्यूचर ऑफ इण्डिया') नाम से एक अर्द्ध-सरकारी रिपोर्ट तैयार की। इससे पता चलता है कि साम्राज्यवादियों में कुछ प्रभावशाली गुट अंग्रेजों के हित में भारत-विभाजन की योजना बना रहे हैं। इसके अनुसार हिन्दू इलाके, मुस्लिम इलाके होंगे और इन दोनों से अलग राजाओं का इलाका होगा और इन सबके ऊपर इन्हें मिलाये रखनेवाली एक संस्था होगी। ब्रिटिश प्रभुत्व को कायम रखने के लिए यह भारत को विघटित करने की योजना है। ब्रिटिश सरकार की वर्तमान नीति यह है कि वह भारत को आत्मनिर्णय का अधिकार नहीं देती और इसके लिए वह धूर्तता से दोष भारतीय मतभेद को देती है। हमारी माँग है कि भारत में साम्राज्यवादी शासन समाप्त किया जाय और भारतीय स्वाधीनता को मान्यता देने के लिए ठोस कदम उठाये जायें। ठोस कदम इस तरह के होंगे: राजनीतिक बन्दी रिहा किये जायें, नागरिक अधिकार बहाल किये जायें, प्रभुसत्तासम्पन्न संविधान सभा बालिग मताधिकार के आधार पर बुलायी जाय, ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों, दोनों के प्रतिनिधि जनतान्त्रिक ढंग से चुने जायें, भावी संविधान कैसा हो और ब्रिटेन से भारत के सम्बन्ध कैसे हों, यह तै करने का पूरा अधिकार इस सभा को हो।

यदि इन ठोस माँगों को लेकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी आन्दोलन करती और उस संविधान सभा को स्वीकार न करती जो बालिग मताधिकार के बल पर न चुनी गयी थी तो ब्रिटिश नीति विफल की जा सकती थी। किन्तु कांग्रेस अंग्रेजों की बतायी हुई शर्तों को मानकर उस संविधान सभा को स्वीकार करनेवाली थी जिसे जनतान्त्रिक ढंग से न बुलाया गया था। पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न संविधान सभा जनवादी क्रान्ति के फलस्वरूप ही बुलायी जा सकती है, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी १९४१ में स्पष्ट कर चुकी थी। किन्तु रजनी पाम दत्त ने आगे लिखा कि संविधान सभा बुलाने की बात करते समय हम यह पहले से तय नहीं कर रहे हैं कि संविधान सभा एक होगी या दो होंगी। "यदि कांग्रेस और लीग संयुक्त रूप से यह माँग करती हैं कि एक से अधिक संविधान सभाएँ हों, तो इस तरह का आपसी समझौता अपने आप स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि ऐसी संयुक्त माँग न हो तो ब्रिटिश शासक सत्ता के लिए यह काम जनतन्त्र विरोधी होगा कि वह अपना फैसला लादे और समस्या के बारे में भारतीय जनता के निर्णय से पहले ही सीमाएँ निर्धारित करे। इसलिए मौजूदा परिस्थितियों में हमारी मुख्य माँग यह होनी चाहिए कि भारतीय स्वाधीनता को पूर्ण मान्यता मिले और जनवादी चुनाव द्वारा प्रभुसत्ता सम्पन्न संविधान सभा बुलायी जाय जिससे कि भारतीय जनता स्वयं अपना भविष्य निर्धारित करे।" यदि बालिग मताधिकार के बल पर जनवादी ढंग से चुनाव कराने के बाद संविधान सभा बुलाना जरूरी था तो संविधान सभा संयुक्त रहे या विभाजित हो, यह फैसला वह संविधान सभा ही कर सकती थी। मुस्लिम लीग और कांग्रेस दो संविधान सभाएँ बुलाने के लिए राजी हो जायें तो

उनके आपसी समझौते से दो सविधान सभाएँ बुलाने की प्रक्रिया जनवादी न हो जाती थी। लीग और कांग्रेस के समझौते से साबित यह होता कि इन दोनो पार्टियो के नेता संविधान सभा के लिए बालिग मताधिकार के बल पर चुनाव कराने से डरते हैं; इसलिए इनके आपसी समझौते को जनतन्त्र विरोधी मानना चाहिए। वे क्रान्ति से बचने के लिए ऐसा समझौता कर रहे थे, इसलिए उस समझौते को क्रान्ति-विरोधी भी मानना चाहिए। ब्रिटिश मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारी अग्रदल इस जनतन्त्र-विरोधी, क्रान्ति-विरोधी कार्य को मान्यता क्यों दे? अंग्रेज दरअसल यही चाहते थे कि पुराने सकुचित निर्वाचन-आधार पर दो सविधान सभाएँ बुलाकर समझौता कर लिया जाय। रजनी पाम दत्त ने दो सविधान सभाएँ बुलाने की जो बात कही थी, वह जनतन्त्र-विरोधी होने के अलावा राष्ट्रीय एकता का विरोध करनेवाली भी थी। उन्होने माना था कि मुस्लिम लीग साम्प्रदायिक संगठन है और कांग्रेस, पूँजीवादी प्रभाव के बावजूद, राष्ट्रीय सगठन है। मुस्लिम लीग का उद्देश्य है विभाजन, कांग्रेस का उद्देश्य है राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता। जब *अंग्रेजों की देख-रेख मे ये दोनों संगठन समझौता करेंगे तब परिणाम एक ही होगा,* राष्ट्रीय एकता विघटित होगी और पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य प्राप्त न होगा।

(ख) 'पीपुल्स वार' के लेख

९ अगस्त १९४२ के 'पीपुल्स वार' ने लिखा, गांधीजी कहते हैं, भारत का विभाजन पाप है। राष्ट्रीय नेतृत्व की राय इन शब्दों से जाहिर हो जाती है और यह जाहिर हो जाता है कि बहुत विलम्ब होने से पहले बीच की खाई पाटना जरूरी है। राष्ट्रवादी मत जोरों से घोषणा करता रहा है कि स्वाधीन भारत मे बहुसख्यक समुदाय अल्पसंख्यकों को नही सतायेगा किन्तु अल्पसंख्यक समुदाय बहुसख्यक समुदाय का विश्वास नही करता, इसलिए ऐसी घोषणाओं से वह सन्तुष्ट नही हो सकता। उसके भय को पूरी तरह दूर करना जरूरी है। उसे बराबरी का दर्जा मिलेगा, इसकी गारण्टी इस रूप में दी जानी चाहिए कि लोग उसे आसानी से समझ सकें। उसे अलग होने का अधिकार मिलना चाहिए, स्वतन्त्र राज्य बनाने का अधिकार मिलना चाहिए।

मुसलमान अल्पसंख्यको की समस्या को जातीय समस्या से जोड़ते हुए पत्र ने आगे लिखा, यह अधिकार और भी वेहिचक ढंग से इस कारण मान लेना चाहिए कि मुसलमानों के मामले में यह विभिन्न जातियों का सवाल है, पठानों, बलूचियों, सिन्धियो आदि का सवाल है जो धर्म, संस्कृति, परम्परा और इतिहास द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यह समझना कि अलग होने का अधिकार जिन्ना की कोई खास सनक है या कुछ सम्प्रदायवादियों द्वारा भारत को विभाजित करने का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित मे षड्यन्त्र है, नये मुस्लिम जागरण की अनदेखी करना है, आन्ध्र, कर्णाटक, महाराष्ट्र आदि की जातियो के जागरण की अनदेखी करना है, इस बात की अनदेखी करना है कि इन जातियों मे अपनी नयी चेतना पैदा हो रही है, नये जीवन की चाह पैदा हो रही है। अलगाव का हक मान लेने का मतलब भारत को विभाजित करना नही है, उसका मतलब है साम्राज्यवाद के विरुद्ध सबको

एकजुट करके आगे बढना। इससे पुराने मतभेद स्थायी न होंगे वरन् एकबारगी पुराने पूर्वाग्रह टूटेंगे और भारत के लोगों में आपसी पहचान और एकता बढ़ेगी। यह एक प्रगतिशील और क्रान्तिकारी कदम है जिससे साम्राज्यवाद पंगु हो जायेगा। यह ऐसा कदम है जिसे कांग्रेस को हिम्मत के साथ उठाना चाहिए। इस नाजुक समय मे यदि राष्ट्र को एकताबद्ध होकर खड़े होना है तो साहसपूर्वक कांग्रेस को यह कदम उठाना होगा।

इस सम्पादकीय लेख मे पठानो और बलूचियों के साथ आन्ध्र और कर्णाटक जैसे प्रदेशों के लोगों को जोड़ दिया गया है। पठानों और बलूचियो के लिए कहा गया है कि वे अन्य बातों के अलावा धर्म द्वारा एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। यदि यह बात सही है तो उन सबकी जाति एक ही हुई और इसी तरह कर्णाटक और आन्ध्र के लोगों की जाति भी एक हुई। यदि धर्म के बन्धनों के अनुसार हिन्दुओं और मुसलमानों की दो मुख्य जातियाँ है, तो दो से अधिक जातियों का प्रश्न कैसे पैदा हुआ ? सभी हिन्दुओं की एक जाति है, इसे कौन सम्प्रदायवादी नही मानता ? इसी प्रकार मुसलमानो की एक जाति है, इसे भी सभी सम्प्रदायवादी मानते है। यदि एक धर्म को माननेवाली तथाकथित मुस्लिम जातियों का एक राज्य बनता है तो शेष कर्णाटक आदि की जातियो का हिन्दू राज्य क्यों न बने ? जिसने भी 'पीपुल्स वार' मे यह सम्पादकीय लेख लिखा था, वह स्तालिन की जाति-सम्बन्धी व्याख्या से बहुत अच्छी तरह परिचित था। उस व्याख्या से उसने इतिहास, संस्कृति और परम्परा को ले लिया है और धर्म को अपनी तरफ से जोड़ दिया है ! कम्युनिस्ट पार्टी जातीयता की जो व्याख्या कर रही थी, वह स्तालिन की व्याख्या से अलग थी, वह जान-बूझकर उस व्याख्या में धर्म को जातीयता का आधार बना रही थी। 'पीपुल्स वार' के सम्पादक ने धर्म अपनी तरफ से जोड़ा और एक चीज अपनी तरफ से निकाली भी। वह थी भाषा। जातीयता के साथ भाषा का सम्बन्ध जोड़ते ही यह बात जाहिर हो जाती कि पूर्वी और पश्चिमी बंगाल के हिन्दू और मुसलमान एक ही जाति के है, पंजाब के हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख एक ही जाति के हैं। स्तालिन की पूरी व्याख्या उद्धृत करने से यह तुरत जाहिर हो जाता कि जातीयता को खण्डित करनेवाली चीज है सम्प्रदायवाद। मुस्लिम लीग नाम के साम्प्रदायिक संगठन का आन्दोलन किसी भी प्रदेश मे जातीयता का आन्दोलन नहीं, वह साम्प्रदायिक आधार पर जाति को तोड़नेवाला आन्दोलन है। जो मार्क्सवाद साम्प्रदायिकता से लड़ने का प्रभावशाली अस्त्र है, हाथ की सफाई दिखाकर कम्युनिस्ट नेता उसे साम्प्रदायिकता के समर्थन का अस्त्र बना रहे थे।

इतिहास और परम्परा को लिया जाय तो पूछा जा सकता है : पूर्वी और पश्चिमी बगाल के हिन्दू मुसलमान एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक हैं या पूर्वी बगाल और पश्चिमी पंजाब के मुसलमान एक-दूसरे के ज्यादा नजदीक हैं ? जातीयता की एक पहचान उसकी अविच्छिन्न निवास भूमि है। यदि किसी जाति की निवास भूमि का एक टुकड़ा पूर्वी बगाल मे हो और दूसरा टुकडा पश्चिमी पंजाब मे हो तो प्रदेशों का यह अलगाव ही साबित कर देगा कि उसमें रहनेवालो को जाति की संज्ञा देना गलत है। कम्युनिस्ट नेताओ की व्याख्या एक ओर पश्चिमी पंजाबियो

को पूर्वी बंगालियों से धर्म के आधार पर जोड रही थी, दूसरी ओर वह बंगालियों और पजाबियो को विभाजित कर रही थी।

'पीपुल्स वार' के उसी अक मे राष्ट्रीय एकता पर डा. अधिकारी का लेख प्रकाशित हुआ। मुसलमानो के राष्ट्रीय जागरण की व्याख्या करते हुए उन्होने लिखा : १६३६ से १६४२ तक के दौर मे आम साम्राज्यविरोधी उभार दिखायी दिया। इसमें मुस्लिम जनता ने भी भाग लिया। अधिकाश निम्न पूंजीवादी मुस्लिम जनता लीग के प्रभाव मे आयी। इस बीच काग्रेस के मुस्लिम अनुयायियों की संख्या मे उतनी ही तेजी से वृद्धि नही हुई। मुसलमानो मे जो साम्राज्यविरोधी भावना बढ रही थी, वह इस तरह प्रकट हुई कि उसने लीगी नेतृत्व पर दबाव डाला। १६३८ में मुस्लिम लीग ने ऐलान किया कि भारत की पूर्ण स्वाधीनता उसका लक्ष्य है। कहना चाहिए कि इस दौर में मुस्लिम लीग के नेतृत्व में एक तरह का परिवर्तन आया। यह अब सामन्ती प्रतिक्रियावादी नेतृत्व नही है जिसे साम्राज्यवाद अपने हथियार के रूप मे इस्तेमाल करे। यह औद्योगिक पूंजीवादी नेतृत्व है जो साम्राज्यवाद का पिछलगुआ नही है वरन् विरोधी भूमिका निबाहता है

सन् ३६ से ४२ तक के दौर मे साम्राज्यविरोधी चेतना का प्रसार हुआ, यह बात सही है। इसी दौर मे अंग्रेजो के बनाये कानून के अनुसार कांग्रेस ने चुनाव लड़े और अनेक प्रान्तों में अपने मन्त्रिमण्डल बनाये, यह भी सही है। मन्त्रिमण्डलों के द्वारा साम्राज्यवाद ने जनता की साम्राज्यविरोधी लडाई का मुकाबला करने की रीति अपनायी। इस पुस्तक के पहले खण्ड मे यह दिखाया जा चुका है कि मुस्लिम लीग के प्रभाव के बढ़ने का सीधा सम्बन्ध कांग्रेस द्वारा पद ग्रहण से था। काग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के प्रति कम्युनिस्ट पार्टी ने उस समय सही दृष्टिकोण न अपनाया था। १६४२ मे भी वह सुधारवादी दृष्टि से मन्त्रिमण्डलोंवाले दौर को देख रही थी। १६३५ का कानून अंग्रेजों ने बनाया था। वे चाहते थे कि इस कानून के अनुसार कांग्रेस चुनाव लड़े और मन्त्रिमण्डल बनाये। उनकी नीति के अनुसार चलने का एक ही परिणाम हो सकता था कि जिस मुस्लिम लीग के द्वारा वे राष्ट्रीय आन्दोलन मे फूट डालना चाहते थे, वह और भी शक्तिशाली हो। सम्प्रदायवाद की बढती को राष्ट्रीय जागरण कहना बहुत बड़ी गलती थी। मुस्लिम लीग का नेतृत्व बदल गया है, अब वह प्रतिक्रियावादी नही है, इस तरह की बातें निराधार थीं। यदि १६३८ मे मुस्लिम लीग ने पूर्ण स्वाधीनता का लक्ष्य स्वीकार किया तो इस लक्ष्य को विफल करने के लिए उसने १६४७ मे पाकिस्तान का प्रस्ताव भी पास किया। मुस्लिम लीग का नेतृत्व सामन्ती नही है, औद्योगिक पूंजीवादी है, यह स्थापना बहुत बड़ा भ्रम थी। पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रान्त और सिन्ध में सामन्ती अवशेष खूब मजबूत थे और यहाँ उद्योगीकरण कम-से-कम हुआ था। इन क्षेत्रों के सामन्तों के सहयोग से बम्बई और अलीगढ के कुछ बुद्धिजीवियों ने मुस्लिम लीग का निर्माण किया था। लीग के नेतृत्व मे औद्योगिक पूंजीवाद के प्रतिनिधि बहुत ही कम थे और इनका हित भारतीय बाजार के अविभाजित रहने मे था। लीगी नेतृत्व के सिलसिले मे औद्योगिक पूंजीवाद की बात उसे राष्ट्रीय गौरव प्रदान करने के लिए कही गयी थी। पूंजीवाद से राष्ट्रीयता का सम्बन्ध है,

कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों राष्ट्रीय संस्थाएँ है; कांग्रेस का सम्बन्ध पूंजीपतियों से है, तब मुस्लिम लीग का सम्बन्ध पूंजीपतियों से क्यों न होगा ?

३० अगस्त १९४२के 'पीपुल्स वार' में बी. टी. रणदिवे ने कांग्रेस-लीग एकता के बारे मे लिखा : यह आशा करना कि मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माँग छोड़ देगी *अपनी शर्तों पर एकता की माँग करना है, एक अविभाजित और स्वाधीन भारत* के आधार पर एकता की माँग करना है। 'डेली हेराल्ड' को दी हुई जिन्ना की भेटवार्ता के आधार पर रणदिवे ने लिखा कि प्रान्तों की सीमाओं मे फेरबदल की सम्भावना स्वीकार की गयी है। रणदिवे का तर्क माना जाय तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि विभाजन के आधार पर राष्ट्रीय एकता कायम की जा सकती है। *पाकिस्तान की माँग स्वीकार करके राष्ट्रीय एकता कायम करना असम्भव था*, किन्तु रणदिवे जिस एकता की बात कर रहे थे, वह इसी माँग की स्वीकृति पर निर्भर थी।

मुस्लिम लीग का आन्दोलन जातीय या राष्ट्रीय आन्दोलन था, वह साबित करने के लिए पुराने इतिहास को नये सिरे से लिखना जरूरी हो गया। २३ जुलाई १९४४ के *'पीपुल्स वार'* में सज्जाद जहीर ने *'मुस्लिम लीग और भारतीय स्वाधीनता'* विषय पर निबन्ध लिखा। उन्होंने बताया कि कांग्रेसी देशभक्तों में आम धारणा यह है कि मुस्लिम लीग और उसके नेता गैर-जिम्मेदार, सम्प्रदायवादी हैं या इससे भी बदतर बात यह कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद से प्रेरित होकर देश की एकता भंग करना चाहते हैं। मुस्लिम लीग के जन्म से लेकर अब तक *हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों के इतिहास पर निगाह डाली जाय तो पता चलेगा कि* भारतीय मुसलमानों की पाकिस्तानवाली माँग उनमे राजनीतिक चेतना के विकास की तर्कसंगत अभिव्यक्ति है और उसका विकास राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन के साथ-साथ हुआ है। मुस्लिम लीग की स्थापना १९०६ में हुई। उस समय मिण्टो ने सुधारों की जो योजना बनायी थी, उसके सन्दर्भ में लीग की मुख्य राजनीतिक *माँग यह थी कि मुसलमानों के अलग निर्वाचन-क्षेत्र हों* और विधान सभाओं मे उनकी सीटें आरक्षित हों। मुस्लिम लीग में जो साम्राज्य भक्त लोग थे, उन्होंने फूट और विघटन की बातें कहीं। "जो बात लोग नही समझते, वह यह कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या को साम्राज्यवाद ने जन्म न दिया था।" १८५७ के बाद से मुसलमान इलाकों को पिछड़ा हुआ रखा गया था। पंजाब, पूर्वी बंगाल, पश्चिमोत्तर प्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान मे बहुत ही कम शिक्षा प्रसार हुआ। कुछ सम्पत्तिशाली और शिक्षित लोगों को ही वोट देने का अधिकार मिला था। "नव जाग्रत मुस्लिम मध्यवर्ग के सामने केवल एक ही रास्ता था जिस पर चलकर वह अपनी *जनता की सेवा करने की आशा कर सकता था। और वह रास्ता यह था कि वह* अलग निर्वाचन-क्षेत्र प्राप्त करे।" अलग निर्वाचन-क्षेत्रों की माँग उचित थी।

१९१२ मे मुस्लिम लीग का उद्देश्य यह था कि अंग्रेज बादशाह के मातहत वह ऐसा स्वायत्त शासनतन्त्र प्राप्त करे जो भारत के अनुकूल हो। तुर्की का विभाजन हुआ, जारशाही रूस ने ईरान पर हमला किया, मलय देश के मुसलमानों पर मुसीबतें आयीं; इन सब घटनाओं ने भारतीय मुसलमानों की साम्राज्यविरोधी

भावना को उकसाया। इस कारण मुस्लिम लीग काग्रेस के नजदीक आयी। १९१६ मे दोनों ने संयुक्त मोर्चा बनाया और भारत सचिव मोण्टेगू के सामने १९१७ मे अपनी माँग रखी। काग्रेस ने माना कि मुसलमानो के अलग निर्वाचन-क्षेत्र होगे और सदस्यों का अनुपात निश्चित किया जायेगा। पजाब में ५० फीसदी और बंगाल में ४० फीसदी सीटें मुसलमानो को दी जायेंगी। केन्द्रीय विधान सभा में एक-तिहाई निर्वाचित सदस्य मुसलमान होंगे। मुसलमानों से सम्बन्धित किसी बिल का विरोध तीन-चौथाई मुस्लिम सदस्य करें तो कानून न बनेगा। सज्जाद जहीर के अनुसार इससे विदित होता है कि पजाब और बगाल के मुसलमान अपने प्रदेशो के राजनीतिक जीवन मे प्रमुख स्थान पा रहे थे। अभी निर्वाचन सीमित था, पूरी जनवादी स्वाधीनता की मजिल अभी आयी न थी; उस समय मुस्लिम इलाकों के राजनीतिक विकास की जो मजिल थी, उक्त माँग उसके अनुरूप थी। केन्द्रीय विधान सभा में सीटें आरक्षित हों, ऐसा कानून न बने जिससे मुसलमानो का अहित हो, "संघीय सविधान में बडी और अधिक विकसित जातियो के मुकाबले उस एक ही संघ की कमजोर और छोटी जातियों के हितों की रक्षा के लिए जो जनवादी सुरक्षा (सेफगार्ड) की माँग थी, वह पहली बार यहाँ प्रस्तुत की गयी थी। यह छोटी जातियों की माँग थी कि उन्हे समानता का अधिकार मिले।"

सज्जाद जहीर ने आगे लिखा : खिलाफत आन्दोलन वास्तव में निकट पूर्व के मुस्लिम देशों तथा अरबीभाषी मुल्कों की आजादी का आन्दोलन था। काग्रेस और लीग अथवा खिलाफत कान्फ्रेंस नाम के दो बड़े राष्ट्रीय संगठनो ने मिलकर सभाएँ कीं। काग्रेस, मुस्लिम लीग और खिलाफत कमेटी ने संयुक्त रूप से असहयोग आन्दोलन चलाया और उसमे हजारों हिन्दुओ और मुसलमानो ने भाग लिया। मुसलमान जनता स्वराज्य के लिए लड रही थी और अस्पष्ट रूप मे भारत की मुस्लिम जातियों की आजादी के लिए लड रही थी। खिलाफत आन्दोलन की माँग थी कि सारे इस्लामी देशों का खलीफा एक हो। भारत के बाहर मुसलमान भाइयों के साम्राज्यविरोधी आन्दोलन से यहाँ के मुसलमान प्रभावित हुए। गांधीजी तथा दूसरे नेताओं ने इस बात का अनुभव किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता की धारा वेग से वह चली और साम्राज्यवाद की नीव हिल उठी। असहयोग आन्दोलन असफल हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि इस आन्दोलन के नेता उसके सामने कोई स्पष्ट जनवादी कार्यक्रम नही रख सके, उन्होने स्वराज्य की व्याख्या नही की। स्वाधीनता की जो व्यापक लड़ाई है, उसके अन्तर्गत मजदूरो और किसानो की मागें भी हैं, जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार भी है, यह बात नही कही गयी। नतीजा यह हुआ कि "प्रगतिशील राजनीतिक पार्टियो—कांग्रेस और लीग मे" फूट और विघटन का जन्म हुआ। काग्रेस मे स्वराज्यपन्थियों और अपरिवर्तनवादियों के दो दल बन गये।

दिसम्बर १९२४ मे मुस्लिम लीग ने अन्य पार्टियों से बातचीत की किन्तु समझौता न हुआ। १९२७ में साइमन कमीशन नियुक्त हुआ। जिन्ना ने लीग, मुस्लिम कान्फ्रेंस, मौलाना मुहम्मद अली और जमीयत-उल-उलेमा का नेतृत्व

माननेवाले खिलाफतियों को मिलाकर एक किया। कांग्रेस ने भावी संविधान के सिलसिले में नेहरू रिपोर्ट प्रकाशित की। १९२८ में कई पार्टियों का सम्मेलन कलकत्ते मे हुआ किन्तु वहाँ भी समझौता न हुआ। नेहरू रिपोर्ट में संघीय शासन-व्यवस्था की रूपरेखा दी गयी थी। केन्द्र में सत्ता निहित होगी, संयुक्त-निर्वाचन क्षेत्र होंगे, जिन सूबो मे मुसलमान अल्पसंख्यक थे, केवल उनमें सीटें आरक्षित होंगी। केन्द्र में मुसलमानों के लिए कोई भी आरक्षण न होगा; उन्हे लगभग एक-चौथाई सीटें मिलेंगी।

मुसलमानो की माँग यह थी कि सत्ता प्रान्तों में निहित हो। सिन्ध, बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर प्रदेश के अलग सूबे बनें; जो विशेष राजनीतिक अधिकार भारतीय सूबो को प्राप्त हैं, वे इन्हें भी मिलें। पंजाब और बंगाल मे मुसलमान बहुसंख्यक हैं, यह स्थिति कायम रखी जाय। जब तक मुसलमान अलग निर्वाचन-क्षेत्र समाप्त न करना चाहें, तब तक उन्हें कायम रखा जाय। "भारत के भावी संविधान में मुस्लिम धर्म और मुस्लिम संस्कृति की सुरक्षा के लिए पर्याप्त कानूनी विधान हो।" केन्द्रीय विधान सभा मे मुस्लिम प्रतिनिधि एक-तिहाई से कम न हो। "यहाँ हम पहले की अपेक्षा और भी स्पष्ट रूप से देखते हैं कि मुस्लिम जातियाँ उभर रही हैं; उनका यह उभार इस माँग के रूप में सामने आता है कि सिन्ध, पश्चिमोत्तर प्रदेश और बलूचिस्तान को अलग किया जाय, वहाँ के मुस्लिम अवाम को बराबरी का दर्जा मिले; वह उभार इस माँग के रूप में सामने आया कि पंजाब और बंगाल के मुस्लिम अवाम की आजाद हस्ती हो और उनकी प्रगति हो।"

कांग्रेस ने जब १९३० और ३२ मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ा तो कुल मिलाकर मुसलमान उससे प्रभावित न हुए। फिर कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बने। मुस्लिम अवाम कांग्रेस से और भी दूर चले गये, मुस्लिम लीग को पुनर्जीवन मिला। लीग का नया सिद्धान्त यह था कि स्वाधीन जनवादी राज्यो के रूप में पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त की जाय; इन राज्यों मे संविधान द्वारा मुसलमानों के हित और अधिकार आरक्षित हो। इस प्रकार यहाँ भी मुस्लिम जातियों की माँग उनकी अपनी स्वाधीनता के रूप मे सामने आयी। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने दिसम्बर १९३९ में इस्तीफा दिया। मुस्लिम लीग ने उस दिन मुक्ति-दिवस मनाया। १९४० में पाकिस्तान की माँगवाला प्रस्ताव पास हुआ।

अलग निर्वाचन-क्षेत्रो की माँग से शुरू करके पाकिस्तान की माँग तक यह जो सारा विकास हुआ, इसे प्रतिक्रियावाद और सम्प्रदायवाद की वृद्धि न मानना चाहिए वरन् यह मानना चाहिए कि वह भारत की विकासमान मुस्लिम जातियों की राष्ट्रीय, जनवादी और साम्राज्यविरोधी भावना की विभिन्न मंजिलों मे विकासमान अभिव्यक्ति थी।

इस प्रकार अंग्रेजों के दाँव-पेंच के फलस्वरूप यहाँ जो सम्प्रदायवाद उभर रहा था, उसे सज्जाद जहीर ने मुस्लिम जातियों का विकास कहकर पेश किया। वह मुसलमानों के सम्प्रदायवाद से परिचित थे, वह मुस्लिम लीग का वर्ग आधार पहचानते थे किन्तु इस समय अन्य कम्युनिस्ट नेताओ की तरह वह सोच रहे थे

कि साम्राज्यवाद से लड़ना जरूरी न होगा, कांग्रेस और लीग में एकता हो जाये तो अंग्रेज सत्ता सौंप देंगे। इस एकता के लिए वह वैज्ञानिक आधार तलाश कर रहे थे और अपने काल्पनिक आधार को इतिहास पर आरोपित कर रहे थे। १८५७ में हिन्दू और मुसलमान किस तरह मिलकर अंग्रेजों से लड़े थे, वह जानते थे। फिर भी वह कह रहे थे कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या साम्राज्यवाद ने पैदा नहीं की। १८५७ के बाद जिन इलाकों में मुसलमान बहुसंख्यक थे, उन्हें अंग्रेजों ने ही पिछड़ा हुआ रखा था। किन्तु इस तरह राजस्थान भी बहुत पिछड़ा हुआ प्रदेश था यद्यपि वहां मुसलमान बहुसंख्यक नहीं थे। अंग्रेजों ने एक काम और किया था कि पूर्वी बंगाल में मुसलमान किसानों के ऊपर काफी हिन्दू जमींदार बिठा दिये थे, पश्चिमी पंजाब, पश्चिमोत्तर प्रदेश और सिन्ध में भी हिन्दू या सिक्ख जमींदारों की संख्या काफी थी। इधर संयुक्त प्रान्त के हिन्दू किसानों पर काफी मुसलमान जमींदार और ताल्लुकदार बिठा दिये थे। रामपुर, भोपाल, हैदराबाद जैसी रियासतों के शासक मुसलमान थे, प्रजा अधिकतर हिन्दू थी। कश्मीर में प्रजा अधिकतर मुसलमान थी, राजा हिन्दू था। जो जमींदार कांग्रेस के भीतर थे, वे उसे सामन्तविरोधी लड़ाई चलाने से रोकते थे; जो बाहर थे वे मुस्लिम लीग, हिन्दू महासभा या किसी अन्य संगठन द्वारा कांग्रेस पर दबाव डालते थे कि वह सामन्त-विरोधी लड़ाई रोके रहे। ऐसी हालत में हिन्दू-मुस्लिम एकता का सवाल सामन्त-विरोधी क्रान्ति के सवाल से जुड़ गया था। किसान कहीं के भी हों, जो उनकी भूमि-समस्या हल करने में मदद देगा, वे उसके साथ होंगे। यह काम न कांग्रेस कर सकती थी, न लीग कर सकती थी, न दोनों मिलकर कर सकती थीं। यह काम केवल कम्युनिस्ट पार्टी और अन्य समाजवादी दल कर सकते थे। सज्जाद जहीर ने और अन्य कम्युनिस्ट नेताओं ने हिन्दू-मुस्लिम एकता पर बहुत लिखा; यह सब लिखते समय उन्होंने किसानों की भूमि-समस्या को कांग्रेस-लीग-एकता के सवाल से अलग रखा। यह सुधारवादी रुझान युद्ध से पहले भी था। किसानों के व्यापक आधार न होने से युद्ध के दौरान भूमि-समस्या को भुलाकर कांग्रेस-लीग-एकता को सब मर्जों की एक दवा मान लेना कम्युनिस्ट नेताओं के लिए स्वाभाविक था।

सज्जाद जहीर ने भूमि-समस्या के सवाल को अलग रखा। बंगालियों, सिन्धियों, पंजाबियों, पठानों की भाषा समस्या को भी अलग रखा। जब उन्होंने भाषा-समस्या पर अलग से लिखा, तब उनके सामने हिन्दुओं की भाषा हिन्दी और मुसलमानों की भाषा उर्दू, ये दो भाषाएं उभरकर सामने आयीं और बाकी भाषाएं उनके विवेचन से प्रायः दूर रहीं। हिन्दी और उर्दू बुनियादी तौर से एक भाषा है, यह धारणा किसी समय सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन की धारणा थी और कम्युनिस्ट पार्टी की थी। लेकिन युद्धकाल के दौर में मुस्लिम लीग का साथ देकर मुस्लिम जातियों का विकास हो गया, तब उर्दू मुस्लिम राज्य की भाषा हुई उर्दू, बाकी बचे लोगों के हिन्दू राज्य की भाषा हुई हिन्दी। सुधारवादी चिन्तन की तर्कसंगत परिणति यही थी। हिन्दू राज्य की बात मार्क्सवादी नेता नहीं करते, उर्दू-हिन्दी भाषाओं के अस्तित्व की बहुत अच्छी पहचान है, किन्तु हिन्दी-उर्दू की एकता की उनकी पहचान अब भी बहुत कमजोर है।

सज्जाद ज़हीर ने लिखा था कि अलग निर्वाचन क्षेत्रों की माँग करके छोटी जातियाँ बराबरी का दर्जा पाना चाहती थी। दरअसल बंगाली और पंजाबी जातियाँ भारत की दो बड़ी जातियाँ हैं। अलग निर्वाचन क्षेत्र कायम होने से इनके विघटन का सूत्रपात हुआ। बराबरी का दर्जा और उससे भी ऊँचा दर्जा इनका होता यदि बंगाल के मुसलमान वहाँ के हिन्दुओ के साथ बंगाली जाति के अंग बने रहते। बंगाली जाति आगे चलकर चाहे संयुक्त हो, चाहे विभक्त रहे, इस बात से कौन इन्कार कर सकता है कि उसके विभाजन से उसके आर्थिक और सामाजिक विकास को भारी क्षति पहुँची है? पंजाब का एक बार विभाजन हो चुका है, दूसरे विभाजन की तैयारी है। जितनी क्षति बंगाल की हुई है, उतनी क्षति पंजाब की हुई है, उससे भी अधिक और हो सकती है। हिन्दी प्रदेश मे किसी भी बहाने हिन्दी-उर्दू का भेद जब तक कायम रखा जायेगा, तब तक उसके सांस्कृतिक विकास मे रुकावट बनी रहेगी, यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है।

सज्जाद ज़हीर ने स्वाधीन जनवादी राज्यो की बात कही थी। वास्तव मे मुस्लिम लीग ने स्वाधीन जनवादी राज्यो की बात न कही थी, यह पूरनचन्द जोशी की कल्पना थी; सम्भव है, अधिकारी की भी रही हो, किन्तु सज्जाद ज़हीर उसे स्वीकार करते थे तो यह कैफियत देनी चाहिए थी कि जनवादी राज्य कायम करने के लिए नवाबो और जमींदारों से लड़ना जरूरी है। सामन्तविरोधी क्रान्ति के बिना जनवादी राज्य किस तरह कायम होगे? और मुस्लिम जातियो को किसकी गुलामी से आजाद होना है? मुस्लिम लीग का प्रचार यह था कि मुसलमानों के मुख्य शत्रु हिन्दू हैं, जनतन्त्र कायम हुआ तो मुसलमान हिन्दुओ के गुलाम हो जायँगे। इसलिए स्वाधीन राज्य का मतलब हुआ हिन्दुओं की गुलामी से स्वतन्त्र राज्य। जैसे जनवादी क्रान्ति के बिना जनवादी राज्य कायम होनेवाले थे, वैसे ही साम्राज्यविरोधी क्रान्ति के बिना स्वाधीन राज्य कायम होनेवाले थे। ऐसे राज्य न स्वाधीन हो सकते थे, न जनवादी हो सकते थे। वे भारत मे ऐसा विघटन जरूर पैदा कर सकते थे जो बहुत दिनों तक साम्राज्यवाद के लिए लाभकारी सिद्ध हो।

(ग) पूरनचन्द जोशी की पुस्तिका और लेख

फरवरी १६४६ मे पूरनचन्द जोशी की पुस्तिका सत्ता के लिए आखिरी संघर्ष (फॉर दि फाइनल बिड फॉर पावर) प्रकाशित हुई। इसमें मुसलमानों के आत्म-निर्णय को भारत के आत्मनिर्णय का अंग बनाने की बात कही गयी है। भारत को स्वाधीन जातियों का परिवार बनना चाहिए। चुनाव-सम्बन्धी कार्यक्रम के बारे मे जोशी ने लिखा, कांग्रेस और लीग की जो माँगें सही हैं, कम्युनिस्ट पार्टी उनका समर्थन करती है; इनकी जो माँगें अनुचित हैं, उन्हे वह त्यागती है; उनके कार्य-क्रम मे जो बातें अधूरी हैं, उन्हें यह पूरा करती है। चुनाव घोषणा पत्र मे अखिल भारतीय संविधान सभा बुलाने की बात कही गयी थी। इसके सदस्य १७ प्रभु-सत्तासम्पन्न जातीय संविधान सभाओं द्वारा चुने जायँगे। ऐम. ऐन. राय की तरह जोशी की कल्पना में स्वतन्त्र जातियाँ हैं; इनकी परस्पर निर्भरता, इनकी

आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सम्बद्धता उनकी कल्पना मे नहीं है। यद्यपि सत्रह जातियों में बंगाल के प्रदेश को विभाजित नहीं दिखाया है किन्तु हिन्दुस्तान और बिहार अलग-अलग हैं और इसमे भी खतरनाक बात यह कि पश्चिमी पंजाब और केन्द्रीय पंजाब दो अलग इलाके बताये गये हैं। चुनाव घोषणा पत्र मे कहा गया था, "कम्युनिस्ट पार्टी यह गारण्टी करती है कि जिस प्रदेश मे सिख लोगो की ऐतिहासिक जन्मभूमि है, उसमे वहाँ की शेष आबादी के साथ वे आत्मनिर्णय के अधिकार को अमल मे ला सकेंगे।" यहाँ जोशी ने पंजाबियो को सिखो और मुसलमानों, इन दो 'जातियों' मे विभाजित कर दिया। जातीय संविधान-सभाओ की योजना सम्प्रदायवाद को खत्म करने के बदले उसे नयी दिशा मे बढावा दे रही थी। बंगाल के लिए चुनाव घोषणापत्र मे कहा गया था कि वह हिन्दुओ और मुसलमानो की सामान्य जन्मभूमि है, कम्युनिस्ट पार्टी स्वाधीन भारत मे संयुक्त और स्वतन्त्र बंगाल का समर्थन करती है। बंगाल को आत्मनिर्णय का अधिकार होगा और प्रभुसत्ता सम्पन्न संविधान सभा के जरिये वह तय करेगा कि शेष भारत से उसके सम्बन्ध कैसे होंगे।

जोशी ने भारत के पुनर्जागरण के बारे मे लिखा कि इसके सूत्रधार धर्म की शब्दावली के द्वारा ही सोचते-विचारते थे। उस समय उनके चिन्तन का यही तरीका था। इससे उन्होंने अपने अतीत का गौरव देखा, उनमे जातीय अभिमान जागा, हमारा स्वाधीनता-आन्दोलन, हमारा पुनर्जागरण सम्भव हुआ। अंग्रेजो ने यहाँ के लोगो को एक-दूसरे के खिलाफ लड़ाया, उन्हे भीतर से विभाजित किया। मद्रास महाप्रान्त मे मलयाली, तमिल, आन्ध्र और कन्नड, चार तरह के लोग है और वे इसके अलावा विभाजित भी है। इसी तरह महाराष्ट्र और गुजरात के लोग विभाजित हैं। हम कम्युनिस्ट कहते है, अंग्रेजी राज कायम होने से पहले जो भारत था, उसे देखो और यह समझो कि हम खुद किस रास्ते पर बढ रहे थे। अंग्रेजो के बनाये हुए भारत की एकता को कायम रखना वैसा ही अपराध है जैसा कि उसकी एकता को भंग करना। "ठीक जिस समय हमारे लोग आधुनिक जातियाँ बन रहे थे, उसी समय अंग्रेजों ने हमे जीता और हमारे जातीय विकास को छिन्न-भिन्न कर दिया।" हमारे जातीय प्रदेशों में हमारी आधुनिक भाषाओ का जन्म हुआ, हमारी आधुनिक संस्कृति का विकास हुआ।

जोशी ने भारतीय जातियों के विकास के बारे मे ठीक लिखा है कि इनका विकास हो रहा था और अंग्रेजो ने आकर इस कार्य में बाधा डाली। उन्होने जातियो को विभाजित किया, यह बात सही थी। वे इन जातियों को अब साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित कर रहे थे, यह बात और भी ज्यादा सही थी। जातीय आत्मनिर्णय के नाम पर जोशी इस विभाजन का समर्थन कर रहे थे। ब्रिटिश पूर्व के भारत की जातियो का आपसी सम्बन्ध उनके साहित्य और संस्कृति मे दिखायी देता था, राजनीति मे वह प्रत्यक्ष नही था। १९वी सदी मे इटली राजनीतिक रूप से अनेक राज्यों में बँटा हुआ था; उसकी जातीय एकता केवल साहित्य और संस्कृति मे प्रत्यक्ष थी। वैसे ही भारत की राष्ट्रीय एकता अंग्रेजों की देन नही थी, वह उनका राज कायम होने से पहले यहाँ के साहित्य और यहाँ

करते हैं तो क्या इसमें कांग्रेस के लिए यह उचित है कि वह अंग्रेजों द्वारा स्वाधीनता की मंजूरी के सवाल को पीछे ठेल दे ? कांग्रेस को चाहिए कि संविधान सभा के लिए सम्पूर्ण सत्ता मांगे, पूर्ण स्वाधीनता की मांग को तुरन्त स्वीकार करने की मांग करे, यह कि छह महीने में अंग्रेजी फौज चली जाय, संविधान सभा में केवल रियासती जनता के प्रतिनिधि होंगे, सत्ता स्वाधीन अस्थायी सरकार को सौंपी जायेगी, स्टर्लिंग पावना का हिसाब छह महीने में ठीक कर दिया जायेगा। अगर अंग्रेज ये मांगें नामंजूर करें, तो संविधान सभा भंग कर देनी चाहिए और देश से आखिरी लड़ाई के लिए तैयार होने को कहना चाहिए। इस तरह अंग्रेजों का पर्दाफाश हो जायेगा।

यहां तक तो बात ठीक थी किन्तु उसके आगे जोशी ने लिखा : कांग्रेस को चाहिए कि सत्ता तुरंत प्राप्त करने के लिए लीग का आह्वान करे कि वह ऊपर बतायी हुई मांगें मनवाने में सहयोग करे। उसे चाहिए कि वह इस बात की गारण्टी दे कि जनता की खुशहाली के लिए, जनता की इच्छा के आधार पर हमारे देश में न्याय का राज्य होगा। "सभी सम्प्रदायों में और सबसे पहले मुसलमानों में विश्वास पैदा करने के लिए और संयुक्त संघर्ष के लिए संयुक्त मोर्चे के निर्माण को सम्भव बनाने के लिए कांग्रेस को चाहिए कि वह घोषणा करे कि वह किसी शर्त के बिना आत्मनिर्णय का अधिकार मानती है। हर भारतीय जाति की सही सीमाओं के आधार पर यह अधिकार अमल में लाया जायेगा और उसमें अलगाव का अधिकार शामिल होगा।"

भारत में कोई भी जाति आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग न कर रही थी किन्तु कम्युनिस्ट नेता सबको आत्मनिर्णय का अधिकार देकर राष्ट्रीय एकता की समस्या हल करने पर तुले हुए थे। मुस्लिम लीग अलग राज्य बनाने की मांग कर रही थी। यह एक सम्प्रदाय की मांग थी और उस सम्प्रदाय के भी सभी लोगों की मांग नहीं थी। जोशी का जातीय आत्मनिर्णय साम्प्रदायिक आत्मनिर्णय था, इसीलिए वह जातियों के आत्मनिर्णय से सभी सम्प्रदायों में विश्वास पैदा करना चाहते थे। यदि जातियों में परस्पर विश्वास की कमी हो तो उसके लिए जातीय आत्मनिर्णय की बात भले कही जाय किन्तु इस आत्मनिर्णय से सम्प्रदायों में विश्वास कैसे पैदा होगा ? दरअसल क्रान्तिकारी आन्दोलन पर सम्प्रदायवाद के द्वारा अंग्रेज जो प्रहार कर रहे थे, उसका जवाब जोशी के पास था नहीं। वह जमींदारी और मुनाफाखोरी खत्म करने लिए कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का मुँह जोह रहे थे।

जोशी ने लिखा था, "यदि कांग्रेस आत्मनिर्णय की मंजूरी के साथ शीघ्र ऐसे कदम उठाये जिससे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल जमींदारी और मुनाफाखोरी समाप्त कर दें तो इससे वह साधारण मुसलमानों में जागृति पैदा कर सकेगी; कांग्रेस में हिन्दू पूंजीवाद है, उनका यह सन्देह दूर कर सकेगी; यही नहीं, वह लीग के भीतर मुसलमान सामन्तों और जमींदारों के नेतृत्व के लिए एकता से बच निकलना दूभर कर देगी।" किन्तु यदि कांग्रेस यह सब कर दे तो कम्युनिस्ट पार्टी की जरूरत ही क्या थी ? मार्क्सवाद का विसर्जन करने, कम्युनिस्ट पार्टी की ऐतिहासिक भूमिका को त्यागने का यही परिणाम हो सकता था कि जोशी जमींदारी प्रथा खत्म

करने की आशा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों से कर और आत्मनिर्णय के अधिकार क
मजूरी मे सम्प्रदायवाद को खत्म करने का सपना देते।

७ जुलाई के उसी अंक मे डाकियों की अखिल भारतीय हड़ताल के बारे मे सूचना छपी कि हड़ताल ११ जुलाई मे होगी। १४ जुलाई के अन्त मे कश्मीर के बारे मे समाचार छपा कि वहाँ किसानों और मजदूरों की सेना आजादी के लिए लड़ने को तैयार हो रही है। उसी अंक मे ब्रिटिश फौज की पूर्वी कमान के गुप्तचर विभाग ने जो रिपोर्ट तैयार की थी, उसका सारांश प्रकाशित हुआ। पार्टी का साप्ताहिक खुलेआम लिख रहा था कि उनके एक संवाददाता ने उसे गुप्त रिपोर्ट का सारांश भेजा है। फौज पर अंग्रेजों का नियन्त्रण टूट रहा था, उसका यह प्रमाण है। पत्र ने सम्पादकीय रूप मे लिखा कि ११ जुलाई की हड़ताल मे एक लाख डाक कर्मचारियों ने हड़ताल की। २८ जुलाई के अंक मे यह समाचार छपा कि बम्बई के मजदूरों ने डाकियों का समर्थन किया, चार लाख मजदूरों ने हड़ताल की, सभायें की और जलूस निकाले। सबसे आगे सूती मजदूर थे, उनका साथ जी. आई. पी., बी. बी. ऐण्ड सी. आई. के रेल मजदूरों ने दिया। जट्टी के मजदूरों, ट्रामों और बसों के मजदूरों, होटलों के मजदूरों, यहाँ तक कि रेसकोर्स और खेल-कूद क्लबों के कर्मचारियों ने हड़ताल मे भाग लिया। टकसाल के क्लर्कों के अलावा मिलों के और बीमा कम्पनियों के क्लर्कों ने भी हड़ताल की। ११ अगस्त के अंक मे समाचार छपा, राष्ट्रीय आन्दोलन की सबसे बड़ी हड़ताल कलकत्ते मे हुई; हुगली से लेकर डायमण्ड हार्बर तक सोलह लाख मजदूरों और बाबुओं ने उसमे भाग लिया। यह हड़ताल डाक कर्मचारियों के समर्थन मे की गयी थी।

इस अंक मे कम्युनिस्टों का आह्वान किया गया, सत्ता पाने के लिए अन्तिम संघर्ष मे आगे बढ़ो, साम्राज्यवादी योजना को ध्वस्त करो, जनसंघर्षों के बढ़ते हुए ज्वार की अगुवाई करो, राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम पूरा करो। २३ जुलाई से ५ अगस्त तक पार्टी की केन्द्रीय-समिति की बैठक हुई। बैठक मे जो प्रस्ताव पास हुआ, उसमे कहा गया था : क्रान्तिकारी उभार बढ़ रहा है। साम्राज्यवाद कांग्रेस और लीग के नेताओं को अपनी ओर कर लेना चाहता है और राजाओं को सहयोगी बनाना चाहता है। इस तरह वह जनता के उभार को दबा देना चाहता है। कांग्रेस और लीग दोनों साम्राज्यवाद से भाव-तोल कर रही हैं, दोनों चाहती हैं कि ऐसा समझौता हो जिससे उन्हें फायदा हो। दोनों जनता के बढ़ते हुए आन्दोलन को पीठ दिखा रही है और कई जगह उसका दमन तक कर रही हैं।

ऐसी स्थिति मे कम्युनिस्ट पार्टी के लिए बहुत आसान होना चाहिए था कि वह दोनों को धकियाकर क्रान्तिकारी आन्दोलन का दृढ़तापूर्वक संचालन करे और उसे आखिरी मंजिल तक पहुँचा दे। किन्तु कम्युनिस्ट नेता साम्प्रदायिक एकता कायम करने के लिए अभी आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का भरोसा कर रहे थे। सुधारवाद को छिपाने का मुख्य साधन आत्मनिर्णय का अधिकार था। इसके सिवा प्रस्ताव मे कांग्रेस और लीग को समान रूप से समझौतावादी कहा गया था, क्रान्तिकारी उभार से विमुख बताया गया था। ऊपर से देखने मे यह आलोचना

काफी क्रान्तिकारी मालूम होती है; वास्तव में वह राष्ट्रीय सुधारवाद और सम्प्रदाय-वाद को बराबरी का दर्जा देकर सम्प्रदायवाद के विशेष खतरे को आँखों से ओझल रखती थी।

क्रान्तिकारी उभार के जवाब में दंगे हुए। कलकत्ते में भी दंगे हुए। पहली सितम्बर के 'पीपुल्स एज' ने लिखा : कलकत्ते के दंगों में मारे जानेवालों की चेतावनी; साम्प्रदायिक युद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता के खिलाफ साम्राज्यवादी षड्यन्त्र है। लीग और कांग्रेस की नीतियाँ दुश्मन के खेल में मदद देती हैं। मजदूरों, किसानों और सभी मेहनतकशों से कम्युनिस्ट पार्टी अपील करती है, संयुक्त संघर्षों के दौरान हिन्दू-मुस्लिम एकता कायम करो। इसमें सन्देह नहीं कि साम्प्रदायिक युद्ध साम्राज्यवादी षड्यन्त्र था किन्तु यह षड्यन्त्र सफल इसलिए हो रहा था कि सम्प्रदायवादियों के पास हथियार थे और जो सत्ता उनसे दंगों का खेल खिला रही थी, उसके पास फौज थी। ऐसी हालत में मजदूर और किसान सम्प्रदायवादियों का मुकाबला तभी कर सकते थे जब उनके पास भी प्रतिरोध के कारगर साधन हों। ऐसे साधन जुटाना दूर, जो साधन सुलभ थे, उनके व्यवहार पर भी जोशी ने रोक लगा रखी थी।

८ सितम्बर के 'पीपुल्स एज' ने समाचार छापा कि बम्बई में साम्प्रदायिक दंगे हुए हैं। सम्पादकीय रूप में पत्र ने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों पर आरोप लगाया कि वे मजदूरों की हड़तालों का दमन कर रहे हैं। उसने लिखा, साम्राज्यवाद शान्ति-प्रेमी होने का, देश को सत्ता सौंपने का नाटक कर रहा है, आम जनता का असन्तोष बराबर बढ़ रहा है। इसके विरुद्ध वह कांग्रेसी नेताओं और उच्च वर्गों का सहयोग चाहता है, वह चाहता है कि उसका काम अन्तरिम सरकार और मन्त्रिमण्डल करें और इस असन्तोष को दबा दें। यह नीति देश के लिए बहुत बड़ा खतरा है। निहित स्वार्थ कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों को अमल में लाने के लिए साम्राज्यवाद से समझौता कर रहे हैं। मजदूर वर्ग और जनता का संयुक्त दबाव डालकर मन्त्रि-मण्डलों को निहित स्वार्थों के चंगुल से छुड़ा लेना चाहिए। "कम्युनिस्ट पार्टी कभी भी मजदूरों का साथ न छोड़ेगी। जितना ही वे साहसपूर्वक अपनी माँगों के लिए लड़ेंगे, उतना ही शीघ्रतापूर्वक उनके उत्पीड़क पराजित होंगे।" अब सवाल यह था कि मजदूर अकेले लड़ रहे थे या उनके साथ किसान भी संघर्ष में आगे बढ़ रहे हैं। और भी महत्वपूर्ण बात यह कि कम्युनिस्ट पार्टी ने किसानों को इस संघर्ष के लिए तैयार किया है या नहीं।

किसानों का संघर्ष तेलंगाना में क्रान्तिकारी रूप लेनेवाला था। इसके एक नेता सुन्दरैया ने लिखा था, एक बात जो १९४५ और १९४६ की घटनाओं से बहुत साफ उभर कर आती है, वह यह है कि युद्ध के तुरत बाद की परिस्थिति में हमारी पार्टी ने आम जनता के क्रान्तिकारी उभार की गहराई को नहीं समझा। युद्धकाल में काम करने के सुधारवादी ढंग और उसकी सुधारवादी समझ ने उसके लिए यह काम मुश्किल कर दिया था कि वह भावी घटना क्रम का पूर्वानुमान करे और उसके लिए स्वयं को तथा जनसंगठन को तैयार करे। (पी. सुन्दरैया : तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल ऐण्ड इट्स लेसन्स; कलकत्ता, पृष्ठ ५२-५३)। आगे लिखा है, १९४६ के

उत्तरार्ध में जब हमारी पार्टी ने जुझारू जनसंघर्षों को विकसित करना शुरू किया, सामन्ती मालिकों और जमींदारों की भूमि तथा ऊसरों पर कब्जा करने का काम संगठित किया, तब उसने कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल द्वारा दमन शुरू किये जाने पर संघर्ष वापस ले लिया। (उप., पृष्ठ ५३)।

पार्टी संघर्षों के लिए तैयार नहीं थी। दमन शुरू होने पर प्रतिरोध के कारगर उपाय उसके पास न थे। तेलगाना का संघर्ष स्वाधीनता संग्राम का एक हिस्सा था, यह बात समझकर ही सही कार्यनीति निर्धारित की जा सकती थी। यह बात ध्यान देने की है कि हैदराबाद और त्रावनकोर की रियासतों ने भारतीय संघ में शामिल होने से इन्कार किया था। १५ अगस्त १९४७ के बाद इन रियासतों में क्रान्तिकारी आन्दोलन तेज हो रहा था और शेष भारत में आन्दोलन धीमा पड गया था। यही नहीं, उत्तर भारत में भयानक दंगे हो रहे थे। ऐसी हालत में राष्ट्रीय एकता का नारा ही धीमे पटनेवाले आन्दोलनों को तेज कर सकता था, रियासतों के आन्दोलन को अजेय बना सकता था। भारत में किसानों का सामन्त-विरोधी संघर्ष राष्ट्रीय आन्दोलनका अभिन्न अंग रहा है। राष्ट्रीय एकता की भावना को कम करके आंकने का नतीजा यह था कि किसानों का संघर्ष एक-दो इलाकों में सीमित रह गया और अलग-थलग पड गया। आन्ध्र, केरल या कश्मीर की जनता का जातीय संघर्ष राष्ट्रीय-स्वाधीनता संग्राम का अंग बनकर ही विजयी हो सकता था। बम्बई और कलकत्ते के मजदूरों का संघर्ष भी राष्ट्रीय एकता के लिए संघर्ष से जुड़कर अजेय बन सकता था। भारत का विभाजन भारतकी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति पर आक्रमण था। इस आक्रमण को विफल करने के लिए विभाजन का विरोध करना जरूरी था, जनवादी क्रान्ति को राष्ट्रीय एकता के सवाल से जोडना आवश्यक था। उस समय यदि जनता से कहा जाता, विभाजन मत स्वीकार करो, देश की एकता के लिए साम्राज्यवादी षड्यन्त्र को विफल करो, हैदराबाद और कश्मीर के लोगो, हमारे साथ आगे बढ़ो, तो जनता कम्युनिस्ट पार्टी का साथ देती, कांग्रेसी नेता भले साथ न देते किन्तु साधारण कांग्रेसजन साथ देते, अरुणा आसफ अली और जयप्रकाश नारायण साथ देते, बादशाह खान और सीमान्त प्रदेश के पठान साथ देते। १९४६-४७ में यह स्पष्ट हो गया था कि राष्ट्रीय एकता की रक्षा किये बिना जनवादी-क्रान्ति पूरी नहीं हो सकती।

२० फरवरी १९४९ के 'पीपुल्स एज' में नाविक-विद्रोह की सालगिरह पर लेख प्रकाशित हुआ! इसमें कम्युनिस्ट नेतृत्व ने कहा, राष्ट्रीय नेताओं ने नाविक-विद्रोह से दगा की। पार्टी ने उसके समर्थन में हड़ताल का आह्वान किया और जनता ने आह्वान सुनकर हड़ताल की। लेकिन यह कहना पड़ेगा कि पूंजीवादी विश्वासघात के जो भयानक परिणाम थे, उनसे निपटने के लिए कम्युनिस्ट अग्रदल कारगर कदम नहीं उठा सका। "वह ऐसी स्थिति में नहीं था कि जनता की क्रान्तिकारी कार्यवाही को दृढ, निर्णायक और व्यावहारिक नेतृत्व प्रदान कर सके।" इसी लेख में कांग्रेस के लिए कहा गया है कि वह साम्राज्यवादियों, राजाओं और पूंजीपतियों के क्रान्तिविरोधी गुट की नेता और संगठन कर्ता है। इस स्थापना से जाहिर हो जाता है कि कम्युनिस्ट पार्टी क्रान्तिकारी उभार का नेतृत्व क्यों नहीं

कर सकी। फरवरी १९४६ में ही नहीं, फरवरी १९४८ में भी यह जनवादी क्रान्ति के लिए राष्ट्रीय एकता का महत्व न समझ रही थी, साम्राज्यवाद का मुख्य क्रान्ति-विरोधी अस्त्र सम्प्रदायवाद है, यह बात न समझ रही थी।

१९७६ में गौतम चट्टोपाध्याय ने फरवरी १९४६ के घटनाक्रम पर विचार करते हुए लिखा, १८५७ के बाद पहली बार भारत न उपनिवेशी हुकूमत का आखिरी सहारा—भारतीय फौज ने साम्राज्यवादी प्रभुओं को हराने के लिए सघर्षरत विद्रोही जनता से खुलकर और निर्णायक रूप में भाईचारा कायम किया। गौतम चट्टोपाध्याय ने निष्कर्ष निकाला, "फरवरी १९४६ मे अंग्रेज शासक देख रहे थे कि १८५७ के विद्रोह के और भी बड़े और अधिक सफल संस्करण का खतरा पैदा हो गया है।" फिर भी इस नये संस्करण का सम्पादन करनेवाला नेतृत्व गैरहाजिर था। गौतम चट्टोपाध्याय के अनुसार कांग्रेस और मुस्लिम लीग के समझौतावादी नेतृत्व के घातक प्रभाव की काट करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी बहुत छोटी ताकत थी।

कम्युनिस्ट पार्टी छोटी ताकत नहीं थी। उसके नेताओं ने उसे छोटी ताकत बना दिया था। उन्होंने साम्राज्यवाद के जवाबी हमले के लिए जनता को तैयार न किया था। यह जवाबी हमला साम्प्रदायिक दंगों के रूप मे था। सन् ४६ के जोशी की तरह सन् ७६ मे गौतम चट्टोपाध्याय सुधारवादी राष्ट्रवाद को फासिस्ट सम्प्रदायवाद के बराबर दर्जा दे रहे थे। कांग्रेसी नेता समझौतावादी थे, लीगी नेता उन्हें समझौते की राह पर ठेलने का साम्राज्यवादी साधन थे। दोनों की स्थिति में अन्तर था। साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय सुधारवाद में अन्तर्विरोध था, कांग्रेसी नेता इसे दूर करने के लिए समझौते की राह पर चलते थे और इससे अन्तर्विरोध और गहरा होता था। साम्राज्यवाद और सम्प्रदायवाद में गठबन्धन था, लीगी नेता साम्राज्यवाद के इशारे पर केवल कांग्रेस के चलाये आन्दोलन में ही नहीं, किसानों और मजदूरो के क्रान्तिकारी आन्दोलन मे भी फूट डालते थे। जितना ही दंगे कराने में उन्हे सफलता मिलती थी, उतना ही साम्राज्यवाद और सम्प्रदायवाद का गठबन्धन और मजबूत होता था। १९४२-४७ में कम्युनिस्ट नेताओं के सुधारवाद का मूल रूप था कांग्रेस-लीग एकता को राष्ट्रीय एकता मानना, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय को जातीय आत्मनिर्णय बना देना, फिर जातीय आत्मनिर्णय को साम्प्रदायिक आत्मनिर्णय बना देना। इसीलिए १९४६ मे कांग्रेस के समझौतावाद का विरोध करने पर भी वे पार्टी को, पार्टी का नेतृत्व माननेवाले जनसंगठनों को क्रान्ति के लिए तैयार न कर सके, जब क्रान्तिकारी उभार अपने आप तेजी से बढ़ता गया, तब वे साम्राज्यवादी हमले से उसकी रक्षा न कर सके, क्रान्तिकारी आन्दोलन का संचालन करके उसे विजय की मंजिल तक न पहुँचा सके। जब उन्होने अपने सुधारवाद की आलोचना शुरू की, तब उन्होने अक्सर सुधारवादी राष्ट्रवाद और फासिस्ट सम्प्रदायवादी को बराबरी का दर्जा दिया। इस आलोचना का तर्कसंगत परिणाम यह था कि वे साम्राज्यवाद और भारत के सम्बन्धों को साम्राज्यवाद और पाकिस्तान के सम्बन्धों के बराबर दर्जा दें। इससे दो कदम आगे बढ़कर यह कार्यनीति निर्धारित की जा सकती है; कांग्रेस के

आक्रमण का जवाव देने के लिए लीग के साथ सयुक्त मोर्चा कायम किया जाय; कांग्रेस नागरिक अधिकारो का दमन करती है तो हिन्दू राष्ट्रवादियो के साथ सयुक्त मोर्चा बनाया जाय; कांग्रेस सत्ता पर इजारा कायम किये है तो जहाँ बने वहाँ हिन्दू, सिख, मुसलमान, किसी भी तरह के सम्प्रदायवादियो के साथ मिलकर लोकप्रिय जनवादी सरकार बनायी जाय। यदि चीन के कम्युनिस्ट नेता भारत के विरुद्ध पाकिस्तान से दृढ़ मैत्री कायम किये है तो यह कोई अनोखा काम नही है। इनसे मिलते-जुलते काम यदाकदा हमारे देश के भी कुछ कम्युनिस्ट नेता कर चुके हैं।

साम्राज्यवादियों का मुख्य अस्त्र है सम्प्रदायवाद! उसका सबसे कुशल उपयोग किया लार्ड माउण्टबाटन आफ वर्मा ने। वह पाकिस्तान के सस्थापक थे और स्वाधीन भारत के प्रथम गवर्नर जनरल थे।

६

स्वाधीन भारत और कामनवेल्थ

१. माउण्टबाटन की भूमिका

(क) विभाजन की योजना

माउण्टबाटन ने जिन्ना से कहा, यह बहुत बड़ी ट्रैजेडी है कि आप मुझ पर इतना दबाव डाल रहे हैं कि मैं संयुक्त भारत का विचार छोड़ दूं। विभिन्न मतों और नस्लों के चालीस करोड़ आदमी, सब एक ही केन्द्रीय सरकार से बँधे हुए हों; उद्योगीकरण की प्रगति से उनकी आर्थिक शक्ति कितनी बढ़ जायेगी! सुदूर पूर्व में सबसे प्रगतिशील इकाई की हैसियत से विश्वमंच पर वे महान् भूमिका पूरी करेंगे। (दि ट्रांसफर आफ पावर; खण्ड १०, पृष्ठ १६४)। यह बातचीत ६ अप्रैल १९४७ को हो रही थी। जिन्ना ने कहा, ऐसी एकता देखकर मुझे अपार प्रसन्नता होगी। मैं आपसे सहमत हूँ कि यह ट्रैजेडी है कि हिन्दुओं ने अपने *व्यवहार से इस एकता में मुसलमानों का शामिल होना असम्भव बना दिया है।* (उप.)।

माउण्टबाटन ने महीने भर बाद अपनी रिपोर्ट में लिखा : मैं भारत की इस समस्या पर जितना ही विचार करता हूँ, उतना ही मुझे लगता है कि यह विभाजन का सारा मामला विशुद्ध पागलपन है। इससे सारे देश की आर्थिक क्षमता में भारी कमी आयेगी। हर आदमी पर यह जो अद्भुत साम्प्रदायिक पागलपन सवार है, उससे कोई दूसरा रास्ता रह ही नहीं गया। यह हालत न *होती तो मैं विभाजन की बात से कभी सहमत न होता। पिछले हफ्ते जिन्ना मुझसे* बातें कर रहे थे। मेरी पत्नी मिस जिन्ना को चाय पिलाने ले गयी। उन्होंने मिस जिन्ना को बताया कि सबेरे वह लेडी इरविन कालेज गयी थी; वहाँ हिन्दू और मुस्लिम लड़कियों का हेल-मेल देखकर वह बहुत खुश हुईं। एक क्लास में १४ हिन्दू और २ मुस्लिम लड़कियां थीं। उन्होंने उन दो मुस्लिम लड़कियों में से एक को क्लास का मानीटर चुना। इस पर मिस जिन्ना ने कहा, ऊपर से मुस्लिम लड़कियाँ खुश दिखायी देती हैं, इससे गलतफ़हमी न होनी चाहिए। उस कालेज में

हमने अपना प्रचार कार्य अभी शुरू नहीं किया है। (उप., पृष्ठ ५४०)।

माउण्टबाटन के सहयोगी लार्ड इस्मे ने ब्रिटिश सेनाध्यक्षों को भारत की स्थिति के बारे में बताया : मुसलमान और हिन्दू दोनों साम्प्रदायिक भावना से ग्रस्त हैं। कैबिनेट मिशन के समय जो हालत थी, उससे अब की हालत और भी खराब है। प्रमुख राजनीतिज्ञों के दृष्टिकोण पर नफरत छायी हुई है, वे आपस में सहयोग करने को या सत्ता हस्तान्तरण के लिए आवश्यक योजनाओं को अमल में लाने के लिए कोई बुद्धि या विवेक की बात सुनने को तैयार नहीं है। पदग्रहण करने के बाद वाइसराय ने राजनीतिक नेताओं से बातें की और यह पता लगाने की कोशिश की कि संयुक्त भारत की योजना को अमल में लाने के लिए मुसलमानों और हिन्दुओं को एक मंच पर लाने की सम्भावना कहाँ तक है। वायसराय ने देखा कि इस लक्ष्य को सिद्ध करने की सम्भावना बिलकुल नहीं है, इसलिए मजबूर होकर उन्हें कैबिनेट मिशन की योजना छोड़नी पड़ी और सत्ता हस्तान्तरण के लिए वैकल्पिक प्रस्ताव रखने पड़े। (उप., पृष्ठ ७८६)।

जिन्ना ने देश के विभाजन के बारे में जो दलीलें दीं, उनके बारे में माउण्टबाटन ने कहा, इन दलीलों के अनुसार यदि भारत का विभाजन स्वीकार किया जाय तो पंजाब और बंगाल का विभाजन भी स्वीकार करना होगा। जिन्ना ने कहा, कांग्रेस की ओर से इन सूबों के विभाजन की माँग मुझे डराने के लिए है कि मैं पाकिस्तान की माँग छोड़ दूँ। मैं आसानी से डरनेवाला नहीं हूँ और आप कांग्रेस के झाँसे में आ गये तो मुझे अफसोस होगा। माउण्टबाटन ने कहा, मैं झाँसे में न आऊँगा। विभाजन स्वीकार करूँगा तो इसलिए कि आपने इतनी काबलियत से उसकी हिमायत की है लेकिन मैं आपके सिद्धान्तों को सूबों पर लागू होनेसे रोकूँगा नहीं। इस पर जिन्ना बहुत दुखी हुए और बोले, इससे पाकिस्तान बहुत कमजोर हो जायेगा। उन्होंने माउण्टबाटन से अपील की कि बंगाल और पंजाब की एकता का नाश न करें; "इनकी सामान्य जातीय विशेषताएँ है, सामान्य इतिहास है, जिन्दगी के सामान्य तौर-तरीके हैं, वहाँ कांग्रेसी होने से ज्यादा बंगाली या पंजाबी होने की भावना तगड़ी है।" (उप., पृ. १५६) जिन्ना मुसलमानों की अलग कौम मानते थे, उस कौम का अलग राज्य बनाना चाहते थे। उस राज्य में वह पूरे बंगाल और पूरे पंजाब को शामिल करना चाहते थे। इन दो सूबों को पाकिस्तान में मिलाने के लिए वह अपने कौमियत के सिद्धान्त में संशोधन कर रहे थे। बंगाल और पंजाब के हिन्दू बंगाली और पंजाबी पहले हैं, कांग्रेसी बाद को। यही बात बंगाल और पंजाब के मुसलमानों के बारे में भी कही जा सकती थी कि वे पंजाबी और बंगाली पहले हैं मुस्लिम लीगी बाद को है। जाति क्या होती है, जातीय विशेषताएं क्या होती है, जिन्ना यह सब जानते थे। सामान्य इतिहास, जिन्दगी के सामान्य तौर तरीके, ये जातीय विशेषताएँ है। इन जातीय विशेषताओं के कारण बंगाल के हिन्दू-मुसलमान एक जाति हैं, पंजाब के हिन्दू-सिख-मुसलमान एक जाति है। यहाँ जाति का धर्मवाला आधार कट जाता है। यदि कभी बंगाली जाति फिर एक होना चाहे या पंजाबी जाति फिर एक होना चाहे, तो इसके लिए वह जिन्ना के उक्त सिद्धान्त को पेश कर सकती है। जिन्ना ने यह बात माउण्ट-

बाटन से ८ अप्रैल १९४७ को कही थी।

माउण्टबाटन ने उसी प्रसंग में जिन्ना से कहा, आपके तर्कों से मैं प्रभावित हुआ हूँ और इसलिए सोचने लगा हूँ, भारत का विभाजन कहीं भी क्यों किया जाय? पंजाब और बंगाल के विभाजन के खिलाफ आप जो भी दलील देते हैं, वह और ज़ोर से पूरे भारत पर लागू होती है। यदि आप भारत के विभाजन की ज़िद करते हैं तो आप एक ऐसे बड़े उपमहाद्वीप को खण्डित करेंगे जिसमें बहुत-सी जातियाँ (नेशन्स) रहती हैं, और जो शान्ति और सद्भावना के साथ एक साथ रह सकती हैं, संयुक्त होकर वे विश्व में बहुत बड़ी भूमिका निबाह सकती हैं, लेकिन विभाजित होने पर वे दूसरे दर्जे की शक्ति भी न रह जायेंगी। भारतीय फौज जैसी कुछ अब रह गयी है, आप उसे भी खतम कर देंगे और जून १९४८ तक शायद सारे ब्रिटिश अफसर यहाँ से हटा लिये जायेंगे। जिन्ना से बातचीत के बारे में माउण्टबाटन ने नोट किया, "मुझे भय है कि मैंने वृद्ध महाशय को एकदम विक्षिप्त (क्वाइट मैड) कर दिया। जिस दिशा में भी वह तर्क लेकर बढ़ते थे, मैं उस तर्क का पीछा करते हुए ऐसी मंज़िल तक पहुँचता था कि वह चाहते थे कि तर्क का पीछा वहाँ तक न किया जाय।" (उप., पृ. १६०)। जिन्ना के समान माउण्टबाटन भी जानते थे कि भारत में अनेक जातियाँ रहती हैं। हिन्दू और मुसलमान नाम की जातियाँ नहीं हैं; ये सामान्य इतिहास, सामान्य भाषाओं और प्रदेशोंवाली जातियाँ हैं। ये जातियाँ एक साथ रहती आयी हैं और भविष्य में शान्ति और सद्भावना के साथ मिलजुलकर रह सकती हैं। इससे वे दुनिया में बहुत बड़ी भूमिका पूरी कर सकती हैं, विभाजित होने पर वे दूसरे दर्जे की ताकत भी न रहेंगी। यदि कोई भारत-विभाजन की साम्राज्यवादी योजना को निरस्त करना चाहे तो इसके लिए वह प्रमाणस्वरूप स्वयं माउण्टबाटन की उक्ति को पेश कर सकता है।

अपने सहयोगियों को जिन्ना से बातचीत का विवरण देने के बाद माउण्टबाटन ने कहा, जिन्ना से सहयोग प्राप्त करने का एक ही तरीका है कि अंग्रेज पाकिस्तान स्वीकार करें। (ज़रूरत हो तो यह कटा-छँटा पाकिस्तान होगा।) मुसलमानों के दृष्टिकोण से यह उनका अन्तिम लक्ष्य होगा। (उप., पृ. १४२)। कुछ दिन बाद माउण्टबाटन ने अपने सहयोगियों से कहा कि जिन्ना और लियाकत अली खाँ अभी यह समझ नहीं पाये कि अंग्रेज सचमुच जून १९४८ तक चले जायेंगे। "उन्हें इस बात का पूरा अहसास कराया न जाय? पाकिस्तान बनने के जो भयावह परिणाम होंगे, उनकी रूपरेखा उन्हें दिखा न दी जाय?" (उप., पृ. ३३०)। माउण्टबाटन ने लियाकत अली खाँ से कहा कि पाकिस्तान बनेगा तो पंजाब, बंगाल और असम का पूर्ण विभाजन होगा। "मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं है कि भारत के नेता और यहाँ के लोग ऐसे उन्माद (हिस्टीरिकल कण्डीशन) में हैं कि मैं इस तरह उनकी आत्महत्या की व्यवस्था करूँ तो वे खुशी से मंजूर कर लेंगे।" (उप., पृ. ३३१)। इस पर लियाकत अली खाँ ने सिर हिलाया और कहा: लगता है, हर कोई ऐसी योजना मंजूर कर लेगा; हम लोग ऐसी ही हालत में हैं। माउण्टबाटन ने कहा, "यदि मैं हिन्दुस्तान का दुश्मन होता या उस पर क्या बीतती

है, इससे मुझे कुछ भी सरोकार न होता, तो मैं उसका जो सबसे बुरा कर सकता था, वह यही होता कि इस अद्भुत मानसिक हालत से लाभ उठाकर उस पर पूर्णतम सम्भव विभाजन लाद देता, जून १९४८ मे विदा होने से पहले यह काम हो जाता और सारा देश घोर अराजकता की हालत मे छोड दिया जाता।" (उप., पृ. ३३१-३२)।

माउण्टबाटन भारतवासियों की आत्महत्या की व्यवस्था करने आये थे। अब अंग्रेजों को जरूरत न थी कि वे भारतवासियो की हत्या करें, भारतवासी स्वय आत्महत्या के लिए तैयार थे। अंग्रेज कह रहे थे तुम उन्माद की हालत मे हो, तुम्हारी इस हालत से हम फायदा उठा सकते है, लेकिन हमे तुम्हारी खुशहाली की बहुत चिन्ता है; हमारे चले जाने के बाद घोर अराजकता फैल जायेगी; हम चाहते हैं कि ऐसा न हो, किन्तु यदि भारतवासी आत्महत्या करना ही चाहते है तो हम उन्हे कैसे रोक सकते है?

१० अप्रैल १९४७ को माउण्टबाटन ने अपने प्रमुख सहयोगियो से कहा. ' यद्यपि जिन्ना पाकिस्तान लेने पर तुले हुए है और मिस्टर गाधी को छोडकर काग्रेस उन्हे पाकिस्तान देने को रजामन्द मालूम होती है, फिर भी भारत के भविष्य के बारे मे हम जिस योजना का ऐलान करनेवाले हैं, उसमे पाकिस्तान का स्पष्ट उल्लेख न होना चाहिए।"(उप., पृ. १७६)। उन्होने इस बात पर जोर दिया कि जो भी समाधान होगा, वह न्यायपूर्ण तो होगा ही, वह ऐसा होना चाहिए कि सारी दुनिया कहे कि न्याय किया गया है। "यह भी महत्वपूर्ण है कि फैसला करने की जिम्मेदारी का बोझ भारत के लोगों पर डाला जाय। फैसला हो जाने के बाद कोई भी ब्रिटेन को दोष न दे सकेगा।" (उप., पृ. १७७)। वर्तमान परिस्थिति के लिए मुख्य रूप से अंग्रेज ज़िम्मेदार थे, यह बात माउण्टबाटन जानते थे। अब उन्हे अपना रणकौशल इस तरह दिखाना था कि सारी दुनिया कहे कि भारत की परिस्थिति के लिए अंग्रेज नही, भारतवासी ज़िम्मेदार है।

१ मई १९४७ को वायसराय ने अपने काम की रिपोर्ट मे लिखा, योजना का सारतत्व यह है कि भारत के लोगो को और सारी दुनिया के लोगों को यह प्रतीत हो कि जहाँ तक सम्भव है, हम भारतवासियो को यह अवसर दे रहे है कि सत्ता का हस्तान्तरण किस तरह होगा, यह फैसला वे करेंगे। (उप., पृ. ५३३)। इसी रिपोर्ट मे लेडी इरविन कालेज के सन्दर्भ में लेडी माउण्टबाटन और मिस जिन्ना की बातचीत का हवाला देने के बाद वायसराय ने लिखा, हिन्दू भी लगभग उतने ही खराब है। ऊपर से नीचे तक हर कोई समझता है, दूसरे धर्म को माननेवाला शैतान है, ठग है; इसलिए बुद्धिमानीवाला समाधान मुमकिन ही नही है। बहुत-से बहुत हम जो करने की आशा कर सकते है, वह यह है कि "पागलपन के इन फैसलों की ज़िम्मेदारी ठीक तरह से और पूरी-पूरी दुनिया की निगाह में हिन्दुस्तानियो के सिर मढ़ दें क्योंकि आज वे जो फैसला करने जा रहे हैं, एक दिन उसके लिए वे बहुत बुरी तरह पछतायेंगे।" ("one day they will bitterly regret the decision they are about to make." उप., पृष्ठ ५४०)।

गोविन्द वल्लभ पन्त ने माउण्टबाटन से पूछा, क्या आप विभाजन के पक्ष में

? उन्होंने जोर देकर कहा, नहीं। तब पन्तजी ने अपील की, आप विभाजन के फ़ैसले से सहमत न होंएगा। माउण्टबाटन ने जवाब दिया, "मैं जनता की इच्छा के विरुद्ध काम नहीं कर सकता। अधिक-से-अधिक जो कर सकता हूँ, वह यह है कि यथासम्भव फैसला भारत की जनता को करने दूं। मैं इसी नीति पर चलने की कोशिश कर रहा हूँ।" (उप., पृ. ५६०)।

ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ऐटली ने आस्ट्रेलिया, कनाडा आदि उपनिवेशों के मुख्यमन्त्रियों को लिखा: प्रस्तावों का सारतत्व यह है कि भारत के लोगों को और सारी दुनिया के लोगों को यह प्रतीत हो कि जहाँ तक सम्भव है, ब्रिटेन की सरकार भारतवासियों को यह अवसर दे रही है कि सत्ता का हस्तान्तरण किस तरह होगा, यह वे तै करेंगे। (उप. ६७८)। वायसराय और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एक ही स्वर में बोल रहे थे; सारी दुनिया को मालूम होना चाहिए कि अपना विनाश भारतवासी स्वयं कर रहे हैं।

१२ मई को वाइसराय ने अपने सहयोगियों को बताया, पण्डित नेहरू ने सत्ता प्राप्ति के लिए एक योजना बनायी है; वह यह है कि औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर अन्तरिम सरकार को सत्ता सौंप दी जाये। यह योजना बहुत कुछ उस वैकल्पिक योजना से मिलती-जुलती है जिसे पहले मैंने जिन्ना को धमकाने के लिए काम में लाने का विचार किया था। वाइसराय ने आगे कहा, फौज पर किसका नियन्त्रण हो, सत्ता के हस्तान्तरण में सबसे मुश्किल सवाल यही होगा। कांग्रेस सोचती है कि कुछ मुद्दों को छोड़कर फौज पर उसका पूरा नियन्त्रण हो जाय। पण्डित नेहरू ने अपने इस विश्वास पर जोर दिया था कि वाइसराय के लिए या सभी अंग्रेजों के लिए यह सम्भव न होगा कि वे भारत के लिए मान्य समाधान ढूंढ निकालें। "इसके अलावा यदि फैसला अंग्रेज़ों ने किया और लोगों ने समझा (और उनका ऐसा समझना लगभग निश्चित था) कि अंग्रेज पंच फैसला (अवार्ड) कर रहे हैं, और यदि उसके बाद खून-खराबा हुआ, तो इसका दोष अंग्रेजों पर तो मढ़ा ही जायेगा, ब्रिटेन और भारत के सम्बन्ध भी बिगड़ जायेंगे। पण्डित नेहरू ने यह राय जाहिर की कि भारतवासियों को दोष अपने सिर पर लेना चाहिए। (Pandit Nehru had expressed the view that the Indians should take the blame.) पण्डित नेहरू ने दोहराया कि यदि मौजूदा अन्तरिम सरकार को सत्ता सौंप दी जाय, तो वह मुस्लिम लीग को हर तरह के आश्वासन और सुरक्षा (सेफगार्ड) प्रदान कर सकेंगे। वह इस बात से भी सहमत थे कि पश्चिमोत्तर प्रदेश में जनमत संग्रह के लिए और सीमा सम्बन्धी आयोगों के लिए जो प्रस्ताव है, उसे लेकर आगे बढ़ना सम्भव है।" (उप., पृष्ठ ७८२)। यदि माउण्टबाटन-नेहरू वार्ता का यह विवरण सही है, तो मानना होगा कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री और वाइसराय के साथ नेहरूजी भी यह मानते थे कि जो भी फैसला होगा, उसके बाद रक्तपात होगा, और इस सबकी जिम्मेदारी अंग्रेज़ों के सिर पर नहीं, भारतवासियों के सिर पर होनी चाहिए। यदि लोगों ने समझा कि फैसला अंग्रेज़ों ने किया है, तो इससे भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे। नेहरूजी के इस दृष्टिकोण में अंग्रेज़ों को अपना फैसला

लादने में सुविधा हुई और वे यह भी वेखटके कह सके कि यह फैसला भारतवासि
ने किया है।

२२ मई १९४७ को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने भारत-सम्बन्धी नीति निर्धारित करते हुए कहा, "प्रस्तावित पद्धति का मुख्य उद्देश्य यह है कि भारत विभाजित हो कि न हो, और विभाजित हो तो किस तरह हो, यह तै करने की जिम्मेदारी भारतवासियों पर डाली जाय।" (उप., पृ. ९५०)। भारतवासियों में मुख्य दो दल थे, कांग्रेस और मुस्लिम लीग। इनमे समझौता न हो रहा था, अत. समझौता करने मे मदद देने के लिए अंग्रेजों ने निष्पक्ष और तटस्थ वनकर न्यायमूर्ति का आसन ग्रहण किया।

पहली अप्रैल को माउण्टवाटन और नेहरूजी बिहार के दगो के बारे मे बातें कर रहे थे। गाधीजी वहाँ शान्ति स्थापित करने गये थे। नेहरूजी ने कहा कि एक जगह घाव हुआ तो गांधीजी वहाँ मलहम लगाते है, दूसरी जगह घाव हुआ तो वहाँ मलहम लगाते हैं; जरूरत इस वात की है कि घाव होते क्यो है, इस बात का पता लगाया जाय और फिर पूरे शरीर का इलाज किया जाद। माउण्टबाटन इससे सहमत थे और बोले, "ऐसा लगता है, पूरे शरीर का इलाज क्या हो, यह बताने के लिए मुख्य डाक्टर का काम मुझी को करना होगा। अस्थायी रूप से भी इलाज को सफल होना है तो मुझे अपना नुस्खा (जो दरअसल मेरा फैसला होगा) बडी सावधानी से तैयार करना होगा। (उप., पृ. ७१)।

पांच दिन बाद माउण्टवाटन ने जिन्ना से कहा, मैंने अभी तै नही किया कि बादशाह सलामत की सरकार से किस फैसले की सिफारिश करूँ। "इस समय मैं एकदम निप्पक्ष हूँ।" (उप., पृ. १३८)। दस दिन वाद माउण्टवाटन ने भारत सचिव को सूचित किया, काफी प्रयत्न के वाद मैंने एक बयान पर जिन्ना और गांधी के हस्ताक्षर प्राप्त कर लिये हैं। सभी सम्प्रदायों ने इधर जो हिंसा के कार्य किये हैं, उसमें उनकी निन्दा की गयी है और राजनीतिक लक्ष्य सिद्ध करने के लिए हमेशा के लिए हिंसा को त्यागने की वात कही गयी है। (उप., पृ. २६२)।

१८ अप्रैल को मास्टर तारासिंह, ज्ञानी करतारसिंह और सरदार बलदेवसिंह से बातें करते हुए माउण्टबाटन ने कहा, यदि अनिच्छापूर्वक पाकिस्तान की माँग मुझे माननी पड़ी तो पंजाब का विभाजन चाहे जितना कठिन हो, मै उसे स्वीकार करूँगा। किन्तु यदि कैबिनेट मिशन की योजना या और वैसी ही कोई योजना मान ली जाय, तो मै उसका [विभाजन का] विरोध करूँगा। उन लोगों की मांग थी कि इस आधार पर आपसी समझौते से विभाजन असम्भव न होगा किन्तु यदि ऐसा न हो, तो "उन्होने जोर दिया कि मुझे पंच फैसला करना चाहिए। मैंने जवाब दिया कि मैं कभी भी ऐसा फैसला न दूंगा जिसे लागू करने मे फौज की जरूरत पडे।" (उप., पृ. ३२२)।

२० अप्रैल को सरदार पटेल ने माउण्टबाटन को लिखा : आप जब से आये हैं, जल्दी कदम उठाने पर बराबर जोर देता रहा हूँ। आप जल्दी फैसला करने के सिद्ध हो चुके है। जल्दी कदम उठाने की जरूरत आप महसूस करते हैं। के बाद आपने जो पहला भाषण किया, उसमे आपकी निष्ठा और

सद्भावना का सन्देश था, भारत उससे प्रभावित हुआ है। किन्तु समय बहुत जल्दी बीत रहा है। लोग-बाग कहने लगे हैं, एक महीना बीत गया है लेकिन पश्चिमोत्तर प्रदेश में हिंसा जारी है, पंजाब और बगाल मे भी जहां-तहां हिंसा हो रही है। "मैं हृदय से यह अपील करता हूँ कि लीग से निश्चित और सकारात्मक काम कराके ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण तैयार करें जिसमें दोनों नेताओं ने जो सुन्दर अपील जारी की है, वह लोगों के मर्म को छू सके। लीग को कैसा काम करना चाहिए, वह मैं पहले बता चुका हूँ।" (उप., पृ. ३४३-४४)।

मई के आरम्भ मे माउण्टबाटन राष्ट्र के नाम अपना सन्देश प्रसारित करने की तैयारी कर रहे थे। भारत के भविष्य के बारे मे उन्होने क्या फैसला किया है और उसे अमल मे लाने के लिए भारतवासियो को क्या करना चाहिए, इस बारे में वह गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे थे। उन्होंने अपने सन्देश के मसौदे मे लिखा : यदि जून १९४८ तक सत्ता का हस्तान्तरण शान्तिपूर्वक और व्यवस्थित ढंग से होना है तो इसके लिए हममें से हरेक को अपनी पूरी शक्ति से काम करना चाहिए। "लड़ने-झगडने का समय नही है। पिछले कुछ महीनों मे जो अव्यवस्था फैली है और उपद्रव हुए हैं, उन्हें किसी भी रूप मे जारी रखने का समय तो और भी नहीं है। [इग्लैण्ड से] लौटने पर मुझे यह देखकर धक्का लगा कि साल भर पहले जब मैं पिछली बार भारत आया था, तब से अब तक साम्प्रदायिक सम्बन्ध बहुत बिगड चुके हैं। इतने थोड़े समय मे इतना अविश्वास, इतनी नफरत, इतनी कटुता बढ चुकी है! मेरे सामने सबसे ज्यादा निराशाजनक बात यही थी। लेकिन मि. गांधी और मि. जिन्ना की प्रेरणादायक अपील ने सभी भले आदमियों के हृदय में नयी आशा का संचार किया है। मैंने तै किया है और मेरी सरकार के सदस्य मेरे निश्चय का पूरी तरह समर्थन करते हैं कि मैं अपने सभी साधनों का उपयोग इस बात के लिए करूँ कि इस देश के लोग अपना दैनिक काम-काज करने के लिए सुरक्षित रूप में आ-जा सकें।" (उप., पृ. ५४६-४७)।

माउण्टबाटन लन्दन में प्रधानमन्त्री ऐटली और उनके सहयोगियों से परामर्श करने गये। यदि दो राज्य बनेंगे तो सीमा-सम्बन्धी तथा अन्य विवाद निपटाने के लिए पंच फैसला करना जरूरी होगा। वायसराय ने कहा, दो स्वाधीन राज्यों के बीच कोई अंग्रेज ही पंच फैसला कर सकता था। उसकी सहायता के लिए एक न्यायाधीश तथा पाकिस्तान-हिन्दुस्तान के एक-एक मन्त्री हो सकते है। "यदि पंच नियुक्त न किया गया तो दोनों राज्यों के बीच पूरी तरह गतिरोध पैदा हो जायेगा। इससे हिन्दुस्तान को काफी लाभ होगा। इसलिए पण्डित नेहरू ने प्रस्ताव से सहमत होकर रिआयत की है। यह बात महत्वपूर्ण है कि पंच की नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा नहो, भारतवासियों द्वारा हो। इसलिए बिल में कहा जा सकता है कि दोनों सरकारें पंच नामजद करना चाहे तो वे ऐसा कर सकती हैं।" (उप., पृ. ९२०)। २३ मई १९४७ को माउण्टबाटन ने अपने मुख्य सचिव एरिक मिएविल को सूचित किया, जिन्ना ने मुझसे हमेशा कहा है कि जब तक विभाजन का सारा काम पूरा नहीं हो जाता, तब तक के लिए मैं ब्रिटिश पंच के बने रहने की व्यवस्था करूँ। (उप., पृ. ९७२)। इस प्रकार माउण्टबाटन ने हिन्दू-मुस्लिम

नेताओं को प्रेम और अहिंसा की शिक्षा दी, उन्हें उपदेश दिया, मिलकर रहो और यह सम्भव न हो तो शान्तिपूर्वक देश का विभाजन करो। विभाजन कब-कैसे हो, किसके राज्य की सरहद कहां तक होगी, इसका फैसला पंचपरमेश्वर करेंगे। पंचपरमेश्वर की नियुक्ति कांग्रेस और लीग के नेता करेंगे किन्तु फैसला देने के लिए वह भारत की धरती पर इंग्लैण्ड से ही पधारेंगे।

पहली अप्रैल को माउण्टबाटन के साथ बातचीत के दौरान गांधीजी ने कहा, इतिहास और विश्व राजनीति के विद्यार्थी की हैसियत से मेरा यह सुविचारित मत है कि इससे पहले कभी भी इतिहास में, प्राचीन या अर्वाचीन काल में, ऐसा कठिन और दायित्वपूर्ण कार्यभार किसी एक आदमी पर नहीं पड़ा जैसा इस समय आप पर पड़ा है। माउण्टबाटन ने उत्तर दिया, आप मेरी स्थिति पहचान रहे हैं, इसके लिए मैं आपको हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव के बारे में अपना मत प्रकट किया। उन्होंने कहा, इसकी शुरुआत के लिए अंग्रेज जिम्मेदार नहीं है लेकिन उनकी फूट डालो और राज करो की नीति से तनाव बना रहा और आपके पूर्ववर्ती अंग्रेज जान-बूझकर जो बीज बो गये हैं, उसकी फसल आप काटिए। जो कुछ भी हो, साहस के साथ सत्य को देखिए और उसी के अनुसार काम कीजिए, भले ही आपके विदा होने पर सही समाधान के कारण अभूतपूर्व पैमाने पर भारी जीवनहानि हो। उन्होंने सुझाव दिया, जिन्ना से कहिए कि केन्द्रीय अन्तरिम सरकार बनायें, उसमें मुस्लिम लीग के सदस्य रखें। यह सरकार वाइसराय के मातहत वैसे ही काम करे जैसे मौजूदा अन्तरिम सरकार करती है। केन्द्रीय सभा में कांग्रेस का बहुमत है, वहां कोई कठिनाई हो तो वे लोग योग्यतापूर्वक अपने प्रस्तावों की हिमायत करके उसे दूर कर सकते हैं। माउण्टबाटन ने टिप्पणी में लिखा, "कहना न होगा कि इस समय इस समाधान को सुनकर मैं लड़खड़ा गया।" (उप., पृष्ठ ६६)।

माउण्टबाटन ने पूछा, इस प्रस्ताव के बारे में जिन्ना क्या कहेंगे? गांधीजी ने उत्तर दिया, यदि आप कहेंगे कि सुझाव गांधी का है तो वह कहेंगे, मक्कार धोखेबाज है गांधी (वाइली गांधी)। माउण्टबाटन ने कहा, मेरा अनुमान है कि जिन्ना की राय ठीक ही होगी? इस पर गांधीजी ने बड़ी गर्म-जोशी से जवाब दिया, नहीं, मैं अपना प्रस्ताव निहायत ईमानदारी से पेश कर रहा हूँ। (उप.)।

उसी दिन माउण्टबाटन की भेंट जवाहरलाल नेहरू से हुई। नेहरूजी ने माउण्ट-बाटन से गांधीजी का प्रस्ताव सुनकर आश्चर्य प्रकट न किया। गांधीजी यही प्रस्ताव कैबिनेट मिशन के सामने पेश कर चुके थे। उस समय अव्यावहारिक मान-कर उसे रद्द कर दिया गया था। फिर मुस्लिम लीग ने सीधी कार्रवाई की नीति अपनायी। उसके फलस्वरूप खून-खराबा हुआ, कटुता बढ़ी; इसलिए यह समाधान साल भर बाद हकीकत से और भी दूर जा पड़ा है। नेहरूजी ने सुझाव दिया, गांधीजी कुछ दिन दिल्ली में रहें तो अच्छा है। चार महीने से बाहर थे और यहाँ की घटनाओं से सम्पर्क टूटता जा रहा था। (उप., पृष्ठ ७०)।

वास्तव में गांधीजी का यह पुराना सूत्र था, परिस्थिति कितनी ही बदल जाये वह उसे आजमाने को तैयार थे। किन्तु वह न पहले स्वीकार किया गया था,

न आगे कभी किया जा सकता था क्योंकि वह अंग्रेजों की नीति के अनुरूप नहीं था। और उसे लागू तभी किया जा सकता था, जब माउण्टबाटन जैसे लोगों को उनके दायित्व से पूरी तरह मुक्त कर दिया जाता। जब तक सत्य को साहसपूर्वक देखने का भार माउण्टबाटन पर था, तब तक अविभाजित भारत में न तो कोई मुस्लिम लीगी प्रधानमन्त्री हो सकता था और न कोई कांग्रेसी। दूसरे दिन गांधीजी ने अपनी योजना कुछ और विस्तार से बतायी। उन्होंने कहा, वाइसराय भारत की नयी केन्द्रीय सरकार बनाने के लिए जिन्ना को आमन्त्रित करें। सत्ता इस सरकार को सौंपी जाय, मन्त्रियों का चुनाव जिन्ना पर छोड दिया जाय, जरूरत समझें तो सारे मन्त्री मुस्लिम लीग के हों, किन्तु यदि उनकी इच्छा हो तो मिली-जुली सरकार बना सकते है, नेहरू तथा अन्य कांग्रेसी मन्त्रियों को शामिल कर सकते हैं, अल्पसख्यकों के प्रतिनिधियों को शामिल कर सकते हैं। मन्त्रिमण्डल में योग्य से योग्य व्यक्ति हों और उन पर केन्द्रीय सभा को विश्वास हो तो यह अच्छा ही होगा। माउण्टबाटन के अनुसार गांधीजी की योजना का सारतत्व यह था कि उसे जल्दी से जल्दी लागू किया जाय, इससे कैबिनेट के अध्यक्ष और वाइसराय की हैसियत से उन्हें यहां रहने का अधिक से अधिक समय मिलेगा। वीटो का अधिकार उनके हाथ मे होगा, कोई बात नाइन्साफी की न हो, इसके लिए सरकार पर उनका पूरा नियन्त्रण होगा। शुरू के कुछ महीनों मे सारा काम इन्साफ के साथ हो, यह देखने के लिए माउण्टबाटन रहेगे। इसलिए जिन्ना की सरकार कोई ऐसा बेवकूफी का काम न करेगी जिससे केन्द्रीय सभा मे या देश में उसकी बदनामी हो। माउण्टबाटन उसका मार्गदर्शन इस तरह करेंगे कि जून १९४८ मे उनके चले जाने के बाद भी वह सरकार अपनी सीधी, सँकरी राह पर बराबर चलती रहेगी। जिन्ना यह प्रस्ताव न मानें, तो वाइसराय को चाहिए कि मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए वह कांग्रेस को बुलायें। उन्हें आशा थी कि कांग्रेस विभिन्न मतोंवाले लोगों को मन्त्रिमण्डल मे शामिल करेगी, मुस्लिम लीग को भी शामिल करेगी और मिली-जुली सरकार बनायेगी। इस पर माउण्टबाटन ने कहा, आप दरअसल चाहते है कि मैं कांग्रेस को केन्द्रीय सरकार बनाने दूं और सत्ता उसे सौंप दूं; पहले जिन्ना को बुलाया जाय, यह सिर्फ एक चाल हुई। इस पर गांधीजी ने बड़ी निष्ठा से विश्वास दिलाया कि ऐसा नहीं है। उन्होंने कहा, मैं कांग्रेस से कहूँगा कि वह जिन्ना सरकार को मान ले, फिर सारे देश का दौरा करूँगा और सारी जनता से वह फैसला मनवाऊँगा। माउण्टबाटन ने कहा, आपकी सचाई पर मुझे विश्वास है। (उप., पृष्ठ ८४)।

उसी दिन माउण्टबाटन की बातचीत मौलाना अबुल कलाम आज़ाद से हुई। माउण्टबाटन उनकी यह राय सुनकर चकित रह गये कि गांधीजी की योजना पूरी तरह व्यावहारिक है, कांग्रेस पर गांधीजी का प्रभाव है और उस योजना पर वह कांग्रेस से अमल करा सकते हैं। आज़ाद ने कहा, इस बात की सम्भावना भी है कि जिन्ना उसे मान लें; रक्तपात बन्द करने का सबसे अच्छा तरीका इस योजना का है। सत्ता हस्तान्तरित करने का सबसे सीधा तरीका भी यही है। माउण्टबाटन ने पूछा, गांधीजी की योजना अच्छी है कि कैबिनेट मिशन की? उन्होंने कहा, सब

लोग सच्चे दिल से कैबिनेट मिशन की योजना मान ले तो वह गांधीजी की योजना से अच्छी होगी। माउण्टबाटन ने फिर पूछा, एक योजना मैंने गांधीजी को बतायी है, वह कैसी है ? उन्होंने कहा, वह भी बहुत अच्छा विकल्प है। माउण्टबाटन ने नोट किया : "दरअसल मौलाना आज़ाद ने कहा कि फैसला जितना ही जल्दी हो और अमल मे लाया जाय और जितना ही ज्यादा समय तक केन्द्र मे रहकर मैं सारा काम-काज दुरुस्त कर दूँ और मेरे जाने के पहले गाडी ढर्रे पर चल निकले, उतना ही भारत के भविष्य के लिए अच्छा होगा। मैंने उनसे कहा, कैबिनेट के साथ मेरे काम करने के ढग की आलोचना कीजिए। वह इतनी प्रशसा करने लगे कि मुझे उन पर घोर चापलूसी का दोष लगाना पडा। मैंने प्रार्थना की कि ईमानदारी से रचनात्मक समालोचना करें। उन्होने जवाब दिया, वह बिलकुल ईमानदारी से बोल रहे है और उन्हे विश्वास था कि कैबिनेट के हर सदस्य की राय भी यही थी। (नोट : मैं समझता हूँ कि कैबिनेट का हर सदस्य खुद को और अपनी पार्टी को मेरी निगाह मे भला दिखाना चाहता है; मौजूदा मजिल मे इस तरह की चापलूसी की प्रत्याशा की जा सकती है)।" (उप., पृष्ठ ८६-८७)। कांग्रेस के नेता राष्ट्रीय आत्मसम्मान की रक्षा इस प्रकार कर रहे थे।

गाधीजी की योजना यह थी कि वीटो का अधिकार वाइसराय के हाथ मे होगा, जिन्ना सरकार कोई गलती करेगी तो वाइसराय उसे ठीक करेगा और दोनो मे झगड़ा बढेगा, न ठीक करेगा तो लीग के साथ खुद भी बदनाम होगा। गांधीजी की योजना, कैबिनेट मिशन की योजना, माउण्टबाटन की योजना, सभी योजनाएँ मौलाना आज़ाद को इसलिए मंजूर थी कि रक्तपात को बन्द करने का उनके पास कोई उपाय न था, निरुपाय होकर वह वाइसराय की तरफ देख रहे थे कि जितना ही अधिक समय तक रहकर वह गाडी को ढर्रे पर चालू कर दें, उतना ही देश के भविष्य के लिए अच्छा होगा। वाइसराय अपना दायित्व निबाहे, इसके लिए वह तथा अन्य मन्त्री उसकी इतनी प्रशसा करते थे कि उसे लगता था कि ज़रूरत से ज्यादा चापलूसी कर रहे हैं।

दूसरे दिन गाधीजी ने वाइसराय से कहा, मैंने कांग्रेस के जिन नेताओं से अपनी योजना के बारे मे बातें की है, वे सब उससे सहमत हैं। वे समझते है कि वह व्यावहारिक है और उन्होने उसका समर्थन करने का वादा किया है। अभी नेहरू से बात नही हुई, शाम को उनसे भी बातें करूँगा। माउण्टबाटन ने नोट किया : गाधीजी और भी दृढ़ता से कह रहे थे कि सबसे अच्छा समाधान उनकी योजना है, लेकिन उन्होंने कहा, आप यह समाधान न मानें तो भारतीय जनता के हित मे जो भी हल पेश करेंगे, मैं उसका समर्थन करूँगा। "वह इस बात से सहमत थे कि मुस्लिम लीग अपनी ज़िद पर अडी रही तो हो सकता है कि विभाजन की नौबत आये यद्यपि उस हालत में वह चाहेंगे कि केन्द्र जितना भी मजबूत हो, उतना अच्छा होगा। वह इस बात से सहमत थे कि फ़ैसला जल्दी होना चाहिए, तभी साम्प्रदायिक संघर्ष बन्द होगा और फैसले को अमल मे लाने का समय मिलेगा। अन्त में उन्होने अपनी यह इच्छा फिर दोहरायी कि कुछ भी हो, कम से कम जून १९४८ तक तो मैं अवश्य ही केन्द्र मे बागडोर मज़बूती से थामे रहूँ जिससे कि

निर्णायक (अम्पायर) का काम करूँ और खुदमुख्तार हुकूमत की शुरूआती मंजिलों में मार्गदर्शन करता रहूँ। (उप., पृष्ठ १०३)।

६ अप्रैल को माउण्टबाटन ने जिन्ना से कहा, "मौजूदा अन्तरिम मिली-जुली सरकार रोज-बरोज बेहतर काम करती जा रही है और सहयोग की भावना से करती जा रही है। मेरा एक सपना है कि मि. जिन्ना स्वयं प्रधान मन्त्री बनकर केन्द्रीय सरकार का संचालन करें।" (उप., पृष्ठ १६४)। फिर इधर-उधर की बातें होती रहीं। "करीब पैंतीस मिनट तक मिस्टर जिन्ना अपने बारे में मेरे व्यक्तिगत रिमार्क पर चुप रहे; फिर अचानक बोल उठे, आप चाहते हैं कि मैं प्रधानमन्त्री बनूं ?" (उप.)। इस प्रश्न पर माउण्टबाटन की टिप्पणी थी, "इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि मेरी बात ने उनके अहम् भाव को गुदगुदाया था और वह उस प्रस्ताव पर मन में सोचते-विचारते रहे थे। हो सकता है, मि. जिन्ना के विशुद्ध अहम्‌भाव के बल पर मि. गांधी की प्रसिद्ध योजना अब भी अमल में आ जाय !" (उप.)।

गांधीजी, मौलाना आजाद और जिन्ना, कम से कम ये तीन आदमी उस योजना को मानने को तैयार थे, जो बहुतों को अव्यावहारिक लगती थी। फिर भी यह योजना लागू नहीं की गयी और वह लागू की भी न जा सकती थी क्योंकि माउण्टबाटन जिन्ना को प्रधान मन्त्री बनाकर उनके कामों की जिम्मेदारी अपने ऊपर न लेना चाहते थे। जिन्ना के बारे में उनकी राय यह थी : "मिस्टर जिन्ना के दिमाग का इलाज होना चाहिए। कुछ भी कहा जाय, वह पाकिस्तान पर अड़े रहते थे और उसका केवल एक ही नतीजा हो सकता था कि मुसलमानों का भारी नुकसान हो।" (*Mr. Jinnah was a psychopathic case.* उप., पृष्ठ १६०)। यह बात उन्होंने अपने सहयोगियों से कही थी। वही बात अपनी एक रिपोर्ट में उन्होंने दोहरायी : "मैं समझता हूँ कि जिन्ना के दिमाग का इलाज होना चाहिए। दरअसल जब तक मैं उनसे मिला नहीं था, मैं यह सोच भी न सकता था कि जिस आदमी को शासन की जानकारी एकदम नहीं है, जिसमें जिम्मेदारी का भाव बिलकुल नहीं है, वह ऐसी ताकत की जगह पहुँच सकता है या वहाँ टिका रह सकता है।" (उप., पृष्ठ ३००)। फिर भी माउण्टबाटन ने जिन्ना से कहा था, मेरा सपना है कि आपको प्रधानमन्त्री के रूप में देखूँ और जिन्ना प्रसन्न हुए थे। माउण्टबाटन कलाकार थे; शेक्सपियर के नाटक ओथेलो में इआगो की तरह के कलाकार थे।

लन्दन में कृष्ण मेनन दो बार माउण्टबाटन से मिल चुके थे। ५ अप्रैल को उन्होंने बड़े लाट के साथ लंच खाया। बड़े लाट ने सवाल किया, केन्द्रीय सरकार सीधे जिन्ना को सौंप दी जाय, यह गांधी-योजना अमल में आ सकती है ? मेनन ने गांधीजी का लिहाज करते हुए, फिर भी जोर देकर, कहा : इस विशेष योजना को गांधीजी तक अमल में नहीं ला सकते, जिन्ना उसे मान लें तो भी। (उप., पृ. १३३)। गांधीजी की योजना को लार्ड इस्मे ने कागज पर लिख लिया। गांधीजी ने भी मसौदा तैयार किया। गांधीजी के मसौदे में एक खास बात कही गयी थी, वह इस प्रकार थी : केन्द्रीय सभा में कांग्रेस का बहुमत है; कांग्रेस इस बहुमत

का उपयोग लीग की नीति के विरुद्ध केवल इस बिना पर न करेगी कि वह नीति लीग की है। लीग सरकार जो भी कदम उठायेगी वह उसका हार्दिक समर्थन करेगी। शर्त यह है कि वह सम्पूर्ण भारत के हित में हो। "वह ऐसे हित में है या नहीं, इसका फैसला एक आदमी की हैसियत से, न कि अपनी प्रतिनिधिवाली हैसियत से, लार्ड माउण्टबाटन करेंगे।" (उप. पृ. १४१)। लार्ड माउण्टबाटन कब आदमी की हैसियत से काम करते हैं और कब वह किसी के प्रतिनिधि की हैसियत से काम करते हैं, इन दोनों स्थितियों में भेद करना साधारण मनुष्य का काम नहीं था। यह विशिष्टाद्वैतवाली राजनीति है, भेद और अभेद दोनों हैं। एक बात बहुत स्पष्ट है, वह यह कि माउण्टबाटन अंग्रेज थे; कांग्रेस और लीग में झगड़ा हो तो कौन-सी चीज भारत के हित में है और कौन-सी नहीं है, इसका फैसला अंग्रेज को करना था। माउण्टबाटन की बहुत इच्छा थी कि अन्य नेताओं की तरह गांधीजी भी कहें कि विभाजन के अलावा और कोई चारा नहीं है, और अंग्रेज भारतवासियों के इस फैसले को स्वीकार करें। किन्तु गांधीजी ने यहाँ बड़े लाट की मनोकामना पूरी नहीं की।

४ मई को गांधीजी से बातचीत के बाद माउण्टबाटन ने नोट किया, "लार्ड इस्मे जिस योजना को लन्दन ले गये थे, उसकी रूपरेखा मैंने बतायी। मैंने मिस्टर गांधी से पूछा, मैं जो तरीका अपनाने जा रहा हूँ, उससे भारत की जनता यह तय करेगी कि वह सत्ता का हस्तान्तरण किस तरह कराना चाहती है, वह तरीका उनकी राय में अच्छा है न? उन्होंने जवाब दिया, वह इस बात से सहमत नहीं हैं कि अंग्रेज़ों ने भारत की जनता को वह तरीका चुनने की पूरी आज़ादी दी है। वे उस पर विभाजन लगभग लाद रहे थे (practically imposing partition on them.)।" (उप., पृ. ६११)। यद्यपि गांधीजी औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर सत्ता पाने की बात कर रहे थे, फिर भी उन्होंने माउण्टबाटन से यह साफ कह दिया कि विभाजन भारत की जनता पर लादा जा रहा है। इसके बाद जो कदम उठाया जा सकता था, वह यह कि लादे जानेवाले समाधान का विरोध किया जाय। इसके लिए अन्य कांग्रेसी नेताओं की तरह गांधीजी भी तैयार न थे। माउण्टबाटन ने कहा, आपकी योजना लागू करने से गृहयुद्ध और खून-खराबे की सम्भावना है। गांधीजी ने कहा, जिन्ना ने मेरे साथ जिस बयान पर हस्ताक्षर किये हैं, यदि वह उसे मानते हैं तो ऐसा न होगा। इस पर माउण्टबाटन ने कहा, "जिन्ना समझते थे कि मैं वाजिब फैसला करूँगा, यह सोचकर सच्चे मन से उन्होंने हस्ताक्षर किये थे। यदि मैंने इस तरह उनके साथ विश्वासघात करने का प्रयत्न किया तो मुझे जरा भी सन्देह नहीं है, वह तुरत जंग छेड़ देंगे।" (उप., पृ. ६११)। माउण्टबाटन भारत की एकता कायम रखते हुए न तो सत्ता मुस्लिम लीग को सौंपने को तैयार थे और न कांग्रेस को। गांधीजी को बता यह रहे थे कि आपकी योजना से रक्त बहेगा। जो योजना माउण्टबाटन ने चलायी, उससे भी रक्त बहा। साम्राज्यविरोधी क्रान्ति से रक्त बहे तो वह हिंसा होती है; अंग्रेज़ों से समझौता हो और रक्त बहता रहे तो वह अहिंसा होती है। यद्यपि माउण्टबाटन जानते थे कि देश के विभाजन से मुसलमानों का ही अहित सबसे ज्यादा होगा,

फिर भी वह अल्पसंख्यकों के सरपरस्त बनकर गांधीजी से कह रहे थे, आपकी योजना मानने का मतलब मुसलमानों से विश्वासघात करना होगा; और बादशाह सलामत की सरकार मुझे कभी इजाजत न देगी कि मुसलमानों की बड़ी अल्पसंख्यक जमात को कांग्रेस के हवाले कर दूं; इसलिए मुझे अफसोस है कि आपकी योजना मंजूर नहीं की जा सकती। (उप.)।

भारत के विभाजन से सबसे ज्यादा नुकसान मुसलमानों का होनेवाला था। विभाजन की तैयारी महीने-दो महीने में न हुई थी। ब्रिटिश कूटनीति बरसों से इस नीति को अमल में ला रही थी और अब उसे निर्णायक मंजिल तक पहुँचानेवाली थी। यह नीति मुसलमानों से विश्वासघात की नीति थी, विश्वासघात की इस नीति के निर्माता ब्रिटिश साम्राज्यवादी थे, उसे अमल में लानेवाले मुस्लिम लीग के प्रतिक्रियावादी नेता थे। कांग्रेस का सुधारवादी नेतृत्व उस कूटनीति को असफल करने में असमर्थ था। कम्युनिस्ट पार्टी क्रान्ति की राह से भटक गयी थी। इसीलिए विश्वासघात की नीति को अंग्रेज़ अमल में ला सके।

गांधीजी ने वाइसराय को लिखा था, यदि किसी भी तरह भारत के विभाजन में अंग्रेजों का हाथ होना है तो यह भयंकर भूल होगी। यदि विभाजन होना ही है तो वह अंग्रेजों के चले जाने के बाद हो, वह दलों के बीच समझौते के फलस्वरूप हो या हथियारबन्द संघर्ष के फलस्वरूप हो जो कायदेआजम जिन्ना के अनुसार वर्जित है। प्रतिद्वन्द्वी दलों में मतभेद हो तो अल्पसंख्यकों को सुरक्षा की गारण्टी पंच फैसलेवाली अदालत की स्थापना से दी जा सकती है। (उप., पृष्ठ ६६७)। यह माँग उचित थी कि अंग्रेज़ पहले यहाँ से जायँ, विभाजन होना ही हो तो उसके बाद हो। किन्तु पंच फैसला करनेवाली अदालत के रूप में अंग्रेज स्वयं को पहले ही प्रतिष्ठित कर चुके थे। इसलिए विभाजन पहले हुआ और अंग्रेज बाद को गये। जाहिर है कि विभाजन से पहले अंग्रेजों को विदा करने का आन्दोलन चलाया जाता तो आगे का फैसला न कांग्रेस के हाथ में रहता, न लीग के। इसलिए अंग्रेज़ पहले जायँ, विभाजन होना है तो बाद में हो, इस माँग का कोई असर होनेवाला नहीं था।

'न्यूज़ क्रानिकल' अखबार की तरफ से नार्मन क्लिफ ने जवाहरलाल नेहरू से पूछा था, गांधीजी विभाजन के खिलाफ़ हैं; क्या आप विभाजन की योजना उनसे मनवा लेंगे? नेहरूजी ने उत्तर दिया, गांधीजी की यह पक्की राय रही है कि भारत के या प्रान्तों के विभाजन का कोई भी बन्दोबस्त अंग्रेजों के माध्यम से न किया जाय। यदि किन्हीं इलाकों के लोग विभाजन चाहते ही हैं तो कोई चीज उन्हें रोक न सकेगी। नार्मन क्लिफ़ ने दूसरा सवाल किया, क्या हम मान लें कि गांधीजी को जनता की राय मंजूर होगी? नेहरूजी ने इस प्रश्न का उत्तर दिया, कुछ साल पहले उन्होंने सचमुच ही जिन्ना के सामने यह योजना रखी थी कि इस तरह की समस्या पर जनता से उसकी राय पूछी जाय। उनका खास मुद्दा यह है कि "ऐसी कोई चीज हो तो वह आपसी रज़ामन्दी से हो, ब्रिटिश सरकार द्वारा वह लादी न जाय। आपसी रज़ामन्दी का मतलब होगा, समझौता हो गया। कोई चीज लादी जाय तो उसका मतलब होगा, झगड़ा बना रहेगा। मैं इस समस्या के प्रति गांधीजी के दृष्टिकोण से पूरी तरह सहमत हूँ और मैं समझता हूँ कि पक्का समझौता तब

तक न होगा, जब तक भारत की जनता पूरी तरह खुद अपने साधनों के भरोसे छोड़ नहीं दी जाती और उसे खुद इस जिम्मेदारी का बोझ उठाना नहीं पड़ता।" ("Mutual consent involves a settlement. Imposition involves carrying on the dispute. I entirely agree with Gandhiji's approach to this problem, and I think there will be no final settlement until the people of India are left entirely to their own resources and have themselves to shoulder this responsibility." (उप., पृष्ठ १०४०-४१)।

यह भेंटवार्ता २७ मई १९४७ के 'न्यूज़ क्रानिकल' में प्रकाशित हुई थी। कौन-सी चीज लादी जाती है और कौन-सी चीज आपसी रजामन्दी से होती है, इन दो चीजों में नेहरूजी ने बहुत ही महत्वपूर्ण भेद किया था। जो चीज आपसी रजामन्दी से होगी, उसका मतलब होगा पक्का समझौता; जो चीज लादी जायेगी, उसका मतलब होगा, झगड़ा बना हुआ है। भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों में झगड़ा बना हुआ है; भारत और पाकिस्तान नाम के दो राज्यों में दो बार युद्ध की नौबत आ चुकी है; इन दोनों युद्धों से एक और झगड़े का सम्बन्ध है जो अभी बना हुआ है, वह झगड़ा कश्मीर का है। यदि आपसी रजामन्दी से समझौता होता तो झगड़ा कभी का खत्म हो गया होता। झगड़ा बना हुआ है और पहले से भी ज्यादा भयानक रूप में बना हुआ है, इससे जाहिर है कि समझौता लादा गया था। नेहरूजी की यह बात भी बिलकुल सही है कि भारत की जनता जब तक अपने साधनों के भरोसे इस समस्या को हल नहीं करती, तब तक उसका पक्का समाधान न होगा। कांग्रेस का सुधारवादी नेतृत्व इस बात का निरन्तर प्रचार करता रहा है कि भारत का विभाजन पक्का समझौता है, अटूट है, वह गृहयुद्ध की असाध्य समस्या को हल करने के लिए किया गया था। किन्तु १९४७ में कांग्रेसी नेता जानते थे कि विभाजन का फैसला उन पर लादा जा रहा है। वे यह भी जानते थे कि भारतीय जनता अपने साधनों का भरोसा करे तो वह किसी भी फैसले का अपने ऊपर लादा जाना नामंजूर कर सकती है। किन्तु वे भारतीय जनता के साधनों का भरोसा करके उसे सही रास्ता दिखाने को तैयार न थे। इससे साबित होता है कि ऐसे अवसर के लिए यह तैयारी पहले से करनी चाहिए थी कि सुधारवादी नेतृत्व से स्वाधीनता-आन्दोलन की बागडोर छीन लेने को मजदूर वर्ग का क्रान्तिकारी नेतृत्व रंगमंच पर मौजूद हो। यदि आपसी रजामन्दी से समझौता नहीं हुआ, फैसला लादा गया है, झगड़ा बना हुआ है तो जो क्रान्तिकारी कार्य सन् ४७ में पूरा नहीं हुआ, उसे भारतीय जनता को अपने साधनों के भरोसे कभी तो पूरा करना ही होगा।

(ख) योजना की सफलता के लिए हिंसा का संगठन

१७ अप्रैल को नेहरूजी ने माउण्टबाटन के नाम पत्र में लिखा था, यदि सभी गुटों और सम्प्रदायों के लोग बड़ी संख्या में गलत काम करें, तो इसके लिए दूसरों को दोष देने से लाभ न होगा; फिर भी यह सच है कि पिछले आठ महीने में जो हिंसा

और पशुता हमने भारत में देखी है, वह मुस्लिम लीग की सीधी कार्रवाई का नतीजा है। एक की हिंसा ने दूसरे मे हिंसा पैदा की, अपनी भूरी कुर्ती और काली कुर्ती पहनकर नाजी लोग युद्ध के दिनों मे जो दांव-पेंच अपनाते थे, उनसे मुस्लिम लीग के दांव-पेंच बहुत मिलते-जुलते है। जितना ही यह विश्वास बढता है कि दांव लगाने में सफलता मिली है, उतना ही अधिक मुस्तैदी से वह दांव बार-बार लगाया जाता है। तुष्टीकरण की नीति अपनायी जाय तो ऐसे दांव लगाने के लिए प्रोत्साहन मिलता है। जो इन तरीकों का विरोध करते हैं, उन्हें क्रोध आता है; "जैसे ही वे समझ बैठते हैं कि सरकार पक्षपात करती है, वे हताश हो जाते हैं और कानून अपने हाथ मे ले लेते है।" (उप., पृष्ठ ३०५)। कानून दो तरह से हाथ मे लिया जा सकता है। एक सम्प्रदाय ने हिंसा की, दूसरे ने प्रतिहिंसा की। इस तरह से जनता कानून अपने हाथ मे ले तो कानून के रखवालो को कोई खास बेचैनी नही होती। किन्तु यदि सरकार का निकम्मापन देखकर जनता दंगा करानेवालों के साथ सरकार का भी सफाया करने पर आमादा हो जाय तो कानून के रखवालों को बहुत बेचैनी होती है। जो ताकत दंगा करानेवालों के खिलाफ इस्तेमाल न की जा सकती थी, वह बड़ी मुस्तैदी मे इन क्रान्तिकारियों के खिलाफ की जा सकती थी।

नेहरूजी ने पत्र में आगे लिखा, दमन की नकारात्मक नीति लागू करने से ही लाभ न होगा; सकारात्मक नीति जो भी हो, वह ऐसी होनी चाहिए कि यह न लगे कि हिंसक तरीकों के सामने घुटने टेके जा रहे हैं। सकारात्मक नीति यह भावना पैदा करने के लिए होनी चाहिए कि कोई भी गुट किसी दूसरे गुट द्वारा दबाया न जायेगा। "यही उद्देश्य था जिसे मद्देनजर रखते हुए हमने पंजाब और बंगाल के बँटवारे का सुझाव दिया था, हालांकि वह हमें बहुत नापसन्द था।" (उप., पृष्ठ ३०६)। नेहरूजी जिसे सकारात्मक नीति कह रहे थे, वह बँटवारे की नीति थी। यह नीति अंग्रेजो द्वारा प्रेरित फासिस्ट हिंसा की उपज थी; उस नीति को मंजूर करने से हिंसा और बढ़ सकती थी, उसके कम होने का सवाल न था। नेहरूजी को आशा थी कि विभाजन होगा तो थोडे समय के लिए होगा, लोगों की बुद्धि ठिकाने आ जायेगी और वे विभाजन की व्यर्थता पहचानेंगे। नार्मन क्लिफ के अनुसार पण्डित नेहरू ने ज़ोर दिया कि कांग्रेस जिस चीज़ को नापसन्द करती है, उसे भी वह मानने को तैयार है, शर्त यह है कि भारत में आपसी सहमति और शान्ति कायम हो जाय, "उनकी राय है कि विभाजन अनिवार्य होगा, तो भी वह टिकाऊ न होगा। यदि सहमति प्राप्त कर ली जाय तो नागरिक उपद्रवों का खतरा दूर हो जायेगा।" ("He is of opinion that even if division becomes inevitable it will not be of long duration, and if agreement could be secured the danger of civil disorder would be removed.") (उप., पृष्ठ १०४१)। जिन्होंने विभाजन की योजना बनायी थी, उन्होंने इस बात का ध्यान रखा था कि विभाजन टिकाऊ हो। उनके हाथ मे ऐसे सूत्र थे जिन्हें खींचकर वे कभी भी पुराना नाटक फिर चालू कर सकते थे। राष्ट्रीय एकता का सवाल इस प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ था कि भारत में साम्राज्य-

वाद के अवशेष पूरी तरह समाप्त होते हैं या नहीं।

पश्चिमोत्तर प्रान्त के मुख्यमन्त्री डा. खान साहब ने प्रान्त के गवर्नर ओलफ कैरो के सामने वाइसराय से कहा, यहाँ जिन्ना का असर कुछ भी नहीं है; यहाँ गवर्नर और उनके हाकिमों को छोड़कर मुस्लिम लीग का और कोई नेता नहीं है। माउण्टबाटन ने कहा, कांग्रेस अभी तक सीमान्त प्रदेश में भारत छोड़ो का नारा लगाती थी, उसका वह उद्देश्य तो सिद्ध हो गया क्योंकि अंग्रेज भारत छोड़कर जा रहे हैं। वह नारा लगाकर अब जनता को गोलबन्द नहीं किया जा सकता। पण्डित नेहरू यहाँ आये, कुछ घटनाएँ हुईं, उनके कारण यहाँ के लोग सोचने लगे कि जो मौजूदा केन्द्रीय सरकार हिन्दुओं के नियन्त्रण में है, वह अंग्रेज़ों से विरासत में सत्ता पायेगी। इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं यदि साम्प्रदायिक भावना इतनी तेज़ न हो गयी होती। मुसलमानों की हिन्दूविरोधी भावना से मुस्लिम लीग अब उनका समर्थन प्राप्त कर सकती है। (उप., पृष्ठ ४६३)। डा. खान साहब ने ठीक कहा था कि सीमान्त प्रदेश में मुस्लिम लीग का नेता वहाँ का अंग्रेज़ गवर्नर है। इसीलिए उचित यह था कि वह उस गवर्नर के मातहत रहकर मुख्यमन्त्री का पद न सँभालते। सन् ३७ में कांग्रेस ने संयुक्त प्रान्त में मन्त्रिमण्डल बनाकर मुस्लिम लीग को फलने-फूलने का अवसर दिया; १९३५ के काले कानून के मातहत सीमान्त प्रदेश का मन्त्रिमण्डल भी बना था। सीमान्त प्रदेश वह आखिरी गढ़ था जिसे अंग्रेज स्वाधीनता-आन्दोलन से छीनकर सम्प्रदायवाद को सौंप रहे थे। स्वयं माउण्टबाटन कह रहे थे कि मुसलमानों की हिन्दू-विरोधी भावना से मुस्लिम लीग लाभ उठायेगी।

एक बहुत दिलचस्प आदमी पश्चिमोत्तर प्रदेश सरकार के मुख्य सचिव लेफ्टिनेण्ट कर्नल डडले गॉर्डन हेरियो द ला फार्ग थे। इन्होंने ११ अप्रैल को माउण्टबाटन से भेंट की। उन्होंने वाइसराय से कहा, सीमान्त प्रदेश में साफ-सुथरे ढंग से चुनाव कराया जाय तो सम्भावना यह है कि लीग के मुकाबले कांग्रेस को बहुमत प्राप्त होगा। धारा ९३ लागू करना जरूरी होगा। जो पार्टी सत्ता में है, वह चुनाव करायेगी तो बेईमानी होगी। लेकिन धारा ९३ लागू करने पर भी चुनाव से कांग्रेस को बहुमत प्राप्त होगा। सीमान्त में अब्दुल गफ्फ़ार खाँ लोकप्रिय नहीं हैं, लेकिन उनके भाई डा. खान साहब अव्वल दर्जे के बढ़िया आदमी हैं। उनका दिमाग असन्तुलित है, ऐसी बातें बे-सिर-पैर की हैं। गुस्सा आता है तो वह अपने आपको सँभाल नहीं पाते। एक बार मुझे खुद उनके धौल जमाना पड़ा जिससे कि होश में आ जायें। इसके बाद वह पहले से भी बढ़िया दोस्त हो गये। माउण्टबाटन ने इस भेंट का विवरण देते हुए लिखा, "मैंने उनसे कहा कि साधारण समय होता तो गवर्नर के बारे में यों बातें करना बिल्कुल गैरमुनासिब होता। लेकिन यह समय एकदम संकट का है। इसलिए मुझे विश्वास है, लार्ड इसमें सहमत होंगे कि पण्डित नेहरू ने गवर्नर के बारे में जो दिल को धक्का देनेवाली रिपोर्ट दी है, उस पर कोई ब्रिटिश राय हासिल कर लें। दरअसल पण्डित नेहरू ने उन्हें [गवर्नर को] हटाने की माँग मुझसे की थी और इस बारे में खरी-खरी कहने में कोताही न की थी। कर्नल द

ला फार्ग ने बड़ी हिम्मत से जवाब दिया कि यद्यपि गवर्नर को सीमान्त के बारे में बहुत जानकारी है, फिर भी दरअसल उन्हें कांग्रेस सरकार से द्वेष है और सूबे में सभी इन्साफपसन्द आदमियों का विश्वास वह खो चुके हैं। द ला फार्ग ने कहा कि वह अपने पद पर बने रहते हैं तो दरअसल यह अंग्रेजों के मर्तबे के लिए एक खतरा होगा।" (उप., पृष्ठ १९७)।

यद्यपि माउण्टबाटन को मजबूर होकर गवर्नर को हटाना पड़ा, फिर भी उन्होंने नेहरूजी को लिखा, मेरा विचार है कि डा. खान साहब गवर्नर पर जो दो टूक आरोप लगाते हैं कि मौजूदा आन्दोलन उनके दाँव-पेंच का परिणाम है, वह बिल्कुल गलत है। (उप., पृष्ठ ४६१)। *मुस्लिम लीग सभा करके जलूस निकालने-*वाली थी। माउण्टबाटन सीमान्त प्रदेश पहुँचनेवाले थे, यह जलूस उन तक पहुँचकर उन्हें मुस्लिम लीग की शक्ति से परिचित कराने के लिए था। जिन्ना ने सभा और जुलूस के लिए अनुमति माँगी। माउण्टबाटन ने कहा कि जलूस निकालने की अनुमति न मिलेगी लेकिन छह प्रतिनिधि आकर मिल सकते हैं। (उप., पृष्ठ ४७१)। पेशावर पहुँचने पर वाइसराय को बताया गया कि पचास हजार लोग सभा में एकत्र हैं। सभा के नेताओं ने कहा था कि जलूस निकालकर कानून भंग न करेंगे लेकिन अधिकारियों का कहना था कि वे वाइसराय से मिलने की जिद करेंगे, भले ही इसके लिए कानून तोड़ना पड़े। वे दिखाना चाहते हैं कि उनकी ताकत कितनी है। यदि वाइसराय ने स्वयं दर्शन न दिये तो सभा बेकाबू हो जायेगी। इस पर वाइसराय ने बात करने के लिए खान साहब को बुलाया। खान साहब सहमत हो गये कि वाइसराय कुछ मिनटों तक खड़े रहकर दर्शन दे दें। उन्होंने यह भी कहा, मैंने खुदाई खिदमतगारों को इसी समय प्रदर्शन करने से रोक दिया था क्योंकि इस प्रदर्शन के होने पर रक्तपात जरूर होता। इसके लिए माउण्टबाटन ने खान साहब की प्रशंसा की। (उप., पृष्ठ ४७६-७७)।

गवर्नर ने माउण्टबाटन से कहा कि जब तक वह दर्शन न देंगे, तब तक भीड़ वापस न जायेगी। माउण्टबाटन ने दर्शन दिये। भीड़ ने दर्शन करके खूब तालियाँ बजायीं, पाकिस्तानी नारों के बीच 'माउण्टबाटन की जय' की धुन भी सुनायी दी। माउण्टबाटन ने लिखा, 'मुझे बड़ा असमंजस हुआ कि लीग मुझे अपने उद्धारकर्ता के रूप में देख रही थी। मैंने अपने सूचना-अधिकारी से कहा, इस सभा की रिपोर्ट जरा दबे स्वर में देना।" (उप., पृष्ठ ५३५)। सीमान्त प्रदेश की मुस्लिम लीग गवर्नर को अपना सरपरस्त मानती ही थी; जब हुजूर वाइसराय स्वयं उपस्थित हुए, तब उसने उन्हें मसीहा समझा तो यह उचित ही था। पाकिस्तानी और कुछ गैरपाकिस्तानी, दोनों ही तरह के लोग माउण्टबाटन को अपना रक्षक समझने लगे थे, इसका प्रमाण 'माउण्टबाटन की जय' का नारा था। बेशक यह नारा खुदाई खिदमतगारों ने न लगाया होगा। माउण्टबाटन ने जिन्ना को धन्यवाद दिया कि उन्होंने सीमान्त प्रदेश के मुसलमानों को उनसे मिलाने की व्यवस्था की और उस भारी भीड़ में मुसलमानों के व्यवहार के लिए उन्हें बधाई दी। उन्होंने यह भी कहा कि इस प्रदेश में हिंसा जारी रही तो चुनाव

न कराये जायेंगे। "जिन्ना स्पष्ट ही चाहेंगे कि सीमान्त प्रदेश पाकिस्तान में शामिल किया जाय; कोई ऐलान किये बिना यदि वह चुपचाप आन्दोलन वापस ले लें तो उन्हें लाभ ही लाभ होगा।" (उप., पृष्ठ ५६७)।

मुस्लिम लीग ने सीमान्त प्रदेश में क्या किया, इसकी झलक ८ मई को लिखी माउण्टबाटन की निजी रिपोर्ट में इस प्रकार है . पिछले हफ्ते मैं लगातार कोशिश में रहा हूँ कि सीमान्त प्रदेश में मुस्लिम लीग का आन्दोलन खतरनाक रूप धारण न करे। अभी भी डेरा इस्माइल खाँ, बन्नू वगैरह में वे लोग लाखों की सम्पत्ति का नाश कर चुके हैं। भयंकर क्रूरता, बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन और कत्लेआम के जरिये वे भारी नफरत पैदा कर चुके हैं। आत्मरक्षा के नाम पर अब्दुल गफ्फार खाँ ने लाल कुर्तीवाले स्वयंसेवकों का संगठन ४ मई से शुरू किया है। ये लोग पिस्तौल लेकर चलेंगे। सम्भव है कि प्रान्तीय सरकार ने पिस्तौलों के लिए लाइसेंस दिये हों। यह निजी सेनाओं का सवाल दूसरे सूबों में भी है। मैं उसे कैबिनेट में उठाऊंगा। इसके साथ ही मुस्लिम लीग के हरी कुर्तीवाले स्वयंसेवकों ने भी चोरी-छिपे स्वयं को हथियारबन्द किया है। सीमान्त प्रदेश में यह आन्दोलन इतना शक्तिशाली हो गया है कि स्वयं जिन्ना ने मुझसे कहा कि वह इस आन्दोलन को तभी रोक पायेंगे जब यह ऐलान कर दें कि आन्दोलन करनेवाले जीत गये हैं। (उप., पृष्ठ ६८२)। इस सारे आन्दोलन से अंग्रेजों का स्वार्थ यह था कि पाकिस्तान में उनका मजबूत अड्डा बना रहे। सेनाध्यक्षों की समिति में जल सेनापति कनिंघम ने कहा कि पाकिस्तान कामनवेल्थ में शामिल होना चाहे तो उसे मना न करना चाहिए; मना करने पर मध्यपूर्व-उत्तरी अफ्रीका और भारत के मुसलमानों से हमारे सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे। लार्ड माण्टगोमरी ने कहा, "कामनवेल्थ की व्यापक रणनीति के विचार से पाकिस्तान का, विशेषरूप से पश्चिमोत्तर का कामनवेल्थ में रहना अत्यन्त लाभकारी होगा। फौजी अड्डे, हवाई पट्टियाँ और बन्दरगाह भारत के उत्तर-पश्चिम में सुलभ होंगे तो वे कामनवेल्थ की रक्षा के लिए अमूल्य सिद्ध होंगे। इसके अलावा हमारी मौजूदगी से शासन का काम अच्छी तरह से होगा क्योंकि नागरिक और फौजी, दोनों तरह के ब्रिटिश सलाहकार सूबे में शासन को चुस्त, दुरुस्त बनाये रहेंगे। सम्भव है, पड़ोस के हिन्दू राज्य भी आकर्षित होकर कामनवेल्थ से ऐसा ही सम्बन्ध कायम करें। इसके अलावा अफगानिस्तान की एकता को बनाये रखने में हम यहाँ से भारी समर्थन दे सकेंगे।" (उप., पृष्ठ ७६१)। अंग्रेज जिस तरह की आजादी देना चाहते थे, उसकी रूपरेखा साफ़ है। वे फौजी अड्डे चाहते थे, सूबे में अपने फौजी और गैर-फौजी सलाहकार चाहते थे और अपने अड्डों के जरिये अफगानिस्तान की एकता को समर्थन देना चाहते थे। जो भारत का विभाजन कर रहे थे, वे अफगानिस्तान की एकता की बात कर रहे थे। जो पठान अफगानिस्तान से अलग कर दिये गये थे, उन्हें अपनी ओर मिलाये रखने के लिए अंग्रेज प्रतिवर्ष काफी पैसा खर्च कर रहे थे। जिन्ना और लियाकत अली खाँ से बातचीत के दौरान माउण्टबाटन ने पूछा था: क्या यह पक्की बात है कि मुस्लिम लीग पश्चिमोत्तर प्रदेश पाना चाहती है? "कबीलों को शान्त रखने के लिए मौजूदा सरकार को प्रतिवर्ष साढ़े

तीन करोड़ रुपये खर्च करने पड़ते हैं।" (उप., पृष्ठ ६१३)।

अंग्रेजों के लिए यह आसान नहीं था कि भारत में उन्हें फौजी अड्डे मिल जायें। लन्दन में माउण्टबेटन ने ब्रिटिश प्रधानमन्त्री और उनके सहयोगियों से भेंट के दौरान कहा, पण्डित नेहरू ने १७ मई के पत्र में लिखा था, हमारे समझौते में एक शर्त यह होनी चाहिए कि भारतीय संघ (यूनियन), या भारत के वे हिस्से जो भारत से अलग होकर राज्य बना लेंगे, किसी बाहरी राज्य या शक्ति को अड्डे बनाने की अनुमति न देंगे, वे अपनी भूमि पर अतिरिक्त अधिकार न देंगे, अपने प्रदेशों की प्रभुसत्ता का उल्लंघन न होने देंगे। आपसी सुरक्षा के लिए भारत के दोनों राज्यों के बीच ऐसा कोई समझौता अवश्य होना चाहिए। माउण्टबेटन ने पं. नेहरू का पत्र उद्धृत करने के बाद कहा, कांग्रेस के नेता इस बात को बहुत महत्व देते हैं और वे बेशक चाहेंगे कि बादशाह सलामत की सरकार मुस्लिम लीग से अपने सम्बन्ध के बल पर इस बारे में कुछ करे। "पं. नेहरू ने बातचीत में स्पष्ट कर दिया था कि आर्थिक कारणों से मजबूर होकर पाकिस्तान किसी विदेशी ताकत को अड्डे बनाने के लिए और अन्य सुरक्षा-सुविधाओं के लिए भारी रियायतें दे सकता है। पं. नेहरू ने जिस लाइन पर समझौते की बात कही है, उससे ब्रिटिश कामनवेल्थ को भारत में कोई भी सुरक्षा-सुविधाएँ न मिलेंगी और भारत के किसी भी हिस्से के लिए यह सम्भव न होगा कि वह क्षेत्रीय सुरक्षा-योजना में शामिल हो सके। लेकिन पण्डित नेहरू जिस ताकत की बात सोच रहे थे, वह निस्सन्देह संयुक्त राज्य अमरीका थी।" (उप., पृ. १०११)। अंग्रेज भारत और पाकिस्तान को जिस उद्देश्य से कामनवेल्थ में शामिल रखना चाहते थे, वह पूरी तरह सफल नहीं हुआ। कामनवेल्थ की रक्षा के नाम पर उन्हें भारत में फौजी अड्डे नहीं मिले। पाकिस्तान में भी वे सीधे-सीधे फौजी अड्डे कायम न कर सके लेकिन वे उसे क्षेत्रीय सुरक्षा-योजना में घसीट ले गये। जब यह इस योजना से बाहर निकला, तब पाकिस्तान की सुरक्षा के नाम पर अंग्रेजों और अमरीकियों ने उसे और भी मजबूती से अपनी फौजी गुटबन्दी में शामिल किया। जवाहरलाल नेहरू ने अमरीकियों के खतरे को बहुत पहले पहचाना था, पाकिस्तान में फौजी अड्डे न बनें, किसी विदेशी ताकत को विशेष रियायतें न मिलें, इसके लिए अपनी कोशिश में उन्हें आंशिक सफलता मिली। अंग्रेज और अमरीकी पाकिस्तान को भारत पर दबाव डालने के लिए इस्तेमाल करने में सफल हुए। नेहरूजी को पूरी सफलता तब मिलती जब वह साम्राज्यवादियों की विभाजन-योजना को अस्वीकार कर देते। एशिया और सारी दुनिया के साम्राज्यविरोधी आन्दोलन को जिन चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है, दक्षिण एशिया में विश्व शान्ति के लिए जो खतरा पैदा हो गया है, इस सबकी शुरुआत १९४७ में हो चुकी थी। दो राज्यों का निर्माण केवल भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन का विघटन नहीं था, वह एशिया के साम्राज्यविरोधी आन्दोलन का विघटन भी था, वह संसार के साम्राज्यविरोधी मोर्चे में बहुत बड़ी दरार था।

साम्प्रदायिक आधार पर देश का विभाजन करने के अलावा अंग्रेज जातियों के आधार पर भी भारत के विघटन की योजना अपनी झोली में डाले हुए थे।

सीमान्त प्रदेश के गवर्नर ने कांग्रेसी नेताओं से कहा कि वे पठानों का कौमी सूबा बनाने का प्रचार शुरू करें, हो सके तो मिलीजुली सरकार चलायें और यह सूबा अपनी आवश्यकता के अनुसार दूसरों से सहयोग-सन्धियां करें। गवर्नर ने जब पहले-पहले यह सुझाव दिया तो कांग्रेसी नेता बेहद नाराज़ हुए लेकिन धीरे-धीरे वे सहमत हुए। गवर्नर के अनुसार उनकी सहमति विलम्ब से हुई लेकिन "मेरी समझ में यह बात कमज़ोरी नहीं है बल्कि शहज़ोरी है कि पठानिस्तान वित्तीय रूप मे, या किसी अन्य रूप मे, अपने पैरों खड़ा नहीं रह सकता।" (उप., पृ. ६४४)। इस बात का यही अर्थ हो सकता है कि पठानों का राज्य अलग बनेगा तो वह हर तरह से कमज़ोर होगा और अंग्रेज़ों के चंगुल मे रहेगा।

सुहरावर्दी बंगाल का विभाजन न चाहते थे। वह उस सूबे के मुख्यमन्त्री थे; वह भारत-विभाजन के पक्ष में थे। उनका विचार था कि साढ़े छह करोड़ आबादी-वाला यह राज्य समृद्ध और स्वाधीन राज्य के रूप में विकसित हो सकता है। "वह चाहते थे कि बंगाल के विकास के लिए विदेशी पूंजी और ब्रिटिश व्यवसाय की सहायता सुलभ होगी। अमरीकी पूंजी भी दरवाजे के बाहर खड़ी इन्तजार कर रही है।" (उप., पृ. २६३)। माउण्टबाटन ने किरणशंकर राय से कहा कि बंगाल के विभाजन के लिए उनके पास एक आवेदन आया है। आप बंगाल का विभाजन चाहते हैं या उसकी एकता? राय ने जवाब दिया, वह हमेशा एकता के हिमायती रहे हैं। मुस्लिम लीग के अड़ियलपन के कारण और कांग्रेस के दबाव से उन्होंने विभाजन की सिफारिश की थी। माउण्टबाटन ने पूछा, पूरे बंगाल के लिए इसके जो भयंकर परिणाम होंगे, उनके बारे मे आपने सोचा है? माउण्टबाटन ने लिखा, "मैंने पूर्वी और पश्चिमी बंगाल दोनों के लिए भयंकर परिणामों का चित्र खींच दिया। मैंने बताया कि बहुत से लोग समझते हैं कि पूर्वी बंगाल को ज्यादा नुकसान होगा। उन्हें शायद ध्यान नहीं है कि पटसन के कारखाने पूर्वी बंगाल पहुँचाये जा सकते हैं। वह सहमत हुए और बोले कि इससे उन्हें प्रसन्नता है क्योंकि वह स्वयं पूर्वी बंगाल के हैं। मैंने उन्हें उनकी हिन्दू देशभक्ति पर बधाई दी कि वह पूर्वी बंगाल के अपने जैसे हिन्दुओं की बलि देकर पश्चिमी बंगाल की बहुसंख्यक हिन्दू-जमात को बचाने के लिए प्रान्त का नाश करने को तैयार हैं।" (उप., पृ. ५८५-८६)। माउण्टबाटन ने पूछा, एकता बनी रहे, इसकी सम्भावना कितनी है? राय ने कहा, जब तक मुस्लिम लीग कुछ रियायतें देने को न कहे, तब तक सम्भावना कम है। फिर माउण्टबाटन ने पूछा, यदि संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र कायम हों तो क्या हिन्दू सन्तुष्ट हो जायेंगे? राय ने खूब उत्साह से कहा, अवश्य! यदि मुस्लिम लीग संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र की बात मानती है तो एकता कायम रहेगी। माउण्टबाटन ने कहा, मैं सुहरावर्दी से सिफ़ारिश कर चुका हूँ कि संयुक्त निर्वाचन क्षेत्र का सुझाव पेश करें लेकिन उनकी पूरी पार्टी साथ देगी, इसमें शक है। सुहरावर्दी मिली-जुली सरकार बनाने की बात भी कर सकते हैं।

माउण्टबाटन ने लिखा, "जैसे-जैसे बातचीत आगे बढ़ी, मि. राय अधिकाधिक उत्साहित होते गये। उन्होंने मुझसे कहा कि मेरी घोषणा हो जाने तक वह दिल्ली में रुकना चाहते थे लेकिन अब वह मेरी सलाह चाहते हैं कि उन्हें क्या करना

चाहिए। मैंने उन्हें जोरों से सलाह दी कि वह सीधे कलकत्ता जायें और सुहरावर्दी से मिलें, उसके बाद दार्जिलिंग जायें और गवर्नर से मिलें। मैंने कहा, एक क्षण भी व्यर्थ न जाना चाहिए। इस पर वह नाटकीय ढंग से उठे; गर्मजोशी से हाथ मिलाया और कमरे से बाहर चले गये।" (उप., पृ. १८६)। किन्तु इस सारी नाटकीयता का कोई फल न निकला। नेहरूजी ने कहा, बंगाल का विभाजन बहुत तरह से हानिकारक है, यह तो स्पष्ट है ही किन्तु बंगाल को भारत से अलग किया जाय तो वही दलील इस विभाजन पर भी लागू होती है। कलकत्ता समूचे भारत का बन्दरगाह है; यदि बंगाल आज़ाद हुआ तो कलकत्ता खत्म हो जायेगा। (उप., पृ. ७६४)।

राजकुमारी अमृतकौर ने माउण्टबाटन से कहा कि पंजाब का विभाजन न करें। माउण्टबाटन ने अपनी स्थिति स्पष्ट की। "मैंने कहा कि भारत के किसी हिस्से का बँटवारा हो, यह आखिरी चीज़ है जो मैं चाहूँगा। मैंने उनसे पूछा कि पंजाब को स्वाधीनता दी जाय तो क्या इससे उसकी एकता बनी रहेगी? उनका विचार था कि यह भी एक समाधान हो सकता है, और वह गांधीजी से उसकी सिफारिश करेंगी।" (उप., पृ. १८८)। स्वाधीन पठानिस्तान, स्वाधीन बंगाल, स्वाधीन पंजाब, इस तरह दो राज्यों की जगह भारत समेत चार राज्य हुए; कश्मीर, हैदराबाद, त्रावनकोर स्वतन्त्र राज्य हो तो सात राज्य हो गये। इस तरह पाकिस्तान के अलावा भारत को विघटित करने की यह दूसरी योजना अंग्रेज़ों के पास थी; अनेक राज्य बनें तो वे यहाँ आसानी से अपना प्रभाव कायम रख सकेंगे, यह बात वे अच्छी तरह जानते थे।

२४ अप्रैल को सरदार वल्लभभाई पटेल ने माउण्टबाटन से कहा, "आप जब से यहाँ आये हैं, तब से हालत और भी बिगड़ गयी है। गृह-युद्ध छिड़ा हुआ है और आप उसे रोकने के लिए कुछ नहीं कर रहे हैं। आप खुद हुकूमत न करेंगे और केन्द्रीय सरकार को हुकूमत न करने देंगे। इस खून-खराबे की जिम्मेदारी से आप बच नहीं सकते।" बात साफ थी और सीधे ढंग से कही गयी थी। लेकिन जब माउण्टबाटन ने कहा, ज़रा बात और साफ करके समझाइए, तब सरदार पटेल ने कहा, मैं आपके आने से खून-खराबे का सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश नहीं कर रहा। बादशाह सलामत की सरकार ने २० फरवरी को जो बयान दिया था, खून-खराबी तो उसके कारण शुरू हुई थी। मुस्लिम लीग चाहती थी कि जहाँ बने, सत्ता हथिया ले और उसे आशा थी कि वाइसराय उसे सत्ता सौंप देंगे। खून-खराबी इस कारण हुई। अन्त में उन्होंने कहा, "यदि आप खुद कुछ नहीं करते तो पूरे अधिकार केन्द्रीय सरकार को सौंप दीजिए और पंजाब तथा सीमान्त प्रदेश में मुस्लिम लीग का छेड़ा हुआ युद्ध हमें रोकने दीजिए; असम पर हमला करने के लिए मुस्लिम लीग बंगाल में लामबन्दी कर रही है, उसे हमें रोकने दीजिए; हमें हुकूमत करने दीजिए।" (उप., पृ. ३६८)। जो ताकत गृह-युद्ध भड़का रही थी, कांग्रेस के लौह-पुरुष सरदार पटेल उसी से कह रहे थे कि वह गृह-युद्ध रोके। जो स्थिति वेवल के ज़माने में थी, वही माउण्टबाटन के ज़माने में थी। अंग्रेज़ों ने कांग्रेसी नेताओं को अन्तरिम सरकार के पिंजड़े में बन्द कर लिया था, इस बात का ध्यान रखा था

कि वे दंगों को रोकने के लिए कारगर कदम न उठायें। जब सरदार पटेल माउण्ट-बाटन से कह रहे थे, हमें हुकूमत करने दीजिए, तब वह साफ अपनी बेबसी जाहिर कर रहे थे। अन्तरिम सरकार के हाथ में सचमुच सत्ता होती तो हुकूमत करने दीजिए, यह कहने की नौबत न आती।

बनर्जी नाम के राजकर्मचारी की नियुक्ति को लेकर पटेल और माउण्टबाटन में झगड़ा हुआ। नियुक्ति सरदार पटेल ने की थी। माउण्टबाटन ने नियुक्ति का मामला चयन-समिति के पास भेज दिया। इस पर पटेल ने अपनी टिप्पणी में लिखा, "मेरी समझ में चयन-समिति के पास यह मामला भेजना व्यर्थ और अनुचित था।" ("I regard a reference to the Selection Board as both pointless and inappropriate." उप., पृ. ३६८)। माउण्टबाटन ने कहा, आपने सीधे मेरी नुक्ताचीनी की है। मैं कैबिनेट का अध्यक्ष हूँ। इस टिप्पणी में अध्यक्ष के प्रति निष्ठा और शिष्टता को ठुकराया गया है। ऐसी बात कोई भी बर्दाश्त न करता और मैं इस तरह कि बातें कतई बर्दाश्त नहीं करता। इस पर पटेल बहुत नाराज हुए। माउण्टबाटन ने कहा, आप अपनी टिप्पणी फाड़ डालिए, मैं अपनी टिप्पणी फाड़ दूँगा। पटेल ने साफ इन्कार किया। तब माउण्टबाटन ने कहा, मैं नेहरू से कहूँगा कि या तो पटेल अन्तरिम सरकार से बाहर निकलें या फिर मैं इस्तीफा देकर वापस जाऊँगा। पटेल ने पूछा, सिर्फ महीना भर काम करने के बाद वाइसराय का पद छोड़ देंगे? माउण्टबाटन ने कहा, जाहिर है, *आप अभी मुझे जानते नहीं हैं। मैं आपसे ज्यादा कड़ा (टफर) हो सकता हूँ।* आपने इसी दम टिप्पणी वापस न ली तो मैं प्रधानमन्त्री को बुलाकर अपने इस्तीफे की घोषणा कर दूँगा। माउण्टबाटन के अनुसार, "पटेल ने अचानक महसूस किया कि यह जो कहता है, उसे कर डालेगा और वह पूरी तरह ठण्डे हो गये और बात मान ली। बातचीत में इसके बाद भी कठिनाई हो रही थी किन्तु उनका सारा दृष्टिकोण बदल गया था, अब वह सम्मान और सहयोग की भावना से बातें कर रहे थे। मैंने भी वही रुख अपनाया और यह हमारी पक्की दोस्ती की शुरुआत थी। पटेल पर मेरी इस विजय ने उस समय मन पर ऐसी गहरी छाप डाली कि मैंने अपनी निजी अति संक्षिप्त डायरी में सचमुच लिख ही लिया, 'पटेल को ठीक कर दिया' ('ticked off Patel')।" (उप., पृ. ३६८-६६)। पर यह बात सही है कि माउण्टबाटन के आने के बाद से खून-खराबा और भी बढ़ गया था। थोड़ा-सा नाटक करके माउण्टबाटन ने पटेल से जो पक्की दोस्ती कायम की, वह गृह-युद्ध रोकने में किसी भी तरह काम आनेवाली नहीं थी।

मास्टर तारासिंह, ज्ञानी करतारसिंह और सरदार बलदेवसिंह ने माउण्ट-बाटन से शिकायत की कि पंजाब की पुलिस में ७३% मुसलमान हैं और केवल २७% सिक्ख और हिन्दू हैं। (उप., पृ. ३२१)। जिस समय माउण्टबाटन लन्दन गये, उस समय उनका काम बम्बई के गवर्नर कोलविल सँभाल रहे थे। २३ मई को नेहरूजी ने उन्हें लिखा, पंजाब की, खासतौर से लाहौर की, खबरों से मेरी परेशानी बढ़ती जा रही है। पुराने शहरवाला लाहौर का हिस्सा धीरे-धीरे राख होता जा रहा है और स्थिति पर बिल्कुल नियन्त्रण नहीं है। पुलिस जिन्हें गोली

चलाकर मारती है या घायल करती है या गिरफ्तार करती है और तलाशी लेती है, उनके बारे में रिपोर्टों से मालूम होता है कि पुलिस घोर पक्षपात कर रही है। यदि यह हालत बनी रही तो पंजाब के दूसरे हिस्सों की भी बहुत जल्दी यही हालत हो जायेगी। यदि लाहौर की हालत पर काबू नहीं पाया जा सकता तो और बड़े पैमाने पर जब चारों तरफ लपटें फैल जायेंगी, तब उन पर काबू पाने की सम्भावना और भी कम होगी। (उप., पृ. ६६८-६६)।

नेहरूजी ने पंजाब के गवर्नर से पूछा, क्या आपको इसके बारे में कोई जानकारी है कि पंजाब में विदेश से हथियार चोरी-छिपे भेजे जा रहे हैं? गवर्नर ने कहा, ऐसी कोई रिपोर्ट नहीं मिली है लेकिन कुछ हथियार सीमान्त प्रदेश से आये हैं। नेहरूजी ने कहा, मुझे लन्दन से सूचना मिली है कि यूरप और ईराक में हथियार खरीदे जा रहे हैं। क्या आपकी समझ में देशी रियासतें इस खरीददारी में हिस्सा ले रही हैं? गवर्नर ने जवाब दिया, कम से कम सरकारी तौर पर (ऑफिशियली) वे ऐसा नहीं कर रहीं।

स्थानापन्न वाइसराय कोलविल ने नये भारत सचिव लिस्टोवेल को २६ मई के पत्र में सूचित किया, फ़रीदकोट और नाभा रियासतों की सेनाएँ लाहौर की घटनाओं से सम्बद्ध रही हैं। इनके राजाओं को सूचित कर दिया गया है कि भविष्य में पंजाब सरकार की अनुमति के बिना पंजाब में वाहनों और हथियारबन्द लोगों को न भेजें। फ़रीदकोट और नाभा के राजाओं के अलावा अलवर, धौलपुर, बीकानेर, भरतपुर और कपूरथला के महाराजा लोग भी सम्बद्ध हैं। बलदेवसिंह की राय यह थी कि थोड़ी-बहुत तैयारी की होगी पर वह घबराहट के कारण आत्मरक्षा के लिए की होगी; जब अतिरिक्त फौज पंजाब में पहुँच जायेगी तब यह घबराहट दूर हो जायेगी। (उप., पृ. ६६४)। जहाँ तक ब्रिटिश फौज का सम्बन्ध था, अंग्रेज़ों की नीति यह थी कि साम्प्रदायिक उपद्रवों को दबाने के लिए उसका उपयोग न किया जाय। ऐटली और उनके सहयोगियों से माउण्टबाटन ने कहा था, औपनिवेशिक स्वराज्य के आधार पर सत्ता सौंपने के बारे में जैसे ही कानून बन जाता है, वैसे ही ब्रिटिश फौज को जल्दी से जल्दी भारत से चली आना चाहिए। जहाँ तक फौज का तुरत और पूरी तरह भारत से चली आना व्यावहारिक अथवा वांछनीय न हो, वहाँ तक ब्रिटिश फौजी दस्ते नयी सरकारों की सहमति से ही भारत में रहेंगी, "और वे भारत की सुरक्षा के स्पष्ट उद्देश्य के लिए रहेंगी, आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था बनाये रखने के लिए न होंगी। उस हालत में यह स्पष्ट कर देना होगा कि उस अवधि में ब्रिटिश फौज का नियन्त्रण हमारे हाथ में रहेगा, नयी सरकारों के हाथ में न रहेगा।" (उप., पृ. १०२२)। अंग्रेज़ों ने यह नीति निर्धारित कर ली थी कि फौज का उपयोग क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिए किया जा सकता है, साम्प्रदायिक रक्तपात संगठित करनेवालों के विरुद्ध उसका उपयोग न होगा। विभाजन से पहले और बाद को रक्तपात कुछ कम हो सकता था यदि विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों की अदला-बदली हो जाती। यह सम्भव नहीं था, इसलिए बड़े पैमाने पर रक्तपात सुनिश्चित हो गया था। माउण्टबाटन ने ६ अप्रैल को जिन्ना से कहा था, "कानूनी रूप से भारत में कानून और व्यवस्था

बनाये रखने के लिए जून १९४८ तक मैं जिम्मेदार हूँ। मैं बिलकुल नही चाहता कि ऐसा कोई कदम उठाऊँ कि इस अवधि मे फौज की योग्यता मे अथवा उसके मनोबल में भी खामी पैदा हो।" (उप., पृ. १६३)। माउण्टबाटन शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए कानूनी तौर पर जिम्मेदार थे। उनकी यह स्थिति मुस्लिम लीग के अलावा कांग्रेस के नेताओ ने भी स्वीकार की थी। फौज पर उनका नियन्त्रण था, वह उसकी योग्यता और मनोबल मे कोई खामी पैदा न होने देना चाहते थे। फौज को आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है, यह बात वह मान रहे थे। किन्तु इसके लिए कारगर ढंग से फौज को इस्तेमाल नही किया गया। इस कारण रक्तपात की जिम्मेदारी सबसे पहले और सबसे ज्यादा माउण्टबाटन पर थी, और उसके बाद भारतीय नेताओं पर।

(ग) डोमीनियन स्टेटस और कामनवेल्थ

चर्चिल माउण्टबाटन से बहुत प्रसन्न थे और वेवल से उतना ही नाराज थे। २२ मई को जब माउण्टबाटन उनसे भेंट करने गये, तब उन्होंने कहा, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनो को डोमीनियन स्टेटस पर राजी कर लो तो सारा देश हमारा समर्थन करेगा और कंजरवेटिव पार्टी जल्दी से कानून पास करा देगी। उन्होने पूछा, गांधी तो कोई गड़बड़ न करेंगे? माउण्टबाटन ने उत्तर दिया, गांधी कब, क्या करेंगे, कोई पहले से नहीं बता सकता लेकिन वह यदि कोई कठिनाई पैदा करेंगे तो पटेल और नेहरू उसे ज़रूर दूर कर देंगे। चर्चिल ने पूछा, डोमीनियन स्टेटस मजूर करते हुए यदि इस साल सत्ता सौंपी जाय, तो नेहरू ने उसे मंजूर करते हुए कोई पत्र लिखा है? माउण्टबाटन ने कहा, लिखा है और उसकी प्रति प्रधान मन्त्री को दे दी है। जिन्ना से इसी तरह का लिखित आश्वासन नही मिला। चर्चिल ने बड़े ताज्जुब से कहा, "खुदा कसम, वही तो एक आदमी है जिसका काम ब्रिटिश सहायता के बिना चल नही सकता।" (उप., पृ. ६४५)। माउण्टबाटन के द्वारा उन्होंने जिन्ना के लिए यह सन्देश भेजा, "यदि यह प्रस्ताव तुम दोनो हाथों से मंजूर नही करते तो पाकिस्तान के लिए यह जिन्दगी और मौत का सवाल होगा।" (उप., पृ ६४६)। चर्चिल और ऐटली दोनो को इस बात से दिलचस्पी थी कि पाकिस्तान बने और वह कामनवेल्थ में रहे। पाकिस्तान को कामनवेल्थ में रखकर वे कांग्रेस पर दबाव डालना चाहते थे कि वह भी कामनवेल्थ में शामिल हो जाय।

३१ मार्च को पेथिक लारेन्स ने वाइसराय को लिखा था: निज़ाम से हमारा समझौता है कि रियासत में विद्रोही आन्दोलन छिड़ जायें (मौजूदा परिस्थितियों में ये आसानी से छिड़ सकते हैं) तो वहाँ सुनिश्चित सख्या में सेना भेजनी होगी। इस समझौते को ध्यान मे रखते हुए अन्तरिम सरकार से फौज भेजने के मामले पर टक्कर हो, हमें इससे बचना होगा। (उप., पृ. ५७-५८)। अंग्रेज यह जानते थे कि रियासतों में विद्रोही आन्दोलन ज़ोर पकड़ सकते है। उन्हें दबाने के लिए वे फौज भेजने को वचनबद्ध थे। वचन निबाहने से अन्तरिम सरकार असमंजस में पड़ सकती थी, इसलिए उन्होंने ऐसे दांव-पेंच अपनाये कि जब विद्रोही आन्दोलन ज़ोर पकड़ें, तब अंग्रेज मंच पर दिखायी न दें, फौज भेजने का

काम नयी सरकार करे। हैदराबाद की घटनाओं से विदित होगा कि इस तरह के दाँव-पेंच सफल हुए।

देशी रियासतें अंग्रेज सरकार को सर्वोपरि सत्ता मानती थीं। कुछ रियासतों के राजा अपने स्वतन्त्र राज्य बनाने का सपना देख रहे थे। अंग्रेज रियासतों को वहाँ तक छूट देने को तैयार थे जहाँ तक कांग्रेस से टक्कर न हो। ब्रिटिश नीति की व्याख्या करते हुए लार्ड इस्मे ने ६ मई के दस्तावेज़ में वाइसराय को सूचित किया था, बादशाह सलामत की सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि देशी रियासतों के बारे में उसकी नीति अपरिवर्तित है। जब अंग्रेजों की सर्वोपरि सत्ता (पैरामाउण्ट्सी) समाप्त होगी, तब रियासतों ने इस सत्ता को जितने अधिकार सौंपे थे, वे उन्हें फिर प्राप्त हो जायेंगे। ब्रिटिश भारत के जिन हिस्सों को सत्ता सौंपी जायेगी, उनसे रियासतें अपनी जनता के हित में कितना सम्बन्ध कायम करना चाहती हैं, यह तै करने में वे स्वतन्त्र होंगी। (उप., पृ. ७२७-२८)। इस प्रकार अंग्रेजों के पास रियासतों के रूप में भारत विभाजन की एक योजना और थी। सर्वोपरि सत्ता अंग्रेजों की थी, रियासतों ने जो अधिकार इस सत्ता को सौंपे थे, वे लौटकर भारत सरकार को मिलनेवाले न थे, वे वापस रियासतों के पास पहुँचेंगे। इसलिए हैदराबाद, त्रावनकोर या कश्मीर के राजा किस तरह के सम्बन्ध नयी सरकारों से कायम करते हैं, यह तै करने का भार अंग्रेज यहाँ के राजाओं पर छोड़ गये।

यदि प्रत्येक रियासत को स्वाधीन मानकर बादशाह सलामत की सरकार उनसे अलग सन्धि करती तो भारत सरकार बड़ी कठिनाई में पड़ती और हो सकता था कि वह माउण्टबाटन की योजना स्वीकार न करती। इसलिए माउण्टबाटन ने यह रास्ता निकाला कि किसी भी रियासत को कामनवेल्थ में तब तक शामिल न किया जायेगा जब तक वह भारत के दोनों नये राज्यों में किसी एक से सम्बद्ध न हो जाय। इन नये राज्यों के जो गवर्नर जनरल होंगे, उनके माध्यम से रियासतें बादशाह सलामत से सम्बन्ध कायम करेंगी। बादशाह से उन्होंने जो पुराने समझौते किये थे, उनकी जगह ब्रिटिश भारत की सरकार से बातचीत करके नये समझौते करने होंगे अथवा आपसी सहमति से पुराने समझौतों का नवीकरण कराना होगा। "जो भी हो, ब्रिटिश भारत की दो नयी सरकारें विरासत के रूप में सर्वोपरि सत्ता का अधिकार न पायेंगी। (उप. पृ. ६७०)।

रियासतों में क्या होता है, भारत की सरकार उनसे कैसे सम्बन्ध कायम रखती है, यह सब वाइसराय और उसके कर्मचारियों को मालूम था लेकिन अन्तरिम सरकार को इन सब बातों की जानकारी नहीं थी। कहने को वाइसराय कैबिनेट का अध्यक्ष था लेकिन अध्यक्ष अपनी कैबिनेट को बहुत-सी बातों की हवा भी न लगने देता था। भारत सरकार का एक राजनीतिक विभाग था जो रियासती मामलों की देखभाल करता था। अन्तरिम सरकार बनने पर यह विभाग नेहरूजी के ज़िम्मे आया। अंग्रेजों ने इस बात का ध्यान रखा कि विभाग की सारी कारंवाई का पता नेहरूजी को न चले। ९ अप्रैल को नेहरूजी ने माउण्टबाटन को लिखा, "आप जानते हैं, देशी रियासतों के भविष्य से मुझे गहरी

दिलचस्पी है, खासतौर से यहां की जनता को ध्यान मे रखते हुए दिलचस्पी
दुर्भाग्य से राजनीतिक विभाग गुप्त रूप से काम करता है और कोई नही जान
कि वह क्या करता है। अन्तरिम सरकार के सदस्य तक उसकी कार्यवाही
बारे मे कुछ नही जानते यद्यपि भारत के भविष्य के लिए यह कार्यवाही बहुत
महत्वपूर्ण है। मेरा अपना अनुभव यह है कि इन विभाग के अधिकारी रियासतो
में प्रतिक्रियावाद को उत्साहित करते हैं और प्रगतिशील रुझानो को देखकर
भौंहें टेढ़ी करते हैं। ऐसी कार्यवाही के फलस्वरूप जिसे ब्रिटिश भारत कहा जाता
है, उसके और देशी रियासतो के बीच का फासला बढ़ गया है।" (उप., पृ.
१६०-६१)। यदि यह माना जाय कि भारत की अंग्रेज सरकार प्रगतिशील है,
तब इस बात पर आपत्ति की जा सकती है कि उसका राजनीतिक विभाग
रियासतो मे प्रतिक्रियावाद को उत्साहित करता है। यदि वह प्रगतिशील नही
थी तो उसमे ब्रिटिश भारत और गैरब्रिटिश भारत मे प्रतिक्रियावाद को उकसाने
के अलावा और किस बात की उम्मीद की जा सकती थी ?

१ मई को नेहरूजी ने माउण्टबाटन को फिर लिखा, राजनीतिक विभाग
दस्तावेज नष्ट कर रहा है, यह बात मैंने वेवल को लिखी थी। मेरे ६ मार्च के
पत्र का उत्तर उन्होंने १५ मार्च को दिया। १८ मार्च को मैंने फिर लिखा;
इसका उत्तर मुझे नही मिला। वाइसराय बदलने के कारण ऐसा हुआ होगा। इस
बीच मुझे बराबर सूचना मिलती रही है कि दस्तावेज नष्ट किये जा रहे है। आप
इस बात पर ध्यान दें। यदि ऐतिहासिक महत्व के कोई दस्तावेज नष्ट हो गये, तो
यह दुर्भाग्य की बात होगी। राजनीतिक विभाग के कुछ दस्तावेज भारत स्थित
ब्रिटिश हाई कमिश्नर के पास क्यों पहुंचा दिये जाते है, यह बात स्पष्ट नही है।
राजनीतिक विभाग का खर्च भारत सरकार उठाती है, इसलिए उसकी सारी
सम्पत्ति भारत सरकार की है। (उप., पृ. ५१४-१५)।

माउण्टबाटन ने कुछ समय बाद दस्तावेजों को नष्ट करने पर रोक लगा दी
किन्तु तब तक कितने दस्तावेज नष्ट कर दिये गये थे और कितने ब्रिटिश हाई
कमिश्नर के पास पहुँच गये थे, इसका हिसाब नही है। रियासतों में अंग्रेजों ने
रेजिडेण्ट रख छोड़े थे। इन रेजिडेण्टों के कार्यालयों (रेजिडेंसियों) के दस्तावेज
भी उन रिकार्डों मे शामिल थे जो नष्ट किये गये थे या ब्रिटिश हाई कमिश्नर के
पास भेज दिये गये थे। ब्रिटेन की सरकार ने ट्रांसफर ऑफ पावर नाम से अब
तक दस्तावेजो के जो दस खण्ड छापे हैं, उनमें प्रकाशित सामग्री कायदे से भारत
सरकार की है किन्तु यह ग्रन्थ हर मैजेस्टी के स्टेशनरी ऑफिस द्वारा प्रकाशित है
और उस पर क्राउन कॉपीराइट छपा हुआ है। यानी दस्तावेजों की इस भारतीय
सम्पत्ति पर ब्रिटिश सरकार ने अपने सर्वाधिकार सुरक्षित कर लिये हैं। इसमे
प्रकाशित दस्तावेजो से रियासतों के बारे में जानकारी नही के बराबर होती है, यह
ध्यान देने योग्य है। भारतीय जनता के रियासती उत्पीड़न में अपने योगदान
का इतिहास अंग्रेजो ने गुप्त रखा है।

१८ अप्रैल को ग्वालियर में अखिल भारतीय प्रजामण्डल के सम्मेलन को
सम्बोधित करते हुए नेहरूजी ने कहा, जो देशी रियासत इस समय संविधान सभा

में शामिल नहीं होती, उसे हम दुश्मन समझेंगे और दुश्मन समझे जाने का फल उसे भुगतना होगा। हमारा उद्देश्य है कि भारत के जितने भी हिस्से को बन सके, आजाद करें, फिर शेष भाग की आजादी का मसला हल करेंगे। स्वाधीनता की ओर अपनी प्रगति में अब कोई भी रुकावट बर्दाश्त नहीं की जा सकती। (उप., पृ. ३३७)। माउण्टबाटन ने इस भाषण को लेकर नेहरूजी से अपना असन्तोष प्रकट किया। उन्होंने कहा, मैं आपको कुशल राजनीतिज्ञ और मित्र समझता था। मुझे भारी निराशा हुई है कि आप ग्वालियर में भड़कानेवाले भाषण देकर लोकप्रियता हासिल करनेवाले लेक्चरबाजों के स्तर पर उतर आये। नेहरूजी ने कहा कि अखबारों में उनके भाषण की रिपोर्ट ठीक-ठीक नहीं छपी। वह गरम मिजाज लेक्चरबाज बिलकुल नहीं हैं; इसके विपरीत "वह चरमपन्थी लोगों को काबू में रखे हुए हैं।" ("he was keeping the extreme elements in order.") (उप. ३६१-६२)।

अंग्रेज रियासतों के जरिये कांग्रेस पर यह दबाव डाल रहे थे कि वह डोमीनियन की हैसियत से कामनवेल्थ में रहे। यह बात भारत-सचिव लिस्टोवेल के नाम माउण्टबाटन के २४ अप्रैलवाले दस्तावेज से जाहिर होती है। माउण्टबाटन ने लिखा था, मैं इस बात से बिलकुल सहमत हूँ कि देशी रियासतों को डोमीनियन का दर्जा देने के बदले ब्रिटेन के साथ विशेष सन्धिवाले सम्बन्ध कायम करना चाहिए; यदि ब्रिटिश भारत डोमीनियन का दर्जा चाहे और रियासतें भारतीय संघ में शामिल हो जायें तो बात दूसरी है। (उप., पृ. ४०२)। इससे ध्वनि यह निकलती है कि यदि ब्रिटिश भारत औपनिवेशिक स्वराज्य स्वीकार करता है, कामनवेल्थ में बना रहता है, तो देशी रियासतें उस संघ में शामिल हो सकती हैं; ऐसा न होने पर रियासतें ब्रिटेन से अलग सन्धि कर सकती हैं।

२६ अप्रैल १९४७ के अंक में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' ने लिखा था, यदि कांग्रेस और लीग में ऐसा समझौता हो जाता है जिससे मुस्लिम बहुसंख्यक इलाके अपने अलग स्वाधीन राज्य बनाते हैं तो भारतीय संघ ब्रिटेन से इन राज्यों के सम्बन्ध कायम होने में बाधा न डालेगा। किन्तु यदि ब्रिटेन इनके साथ कोई ऐसी सन्धि करेगा जिसमें सैनिक या राजनीतिक धाराएँ होंगी तो भारतीय संघ इसे शत्रुतापूर्ण काम मानेगा। जहाँ तक देशी रियासतों का सम्बन्ध है, उन्हें इस बात की अनुमति नहीं दी जा सकती कि भारतीय संघ से अलग उनकी कोई विदेश-नीति हो या विदेश में कोई सम्पर्क हो। ब्रिटेन को ऐसी विदेश नीति अपनानी चाहिए जिसका आधार भारतीय संघ से दोस्ती हो। (उप., पृ. ४४३)। इसका आशय स्पष्ट है। यदि रियासतें स्वतन्त्र रूप से ब्रिटेन से सन्धि नहीं करतीं तो भारत और ब्रिटेन की दोस्ती बनी रहेगी यानी भारत कामनवेल्थ में रहेगा। त्रावनकोर के दीवान रामस्वामी अय्यर ने प्रस्ताव किया था कि त्रावनकोर को डोमीनियन का दर्जा देकर कामनवेल्थ का सदस्य बना लिया जाय। इस पर माउण्टबाटन ने कहा था, सदस्यता पूरे भारत की होगी; उसके बाहर भारत के किसी भाग की सदस्यता का मैं विरोधी हूँ, यद्यपि यह सम्भव है कि कामनवेल्थ का सदस्य बनने की लोकप्रिय माँग मुझे दरकिनार करते हुए कामनवेल्थ की जनता

से की जाये। (उप., पृ. ५६६)।

भारत कामनवेल्थ में रहे, अंग्रेजों को इस बात से गहरी दिलचस्पी
अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए वे रियासतो के अलावा पाकिस्तान क
शतरंज का मोहरा बनाये हुए थे। पहली मई को माउण्टबाटन ने अपने सहयो
से कहा था, जितना ही मैं सोचता हूँ, उतना ही यह विचार दृढ होता जाता है
अकेले पाकिस्तान को कामनवेल्थ मे रखना बहुत हानिकारक होगा। उस
मतलब होगा, भारत के एक हिस्से के खिलाफ दूसरे हिस्से का समर्थन करना
और इससे ब्रिटेन भी युद्ध की लपेट मे आ सकता है। व्यक्तिगत रूप से मैं चाहत
हूँ कि पूरा ब्रिटिश भारत कामनवेल्थ में रहे; पाकिस्तान कामनवेल्थ में रहेगा,
यह केवल कांग्रेस पर दबाव डालने के लिए है जिससे कि वह गोता लगाने का
फैसला कर सके। (उप., पृ. ५२३)।

अंग्रेजों के पास कांग्रेस पर दबाव डालने का एक साधन और था—ब्रिटिश
फौज और अंग्रेज अफसर। माउण्टबाटन ने २८ मार्च को ही अपने सहयोगियों से
कहा था कि जो भी फौज पर नियन्त्रण रखेगा, वह भारत पर नियन्त्रण रखेगा।
भारतीय फौज सौदा पटाने के लिए सबसे बडा मुद्दा है। (the biggest
bargaining point.) (उप., पृ. ३५)। भारत मे दंगे होगे तो फौज ही रक्षा
कर सकती है, यह भावना कांग्रेस और लीग के नेताओ मे माउण्टबाटन ने पुष्ट
की थी। उन्होने कैबिनेट के हर मन्त्री से पूछा था, क्या आप इस बात से सहमत है
कि भारत जैसे देश मे पुलिस दल के पीछे एक दल-निरपेक्ष ऊँचे दर्जे की चुस्त फौज
होगी, तभी कानून और व्यवस्था की रक्षा की जा सकती है ? सभी ने कहा कि वे
इससे सहमत हैं। (उप., पृ. ९२)। ब्रिटिश फौज की चुस्ती और योग्यता ब्रिटिश
अफसरो पर निर्भर थी। ब्रिटिश अफसर अधिक से अधिक दिन तक बने रहें, इस
आधार पर माउण्टबाटन सौदेबाजी कर रहे थे। इस सिलसिले मे उनसे कृष्ण
मेनन की बातचीत बहुत दिलचस्प थी।

कृष्ण मेनन ने माउण्टबाटन से कहा, चार साल से मेरा आप से परिचय है
या दोस्ती है। मैं दिल्ली में इसलिए ठहरा हूँ कि आपकी मदद करूँ और आपको
बताऊँ कि कांग्रेसी हल्को मे क्या हो रहा है, और कोई बहुत नाजुक मुद्दा हो जिसे
आप खुद न कहना चाहें तो उसे मै उन तक पहुँचा दूँ। माउण्टबाटन ने कहा, सेना
को विभाजित करने की माँग की जा रही है; उसके राष्ट्रीयकरण मे जल्दी करने
से वह इतनी कमजोर हो जायेगी कि जून १९४८ के बाद भी कुछ समय तक वह
विभाजित न की जा सकेगी। मेनन ने पूछा, क्या आप जल-स्थल और वायुसेनाओं
के ब्रिटिश अफसरों को जब तक हम चाहें यहाँ रहने देंगे और उन्हें हमे सौंप देंगे ?
माउण्टबाटन ने जवाब दिया, यह तो आप पर निर्भर है। मेनन ने पूछा, कैसे ?
ाउण्टबाटन ने समझाया, कोई भी अंग्रेज अफसर अपने कमीशन से इस्तीफा देकर
ारतीय सेवाओं के अन्तर्गत नौकरी करना न चाहेगा। यदि भारत तय करे कि
ह साम्राज्य से अलग न होगा और बादशाह से सम्बन्ध न तोड़ेगा तो जिन
सरों के पास शाही कमीशन है, वे भारत की सेवा मे बने रहेंगे। इससे भिन्न
रिस्थितियों में फील्डमार्शल ऑकिनलेक और जनरल स्लिम जैसे लोग बने रहेंगे,

इसकी आशा न करनी चाहिए और मैं नहीं समझता कि कोई और अफसर भी बना रहेगा।

इसके बाद कुछ देर तक यह चर्चा हुई कि भारत अपने पैरों से ब्रिटिश साम्राज्य की धूल झाड़ देगा, इस धारणा की शुरूआत कहाँ से हुई। मेनन ने कहा, संविधान सभा में स्वतन्त्र प्रभुसत्तासम्पन्न प्रजातन्त्र शब्दावली का व्यवहार हुआ, यह मेरी गढ़ी हुई है। माउण्टबाटन के अनुसार मेनन को अब अफसोस था कि उन्होंने ऐसी दो टूक शब्दावली इस्तेमाल की थी। उन्होंने पूछा, अब क्या करना चाहिए? माउण्टबाटन ने कई सुझाव दिये। उनमे एक यह था, डोमीनियन स्टेटस शब्दों का व्यवहार न कीजिए, कामनवेल्थ का स्वाधीन राष्ट्र या स्वाधीन भारत या यूनियन ऑफ इण्डिया जैसे शब्दों का प्रयोग कीजिये। "बादशाह (क्राउन) से सम्बन्ध हर्गिज न टूटने पाये, आयरलैण्ड तक ने यह सम्बन्ध कायम रखा था। स्वाधीन भारत मे काम करते हुए ब्रिटिश अफसर शाही कमीशन बनाये रहें, कम से कम इस हद तक उस सम्बन्ध को बनाये रखना जरूरी होगा।" (उप., पृ. ३११)। हिन्दुस्तानी अफसरों के लिए शाही कमीशन बनाये रखना जरूरी न होगा; उनमे अधिकांश के पास वाइसराय का कमीशन है।

मेनन ने कहा, बादशाह से सम्बन्ध बनाये रखने मे कांग्रेस को कठिनाई होगी। विशुद्ध राजनीतिक लडाई के उद्देश्य से कांग्रेस बादशाह को उत्पीड़न का प्रतीक मानकर आक्रमण करती रही थी, और "राजनीतिक दृष्टिकोण मे ऐसा बुनियादी परिवर्तन किया जाय तो जनता के सामने उसकी कैफियत देना मुश्किल होगा।" (उप.)। माउण्टबाटन ने कहा, यह सरदर्द आपका है; लड्डू खा लें और वह हाथ मे भी रहे, यह नहीं हो सकता। जब तक कांग्रेस बादशाह से सम्बन्ध कायम रखने की, और जनता के सामने कैफियत देने की तरकीब नही निकाल लेती, तब तक खेल मे मैं अगली चाल न चलूँगा। अब चाल कांग्रेस को चलनी है। "मुझे यह सख्त हिदायत हुई है कि भारत को कामनवेल्थ में शामिल करने के लिए कोई भी कोशिश न करूँ।" (उप., पृष्ठ ३१२)। इस हिदायतवाली बात पर माउण्टबाटन ने नोट लिखा था: "सिर्फ दाँव-पेंच के तौर पर यह बात कही गयी थी।" उस समय लन्दन मे एक समिति यह विचार कर रही थी कि भारत को कामनवेल्थ मे रखने से कितनी हानि कितना लाभ होगा। माउण्टबाटन को जो आदेशपत्र दिया गया था, उसमें उनके कहने पर यह आदेश शामिल किया गया था कि वह संयुक्त भारत को कामनवेल्थ मे शामिल करने का प्रयत्न करें। (उप., पृष्ठ ३१३)। इससे स्पष्ट है कि माउण्टबाटन को इस बात मे दिलचस्पी थी कि भारत कामनवेल्थ मे रहे। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने उन्हें जो आदेशपत्र दिया था, उसमे यह बात शामिल की गयी थी और माउण्टबाटन के कहने से शामिल की गयी थी। किन्तु वह कृष्ण मेनन को चकमा दे रहे थे और कह रहे थे, ऐसे कमजोर राष्ट्र को अपने सुरक्षा संगठन में शामिल किये बिना हमे स्टर्लिंग बैलेंस और मैत्रीपूर्ण सन्धि के जरिये सारे व्यापारिक लाभ प्राप्त हो जायेंगे। इस समय लन्दन में मीटिंग हो रही थी, उसकी भी यही राय थी। भारत कामनवेल्थ मे शामिल होना चाहे तो पता नहीं, बादशाह सलामत की सरकार उसे मंजूर करेगी या नहीं। मेनन ने पूछा, इस

बारे में आपकी अपनी राय क्या है ? "मैंने उनसे बड़ी आपसदारी में कहा, मैं
भावुक मूर्खों में हूँ जो किसी भी ऐसे राष्ट्र की सहायता को तत्पर रहते हैं
कामनवेल्थ में शामिल होना चाहे। लेकिन यह मेरी निजी राय भर है और
बिल्कुल सम्भव है कि ऐसी राय ज़ाहिर करने के लिए सत्ताधारी लोग मेरा प
गोल कर दें।" (उप., पृष्ठ ३१२)।

मेनन ने कहा, कांग्रेसी नेता सार्वजनिक रूप से पहला कदम नहीं उठा सकते
ऐसा करेंगे तो अब तक जनता से जो कुछ कहते आये थे, उसे उलटना पड़ेगा।
मेनन का प्रस्ताव यह था : "यदि अंग्रेज स्वेच्छा से अभी डोमीनियन स्टेटस दे दें,
जून १९४८ से काफी पहले दे दें, तो हम इतने कृतज्ञ होंगे कि जून १९४८ में कोई
तब्दीली करने के लिए एक आवाज़ भी न उठेगी। यदि उस समय तक डोमीनियन
शब्द का व्यवहार सचमुच किया गया, तो हो सकता है, उसको लेकर आवाज़
उठे।" (उप.)।

इस प्रकार १९४७ में भारत को विभाजित करने के साथ डोमीनियम स्टेटस
देने की बात तय हो रही थी। ९ मई को वाइसराय ने अपने सहयोगियों से कहा,
यदि जून १९४८ के पहले डोमीनियन स्टेटस देना है, तो यह काम १९४७ में ही
जाना चाहिए। यदि भारत को १९४७ में डोमीनियन स्टेटस दिया जाता है तो
अच्छा होगा कि जल्दी से जल्दी ब्रिटिश फौज यहाँ से चली जाय। उसके जाने में
कुछ समय लगेगा। उस अन्तरिम अवधि में गवर्नर जनरल को विशेष अधिकार
प्राप्त होने चाहिए कि वह तै करे कि ब्रिटिश फौज कहाँ इस्तेमाल की जाय। इसके
अलावा यह प्रावधान भी होना चाहिए कि भारत की दोनों बड़ी पार्टियों की
सहमति के बिना उसका उपयोग न किया जाय। (उप., पृष्ठ ७०३)।

कांग्रेस और लीग से समझौता करके अंग्रेज़ों ने क्या खोया और क्या पाया,
यह जानने के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रूस सम्बन्धी नीति को बराबर
ध्यान में रखना चाहिए। अंग्रेज़ों के लिए कामनवेल्थ और डोमीनियन स्टेटस इन
दो शब्दों का मूल अर्थ यह था कि साम्राज्यवाद की आक्रामक व्यवस्था में भारत
को शामिल किया जाय। इसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। लियाकत अली खाँ
ने १० अप्रैल की बातचीत में माउण्टबाटन की यह बात मानी कि दुनिया में इस
समय दो ही महत्वपूर्ण शक्तियाँ हैं। एक है ब्रिटिश कामनवेल्थ का गुट जो संयुक्त
राज्य अमरीका से सम्बद्ध है, दूसरी ताकत रूस है। माउण्टबाटन ने पूछा, क्या
आप रूस से दोस्ती करने को तैयार हैं और इस दोस्ती का जो नतीजा निकलेगा,
उसके लिए तैयार हैं? लियाकत अली ने सिर हिलाया और कहा, नहीं कभी
नहीं। तब माउण्टबाटन ने कहा, आप देख रहे हैं कि कामनवेल्थ में आपके रहने
की आशा तभी है जब बाकी भारत भी ऐसा करना चाहे। यह तभी हो सकता है
जब सब लोग किसी ऐसी व्यापक योजना से सहमत हों जिसके अन्तर्गत मुस्लिम
लीग, देशी रियासतें और कांग्रेस, सभी कम से कम पाँच साल के लिए कामनवेल्थ
में रहना चाहें। लियाकत अली इस उद्देश्य से पूरी तरह सहमत थे। (उप., पृष्ठ
-३३)। माउण्टबाटन के दिमाग में तीन इकाइयाँ थीं: पाकिस्तान, हिन्दुस्तान
और देशी रियासतें। तीनों को वे उस कामनवेल्थ में रखना चाहते थे जो संयुक्त

राज्य अमरीका से सम्बद्ध है। कामनवेल्थ और अमरीका ये दोनों मिलकर मुख्य साम्राज्यवादी जंगबाज गुट के रूप में उभर रहे थे। माउण्टबाटन इस गुट में भारत को शामिल करना चाहते थे। मद्रास के गवर्नर आर्चीवाल्ड नाइ ने २ मई को 'माई डियर डिकी' अर्थात् माउण्टबाटन के नाम पत्र में लिखा था, कोई भी जानकार आदमी इस बात से असहमत न होगा कि अगले कुछ दशकों में विश्व-शान्ति के लिए खतरा रूस से ही पैदा हो सकता है। यह खतरा सम्भाव्य (पोटेंशियल) है क्योंकि मेरे विचार से अभी अगले दस साल तक रूस लड़ाई न करेगा। यदि रूस सामान्य रूप में सारी दुनिया के लिए खतरा है तो उसकी जैसी भौगोलिक स्थिति है, उसे देखते हुए वह भारत के लिए विशेष रूप में खतरा है। दरअसल निकट भविष्य पर निगाह डालें तो यह कहना उचित है कि भारत के लिए एकमात्र खतरा रूस की ओर से है। (उप., पृष्ठ ५५६)। १९४७ से १९८२ तक विश्व साम्राज्यवाद की रूस सम्बन्धी नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और इस नीति का विरोध करना जितना जरूरी १९४७ में था, उतना ही १९८२ में है। लेकिन मद्रास के गवर्नर का विचार था कि भारत से ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए विशेष सहायता नहीं मिल सकती। उनकी समझ में इसका कारण यह था कि यदि रूस तै करे कि उसे भारत पर अधिकार करना है, तो भारत के साम्राज्य में रहने से उसका बचाव न हो सकेगा। इसलिए आर्चीवाल्ड नाइ का मत था कि भारत को कामनवेल्थ में रखने से ब्रिटेन का बोझ बढ़ जायेगा और लाभ कुछ न होगा। स्पष्ट ही प्रमुख साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ इस दृष्टिकोण से सहमत न थे।

जिस समय स्वाधीन बंगाल की बात हो रही थी, उस समय शरत्‌चन्द्र बोस और किरण शंकर राय ने एक दस्तावेज तैयार किया था। उसमें कहा गया था कि बंगाल समाजवादी प्रजातन्त्र होगा। इस दस्तावेज के बारे में माउण्टबाटन ने सुहरावर्दी से कहा, यदि समाजवादी प्रजातन्त्र शब्द अभी स्वीकार किये गये, तो बंगाल ब्रिटिश कामनवेल्थ में प्रवेश न कर सकेगा, शेष भारत कुछ भी करे। यदि वे किसी और बड़ी ताकत का सहारा लेने की सोच रहे हैं तो वह ताकत सोवियत समाजवादी प्रजातन्त्र संघ ही हो सकती है। यदि वे स्वाधीन होना चाहते हैं तो बंगाल का नाम काफी होगा, जरूरत हो तो उसे स्वाधीन राज्य कह सकते हैं। जब संविधान बन जाय, तब वे उस राज्य को कुछ भी कह सकते हैं लेकिन मौजूदा मंजिल में पहले से संविधान में क्या लिखा जायेगा, यह सोच लेना मूर्खता है। (उप., पृ. ८४९-५०)। माउण्टबाटन को समाजवादी शब्द से परहेज था, उससे भी ज्यादा सोवियत संघ से परहेज था। नीति यह थी कि जो दो नये राज्य बनें, वे ब्रिटेन के समर्थक और सोवियत संघ के विरोधी हों।

अंग्रेज भारत में अपने फौजी अड्डे नहीं कायम कर सके, साम्राज्यवाद की सुरक्षा-योजना में और युद्ध की योजनाओं में भारत को नहीं खींच सके, इसका एक कारण यह है कि १९४७ में (और उसके बाद भी) भारतीय पूंजीवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्तर्विरोध बना हुआ था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कारण यह है कि १९४५ और ४६ में न केवल साम्राज्यवाद पर बल्कि कांग्रेस पर भी

भारतीय जनता के क्रान्तिकारी उभार का दबाव था। क्रान्तिकारी उभार को प्रेरित करनेवाला एक मुद्दा आजाद हिन्द फौज के बन्दी सैनिकों की रिहाई का था। यह मुद्दा इतना लोकप्रिय था कि मुस्लिम लीग भी उसका विरोध करने में असमर्थ थी। जब माउण्टबाटन ने कहा कि युद्ध के बन्दियो को जबर्दस्ती आजाद हिन्द फौज मे भर्ती किया गया था, तब लियाकत अली ने कहा, इस बारे में देश के लोगों की राय लगभग एक ही है। लोगो के लिए यह समझना मुश्किल है कि २० हज़ार तो छोड़ दिये गये और सिर्फ १२ के खिलाफ कार्रवाई की जाने-वाली है। माउण्टबाटन ने कहा कि इनके खिलाफ कोई राजनीतिक आरोप नही है, इन्होंने अपने देशवासियो के विरुद्ध क्रूर व्यवहार किया था। (उप., पृ. ७७)। अंग्रेजों ने राजनीतिक अपराध का आरोप वापस ले लिया था, अब अपनी इज्ज़त बचाने के लिए क्रूर व्यवहार के नाम पर १२ आदमियों पर मुकदमा चलाना चाहते थे। केन्द्रीय सभा मे आज़ाद हिन्द के फौजियों का मसला पेश हुआ। इसके बारे मे ६ अप्रैल की रिपोर्ट मे माउण्टबाटन ने लिखा कि आजाद हिन्द फौज के मामले को लेकर पिछले हफ्ते विशेष कठिनाइयों का सामना करना पडा। १२ फौजियो का मामला केन्द्रीय सभा मे सभी पार्टियों की ओर से पेश हुआ। नेहरू और लियाकत दोनो ने मुझे विश्वास दिलाया कि यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो जायेगा, यह निश्चित है। "यदि मैने सभी पार्टियो के सर्वसम्मत प्रस्ताव का विरोध करने के लिए सरकार को बाध्य किया तो पूरी सरकार इस्तीफा देने को बाध्य हो जायेगी।" (उप., पृष्ठ १७०)। अंग्रेज़ो के सामने ऐसा मामला दरपेश था जिसमे वे लीग को अपनी बनायी लीक पर चलाने मे असफल हो रहे थे। और कांग्रेस के तमाम अहिंसावादी प्रचार के बावजूद भारतीय जनता की सहानुभूति आज़ाद हिन्द फौजियो के साथ थी। उनकी रिहाई का विरोध करने की ताकत किसी में न थी। कुछ माउण्टबाटन झुके, कुछ उन्होंने सेनापति आकिनलेक को झुकाया और समझौता हो गया। किन्तु यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि सीमित मताधिकार की बुनियाद पर चुनी हुई केन्द्रीय सभा में कोई भी दल फौजियो की रिहाई का विरोध करने की जुर्रत न करता था। इससे नतीजा यह निकलता है कि क्रान्तिकारी उभार का संचालन सही ढंग से करके उसे अजेय बनाया जा सकता था और या तो कांग्रेस और लीग के नेता उसके सामने झुकने को विवश होते या फिर उसके रास्ते से दूर ठेल दिये जाते।

बिहार सरकार ने गवर्नर की सलाह के खिलाफ आजाद हिन्द फौज के तीन सौ जवानों को भ्रष्टाचारविरोधी पुलिस दल मे भर्ती किया। गवर्नर का कहना था कि इनमें अनुशासन नही है और ये निर्दोष आदमियोको मारेंगे। माउण्टबाटन की रिपोर्ट के अनुसार उन्होंने कांग्रेस के सदस्य अब्दुल बारी को मार डाला। जान-बूझकर मारा या गलती से मारा, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। रिपोर्ट में accident-ally killed शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनका यही अर्थ हो सकता है कि अब्दुल बारी गलती से मारे गये थे। रिपोर्ट के अनुसार इससे मुख्यमन्त्री बहुत दुखी हुए और वह उन्हें निःशस्त्र करने और भ्रष्टाचारविरोधी दल को भंग करने के लिए सहमत हो गये। किन्तु शाह नवाज ने मृदुला साराभाई को समझाया-

बुझाया और मृदुलाजी गांधीजी के निकटवर्ती लोगों मे थीं, इसलिए मामला हल न हुआ। (उप., पृष्ठ ४०४)। लेकिन कुछ समय बाद भ्रष्टाचारविरोधी दल को भंग कराने मे अंग्रेज़ो को सफलता मिली।

माउण्टबाटन ने विहार के मुख्यमन्त्री श्री कृष्णसिंह से कहा, यह जानकर मुझे दुख हुआ है कि आप अपनी निजी सेना तैयार कर रहे हैं। इस पर मुख्यमन्त्री ने आश्चर्य प्रकट किया और जोरों से प्रतिवाद किया। माउण्टबाटन ने कहा, मैं भ्रष्टाचारविरोधी दल की बात कर रहा हूँ। मुख्यमन्त्री ने समझाया कि यह सरकारी दल है और बिल्कुल कानूनी है। भ्रष्टाचार के मामले मे पुलिस का भरोसा नही किया जा सकता, इसलिए इस दल का निर्माण हुआ है। आजाद हिन्दी फौजियों के बारे में कुछ और चर्चा करने के बाद माउण्टबाटन ने उन्हे सलाह दी कि अपनी निजी सेनाओं को भंग कर दें, एक मजबूत अनुशासनबद्ध पुलिस-दल का निर्माण करें। जितनी जल्दी हो सके फौज की सहायता लेना बन्द करें, कानूनविरोधी कार्यवाही के खिलाफ दृढता से कदम उठाएँ और दिखा दें कि वह बिहार का शासन करने पर तुले हुए है। (उप., पृष्ठ ५६५)।

क्रान्तिकारी उभार में बिहार की अपनी भूमिका उल्लेखनीय है। ३ अप्रैल को भारत सचिव पेथिक लारेन्स ने माउण्टबाटन को लिखा था, अव्यवस्थावाले प्रान्तों से हाल मे जो रिपोर्टे मिली हैं, उनसे मालूम होता है कि कानून और व्यवस्था की हालत में सुधार हो रहा है, यद्यपि बिहार की पुलिस-हड़ताल बड़ी परेशानी पैदा करनेवाला नया लक्षण है। १९४२ की घटनाओं ने दिखा दिया था कि हमारी सारी व्यवस्था मे सबसे कमजोरी की जगह बिहार है, हो सकता है कि बिहार की पुलिस को बर्मा की पुलिस से प्रेरणा मिली हो। वहाँ फासिस्टविरोधी लीग बादशाह सलामत की सरकार के खिलाफ़ पुलिस को मोहरा बनाकर खेली। अब वहाँ के नेताओं को पद ग्रहण करके ज़िम्मेदारी सम्हालनी पड़ रही है; बहुत देर से अब उनकी समझ मे यह बात आयी है कि पुलिसदल की विश्वसनीयता बहुत जल्दी खत्म की जा सकती है, उसे बनाने मे बहुत समय लगता है। (उप., पृष्ठ १०६)।

२४ अप्रैल को माउण्टबाटन ने अपनी रिपोर्ट में लिखा, बिहार के गवर्नर ने मुझे बताया है कि कांग्रेस सरकार कमजोर और अक्षम है; उनकी राय मे लगभग आधे मन्त्री ऐसे हैं जो इंग्लैण्ड मे किसी जिला-परिषद में भी बैठने लायक नहीं हैं। बिहार मे भरोसे लायक पुलिसदल अब प्रायः है ही नहीं। गैरकानूनीपन और फौज के बीच मे कोई रक्षा दल है ही नही। कहीं थोड़ा भी उपद्रव हो तो फौज बुलानी पड़ती है। (उप., पृ. ४०३-४०४)। इससे परिणाम यह निकला कि यदि दो-चार जगह बिहार की-सी स्थिति हो जाती तो अंग्रेज हर जगह फौज भेजने को बाध्य होते और फौज का भरोसा किया न जा सकता था, यह हम देख चुके है। माउण्टबाटन ने पुलिस की अनुशासनहीनता के लिए बिहार के मन्त्रि-मण्डल को दोष दिया था लेकिन उन्हे फौज के अनुशासन का भी बहुत भरोसा न था। सैनिक और अफसरो मे अधिकांश ऐसे थे जो स्वाधीनता-आन्दोलन मे सक्रिय भाग लेना चाहते थे, उन्हें इस आन्दोलन से और आजाद हिन्द फौज से सहानुभूति

थी। किन्तु भारतीय फौज में कुछ अफसर ऐसे भी थे जो सोच रहे थे कि सत्ता पर उनका अधिकार होना चाहिए और देश मे लोकतन्त्र नहीं फौजी तानाशाही कायम होनी चाहिए। ४ मई को माउण्टबाटन ने इस्मे को सूचना दी, लियाकत अली से मालूम हुआ है कि स्टाफ कालेज के भारतीय अफसरों मे ब्रिगेडियर करिअप्पा यह प्रचार कर रहे है कि जब हम सत्ता सौंपें, तब यहाँ फौजी तानाशाही कायम की जाय। लियाकत ने कहा कि ऐसा प्रचार दिल्ली में भी हो रहा है। (उप., पृ. ६०३)। १० मई को इस्मे ने माउण्टबाटन को सूचना दी, आकिनलेक को इसके बारे में कुछ मालूम नहीं। रिपोर्ट स्पष्ट ही सच है। करिअप्पा कल मुझसे मिलने आये; उन्होंने यह अद्‌भुत प्रस्ताव रखा कि जब हम यहाँ से जून १९४८ मे जायँ, तब भारतीय फौज सत्ता सम्हाले और प्रधान सेनापति नेहरू या जिन्ना हो। इस्मे ने करिअप्पा से कहा, यह खयाल दिमाग से बिलकुल निकाल दीजिए और गुप्त रूप मे भी किसी के सामने कहियेगा नहीं। इस्मे की समझ मे नहीं आया कि करिअप्पा ने यह प्रस्ताव भोले-भालेपन और अज्ञान के कारण रखा था या बात चालाकी और खतरे की थी। (उप., पृ. ७५५)।

दूसरी मई को माउण्टबाटन ने बिहार के मुख्यमन्त्री से कहा, मुझे इस बात से दुख हुआ है कि आपका पुलिसदल भरोसे लायक नहीं रह गया और आखिर में उसने बगावत कर दी। जब रामानन्द तिवारी पुलिस मे गडबडी फैला रहे थे, तब आपने उन्हें गिरफ्तार क्यों नहीं किया? मुख्यमन्त्री ने कहा, कोई सबूत नहीं मिला। एक पुस्तिका मिली थी, न्यायविभाग ने कहा कि इसमे गडबडी का कोई सबूत नहीं है। मैंने आदेश दिया है कि वह पुलिस को बगावत के लिए भड़काते दिखायी दें तो उन्हें पकड़ ले। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। (उप., पृ. ५६४)। ८ मई को सरदार पटेल ने माउण्टबाटन को लिखा, "बिहार के मुख्यमन्त्री से इस मसले पर मेरी बातचीत हुई है; मैंने जोर देकर उन्हें समझा दिया है कि अपने पुलिस-दल मे सख्त अनुशासन कायम रखना और उसका मनोबल ऊँचा बनाये रहना जरूरी है। उन्होंने वादा किया है कि इसके लिए वह हर सम्भव प्रयत्न करेंगे। और मुझे शक नहीं है कि वह अपना वादा पूरा करेंगे। मैंने उनसे यह भी कहा है कि इस काम मे उन्हें मेरा पूरा समर्थन मिलेगा। आप गवर्नर को आश्वस्त कर सकते हैं कि मुख्यमन्त्री इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो भी कदम उठाना जरूरी समझेंगे, उसका समर्थन करने मे मैं कुछ भी उठा न रखूंगा।" (उप., पृ. ६६९)। कांग्रेस के प्रमुख नेता क्रान्तिकारी उभार को दबाने के लिए किस तरह अंग्रेजों के साथ मिलकर हर सम्भव उपाय कर रहे थे, उसका यह स्पष्ट प्रमाण है। सरदार पटेल को बिहार के सोशलिस्टों से खास परेशानी थी। उसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा था "पुलिसदल के आम जवानों में गड़बड़ी फैलाने के लिए सोशलिस्ट जो कुछ कर रहे हैं, गवर्नर ने उसका हवाला भी दिया। कांग्रेस की कार्यसमिति इस मसले पर विचार कर रही है और आप आश्वस्त रहें, वह उचित कारंवाई करेगी।" (उप., पृ. ६६९-७०) कानून और व्यवस्था के लिए माउण्टबाटन जिम्मेदार थे; साम्प्रदायिक उपद्रव दबाने के लिए वह न तो खुद कुछ करते थे और न सरदार पटेल को कुछ करने देते थे, लेकिन पुलिस के क्रान्तिकारी आन्दोलन

को दवाने के लिए वह सरदार पटेल को इस्तेमाल कर रहे थे और सीधे मुख्यमन्त्री पर भी दवाव डाल रहे थे।

दूसरी अप्रैल को वम्बई के गवर्नर ने माउण्टवाटन को रिपोर्ट भेजी थी, "राजनीतिक रूप से वे लोग [कांग्रेसी मन्त्री] यह समझने लगे है कि उनके असली विरोधी कांग्रेस सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट है। वातचीत में उनमें कुछ लोग परेशानी जाहिर करते हैं कि जून १६४८ के वाद वे अकेले पड़ जायेंगे। ब्रिटेन के साथ किस तरह के सम्बन्ध होंगे, यह वताने से वे झिझकते है। आपको शायद इस जानकारी से दिलचस्पी होगी कि मैंने आपके और लेडी माउण्टवाटन के स्वागत में जो तार वम्बई की जनता और सरकार के नाम पर भेजा था; वह दरअसल सरकार की ओर से ही था और मुख्यमन्त्री से सलाह करके लिखा गया था। यह वात हमारे प्रति सद्भावना सूचित करती है और ऐसी सद्भावना पहले कांग्रेसी हलक़ों में नही थी।" (उप., पृ. ८७)।

क्रान्तिकारी उभार से अंग्रेज ही नही, कांग्रेसी नेता भी परेशान थे। उनमे कुछ तो ऐसे थे जो अंग्रेजों को विदा करने के नाम पर हृदय से मना रहे थे कि वे अभी वहुत दिन तक यहाँ वने रहें। अंग्रेजों के प्रति सद्भावना, सोशलिस्टों और कम्युनिस्टों के प्रति वैरभाव, कांग्रेस के भीतर यह रुझान ज़ोर पकड़ रहा था। वम्बई में ट्राम और बिजली कर्मचारियों ने हड़ताल की थी। वम्बई के मुख्यमन्त्री ने किसी नेता को गिरफ्तार किये बिना हड़ताल समाप्त करा दी थी। इससे वह वहुत प्रसन्न थे और उन्होंने अपनी यह प्रसन्नता माउण्टवाटन के सामने भी प्रकट की। वम्बई के मुख्यमन्त्री वाल गंगाधर खेर को माउण्टवाटन क्या समझते थे, उस भेंटवार्ता के विवरण से यह स्पष्ट है। माउण्टवाटन ने नोट किया था: जिस तरह वम्वई की ट्राम, विजली की हड़ताल को लेकर समझौता करा दिया गया था और किसी हड़ताली को गिरफ्तार करने की नौवत न आयी थी, उस पर उन्होने अपनी पीठ ठोंकी। उन्होंने कहा कि उनकी सरकार वहुत बढ़िया है और यूरोपियन लोगों से सम्बन्ध विल्कुल दोस्ताना है। उन्होंने वताया कि इसका वहुत वड़ा कारण पारसी समाज का प्रभाव है। उन्होंने कहा, वम्बई आकर आप किसी क्लव मे देखें, अंग्रेजों और भारतवासियों के वीच कैसी स्वच्छन्दता और मैत्री है। (उप., पृ. ५८८)। जितना ही कांग्रेसी नेता माउण्टवाटन को खुश करने की कोशिश करते थे, उतना ही वे माउण्टवाटन की निगाह में गिरते थे। गोविन्द वल्लभ पन्त से अपनी मुलाकात के बारे मे माउण्टवाटन ने लिखा: "उन्होंने स्वेच्छा से यह बयान दिया कि अंग्रेजों और भारतवासियों के बीच ऐसी सद्भावना पहले कभी नही रही, पिछले दो महीनो में यह भावना खासतौर से वढ़ी है। उनका विचार था कि यह उन थोड़ी सी वढ़िया चीजों में है जो [ब्रिटिश सरकार के] ऐलान से पैदा हुई हैं। औरों की तरह उन्होंने भी मेरी तारीफें की और वोले कि समस्या हल करने के लिए मैं सही आदमी हूँ। मैंने जवाब दिया, अब मैं समझ रहा हूँ, आप यू. पी. के मुख्यमन्त्री कैसे वने।" (उप., पृ. ५६०-६१)। क्या यू. पी., क्या महाराष्ट्र, मुख्यमन्त्रियों मे होड़ लगी थी, माउण्टवाटन की तारीफें कौन ज्यादा करता है!

१९४६-४७ मे अंग्रेज और उनके हिमायती जनक्रान्ति के उभार से कितना आतंकित थे, बहुत से लोग आजकल उसकी कल्पना नही कर सकते। वी. टी. कृष्णमाचारी जयपुर के दीवान थे। उन्होने भोपाल के नवाब को लिखा था : एक बात मेरे दिमाग में सबसे ऊपर है। समय बीतता जा रहा है; संविधान का मामला हल करने में देर होने से देश के ऐसे तत्व मजबूत होते जाते है जो चाहते है कि उपद्रव हो। ये कम्युनिस्ट और दूसरे लोग हैं। समय आ गया है कि देश के रचनात्मक तत्व एकजुट हों और इनसे लड़ें। दरअसल अभी भी काफी देर हो चुकी है। (उप., पृ. २४१)।

बंगाल के गवर्नर के सचिव टाइसन ने माउण्टबाटन और उनके सहयोगियों को बताया कि बंगाल के गवर्नर चाहते है कि केन्द्रीय सरकार कम्युनिस्टों को गैर-कानूनी घोषित कर दे। मद्रास के गवर्नर आर्चीबाल्ड नाइ ने कहा कि मद्रास मे कुछ कम्युनिस्टों को जेल मे डाल दिया है, इसलिए नही कि वे कम्युनिस्ट है बल्कि इसलिए कि उन्होंने किसी न किसी रूप में कानून तोड़ा है। लेकिन यह तो केवल अस्थायी उपाय है। "उन्होंने यह राय जाहिर की कि भारत के कम्युनिस्ट संगठनों को रूस से पैसा मिलता है, इस विश्वास को सिद्ध करने के लिए कोई सुबूत नही है।" (उप., पृ. २७६)। वाइसराय ने कम्युनिस्टों के प्रति नाइ के व्यवहार से और रूस कम्युनिस्टों को पैसा नही देता, उनकी इस बात से सहमति जाहिर की। वाइसराय का विचार था कि "कम्युनिस्टों को गैरकानूनी घोषित करना बहुत ही खतरनाक काम होगा। यह बिलकुल फासिस्टों का सा काम होगा।" (उप., पृ. २७७)। कम्युनिस्ट पार्टी को गैरकानूनी घोषित करने की बदनामी अंग्रेज इस समय अपने सिर न लेना चाहते थे, लेकिन वाइसराय ने गवर्नरों को हिदायत की कि अपने सूबों में कम्युनिस्ट कार्यवाही की सूचना अपनी पाक्षिक रिपोर्ट मे देते रहें।

अमरीका में भारतीय स्वाधीनता का समर्थन करनेवाला 'इण्डिया लीग' नाम का एक संगठन था। इसके अध्यक्ष सरदार जे. जे. सिंह ने माउण्टबाटन से मुलाकात की। उनका विचार था कि युद्ध के बाद हर देश मे जो कुछ हुआ है, वह भारत मे भी होगा। जब तक कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजों से छुट्टी पाना था, तब तक सभी वर्ग विदेशी शत्रु के मुकाबले में एक थे। जैसे ही यह संघर्ष समाप्त होगा, वैसे ही नये राजनीतिक और आर्थिक गुट उभर आयेंगे। ऐसे नये नेता सामने आयेंगे जिनके नाम अभी लोग नहीं जानते, जैसे कि १९१६ के रूस मे लोग लेनिन, त्रोत्स्की और स्तालिन के नाम न जानते थे। इस समय यहाँ जो करेन्सकी के जोड़ीदार है, कुछ महत्वपूर्ण व्यक्तियों को छोड़कर, वे सत्ता से हटा दिये जायेंगे। "सरदार सिंह ने यह मत प्रकट किया कि आर्थिक क्रान्ति भारत मे बहुत जल्दी होगी और उसके बाद शायद भौतिक क्रान्ति (फ़िज़ीकल रिवोल्यूशन) हो और सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट आदर्श उभरकर आयेंगे और कोई भी चीज इसे रोक नही सकती।" (उप., पृ. ९९)। वाइसराय ने कहा : आप पहले भारतवासी है जिसने ऐसी राय जाहिर की है। सरदार सिंह ने कहा, मैं बाहर रहा हूँ, इसलिए यहाँ की घटनाओं को ज्यादा वस्तुगत रूप से देख सकता हूँ।

वी. पी. मेनन अंग्रेजों के खास आदमी थे, विश्वस्त राजकर्मचारी थे। उन्होंने अपने एक नोट में लिखा था : राजनीतिक क्षेत्र में घोर निराशा फैली हुई है। भारत में राजनीतिक दृश्य तेजी से बदल रहा है और जल्दी फैसला करना बहुत जरूरी है। "गैरकानूनीपन बढ़ता जा रहा है। पूंजी और श्रम की टक्कर बराबर बनी हुई है; बहुत जल्दी हमारी राजनीतिक परेशानियों में आर्थिक अस्थिरता का इजाफा होगा। मन से चाहे जितना चाहे, भारत में अंग्रेजी राज (ब्रिटिश अथॉरिटी) गम्भीरतापूर्वक इनमें किसी भी समस्या से निपट नहीं सकता क्योंकि वह घोषित रूप में अब विसर्जन की प्रक्रिया में है। हम अन्तिम दिन और अन्तिम घड़ी की बात पर डटे रहेंगे तो शायद देखेंगे कि देश में उथल-पुथल हो गयी है और उसके लिए एक हद तक जिम्मेदारी बादशाह सलामत के सिर मढ़ी जायेगी।" (उप., पृ. ४३८)। शासनकेन्द्र में सम्बद्ध होने के कारण वी. पी. मेनन को पता था कि देश में कहाँ क्या हो रहा है। इसलिए १९४८ के बदले १९४७ में ही वह बादशाह सलामत की सरकार के सिर को जिम्मेदारी से बचाते हुए उथल-पुथल की और उससे निपटने की जिम्मेदारी कांग्रेसी नेताओं के सिर थोप देने का विचार कर रहे थे।

वाइसराय के निजी सचिव सर एरिक चार्ल्स मियेविल ने ९ मई को माउण्ट-बाटन, मेनन तथा अन्य सहयोगियों के सामने यह राय जाहिर की थी : यह सम्भव है कि नया संविधान बनने तक भारत दो-तीन साल के लिए कामनवेल्थ में रहे। "उसके बाद हो सकता है, आम चुनाव हों और भारत में सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट सरकार सत्तारूढ़ हो जाये और तब भारत कामनवेल्थ से बाहर हो जाये।" (उप., पृ. ७०३)।

१८४७-४८ में मार्क्स और एंगेल्स ने लिखा था : यूरुप को एक भूत सता रहा है, यह भूत कम्युनिज्म का है। सौ साल बाद यह भूत यूरुप से एशिया पहुँच गया था और वह साधारण अंग्रेजों को ही नहीं, वाइसराय के निजी सचिव को सताने लगा था। और इसमें भय भारत में उन्हीं लोगों को नहीं था जो सुधारवादी और दक्षिणपन्थी कहलाते हैं, कुछ ऐसे लोग जो वामपन्थी के रूप में मशहूर हुए, वे भी उससे परेशान थे। वाइसराय से १० मई की भेंट में कृष्ण मेनन ने कहा : डोमीनियन स्टेटस के आधार पर सत्ता सौंपने की बात सबसे पहले मैंने कही थी। ऐसी योजना का एक आकर्षण यह था कि पण्डित नेहरू सोचते थे कि वाइस-राय रियासतों को प्रभावित कर सकेंगे। मुख्य कठिनाई यह है कि पण्डित नेहरू और सरदार पटेल मान भी गये तो बाकी कांग्रेस को समझाना पड़ेगा। कांग्रेस बहुत ध्यान से देखती है कि उसका वामपक्ष टूटता है कि नहीं। "यदि वामपक्ष ने मौजूदा नेताओं पर यह अभियोग लगाया कि उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन के हाथ अपने को बेच दिया है, तो वे नेता खतम हो जायेंगे।" (उप., पृ. ७२१)। इस प्रकार कृष्ण मेनन दक्षिणपन्थियों के बचाव के लिए चिन्तित थे, डोमीनियन स्टेटस की बात कांग्रेस के गले से कैसे उतारी जायेगी, इस बारे में चिन्तित थे। वाइसराय ने पण्डित नेहरू से कहा कि सत्ता सौंपने की तारीख जून १९४८ रखी गयी थी। आशा है कि उससे साल भर पहले सत्ता सौंप दी जायेगी। भारत को यह लाभ होगा कि

ब्रिटिश अफ़सर यहाँ बने रहेंगे। नेहरूजी ने कहा, जून १९४८ की तारीख रद्द कर दी जाय तो इसमें लोगों के मन में शक पैदा होगा। वाइसराय ने कहा, गवर्नर जनरल के सामने एक निर्धारित तारीख होनी ही चाहिए जिस तक वह काम पूरा करने की कोशिश करे। यदि इस तारीख का सम्बन्ध केवल इस बात से रखा गया कि भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों पर फिर से विचार किया जायेगा तो इस को लेकर आन्दोलन हो सकता है। इस सिलसिले में वाइसराय ने जयप्रकाश नारायण का नाम लिया। नेहरूजी ने कहा, मैं भी चाहता हूँ कि आन्दोलन न हो। कांग्रेस के नेता डोमीनियन स्टेटस के अर्द्धस्थायी रूप से सहमत हो गये हैं, इस बात के खिलाफ आन्दोलन चलाये जाने की सम्भावना ज्यादा है। जयप्रकाश नारायण पिछले दिनों बहुत गैरजिम्मेदारी से काम करते रहे हैं लेकिन वह बुद्धिमान और ईमानदार आदमी है। मुझे सन्देह नहीं है कि वह भविष्य में यहाँ महत्वपूर्ण भूमिका निबाहेंगे। उन्हें किसी एक लाइन की तरफ मैं ला सकता हूँ लेकिन वह लाइन ऐसी हो कि लगे, गाड़ी आगे चल रही है और उसके आगे चलने पर उन्हें विश्वास हो जाये। हमारे ऊपर प्रभुत्व या शोषण का कोई अवसर उनके सामने न होना चाहिए। एक बार डोमीनियन स्टेटस चालू हो जायेगा तो बहुत सम्भव है, नया वातावरण बने। ("He must see no opportunities for domination or exploitation. Once, however, the new Dominion Status began to function a new atmosphere might well be created.")

वाइसराय ने कहा, मैं आपसे सहमत हूँ। बीच की अवधि कब समाप्त होगी, यह बता दिया जाये तो आपका उद्देश्य और आसानी से सिद्ध होगा। यदि आपके मन्सूबों के बारे में जयप्रकाश नारायण को शक होगा तो वह बीच की अवधि कब खत्म होगी, यह बताने से दूर हो जायेगा। (उप., पृ. ७३४)।

यहाँ दो बातें एक साथ हो रही हैं। नेहरूजी जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन को दबाव डालने के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। माउण्टबाटन से कह रहे हैं, ऐसी लाइन निकालिये कि भारत पर आपके प्रभुत्व या शोषण का कोई अवसर कहीं दिखायी न दे। ऐसी लाइन निकलने पर ही आन्दोलन को रोका जा सकता है। दूसरी तरफ वह डोमीनियन स्टेटस के आधार पर समझौता करना चाहते हैं और आशा करते हैं कि नया वातावरण बनेगा तो लोग इस बात पर ध्यान न देंगे कि कांग्रेस ने अंग्रेजों से समझौता किया है। एक तरफ अंग्रेजों से समझौता करना जरूरी है, समझौता न करने का मतलब होगा क्रान्ति और इसके लिए कांग्रेस तैयार नहीं है। दूसरी तरफ कांग्रेस को भारतीय पूँजीवाद के विकास के लिए ज्यादा से ज्यादा अवसर और सुविधाएँ चाहिए। ये दोनों बातें एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। यदि क्रान्ति होती है तो सत्ता पूरी तरह कांग्रेस के हाथ में न होगी, उद्योग धन्धों का विकास दूसरे ढंग से होगा, पूँजीपतियों को मुनाफा कमाने की पूरी छूट न होगी। अंग्रेज सोच रहे थे, भारत हमारी सुरक्षा-योजना में शामिल हो जाये तो बहुत अच्छा है, न शामिल हो तो हमसे आर्थिक सम्बन्ध बनाये रहे, हमारी पूँजी यहाँ लगी रहे, और पूँजी लगाने की सुविधा बनी रहे। इसके लिए डोमीनियन स्टेटस को नया रूप दिया जा सकता है।

ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री ने २३ मई को अपने सहयोगियों से कहा था, ऐसा लगता है कि तुरत स्वाधीनता दें तो इससे जो कठिनाइयाँ पैदा होंगी, उनके बारे में कुछ कांग्रेसी नेता चिन्तित हो रहे हैं। पण्डित नेहरू और सरदार पटेल ने वाइसराय से कहा था कि विभाजन होता है तो हिन्दू-भारत (हिन्दू-इण्डिया) को डोमीनियन स्टेटस कम से कम अस्थायी रूप में देना चाहिए। इसके लिए वे अपने समर्थकों को यह कहकर राजी करेंगे कि डोमीनियन स्टेटस जून १९४८ से काफी पहले मिल रहा है, इसमें सत्ता भारतीय हाथों में आ जायगी; एक बार डोमीनियन स्टेटस मिल गया तो हिन्दू भारत जब चाहे, कामनवेल्थ से अलग हो सकेगा। ब्रिटेन का बादशाह अभी तक भारत का शाहंशाह (एम्परर) होता था, अब वह सिर्फ बादशाह रहेगा। भारत के जो हिस्से डोमीनियन स्टेटस पायेंगे, वह उनका बादशाह होगा। (उप., पृ. ९६५-६६)।

भारत के क्रान्तिकारी उभार का दबाव कांग्रेस पर था, इसलिए जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के लोगों की राय को अनदेखी न कर सकते थे। इस परिस्थिति में भारत की अपेक्षा अंग्रेजों को पाकिस्तान का बड़ा भरोसा था। अमरीकियों के सहयोग से वे आगे क्या करने जा रहे थे, यह एक तरह से २२ अप्रैल को मीटिंग में माउण्टबाटन ने कृष्ण मेनन को बता दिया था। उन्हें चाय पिलाते हुए उन्होंने कहा था, यदि पाकिस्तान कामनवेल्थ की जनता से अपील करता है कि हमें शामिल कर लो, तो हो सकता है कि वह ब्रिटिश डोमीनियन बन जाय। ऐसा होता है तो भारत में जितने भी ब्रिटिश अफसर होंगे, उन्हें वह अपने यहाँ सेवा के लिए बुला सकेगा। अफसरों का शाही कमीशन बना रहेगा और वे पाकिस्तान में काम करेंगे। जो सामान हिन्दुस्तान को मिलेगा, वह पाकिस्तान को मिलेगा। इसके अलावा पाकिस्तान को वह गुप्त सामान भी मिलेगा जो कामनवेल्थ से बाहर रहनेवाले किसी देश को नहीं दिया जाता। पाकिस्तान के लोग हमारे स्कूलों में पढ़ने आ सकेंगे, हमारी प्रयोगशालाओं में काम कर सकेंगे और ज्ञान-विज्ञान में नयी से नयी चीजों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। दरअसल ब्रिटिश और अमरीकी हथियारों की और तकनीकी सहायता से पाकिस्तान के पास बहुत जल्दी ऐसी फौज तैयार हो जायेगी जो हिन्दुस्तान की फौज से कहीं ज्यादा बढ़-चढ़कर होगी। शुरू में स्पष्ट ही पाकिस्तान कुछ घाटे में रहेगा लेकिन कोई कारण नहीं कि ब्रिटिश और अमरीकी सहायता से वह इसे पूरा न कर ले। मेरा खयाल है कि ब्रिटिश कामनवेल्थ के भीतर करांची जैसे स्थान जलसेना और वायुसेना के बड़े अड्डे बन जायेंगे। ("In fact backed by British and American arms and technique Pakistan would in no while have armed forces immensely superior to those of Hindustan, and in spite of the obvious disadvantages from which they would at first suffer, there was no reason why they should not be able to rise above these with British and American help; and I presumed that places like Karachi would become big naval and air bases within the British Commonwealth.") (उप., पृ. ३७२)।

माउण्टबाटन की कला इस बात में है कि वह जो करनेवाले थे, उसे पहले से

बता देते थे, फिर भी उनके साथ का खिलाड़ी कुछ भी न कर पाता था। उन्होने मुस्लिम लीग को बता दिया था कि वह आत्महत्या की राह पर चल रही है और मुस्लिम लीग बड़ी मुस्तैदी से उस रास्ते पर बढती गयी। उन्होने कृष्ण मेनन को आगाह कर दिया था कि अंग्रेज और अमरीकी दोनो मिलकर पाकिस्तान को इतने और ऐसे हथियार दे सकते हैं कि उसकी फौज हिन्दुस्तानी फौज से कही ज्यादा ताकतवर हो जाये और करांची जैसे स्थान अंग्रेजों की जलसेना और वायुसेना के मजबूत अड्डे हो सकते हैं। किन्तु कृष्ण मेनन पाकिस्तान का अलग राज्य स्थापित होने को नही रोक सके, स्थापित न हो इसके लिए कोई नीति नही निर्धारित कर सके। कारण यह था कि वह अंग्रेजों से लड़ने के लिए तैयार न थे, वह संविधान-वादी समाधान के वैसे ही समर्थक थे जैसे जवाहरलाल नेहरू या सरदार वल्लभ भाई पटेल। जब माउण्टबाटन ने पाकिस्तानी फौज को मजबूत बनाने और पाकिस्तान मे फौजी अड्डे कायम करने की बात कही थी, तब कृष्ण मेनन से यह छिपा न रहा होगा कि यह सब बन्दोबस्त किसके खिलाफ होगा। इसलिए पाकिस्तान की स्थापना मंजूर करके उन्होंने विश्वशान्ति के लिए खतरा मंजूर किया था। माउण्टबाटन ने अंग्रेजों के साथ अमरीकियों का नाम भी लिया था क्योंकि वह जानते थे कि दोनों मिलकर ही अपनी सोवियत विरोधी योजना को अमल में ला सकते हैं। वह पाकिस्तान को सोवियत संघ के खिलाफ युद्ध का अड्डा बनाना चाहते थे। इसके साथ ही वह उसे भारत पर दबाव डालने के लिए इस्तेमाल भी करना चाहते थे। १९४७ के समझौते से ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय पूंजीवाद का अन्तर्विरोध समाप्त न हो गया था। इसलिए भारत पर दबाव डालते रहना जरूरी था। भारतीय पूंजीवाद ने सन् २० मे आन्दोलन चलाया, फिर समझौता किया। सन् ३० का आन्दोलन चलाया, फिर समझौता किया। सन् ३५ के कानून के अन्तर्गत सन् ३७ मे मन्त्रिमण्डल बनाये, फिर सन् ४२ में आन्दोलन चलाया और सन् ४७ मे समझौता किया। समझौता करना उसके लिए नयी बात नहीं थी। हर बार समझौते के बाद अन्तर्विरोध गहरा हुआ, समाप्त नही हो गया। कांग्रेस के नेता समझौता करते है, समझौतावादी नीति पर चलते है, यह बात वामपक्षी नेता ही नही कांग्रेस के नेता भी कह चुके थे। जवाहरलाल नेहरू ने आत्मकथा मे इस नीति की आलोचना की थी। कांग्रेस के उसी नेतृत्व ने अंग्रेजों से समझौता किया तो यह कोई नयी और अनोखी बात नही थी। नयी बात यह थी कि दूसरे महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद कमजोर हुआ, उस पर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का दबाव था।

(घ) ब्रिटिश संविधानवाद की परिणति—माउण्टबाटन की योजना

कांग्रेस की स्थापना २७ दिसम्बर १८८५ को हुई थी। उसके संस्थापक एक अंग्रेज आई. सी. ऐस. अफसर ऐलन ऑक्टेवियन ह्यूम थे। स्थापना का कारण यह था कि "वह असन्तोष का ज्वार देखकर चौकन्ने हुए और लोकभावना को रचनात्मक सरणियों की ओर प्रेरित करने के लिए उपाय ढूंढने मे जुट गये।" (वी. पी. मेनन : दि ट्रांसफर ऑफ पावर; दिल्ली : १९६८; पृ. ५)। यह

असन्तोष का ज्वार कांग्रेस ने पैदा न किया था। १८५८ में ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने औपचारिक रूप में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्थान लिया था; ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के शासन के विरुद्ध महारानी विक्टोरिया की भारतीय प्रजा में यह असन्तोष वेग से फैल रहा था। उसे रचनात्मक मार्ग की ओर ले जाने के लिए ह्यूम ने कांग्रेस की स्थापना की थी।

कांग्रेस की स्थापना के बीस साल बाद लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। उनका कहना था कि प्रान्त बहुत बड़ा है और शासन करने में कठिनाई होती है। "विभाजन की रेखा इस तरह खींची गयी थी कि प्रान्त दो साम्प्रदायिक भागों में बँट गया; एक में हिन्दू बहुसंख्यक थे, दूसरे में मुसलमान बहुसंख्यक थे। लोगों ने इस कार्य का यह अर्थ लगाया कि लार्ड कर्जन बंगाल के नये पुनर्जागरण को पंगु बना देना चाहते हैं।" (उप., पृ. ६)। जनजागरण से निपटने के लिए अंग्रेजों ने भारत में पहली बार साम्प्रदायिक विभाजन का अस्त्र इस्तेमाल किया। इसके लिए उन्होंने आवश्यक तैयारी न की थी। स्वदेशी आन्दोलन की शक्तिशाली लहर आयी। कर्जन इस्तीफा देकर इंग्लैण्ड गये। १९११ में बंगाल का विभाजन निरस्त कर दिया गया। किन्तु अंग्रेजों ने तैयारी का काम भी स्वदेशी आन्दोलन के उभार के साथ शुरू कर दिया।

अक्तूबर १९०६ में आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलमानों का एक शिष्टमण्डल वाइसराय लार्ड मिण्टो से मिला। शिष्टमण्डल ने कहा कि मुसलमानों ने साम्राज्य की खिदमत की है; उनके लिए अलग प्रतिनिधित्व की व्यवस्था होनी चाहिए। लार्ड मिण्टो ने कहा, मैं आपकी राय से सहमत हूँ। इस महाद्वीप में जो सम्प्रदाय रहते हैं, उनके रीतिरिवाज और विश्वासों को दरकिनार करते हुए व्यक्तिशः मताधिकार का चलन किया गया, तो यह निर्वाचन पद्धति बुरी तरह असफल होगी। (उप., पृ. ९)। लेडी मिण्टो ने मुसलमानों को साम्प्रदायिक आधार पर अलग मताधिकार देने की बात से प्रसन्न होकर अपनी डायरी में लिखा कि ६ करोड़ २० लाख लोगों को राजद्रोहियों की पाँति में मिलने से बचा लिया गया। (उप.)। आशय यह कि अंग्रेज अलग चुनाव क्षेत्रों द्वारा मुसलमानों को साम्राज्यविरोधी आन्दोलन से दूर रख सकेंगे। लार्ड मिण्टो ने जो आश्वासन दिया था, "लगभग उसके प्रत्यक्ष परिणाम के रूप में आल इण्डिया मुस्लिम लीग की स्थापना हुई।" (उप.)। लीग का पहला अधिवेशन दिसम्बर १९०६ में हुआ। १९०९ में अंग्रेजों ने इण्डियन कौन्सिल्स ऐक्ट नाम का कानून बनाया और इसमें मुसलमानों के अलग प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गयी।

१९१४ में पहला विश्वयुद्ध शुरू हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने अंग्रेजी राज के प्रति वफादारी का ऐलान किया। "लेकिन परिस्थिति में कुछ परेशानी पैदा करनेवाली बातें थीं जैसे कि सिंगापुर में पाँचवीं (लाइट इन्फैण्ट्री) पल्टन का विद्रोह, पंजाब में गदर आन्दोलन और बंगाल में आतंकवादी आन्दोलन।" (उप., पृ. ११)। १९१६ में कांग्रेस और लीग ने समझौता किया। इस समझौते का आधार मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रों का अलगाव था। अलगाव के आधार पर एकता! पंजाब में ५० फीसदी, बंगाल में ४० फीसदी, बम्बई में ३३

मुस्लिम जनता का खून बहाया। १९४७ में उन्होंने ऐसी व्यवस्था की कि हिन्दू, सिक्ख और मुसलमान खुद एक-दूसरे का खून बहायें। रौलट ऐक्ट और जलियान-वाला बाग का जवाब इस देश ने असहयोग आन्दोलन से दिया। "आम जनता में जैसा उत्साह था और जैसी एकता पैदा हुई थी—जिसकी परिणति १९२१ में प्रिन्स आफ वेल्स का वहिष्कार था—वैसी एकता, वैसा उत्साह भारतीय स्वाधीनता संग्राम के अगले दौर में भी देखने को नहीं मिला। जिस समय असहयोग आन्दोलन ने सरकार को बेहद परेशान कर दिया था, उस समय गांधीजी ने उसे बन्द न कर दिया होता, तो सम्भव है कि भारतीय भावना के तुष्टीकरण के लिए सरकार कोई कदम उठाती।" (उप., पृ. २९)। कांग्रेसी नेता आन्दोलन रोकने की यही भूमिका १९४५-४७ में निवाहनेवाले थे। अन्तर यह था कि यह दूसरा आन्दोलन उनके नेतृत्व में न चलाया गया था।

अक्तूबर १९२३ में स्वराज पार्टी ने अपने चुनाव घोषणापत्र में कहा कि उसका उद्देश्य जल्दी से जल्दी डोमीनियन स्टेटस प्राप्त करना है। इसके लिए जरूरी है कि मौजूदा शासनतन्त्र पर भारतीय जनता का अधिकार हो। यदि यह माँग न मानी गयी तो वे केन्द्रीय सभा और प्रान्तीय समितियों में ऐसे अड़ंगे लगायेंगे कि इनके जरिये शासन चलाना असम्भव हो जायेगा। (उप., पृ. ३०)। १९३७ में कांग्रेसी नेताओं ने जब मन्त्रिमण्डल बनाये, तब उन्होंने इसी तरह विधानसभाओं के भीतर घुसकर सन् ३५ का कानून तोड़ने की बात कही थी।

१९२३-२४ में कांग्रेस ने कई बार साम्प्रदायिक समस्या हल करने के लिए समझौतों के मसौदे तैयार किये लेकिन कोई नतीजा न निकला; "दरअसल साम्प्रदायिक स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ती गयी" (उप., पृ. ३०)। नवम्बर १९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गयी। कमीशन का काम था कि भारत आकर परिस्थिति का अध्ययन करे, लोगों की राय जाने और सुधारों के बारे में अपने सुझाव दे। कमीशन का भारतव्यापी बहिष्कार हुआ; उसकी तुलना १९४६ में आजाद हिन्द फौजियों के रिहाई आन्दोलन की व्यापकता से की जा सकती है। अक्तूबर १९२९ में वाइसराय इरविन ने घोषणा की : १९१९ के कानून को लेकर ब्रिटिश सरकार के मन्सूबों के बारे में कुछ शंकाएँ ब्रिटेन और भारत में प्रकट की गयी है; बादशाह सलामत की सरकार की ओर से मैं अधिकार-पूर्वक कहता हूँ कि सरकार का मत है कि १९१७ की घोषणा में यह तथ्य निहित है कि भारत की संवैधानिक प्रगति की नैसर्गिक परिणति उसके द्वारा डोमीनियन स्टेटस की प्राप्ति है। (उप., पृ. ३८)। भारतीय नेताओं ने इस घोषणा का स्वागत किया। २ नवम्बर १९२९ को उन्होंने एक बयान जारी किया। उसमें "नेताओं ने आशा प्रकट की कि भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप डोमीनियन का संविधान बनाने के लिए बादशाह सलामत की सरकार जो प्रयत्न करेगी, उससे वे सहयोग कर सकेंगे।" (उप., पृ. ३९)। इस बयान पर सर तेजबहादुर सप्रू और मोतीलाल नेहरू के साथ गांधीजी और प. जवाहरलाल नेहरू के हस्ताक्षर थे। संविधान रचना के प्रयत्नों में ब्रिटिश सरकार से इसी तरह सहयोग का आश्वासन कांग्रेसी नेताओं ने १९४५-४७ में दिया। दिसम्बर १९२९ में

कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्यवाला प्रस्ताव पास किया।

नवम्बर १९३० मे पहला गोलमेज सम्मेलन हुआ। वी. पी. मेनन के अनुसार यह सम्मेलन बहुत सफल रहा। इसकी सबसे बडी उपलब्धि सघ-व्यवस्था की स्वीकृति थी। तेजबहादुर सप्रू ने देशी रियासतो के शासकों से कहा कि वे संघ-व्यवस्था का समर्थन करें। बीकानेर के महाराज और भोपाल के नवाब ने कहा कि उनकी आन्तरिक प्रभुसत्ता की गारण्टी दी जाय तो वे प्रस्तावित फेडरेशन में आने को तैयार है। देशी रियासतों के शासक संघ मे शामिल होने या न होने के अपने अधिकार को लेकर १९४५-४७ मे भी मोलभाव करनेवाले थे। पहले गोलमेज सम्मेलन मे काग्रेस शामिल नही थी। इस सम्मेलन की उक्त उपलब्धि की विशेषता यह थी कि अंग्रेज देशी रियासतो के रूप मे एक नया मोर्चा कायम करके भावी भारतीय संघ की केन्द्रीय सत्ता को यथासम्भव कमजोर बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। अंग्रेज और उनके हितैषी इस बात से चिन्तित थे कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन जोर पकड़ रहा है और हो सकता है कि रियासतों में भी फैल जाये। मेनन के शब्दो मे देशी रियासतों के "शासको ने ब्रिटिश भारत मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन की दिशा पहचान ली थी। यदि यह आन्दोलन उनकी रियासतो में फैलाया गया, तो उसका परिणाम क्या होगा, इस बारे मे उन्हें कोई भ्रम न था। इसके अलावा यदि वे ब्रिटिश भारत की प्रगति में बाधक हुए तो देश के मौजूदा तेवर देखते हुए कहा जा सकता था कि इमसे वे तुरत अपने लिए मुसीबत मोल लेंगे। जहाँ तक मुस्लिम लीग का सम्बन्ध है, वह सदा शक्तिशाली केन्द्र की विरोधी रही थी। उसने अनुमान किया कि राजा लोग संघ मे शामिल होंगे तो ऐसे केन्द्र का बनना निश्चित है जिसके अधिकार में कम-से-कम विषय होंगे, मूल अधिकार (residuary powers) संघ की इकाइयों मे निहित होंगे।" (उप., पृ. ४४)। गोलमेज सम्मेलन की सफलता और उसकी महान् उपलब्धि का रहस्य यही था। सविनय अवज्ञा आन्दोलन का जवाब देने के लिये अंग्रेज़ों ने मुस्लिम लीग, देशी रियासतों और सप्रू-जयकर आदि लिबरलों के मुहरे आगे बढाकर कमज़ोर केन्द्रवाले संघीय विधान की चाल चली। इसी विधान का अगला रूप यह होगा कि प्रान्तों के अलग-अलग गुट बनेंगे, कौन प्रान्त किस गुट में शामिल होगा, इस बात को लेकर झगड़े होंगे, कोई प्रान्त संघ में शामिल न होना चाहे, तो उसके अलग होने के अधिकार की बात उठेगी और अन्त में एक केन्द्र की जगह दो केन्द्र कायम हो जायेंगे।

दूसरा गोलमेज़ सम्मेलन १९३१ मे हुआ। इसमे कांग्रेस की ओर से गाधीजी शामिल हुए। "मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों ने हल्ला मचाया कि और कारंवाई से पहले उनके अधिकारों की बात तै हो जानी चाहिए।" (उप., पृ. ४६)। ठीक यही काम वे १९४५-४७ में करनेवाले थे यानी जो अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि बने हुए थे, वे अपने सम्प्रदायों को स्वाधीनता-आन्दोलन से दूर रखने और उसके विरोध में उन्हें खड़ा करने के लिए अंग्रेज़ों के इशारे पर, अंग्रेजों द्वारा आयोजित संविधानवार्ताओं में, इसी तरह

हल्ला मचानेवाले थे। गांधीजी ने इनसे वार्ताएँ करके समस्या का समाधान ढूँढने की बड़ी कोशिश की पर वह सफल न हुए। ठीक इसी तरह वह १९४५-४७ में असफल होनेवाले थे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने गोलमेज सम्मेलन का समापन करते हुए "साम्प्रदायिक समस्या के बारे में कहा कि यद्यपि यह जबर्दस्त बाधा है, किन्तु उसे प्रगति की राह रोके रहने की इजाजत न दी जायेगी। वह समस्या विशेषरूप से भारतवासियों के लिए है कि वे उसे आपसी समझौते के जरिये हल करें लेकिन यदि वे ऐसा करने में असमर्थ बने रहते हैं तो सरकार अपनी अस्थायी योजना लागू करने को बाध्य होगी।" (उप., पृ. ४६)। अंग्रेज आगे भी यही करनेवाले थे लेकिन उन्होंने ज्यादा चतुराई की; अपनी योजना भारतीय नेताओं पर लादने के बदले उन्होंने नेताओं से कहलवाया—ऐसी ही योजना से समस्या हल होगी। मेनन के अनुसार गोलमेज सम्मेलन के "इस दूसरे अधिवेशन का एकमात्र नतीजा यह निकला कि कांग्रेस तथा अल्पसंख्यकों, विशेष रूप से मुस्लिम लीग, के बीच का फ़ासला और बढ़ गया।" (उप., पृ. ४७)।

ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ने १६ अप्रैल १९३२ को साम्प्रदायिक समस्या के बारे में अपना पच-फैसला सुनाया। बंगाल के ५४.७ फीसदी मुसलमानों को वहाँ की विधानसभा की कुल २५० सीटों में ११९ सीटें मिलीं; संयुक्त प्रान्त के १५.३ फीसदी मुसलमानों को प्रान्तीय सभा की २२८ सीटों में ६६ सीटें दी गयीं। अछूतों को जो अलग प्रतिनिधित्व दिया गया था, उसके विरुद्ध गांधीजी ने भूख हड़ताल की। अम्बेदकर से परामर्श करने के बाद कुछ भारतीय नेताओं ने समझौता कराया जो पूना पैक्ट के नाम से विख्यात हुआ। ब्रिटिश सरकार ने इसे मंजूर किया। मेनन के अनुसार "बादशाह सलामत की सरकार की अपेक्षा पूना पैक्ट ने दलित वर्गों के प्रति और भी अधिक उदारता दिखायी।" (उप., पृष्ठ ४९)। १९३४ में कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया। "उसने बादशाह सलामत के साम्प्रदायिक पंचफैसले को अस्वीकार नहीं किया; उसने उसे राष्ट्रवाद को नकारनेवाला कहकर उसकी आलोचना भर की।" (उप., पृष्ठ ५०)।

१९३५ में गवर्मेण्ट आफ इण्डिया ऐक्ट पास हुआ। उसमें यह विधान था कि ब्रिटिश प्रान्तों और देशी रियासतों का संघ बनाया जायेगा। प्रान्त संघ के सदस्य होंगे, रियासतें उसमें शामिल होती हैं या नहीं, यह उनकी इच्छा पर निर्भर होगा। देशी रियासतों का सम्बन्ध भारत सरकार से न रहेगा वरन् बादशाह सलामत के भारतस्थित प्रतिनिधि के माध्यम से होगा। भारत सरकार माने गवर्नर जनरल; बादशाह सलामत का प्रतिनिधि माने वाइसराय। जो व्यक्ति गवर्नर जनरल था, वही वाइसराय था। दोनों में सूक्ष्म भेद करना ब्रिटिश कूटनीति का कमाल था। बादशाह सलामत का प्रतिनिधि देशी रियासतों का काम राजनीतिक विभाग के जरिये निपटायेगा। जब जवाहरलाल नेहरू भारत की अन्तरिम सरकार में शामिल होंगे तब राजनीतिक विभाग की कार्यवाही उनसे गुप्त रखी जायेगी। वह उसे प्रकट करने के लिए जोर लगायेंगे लेकिन वाइसराय उसके कागज पत्र कभी उन तक पहुँचने न देंगे।

१६३५ के कानून की दूसरी विशेषता यह थी कि भारत सरकार और प्रान्तों के सम्बन्ध संघीय आधार पर कायम थे। यद्यपि वास्तविक सत्ता केन्द्र तथा प्रान्तों में गवर्नर जनरल और गवर्नरों के माध्यम से अंग्रेज़ों के हाथ में थी, फिर भी विधान यह था कि "प्रान्तीय सरकार पूर्णतः स्वायत्त थी और वे तथा केन्द्र सरकार शासन के दो क्षेत्रों में काम करती थीं जो परस्पर असम्बद्ध थे।" (उप., पृ. ५२)। इस कागज़ी स्वायत्तता से लाभ यह हुआ कि जब भारत का संविधान बनाने की बात चली तो प्रान्तों को विशेष गुटों में बाँट दिया गया और भारत के संयुक्त बने रहने पर भी उसे अमल में विभाजित कर दिया गया। दूसरा लाभ यह हुआ कि बंगाल में गवर्नर के सहयोग से मुस्लिम लीग ने जब कत्लेआम संगठित किया तब वाइसराय ने प्रान्तीय स्वायत्तता के नाम पर सरदार वल्लभभाई पटेल को वहाँ जाने से रोक दिया।

दिसम्बर १६३६ में कांग्रेस का फ़ैज़पुर अधिवेशन हुआ। कांग्रेस ने अपना यह निश्चय दोहराया कि "वह इस संविधान को स्वीकार न करेगी वरन् विधान सभाओं के भीतर और बाहर उससे लड़ेगी जिससे कि उसे ख़त्म किया जा सके।" (उप., पृ. ५३)। १६३७ में चुनाव हुए। ४८५ मुस्लिम सीटों में मुस्लिम लीग केवल १०८ सीटें जीत सकी। गोलमेज़ सम्मेलन के बाद जिन्ना इतने निराश हो गये थे कि उन्होंने भारत छोड़कर लन्दन में बसने का विचार कर लिया था। सन् ३५ वाला कानून जब सन् ३७ में अमल में आया, तब वह फिर सक्रिय हुए। (हेक्टर बोलिथो : जिन्ना—क्रिएटर आफ़ पाकिस्तान; लन्दन, पृष्ठ १००)। जुलाई में कांग्रेस ने मंत्रिमण्डल बनाने का फ़ैसला किया। मन्त्रिमण्डलों के कार्यकाल में मुस्लिम लीग का प्रभाव तेज़ी से बढ़ा।

१६३८ में मुस्लिम लीग ने पीरपुर के नवाब की अध्यक्षता में एक जाँच समिति बनाई। उसे यह काम सौंपा गया कि वह कांग्रेस सरकारों द्वारा मुसलमानों पर किये हुए ज़ुल्मों पर रिपोर्ट दे। अल्पसंख्यकों की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी अभी गवर्नरों पर थी। गवर्नरों ने कहा कि ज़ुल्मों का आरोप निराधार है। जिन्ना चाहते थे कि प्रीवी कौन्सिल के एक विधि विशेषज्ञ लार्ड की अध्यक्षता में जजों का रायल कमीशन गठित किया जाय और वह ज़ुल्मों के आरोपों की जाँच करे। कांग्रेस ने जाँच के सुझाव पर कोई आपत्ति न की किन्तु "वाइसराय के कहने से बात वहीं ख़त्म कर दी गयी।" (मेनन, दि ट्रान्सफ़र, पृ. ७०)। वाइसराय का विचार था कि "आरोप में कुछ भी सार नहीं है; जाँच का यह परिणाम स्वयं जिन्ना के लिए घातक हो सकता था!" (उप.)।

युद्ध छिड़ने पर वाइसराय लिनलिथगो ने घोषणा की कि जर्मनी के ख़िलाफ़ लड़ाई में भारत भी शामिल है। केन्द्रीय सभा ने भारत सुरक्षा बिल (डिफ़ेन्स आफ़ इंडिया बिल) पास किया। वाइसराय ने यह भी ऐलान किया कि संघ बनाने की बात स्थगित कर दी गयी है। भावी संविधान के बारे में अभी कुछ कहना सम्भव न होगा किन्तु वाइसराय एक सुरक्षा सम्पर्क समिति बनाने को तैयार हैं। इसके अध्यक्ष वाइसराय होंगे, समिति जब तब बुलाई जायगी और वाइसराय उसे आवश्यक गुप्त सूचनाएँ देंगे और युद्ध सम्बन्धी कोई कठिनाई हुई तो उसकी चर्चा

करेंगे। इस सिलसिले मे वाइसराय ने गांधीजी से बातचीत की। "वाइसराय ने इस बात पर जोर दिया कि विभिन्न पार्टियों मे सहमति नही है और साम्प्रदायिक समस्या विकट और अत्यन्त गम्भीर है।" (उप., पृ. ६२)। बात अंग्रेजों द्वारा युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा करने की थी किन्तु वे साम्प्रदायिक समस्या को यों पेश कर रहे थे मानो इस समस्या के कारण ही उन्हे उद्देश्यों की घोषणा करने मे कठिनाई हो रही है।

बादशाह सलामत की सरकार की नीति के बारे मे वाइसराय ने १७ अक्तूबर १९३९ को बयान दिया। कांग्रेस ने बयान की आलोचना करते हुए कहा, इसमे वही पुरानी साम्राज्यवादी नीति दोहरायी गयी है। उसने कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डलों से त्यागपत्र देने को कहा।

पहली नवम्बर को लिनलिथगो ने गांधीजी, राजेन्द्र प्रसाद और जिन्ना से एक साथ बातचीत की। "वाइसराय ने कहा कि बड़े सम्प्रदायों के बीच सहमति नही है; केन्द्र का काम सामंजस्यपूर्ण ढंग से चले, इसके लिए ऐसी सहमति जरूरी है। सहमति न होने के कारण ही वह परामर्शसमिति बनाने से ज्यादा और कोई सुझाव न दे सके। कांग्रेस और लीग की कार्यसमितियों के प्रस्तावों से उनके बीच का फासला बहुत साफ दिखायी दे रहा था। इसलिए विचार यह था कि वे लोग आपस मे बातचीत करें जिससे कि प्रान्तीय क्षेत्र मे सहमति का आधार प्राप्त हो जाय, उसके बाद गवर्नर जनरल की कार्यपरिषद के प्रसार के लिए प्रस्ताव वाइस-राय को दे दें।" (उप., पृ. ६७)। युद्ध के बाद अंग्रेज मुस्लिम लीग को किस तरह इस्तेमाल करनेवाले थे, इसका आभास उन्होंने युद्ध आरम्भ होते ही दे दिया था। किन्तु कांग्रेस ने लीग की असहमति की चिन्ता न करके १९४२ मे आन्दोलन छेड़ने की घोषणा कर दी थी। ऐसा वह १९४५-४७ में भी कर सकती थी पर उसने ऐसा किया नही, उल्टा आन्दोलन करनेवालो को वह बराबर रोकती रही। इसके महत्वपूर्ण कारण रहे होंगे। १९४२ मे कांग्रेसी नेताओं ने समझा था कि साम्राज्यवाद इतने संकट मे है कि थोड़े समय के आन्दोलन से झुक जायेगा। आन्दोलन कैसा रूप लेगा, इसका पता उन्हें स्वयं न था क्योंकि उसे चलानेवाले अधिकतर सोशलिस्ट तथा अन्य वामपक्षी कांग्रेसजन थे। १९४५-४७ मे जो क्रान्तिकारी उभार आया, उस पर कांग्रेस का नियन्त्रण नही था और उसका परि-णाम यह हो सकता था कि सत्ता कांग्रेसी नेताओं को न मिले, केन्द्र मे ऐसी सत्ता हो जो पूँजीवाद के विकास पर अंकुश लगा दे। पूँजीवाद के विकास पर साम्राज्य-वाद अंकुश लगाये रहे, पहले की तरह नही, कम कठोर रूप में, यह उन्हें मंजूर था; वे जानते थे कि भारत के कुछ बड़े पूँजीपति विदेशी पूँजी के सहयोग से औद्योगिक विकास की योजनाएँ चालू कर रहे हैं। भारत का विभाजन होने से घरेलू बाजार भी विभाजित होता था; यह भी उन्हे मंजूर था। राष्ट्रीय एकता का मतलब था क्रान्ति और क्रान्ति का मतलब था, पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों के हाथ से सत्ता की बागडोर का अंततः निकल जाना। इसलिए १९४२ मे लीग की असहमति की चिन्ता किये बिना कांग्रेसी नेता भारत छोड़ो की बात कर सकते थे, १९४५-४७ मे वह ऐसा न कर सकते थे। १९४६ के उत्तरार्ध और १९४७ के

पूर्वार्ध में अंग्रेजों के सहयोग से मुस्लिम लीग ने इतने हत्याकाण्ड संगठित किये थे कि पाकिस्तान समेत समस्त भारतीय जनता का आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक भविष्य दाँव पर था, इस समय क्रान्ति ही इस भविष्य की रक्षा कर सकती थी, १९४२ की तुलना में इस समय क्रान्ति कहीं अधिक आवश्यक थी, और ब्रिटिश शासनतन्त्र के टूटने, पुलिस और फौज मे विद्रोह फूटने से क्रान्ति की सम्भावना ही नहीं, उसकी आसन्न सफलता भी प्रत्यक्ष थी। ऐसे समय कांग्रेसी नेताओं ने क्रान्तिकारी उभार से लाभ उठाते हुए भी उसे भरसक नियन्त्रित किया और अंग्रेजों से सौदेबाजी करके 'शान्तिपूर्वक' सत्ता के हस्तान्तरण की व्यवस्था की। साम्प्रदायिक हत्याकाण्डों की विभीषिका से अंग्रेजों ने कांग्रेस को डराया और उसके नेता मान गये कि विभाजन के अलावा समस्या का और कोई समाधान नहीं है। ये नेता बहुत अच्छी तरह जानते थे कि विभाजन से साम्प्रदायिक समस्या हल न होगी, साम्प्रदायिक हिंसा और भी बढ़ेगी।

"१९३९ में जब युद्ध शुरू हुआ, तब जिन्ना केवल पंजाब पर नामचार के प्रभाव का दावा कर सकते थे। किन्तु इस समय तक [अर्थात् युद्ध समाप्त होने के बाद] जिन प्रान्तों को वह पाकिस्तान में शामिल करने की माँग करते थे यानी असम, सिन्ध, बंगाल और पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश, इन पर भी लीगी मन्त्रिमण्डलों का नियन्त्रण हो गया।" (उप., पृष्ठ १४८)। अंग्रेजों की सहायता के बिना यह करिश्मा सम्भव नहीं था। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के इस्तीफा देने के बाद कुछ समय तक असम मे स्थायी मन्त्रिमण्डल न बना। सर मुहम्मद सआदुल्ला ने पहले मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया। दिसम्बर १९४१ मे शिक्षामन्त्री रोहिणीकुमार चौधरी ने त्यागपत्र दिया और नयी पार्टी बनायी। रोहिणीकुमार चौधरी कांग्रेसी सदस्यों की सहायता से नया मन्त्रिमण्डल बनाने को तैयार थे। लेकिन गवर्नर ने कहा कि वह ऐसा मन्त्रिमण्डल स्वीकार न करेंगे जो "ऐसी पार्टी के समर्थन पर निर्भर है जिसने युद्ध-प्रयत्न में सहयोग देना अस्वीकार किया है।" (उप.)। अंग्रेजों ने समस्या का समाधान यह निकाला कि अगस्त १९४२ में उन्होंने विधान सभा के आधे कांग्रेसी सदस्यों को नजरबन्द कर दिया, फिर सआदुल्ला को 'बहुमत' के आधार पर लीगी मन्त्रिमण्डल बना लेने दिया।

सिन्ध के मुख्यमन्त्री अल्लाह बख्श ने खान बहादुर और ओ. बी. ई. के खिताब छोड़ दिये। गवर्नर ने कहा, मुख्यमन्त्री ने बादशाह सलामत के प्रति वफादारी की कसम खायी है. खिताब छोडने की बात वफादारी की कसम से मेल नहीं खाती। गवर्नर ने मुख्यमन्त्री को बर्खास्त कर दिया। मुस्लिम लीग के समर्थन से सर गुलाम हुसेन हिदायतुल्ला ने नया मन्त्रिमण्डल बनाया। पहले वह अल्लाह बख्श के साथ थे, अब वह मुस्लिम लीग मे शामिल हो गये। "जब अल्लाह बख्श को मुख्यमन्त्री पद से हटाया गया था, तब उनकी पार्टी का बहुमत था किन्तु सिन्ध की राजनीति में इतना अवसरवाद था कि जब दुबारा विधान सभा का अधिवेशन हुआ, तब हिदायतुल्ला को अपने साथ सदस्यों का बहुमत दिखाने मे कोई कठिनाई न हुई।" (उप., पृष्ठ १४९)।

बंगाल के मुख्यमन्त्री फजलुलहक पहले कृषक प्रजा पार्टी के नेता थे, कि—

मुस्लिम लीग मे शामिल हुए। १९४१ में मुस्लिम लीग से त्यागपत्र देकर उन्होंने नया मन्त्रिमण्डल बनाया। "२८ मार्च को गवर्नर ने फजलुल हक को बुलाया और उनसे त्यागपत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा। हक का कहना था कि त्यागपत्र का मसौदा पहले ही तैयार कर लिया गया था।" (उप., पृष्ठ १५०)। फ़ज़लुल हक के कुछ समर्थक मुस्लिम लीग मे शामिल हो गये और निज़ामुद्दीन के नेतृत्व में लीगी मन्त्रिमण्डल बना।

वाइसराय की कार्य परिपद् के सदस्य सर फ़ीरोज़ खाँ नून ने अक्तूबर १९४२ में सीमान्त प्रदेश के गवर्नर से कहा कि वहाँ मुस्लिम मन्त्रिमण्डल हो तो "दुनिया को पता चल जायगा कि उत्तर भारत में मुस्लिम लीग की प्रधानता है, कांग्रेस कुछ भी कहती या करती रहे।" (उप., पृष्ठ १५१)। कांग्रेस के दस सदस्य जेल मे थे, सात सीटें खाली थी। लीगी नेता औरंगजेब खाँ ने २० मुसलमान सदस्यों का समर्थन प्राप्त किया और मन्त्रिमण्डल बना लिया।

अंग्रेज़ों ने ऐसे ही हथकण्डों से १९४५-४७ में काम लिया। कांग्रेसी नेता बराबर शिकायत करते रहे कि गवर्नर और अंग्रेज अफसर मुस्लिम लीग का पक्षपात करते हैं, अंग्रेज अफसर निरन्तर अपने निष्पक्ष होने का दावा करते रहे। १९३७ से १९४७ तक कांग्रेस को ब्रिटिश कूटनीति के दाँवपेंच का बहुत अच्छा ज्ञान हो गया था किन्तु वह दाँवपेंच के काट की राह पर चलना न चाहती थी। भारतीय क्रान्ति विशुद्ध साम्राज्यविरोधी क्रान्ति न हो सकती थी, वह सामन्तविरोधी क्रान्ति भी होती। इसका अर्थ केवल कश्मीर-हैदराबाद जैसी रियासतों में उलट-फेर न था वरन् पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध और पश्चिमोत्तर प्रदेश के ज़मीदारो और सूदखोर महाजनों के खिलाफ संघर्ष भी था। कांग्रेसी नेता इससे बचना चाहते थे। १९४५-४७ के स्वत:स्फूर्त क्रान्तिकारी उभार की सबसे बड़ी कमजोरी यही थी कि इन क्षेत्रों में ज़मीदार-साहूकार विरोधी आन्दोलन फैल न पाया था। इस कमजोरी से लीग और अंग्रेज़ों ने लाभ उठाया।

सन् ४२ में क्रिप्स जो प्रस्ताव लाये थे, उसमे यह प्रावधान था कि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नया संविधान स्वीकार न करे तो उसकी मौजूदा संवैधानिक स्थिति बनी रहेगी; यदि वह चाहे तो बाद में संघ में शामिल हो सकेगा। जो प्रान्त संघ में शामिल न हों, वे यदि चाहेंगे तो ब्रिटिश सरकार उनसे नये संविधान को लेकर सहमत होने को तैयार रहेगी और उन्हें भारत संघ के बराबर दर्जा दिया जायेगा। "यह मानी बात थी कि कांग्रेस दूरगामी प्रस्ताव मंजूर न करेगी क्योंकि इनका मतलब था अमल मे देश का विभाजन।" (उप., पृष्ठ १२५)। मुस्लिम लीग के लाहौर प्रस्ताव को अभी दो साल न हुए थे, अंग्रेज़ विभाजन का मसौदा लेकर आ पहुँचे थे।

मेनन ने जो यह लिखा कि विभाजन के कारण कांग्रेस ने क्रिप्स प्रस्ताव स्वीकार न किया, वह सही नहीं है। सही स्थिति भारत के भावी राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी पुस्तक **विभाजित भारत (इण्डिया डिवाइडेड)** में बयान कर दी है। वह स्थिति इस प्रकार है: "[क्रिप्स की] घोषणा ने इस प्रकार अखिल भारतीय संघ से ब्रिटिश भारत के किसी सूबे के अलग हो जाने का अधि-

कार मान लिया था और भारतीय संघ से स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों के
मुस्लिम लीगी माँग व्यवहारतः (practically) स्वीकार कर ली थी।
कार्यकारिणी प्रस्ताव को इस बिना पर ठुकरा सकती थी कि उसमे भारती
को भंग करने की योजना है पर उसने ऐसा नही किया। इसके विपरी
स्पष्ट कर दिया कि वह 'किसी भी प्रादेशिक इकाई के निवासियों को उनकी
और स्थापित इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ मे शामिल होने को बाध्य क
बात नही सोच सकती किन्तु उसने बताया कि एकता भंग करने से सभी स
व्यक्तियों की हानि होगी।' उसने [कांग्रेस की कार्यकारिणी ने] प्रस्ताव
दूसरी बिना पर ठुकराया। प्रस्ताव मे सुरक्षा को दायित्व की परिधि के बाह
रखा गया था, इस तरह उसे फ़िज़ूल और मखौल की चीज़ बना दिया गया
किन्तु मुस्लिम लीग की कार्यकारिणी तब तक इन्तज़ार करती रही जब त
प्रस्ताव को नामजूर करनेवाला कांग्रेस कार्यकारिणी का फ़ैसला सबको मालूम
हो गया। तब उसने यह प्रस्ताव पास किया कि क्रिप्स-प्रस्ताव अपने मौजूदा रूप
में उसे मंजूर नही है। उसने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि अप्रत्यक्ष रूप
में पाकिस्तान की सम्भावना मान ली गयी है।" (इण्डिया डिवाइडेड; बम्बई;
तीसरा संस्करण १६४७; पृ. १६०-६१)।

क्रिप्स मार्च १६४२ मे भारत आये थे। कम्युनिस्ट पार्टी अभी गैरकानूनी थी
यद्यपि उसके नेताओं ने युद्ध में सरकार से सहयोग करने की नीति अपनायी थी।
इस समय कांग्रेस की कार्यकारिणी किसी भी प्रान्त के भारतीय संघ से अलग होने
का सिद्धान्त मान चुकी थी। इसी मान्यता के अनुसार उसने १६४५-४७ मे लीग
और अंग्रेज़ों से समझौते की बातचीत की। लीग ऐसे इलाके भी चाहती थी
जिनमे गैर-मुस्लिम जनता बहुसंख्यक थी; उसकी यह 'अन्यायपूर्ण' माँग नामंजूर
करके कांग्रेस ने उससे यह 'न्यायपूर्ण' माँग मनवा ली कि पाकिस्तान में आधा
बंगाल, आधा पंजाब ही शामिल किया जायगा। कांग्रेस ने जब सन् ४२ की क्रान्ति
शुरू की, तब उसने इस क्रान्ति को राष्ट्रीय एकता के सिद्धान्त से नही जोडा;
प्रान्तीय अलगाव के सिद्धान्त को उसने जो मान्यता दी थी, उसे वापस नही लिया।
कारण यह कि कांग्रेसी नेताओं के लिए इस क्रान्ति का बहुत सीमित उद्देश्य यह
था कि अंग्रेज़ो पर दबाव डालकर फिर समझौते की बातचीत शुरू की जाय।
बातचीत शुरू हुई, तब अंग्रेज़ो ने कांग्रेसी नेताओं को अनेक बार याद दिलाया कि
उन्होने किसी प्रान्त को राष्ट्रीय एकता के लिए बाध्य न करने का जो सिद्धान्त
माना है, उसी के आधार पर उन्हें संविधान बनाने और लीग से समझौता करने का
प्रयत्न करना चाहिए।

जहाँ तक सन् ४२ मे मुस्लिम लीग की स्थिति का सम्बन्ध है, वह उस समय
न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण किसी भी तरह के क्षेत्र पाकिस्तान मे शामिल न कर
सकती थी। अभी अंग्रेज़ों की सहायता से हत्याकाण्ड रचाकर विभाजन के लिए
आवश्यक तैयारी करना बाकी था।

अप्रैल १६४२ मे राजगोपालाचारी ने मद्रास विधानसभा के कांग्रेसी सदस्यों
से यह प्रस्ताव पास कराया कि भारत के संविधान बनाने का समय आने पर यदि

मुस्लिम लीग अलगाव की माँग पर अड़ी रहे तो ए. आई. सी. सी. उसकी यह माँग स्वीकार करे; मुस्लिम लीग से समझौते की बातचीत तुरन्त शुरू कर देनी चाहिए जिससे कि मौजूदा आपातकाल से निपटने के लिए राष्ट्रीय सरकार की प्रतिष्ठा हो सके। (मेनन, दि ट्रान्सफर, पृ. १३६)। यद्यपि संविधान बनाने की बात अभी दूर थी पर राजगोपालाचारी विभाजन की माँग स्वीकार करके बहुत जल्दी केन्द्र में 'राष्ट्रीय' सरकार बना लेना चाहते थे। उन्होंने अपना प्रस्ताव जब ए. आई. सी. सी. में रखा, तब वह रद्द कर दिया गया। ए. आई. सी. सी. ने अपने प्रस्ताव में कहा कि किसी प्रादेशिक इकाई या राज्य को अलग होने का अधिकार दिया गया तो यह देश की जनता के हितों के विरुद्ध होगा और इस कारण कांग्रेस कोई ऐसा प्रस्ताव मंजूर न करेगी। (उप., पृ. १३६-४०)। इससे यह न समझना चाहिए कि कांग्रेस ने अलगाव-सिद्धान्त की मान्यता वापस ले ली थी। यदि किसी प्रादेशिक इकाई की जनता ही अलग होना चाहे तो उसे संघ में शामिल होने के लिए कैसे बाध्य किया जा सकेगा? युद्ध के बाद इस 'न्यायपूर्ण' माँग के आधार पर ही कांग्रेस ने समझौते की बातचीत मे हिस्सा लिया था।

जून १९४७ में माउण्टबाटन योजना को स्वीकार करने के लिए गोविन्द वल्लभ पन्त ने ए. आई. सी. सी. मे प्रस्ताव पेश किया। उन्होंने कहा, कांग्रेस ने एकता के लिए बडा परिश्रम किया है और उसके लिए सबकुछ त्यागा है। इस समय दो ही रास्ते हैं, "तीसरी जून की योजना [माउण्टबाटन योजना] स्वीकार करें या आत्महत्या करें।" (उप., पृ. ३६१)। प्रस्ताव का समर्थन करते हुए मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कहा, "विभाजन केवल देश के नक्शे में है, लोगों के दिलों में नहीं है। मुझे विश्वास है कि यह विभाजन बहुत थोड़े समय के लिए होगा।" (उप.)। जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि मुस्लिम लीग के सामने घुटने टेकने का सवाल नहीं है। "किसी भी इकाईको भारतीय संघ मे रहने के लिए बाध्य किया जाय, कांग्रेस सदा ही इसके विरुद्ध रही है।" (उप., पृ. ३६२)। तो यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेसी नेताओं ने अलगाव-सिद्धान्त की मान्यता कभी वापस नहीं ली।

ए. आई. सी. सी. मे प्रस्ताव का विरोध करनेवाले काफी लोग थे। पन्त-आजाद-नेहरू-पटेल के समर्थन के बावजूद प्रस्ताव का पास हो जाना निश्चित नही था। इसलिए आवश्यक हुआ कि स्वयं गांधीजी आकर उसका समर्थन करें। "उन्होने कहा कि वह कार्यकारिणी की तरफ से वकालत नहीं कर रहे। किन्तु यदि ए. आई. सी. सी. प्रस्ताव नामंजूर करती है, तो उसे इसके भले बुरे हर नतीजे के बारे में सोच लेना चाहिए। उन्होने कहा कि योजना के बारे में उनके विचार लोग जानते हैं। प्रस्ताव की मंजूरी से सरोकार केवल कार्यकारिणी को नहीं है। उससे ब्रिटिश हुकूमत और मुस्लिम लीग को भी सरोकार है। यदि मौजूदा मंजिल तक पहुँचकर उसने [ए.आई.सी.सी.ने] कार्यकारिणी का फैसला ठुकरा दिया तो दुनिया उसके बारे में क्या सोचेगी? प्रस्ताव को ठुकराने का मतलब होगा नये नेता ढूंढे जायें और वे नेता ऐसे हों जिनमे कार्यकारिणी बनायी जाय; यही नही, वे सरकार का भार उठाने योग्य भी होने चाहिए। उन्हें यह न भूलना चाहिए कि इस घड़ी देश में शान्ति अत्यधिक आवश्यक है। कांग्रेस

पाकिस्तान के विरुद्ध हैऔर वह उन लोगो मे है जिन्होंने विभाजन का विरोध लगातार किया है। फिर भी वह ए. आई. सी. सी. के सामने उस पर यह जोर डालने के लिए आये हैं कि वह भारत के विभाजन का प्रस्ताव मंजूर कर ले।" (उप.)

प्रस्ताव के पक्ष में १५७ ने मत दिया, २९ ने विरोध किया और ३२ सदस्य तटस्थ रहे।

यदि इस समय राष्ट्रीय एकता के लिए कोई भी आन्दोलन किया जाता तो कांग्रेस के काफी सदस्य उसमें शामिल हो सकते थे। ऐसे आन्दोलन के अभाव में और गांधीजी द्वारा जोर लगाने पर भी ए. आई. सी. सी. के ६१ सदस्यों ने प्रस्ताव के पक्ष मे वोट न दिया था। यदि पहले से राष्ट्रीय एकता कायम रखने के लिए कोई गैरकांग्रेसी आन्दोलन देश मे होता तो यह सम्भव है कि प्रस्ताव के पक्ष मे केवल ६१ सदस्य वोट देते और १५७ उसके विरोध मे वोट देते।

१५ अगस्त १९४७ तक कांग्रेस और लीग के नेताओं को पता न था कि बगाल और पंजाब के कौन से हिस्से उन्हें मिलनेवाले है। प्रान्तों के विभाजन और सीमानिर्धारण का काम दो कमीशनों को सौंपा गया था। बगाल कमीशन मे दो हिन्दू जज और दो मुसलमान जज थे; पंजाब कमीशन में एक सिख, एक हिन्दू, दो मुसलमान जज थे। दोनों कमीशनो के अध्यक्ष सर सिरिल रैडक्लिफ थे। कमीशन के सदस्य न बंगाल के बारे मे किसी फैसले पर सहमत हुए, न पजाब के बारे मे किसी फैसले पर सहमत हुए। वे इस बारे में सहमत हुए कि अध्यक्ष स्वयं पंच-फैसला करें। कमीशनों के सदस्य हाईकोर्ट के जज थे। रैडक्लिफ का पंचफैसला १३ अगस्त को तैयार हुआ। पंचफैसला लेकर १३ अगस्त को माउण्टबाटन करांची चले गये। १७ अगस्त को उन्होने कांग्रेस और लीग के नेताओं को बुलाकर फैसले की प्रतियां दी। (उप., पृ. ४०९)।

१७ अगस्त को रैडक्लिफ फैसले की घोषणा के तुरत बाद समूचे पश्चिमी पंजाब और पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश से हिन्दुओं और सिक्खों को निकालने के लिए जमकर आन्दोलन शुरू कर दिया गया। शेखूपुरा (पश्चिमी पजाब) मे अभूतपूर्व पैमाने पर हत्याकाण्ड हुआ। अमृतसर मे इसकी हिंसक मुस्लिम विरोधी प्रतिक्रिया हुई। "इसके बाद सीमा के दोनों ओर लोगों पर साम्प्रदायिकता का भूत सवार हो गया। भारी संख्या में लोगों की जानें गयी। दोनों डोमीनियनों से आबादी की ऐसी निकासी हुई कि अब तक के इतिहास में वैसी निकासी कभी न हुई थी।" (उप., पृ. ४२५)।

अंग्रेज भारतवासियों की सद्‌भावना लेकर विदा हुए! जो कुछ हुआ, उसमें उनका क्या दोष? दिल्ली के लोग लार्ड और लेडी माउण्टबाटन के प्रति सद्‌भावना प्रकट करने को उमड़ पड़े थे। बेशक यह काम उन्होने १५ अगस्त को किया था, १७ अगस्त को नही। लेकिन मेनन ने अपनी पुस्तक १७ अगस्त के बहुत दिन बाद लिखी थी। उन्हें याद आया, १९५१ मे प्रिन्स आफ वेल्स आये थे, तब उनका समस्त बहिष्कार हुआ था। और उनके दल में उस समय माउण्टबाटन भी थे! अब माउण्टबाटन की अब जय-जयकार हो रही थी। मेनन ने भारत ब्रिटेन के सम्बन्धों का विहंगावलोकन करते हुए लिखा: "इस प्रकार अंग्रेजी राज के १८२

वर्षों का युग समाप्त हुआ, भारत के चित्र-विचित्र इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण और स्मरणीय अध्याय समाप्त हुआ। बिस्मार्क को यह कहते बताया गया है कि 'ब्रिटिश साम्राज्य का लोप हो जाय तो भी भारत में उसका कार्य उसका एक स्थायी स्मारक रहेगा।' १७६५ में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी सँभाली थी, तब से अंग्रेज क्रमशः भारत में ऐसी प्रशासनिक और राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण करते रहे थे जो इतिहास में अभूतपूर्व थी। उन्होंने देश को एकताबद्ध और सुदृढ़ किया, उन्होंने अखिल भारतीय पैमाने पर चुस्त प्रशासनिक संगठन कायम किया, उन्होंने ही यहाँ पहले-पहल कानून का राज कायम किया, और वे भारत के पास सबसे कीमती विरासत—शासन का जनतान्त्रिक रूप—छोड़ गये। जब तक भारत है, तब तक इस देश में ब्रिटेन का श्रेष्ठ योगदान भी कायम रहेगा। (As long as there is an India, Britain's outstanding contributions to this country will continue to abide.") (उप., पृ. ४२३)।

(ङ) रियासतों का विलयन और माउण्टबाटन

भारतीय जनता की प्रगति में अंग्रेजों के योगदान का एक पक्ष वह है जिसका सम्बन्ध देशी रियासतों से है। इस सिलसिले में माउण्टबाटन की प्रशंसा करते हुए वी. पी. मेनन ने देशी रियासतों के विलयन पर अपनी पुस्तक (*The Story of the Integration of the Indian States*; १९५६; १९६९) में लिखा है: सरदार पटेल ने देशी नरेशों से अपने व्यवहार में बड़े कौशल का परिचय दिया; विलयन-नीति की सफलता का यह मुख्य कारण था। "शासकों को मिलाने में जिस दूसरी चीज ने बड़ा काम किया वह बेशक लार्ड माउण्टबाटन का सम्मोहन और उनकी सहज व्यवहार कुशलता थी। केवल कर्तव्यपालन की भावना से नहीं, वरन् भारत के प्रति अपने असीम प्यार के कारण विलयन के प्रश्न पर शासकों से वार्तालाप करने का भार उन्होंने अपने ऊपर ले लिया था। एक बार वह कोई काम उठा लेते थे तो वह उस काम में अपने व्यक्तित्व का पूरा ज़ोर लगा देते थे और कड़ी मेहनत से जी न चुराते थे। आधे मन से कोई काम करना, आधे मन से कोई तरीका अपनाना उनके स्वभाव में न था। भारतीय इतिहास की एक नाजुक घड़ी में उन्होंने जो महान् सेवा की थी, उसे भारत कभी भूल नहीं सकता।" (पृ. ११७)।

वी. पी. मेनन माउण्टबाटन के संवैधानिक सलाहकार थे। जून १९४७ में अन्तरिम सरकार ने रियासती मामले निपटाने के लिए एक नया विभाग खोला। इस विभाग के सचिव का कार्य सँभाला इन्हीं वी. पी. मेनन ने। इस तरह रियासतों की नीति को अमल में लाने के लिए माउण्टबाटन, पटेल और मेनन, ये तीन व्यक्ति मुख्य रूप से ज़िम्मेदार थे। इनकी नीति के दो मुख्य परिणाम सामने आये। पहला है, ब्रिटेन, अमरीका, (आगे चलकर चीन) और पाकिस्तान द्वारा भारत के विरुद्ध कश्मीर की 'समस्या' का उपयोग; दूसरा है, विलयन द्वारा सामन्ती अवशेषों की रक्षा, राजाओं और जागीरदारों को मुआवज़े के नाम पर करोड़ों रुपये का सम्पत्तिदान, बड़े पूँजीपतियों द्वारा अपने सहयोगियों के रूप में इन सामन्ती अवशेषों का उपयोग।

अक्तूबर १९४७ में कश्मीर पर पाकिस्तानियों ने हमला किया। परिस्थिति का जायज़ा लेने मेनन कश्मीर गये। लौटकर सुरक्षा समिति के सामने उन्होंने आँखों देखी हालत बयान की और बताया कि कश्मीर को हमलावरों से बचाना बहुत ज़रूरी है। अब माउण्टबाटन की भूमिका देखिये। "लार्ड माउण्टबाटन ने कहा कि भारतीय फौज भेजना अनुचित होगा क्योंकि कश्मीर ने अभी भारत या पाकिस्तान दोनों में किसी में भी शामिल होने का फैसला न किया था, इसलिए अभी वह स्वतन्त्र देश था। यदि यह बात सही है कि महाराज अब भारत में शामिल होने को उत्सुक हैं, तो जम्मू और कश्मीर भारतीय धरती का अंग बन जायेगा। आततायियों की और अधिक लूटमार से बचाने के लिए केवल इसी आधार पर भारतीय फौज भेजी जा सकती थी। उन्होंने अपना यह दृढ़ मत भी प्रकट किया कि आबादी के गठन [हिन्दू-मुस्लिम अनुपात] को ध्यान में रखते हुए विलयन (accession) जनता की इच्छा की शर्त के साथ लागू होगा; हमलावरों को राज्य से निकाल देने तथा कानून और व्यवस्था के कायम हो जाने के बाद जनमत संग्रह (plebiscite) द्वारा इस इच्छा का पता लगाया जायगा। नेहरू तथा अन्य मन्त्री इससे तुरत सहमत हो गये।" (पृ. ३८१)।

माउण्टबाटन ने कश्मीर की आबादी के गठन की ओर क्यों ध्यान दिलाया था? इसलिए कि भारत का विभाजन मुसलमानों को हिन्दुओं से अलग कौम मानने के आधार पर हुआ था। कांग्रेस यह सिद्धान्त न मानती थी किन्तु मुस्लिम लीग और अंग्रेज़ों से सारी बातचीत इसी आधार पर हुई थी और सत्ता के बारे में समझौता इसी आधार पर हुआ था। कथनी में सम्प्रदायवाद का विरोध था, करनी में उसकी स्वीकृति थी। इसलिए माउण्टबाटन मुसलमानों के आत्मनिर्णय का सिद्धान्त कश्मीर में लागू कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू और अन्य सभी कांग्रेसी नेता देख चुके थे कि पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश में लीगी नेता अंग्रेज़ अफसरों से मिलकर जनमत संग्रह के लिए तैयारी किस तरह करते हैं। हिंसात्मक घटनाएँ आयोजित करके वे बहुमत को अल्पमत और अल्पमत को बहुमत बनाने की कला में दक्ष हैं। नेहरू ने सीमान्त प्रदेश में पहले जनमत संग्रह का विरोध किया था, फिर माउण्टबाटन के ज़ोर देने पर उसे स्वीकार किया था। वही माउण्टबाटन कश्मीर में जनमत संग्रह की शर्त लगा रहे थे और सीमान्त प्रदेश में वैसी शर्त मान लेने के बाद नेहरू यहाँ भी उसे मानने को बाध्य थे।

कश्मीर नरेश ने विलयन स्वीकार किया और भारतीय सेना हवाई जहाज़ों से कश्मीर भेजी गयी। पहली नवम्बर को जिन्ना से कश्मीर समस्या के बारे में वार्ता करने भारत की ओर से लार्ड माउण्टबाटन लाहौर पहुँचे। उनके साथ लार्ड इस्मे थे। जिन्ना का कहना था कि भारत में कश्मीर का विलयन हिंसा द्वारा कराया गया है। मेनन के अनुसार माउण्टबाटन ने जवाब दिया कि हिंसा कबायली हमलावरों ने शुरू की थी। उन्होंने कहा, अब श्रीनगर में सेना इकट्ठी हो रही है, इसलिए अब इसकी सम्भावना कम है कि कबायली श्रीनगर में घुस पायेंगे। तब जिन्ना ने प्रस्ताव किया कि दोनों पक्ष एक साथ और तुरत वहाँ से हट जायें। माउण्टबाटन ने पूछा, कबायलियों को कैसे समझाया जायगा कि हट जायें? जिन्ना

ने कहा, आप यह कर दें तो मैं उन्हें वापस बुलवा लूंगा। ('If you do this I will call the whole thing off') "तब लार्ड माउण्टबाटन ने प्रस्ताव किया कि राज्य में जनमत संग्रह कराया जाय। जिन्ना ने आपत्ति की और कहा कि राज्य में भारतीय सेना है और शेख अब्दुला सत्तारूढ़ हैं, इसलिए राज्य के लोग डर के मारे पाकिस्तान के पक्ष में वोट न देंगे। इस पर लार्ड माउण्टबाटन ने सुझाव रखा कि जनमत संग्रह राष्ट्र संघ (United Nations Organization) के तत्वावधान में कराया जाय।" (पृ. ३८६)।

जनमत संग्रह राष्ट्र संघ की निगरानी में कराया जाय, यह सुझाव माउण्टबाटन का था। इस प्रकार कश्मीर समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बना देने में माउण्टबाटन की भूमिका निर्णायक थी। जिन्ना को अभी विश्वास न था कि राष्ट्र-संघ की निगरानी उतनी ही कारगर हो सकती थी जितनी पश्चिमोत्तर प्रान्त में अंग्रेज अफसरों की निगरानी। इसलिए उन्होंने राष्ट्र संघ की निगरानी में जनमत संग्रह का प्रस्ताव नामंजूर किया; इसके बदले उन्होंने प्रस्ताव किया कि जनमतसंग्रह भारत और पाकिस्तान के गवर्नर जनरलों के नियन्त्रण में और उनकी देख-रेख में कराया जाय। भारत के गवर्नर जनरल माउण्टबाटन, पाकिस्तान के गवर्नर जनरल जिन्ना; दोनों की निगरानी में जनमत संग्रह वैसे ही होगा जैसे सीमान्त प्रदेश में हुआ था। लेकिन माउण्टबाटन ने कहा, आप मुस्लिम लीग के अध्यक्ष भी हैं, भारत में मेरी वैसी स्थिति नहीं है। मैं संवैधानिक गवर्नर जनरल हूँ (यानी मन्त्रिमण्डल के आदेश के अनुसार काम करता हूँ)। कोई फैसला न हुआ और बातचीत समाप्त हो गयी। (पृ. ३८७)। माउण्टबाटन और जिन्ना की देखरेख में जनमत संग्रह होता तो कश्मीर समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय समस्या न बनाया जा सकता था। साम्राज्यवादियों का दूरगामी हित इसमें था कि समस्या अन्तर्राष्ट्रीय बने।

मेनन ने इस सन्दर्भ में आगे लिखा है कि लाहौर में जवाहरलाल नेहरू और लियाकत अली की बातचीत के बाद माउण्टबाटन को विश्वास हो गया कि कश्मीर के मसले का आपसी बातचीत से सुलझना लगभग असम्भव है। मसला न सुलझा, तो हो सकता है कि दोनों डोमीनियनों में खुला युद्ध छिड़ जाय। "इसलिए उन्होंने गांधीजी और नेहरू दोनों पर दबाव डाला कि वे राष्ट्र संघ के सद्भाव-सहयोग को प्राप्त करने का उनका मूल प्रस्ताव स्वीकार कर लें। (He therefore pressed both Gandhiji and Nehru to adopt his original suggestion to invoke the good offices of the United Nations Organization.)" (पृ. ३९१)।

अन्त में नेहरू ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, यद्यपि ऐसा कदम उठाने के बारे में उनके कुछ सहयोगियों को शंका थी। (उप.)। शंका इसलिए थी कि कांग्रेसी नेता राष्ट्र संघ में ब्रिटेन और अमरीका की भूमिका से अपरिचित नहीं थे; फिर भी वे माउण्टबाटन का प्रस्ताव स्वीकार इसलिए कर रहे थे कि जलथल-वायुसेनाओं के अध्यक्ष अंग्रेज थे। राष्ट्र संघ में कश्मीर का मामला ले जाने के लिए कांग्रेसी नेताओं पर जोर माउण्टबाटन ने डाला था, यह तथ्य मेनन के विवरण से प्रमाणित है। माउण्टबाटन किस दर्जे के संवैधानिक गवर्नर जनरल थे, यह

[illegible] और [illegible] के बाद

दिसम्बर १९४८ के आखिरी हफ्ते में [illegible] के सदस्य दिल्ली और कराची आये। उन्होंने [illegible] बातचीत हो जाने के बाद जम्मू और कश्मीर में जनमत संग्रह कराने के लिए कुछ प्रस्ताव रखे। दोनों सरकारों ने उन्हें स्वीकार किया। मेनन के अनुसार [illegible] सरकार ने [illegible] कि राष्ट्र संघ के आदेश द्वारा औपचारिक [illegible] की राह देखे बिना [illegible] कर देने के कोई कारण नहीं हैं। इसलिए अपनी ओर से [illegible] युद्ध [illegible] कि वह पाकिस्तान के [illegible] को [illegible] करने का [illegible] है। इसके लिए [illegible] १ जनवरी १९४९ को आधी रात से दोनों फौजों [illegible] युद्धविराम के लागू होने की घोषणा की। [illegible] कि उस समय तक सभी मोर्चों पर स्थिति हमारे अनुकूल थी। (At this time, let me add, the initiative was definitely in our favour along the entire front.)" (पृ. ३३३)

युद्धविराम की घोषणा उस समय की गयी जब स्थिति भारत के पक्ष में थी। भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध की घोषणा हुई ही न थी, इसलिए दोनों के बीच युद्धविराम की घोषणा करने का सवाल ही न था। भारत जम्मू और कश्मीर राज्य से हमलावरों को निकाल रहा था। उन्हें निकाले बिना भारत सरकार युद्धविराम की घोषणा कर रही थी। और यह घोषणा करने की उसे इतनी जल्दी थी कि वह राष्ट्र संघ के आदेश द्वारा युद्धविराम की अपील की राह देखने को तैयार न थी। मेनन अपनी पुस्तक के पाठकों को यह समझाना चाहते हैं कि भारत सरकार ने यह कदम स्वेच्छा से उठाया था। स्वेच्छा की मात्रा इतनी ही थी जितनी राष्ट्र संघ के [illegible] के बारे में थी। मोर्चों पर स्थिति भारत के अनुकूल थी। युद्ध का लक्ष्य था हमलावरों को कश्मीर से बाहर निकालना; वह लक्ष्य पूरा न हुआ था; और भारत सरकार अचानक ऐसी उदार बन गयी कि बिना किसी दबाव के उसने युद्धविराम का फैसला कर लिया। मेनन ने एक जगह माउण्टबेटन द्वारा दबाव डालने की बात स्वीकार की थी; यहाँ उसके बारे में वह चुप रहते हैं। कश्मीर के मामले में साम्राज्यवादी दखलन्दाजी के लिए माउण्टबेटन और कांग्रेसी नेता जिम्मेदार थे। मेनन इस जिम्मेदारी से उन्हें बचाने के लिए कुछ बातें छिपाते हैं।

कश्मीर में साम्राज्यवादी हमला नाम से एक छोटी पुस्तिका १९५९ में कम्युनिस्ट पार्टी ने प्रकाशित की। इसमें कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार और भारत सरकार के प्रतिक्रियावादी स्वरूप के बारे में कुछ बातें सही कही गयी हैं किन्तु कश्मीर में साम्राज्यवादी दखलन्दाजी का विवरण नहीं दिया गया है। १२ अगस्त १९४७ को जम्मू और कश्मीर के प्रधान मन्त्री ने राज्य में यथा स्थिति बनाये रखने का प्रस्ताव पाकिस्तान सरकार के सामने रखा। अभी पाकिस्तान की अलग सरकार न बनी थी। "जम्मू और कश्मीर अंग्रेज बादशाह के सीधे कब्जे ही में था।" १६ अगस्त को पाकिस्तान सरकार ने यथास्थिति वाला प्रस्ताव

मंजूर कर लिया। इस सन्दर्भ में उक्त पुस्तिका के लेखक ने कहा: "शुरू से
ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का इरादा था कि पूरे कश्मीर और जम्मू को पाकिस्त
के घेरे मे रखा जाय। कारण यह कि वे डरते थे कि भारत में बढ़े हुए साम्राज
विरोधी आन्दोलन की वजह से भारत संघ ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर निक
सकता है। उन्हें इसमें शक नहीं था कि पाकिस्तान साम्राज्य के अन्दर ही रहेगा।
भारत और पाकिस्तान की राजनीतिक परिस्थितियों में अन्तर था; साम्राज्यवा
से दोनों राज्यों का सम्बन्ध एक ही तरह का नहीं था। लेखक ने दोनों में सही भे
किया था। उसने आगे लिखा: "साम्राज्यवादियों ने जब देखा कि हिन्दुस्तान
पूंजीवादी सरकार उनकी ध्यानपूर्वक बनायी योजनाओं को उलट रही है औ
समझा कि माउण्टबाटन योजना के दायरे के भीतर भारत सरकार की चालों क
जवाब नहीं दिया जा सकता तो उन्होंने अपने इरादे पूरे करने के लिए हमल
कराया।" १५ अगस्त १९४७ को सत्ता के हस्तान्तरण के बाद साम्राज्यवाद औ
भारतीय पूंजीवाद का अन्तर्विरोध समाप्त नहीं हो गया, यह बात यहाँ स्वीका
की गयी है। अन्तर्विरोध समाप्त न हुआ था, इसीलिए हमला कराना ज़रूरी थ
और हमला कराने की योजना अंग्रेज़ों और पाकिस्तान के शासकों ने मिलक
बनायी थी।

हमले में अंग्रेज़ों की भागीदारी के बारे में लेखक ने बताया था: पश्चिमी
पंजाब और सीमा प्रान्त में जहाँ से हमला संगठित हुआ, वहाँ मूडी और कनिंघम
क्रमश: अंग्रेज गवर्नर थे। बाद में कनिंघम की जगह ए. डंडास तैनात हुआ।
पाकिस्तानी फौज और सिविल सर्विस में लगभग तमाम खास व्यक्ति ब्रिटिश
अफसर थे। हमले के समय दो ब्रिटिश अफसर ब्रिगेडियर स्काट और पावेल कश्मीर
की सीमा पर रावलपिण्डी और स्यालकोट के बीच के पाकिस्तान के इलाके में,
जहाँ हमलावरों को हमले के लिए संगठित किया गया था, बहुत कार्यशील थे।
३१ अक्तूबर को ब्रिटिश अफसरों ने गिलगित में विद्रोह संगठित किया। २ नवम्बर
१९४७ को उत्तरी क्षेत्र की सामन्ती रियासतों को शामिल करके उनका एक अलग
आजाद कश्मीर राज्य बना दिया गया। पाकिस्तानी फौज द्वारा दिये गये हथियारों से
लैस हमलावर उत्तरी क्षेत्र—गिलगित, नागर, हुंजा, चितराल, दीर, स्वात में दृढ़ता
से जमे रहे। उन्हें इस इलाके से हटाया न जा सका क्योंकि ब्रिटेन और अमरीका
की शासकमण्डली चाहती थी कि पाकिस्तानी फौजें वहाँ रहें और भारत संघ की
प्रतिक्रियावादी शासकमण्डली ने कश्मीर की जनता के गार्डों को हथियारों से लैस
करने से इन्कार कर दिया।

कांग्रेसी नेता सारे देश में क्रान्तिकारी उभार को दबाये रखने की जिस नीति
पर चलते आये थे, उसी का पालन वे कश्मीर में कर रहे थे। जनता के गार्डों को
हथियार देकर वे क्या अपने लिये दूसरा तेलंगाना बनने देते? क्रान्ति के जिस भय
के कारण उन्होंने भारत का विभाजन स्वीकार किया था, उसी भय के कारण वे
कश्मीर में साम्राज्यवादी दखलन्दाजी और अमल में कश्मीर का बँटवारा स्वीकार
कर रहे थे। भारतीय सेना को जानबूझकर आगे बढ़ने से रोका गया है और
अंग्रेज़ों के दबाव से युद्धविराम की घोषणा लागू की गयी है, यह बात कोई गुप्त

रहस्य न थी। देश-विदेश के पत्रों में उस समय इसकी चर्चा हुई थी। हिन्दुस्तानी फौज का हमला क्यों ढीला पड़ गया, यह बताते हुए मास्को से प्रकाशित न्यू टाइम्स (अंक ४०, १९४८) के संवाददाता ने लिखा था : असल में उसे सोची समझी नीति की वजह से पीछे रोका गया। हमले के विकास के साथ लाजमी है कि फौज पाकिस्तान की सीमा के उस पार जाय क्योंकि हमलावरों ने अपनी यह आदत बना ली है कि जब हटना हो तो इस सीमा के पीछे पहुँच जायें। भारतीय शासकों को डर था कि इससे राष्ट्र संघ में मतलबी ताकतों को मौका मिल सकता है कि वे पाकिस्तान के बजाय हिन्दुस्तान को हमलावर बतायें।

मुख्य समस्या पाकिस्तान की सीमा को पार करने की नहीं थी; मुख्य समस्या जम्मू और कश्मीर राज्य की सीमाओं के भीतर से हमलावरों को बाहर निकालने की थी। अंग्रेज चाहते थे कि जम्मू-कश्मीर राज्य का एक भाग उनके नियन्त्रण में रहे और वहाँ वे अपने फौजी अड्डे कायम करें। भारतीय सेना को सोची समझी नीति के अनुसार रोका गया था, यह बात सही थी। न्यू टाइम्स के संवाददाता ने आगे लिखा था : और निश्चय ही हाई कमाण्ड की तरफ से, जो ब्रिटिश अफसरों के कन्ट्रोल में था, और उन हिन्दुस्तानियों द्वारा जो अंग्रेजों के खुले एजेन्ट थे, छुपी तोड़-फोड़ की कार्रवाइयाँ हुईं। और अन्त में यह बात भारतीय प्रतिक्रियावादियों के हित में थी कि कश्मीर पर हिन्दुस्तानी फौजों का कब्जा रहे। ऐसी स्थिति में शेख अब्दुला सरकार को कश्मीर के बजाय भारतीय प्रतिक्रियावादियों के हित में काम करने के लिए मजबूर किया जा सकता था और भारतीय प्रतिक्रियावादी नैशनल कान्फ्रेन्स के नेतृत्व में चलनेवाले जनवादी आन्दोलन पर कन्ट्रोल कर सकते थे।

कश्मीर में भारतीय सेना को बनाये रखने के लिए यह जरूरी नहीं था कि पूरे कश्मीर राज्य से हमलावरों को निकाला न जाय। हमलावरों से राज्य को खाली कराना भारतीय पूँजीपतियों के हित में था। कांग्रेसी नेताओं ने अंग्रेजों के दबाव के कारण भारतीय सेना को आगे बढ़ने से रोका था। भारतीय सेना की कमान ब्रिटिश अफसरों के कन्ट्रोल में थी और उन्होंने अपने हिन्दुस्तानी एजेन्टों के सहयोग से छुपी तोड़फोड़ की कार्रवाई की, यह बात सही है। तोड़फोड़ की कार्रवाई का लक्ष्य यह था कि कश्मीर का एक हिस्सा हमलावरों के पास रहने दिया जाय जिससे साम्राज्यवाद को वहाँ अपने अड्डे कायम करने की सुविधा रहे।

न्यू टाइम्स के लेख का हवाला देने के बाद पुस्तिका के लेखक ने जनयुग की चेतावनी का उल्लेख किया जिसमें कहा गया था : "राष्ट्र संघ के पास पुकार साम्राज्यवादी दखलन्दाजी के लिए पुकार है, अमरीकी साम्राज्यवाद को कश्मीर में दखलन्दाजी करने की दावत है।" जनयुग ने यह बात जनवरी १९४८ में कही थी। पुस्तिका में आगे बताया गया कि कश्मीर का सवाल सुरक्षा समिति के सामने रखे जाने की देर थी कि अमरीकी साम्राज्यवादी लपक पड़े और हथकण्डे चलाने लगे कि "कश्मीर का बँटवारा किया जाय और उत्तरी इलाके को एक सुरक्षित फौजी अड्डा बना दिया जायेगा, कुछ समय तक कहने को पाकिस्तान के कब्जे में रहे मगर अंग्रेज अमरीकी साम्राज्यवादियों द्वारा इस्तेमाल किया जाय।" इन

नीति को अमल में लाने में वे सफल हुए। राष्ट्र संघ के आयोग की कार्रवाई का ब्यौरा देने के बाद पुस्तिका के लेखक ने सही नतीजा निकाला : "कश्मीर के मामलों मे अमरीकी दखलन्दाजी का कुल नतीजा यह हुआ है कि उत्तरी इलाके का एक अलग राज्य के रूप में फौजीकरण हुआ है। वह प्रतिक्रियावादी वर्गों के हाथ मे है जिनकी पीठ पर अमरीकी जगखोरों का हाथ है। सचमुच यह एक अंग्रेजी-अमरीकी फौजी चौकी है जो आजाद कश्मीर कही जाती है।"

कश्मीर के मामले में अंग्रेज भारत सरकार पर दबाव डाल रहे हैं, पुस्तिका के लेखक की निगाह से यह बात छिपी न थी। उसने लिखा था : "आजकल अंग्रेज-अमरीकी अधिकारी भारत सरकार पर दबाव डाल रहे हैं कि वह कश्मीर के एक हिस्से से ही संतुष्ट हो और उत्तरी इलाका पाकिस्तान को या सीधे अमरीका को सौंप दे।" २४ अक्तूबर १६४८ के जनयुग ने लिखा था : "कश्मीर का बँटवारा न होने पाये, गिलगित न सौंपा जाय ! सामन्ती तानाशाही का नाश हो; जनता को हथियार मिलें, जोतनेवालों को जमीन मिले !" किन्तु कांग्रेसी नेता न तो जनता को हथियार दे रहे थे, न हमलावरों को निकालने के लिए भारतीय सेना को आगे बढ़ने का आदेश दे रहे थे। क्रान्ति के भय के कारण जर्मनी और इंग्लैण्ड के पूंजीपतियों की तरह वे अपने ही वर्गहितों के विरुद्ध शत्रु से समझौता कर रहे थे यानी अंग्रेजों के दबाव से युद्धविराम की घोषणा कर रहे थे। इस सारे नाटक के सूत्रधार थे लार्ड माउण्टबाटन !

माउण्टबाटन का बस चलता तो वह जूनागढ़ का मामला भी राष्ट्र संघ में भेज देते। जूनागढ़ के नवाब ने बबरियावाद की जमींदारी पर अपना हक जताते हुए वहाँ अपनी सेना भेजी। मेनन ने देशी रियासतों के विलयनवाली अपनी पुस्तक में लिखा है कि जूनागढ़ का नवाब वहाँ से अपनी सेना हटाने को तैयार नही था। सरदार पटेल का कहना था कि यह हमले की कार्रवाई है और फौज भेजकर इसका मुकाबला करना चाहिए। "लार्ड माउण्टबाटन ने सुझाया कि यह मसला राष्ट्र संघ के पास भेजा जा सकता है लेकिन सरदार इस विचार के विरोधी थे। उनका कहना था कि ऐसे मामलों में वादी बनना बहुत हानिकारक होगा।" (पृ. १३२)। यह घटनाक्रम सितम्बर १६४७ का है। सरदार पटेल ने जो बात जूनागढ़ के बारे में कही थी, वही बात कश्मीर के बारे मे कही जा सकती थी। नेहरू और पटेल के विरोध के कारण माउण्टबाटन ने अपना सुझाव मनवाने की जिद नहीं की। उनकी निगाह कश्मीर पर थी; जूनागढ़ के मामले मे लचीलापन दिखाकर वह कश्मीर के मामले मे अड़ने की तैयारी कर रहे थे। जूनागढ़ सम्बन्धी बातचीत मे माउण्टबाटन के अलावा नेहरू, पटेल, मोहनलाल सक्सेना और गोपालस्वामी आयंगार शामिल थे। प्रधानमन्त्री नेहरू कैबिनेट का फैसला संवैधानिक गवर्नर जनरल को न सुना देते थे; गवर्नर जनरल कैबिनेट का अध्यक्ष नही तो उसका अत्यन्त सक्रिय सदस्य अब भी बना हुआ था; कैबिनेट की नीति निर्धारित करने में, महत्वपूर्ण फैसले करने में, गवर्नर जनरल का दायित्व किसी कैबिनेट मन्त्री के दायित्व स घटकर नही था। माउण्टबाटन भारत के असंवैधानिक गवर्नर जनरल थे।

जूनागढ़ का मामला राष्ट्रसंघ में न भेजा गया लेकिन वहाँ भारतीय सेना के प्रवेश को रोके रहने में माउण्टबाटन को सफलता मिली। वह भारतीय नेताओं को फुसलाते थे, डराते-धमकाते भी थे, इसका प्रमाण इसी सन्दर्भ में दिया हुआ मेनन का विवरण है। "लार्ड माउण्टबाटन ने जल्दबाजी में की हुई कार्रवाई के खतरे पर ज़ोर देते हुए कहा कि इससे भारत और पाकिस्तान में युद्ध हो सकता है। सम्भव है ऐसे युद्ध में पाकिस्तान का सफाया ही हो जाय लेकिन कम-से-कम एक पीढ़ी के लिए उससे भारत का भी अन्त हो जायेगा। उन्हें इस बात की चिन्ता थी कि गलत कार्रवाई के ज़रिये भारत अपनी महान् अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति न खो दे। अन्त में तै हुआ कि सीमाओं तक, किन्तु भारतीय क्षेत्र के भीतर, सेना भेजने की जो योजना बनायी जा रही थी, उसमें विलम्ब न किया जाय; नेहरू पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री को बबरियावाद और मँगरोल की कानूनी स्थिति का पूरा ब्यौरा देते हुए तार भेजें, और उसमें माँग करें कि बबरियावाद से जूनागढ़ की सेना हटाई जाय; और भारत-पाकिस्तान के प्रधानमन्त्रियों की अगली बैठक में इस मामले पर विचार किया जाय।" (उप. १३२)। माउण्टबाटन नेहरू-पटेल को धमका रहे थे कि *युद्ध में पाकिस्तान का सफाया होगा तो कम-से-कम एक पीढ़ी के लिए भारत का भी अन्त हो जायेगा* ("*it would also be the end of India for at least a generation to come.*")। भारत के इन महान् नेताओं ने माउण्टबाटन की यह बात चुपचाप सुन ली। माउण्टबाटन ने अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का हलवा दिखाकर फुसलाया : भारत संसार का सबसे बड़ा जनतन्त्र है, ब्रिटेन-भारत-अमरीका समान रूप से जनवादी मूल्यों (डिमोक्रैटिक वैल्यूज़ !) में विश्वास करते हैं, पाकिस्तान से लड़ाई हुई तो समझ लीजिये, ब्रिटेन, अमरीका और फ्रीवर्ल्ड के बाकी सभी देश आपको हमलावर कहने लगेंगे।

स्थिति बिगड़ती चली गयी। "एक लाख से अधिक हिन्दू रियासत [जूनागढ़] से भाग चुके थे। समूचे काठियावाड़ में कानून और व्यवस्था के लिए भारी खतरा था।" (पृ. १३२)। २१ अक्तूबर को भारत सरकार ने तै किया कि बबरियावाद और मँगरोल पर अधिकार करना होगा। इसके लिए योजना बनायी गयी और वह २५ अक्तूबर को स्वीकृत हुई। "लार्ड माउण्टबाटन चाहते थे कि वहाँ केन्द्रीय रिज़र्व पुलिस जाकर अधिकार करे लेकिन सरदार ने दृढ़ता से कहा कि यह कार्रवाई भारतीय सेना को करनी चाहिए।" (पृ. १३५)। मानवदर का खान लोगों को पकड़ रहा था और उन्हें तंग कर रहा था। प्रधानमन्त्री से परामर्श करने के बाद तै हुआ कि "रियासत का शासन अपने हाथ में लेने के लिए छोटे पुलिसदल के साथ पुलिस का डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल मानवदर भेजा जाय।" (उप.)। एक रियासत न सही, दूसरी सही; पुलिसदल भेजा तो गया। "पहली नवम्बर को भारत सरकार ने बबरियावाद का शासन अपने हाथ में लेने के लिए एक छोटे से दल (a small force) के साथ एक नागरिक प्रशासक भेजा। उसी दिन मँगरोल का शासन भी भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया।" (उप.)। बबरियावाद में जो छोटा दल भेजा गया, वह यदि सेना का था तो प्रतीक मात्र था क्योंकि उसके साथ शासन को अपने हाथ में लेने के लिए नागरिक प्रशासक मौजूद

था। मँगरोल में शायद किसी तरह का दल न भेजा गया था, न फौज का, न पुलिस का। जूनागढ़ के "नवाब ने देखा कि उसने जैसे सोचा था, घटनाएं वैसे नहीं हो रही हैं। उसने तै किया कि भाग चलना चाहिए।" (उप.)। और वह बेगमात, हीरे जवाहरात, कुतियों और कुत्तों की जमात के साथ पाकिस्तान भाग गया। इस घटनाक्रम के तिल को ताड़ बनाकर माउण्टबाटन कह रहे थे कि एक पीढ़ी के लिए भारत का अन्त हो जायेगा!

इस घटनाक्रम के सिलसिले में दो बातें और ध्यान देने योग्य हैं। पहली का सम्बन्ध जनमत संग्रह से है। १२ सितम्बर को नेहरू ने प्रस्ताव किया कि पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लियाकत अली खाँ को तार भेजकर सूचित किया जाय कि "रियासत का विलयन दो में से किसी एक डोमीनियन में हो, इस सिलसिले में भारत सरकार वहाँ की जनता की राय को मानने और उसी के अनुसार काम करने को राजी है।" (पृ. १२२)। कांग्रेसी नेता अपने व्यवहार में साबित कर रहे थे कि वे रियासती भारत को ब्रिटिश भारत से अलग मानते हैं। इसीलिए वे गुजरात की धरती के एक छोटे से भाग के लिए यह सिद्धान्त मान रहे थे कि उसका विलयन भारत में हो या पाकिस्तान में, इसका फैसला जनमत संग्रह से करा लिया जाय! यह बात अलग है कि नेहरू का तार लार्ड इस्मे अपने साथ कराँची ले गये थे और जिन्ना ने उसे स्वीकार न किया। दूसरी बात का सम्बन्ध रियासतों में जनता के क्रान्तिकारी उभार से है। जो कांग्रेसी नेता जनमतसंग्रह को हर समस्या का अचूक समाधान मानते थे, वे हर जगह कोशिश कर रहे थे कि क्रान्तिकारी उभार को रोके रहें, जनता को मतसंग्रह का काम क्रान्तिकारी ढंग से न करने दें! काठियावाड़ के नेताओं ने मेनन से कहा, यहाँ लोगों में सुरक्षा का भाव पैदा करने के लिए आपने आवश्यक कार्रवाई नहीं की; जूनागढ़ का मामला संगीन है, यहाँ आपने घुटने टेक दिये तो सरकार की इज्जत में भारी बट्टा लगेगा। "मैंने उन्हें समझाया कि स्थिति क्या है। ढेबर ने मुझसे कहा कि काठियावाड़ में स्थिति अत्यन्त विस्फोटक है और कोई भी नेता उन्हें ज्यादा देर तक रोके न रह सकेगा। सामलदास गांधी ने कहा कि लोग कानून अपने हाथ में लेने को तैयार हैं, वे स्वयं को सगठित करेंगे और जूनागढ़ पर धावा बोलेंगे। मैंने उन्हें भारत सरकार की कठिनाइयाँ बतायी और समझाया कि आपकी कार्रवाई का असर भारत-पाक सम्बन्धों पर पड़ेगा। ढेबर ने भारत सरकार की कठिनाइयाँ स्वीकार की लेकिन उन्होंने कहा कि वह इस बात की गारण्टी नहीं दे सकते कि वह परिस्थिति को नियन्त्रण में रख सकेंगे। सामलदास गांधी रियासत में समानान्तर सरकार बनाने और समूचे काठियावाड़ में जोरदार आन्दोलन चलाने पर तुले हुए थे। उस परिस्थिति में मैं इतना ही कर सकता था कि नेताओं को संयम बनाये रहने की सलाह दूँ और प्रादेशिक आयुक्त बुच को सावधान कर दूँ कि घटनाक्रम पर निगाह रखें और मुझे रिपोर्ट, आवश्यक हो तो प्रतिदिन, भेजते रहें।" (पृ. १३०)।

संयम से काम लो, जनता को काबू में रखो, भारत सरकार की कठिनाइयाँ समझो; कहते हो जूनागढ़ में फौज भेजी जाय, जानते नहीं हो फौज भेजने से भारत-पाक सम्बन्ध बिगड़ जायेंगे; हो सकता है, युद्ध छिड़ जाय; मान लो

पाकिस्तान का सफाया हो गया, पर कम से कम एक पीढ़ी के लिए भारत का भी अन्त हो जायगा; स्वयं लार्ड माउण्टबाटन यह बात कह चुके है। मेनन को विश्वास न था कि काठियावाड़ी नेता उनकी बात मान लेंगे। इसलिए उन्होने कमिश्नर बुच को सावधान कर दिया कि परिस्थिति पर निगाह रखें और उन्हें रिपोर्ट भेजते रहें। हो सकता है, जूनागढ़ के नवाब को हटाने के लिए फौज की ज़रूरत न पड़े किन्तु जनता को नियन्त्रित रखने के लिए तो पड़ ही सकती थी।

दिल्ली आकर मेनन ने सरदार पटेल को जूनागढ़ का हाल बताया। जो कदम उठाये गये थे, सरदार ने उन्हें मंजूर किया "किन्तु वह समानान्तर सरकार बनाने के बारे मे काठियावाड़ी नेताओं के फैसले से प्रसन्न नहीं थे। उनका विचार था, आगे चलकर इससे उलझनें पैदा हो सकती है।" (पृ. १३०)। कश्मीर, काठियावाड़, त्रावनकोर-कोचीन, हैदराबाद, हर जगह मिलती-जुलती स्थिति थी। जनता अंग्रेज़ों की कठपुतलियाँ हटाकर नया शासनतन्त्र कायम करना चाहती थी, हर जगह कांग्रेसी नेता जनता की इस कार्यवाही को रोकने और कठपुतलियो को बनाये रखने की कोशिश में लगे हुए थे। मेनन ने जूनागढ के दीवान से कहा था कि "काठियावाड़ के लोग क्षुब्ध हैं। यदि उन्होंने तै कर लिया कि कानून अपने हाथ मे लेना है तो इसका मतलब होगा—नवाब के वंश का खात्मा।" (पृ. १२७-२८)। कहा जा सकता है कि मेनन नवाब को धमका रहे थे, उसके वंश की रक्षा से उन्हें कोई दिलचस्पी न थी। किन्तु यही बात उन्होने त्रावनकोर नरेश से कही थी। त्रावनकोर नरेश चाहते थे कि कुछ समय तक यथास्थिति बनी रहे। मेनन ने कहा, देश की तमाम रियासतों का विलयन हो चुका है। त्रावनकोर और कोचीन को पहले की सी हालत में छोड़ देने से नुक्ताचीनी होगी और शायद आन्दोलन भी हो। यदि दोनों रियासतो का एकीकरण आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ तो उनकी अपनी स्थिति पर इसका बहुत ही बुरा असर पड़ेगा। इसके विपरीत समस्या से तुरत निपटा गया तो उनकी स्थिति ज्यादा सुरक्षित आधार पर कायम रहेगी। (पृ. २६५)।

स्थिति का सुरक्षित आधार क्या होता है? मेनन ने हैदराबाद के निज़ाम से कहा, "भारत सरकार बदले की भावना से काम नहीं करती, उन्हें गद्दी से उतारने का उसका कोई इरादा नही है।" (पृ. ३६३)। निज़ाम भी और रियासतों की तरह केन्द्र से अपने सम्बन्ध कायम करेंगे तो "भारत सरकार उन्हें गद्दी पर बिठाये रहेगी।" (उप.)। निज़ाम ने अपनी जागीरो पर हक छोड़ा, "बदले मे भारत सरकार ने मुआवज़े के रूप में उनके लिए आजीवन पच्चीस लाख रुपयों का सालाना भत्ता बाँध दिया।" (पृ. ३६८)। केवल निज़ाम को नही, हैदराबाद के जागीरदारों को मुआवज़े के तौर पर १ करोड़ १४लाख ५० हज़ार रुपये सालाना देने का फैसला हुआ और कुल मुआवजे की रकम लगभग १८ करोड़ हुई। ("The total commutation sum payable by the state would work out roughly to Rs. 18 crores which would be paid in instalments, causing an annual burden on the State's finances of about Rs. 114.5 lakhs." पृ. २६८-६६)।

हैदराबाद का बन्दोबस्त करने के लिए वी. पी. मेनन को भेजा गया था। उन्होने सरदार पटेल से ज़ोर देकर कहा कि निज़ाम ३७ साल से हुकूमत कर रहे हैं। रियासत में और बाकी देश के अपने सहधर्मियों मे ही उनकी प्रतिष्ठा नही है, कुछ प्रतिष्ठा देश के बाहर भी है। पुलिस कार्रवाई के तुरत बाद उनके राजवंश को खत्म करने से मुसलमानों पर बेचैनी पैदा करनेवाला असर पड़ेगा। "व्यक्तिगत रूप से मुझे सन्देह नही था कि निज़ाम को बनाये रखना चाहिए। एक बार रियासत में जनतान्त्रिक सरकार कायम हो गयी तो निज़ाम संवैधानिक प्रमुख हो जायेंगे और उस तरफ से कोई परेशानी न होगी। सरदार इस दृष्टिकोण से सहमत थे और उन्होंने कहा कि वह नेहरू से परामर्श करेंगे। दूसरे दिन उन्होने सूचित किया कि नेहरू सहमत हैं।" (पृ. ३६१)। माउण्टबाटन जून १६४८ में भारत से विदा हो चुके थे। उनके बाद उनकी नीति को अमल में लाने का काम मेनन कर रहे थे। पटेल और नेहरू स्वयं ऐसा ही फैसला करते, वह अलग बात है; देखने-सुनने लायक बात यह है कि मेनन खुद पहल करते हैं, वह नेहरू और पटेल की राय का इन्तजार नहीं करते। और जब वह निज़ाम से मिलते हैं, तब उन्हें याद दिलाते हैं कि निज़ाम की रक्षा अंग्रेज़ो ने की थी। "जब से १७१२ में आसफजाही वंश कायम हुआ था, तब से दक्खिन की धरती पर निज़ाम विदेशी रहे हैं। शुरू के दिनों में उन्होने या तो फ्रान्सीसियो की मदद का भरोसा किया या अंग्रेज़ों की मदद का किया, और अन्त मे अंग्रेज़ ही थे जिन्होंने इस वंश को समाप्त होने से बचाया और उसे गद्दी पर बिठाये रहे।" (पृ. ३६३)। अंग्रेज़ों की सहायता से कन्नड, मराठी, तेलुगु भाषी क्षेत्रों को काट-छाँटकर निज़ाम ने अपनी रियासत बनायी थी और अंग्रेज़ो की मदद से ही उन्होने रियासत कायम रखी थी। अंग्रेज़ों के ऐसे वफादार चाकर को गद्दी पर बिठाये रखने से जितनी गहरी दिलचस्पी मेनन को थी, उतनी माउण्टबाटन के अलावा और किसे हो सकती थी ?

अगस्त १६४७ से निज़ाम ने लेफ्टिनेण्ट टी. टी. मूर को अपने यहाँ सैनिक-सेवा के लिए नियुक्त किया। वह पहले ब्रिटिश सेना में था। वह जीप में विस्फोटक सामग्री लादे हुए नलद्रुग की ओर जा रहा था। उसे मुख्य पुलों को उड़ा देने का काम सौंपा गया था। भारतीय सेना ने उसे पकड़ लिया। (पृ. ३५६)। जब तक माउण्टबाटन भारत में थे, तब तक हैदराबाद से विलयन सम्बन्धी वार्ता का भार उन्होने सँभाला था। "लार्ड माउण्टबाटन जानते थे कि १५ अगस्त तक हैदराबाद को विलयन के लिए राज़ी करना असम्भव है; साथ ही वह निज़ाम से वार्ता भंग न करना चाहते थे। इसलिए उन्होने भारत सरकार से कहा कि हैदराबाद को दो महीने का समय और दिया जाय। कैबिनेट सहमत हुई और उसने माउण्टबाटन से प्रार्थना की कि वह वार्ता जारी रखें।" (पृ. ३०४-३०५)। इस तरह १५ अगस्त से पहले और उसके बाद भी विलयन सम्बन्धी वार्ता माउण्टबाटन करते रहे थे। और निज़ाम की ओर से प्रमुख वार्ताकार सर वाल्टर मौङ्कटन नाम का अंग्रेज़ था! और वार्ता दो महीने के बाद तक चलती रही, माउण्टबाटन के विदा होने के बाद भी चली। इस बीच निज़ाम रज़ाकारों को संगठित होने की सुविधा देते रहे, अपनी फौज को हथियार खरीद-

कर मज़बूत बनाते रहे, पाकिस्तान से साँठगाँठ करते रहे और उन्होंने मामला राष्ट्र संघ में उठाया। कराँची को अड्डा बनाकर सिडनी कॉटन नाम का आस्ट्रेलियन हैदराबाद में चोरी से हथियार जुटा रहा था। (पृ. ३५३)। निज़ाम ने भारत सरकार से २० करोड़ रुपये के ऋणपत्र (securities) ले रखे थे। भारत सरकार ने निज़ाम से समझौता किया था कि जब तक यथास्थिति चलती है, तब तक पाकिस्तान को हस्तान्तरित ऋणपत्रों का कोई अंश भुनाया न जायेगा किन्तु पाकिस्तान सरकार ने इन ऋणपत्रों को भुनाना शुरू किया। तब भारत सरकार ने अध्यादेश जारी किया कि जो भी सरकारी ऋणपत्र हैदराबाद रियासत के पास होगा, वह केन्द्रीय सरकार की सहमति के बिना स्थानान्तरित न किया जा सकेगा। "It was about this time that the Government of Pakistan began to cash a portion of the Rs. 20 crores of Government of India securities which the Government of Hyderabad had offered to them as a loan, despite the solemn promise we had been given by Laik Ali that no portion of the securities transferred to Pakistan would be cashed during the pendency of the Standstill Agreement. The Government of India therefore issued an ordinance declaring that any Government securities held by, or on behalf of, the Nizam, the Government of Hyderabad and the Hyderabad State Bank, were not transferable without the approval of the Central Government." (पृ. ३५४-५५)।

१७ अगस्त को निज़ाम की कार्यपरिषद् के अध्यक्ष लायक अली ने नेहरू को लिखा, भारत और हैदराबाद के बीच स्थायी समझौता कराने के लिए वह राष्ट्रसंघ की सहायता के लिए लिख रहे हैं। भारत सरकार की ओर से "२३ अगस्त को यह जवाब भेजा गया कि उसके और हैदराबाद के बीच जो मतभेद है, वह बिल्कुल घरेलू मामला है। भारत से सम्बन्ध को लेकर हैदराबाद की जो ऐतिहासिक और वर्तमान स्थिति थी उसे देखते सरकार इस बात से सहमत न हो सकती थी कि मामला सुलझाने के लिए हैदराबाद को अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार राष्ट्र संघ या अन्य किसी बाहरी संस्था द्वारा दखलन्दाज़ी कराने का अधिकार है।" (पृ. ३५६)। रियासतें भारत में बनी रहती हैं या भारत से बाहर रहती हैं, यह तै करने का अधिकार किसी बाहरी संस्था को नहीं है, यह बात कश्मीर के बारे में भी कही जा सकती थी। किन्तु १९४७ में स्वयं भारत सरकार ने भारत कश्मीर सम्बन्धों के घरेलू मामले में राष्ट्र संघ नाम की बाहरी संस्था को दखल देने के लिए निमन्त्रित किया था। बेशक उसने माउण्टबाटन के दबाव से ऐसा किया था और जून १९४८ के बाद वह इस दबाव से मुक्त भी हो गयी थी किन्तु स्वयं कांग्रेस की नीति रियासती जनता को ब्रिटिश जनता के आन्दोलनों से दूर रखने की थी। यदि ब्रिटिश भारत के लोग स्वाधीनता आन्दोलनों के दौरान अपनी राष्ट्रीय एकता मज़बूत कर सकते थे तो यह कल्पना की जा सकती है कि इनके साथ रियासती जनता भी अपना आन्दोलन चलाती तो राष्ट्रीय एकता कितनी सुदृढ़ होती। ब्रिटिश भारत और रियासती

भारत की जनता के संयुक्त आन्दोलन को चलाने मे अंग्रेजों और देशी नरेशों के बाद सबसे बड़ी बाधा कांग्रेस का दक्षिणपन्थी नेतृत्व था।

मेनन ने अपनी पुस्तक के आरम्भ में १८५८ के बाद की स्थिति का जायजा लेते हुए ठीक लिखा है कि "*इस प्रकार देशी रियासतें भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग बन गयी*।" (पृ. १०)। इसी अभिन्न अंग को कांग्रेसी नेता भिन्न अंग मान रहे थे। १९२३ मे असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद स्वराजिस्ट पार्टी बनी। इस पार्टी के नेताओं ने केन्द्रीय सभा मे भारत को *तुरत डोमीनियन स्टेटस देने की माँग की*। "*बहस के दौरान गृहसदस्य* सर मैलकम हेली ने स्वराजिस्टो से पूछा कि उनके अनुसार डोमीनियन स्टेटस में देशी रियासतें भी शरीक होंगी या नही, यदि होंगी तो क्या वे इसके लिए राजी हैं और राजी हैं तो किन शर्तों पर राजी हैं। पण्डित मोतीलाल नेहरू ने जवाब दिया कि यदि रियासतें शरीक होना चाहे तो उनके प्रतिनिधियों का स्वागत है; वर्ना नही है।" (पृ २०)। मैलकम हेली यही कहलवाना चाहते थे। तुम केवल ब्रिटिश भारत के बारे मे हमारे सामने कोई माँग रख सकते हो; रियासती भारत अलग है, उसके बारे में तुम्हें बोलने का कोई हक नहीं है। मोतीलाल नेहरू ने यह तर्क स्वीकार करते हुए कहा, देशी रियासतें हमारे साथ डोमीनियन में शामिल होना चाहें तो उनका स्वागत है; न होना चाहें, तो वे जानें, फैसला उन्हें करना है। जूनागढ़ मे मतसंग्रह करा लो, रियासत भारत नाम की डोमीनियन मे शरीक होना चाहे तो उसका स्वागत है, न शरीक होना चाहे तो वह जाने, उसे बाध्य थोड़े हो किया जायगा! १९४७ मे कांग्रेसी नेता जूनागढ़ के मामले मे जिस नीति पर चल रहे थे, वह बुनियादी तौर पर यही १९२३ की स्वराजिस्ट पार्टीवाली नीति थी। यही नीति हैदराबाद में भी, कम से कम माउण्टबाटन के कार्यकाल मे, लागू की गयी थी। "सरदार [पटेल] इस बारे में दृढ थे कि निजाम को मसला अपनी जनता के सामने उसके फैसले के लिए रखना होगा और वह फैसला उन्हें मानना होगा। ऐसे जनमतसंग्रह का जो भी नतीजा हो, भारत सरकार को वह मान्य होगा और ऐसी योजना मे सरकार बरार को शामिल करने पर राजी होगी।" (पृ. ३०७)। हैदराबाद की रियासत भारतवर्ष का भाग है या नहीं, उसका भाग बने या नही, यह तै करने के लिए जनमतसंग्रह की बात कहकर सरदार पटेल दृढ़ता का परिचय दे रहे थे! "लार्ड माउण्टबाटन ने ब्रिटिश अफसरों की निगरानी में जनमतसंग्रह का प्रस्ताव निजाम के पास २७ अगस्त को भेज दिया।" (उप.)। यदि भारत सरकार की ओर से माउण्टबाटन हैदराबाद में अंग्रेज अफसरों की निगरानी में जनमत सग्रह कराने का प्रस्ताव पेश कर सकते थे तो कश्मीर में राष्ट्र संघ के अफसरों की निगरानी में जनमतसग्रह कराने का प्रस्ताव वह क्यों न पेश कर सकते थे? और भारत सरकार उसे अस्वीकार किस मुँह से करती? निजाम को जनमतसंग्रह का प्रस्ताव माउण्टबाटन ने २७ अगस्त १९४७ को भेजा था। कश्मीर का मामला सुलझाने में राष्ट्र संघ की सहायता के लिए भारत का आवेदनपत्र ३१ दिसम्बर १९४७ को भेजा गया था।

मेनन ने ठीक लिखा है कि मोतीलाल नेहरू ने मैलकम हेली को जो उत्तर

दिया था, वह रियासतों के प्रति कांग्रेसी नीति के अनुरूप था। "दिसम्बर १९२० के नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने देशी रियासतो के अन्दरूनी मामलो मे दखल न देने की नीति निर्धारित की थी। काठियावाड़ के राजनीतिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए जनवरी १९२५ में गांधीजी ने कहा था कि 'जैसे ब्रिटिश सरकार और भारतीय रियासतो के आपसी मामलों मे राष्ट्रीय कांग्रेस कारगर ढंग से आवाज़ बुलन्द नही कर सकती, ठीक वैसे ही देशी रियासतो और उनकी प्रजा के आपसी सम्बन्धो में उसकी दखलन्दाजी कारगर न होगी।' उन्होने यहाँ तक कहा कि यदि ब्रिटिश भारत को स्वराज मिल जाय (if British India became self-governing) तो सबकुछ ठीक हो जायगा। कांग्रेस दो मोर्चों पर लड़ाई मोल लेना नहीं चाहती; और रियासतों मे उसका कोई कहने लायक संगठन था भी नही।" (पृ. २१)। साइमन कमीशन के जवाब मे नेहरू कमेटी ने जब भारत के संविधान की रूपरेखा बनायी, तब उसने अखिल भारतीय संघ की धारणा स्वीकार करते हुए "रियासतो को आश्वासन दिया कि यदि वे संघ मे शामिल होना चाहे तो 'हम उनके फैसले का हार्दिक स्वागत करेंगे और भरसक उनके हक और विशेषाधिकार बनाये रहेगे'।" भारतीय संघ मे शामिल होना, न होना रियासतों पर छोड़ दिया गया था; मुस्लिम लीग से पहले आत्मनिर्णय का अधिकार देशी नरेशों को दे दिया गया था! जिन विशेषाधिकारो को बनाये रखने का आश्वासन दिया गया था, वे रियासती प्रजा के नहीं थे, वे उसके शासकों, देशी नरेशों के थे और ये नरेश भारत में अंग्रेजी राज के मजबूत खम्भे थे। तब १९४७-४८ मे मेनन और माउण्टबाटन, नेहरू और पटेल इन राजवंशों की रक्षा मे क्यों न तत्पर होते?

१९३५ मे ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने जो भारत सरकार सम्बन्धी कानून बनाया, उसमें संघीय आधार पर ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के सम्बन्धो का विधान था। विशेष बात यह थी कि सूबे तो संघ मे सहज ही शामिल मान लिये जायेंगे "किन्तु रियासतो का संघ मे शामिल होना उनकी इच्छा पर निर्भर होगा।" (पृ. ३३)। माउण्टबाटन के संवैधानिक सलाहकार मेनन ने रियासतों के विलयन की जो योजना बनायी थी, वह इसी १९३५ के काले कानून के अनुरूप थी। रियासतें भारत राष्ट्र का हिस्सा नही हैं; भारतीय संघ में शामिल होना, न होना उनकी इच्छा पर निर्भर है! जनमतसंग्रह के प्रस्ताव से इस बात पर पर्दा न डाला जा सकता था कि कांग्रेसी नेता अमल मे ब्रिटिश भारत को रियासती भारत से अलग मानते आये थे। इसके साथ यह बात भी सही है कि सभी कांग्रेसजन अपने नेताओं की इस नीति से सहमत नही थे। अक्तूबर १९३७ मे ए. आई. सी. सी. ने दमन नीति अपनाने के लिए मैसूर सरकार की तीव्र निन्दा की "और देशी रियासतों तथा ब्रिटिश भारत की जनता से अपील की कि आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए मैसूर की जनता के संघर्ष मे उसे अपना पूरा समर्थन दे।" "गांधीजी इस प्रस्ताव से प्रसन्न नही हुए और उन्होंने हरिजन मे यह कहकर उसकी आलोचना की कि वह रियासतों मे दखल न देने की कांग्रेसी नीति के विरुद्ध है।" (पृ. ४२)। इस स्थिति मे यह भी साबित होता है कि गांधीजी का

अप्रसन्नता के बावजूद रियासतों में सामन्तविरोधी आन्दोलन चलाने के लिए कांग्रेसजनों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना सम्भव था। हैदराबाद में यही हुआ था।

मेनन ने हैदराबाद के निजामविरोधी सशस्त्र संघर्ष के बारे में लिखा है, "बम्बई के मुख्यमन्त्री ने बताया कि सीमा के बम्बईवाले भाग से कार्रवाई करते हुए कुछ सोशलिस्ट और कांग्रेसजन बारूदवाले हथियार (फायर आर्म्स) इस्तेमाल कर रहे हैं। तै किया गया कि सीमा के हमारी तरफ जो भी ऐसे हथियार इस्तेमाल करता हो, उसके हथियार ले लिये जायें। मद्रास के मुख्यमन्त्री ने अपने प्रान्त में कम्युनिस्टों की पैदा की हुई कठिनाइयाँ बतायी। आन्ध्र और हैदराबाद के सरहदी इलाकों में इन्होंने अपने पैर जमा लिये थे और ये.मारो और भाग आओ की नीति पर चल रहे थे। दरअसल इन सरहदी इलाकों के लोग यह तक कहते थे कि दिन में रजाकारों की और रात में कम्युनिस्टों की हुकूमत रहती है। मद्रास की सरकार फौजी मदद चाहती थी लेकिन भारत सरकार के पास उस समय वहाँ भेजने को सेना नहीं थी। (The Government of Madras wanted military aid, but the Government of India could spare no troops at the moment.)" (पृ. ३२६)। प्रान्तीय सरकारों से कहा गया कि वे सीमाओं पर फौजी पुलिस (मिलिटरी पुलिस) तैनात करके उन्हें सुदृढ़ बनायें।

मद्रास सरकार किसके खिलाफ फौजी मदद माँग रही थी? निजामशाही के खिलाफ नहीं, रजाकारों के खिलाफ नहीं। वह कम्युनिस्टों के खिलाफ यह मदद माँग रही थी। यदि उस समय उसकी मदद को फौज नहीं भेजी गयी तो इसका कारण यह नहीं था कि भारत सरकार सामन्तविरोधी आन्दोलन को दबाना न चाहती थी वरन् यह था कि उसके पास वहाँ भेजने को फालतू सैनिक थे नहीं। जब तक नियमित सेना न भेजी जा सके, तब तक फौजी पुलिस से काम लेने की सलाह वह दे रही थी। बम्बई के जो मुख्यमन्त्री नाविक विद्रोह से परेशान हो चुके थे, वही अपने प्रान्त के निवासियों द्वारा निजामविरोधी कार्रवाई से परेशान थे। जन-आन्दोलन हैदराबाद रियासत में सक्रिय था, वह पड़ोसी बम्बई और मद्रास प्रान्तों में सक्रिय था। यदि यह संयुक्त आन्दोलन निजामशाही को क्रान्तिकारी ढंग से समाप्त कर देता तो इसमें सन्देह नहीं कि माउण्टबाटन की सारी योजना खटाई में पड़ जाती और कश्मीर की समस्या का समाधान भी क्रान्तिकारी ढंग से ही होता। किन्तु तब सत्ता का इजारा पूँजीपति वर्ग के हाथ में न होता। इस वर्ग के हितों की रक्षा के लिए कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं ने राष्ट्रीय एकता की बलि दे दी। राष्ट्रीय एकता को बहाल करने और उसे सुदृढ़ करने के लक्ष्य को सामने रखकर ही उस समय इस वर्ग और उसके प्रतिनिधियों को अलग-थलग करके निष्क्रिय बनाया जा सकता था।

निजामशाही और अंग्रेजों के गठबन्धन पर पर्दा डालने के लिए मेनन ने बार-बार रजाकारों से कम्युनिस्टों के सहयोग की बात कही है। निजाम से मुलाकात करने के बाद मेनन रजाकारों के नेता कासिम रिजवी से मिलने गये।

छोड़े, हैदराबाद का पुराना ढाँचा तोड़े और जातीय क्षेत्रों का पुनर्गठन करे। आन्ध्र, केरल आदि जातीय क्षेत्रों के पुनर्गठित हो जाने पर भी सामन्तविरोधी क्रान्ति पूरी नहीं हुई। किसानों में भूमि का वितरण इस क्रान्ति का एक पक्ष है जो पूरा नहीं हुआ। दूसरा पक्ष वह है जिसका सम्बन्ध बड़ी-बड़ी रियासतों के निरंकुश स्वामियों द्वारा शताब्दियों तक जनता के उत्पीड़न से प्राप्त की हुई अथाह सम्पदा से है। इस सम्पदा को जब्त करके भारत सरकार उसे राष्ट्रीय विकास की विभिन्न योजनाओं मे लगा सकती थी। यह काम पूँजीपतिवर्ग के हित मे था। किन्तु अंग्रेज़ी राज के सहायकों की सम्पदा ज़ब्त करने के बदले वह उन्हें सामन्ती हक़ छोड़ने के नाम पर करोड़ों रुपये मुआवज़े आदि के रूप में दे रही थी और विकास-कार्यों के लिए विदेशी संस्थाओं से कर्ज ले रही थी। पूँजीपतिवर्ग पुराने सामन्तों का चोला बदलवाकर उन्हें अपने वर्ग में शामिल कर रहा था; सामन्ती सम्पदा के राष्ट्रीयकरण के बदले वह सामन्तों का पूँजीवादीकरण कर रहा था। इस प्रक्रिया का भार ढोते थे सबसे निचले स्तर के किसान। ऐसी स्थिति मे करोड़ों आदमी गरीबी की मानक रेखा के नीचे पड़े हुए महा गरीबी मे जीते और मरते है, यह स्वाभाविक है।

अंग्रेजों के जाने के बाद रियासती भारत पहले की-सी स्थिति में नही है, यह बात सही है। जो परिवर्तन हुआ है, वह उस नीति को त्यागने से हुआ है जिसे माउण्टबाटन और मेनन ने पटेल और नेहरू के लिए निर्धारित किया था। नीति त्यागने की नौबत तभी आयी है जब जनआन्दोलनों ने पूँजीवादी नेताओं को ऐसा करने के लिए बाध्य किया है। सरदार पटेल की विलयन नीति ने हैदराबाद की पुरानी सीमाएँ कायम रखीं, जनआन्दोलन ने दिल्ली सरकार को बाध्य किया कि हैदराबाद की सीमाएँ भंग करे, आन्ध्र, कर्णाटक आदि राज्यों को पुनर्गठित करे। माउण्टबाटन के सम्मोहन और व्यवहारकुशलता का लाभ उठाते हुए नेहरू और पटेल ने कश्मीर मे जो सामन्तविरोधी क्रान्ति की, उसका परिणाम यह हुआ कि जम्मू-कश्मीर राज्य १९४७ से अब तक विभाजित बना हुआ है और उसके एक नये विभाजन की नौबत भी आ सकती है। साम्राज्यवादियों और उनके लगुओं-भगुओं द्वारा भारत सरकार पर सैनिक और राजनीतिक दबाव डालने का प्रमुख साधन है कश्मीर। सम्प्रदायवाद और देशी रियासतें, राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन को छिन्न-भिन्न करने के ये दो साधन अंग्रेजों के पास थे। ये दोनों साधन जैसे एक साथ कश्मीर में क्रियाशील हैं, वैसे भारत में अन्यत्र नहीं हैं। युद्धविराम की घोषणा के बाद कश्मीर मे साम्प्रदायिकता बढ़ी है, घटी नहीं है। इसी साम्प्रदायिकता के सहारे अंग्रेज और अमरीकी साम्राज्यवादी कश्मीर नाम की देशी रियासत के विलयन की समस्या का उपयोग भारत सरकार पर दबाव डालने के लिए करते हैं। भारत सरकार पर दबाव डालने के अलावा उनका उद्देश्य भारत के जनआन्दोलन को छिन्न-भिन्न करना भी है। और केवल भारत के जनआन्दोलन को नहीं, पाकिस्तान के जनआन्दोलन को संगठित न होने देना भी उनका लक्ष्य है। भारत और पाकिस्तान की जनता का संयुक्त आन्दोलन ही माउण्टबाटन की विरासत खत्म करके यहाँ की राष्ट्रीय

और जातीय समस्याओं का स्थायी समाधान प्रस्तुत कर सकता है।

२. सुधारवाद की आलोचना

१९४८ में कम्युनिस्ट पार्टी ने परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए अपनी दूसरी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव में कहा था, राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व भारतीय पूँजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधि था। उसने क्रान्तिकारी आन्दोलन से उस समय विश्वासघात किया जब वह साम्राज्यवादी व्यवस्था को उलटनेवाला था। उसने अपने स्वार्थी हितों के लिए यथासम्भव अधिक से अधिक रिआयतें पाने के लिए आन्दोलन का उपयोग किया। उसने कांग्रेस को आन्दोलन से अलग रखा, उसने अपने-आप फूट पड़नेवाले जुझारू संघर्षों को अलगाव की हालत में डाला, उनका दमन किया, इस तरह साम्राज्यविरोधी लड़ाई को विघटित करने का खेल उसने खेला और उस लड़ाई का दमन करने की नीति पर वह चला।

यहाँ पहली बात तो यह कही गयी है कि भारत में एक शक्तिशाली क्रान्तिकारी आन्दोलन मौजूद था, और यह आन्दोलन साम्राज्यवादी व्यवस्था को उलट देने की ताकत रखता था। दूसरी बात यह कही गयी है कि कांग्रेसी नेतृत्व ने स्वयं को उससे अलग रखा, उसका दमन किया, लेकिन उसका उपयोग भी किया, जिससे कि पूँजीपतिवर्ग के हित में अधिक से अधिक रिआयतें हासिल की जा सकें।

अंग्रेज़ों ने अन्तरिम सरकार पर साम्प्रदायिक दंगों का दबाव किस तरह डाला, इसके बारे में प्रस्ताव में कहा गया था, कैबिनेट मिशन की मूल योजना में प्रत्यक्ष विभाजन की बात न कही गयी थी। कांग्रेस के दबाव से उसे यह रिआयत (विभाजन की बात न कहने की रिआयत) दी गयी थी लेकिन जैसे ही कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार बनायी, वैसे ही दंगों का दबाव बढ़ाया गया। लीग ने सीधी कार्रवाई शुरू की; उससे अंग्रेज़ों ने लाभ उठाया। बाद को मुस्लिम लीग कैबिनेट में शामिल हुई; तब कैबिनेट के लीगी सदस्यों द्वारा भी दबाव डाला गया और कांग्रेस के लिए सरकार चलाना असम्भव हो गया। इस प्रकार कांग्रेस को बाध्य होकर भारत का विभाजन स्वीकार करना पड़ा।

कम्युनिस्ट पार्टी ने भारत-विभाजन के बारे में आगे कहा: कांग्रेस और मुस्लिम लीग की नीति के कारण साम्राज्यवाद अल्पसंख्यकों के कत्लेआम और भयानक दंगे संगठित कर सका। हिन्दुओं और मुसलमानों में वह शत्रुता पैदा कर सका, दोनों राज्यों में उसने लड़ाई की उत्तेजना पैदा की जो ज़रूरत पड़ने पर साम्राज्यवादी हितों के लिए काम में आ सके। विभाजन ऐसा हथियार है जिससे कभी भी दंगे कराये जा सकते हैं और युद्ध के लिए अपीलें करके क्रान्तिकारी आन्दोलन को भटकाया जा सकता है। जनवादी आन्दोलन की एकता और आन्तरिक दृढ़ता पर यह ज़बर्दस्त हमला है।

कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस में सुधारवादी भटकाव पर अपनी रिपोर्ट देते हुए बी. टी. रणदिवे ने कहा था, पाकिस्तान बनने से किसी जाति (नैशनैलिटी) को आज़ादी नहीं मिली, न हिन्दू या मुस्लिम जनता के किसी हिस्से को आज़ादी मिली है। वह साम्राज्यवादी षड्यन्त्र है जिससे कि हिन्दू और मुस्लिम जनता

विभाजित रहे; सामान्य जनवादी आन्दोलन से लड़ने के लिए और क्रान्ति की शक्तियों को हराने के लिए वह साम्राज्यवाद का षड्यन्त्र है।

१९५३-५४ में कम्युनिस्ट पार्टी की तीसरी कांग्रेस हुई। इसके प्रस्ताव मे अमरीकी साम्राज्यवाद और पाकिस्तान के आपसी सम्बन्धों के बारे मे कहा गया था : अमरीकी साम्राज्यवादी कश्मीर मे जो दुरभिसन्धि कर रहे हैं और पाकिस्तान से जो फ़ौजी सहयोग करना चाहते हैं, उससे युद्ध की आक्रामक तैयारी भारत के दरवाजे तक आ पहुँची है। यह तैयारी रूस और चीन के खिलाफ़ ही नही है, वह भारत के लिए भारी खतरा है और स्वयं पाकिस्तान की शान्ति और स्वाधीनता के लिए खतरा है। "अमरीकी साम्राज्यवादियों ने पाकिस्तान के भ्रष्ट और प्रतिक्रियावादी शासकों की सहायता से वहाँ अपने पैर जमा लिये हैं, वे पाकिस्तान के अर्थतन्त्र और राजनीतिक जीवन पर नियन्त्रण पा गये हैं, उसकी सेना, उसकी जनशक्ति और साधनों पर हावी हो गये हैं, वहाँ अपने फौजी अड्डे बना रहे है। इस तरह वे भारतीय सरकार पर दबाव डालते हैं कि वह भी उनके पीछे चले और भारत मे भी उन्हें वैसी ही रिआयतें मिलें।" प्रस्ताव मे यह भी बताया गया कि पाकिस्तान का निर्माण करके साम्राज्यवाद ने भारत के जनवादी आन्दोलन में जबर्दस्त फूट डाली है। पाकिस्तान मे अमरीकियो को जितना ही सफलता मिलती है, उतना ही भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध खराब होंगे, अन्धराष्ट्रवादी साम्प्रदायिक भावना उभारी जायेगी, दोनों देशों के जनवादी आन्दोलन के लिए निरन्तर खतरा बना रहेगा और दोनों देशों पर साम्राज्यवाद की जकड़ मजबूत होगी।

१९४८ और १९५३-५४ की पार्टी कांग्रेसों ने भारत विभाजन की तरफ एक ही रुख अपनाया था, वे उसे साम्राज्यवाद का जबर्दस्त षड्यन्त्र मानती थीं, सम्प्रदायवाद को उभारते रहने और ज़नवादी आन्दोलन में फूट डालने का साधन मानती थी। कम्युनिस्ट पार्टी भारत-विभाजन की योजना का विरोध क्यों नही कर पायी, क्रान्तिकारी उभार का नेतृत्व करके दृढ़तापूर्वक उसे आखिरी मंजिल तक क्यो नही पहुँचा पायी, इस सवाल का जवाब देते हुए कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व ने दूसरी पार्टी कांग्रेस में कुछ महत्वपूर्ण बातें कही थी। मुख्य बात यह थी कि पार्टी ने संघर्ष का रास्ता छोड़ दिया था और समझने लगी थी कि लोकयुद्ध के फलस्वरूप बिना लड़े-भिड़े भारत को आजादी मिल जायेगी। सुधारवादी भटकाव पर अपनी रिपोर्ट में 'आजादी की ओर बढ़ चलो' ('फारवर्ड टू फ्रीडम') की आलोचना करते हुए रणदिवे ने लिखा था, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का विवेचन गम्भीरता से किया जाता तो यह बात साफ होती कि फासिस्टवाद की पराजय से विश्व-साम्राज्यवाद बेहद कमजोर होगा और क्रान्तिकारी उभार आयेगा। इसके बदले पुस्तिका के लेखक ने "यह सुनहला सपना दिखाया कि फासिस्टवाद की सैनिक पराजय मात्र से भारत और संसार की मुक्ति अपने आप हो जायेगी।" कम्युनिस्ट पार्टी जनता को समझा रही थी कि संघर्ष किये बिना फासिस्टवाद के ध्वस्त होते ही आजादी अपने आप मिल जायेगी। देशभक्तों को फुसलाकर लोक-युद्ध के खेमे में लाने के लिए कहा जाता था कि साम्राज्यवाद जनता के शिविर में

कैद है। ऐसी शब्दावली बहुत ही खतरनाक थी। युद्ध के दौरान साम्राज्यवाद की विश्वासघातक और विघटनकारी भूमिका को पार्टी देख न सकी। पुस्तिका में कहा गया था कि युद्ध के बाद जो शान्ति सम्मेलन होगा, वह अभूतपूर्व होगा, "सोवियत सरकार विश्वजनता की नेता की हैसियत से काम करेगी। वह इस बात का ध्यान रखेगी कि विश्वजनता की इस लड़ाई के समाप्त होने पर विश्वजनता की शान्ति, विश्वजनता के लोकतन्त्र, विश्वजनता की मुक्ति और विश्वजनता की एकता की स्थापना होगी। सोवियत संघ अपनी विश्व उद्धारक की भूमिका इस तरह पूरी करेगा, संसार की समस्त जनता की स्वाधीनता, समृद्धि और शान्ति की नयी विश्वव्यवस्था कायम करके अपनी भूमिका पूरी करेगा।" इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए रणदिवे ने लिखा, पुस्तिका के लेखक ने साम्राज्यवाद की भूमिका को कम करके आँका और इस प्रकार लोकयुद्ध चलाने के नाम पर उसने साम्राज्यवादी नीति के खिलाफ संघर्ष करने की नीति छोड़ दी।

रणदिवे ने १९४२ के आन्दोलन के सिलसिले में लिखा, ९ अगस्त का संघर्ष जुआ खेलने की तरह नहीं था। वह पूँजीवादी नेताओं का सुविचारित प्रहार था। जो परिस्थितियाँ सरकार के लिए ज़रा भी अनुकूल नहीं थी, उनमें पूँजीवादी नेता सस्ता सौदा करने की कोशिश कर रहे थे। ९ अगस्त के संघर्ष से अपने को अलग करके कम्युनिस्ट अधिकाधिक हर महत्वपूर्ण मामले पर ऐसा रुख अपनाने लगे जो संघर्षविमुख, वर्गविमुख था। १९४३ मे पार्टी की केन्द्रीय समिति ने यह फैसला किया कि हड़तालें न होनी चाहिए। ज़मीदारी खत्म की जाय, कर्ज और लगान का बोझ कम किया जाय, युद्ध के लिए जबरिया वसूली का विरोध किया जाय, ये सब बातें छूटती गयी, किसानों की माँगो के लिए उनके संघर्ष की बात छूटती गयी और अधिक अन्न उपजाओ का नारा बुलन्द होता गया। कांग्रेसी नेता छोड़े जायें, यह माँग करके हम समझे कि हमने अपना साम्राज्यविरोधी कर्त्तव्य पूरा कर लिया। "दरअसल साम्राज्यवादी नीति के खिलाफ़ संघर्ष हम निरन्तर कम करते चले गये क्योंकि हम समझते थे कि साम्राज्यवाद तो जनता के शिविर मे बन्दी हो चुका है।" १९४३ मे भारी अन्नसकट पैदा हुआ। इस पर कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने जो प्रस्ताव पास किया, उसमे कही भी इस बात का ज़िक्र नही है कि अन्नसंकट का एक बुनियादी कारण ज़मीदारी प्रथा है; उसमें यह नही कहा गया कि अन्नसंकट के गहरे होने का मुख्य कारण गुलामी और गरीबी की साम्राज्यवादी व्यवस्था है। साम्राज्यवाद जनता के शिविर मे कैद है, इस धारणा की बुनियाद पर यह कहा गया कि जैसे ही जनता की एकता कायम होगी, वैसे ही साम्राज्यवाद और उसकी नौकरशाही भेड़ बन जायेंगे और घुटने टेक देंगे। समस्या का बुनियादी समाधान ढूँढ़ने की हर माँग का विरोध किया गया, साम्राज्यवादी नीतियो की आलोचना और उन पर हमले का विरोध किया गया। पांचवां दस्ता बहुत मज़बूत है, इस कल्पना को साम्राज्यविरोधी संघर्ष त्यागने के लिए इस्तेमाल किया गया। दुर्भिक्ष न पड़े, आंशिक माँगें पूरी हो जायें, इसके लिए उदारपन्थी ढंग से जनता की एकता पर जोर दिया गया। पार्टी की पहली कांग्रेस में उत्पादन सम्बन्धी रिपोर्ट देते हुए "बी. टी. रणदिवे ने कहा कि कही भी हड़ताल होती है

तो वह मजदूर वर्ग की पराजय है।" हमें समझना चाहिए था कि हड़ताल किये बिना मजदूर वर्ग की माँगें पूरी न होंगी। हड़तालविरोधी रुख अपनाने से हमने बहुत जगह मजदूर-आन्दोलन का समर्थन खो दिया। बी. टी. रणदिवे ने उत्पादन पर जो पुस्तिका लिखी, उसमे मजदूरों से खूब वादे किये गये; ये वादे भ्रामक थे और यथार्थ जीवन से उनका कोई सम्बन्ध न था। ४ अक्तूबर १९४३ को पार्टी ने एक गश्ती पत्र जारी किया जिसमें वर्ग-सहयोग है, जमींदारों के खिलाफ किसानों के संघर्ष त्यागने की बात है, जमीदारों और धर्मप्रचारको के बारे में भ्रम पैदा किये गये हैं। पत्र मे कहा गया था, "मौलवी, पादरी, पण्डित, किसी भी धर्म का नेता हो, इन सबके पास हमें पहुँचना चाहिए और उनसे कहना चाहिए कि आन्दोलन मे भाग लें। उन्हें समझाना-बुझाना चाहिए और विश्वास दिलाना चाहिए कि अपने भूखे भाइयों की सेवा से बढ़कर ईश्वर की और कोई सेवा नहीं है।" पत्र मे पार्टी के नेताओं से कहा गया है कि गाँवों में समस्या का ऐसा समाधान ढूँढें जो हर वर्ग को मंजूर हो। लगान को लेकर ज़मीदारों और किसानों में झगड़ा हो तो ऐसा समाधान निकालना चाहिए जो दोनों को मंजूर हो।

युद्ध के दौरान गैरकाग्रेसी दलों और गुटों की तरफ अपने रुख की आलोचना करते हुए रणदिवे ने *आगे लिखा, "साम्राज्यवाद की भूमिका के बारे मे गलत* समझ के कारण पार्टी ने सोशलिस्ट पार्टी, फारवर्ड ब्लाक और अन्य वामपन्थी गुटो को लेकर बड़ी ही भयानक स्थापनाएँ की। पाँचवें दस्ते का काम दरअसल साम्राज्यवाद कर रहा था लेकिन इन पार्टियों को पाँचवाँ दस्ता कहकर उनकी निन्दा की गयी। राष्ट्रीय पूँजीवादी नेताओं के सामने हम आदाब बजा लाते थे, साम्राज्यवाद के अस्तित्व की अनदेखी करते थे। इन गुटों के अनुयायी वामपन्थी राष्ट्रवादी थे, उन पर हम प्रहार करते थे। बेशक, आगे चलकर इन्हें हमें अपनी ओर करना पड़ा। हमने इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि तोड़फोड़ वगैरह के काम इन गुटों के अनुयायियो के साम्राज्यविरोधी आक्रोश के कारण किये जाते थे। इन पार्टियों को पाँचवाँ दस्ता कहने के कारण बहुतों की सहानुभूति हमारे प्रति समाप्त हुई और हजारों में शत्रुभाव पैदा हुआ। युद्ध के बाद इनके वामपन्थी अनुयाइयों ने कम्युनिस्टविरोधी हमला करने में पहल की, इसका एक कारण इन पार्टियों पर हमारा गलत आक्रमण था।"

युद्ध के दौरान पार्टी को किस तरह की लचीली नीति अपनानी चाहिए थी, इसके बारे में रणदिवे ने *लिखा था, "युद्ध का समर्थन करते हुए हम यह फैसला कर* सकते थे कि साम्राज्यवाद पर राजनीतिक और आर्थिक दोनों तरह का जबर्दस्त दबाव डाला जाय; हम उसके लिए गम्भीर स्थिति पैदा कर सकते थे। स्तालिनग्राद की लड़ाई के बाद साधारण लोग भी यह समझने लगे थे कि जापान का भारत पर सफलता की आशा से हमला करना बहुत कठिन है। लेकिन हम अपने विश्वास पर जमे रहे कि भारत पर हमला करना पहले जैसा ही आसान है और स्तालिनग्राद की लड़ाई से हमारी सुरक्षा के बारे में कोई भी तब्दीली नहीं हुई। बात इस हास्यास्पद मंजिल तक पहुँची कि जब सारी दुनिया कह रही थी कि जापानी हमले की बात पीछे ढेल दी गयी है, तब भी हमारे अखबार बराबर कहते

रहे कि जापान हमला करेगा। यदि हम यह मुख्य बात समझते कि फासिस्टवाद की सैनिक पराजय से नयी राजनीतिक शक्तियों को आगे बढ़ने का मौका मिलेगा और जनता अपने आप आजाद न हो जायेगी, यदि हम समझते कि साम्राज्यवाद अभी मजबूत है और युद्ध के बाद अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए षड्यन्त्र कर रहा है, तो हम उसके दाँव-पेंच के खिलाफ दृढ़ता से खड़े होते, हम यह विश्वास न करते कि युद्ध के बाद स्वाधीनता अपने आप मिल जायेगी और साम्राज्यवाद को लेकर हमें कुछ नहीं करना है।"

कम्युनिस्ट पार्टी ने आन्तरिक परिस्थिति का यह विश्लेषण किया था कि गृहयुद्ध अनिवार्य होता जा रहा है, इस तरह उसने पहलकदमी अंग्रेज़ों के लिए छोड़ दी थी। हमारी आँखों के सामने विशाल जनसंघर्ष फूट रहे थे, उन्हें हम देख न रहे थे। युद्ध के बाद भी युद्धकाल वाले दृष्टिकोण को हमने कायम रखा। पूँजी-पतिवर्ग का पिछलगुआपन इस बात से ज़ाहिर हुआ कि हम अपने राष्ट्रीय मतभेद दूर कर दें, यानी कांग्रेस और लीग के नेता अपने मतभेद दूर कर दें, तो स्वाधीनता मिल जायेगी। संघर्ष का परिप्रेक्ष्य नहीं था, सघर्ष के लिए आह्वान नहीं था। पार्टी की स्वतन्त्र भूमिका को सकीर्णतावाद करार दिया गया। कांग्रेसी नेता जेल से छूटकर आये तो लाखों आदमियों ने स्वागत सभाओं में भाग लिया और यह स्पष्ट था कि जनता कुछ भी कर गुज़रने को तैयार है, दरअसल धरती की कोई भी ताकत उसे परास्त नहीं कर सकती। कलकत्ते में आज़ाद हिन्द फौज को लेकर भारी प्रदर्शन हुआ। कलकत्ते के साथियों ने अपने सहज बोध से ऐसी घटनाओं के प्रति सही रुख अपनाया लेकिन केन्द्रीय समिति ने अपने प्रस्ताव में इस प्रदर्शन का ज़िक्र भी न किया, न उस महान् उभार का ज़िक्र किया जो हड़तालों, सभाओं और साम्राज्यविरोधी संघर्षों के रूप में प्रकट हो रहा था।

बी. टी. रणदिवे के अनुसार इस तरह के भटकावों के बावजूद पार्टी का विकास हुआ और वह आगे बढ़ी। जनता से नज़दीकी सम्बन्ध होने के कारण वह समय-समय पर बाध्य हुई कि उन समस्याओं को लेकर आगे बढ़े जो जनता को परेशान कर रही थीं। इस प्रकार आये दिन के हितों की रक्षा करने के लिए जनता ने पार्टी को प्रेरित किया, पार्टी ने उसके दैनिक संघर्षों में भाग लिया, कभी-कभी पार्टी-अनुशासन भंग करके पार्टी के सदस्य जनता की माँगों के लिए लड़े। यदि पार्टी लचीले दाँव-पेंच अपनाती, युद्ध की परिस्थिति जब भी अवसर देती, वह हमला करती, साम्राज्यवाद से लड़ती, जनसंघर्षों की अगुवाई करती, तो वह बहुत बड़ी ताकत बन जाती। खास तौर से स्तालिनग्राद की लड़ाई के बाद पार्टी को साहस के साथ साम्राज्यवाद पर हमला करने की नीति अपनानी चाहिए थी।

अधिकारी की पुस्तिका **पाकिस्तान और राष्ट्रीय एकता** की आलोचना करते हुए रणदिवे ने लिखा, साम्प्रदायिक समस्या का ऐतिहासिक विवरण देते हुए अधिकारी ने साम्राज्यवाद को बिलकुल छोड़ दिया। उन्होंने वर्गदृष्टि छोड़कर हिन्दू-मुस्लिम समस्या का विवेचन किया; फूट डालो और राज करो की साम्राज्यवादी नीति जनता की आँखों से छिपायी गयी। "इसके अलावा अधिकारी की पुस्तिका ने लीग के नेताओं और उनके पाकिस्तान के नारे की आलोचना करके

यह नहीं दिखाया कि यह साम्राज्यवाद से समझौता करने का हथियार है, लीग के नेताओं का साम्राज्यवादी सरकार से समझौता करने का खास तरीका है अलगाव। पाकिस्तान के नारे ने जनता के मिलेजुले संघर्ष से मुसलमानों को अलग रखा, उसकी अड़ंगा लगानेवाली भूमिका को, इस सिलसिले में लीग की फूटपरस्त भूमिका को भुला दिया गया। पाकिस्तान की माँग बीजरूप में मुसलमानों की आजादी की माँग है, यह नतीजा निकालने के लिए यहाँ जमीन तैयार कर दी गयी है।" लीग के नेताओं का वर्गरूप छिपाया गया। पूंजीपन्थी अलगाव एक तरह का राजनीतिक विश्वासघात है, इसलिए सर्वहारावर्ग उसकी तरफ समझौते का रुख नहीं अपना सकता, यह बात भुला दी गयी। इस कारण "हम मुस्लिम लीग की फूटपरस्त भूमिका और पाकिस्तान की माँग के खिलाफ लड़े नहीं। इसके विपरीत आत्म-निर्णय के नारे को नया अर्थ देने और उसे लोकप्रिय बनाने के नाम पर हम अलगाव-वाद को अधिकाधिक रिआयतें देते चले गये।" अवसरवादी ढंग से हम विश्वास करते रहे कि युद्ध के दौरान हमारा मुख्य कार्य यह है कि अंग्रेजों ने जो गतिरोध पैदा किया है, उसके खिलाफ कांग्रेस और लीग दोनों के द्वारा आत्मनिर्णय के अधिकार को मंजूर करायें। हम यह भ्रम पालते रहे कि नेताओं के ये दो गुट आत्मनिर्णय की बात मान लेंगे बशर्ते कि हम उन्हें समझा दें कि ऐसा करना उनके हित में है। सितम्बर १६४२ के प्रस्ताव में हमने कहा था कि मुसलमान जहाँ बहु-संख्यक हैं, वहाँ वे चाहेंगे तो उन्हें स्वायत्त राज्य बनाने का अधिकार होगा और वे चाहेंगे तो अलग भी हो सकेंगे। "यह जनतन्त्र-विरोधी विघटनकारी विचार कि मुसलमान एक राज्य बनायें, कोई ऐसी रिआयत नहीं थी जो धर्म के आधार पर जातीयता के साथ की गयी हो। यह विचार उसी तुष्टीकरण नीति का अंग था जिसका पालन हम लीग के पूँजीवादी नेताओं के प्रति कर रहे थे। दरअसल यह उन्हीं की माँग थी कि मुसलमान जहाँ बहुसंख्यक हों, वहाँ उन्हें स्वायत्त राज्य बनाने का अधिकार दिया जाय। मुस्लिम लीग के नेता यह माँग पेश करके किसी जाति के पक्ष का समर्थन नहीं कर रहे थे, वे भारतीय जनता के मिले-जुले संघर्ष में और जातियों के संघर्ष में कामयाबी से फूट डाल रहे थे। उनकी व्याख्या मान लेने का रुझान और मुस्लिम लीग के पिछलगुएपन का रुझान हमारे पहले प्रस्ताव में ही मौजूद है। उसके बाद हमने जो कुछ लिखा, पोलिटब्यूरो के सदस्यों ने जो कुछ लिखा, उस पर अवसरवाद की छाप है। आगे चलकर हम इस धारणा को उसके तर्कसंगत परिणाम तक ले गये।"

रणदिवे ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि मुस्लिम जनता में पार्टी की स्थिति कमजोर थी, उसमें उसका कोई स्वतन्त्र आधार नहीं था, इस समय पार्टी मजदूरों और किसानों के संघर्ष का नेतृत्व न कर रही थी, इसलिए मुस्लिम लीग का पर्दाफाश करने के लिए उसमें आत्मविश्वास नहीं था। कांग्रेस-लीग एकता जल्दी कायम करने के फेर में हमने लीग के प्रतिक्रियावादी प्रस्तावों में नये गुण ढूंढ़ निकाले। इसकी मिसाल है मुस्लिम लीग के बम्बई अधिवेशन पर रणदिवे का लेख। स्वतन्त्र रूप से मुस्लिम जनता को आजादी और जनतन्त्र की लड़ाई में खींचने के बदले हम लीग को मुसलमानों का संगठन मानते रहे। "यह बड़े ताज्जुब की

बात है कि हमने इन सभी वर्षों में मुस्लिम जनता से पार्टी में शामिल होने को कभी नहीं कहा; जो पार्टी जनता के साथ थी और उसके संघर्षों की अगुआई कर रही थी, उसकी तारीफ कभी नहीं की। इसके बदले हमने मुस्लिम जनता से हमेशा यही कहा कि वह मुस्लिम लीग में शामिल हो। मुस्लिम लीग हर रोज़ सम्प्रदायवाद का प्रचार कर रही थी, सम्प्रदायवाद से लड़ने का यह तरीका हर्गिज़ नहीं था। मुस्लिम लीग के नेताओं की भूमिका को सराहा गया, उनके अलगाववाद की आलोचना नहीं की गयी, आत्मनिर्णय की बात को पाकिस्तान की माँग के नज़दीक खड़ा कर दिया गया।"

अगस्त १६४३ की केन्द्रीय समिति ने कहा, लीग मुसलमानों का राष्ट्रीय संगठन बनती जा रही है, बहुसंख्यक इलाकों में वह मुख्यतः मुसलमानों की स्वाधीनता की कामना व्यक्त करती है। लीग के नेता इस विकास में अड़चन पैदा करते हैं, हमें प्रयत्न करना चाहिए कि एक प्रगतिशील जनवादी रुझान विकसित करें। इस तरह पार्टी ने लीग के पीछे चलने की अपनी नीति को सही ठहराने की कोशिश की। अक्तूबर १६४३ में पार्टी के नाम गश्ती चिट्ठी में अधिकारी ने लिखा, मुस्लिम लीग सभी मुसलमानों का सामान्य राजनीतिक संगठन है, उसे मुसलमानों का राष्ट्रीय संगठन बनना है और वह बन सकती है। अब वह साम्प्रदायिक संगठन नहीं है। अधिकारी ने ज़मींदारों और ज़खीरेबाज़ों से लीग के नेताओं को अलग किया और कहा कि ये नेता जनता के दबाव के सामने झुकते हैं। इस पर रणदिवे ने लिखा, "यह ऐसे समय लिखा गया था जब जिन्ना और उनके प्रशंसकों ने ज़खीरेबाज़ों और ज़मींदारों से लड़ने के लिए कुछ भी न किया था, बंगाल के अकाल से पूर्वी बंगाल के किसानों को बचाने के लिए भी कुछ न किया था। यह अलगाववाद को और रिआयतें देने की तैयारी थी। इससे मुस्लिम लीग और कांग्रेस को बराबर समझने का विचित्र रुझान पैदा हुआ। अब हम भूल गये कि लीग के नेताओं ने आमतौर से भारतीय जनता के संघर्षों में अड़गे लगाये थे, साम्राज्यवाद ने कांग्रेस की मरम्मत करने के लिए उन्हें रुकावट के तौर पर इस्तेमाल किया था। इतिहास भुला दिया गया और झुठलाया भी गया। अलग निर्वाचन क्षेत्रों को सही ठहराने के लिए दलीलें ढूंढ़ ली गयी। लीग के नेता मुस्लिम जनता को बराबर आज़ादी की तरफ ले जा रहे थे और लाहौर के प्रस्ताव की उपज था पाकिस्तान, यह साबित करने के लिए जो कुछ लिखा जा सकता था, वह लिखा गया। इतिहास को झुठलाने का यह काम निहायत भोंड़े रूप में 'सत्ता के लिए आखिरी लड़ाई' ('फाइनल बिड फॉर पावर') में दिखायी देता है। अलगाववाद के सवाल पर पूरे आत्मसमर्पण के लिए यहाँ विचारधारात्मक तैयारी की गयी थी। यह आत्मसमर्पण अब ऐसा रूप लेता है कि कांग्रेसियों को अलगाववाद की बात समझाने के नाम पर हम खुद अलग होने के अधिकार पर ज़ोर देते हैं, मुस्लिम जनता के सामने स्वेच्छा से संघ बनाने और एकता कायम रखने पर ज़ोर नहीं देते। इसके अलावा यह आत्मसमर्पण मुस्लिम राज्य के लिए अधिकाधिक समर्थन देने के आधार पर सामने आता है।

यथार्थ के प्रति हमने इस तरह आँखें मूंद ली थी कि हम यह समझ नहीं

कि गांधीजी जिन्ना से मिलने गये हैं तो यह साम्राज्यवाद से समझौता करने की तैयारी है। दरअसल हम उन्हें ऐसा समझौता करने में मदद दे रहे थे। इस समय साम्राज्यवाद के हित में जिन्ना अपनी मांग को लेकर अड़ गये। अलगाववादी रवैया अपनाकर हमने वास्तव में उनका समर्थन किया। हमने यह विचित्र स्थापना प्रस्तुत की कि पाकिस्तान मुसलमानों का जन्मसिद्ध अधिकार वैसे ही है जैसे स्वराज्य हम सबका अधिकार है। हम मुसलमानों से यह भी कहने लगे कि पाकिस्तान दुनिया में मुसलमानों का सबसे बड़ा राज्य होगा। मुस्लिम राज्य के साथ सिखिस्तान जैसे विघटनकारी नारे भी सामने आये। पूंजीपतियों का जो हिस्सा भी साम्प्रदायिक भावना उभारे, हम उसके पीछे चलने को तैयार हो गये। "सम्प्रदायवाद के जहरीले प्रचार को खत्म करने के लिए साहस के साथ हमला करने के बदले सर्वहारा वर्ग की पार्टी पूरी तरह त्रस्त हो उठी और निहित स्वार्थों का सामना होने पर पीछे हटने लगी। हम अपना साधारण कर्तव्य भूल गये कि हमें सामान्य भारतीय संघ के लिए लड़ना है। चुनाव घोषणापत्र के समय हमने अठारह संविधान सभाओं का नारा दिया।"

बी. टी. रणदिवे ने बताया कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस के नेताओं की विश्वासघाती और समझौतावादी नीतियों के फलस्वरूप भारत का विभाजन हुआ। मुस्लिम लीग जैसा पाकिस्तान चाहती थी, वैसा पाकिस्तान उसे मिला; वह उसे कांग्रेस की मदद से नहीं मिला, साम्राज्यवाद की मदद से मिला और अब वह उसे मुस्लिम इलाकों की आजादी कहकर उसका डंका पीट रही है। "इस पाकिस्तान की शकल साफ बता रही है कि मुस्लिम जनता को धोखा दिया गया है, उसे साम्राज्यवाद की गुलामी के लिए बेच दिया गया है और जमींदारों और पूंजीपतियों के हित में उसे दबाया जा रहा है। अपने ही हितों के खिलाफ काम करने के लिए साम्प्रदायिक अपील के द्वारा मुस्लिम जनता को गुमराह किया जा रहा है, उसे उकसाया जा रहा है कि अल्पसंख्यकों को बीन डाले, उसकी शक्ति साम्प्रदायिक नालियों में बह चले जिससे कि साम्राज्यवाद और उसके सहयोगी जनता की मिली-जुली ताकत महसूस न करें। इस तरह पाकिस्तान न तो किसी जाति की, न जनता के किसी भाग की उपलब्धि है, वह जनता चाहे हिन्दू हो चाहे मुसलमान। वह हिन्दू-मुस्लिम जनता को विभाजित रखने का साम्राज्यवादी षड्यन्त्र है। वह मिले-जुले जनवादी आन्दोलन से लड़ने और क्रान्ति की शक्तियों को पराजित करने का साम्राज्यवादी षड्यन्त्र है।"

बी. टी. रणदिवे ने सुधारवादी भटकाव पर विस्तार से विचार किया; उनकी अधिकांश आलोचना सही थी। कम्युनिस्ट आन्दोलन को समझने में यह आलोचना मदद करती है, वर्तमान परिस्थितियों में उस आलोचना को याद करें तो कार्यनीति निर्धारित करने में सहायता मिल सकती है। इस प्रसंग में कुछ बातों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सुधारवाद की शुरुआत युद्ध काल में न हुई थी, कम्युनिस्ट पार्टी ने जब संकीर्णतावादी राह छोड़कर कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चा बनाकर साम्राज्यविरोधी संघर्ष चलाने की नीति अपनायी, तब उसमें सुधारवादी रुझान भी पैदा हुआ। इस रुझान की जड़ यह धारणा थी कि कांग्रेस

के नेतृत्व के बिना साम्राज्यविरोधी संघर्ष नहीं चलाया जा सकता। जब १९३५ के कानून के अन्तर्गत कांग्रेस ने मन्त्रिमण्डल बनाये, तब पार्टी नेतृत्व ने उन्हें लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल कहा। इन मन्त्रिमण्डलो की नीति के फलस्वरूप जनता में असन्तोष बढ़ा। इस असन्तोष से मुसलमानो के साम्प्रदायिक संगठन मुस्लिम लीग ने लाभ उठाया। मुस्लिम लीग को जो सफलता मिली, उसकी व्याख्या कुछ कम्युनिस्ट नेताओं ने इस प्रकार की मानो मुसलमानो की स्वाधीनता की आकांक्षा मुस्लिम लीग द्वारा प्रकट की जा रही हो। कम्युनिस्ट पार्टी के पूरे नेतृत्व की यह राय अभी नहीं थी किन्तु इस तरह की स्थापनाएं सोवियत संघ पर नाज़ी हमले के पहले ही कम्युनिस्ट पत्रों मे छप चुकी थी। मुस्लिम लीग के बारे में पुरानी स्थापना को युद्धकाल में और विस्तार से पेश किया गया। बी. टी. रणदिवे ने एक ओर उनकी आलोचना की, दूसरी ओर उन्हें एक हद तक स्वीकार भी किया। मुस्लिम लीग मुस्लिम जनता की स्वाधीनता की आकांक्षा विकृत रूप मे प्रकट कर रही थी, यह स्थापना दूसरी पार्टी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव में मौजूद है। युद्धकाल में जोशी और अधिकारी ने शुरूआत इसी स्थापना से की थी। कांग्रेस सीधे-सीधे और मुस्लिम लीग विकृत रूप मे स्वाधीनता की आकांक्षा प्रकट करती है। विकृति दूर कर दी जाय तो दोनो में एकता का आधार कायम हो जायेगा। दूसरी पार्टी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव में जनवादी मोर्चे के बारे मे कहा गया है कि उसमे कांग्रेस और मुस्लिम लीग के साम्राज्यविरोधी अनुयायी होंगे। "इन दोनों संगठनो के प्रति साम्राज्यविरोधी जनता के विशाल भाग—लाखों आदमी—वफादार हैं।" यदि दोनों के अनुयायी साम्राज्यविरोधी हैं, तो कांग्रेस लीग एकता कायम करो, यह नारा सही था। मुस्लिम लीग मुसलमानों की आजादी की चाह प्रकट करती है, यह सुधारवादी स्थापना उस समय दुहरायी गयी जब कम्युनिस्ट पार्टी में संकीर्णतावादी भटकाव मुख्य था। इससे नतीजा यह निकलता है कि अनेक बातों मे संकीर्णतावादी और सुधारवादी रुझान एक ही नतीजे तक पहुँचते हैं, सिर्फ पैंतरे अलग-अलग होते है।

दूसरी पार्टी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव मे भारत के पूंजीपति वर्ग को दो हिस्सो मे विभाजित माना गया है, एक हिस्सा मुस्लिम लीग के पीछे चलता है और दूसरा कांग्रेस के पीछे। प्रस्ताव मे कहा गया है : कांग्रेस और मुस्लिम लीग के राष्ट्रीय पूंजीवादी नेतृत्वों (नैशनल बुर्जुआ लीडरशिप्स) ने जातियो के आत्म-निर्णय के क्रान्तिकारी सिद्धान्त की बुनियाद पर साम्प्रदायिक समस्या को हल करने का विरोध सदा किया था। सुधारवादी भटकाव पर अपनी रिपोर्ट मे रणदिवे ने कहा था : राष्ट्रीय एकता अथवा कांग्रेस-लीग एकता का नारा सही था और क्रान्तिकारी था लेकिन सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के दो विभागों (टू सेक्शंस ऑफ दि बुर्जुआजी) की इच्छा पर निर्भर रहने से अमल में न लाया जा सकता था। यहाँ भी पूंजीपति वर्ग को दो हिस्सों में बांटा गया है। दरअसल इस तरह का विभाजन साम्राज्यवादियों के विश्लेषण से मिलता-जुलता था। जिन्ना कहते थे कि कांग्रेस हिन्दुओं की संस्था है; अंग्रेज दोनों में समझौते की बातचीत इसी आधार पर करते थे कि कांग्रेस हिन्दुओं की प्रतिनिधि है और मुस्लिम लीग मुसलमानों की।

भारतीय पूँजीपति वर्ग को हिन्दू और मुसलमान दो हिस्सों मे बाँटकर पूँजीवाद को साम्प्रदायिक आधार पर विभाजित कर दिया गया था। वास्तव में मुस्लिम पूँजीपतियों का कोई अलग बाजार हो और हिन्दू पूँजीपतियों का कोई अलग बाजार हो, ऐसी बात नहीं थी। एक अखिल भारतीय बाजार था। उसमें बंगाल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु आदि के अनेक जातीय बाजार थे। कुछ पूँजीपतियों का धन्धा किसी एकजातीय प्रदेश तक सीमित था, कुछ का धन्धा अनेक जातीय प्रदेशों में फैला हुआ था। रणदिवे ने साम्प्रदायिक आधार पर पूँजीपति वर्ग को विभाजित करके पूँजीवाद को बड़े राष्ट्रीय बाजार और छोटे जातीय बाजार, दोनों से अलग कर दिया था। वास्तव में हिन्दू पूँजीपति वर्ग और मुस्लिम पूँजीपति वर्ग, यह कल्पना रणदिवे की न थी, वह युद्धकाल से चली आ रही थी और रणदिवे उसे युद्ध के बाद दोहरा रहे थे। साम्प्रदायिक दलों का मुख्य वर्गआधार पूँजीवादी नहीं, सामन्ती था। साम्राज्यवाद और सामन्तवाद मिलकर दंगों के जरिये पूँजीपतियों पर दबाव डालते है, यह धारणा दूसरी पार्टी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव में मौजूद है। उस प्रस्ताव में कहा गया है, साम्राज्यवाद साम्प्रदायिक दंगे इसलिए करा रहा है कि राष्ट्रीय पूँजीवादी नेतृत्व पर दबाव पड़े और वह साम्राज्यवादी प्रभुत्व के सामने घुटने टेके। प्रस्ताव में बताया गया है कि साम्राज्यवाद और उसके सामन्ती दलालों ने दंगे कराये हैं; साम्राज्यवादी, सामन्ती, क्रान्तिविरोधी शक्तियों (इम्पीरियलिस्ट फ्यूडल काउण्टर रिवोल्यूशनरी फोर्सेज) ने दंगे कराये हैं। इन क्रान्तिविरोधी शक्तियों में मुस्लिम लीग प्रमुख थी। वह प्रमुख इसलिए थी कि वह मुख्यतः प्रतिक्रियावादी सामन्तों के असर में थी। इसलिए पूँजीपति वर्ग को हिन्दू मुस्लिम भागों में बाँटना सही न था।

दूसरी पार्टी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव में जातियों के आत्मनिर्णय की बात कही गयी है, सुधारवादी भटकाव पर अपनी रिपोर्ट में रणदिवे ने आत्मनिर्णय की बात कही है। प्रस्ताव में जनवादी क्रान्ति का जो कार्यक्रम दिया गया है, उसमें जातियों के आत्मनिर्णय का अधिकार शामिल है और इस अधिकार में भारतीय संघ से अलग होने का हक भी शामिल है। यह मजे की बात है कि विभाजित पंजाबी जाति को मिलाने, विभाजित बंगाली जाति को मिलाने की बात कही नहीं कही गयी लेकिन कोई जाति अलग होना चाहे तो उसके अलगाव का अधिकार माना गया है। यह अलगाव का अधिकार युद्धकाल में बराबर प्रचारित किया गया था। जोशी ने सत्रह संविधान सभाओं की योजना पेश की थी; यह योजना जातियों के आत्मनिर्णय के अधिकार की बुनियाद पर बनायी गयी थी। हर जाति की संविधान सभा होगी, वह चाहे तो संघ में शामिल हो जाये और चाहे तो अलग हो जाय। जैसा कि हम देख चुके हैं, अंग्रेजों ने भी स्वाधीन पंजाब, स्वाधीन बंगाल और स्वाधीन पठानिस्तान की धारणाएँ कांग्रेसी और लीगी नेताओं के सामने रखी थीं। भारत का कोई भी प्रदेश आर्थिक रूप से अपने पैरों खड़ा न हो सकता था, उसकी तथाकथित स्वाधीनता साम्राज्यवाद पर निर्भर होने से ही सुरक्षित रह सकती थी। कई प्रदेशों से मिलकर पाकिस्तान बना, वह आर्थिक रूप से बहुत ही कमजोर होगा, यह बात जिन्ना और अंग्रेज दोनों जानते

थे। पाकिस्तान किस तरह अंग्रेज़ों और अमरीकियों पर निर्भर रहा है, यह किसी से छिपा नहीं है। यदि जातीय आत्मनिर्णय के नाम पर दो-चार पाकिस्तान और बन जायें तो वे आर्थिक तौर से मजबूत न होंगे, साम्राज्यवाद को अपना प्रभाव फैलाने मे उनसे मदद मिलेगी। जातीय आत्मनिर्णय का नारा न तो युद्ध-काल मे क्रान्तिकारी था और न उसके बाद था।

दूसरी पार्टी कांग्रेस में सत्ता हस्तान्तरण को लेकर कई बातें सही कही गयी हैं और कई गलत। कांग्रेस भारत के औद्योगिक पूँजीवाद की प्रतिनिधि है। उसे राज्य सत्ता में हिस्सा मिला है, इतना बड़ा हिस्सा उसे पहले कभी न मिला था। क्रान्तिकारी उभार ने साम्राज्यवाद को बाध्य किया कि वह अपनी रणनीति मे परिवर्तन करे। "साम्राज्यवाद ने पूँजीपति वर्ग को भारी रिआयतें दी हैं, अपने संकीर्ण स्वार्थी हित में भारतीय जनता पर शासन करने के लिए सरकारी सत्ता दी है।" इससे यह नतीजा निकाला जा सकता है कि भारतीय पूँजीपति वर्ग को स्वाधीनता प्राप्त हुई है यद्यपि यह पूर्ण स्वाधीनता नहीं है। एक ओर साम्राज्यवाद क्रान्तिकारी उभार के कारण पूँजीपतियो को भारी रिआयतें देने के लिए बाध्य होता है, दूसरी ओर प्रस्ताव मे कहा गया है कि साम्राज्यवाद पीछे नहीं हटा, उसने केवल अपने प्रभुत्व का रूप बदला है, और पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद के मातहत रहकर शासनतन्त्र चला रहा है। प्रस्ताव के अनुसार पूँजीपति वर्ग एशिया मे साम्राज्यवाद का मुख्य दलाल है, वह भारत, पाकिस्तान, बर्मा और श्रीलंका का संघ बना रहा है जो साम्राज्यवाद की रक्षा करेगा। पंडित नेहरू जो तटस्थ देशों का गुट बना रहे है, वह जनवादी शिविर का विरोधी है और साम्राज्यवादी शिविर की ओर जाने के लिए मार्ग प्रशस्त कर रहा है। पार्टी के राजनीतिक प्रस्ताव के अनुसार भारत पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व बना हुआ था, केवल उसका रूप बदल गया था; क्रान्तिकारी उभार पहले की ही तरह चालू था, अन्तर यह था कि साम्राज्यविरोधी क्रान्ति अब समाजवादी क्रान्ति बन गयी थी। "जनता की जनवादी क्रान्ति को जनवादी क्रान्ति के कार्य पूरे करने है और इसके साथ उसे समाजवाद का निर्माण भी करना है।"

साम्राज्यवाद और पूँजीपति वर्ग के सम्बन्धों को लेकर स्वाधीनता मिली कि नही मिली, इस प्रश्न को लेकर दूसरी पार्टी कांग्रेस मे जो कुछ कहा गया था, वह काफी दिन बाद तक दोहराया गया। जून १९५० में केन्द्रीय समिति ने पार्टी सदस्यों के नाम एक गश्ती चिट्ठी भेजी थी। उसमें कहा गया था, "भारत के बड़े पूँजीपति सामन्ती तत्वों और सूदखोर पूँजी से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है, अपने जन्म से ही वे ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से घनिष्ठ रूप मे सम्बद्ध रहे हैं। साम्राज्यवाद के खिलाफ सक्रिय संघर्ष चलाने की क्षमता या इच्छा इनमें नहीं थी।" (**डाक्यूमेण्ट्स ऑफ दि हिस्ट्री आफ दि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया; खण्ड ७;** पृष्ठ ६४०)। यह स्थापना ऐम. एन. राय की थी। इस चिट्ठी मे ऐसी संकीर्णतावादी स्थापनाएँ है जैसी दूसरी पार्टी कांग्रेस के प्रस्ताव मे भी नहीं हैं। जातीय समस्या पर पुराने नेतृत्व की आलोचना करते हुए यहाँ कहा गया है: "दूसरी पार्टी कांग्रेस के बाद बड़े पूँजीपतियों के अन्धराष्ट्रवाद के अधीन होकर पोलिटब्यूरो

ने जातियों के प्रश्न को लेकर प्रतिक्रियावादी नीति अपनायी। उसने सभी जातीय आन्दोलनों का विरोध किया, सामन्ती रियासतों (जैसे कि हैदराबाद) को भंग करने और भाषायी, सांस्कृतिक प्रान्त बनाने के आन्दोलनों का कोई भी मसला हो (जैसे कश्मीर का मसला), हर जाति को भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए, इसे कम्युनिस्ट पार्टी की मांग कहकर पेश किया गया।" (उप., पृष्ठ ६५१)। यहां आत्मनिर्णय का सिद्धान्त सामन्तविरोधी क्रान्ति से अलग रखकर अलगाव का अधिकार बना दिया गया है। कश्मीर के बारे में साम्राज्यवादियों की भी यही माँग थी।

१९५१ मे कम्युनिस्ट पार्टी ने जो कार्यक्रम स्वीकार किया, उसमें कहा गया कि भारत सरकार मूलरूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विदेश नीति को अमल में लाती है। कार्यक्रम मे हिन्दी के अनिवार्य राजभाषा बनाने का विरोध है; अंग्रेजी अनिवार्य राजभाषा बनी हुई है, इसका कहीं उल्लेख नहीं है।

कम्युनिस्ट आन्दोलन के मुखपत्र 'स्थायी शान्ति और जनता का लोकतन्त्र' (फॉर ए लास्टिंग पीस, फॉर ए पीपुल्स डिमोक्रेसी) के ७ नवम्बर १९५२ के अंक में अजय घोष का लेख 'हमारी कुछ मुख्य कमजोरियाँ' प्रकाशित हुआ। इसमें कहा गया है कि छह साल पहले प्रत्यक्ष अंग्रेजी राज (डायरेक्ट ब्रिटिश रूल) समाप्त हुआ। यह बात दूसरी पार्टी कांग्रेस की स्थापना के अनुरूप थी लेकिन लेख में आगे बताया गया कि भारतीय जनता राष्ट्रीय स्वाधीनता की सुरक्षा और उसके विस्तार के लिए जो संघर्ष कर रही है, साम्राज्यवादी जकड़ और सामन्ती शोषण को नष्ट करने के लिए सुखी और समृद्ध जीवन के लिए जो संघर्ष कर रही है, वह शान्ति के लिए प्रगतिशील मानवता के संग्राम से अधिकाधिक जुड़ता जाता है। (उप., खण्ड ८, पृ. १८३)। यह स्थापना दूसरी पार्टी कांग्रेस के प्रस्ताव से हटकर है। पूर्ण स्वाधीनता नहीं मिली, सामन्ती साम्राज्यवादी अवशेष खत्म करना बाकी है, फिर भी इतनी स्वाधीनता मिली है कि उसकी रक्षा करना जरूरी है। मार्च १९५३ में पार्टी की केन्द्रीय समिति ने जो प्रस्ताव मंजूर किया, उसमे कहा गया है कि अंग्रेज भारत में मुख्य साम्राज्यवादी शक्ति (डॉमिनेण्ट इम्पीरियलिस्ट पावर इन इण्डिया) बने हुए हैं। किन्तु इसके बाद यह भी कहा गया है कि भारत के ब्रिटिश कामनवेल्थ में बने रहने से, भारतीय सेना में महत्वपूर्ण स्थानों पर अंग्रेज अफसरों और सलाहकारों के जमे रहने से तथाकथित सुरक्षासम्बन्धी परामर्श में भारत के शामिल होने से, अंग्रेजों द्वारा भर्ती किये हुए गोरखा सैनिकों को भारत की धरती पर प्रशिक्षित करने और यहां से निकलने की सुविधा देने से राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का उल्लंघन होता है; यही नहीं, ये सारी बातें शान्ति के लिए खतरा भी हैं। (उप., पृ. २१४)। राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का उल्लंघन वहीं होगा जहाँ किसी राष्ट्र के पास ऐसी प्रभुसत्ता होगी।

उस प्रस्ताव में आगे कहा गया है, भारतीय अर्थतन्त्र पर ब्रिटिश नियन्त्रण है, वह उसे पिछड़ा हुआ रखता है, अमरीकी साम्राज्यवाद को प्रवेश की सुविधा देता है। इस तरह भारत युद्ध मे घसीटा जा सकता है। "इसलिए यह जरूरी है कि कामनवेल्थ से नाता तोड़ने के लिए, अंग्रेज अफसरों और सलाहकारों को भारतीय

सेना में निकालने के लिए, हमारे अर्थतन्त्र पर ब्रिटिश नियन्त्रण के सभी अवशेषों को समाप्त करने के लिए संघर्ष तेज किया जाय। ब्रिटिश पूँजी का अधिग्रहण करके ये अवशेष समाप्त किये जायेंगे।"(उप., पृ. २१५)। यहाँ ब्रिटिश नियन्त्रण के अवशेष या चिह्न (vestiges) की बात कही गयी है। अवशेषों की बात सही है। यदि अंग्रेजों का प्रमुत्व पहले की ही तरह बना होता तो अवशेषों का सवाल न उठता। अंग्रेज भारत में मुख्य साम्राज्यवादी शक्ति हैं, इसका अर्थ यह होगा कि अमरीकी साम्राज्यवाद अभी यहाँ प्रवेश कर रहा है, मुख्य दबाव ब्रिटिश साम्राज्यवाद का है। प्रस्ताव में यह भी कहा गया है कि पिछले वर्षों में भारत सरकार पर जमींदारों और इजारेदार पूँजीपतियों का नियन्त्रण रहा है जो साम्राज्यवाद से सहयोग करते रहे हैं।(उप., पृ. २१८)। सहयोग करने की बात दूसरी पार्टी कांग्रेस के प्रस्ताव में भी कही गयी थी। सहयोग कई तरह से हो सकता है, दलाल के रूप में, छोटे भागीदार के रूप में, बराबरी के आधार पर। सहयोग किस रूप में कितना है, यह बात स्पष्ट नहीं की गयी।

१९५६ में सोवियत संघ के 'न्यू टाइम्स' पत्र में दो लेख छपे थे। इनकी आलोचना करते हुए अजय घोष ने लिखा था, भारतीय अर्थतन्त्र के कई मर्मस्थानों में, यथा कोयला, पटसन, तेल और चाय में विदेशी पूँजी हावी है और कुछ अन्य स्थानों पर भारतीय इजारेदार पूँजी विद्यमान है, यह बात लेखों में मानी गयी है; इस स्थिति के जो राजनीतिक और आर्थिक नतीजे निकलते हैं, उनकी अनदेखी की गयी है। (उप., पृ. ५८९)। अजय घोष की आलोचना सही थी; ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अवशेष खत्म करना जरूरी था।

कम्युनिस्ट पार्टी ने १९४८ से लेकर १९५६ तक और उसके बाद भी जितने दस्तावेज प्रकाशित किये हैं, उनमें १९४५-४७ तक के क्रान्तिकारी उभार का विस्तार से विश्लेषण नहीं किया गया। इसका मुख्य कारण यह मालूम होता है कि वह उभार अधिकतर स्वतःस्फूर्त था, पार्टी ने संगठित रूप से उसके संचालन की योजना न बनायी थी। जिन नेताओं में सुधारवादी रुझान था, वे इस क्रान्तिकारी उभार की अनदेखी करते थे, स्वाधीनता-प्राप्ति का श्रेय कांग्रेस को देते थे। जिन नेताओं में संकीर्णतावादी रुझान था, वे समझते थे कि इस क्रान्तिकारी उभार से कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। साम्राज्यवादी प्रमुत्व अपना रूप बदलकर ज्यों का त्यों बना हुआ है। सत्ता पूँजीपति वर्ग के हाथ में आ गयी है और यह वर्ग साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा कर रहा है। इनके लिए भी क्रान्तिकारी उभार की कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं थी। इस तरह सुधारवादी और संकीर्णतावादी दोनों तरह के नेता क्रान्तिकारी उभार के महत्व को कम करके आँकते थे। भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में जिन महत्वपूर्ण विषयों पर बहस हुई है, उनका सम्बन्ध किसी न किसी तरह १९४५-४७ की क्रान्तिकारी परिस्थिति से है। उस परिस्थिति का विवेचन किये बिना हम समस्याओं को हल नहीं कर सकते।

रजनी पाम दत्त ने आज का भारत (इण्डिया टुडे) में ब्रिटिश और भारतीय पूँजीपतियों के गठबन्धन के बारे में लिखा था, युद्ध से परिस्थिति बदल गयी है, साम्राज्यवाद भारत की औद्योगिक प्रगति को पूरी तरह रोक नहीं पाया। ५८०

उद्योगपतियों ने युद्ध से भारी मुनाफा कमाया है और वे पहले से बहुत शक्तिशाली हो गये हैं। पास में पूंजी होने से वे भारत के स्वतन्त्र आर्थिक विकास के बारे मे सोचने लगे है। वे ब्रिटेन से अलग अमरीका तथा अन्य देशों की ओर सहायता के लिए देखने लगे हैं। हाउस आफ कामन्स के सदस्य ए. वी. हिल ने १९४४ में कहा था, भारतीय उद्योग धन्धों से सहयोग करने का अवसर मिल सकता है बशर्ते कि हम साहस और उदारता से काम लें। यदि हमने साहस और उदारता से काम न लिया तो भारतीय उद्योग धन्धों का विकास रुका न रहेगा लेकिन भारतवासी हमसे नही, अमरीका से मदद लेंगे।

हिल के कथन का हवाला देने के बाद रजनी पाम दत्त ने लिखा, नयी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने बाध्य होकर भारतीय उद्योग धन्धों के अपने विरोध के रूप को बदला। आर्थिक और राजनीतिक, दोनों क्षेत्रों में साम्राज्यवाद नये युग के अनुरूप स्वयं को ढाल रहा है। ब्रिटेन के निहित स्वार्थ भारत में सुरक्षित रहें, इसका एक ही उपाय है कि वे भारतीय पूंजीपतियों से समझौता करें। भारत के उद्योगीकरण पर हमला करने की योजना अब बाहर से नही, भीतर से ही बनायी जा सकती थी। ब्रिटेन के बने हुए माल के लिए भारत सुरक्षित मण्डी केवल भारतीय इजारेदारों की सहायता से हो सकता था। इस प्रकार अति आवश्यक तकनीकी सहायता देने के बहाने साम्राज्यवाद ने अपने वित्तीय हितों की सुरक्षा के लिए नयी कार्यनीति अपनायी है। इस कार्यनीति द्वारा साम्राज्यवाद भारतीय उद्योगपतियों के साथ परस्पर निर्भरता, हितों की एकरूपता का नया सिद्धान्त पेश करता है। लेकिन आगे जैसा हम देखेंगे, इधर जो कुछ हुआ है और जो कुछ कहा गया है, उससे यह बिल्कुल साफ दिखायी देता है कि इन साझेदारियों के जरिये साम्राज्यवाद भारत को छोड़ने के बदले उस पर अपनी वित्तीय और आर्थिक पकड़ मजबूत कर रहा है। इन समझौतों के जरिये भारत का स्वाधीन आर्थिक विकास होने देने के बदले साम्राज्यवाद भारत के औद्योगिक विकास को भीतर से भंग करने की योजना बना रहा है और उसे अमल में ला रहा है।" (इण्डिया टुडे; १९४७, पृ. १५६)।

रजनी पाम दत्त ने आगे बताया कि भारतीय उद्योगपतियों को साझेदारी में घसीटने के लिए साम्राज्यवादी भारत के शासक होने का लाभ उठा रहे हैं। भले ही भारत के उद्योगपतियों ने भारी मुनाफा कमाया हो, पलड़ा ब्रिटिश पूंजीपतियों का ही भारी है। उनके हाथ में राज्यसत्ता की मशीन है, वे मशीनी सामान (कैपिटल गुड्स) का आयात-निर्यात अपने हाथ में किये हैं। भारत का स्टर्लिंग पावना उनके अधिकार मे है। भारतीय बाजार को वे उपभोग सामग्री से पाट सकते हैं और ऐसा कर भी रहे हैं। अपनी विशेषाधिकारी स्थिति से लाभ उठाकर वे भारतीय उद्योगपतियों को समझौते के लिए विवश कर रहे हैं। जून १९४५ मे बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड नाम के बड़े इजारेदार संस्थान मे इंग्लैण्ड के नफील्ड संगठन का समझौता हुआ कि भारत में मोटरगाड़ियाँ बनायी जायें। दिसम्बर १९४५ में भारत के दूसरे बडे इजारेदार संस्थान का समझौता ब्रिटेन के सबसे बड़े इजारेदार संस्थान इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज से हुआ कि भारत मे भारी रासायनिक

उद्योग कायम हों। इसी तरह के समझौते अन्य भारतीय व्यवसाइयों के बीच हुए। इस सबसे स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद भारतीय धरती मे अपने पैर और भी मजबूती से जमा रहा है और वहाँ ब्रिटिश महाजनी पूँजी के भविष्य को सुरक्षित बना रहा है।

इस विवरण से यही नतीजा निकाला जा सकता है कि भारत के बड़े पूँजीपतियो और ब्रिटिश इजारेदारो का अन्तर्विरोध समाप्त हो गया है या समाप्त होने को है। कांग्रेस पर इन बड़े पूँजीपतियों का असर है। कांग्रेस के नेता अंग्रेजों से जो समझौता करेंगे, उससे भारत मे ब्रिटिश पूँजी की स्थिति और भी मजबूत होगी। और भारत के औद्योगिक विकास को ब्रिटिश पूँजीपति भीतर से भंग करेंगे। १९४८ में बी. टी. रणदिवे का सारा आर्थिक-राजनीतिक विश्लेषण रजनी पाम दत्त की इन स्थापनाओं के अनुरूप था।

इण्डिया टुडे का नया संस्करण १९४९ में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होने लिखा, भारत में ब्रिटिश निहित स्वार्थों को बनाये रखना और उन्हें सुदृढ़ करना हमेशा साम्राज्यवाद की नियति रही है। जो-जो संवैधानिक योजनाएँ बनी हैं और राजनीतिक वार्ते चली गयी हैं, उन सबका यही उद्देश्य है। १९४७ मे माउण्टबाटन समझौता हुआ, भारत और पाकिस्तान के डोमीनियन कायम हुए, उसके बाद के वास्तविक आर्थिक सम्बन्धों की छान-बीन की जाय तो पता चलेगा कि "भारतीय स्वाधीनता के ऊपरी दिखावे के बावजूद ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने अब भी यह प्रयत्न किया है कि अपना आर्थिक प्रभुत्व कायम किये रहे और साम्राज्यवाद के हित मे भारत के आर्थिक विकास को अपने नियन्त्रण में रखे और उसे सीमित करे।" (पृ. १७४)।

१९४५-४७ के क्रान्तिकारी जनआन्दोलन की भूमिका न पहचानने से इसी तरह का निष्कर्ष निकाला जा सकता था। इसकी तुलना में परिस्थिति का ज्यादा सही विश्लेषण भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की दूसरी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव के उन अंशो में है जिनका हवाला पहले दिया जा चुका है।

3. स्वाधीन भारत और कामनवेल्थ

(क) कामनवेल्थ और डोमीनियन

भारत जिस कानून से स्वाधीन हुआ, वह ब्रिटिश पार्लियामेंट ने बनाया था। उसकी शुरुआत यों होती थी:

Be it enacted by the King's most excellent Majesty, by and with the advice and consent of the Lords Spiritual and Temporal, and Commons, in this present Parliament assembled, and by the authority of the same, as follows:

As from the fifteenth day of August, nineteen hundred and forty-seven, two independent Dominions shall be set up in India, to be known respectively as India and Pakistan.

कानून बादशाह सलामत के नाम पर बना था। उन्हें सलाह देनेवाले लार्ड अभिजात वर्ग के सदस्य थे; इनमें कुछ गैरसंसारी, आध्यात्मिक क्षेत्र के थे अर्थात् चर्च के पदाधिकारी थे, अन्य संसारी, अर्थात् बड़े भूस्वामी थे। जो लार्ड नहीं थे, वे साधारण जन (कामन्स) थे अर्थात् ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधि थे, पार्टी उनकी कोई भी हो। कानून बनानेवाले असली लोग यही थे। कानून के अनुसार १५ अगस्त १९४७ को इण्डिया में इण्डिया और पाकिस्तान नाम के दो स्वाधीन डोमीनियन स्थापित किये जायेंगे।

फरवरी-मार्च १९४८ मे कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी दूसरी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव में जनवादी मोर्चे का पहला काम यह बताया : ब्रिटिश साम्राज्य से पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद और पूर्ण तथा वास्तविक स्वाधीनता [की प्राप्ति]।

२७ अप्रैल १९४९ को ब्रिटेन तथा ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्य राज्यों के प्रधानमन्त्रियों ने लन्दन से एक घोषणापत्र जारी किया। इसमें भारत सरकार की इस सूचना का उल्लेख किया गया कि भारत अपने नये संविधान के अनुसार पूर्ण-सत्ता सम्पन्न स्वाधीन गणतन्त्र होगा किन्तु वह कामनवेल्थ का सदस्य बना रहेगा; कामनवेल्थ के स्वतन्त्र सदस्य राष्ट्रों के स्वच्छन्द सहयोग के प्रतीकरूप में वह बादशाह को राष्ट्रमण्डल का मुखिया मानेगा। जिन राज्यों के प्रधानमन्त्रियों ने इस घोषणा पर हस्ताक्षर किये थे, उनमें पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमन्त्री भी थे। वह पूरी घोषणा इस प्रकार है :

1. The Governments of United Kingdom, Canada, Australia, Newzealand, South Africa, India, Pakistan and Ceylon, whose countries are united as Members of the British Commonwealth of Nations and owe a common allegiance to the Crown, which is also the symbol of their free association, have considered the impending constitutional changes in India.

2. The Government of India have informed the other Governments of the Commonwealth of the intention of the Indian people that under the new Constitution which is about to be adopted India shall become a sovereign independent republic. The Government of India however declared and affirmed India's desire to continue her full membership of the Commonwealth of Nations and her acceptance of the King as the symbol of the free association of its independent Member Nations and as such the Head of the Commonwealth.

3. The Government of the other countries of the Commonwealth, the basis of whose membership is not hereby changed, accept and recognize India's continuing membership in accordance with the terms of this declaration.

4. Accordingly, the United Kingdom, Canada, Australia,

Newzealand, South Africa, India, Pakistan and Ceylon hereby declare that they remain united as free and equal members of the Commonwealth of Nations, freely cooperating in the pursuit of peace, liberty and progress.

भारत गणराज्य बना, इसके साथ ही वह कामनवेल्थ का सदस्य बना रहा और उसने कामनवेल्थ के सदस्य राष्ट्रों के मुक्त सहयोग के प्रतीक के रूप मे ब्रिटिश बादशाह को कामनवेल्थ का मुखिया भी माना। १९५१ में कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने कार्यक्रम में कहा : वास्तव में स्वाधीन राज्य बनने के लिए भारत को साम्राज्य से सम्बन्धविच्छेद करना है, देश के अर्थतन्त्र मे ब्रिटिश पूंजी के प्रभुत्व को समाप्त करना है और ब्रिटिश सलाहकारों को विदा करना है। इसलिए भारत की कम्युनिस्ट पार्टी यह आवश्यक समझती है कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र-मण्डल और ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर आये। मार्च १९५३ में कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति ने अपने प्रस्ताव में जोर दिया कि कामनवेल्थ से सम्बन्ध तोड़ने के लिए संघर्ष तेज करना जरूरी है, ब्रिटिश पूंजी को ज़ब्त करके भारतीय अर्थतन्त्र पर ब्रिटिश नियन्त्रण के सभी अवशेष खत्म करने के लिए संघर्ष तेज करना जरूरी है। दिसम्बर १९५३ और जनवरी १९५४ मे कम्युनिस्ट पार्टी की तीसरी कांग्रेस ने अपने राजनीतिक प्रस्ताव मे कहा कि शान्ति और पूर्ण स्वाधीनता के लिए चलाये जानेवाले संघर्ष आपस में सम्बद्ध है। इनकी सफलता के लिए ब्रिटिश साम्राज्य से नाता तोड़ना, ब्रिटिश पूंजी को जब्त करके भारतीय अर्थतन्त्र को ब्रिटिश शिकंजे से छुडाना जरूरी है। अप्रैल १९५६ मे कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी चौथी कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव मे ब्रिटिश कामनवेल्थ से नाता तोड़ने का आह्वान किया।

१९५६ के बाद कम्युनिस्ट पार्टी ने ब्रिटिश साम्राज्य या कामनवेल्थ से सम्बन्धविच्छेद का आह्वान करना क्रमशः छोड़ दिया। कम्युनिस्ट आन्दोलन में, उसके विघटन के बाद, दो मुख्य प्रवृत्तियां दिखायी दीं। एक प्रवृत्ति यह थी जिसके अनुसार भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभुत्व अभी पहले की तरह बना हुआ था, भारत सरकार उसके हित में अपनी घरेलू और विदेश नीति निर्धारित करती थी। दूसरी प्रवृत्ति यह थी जिसके अनुसार ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभुत्व पूरी तरह समाप्त हो गया था, भारत स्वतन्त्र था, मूल समस्या स्वाधीनता की रक्षा करने की थी, साम्राज्यवाद भारत पर दबाव न डाले और उस पर [illegible] न हो जाये, इस बारे में सतर्क रहने की थी। भारत सरकार के [illegible] को लेकर जो बहस होती रही है, यह उस बहस का हिस्सा है जो भारत और ब्रिटिश साम्राज्य के सम्बन्ध को लेकर हुई है। इसलिए भारत के [illegible] और कामनवेल्थ के सदस्य बने रहने पर यहाँ विचार करना चाहिए।

साम्राज्य और साम्राज्यवाद व्यापक शब्द हैं; इनके अन्तर्गत साम्राज्यवादी देश से उसके अधीन अथवा उससे प्रभावित देशों के आर्थिक-राजनीतिक सम्बन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ देशों पर साम्राज्यवाद का प्रत्यक्ष शासन होता है जैसे भारत पर अगस्त १९४७ तक था, कुछ देशों पर [illegible] अप्रत्यक्ष शासन होता है

जैसे फिलिपीन्स पर अमरीका का है, कुछ देश ऐसे हैं जिनका शासनतन्त्र स्वाधीन होता है किन्तु वे साम्राज्यवाद के प्रभाव क्षेत्र में होते हैं जैसे कनाडा। साम्राज्य-वाद के इस व्यापक अर्थ मे कामनवेल्थ ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है किन्तु वह उस साम्राज्य का पर्याय नहीं है। कारण यह कि जिन देशों पर साम्राज्यवाद का प्रत्यक्ष शासन होता है, वे कामनवेल्थ के सदस्य नहीं हो सकते। १५ अगस्त १९४७ के पहले भारत ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य न हो सकता था। १५ अगस्त को वह पराधीन देश का दर्जा छोड़कर ब्रिटिश डोमीनियन बना और इस रूप में वह ब्रिटिश कामनवेल्थ का सदस्य बना। कांग्रेस के नेता जब स्वराज्य की बात करते थे, तब उनका आशय डोमीनियन स्टेटस होता था, आस्ट्रेलिया या कनाडा की तरह वे भारत को ब्रिटिश साम्राज्य में डोमीनियन बनते देखना चाहते थे। यह स्थिति १९२९ में पूर्ण स्वाधीनता की शपथ लेने से पहले थी और उसके बाद भी रही। १९२९ में पूर्ण स्वाधीनता की शपथ लेने का कारण कांग्रेसी नेताओं पर स्वयं कांग्रेस का दबाव था, उसके अलावा देश के नौजवानों की गैरकांग्रेसी कार्य-वाही का दबाव था। देश के राजनीतिक आन्दोलन की बागडोर उनके हाथ से न निकल जाय, इसलिए पूर्ण स्वाधीनता की शपथ लेना जरूरी था। १९४५-४७ में देश के राजनीतिक आन्दोलन की बागडोर उनके हाथ से छूटी जा रही थी, तब उन्होंने पूर्ण स्वाधीनता का नारा और भी जोरों से बुलन्द किया; इसके साथ ही वे अंग्रेजों से कहते जाते थे कि डोमीनियन स्टेटस हमें स्वीकार है। इसीलिए जब ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने भारतीय स्वाधीनता सम्बन्धी कानून बनाया, तब उसमें भारत और पाकिस्तान को डोमीनियन कहा गया। इन डोमीनियनों की वफादारी ब्रिटिश बादशाह के प्रति थी, बादशाह ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक था। भारतीय डोमीनियन के प्रधानमन्त्री के लिए जरूरी था कि वह पदग्रहण के समय ब्रिटिश बादशाह के प्रति वफादारी की शपथ ले। ऐसी शपथ कांग्रेसी नेता पहले भी ले चुके थे, अन्तर यह था कि भारत अब डोमीनियन था, पहले वह डोमीनियन नहीं था।

कांग्रेसी नेता बादशाह के प्रति वफादारी और पूर्ण स्वाधीनता के प्रति निष्ठा के बीच दो तरह की कसमें खाकर किस तरह सन्तुलन कायम करते थे, इसकी जानकारी से उनके नैतिक चरित्र को समझने में सहायता मिलती है। १९३७ के चुनावों में कांग्रेस जीती। पदग्रहण के समय मन्त्रियों को बादशाह के प्रति वफा-दारी की शपथ लेनी थी। पट्टाभि सीतारमैया ने कांग्रेस के इतिहास में लिखा है: वफादारी की सौगन्ध सचमुच एक हौवा थी। बहुत से लोगों को वैसी शपथ लेने पर आपत्ति थी। कांग्रेस कार्यकारिणी ने घोषित किया कि शपथ लेने से स्वाधीनता की माँग न तो कम होगी, न उसमें कोई तब्दीली होगी, सभी कांग्रेस जनों की मूल वफादारी (primary allegiance) भारतीय जनता के प्रति है। पहली अप्रैल से नया कानून लागू होनेवाला था। उससे पहले ही विधानसभाओं के नव-निर्वाचित सदस्यों ने मार्च में अपना सम्मेलन किया और उसमें भारतीय जनता के प्रति वफादारी की शपथ ली। शपथ में भारत की स्वाधीनता के लिए ही काम करने की बात न थी वरन् भारतीय जनता के शोषण और उसकी गरीबी को भी

समाप्त करने की बात थी ! (P. Sitaramayya, 'The History of the Indian National Congress'; खण्ड २, पृष्ठ ४०-४१) ।

अंग्रेज शासकों में और कांग्रेसी विधायकों में ऐसे लोग थे जो बादशाह के प्रति शपथ लेने को ढकोसला मानते थे। पहली अप्रैल १६४६ को संयुक्त प्रान्त में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने शपथ ली। मन्त्रियों ने कहा कि वे ईमानदारी से और भली-भांति अपने सम्राट्, भारत के शाहंशाह जार्ज षष्ठ की सेवा करेंगे (will well and truly serve our Sovereign, King George VI, Emperor of India)। गवर्नर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा, मुझे ऐसे ढकोसले पसन्द नहीं (I dislike bogus things)। वफादारी की सौगन्ध खाने में लाभ क्या ? वर्तमान राजनीतिक पृष्ठभूमि में और मन्त्रियों के चुनाव भाषणों को ध्यान में रखते हुए ऐसी शपथ को 'नानसेन्स' ही कहा जायेगा। गवर्नर के अनुसार शपथ ग्रहण समारोह बड़े नीरस ढंग से हो रहा था—जैसा कि होता ही है—तभी एक प्रमुख कांग्रेसी सदस्य ने चिल्लाकर कहा, तुम सब झूठे हो; जो कुछ कह रहे हो, उसके एक शब्द पर भी तुम्हें विश्वास नहीं है (You are all liars; you don't mean a word of it)। (ट्रान्सफर आफ पावर, खण्ड ७, पृष्ठ ३६१-६२)।

दोहरे शपथ ग्रहण के ठीक इसी अन्दाज से कांग्रेसी नेताओं ने पहले संविधान सभा में भारत को गणराज्य बनाने का प्रस्ताव पास किया, उसके बाद १५ अगस्त १६४७ को भारत का ब्रिटिश डोमीनियन होना स्वीकार किया और ब्रिटिश सम्राट् के प्रति वफादारी की शपथ ली। पुनः यह शपथ उन्हें खारिज करनी पड़ी और भारत को प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य घोषित करना पड़ा। १५ अगस्त १६४७ को भारत और ब्रिटेन के जैसे सम्बन्ध थे, वैसे वे बाद को नहीं रहे; उनमें परिवर्तन हुआ है और आम तौर से यह परिवर्तन जनआन्दोलनों के फलस्वरूप हुआ है। बिहार में किसानों का बकाश्त आन्दोलन, बंगाल में किसानों का तिभागा-आन्दोलन, महाराष्ट्र में वर्ली के आदिवासी किसानों का आन्दोलन, हैदराबाद रियासत में तेलंगाना का किसान आन्दोलन, ये सब आन्दोलन १५ अगस्त १६४७ के बाद चल रहे थे। इसके अलावा मज़दूरों की हड़तालों का तांता अभी टूटा न था। १६४५ में ७ लाख ४७ हजार ५३० मजदूरों ने हड़तालों में भाग लिया था; १६४६ में यह संख्या बढ़कर १६ लाख ६१ हजार ६४८ हो गयी थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि १६४६ के क्रान्तिकारी वर्ष में मजदूरों ने किस तरह अंग्रेजों और पूंजीपतियों पर भारी दबाव डाला था। १६४७ में यह संख्या लगभग उतनी ही रही—१८ लाख ४० हजार ७८४। यह संख्या उन मजदूरों की है जिन्होंने १५ अगस्त से पहले और उसके बाद १६४७ में अपने मालिकों का हृदयपरिवर्तन होते न देखकर हड़तालें की थीं। १६४८ में सरकारी दमन के बावजूद १३ लाख ३२ हजार ६५६ मजदूरों ने हड़तालों में भाग लिया। (ये आंकड़े डा. अधिकारी की पुस्तक 'Communist Party and India's Path to National Regeneration and Socialism' के पृष्ठ ६६ पर दिये हुए हैं।)

किसानों और मज़दूरों के इन संघर्षों का नेतृत्व कम्युनिस्ट पार्टी कर रही थी। वह कांग्रेसी नेताओं पर आरोप लगा रही थी कि उन्होंने अंग्रेज़ों से समझौता [illegible]

वह भारत सरकार से माँग कर रही थी कि वह ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बन्ध तोड़े। इसलिए आर्थिक माँगों को लेकर उसके नेतृत्व में किसानों और मज़दूरों के जो भी संघर्ष हुए, वे लाजमी तौर पर राजनीतिक संघर्ष भी बन गये। इनका प्रभाव देश की जनता पर और कांग्रेस के साधारण सदस्यों पर, देश के वामपक्षी दलों पर न पड़ता, यह असम्भव था।

१५ अगस्त १९४७ के बाद भारत की भीतरी और बाहरी स्थिति में तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। भारत को प्रभुत्वसम्पन्न गणराज्य घोषित किया गया और मन्त्रियों ने ब्रिटिश सम्राट् के प्रति वफ़ादारी की शपथ लेना बन्द किया। हैदराबाद, त्रावनकोर-कोचीन आदि रियासतों को तोड़कर राज्यों का पुनर्गठन किया गया। भारत ने विदेश नीति में आमतौर से साम्राज्यवाद का समर्थन करना छोड़कर समाजवादी देशों से दोस्ती और तटस्थता की नीति अपनायी। ये परिवर्तन ऊपर से देखने में अलग-थलग, वास्तव में एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। ये परिवर्तन भारतीय जनता के आन्दोलनों के अलावा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रभाव से घटित हुए थे। इन परिस्थितियों में चीनी जनता की विजयी क्रान्ति का प्रभाव विशेष महत्वपूर्ण था। भाषावार प्रान्त बनाने के लिए जो व्यापक आन्दोलन चलाया गया, उसमें प्रमुख भूमिका कम्युनिस्ट पार्टी की थी। रियासतों का वास्तविक विलयन तब हुआ जब इन्हें भंग करके इनके क्षेत्र पड़ोसी जातीय क्षेत्रों में मिला दिये गये। इससे पहले का विलयन औपचारिक था, रियासतों ने भारत सरकार को सर्वोपरि सत्ता मानकर अपना अस्तित्व यथासम्भव बनाये रखा था। राज्यों का पुनर्गठन जनआन्दोलनों का परिणाम था, सभी लोग जानते हैं। भारत की तटस्थतावाली विदेश नीति भी जनआन्दोलनों का परिणाम है, बहुत लोग यह भूल गये हैं।

बहुतों को याद न होगा कि १९५० में जवाहरलाल नेहरू ने अमरीका, ब्रिटेन और दक्षिणी कोरिया का समर्थन करते हुए उत्तरी कोरिया को हमलावर घोषित किया था। रजनी पाम दत्त ने **भारत : वर्तमान और भावी** (बम्बई, १९५६) में नेहरू का यह वक्तव्य उद्धृत किया था : "जब उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर हमला किया, तो बहुत लम्बी-चौड़ी जाँच के बग़ैर भी यह बात साफ़ थी कि पहले से खूब तैयारी करके और बहुत बड़े पैमाने पर यह हमला किया गया था।" (पृ. ३०६)। नेहरू ने यह बात ७ जुलाई १९५० को कही थी। इस प्रसंग में रजनी पाम दत्त ने लिखा था : "एक एशियाई देश पर पश्चिमी साम्राज्यवादियों के इस हमले में भारत सरकार ने भी आंशिक रूप से मदद की। उसने हमला करनेवालों की मरहम पट्टी करने के लिए एक डाक्टरी दल कोरिया भेजा। लेकिन इस पाप के काम से भारतीय जनमत के सभी क्षेत्रों में बड़ा क्रोध पैदा हुआ। पश्चिम के सभी साम्राज्यवादी देशों की फ़ौजों, समुद्री बेड़ों और वायुसेनाओं के संयुक्त बर्बर आक्रमण का कोरियाई जनता जिस वीरता और शौर्य के साथ मुकाबला कर रही थी, उसे देखकर भारत की जनता में जबर्दस्त उत्साह पैदा हुआ।" (उप.)। इस 'जबर्दस्त उत्साह' का परिणाम यह हुआ कि जवाहरलाल नेहरू ने स्तालिन को सन्देश भेजा कि कोरिया के झगड़े को "शान्तिपूर्वक ढंग से हल करने

की कोशिश की जाय।" इसके लिए उनका सुझाव था, सुरक्षा समिति का गतिरोध दूर किया जाय, चीन की जनवादी सरकार को उसमें अपना स्थान ग्रहण करने दिया जाय, सोवियत संघ उसमें वापस लौट आये, सोवियत संघ, चीन, अमरीका के बीच सम्पर्क स्थापित करके, अन्य शान्तिप्रेमी राज्यों की सहायता से इस लड़ाई को बन्द करने का कोई आधार निकाला जाय। तटस्थता की नीति की ओर भारत सरकार का यह महत्वपूर्ण कदम था। स्तालिन ने इस नीति का तुरत और सकारात्मक मूल्यांकन किया था, यह उनके उत्तर से स्पष्ट है। उन्होंने नेहरू को उत्तर दिया था, "मैं शान्ति के लिए आपकी इस पहल का स्वागत करता हूँ। मैं आपके इस मत से पूर्णतया सहमत हूँ कि कोरिया के सवाल को सुरक्षा समिति के जरिये शान्तिपूर्वक ढंग से सुलझाना उचित होगा और इसके लिए यह नितान्त जरूरी है कि पाँच बड़ी शक्तियों के, जिनमें चीन की जनवादी सरकार भी शामिल है, प्रतिनिधि इस काम में भाग लें।" (पृ. ३०७)।

रजनी पाम दत्त ने ठीक लिखा है कि विदेश नीति में इस मोड़ का मतलब यह नहीं था कि भारत सरकार ने साम्राज्यवादी क्षेमे से अपना नाता तोड़ लिया था। "उसने अंग्रेज़ों के साथ मिलकर नू सरकार को बर्मी जनता के खिलाफ लड़ाई चलाने के लिए हथियार और रुपये दिये। १९५४ तक वह फ्रान्सीसियों को भारत से होकर अपनी फौज और लड़ाई का सामान वियतनाम ले जाने की सुविधा देती रही। मलाया की जनता के खिलाफ युद्ध चलाने के लिए उसने अंग्रेज़ी सरकार को भारत की भूमि पर गुरखा सिपाहियों की भर्ती करने की सुविधा दी (हालाँकि इस मामले में कम्युनिस्ट पार्टी ने सरकार का भण्डाफोड़ किया और उससे मजबूर होकर भारत सरकार ने १९५२ में ब्रिटिश सरकार से इस सम्बन्ध में नये सिरे से बातचीत शुरू की जिसके नतीजे के तौर पर १९५४ में एक नया समझौता हुआ। इस समझौते के मातहत गुरखा सिपाहियों की भर्ती के डिपो भारत से हटाकर नेपाल में खोल दिये गये, मगर सिपाहियों को भारत से होकर मलाया ले जाने की सुविधा कायम रही)।" (पृ. ३०८)। इस विवरण से यह बात आसानी से समझ में आ जाती है कि भारत सरकार ने जहाँ अपनी विदेश नीति बदली है, वहाँ उसने ऐसा जनआन्दोलन के दबाव से किया है। जहाँ यह आन्दोलन गाफिल रहा है, वहाँ वह तुरत साम्राज्यवाद से सहयोग करने की ओर भागी है। इसी सन्दर्भ में भारत का गणराज्य घोषित किया जाना और इसके साथ कामनवेल्थ में उसका बने रहना—इन दो घटनाओं का विवेचन करना चाहिए।

ब्रिटिश साम्राज्य के सभी देश पहले ब्रिटिश राज्यसत्ता के अधीन थे किन्तु इनमें एक महत्वपूर्ण भेद था। कुछ देश ऐसे थे जिनमें ब्रिटेन के लोग जाकर बस गये थे। इन्होंने वहाँ अपने उपनिवेश बनाये थे, सही अर्थ में ये उपनिवेश (colonies) थे। आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड जैसे देश उपनिवेश थे। भारत अंग्रेज़ों का उपनिवेश नहीं था, वह पराधीन देश था। आस्ट्रेलिया और भारत दोनों ही ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के अधीन थे किन्तु दोनों की अधीनता में फर्क था। जिस तरह अंग्रेज भारतीय जनता का शोषण कर रहे थे, उस तरह वे उपनिवेशों में अपनी बिरादरी

के लोगों का शोषण न कर सकते थे। पराधीन देशों की जनता की तुलना उपनिवेशों की गोरी जनता से न करनी चाहिए, उसकी तुलना उपनिवेशों की आदिवासी जनता से करनी चाहिए। ये आदिवासी गुलाम बनाये गये, अपनी भूमि से खदेड़े गये, यथासम्भव निर्मूल कर दिये गये; उनकी तुलना में भारत के लोग शत्रु से निरन्तर युद्ध करते हुए अपने अस्तित्व की रक्षा कर सके किन्तु लाखों की संख्या में वे देश के भीतर और बाहर गिरमिट प्रथा के अन्तर्गत कुली बनकर गोरों की गुलामी करने को मजबूर किये गये (देश के भीतर जैसे असम के चाय-बागानों में, देश के बाहर फिजी, मौरीशस आदि द्वीपों में), और लाखों आदमियों ने भुखमरी के कारण प्राण गँवाये। गुलामी और भुखमरी का यह अनुभव उपनिवेशों की गोरी जनता को कभी प्राप्त नहीं हुआ, इसीलिए दोनों की अधीनता में भेद था, इसीलिए उपनिवेशों से भिन्न पराधीन देशों को अलग कोटि में रखना आवश्यक है।

उपनिवेशों में सबसे पहले अमरीकी उपनिवेश स्वतन्त्र हुए। ये ब्रिटेन से युद्ध करके स्वतन्त्र हुए; युद्ध में इनकी विजय का एक महत्वपूर्ण कारण फ्रांस से—सामन्ती सत्ता को ध्वस्त करनेवाले क्रान्तिकारी फ्रान्स से—सैनिक और राजनीतिक सहायता की प्राप्ति थी। अमरीकी उपनिवेशों में ब्रिटिश जाति से भिन्न अमरीकी जाति का गठन हुआ जिसकी तीन विशेषताएँ हमारे लिए शिक्षाप्रद हैं। इस जाति में आइरिश लोगों का स्थान महत्वपूर्ण था; ऐसा स्थान उन्होंने ब्रिटिश जाति में प्राप्त न किया था। अमरीकी जाति में यहूदियों का अंश अत्यन्त प्रभावशाली है; उस तरह ब्रिटिश जाति अथवा यूरुप की अन्य किसी जाति में यहूदी अंश प्रभावशाली नहीं हुआ। अमरीकी जाति का एक भाग अश्वेत है। इसमें नीग्रो जन हैं जो दास-प्रथा के चलन के समय और उसकी समाप्ति के बाद कभी गोरों की बराबरी का दर्जा नहीं पा सके। ब्रिटेन में जो लोग भारत, पाकिस्तान, वेस्ट-इण्डीज आदि ब्रिटिश साम्राज्य के देशों से जाकर बस गये हैं, उनकी स्थिति अमरीकी नीग्रो जनों की स्थिति से तुलनीय है।

दक्षिण अफ्रीका में हालैण्ड के लोगों ने उपनिवेश बनाया, इनसे अंग्रेजों का युद्ध हुआ; १८१४ में अंग्रेजों ने केप कालोनी और अन्य डच इलाकों पर अधिकार जमाया। सौ साल बाद डच लोगों के बोअर नामक वंशजों ने विद्रोह किया किन्तु उनके विद्रोह का दमन कर दिया गया। दक्षिण अफ्रीका के नस्लपन्थी गोरों में हालैण्ड और ब्रिटेन से आये हुए लोग मुख्य हैं; यहाँ अश्वेत जन बहुसंख्यक हैं और उनकी स्थिति अमरीकी नीग्रो जनों की स्थिति से कहीं ज्यादा खराब है। कनाडा में फ्रांस और ब्रिटेन से जाकर बसनेवाले लोग हैं। १७७५ में अमरीकियों ने जब अंग्रेजों के विरुद्ध अपना स्वाधीनता संग्राम शुरू किया, तब उन्होंने कनाडा के लोगों को भी स्वाधीन कराने का प्रयत्न किया। इस युद्ध में कनाडा के फ्रांसीसी उद्भववाले लोग तटस्थ रहे। १७७८-७९ में अमरीकियों ने ओहायो और मिसीसिपी नदियों के बीच के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। १८३७ में कनाडा-वासियों ने ब्रिटिश साम्राज्य से अलग होने के उद्देश्य से विद्रोह किया किन्तु शीघ्र ही उसका दमन कर दिया गया। कनाडा में फ्रांसीसी और अंग्रेजी भाषाएँ

बोलनेवाली दो जातियाँ रहती हैं; उसकी तुलना स्विट्जरलैण्ड जैसे राष्ट्र से की जा सकती है जहाँ फ्रासीसी, जर्मन और इटालियन बोलनेवाली तीन जातियाँ रहती हैं।

ब्रिटिश पार्लियामेण्ट अपने उपनिवेशों के लिए कानून बनाती थी; उपनिवेश अपने लिए कानून बनायें, तो उनका स्थान गौण होगा, सर्वोपरि स्थान ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के बनाये कानूनों का था। ब्रिटिश पार्लियामेण्ट उपनिवेशों के बनाये कानून को खारिज भी कर सकती थी। उपनिवेश स्वतन्त्र रूप से अपनी विदेश-नीति निर्धारित न कर सकते थे और उनकी सैन्यशक्ति का उपयोग ब्रिटेन के नियन्त्रण में था।

प्रथम महायुद्ध के समय ६० लाख की आबादीवाले कनाडा मे ६ लाख जवान फौज मे भर्ती किये गये; हताहतों की सख्या डेढ लाख तक पहुँची। कनाडा बहुत-सी बातों में स्वाधीन था, फिर भी उसकी विदेश नीति और सुरक्षा नीति का संचालन अंग्रेज़ों के हित मे था। १६२६ की इम्पीरियल कान्फ्रेन्स ने ब्रिटिश साम्राज्य मे ब्रिटेन तथा डोमीनियनो को स्वायत्तशासी राज्यो के रूप में बराबरी का दर्जा दिया। पहले महायुद्ध के दौरान कनाडा के फ्रांसीसी उद्‌भववाले नागरिकों को फौज में भर्ती होने के लिए विवश किया गया था, दूसरे महायुद्ध मे वैसा करना सम्भव नही था। फिर भी ब्रिटेन की युद्ध घोषणा के एक सप्ताह बाद कनाडा ने भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी थी। ब्रिटेन तथा अन्य डोमीनियनो के हवाबाजो के प्रशिक्षण का अड्डा कनाडा में कायम हुआ, कनाडा की सेना जर्मन हमले की आशंका के समय ब्रिटेन के समुद्रतट की रक्षा के लिए इस्तेमाल की गयी। लगभग सवा सात लाख कनाडावासी फौज मे भर्ती हुए। इनमें लगभग एक लाख मारे गये या घायल हुए। कामनवेल्थ विशेषज्ञ मानसेर्ग के अनुसार आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और भारत की फौजों ने साम्राज्य की मध्य-पूर्ववाली संचार व्यवस्था की रक्षा की; *दक्षिण अफ्रीका की सेना ने उत्तरी अफ्रीका के* ब्रिटिश अभियानों में भाग लिया, प्रशान्त महासागर के युद्ध मे आस्ट्रेलिया की सेनाओं ने भाग लिया। मानसेर्ग के दिये हुए आँकड़ों से विदित होता है कि ब्रिटेन को जितनी सैन्यशक्ति (२५ लाख) अकेले भारत से प्राप्त हुई थी, उतनी कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और दक्षिण अफ्रीका के डोमीनियनों से कुल मिलाकर (२० लाख ६७ हजार ३००) न प्राप्त हुई थी। इन डोमीनियनों तथा भारत से अलग शेष उपनिवेशो और पराधीन देशों मे कुल ४ लाख ७३ हजार २५० सेना ही प्राप्त हुई थी। (Mansergh, 'The Commonwealth Experience'; लन्दन १६६६, पृ. २८६)। डोमीनियनों, उपनिवेशो और (भारत को छोड़कर) पराधीन देशों की कुल फौज २५ लाख ४० हजार ५५० हुई; इसके मुकाबले अकेले भारत की फौज २५ लाख थी। इससे साबित यह हुआ कि ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिति और सुरक्षा के लिए जो महत्व भारत का था, वह किसी भी डोमीनियन, उपनिवेश या पराधीन देश का नहीथा। ब्रिटेन अब अपने साम्राज्य की रक्षा के लिए भारतीय सेना का उपयोग नही कर सकता, १६४७ के समझौते में उसे यह भारी घाटा हुआ है।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान और उससे पहले भी साम्राज्यवादी ब्रिटेन से कनाडा उपनिवेश के सम्बन्ध बदलते रहे थे। औपचारिक रूप से १६२६ में इन बदलते सम्बन्धों की पुष्टि हुई। १६२६ से पहले जब कामनवेल्थ शब्द का व्यापक चलन न हुआ था, तब कांग्रेसी नेता ब्रिटेन से माँग कर रहे थे कि भारत को ब्रिटिश साम्राज्य में उपनिवेश का दर्जा दिया जाय। पराधीन आयरलैण्ड और उपनिवेश कनाडा की स्थिति में महत्वपूर्ण अन्तर था; अंग्रेज कनाडा में अपनी बिरादरी के अंग्रेजों को, पड़ोसी फ्रांस से वहाँ पहुँचकर बसनेवाले फ्रांसीसी भाषियों को उस तरह न सता सकते थे जिस तरह वे आयरलैण्ड के निवासियों को सताते थे। कांग्रेसी नेता भारत को आयरलैण्ड न बनाना चाहते थे, वे उसे कनाडा का दर्जा देना चाहते थे। जैसे इटली के महाकवि दान्ते के नरक में अनेक वृत्त थे, बाहरी वृत्त में यातना सबसे कम थी, भीतरी वृत्त में सबसे अधिक थी, वैसे ही ब्रिटिश साम्राज्य के बाहरी वृत्त में कनाडा था और भीतरी वृत्त —कुम्भीपाक—में भारत था। कांग्रेसी नेता भीतरी वृत्त से निकलकर बाहरी वृत्त में चक्कर खाते हुए ज़रा चैन की साँस लेना चाहते थे। जब कामनवेल्थ और डोमीनियन शब्दों का चलन व्यापक हुआ, तब कांग्रेसी नेताओं का लक्ष्य कामनवेल्थ के अन्तर्गत डोमीनियन का दर्जा पाना हुआ। लाहौर में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ; उससे डोमीनियन प्रेमी अनेक नेता चौंके। उन्हें आश्वस्त करते हुए गांधीजी ने लिखा, "स्वाधीनता प्रस्ताव से किसी को डरने की ज़रूरत नहीं है। मैंने बार-बार कहा था कि मेरे लिए, और वैसे ही अन्य सभी कांग्रेसजनों के लिए, डोमीनियन स्टेटस का अर्थ व्यवहारत: स्वाधीनता ही हो सकता है; अर्थात् परस्पर लाभ के लिए स्वेच्छा से साझेदारी जो किसी भी साझेदार के कहने पर भंग की जा सके।" ("Dominion status could mean only virtual independence; that is partnership at will for mutual benefit and to be dissolved at the instance of either partner." S. R. Mehrotra की पुस्तक 'India and the Commonwealth' 1885-1929 में उद्धृत, पृ. १४३)।

डोमीनियन स्टेटस का अर्थ हुआ स्वेच्छा से साझेदारी; ब्रिटिश साम्राज्य से पूरी तरह सम्बन्धविच्छेद नहीं करना, स्वेच्छा से साझेदार का नया सम्बन्ध बनाये रहना। यह उद्देश्य गांधीजी, जवाहरलाल नेहरू और भारत के पूँजीपति वर्ग (विशेष रूप से घनश्यामदास बिड़ला जैसे उद्योगपतियों) के सामने १६२६ में स्पष्ट था। यह उद्देश्य उन्होंने १६४७ में सिद्ध किया, अन्तर यह था कि डोमीनियन का दर्जा एक नहीं भारत के दो राज्यों को मिला।

कामनवेल्थ शब्द का चलन अंग्रेज़ी भाषा में उस समय हुआ जिस समय ब्रिटिश साम्राज्य का अस्तित्व न था। इंग्लैण्ड में सम्पदा कुछ बड़े-बड़े ज़मींदारों के पास केन्द्रित होकर न रह जाय, सम्पदा (वेल्थ) सामान्य (कामन) हो, उस पर सबका अधिकार हो, जनसाधारण की यह साम्यवादी भावना कामनवेल्थ शब्द में व्यक्त हुई थी। आस्ट्रेलिया के छह पृथक् उपनिवेशों को मिलाकर १६०१ में उनका संघ बनाया गया, सामान्य हितों का ध्यान रखा जाये, इस उद्देश्य को प्रकट करने के लिए संघ को कामनवेल्थ आफ आस्ट्रेलिया नाम दिया गया। एक लोकप्रिय शब्द

का लोकवादी अर्थ बदलकर उसे साम्राज्यवादी अर्थ में चला देना अंग्रेजो के हुनर की उम्दा मिसाल है। रोजबरी नाम के एक अंग्रेज लार्ड ने १८८४ मे अपने एक भाषण के दौरान साम्राज्य को कामनवेल्थ आफ नेशन्स कहा था। फिर इसी नाम से १६१६ मे लायोनेल कर्टिस की पुस्तक प्रकाशित हुई और उनकी अन्य पुस्तक **दि प्राब्लेम आफ़ दि कामनवेल्थ** मे भी कामनवेल्थ शब्द का व्यवहार किया गया। प्रथम महायुद्ध के बाद साम्राज्य के साथ-साथ, और साम्राज्य के बदले; कामनवेल्थ शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा। जार का साम्राज्य ध्वस्त हुआ; समाजवादी गणराज्यो का संघ सोवियत संघ कायम हुआ। अंग्रेजों ने कहा, हमे भी साम्राज्य की जरूरत नही है; हमारी कामनवेल्थ स्वेच्छा से साझेदारी करनेवालों का संघ है; जो देश अभी इसके सदस्य नही है, वे आगे हो जायेंगे; सदस्यता के योग्य बनाने के लिए ही हम अभी उनके शासन का भार सँभाले हैं। ब्रिटेन, कनाडा आदि के प्रधानमन्त्रियों ने भारत-कामनवेल्थ सम्बन्धो के बारे में जो विज्ञप्ति अप्रैल १६४६ मे निकाली, उसके पहले पैरा मे ब्रिटिश कामनवेल्थ आफ नेशन्स का उल्लेख है, इसके बाद छह बार ब्रिटिश शब्द के बिना ही केवल कामनवेल्थ का व्यवहार हुआ है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ऐटली ने हाउस आफ कामन्स में कहा: 'ब्रिटिश एम्पायर ऐण्ड कामनवेल्थ' के विभिन्न भागों में इस बात को लेकर अलग-अलग मत है; मेरी समझ में बेहतर यही होगा कि लोगों को जो शब्दावली पसन्द हो, उन्हें उसका व्यवहार करने दिया जाय। कामनवेल्थ शब्द से सम्बन्धित ब्यौरा देते हुए व्हिअर ने लिखा है: दोनों तरह की शब्दावली का प्रयोग [ब्रिटिश कामनवेल्थ और केवल कामनवेल्थ का प्रयोग] सरकारी तौर पर वैकल्पिक है किन्तु सरकारी और गैरसरकारी प्रयोग मे तगड़ा रुझान यह रहा है कि 'ब्रिटिश एम्पायर' की जगह 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' का व्यवहार हो और 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' की जगह केवल 'कामनवेल्थ' का हो। (K. C. Wheare: 'The Constitutional Structure of the Commonwealth' आक्सफोर्ड, १६६०; पृ. २)।

दूसरे महायुद्ध के बाद कामनवेल्थ शब्द का चलन और भी व्यापक हुआ। व्हिअर के अनुसार स्वशासित और परशासित, दोनों तरह के राज्य कामनवेल्थ के अन्तर्गत माने गये; १६४७ में भारत और पाकिस्तान के, १६४८ में श्रीलंका के, स्वाधीन होने पर साम्राज्य के बहुसंख्यक लोग कामनवेल्थ के सदस्यदेशों के नागरिक बन गये। "ऐसे सदस्यों की संख्या और बढनेवाली थी, इसलिए इतिहास की गति का पूर्वानुमान करके समय से कुछ पहले ही एम्पायर को 'कामनवेल्थ' कहना तर्कसंगत प्रतीत होता था।" (उप., पृ. ६)। पहले ब्रिटिश एम्पायर में स्वशासित और परशासित दोनो तरह के राज्य थे; अब कामनवेल्थ में स्वशासित और परशासित दोनों तरह के राज्य है। इस दृष्टि से ब्रिटिश एम्पायर और ब्रिटिश कामनवेल्थ मे कोई अन्तर नहीं है। ब्रिटिश शब्द से ब्रिटिश एम्पायर की याद आती है, इसलिए अंग्रेज यह विशेषण त्यागकर अकेले कामनवेल्थ शब्द का व्यवहार करने को राजी हैं। एम्पायर और कामनवेल्थ में विशेष अन्तर नहीं है किन्तु स्वशासित और परशासित राज्यों मे महत्वपूर्ण अन्तर है और स्वशासित राज्य ही कामनवेल्थ के सदस्य हो सकते हैं। इस तरह कामनवेल्थ के दो अर्थ हुए:

(१) स्वशासित राज्यों का समुदाय; (२) स्वशासित और परशासित राज्यों का समुदाय। ठीक इसी तरह डोमीनियन शब्द के दो अर्थ हैं: (१) स्वशासित राज्य; (२) परशासित राज्य।

डोमीनियन वह क्षेत्र है जिस पर किसी का प्रभुत्व (डॉमिनेशन) होता है। कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि को कामनवेल्थ में बराबरी का दर्जा मिला हुआ था, वे ब्रिटेन के बराबर थे, फिर भी कोई ब्रिटेन को डोमीनियन न कहता था, डोमीनियन कहने से उन उपनिवेशों का ही बोध होता था जो स्वशासित हो गये थे। अंग्रेजों ने क्रमशः डोमीनियन शब्द छोड़कर स्वशासित राज्यों को कामनवेल्थ का सदस्य कहना शुरू किया।

१९४८ में आयरलैंड की सरकार ने तै किया कि वह ब्रिटिश बादशाही से कोई सम्बन्ध न रखेगी। आयरलैण्ड गणराज्य घोषित किया गया। ब्रिटेन तथा कामनवेल्थ के अन्य सभी सदस्यों ने कहा कि गणराज्य सम्बन्धी कानून १८ अप्रैल १९४९ से अमल में आयेगा; उसके बाद आइरिश गणराज्य कामनवेल्थ का सदस्य न रह सकेगा क्योंकि उसने बादशाह से सभी सम्बन्ध तोड़ लिये होंगे। (उप., पृ. १५४)। कामनवेल्थ के जिन सभी सदस्यों ने माना था कि गणराज्य बनने पर आयरलैण्ड कामनवेल्थ का सदस्य न रहेगा, उनमें भारत भी रहा होगा। किन्तु कुछ ही दिन बाद भारत सरकार ने ब्रिटेन को सूचित किया कि भारत गणराज्य बनेगा। ब्रिटेन तथा कामनवेल्थ के सभी सदस्यों ने २७ अप्रैल १९४९ की विज्ञप्ति द्वारा भारतीय गणराज्य को कामनवेल्थ का सदस्य स्वीकार किया। आयरलैण्ड गणराज्य बना तो कामनवेल्थ से बाहर आया; भारत गणराज्य बना तो उसके भीतर रहा। व्हिअर ने इस भेद का यह कारण बताया है: आयरलैण्ड ने बादशाह से सभी तरह का सम्बन्ध तोड़ दिया था, उसे सहयोग के प्रतीकरूप में भी स्वीकार न किया था किन्तु भारत ने उसे परस्पर सम्पर्क के प्रतीकरूप में और इस तरह कामनवेल्थ के मुखिया रूप में स्वीकार किया था। (उप.)। ऊपर से देखने में कामनवेल्थ से बाहर होने के कारण भारत की अपेक्षा आयरलैण्ड ब्रिटेन से दूर जा पड़ा था। वास्तविक स्थिति यह नहीं थी। "यह स्पष्ट था कि आयरलैण्ड ब्रिटेन तथा कामनवेल्थ के अन्य सदस्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखना चाहता है। इधर से उस इच्छा के अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। जैसे ही [आइरिश] गणराज्य अस्तित्व में आया, वैसे ही कामनवेल्थ के सदस्यों ने कानून बनाया कि आयरलैण्ड के साथ पारस्परिक नागरिकता (reciprocal citizenship) कायम की जायेगी और कहा गया कि यद्यपि आयरलैण्ड कामनवेल्थ का सदस्य नहीं है, फिर भी वह विदेशी राज्य (foreign country) नहीं है। हम इससे यह निष्कर्ष निकाले बिना नहीं रह सकते कि आयरलैण्ड अब भी कामनवेल्थ का सदस्य था; बस कहने भर को नहीं था। उसे आपसी सम्बन्ध (association) से आपत्ति नहीं थी; प्रतीक के स्वरूप से आपत्ति थी।" (उप., पृ. १५४-५५)।

अंग्रेज आइरिश जनता की गणतान्त्रिक भावना के आगे झुककर कामनवेल्थी सहयोग को खूब लचीला बनाने को तैयार थे। यही नीति भारत के बारे में थी। आयरलैण्ड कामनवेल्थ के बाहर आ गया, भारतीय गणराज्य भीतर रहा।

कामनवेल्थी सहयोग पहले की तरह कायम रहा। मूल बात कामनवेल्थ की सदस्यता नही, ब्रिटेन तथा सम्बद्ध देशों का आपसी सहयोग था। इससे यह न समझना चाहिए कि भारत जैसे देशों की कामनवेल्थ सदस्यता ब्रिटेन के लिए मूल्यवान नही है। सहयोग औपचारिक हो तो और भी अच्छा, यह न सम्भव हो तो अनौपचारिक सहयोग ही सही। भारत के साम्राज्यविरोधी नेता यदि ब्रिटेन से सहयोग करते हैं तो यह कौन कह सकेगा कि ब्रिटेन अब भी साम्राज्यवादी है? १६ मई १९४९ को संविधान सभा मे अपने भाषण में जवाहरलाल नेहरू ने कामनवेल्थ की सदस्यता कायम रखने के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा था: हम कामनवेल्थ में शामिल हैं, क्योंकि स्पष्ट ही हमारी समझ में ऐसा करना लाभकारी है और संसार में जिन उद्देश्यों को हम आगे बढाना चाहते हैं, उनके लिए लाभकारी है। कामनवेल्थ के अन्य देश चाहते हैं कि हम उसमे रहें क्योकि उनकी समझ में यह उनके लिए लाभकारी होगा। आपस मे यह बात समझ ली गयी है कि कामनवेल्थ में रहने से राष्ट्रों को लाभ है और इसलिए वे उसमे शामिल होते है। इसके साथ ही यह बात बिल्कुल साफ कर दी गयी है कि प्रत्येक देश अपनी राह चलने को पूरी तरह स्वतन्त्र है। हो सकता है कि कभी-कभी वे [देश] इतनी दूर चले जायें कि कामनवेल्थ से नाता तोड़ लें। आज की दुनिया में जहाँ इतनी विघटनकारी शक्तियाँ क्रियाशील है, जहाँ हम अक्सर युद्ध के कगार पर होते है, मेरी समझ मे किसी बने-बनाये सम्बन्ध को तोडने के लिए प्रोत्साहन देना खतरे से खाली नही है (not a safe thing to encourage the breaking up of any association that one has)। जो उसका बुरा अंश हो, उससे नाता तोड़ लो, तुम्हारी प्रगति की राह में जो भी चीज़ बाधक हो, उससे नाता तोड लो क्योकि जो चीज़ राष्ट्र की प्रगति में बाधक होगी, उससे कोई भी सहमत न होगा। बाकी किसी सम्बन्ध के बुरे अंश से नाता तोडने के अलावा ऐसे सहयोग सम्बन्ध (cooperative association) को चालू रखना जो इस दुनिया मे कुछ भला कर सकता हो, उसे तोड़ने से बेहतर है। (यह भाषण S. C. Gangal की पुस्तक 'India and the Commonwealth', आगरा, १८७० में उद्धत है।)

कामनवेल्थ का केन्द्र है ब्रिटेन; कामनवेल्थ से सम्बन्ध कायम रखने का मतलब है ब्रिटेन से सम्बन्ध कायम रखना। भारत और पाकिस्तान में लडाई हो जाये पर ब्रिटेन से दोनों के सम्बन्ध कायम रहेंगे। ऐसी लड़ाई से कामनवेल्थ न टूटेगी किन्तु यदि भारत और ब्रिटेन में लडाई हो जाय तो कामनवेल्थ टूट जायगी। ब्रिटेन से सम्बन्ध कायम रखने का मतलब है ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सम्बन्ध कायम रखना। यदि स्वायत्तशासी राज्यों को साम्राज्य के अन्तर्गत न माना जाय, तो भी परशासी राज्यों का अभाव नही है। ब्रिटिश साम्राज्य के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। मार्क्सवादियों के लिए साम्राज्यवाद एक विशेष पारिभाषिक शब्द है जो इजारेदार पूँजीवादी संघों और बैंकपतियों के आधिपत्य की सूचना देता है। महाजनी पूँजी का एक गढ ब्रिटेन है। नेहरूजी इस साम्राज्यवादी ब्रिटेन से सहयोग-सम्बन्ध बनाये रखने की बात कह रहे थे। कामनवेल्थ मे रहने से भारत को लाभ है और ब्रिटेन को लाभ है, ब्रिटिश इजारेदारों को लाभ है और भारतीय उद्योग-

पतियों तथा व्यापारियों को लाभ है, इस परस्पर लाभ के लिए दोनों देशों के पूंजी-पतियों में सहयोग-सम्बन्ध कायम रहना चाहिए। ब्रिटिश पूंजीवाद में जो अंश बुरा हो, उससे नाता तोड़ लेना चाहिए; जो अंश भला हो, उससे नाता बनाये रखना चाहिए। साम्राज्यवाद को शुद्ध करके उससे स्वाधीन भारत सहयोग-सम्बन्ध कायम करेगा तो इससे विश्वशान्ति की रक्षा में सहायता मिलेगी। बने बनाये सम्बन्धों को क्यों तोड़ा जाय? वैसे ही दुनिया में तोड़-फोड़ क्या कम है? साम्राज्यवाद से सहयोग-सम्बन्ध हमारी राष्ट्रीय प्रगति में बाधक न होगा; वास्तव में जितना ही यह सहयोग बढ़ेगा, उतना ही हम आत्मनिर्भर होंगे! विश्वशान्ति राष्ट्रों की मैत्री पर निर्भर है, इस कारण भारत और ब्रिटेन की मैत्री विश्वशान्ति में इन दोनों राष्ट्रों का महत्वपूर्ण योगदान है।

१९५६ में ब्रिटेन ने कामनवेल्थ के किसी भी सदस्य से परामर्श किये बिना, किसी भी सदस्य को सूचना दिये बिना, स्वेज नहर के मामले को लेकर मिस्र पर हमला किया। इस डकैती में उसका सहयोगी था फ्रांस। नेहरू ने इसे खुला आक्रमण बताया और कहा कि बीसवीं सदी में हम फिर अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों के डकैतीवाले तरीकों की ओर लौट रहे हैं। भारत सरकार ने औपचारिक रूप से अपना विरोध प्रकट किया। राजगोपालाचारी ने कहा कि भारत को कामनवेल्थ छोड़ देना चाहिये। (मानसेर्ग, दि कामनवेल्थ एक्सपीरियन्स, पृ. ३४७)। किन्तु भारत ने कामनवेल्थ छोड़ी नहीं। एक विवेचक के अनुसार यदि भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका नवम्बर १९५६ में कामनवेल्थ छोड़ने की सार्वजनिक मांग के आगे झुक जाते तो यह निश्चित है कि मार्च १९५७ में स्वाधीनता प्राप्त करनेवाला घाना उनका अनुसरण करता। (M. S. Rajan, 'The Post-War Transformation of the Commonwealth', नयी दिल्ली, १९६३, पृ. ११)। भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका में अंग्रेजों के लिए सर्वाधिक महत्व भारत का था और भारत के नेताओं में सर्वाधिक महत्व जवाहरलाल नेहरू का था। अफ्रीकी नेताओं से अंग्रेज कह सकते थे और अपनी जनता से अफ्रीकी नेता कह सकते थे कि जब नेहरू भारत को कामनवेल्थ में शामिल कर रहे हैं तब तुम क्यों शामिल न होगे? मानसेर्ग के शब्दों में नेहरू के बिना निश्चय ही भारत कामनवेल्थ का पहला गणराज्य-सदस्य न होता और भारतीय सदस्यता के बिना यह लगभग निश्चित है कि एशिया के, और उससे भी अधिक अफ्रीका के, राष्ट्रवादी उसके सदस्य न बनते। जो कामनवेल्थ एक साम्राज्य से फूटकर बढ़ी थी (grown out of an Empire), उसमें आगे चलकर एशिया और अफ्रीका के साम्राज्यविरोधी (anti-imperialist) राज्यों का ऐसे तरीकों से शामिल होना जो इतने रूढ़ हो चुके थे कि उन पर कोई टीका-टिप्पणी न करता था, एक विचार की सबसे शानदार उपलब्धि थी। इस उपलब्धि का श्रेय न तो स्मट्स को है, न मैकेन्जी किंग को है वरन् नेहरू को है। (दि कामनवेल्थ एक्सपीरियन्स, पृ. ३९६)। साम्राज्यवादी ब्रिटेन और अफ्रीका-एशिया के साम्राज्यविरोधी राज्यों में सहयोग-सम्बन्ध सम्भव है, यह धारणा कोटि-कोटि अफ्रीकी-एशियाई जनता के गले से नीचे उतारने में निर्णायक भूमिका भारत के प्रधानमन्त्री

जवाहरलाल नेहरू की थी।

सहयोग-सम्बन्ध बनाये रहने के लिए जरूरी था कि जनता साम्राज्यवाद का क्रूरतापूर्ण, रक्तरंजित इतिहास भूल जाय, वह भूल जाय कि साम्राज्यवाद अभी कायम है और पुराने साम्राज्यवाद से उसका अटूट सम्बन्ध है। कनाडा की पालियामेण्ट को सम्बोधित करते हुए नेहरू ने कहा था, मुझे विश्वास है कि कामनवेल्थ के इतिहास मे यह विकास [भारतीय गणराज्य की कामनवेल्थ सदस्यता], जिसकी मिसाल किसी देश-काल मे अन्यत्र नही है, संसार में शान्ति और सहयोग की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है वह तरीका जिससे यह कार्य सम्पन्न हुआ। अभी कुछ ही साल पहले भारतीय राष्ट्रवाद ब्रिटिश साम्राज्यवाद से संघर्ष की स्थिति मे था। इस संघर्ष के फलस्वरूप दुर्भावना, सन्देह और कटुता का जन्म हुआ यद्यपि हमारे महान् नेता महात्मा गांधी की शिक्षा के कारण विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ अन्य किसी भी राष्ट्रवादी संघर्ष की तुलना मे यहाँ दुर्भावना कही अधिक कम थी। तब यह कौन सोच सकता था कि इतनी जल्दी सन्देह और कटुता का बहुत कुछ लोप हो जायेगा और इनकी जगह स्वाधीन और समान राष्ट्रो (free and equal nations) के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग कायम हो जायेगा ? यह ऐसी उपलब्धि है जिसके लिए सभी सम्बद्ध व्यक्ति उचित श्रेय ले सकते है। कठिन समस्याओ के शान्तिपूर्ण समाधान का यह उत्कृष्ट उदाहरण है और वह समाधान वास्तविक है क्योंकि उसमे अन्य समस्याएँ पैदा नही होती। बाकी दुनिया इस उदाहरण की ओर ध्यान दे तो अच्छा होगा। (दि कामनवेल्थ एक्सपीरियन्स मे उद्धृत, पृ. ३६४)।

भारतीय गणराज्य कामनवेल्थ का सदस्य है, यह विश्वइतिहास की अनुपम घटना है। साम्राज्यवाद से मुक्ति पाने की कठिन समस्या का शान्तिपूर्ण समाधान प्राप्त हो गया, न साँप मरा न लाठी टूटी, मुक्ति मिल गयी और साम्राज्य से सम्बन्ध भी कायम रहा। भारत के लोग अंग्रेजों को सन्देह की निगाह से देखते थे, उनसे संघर्ष करते समय उनके मन में दुर्भावना और कटुता पैदा हुई, महात्मा गांधी ने इस दुर्भावना और कटुता को कम किया। इस कारण कटुता का स्थान सहयोग ने लिया। इसके लिए सभी सम्बद्ध व्यक्ति उचित श्रेय ले सकते हैं। अंग्रेजों को श्रेय इस विशेष योगदान के लिए है कि उन्होने साम्राज्यविरोधी कटुता के स्थान पर साम्प्रदायिक कटुता कायम कर दी। ब्रिटेन और भारत के बीच अब कोई नयी समस्याएँ पैदा न होंगी; सहयोग-सम्बन्ध आर्थिक आधार पर टिका हुआ है। भारत और पाकिस्तान के आपसी सम्बन्धों की समस्या ? भला ब्रिटेन को इनसे क्या लेना-देना है !

अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे भारत तटस्थ है, वह तटस्थ देशों का अगुवा है। किन्तु सोवियत संघ से उसके राजनीतिक सम्बन्ध उसी स्तर के नहीं हैं जिस स्तर के उसके ब्रिटेन से सम्बन्ध है। डोमीनियन ब्रिटिश बादशाह को अपना प्रभु मानते थे; उनके निवासी वैसे ही सम्राट् की प्रजा थे जैसे ब्रिटेन के नागरिक थे। जब तक स्वाधीन भारत गणराज्य नही बना, तब तक उसकी जनता भी वैसे ही सम्राट् की प्रजा थी जैसे अन्य डोमीनियनों की। भारत, ब्रिटेन, कनाडा आदि के

निवासियों की नागरिकता एक थी, उनकी जातीयता या राष्ट्रीयता एक ही थी। ब्रिटिश कामनवेल्थ आफ नेशन्स में अनेक 'नेशन्स' थी, उनकी 'नैशनैलिटी' एक थी! राष्ट्रमण्डल में अनेक राष्ट्र थे, उनकी राष्ट्रीयता एक थी! जब भारत गणराज्य बना और कामनवेल्थ में उसकी सदस्यता बरकरार रही, तब स्वशासित राज्य दो हिस्सों में बँट गये; एक हिस्से में वे भूतपूर्व उपनिवेश थे जो बादशाह को अपना प्रभु मानकर उसके प्रति वफादारी की शपथ लेते थे, दूसरे हिस्से मे वे भूतपूर्व पराधीन देश थे जो गणराज्य थे और जो बादशाह को प्रभु न मानते थे और उसके प्रति वफादारी की शपथ न लेते थे। इन दूसरे हिस्सेवाले देशों के लिए ब्रिटेन विदेश नहीं था जैसे सोवियत संघ था; वे राष्ट्रीयता के ऐसे सन्ध्यालोक में थे जहाँ वे ब्रिटेन से अलग राष्ट्र थे और नहीं भी थे। १६ मई १९४९ वाले संविधान सभा के भाषण में नेहरूजी ने कहा था : एक अन्य मुद्दा यह था कि इस तरह के कामनवेल्थ-सम्बन्ध का एक उद्देश्य अब ऐसी स्थिति बनाना है जो पूर्णतः विदेशी होने और एक ही राष्ट्रीयता के होने के बीच की हो। (Another point was that one of the objects of this kind of Commonwealth association is now to create a status which is something between being completely foreign and being of one nationality.) उन्होंने आगे बताया कि कामनवेल्थ में अनेक राष्ट्र हैं। आमतौर से होता यह है कि या तो आपकी सामान्य राष्ट्रीयता है या आप विदेशी हैं। बीच की कोई स्थिति नहीं है। जब तक बादशाह के प्रति वफादारी कायम थी, तब तक मोटे तौर पर सामान्य राष्ट्रीयता कायम थी। हमारे गणराज्य बनने पर यह कड़ी टूट जायेगी। यदि इन देशों [कामनवेल्थ के देशों] में हम किसी को तरजीह देना चाहें तो सामान्यतः हम उसे परम अनुग्रह प्राप्त राष्ट्र (the most favoured nation clause) मानकर ऐसा करेंगे। वर्ना [इनमें] प्रत्येक राष्ट्र उतना ही विदेशी होगा जितना अन्य कोई राष्ट्र। अब हम यह विदेशीपन हटाना चाहते हैं और जो भी तरजीह या विशेषाधिकार किसी अन्य देश को देना चाहें, उन्हें हम अपने हाथ मे रखना चाहते हैं। ("Now we want to take away that foreignness, keeping in our hands what, if any, privileges or preferences we can give to another country.")

नेहरूजी के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारत और ब्रिटेन के सम्बन्ध दो पूर्णतः विदेशी राज्यों के सम्बन्ध नहीं हैं। भारतीय गणराज्य कामनवेल्थ का सदस्य है; सदस्यता का उद्देश्य परस्पर विदेशीपन को कम करना है। जिस हद तक ब्रिटेन के प्रति भारत का विदेशीपन कम होता है, उस हद तक भारत की स्वाधीन राष्ट्रीयता भी कम होती है। भारत में सोवियत संघ का राजदूत रहता है; किन्तु ब्रिटेन का राजदूत नहीं, यहाँ उसका उच्च आयुक्त रहता है। सोवियत संघ के लिए हमारी राष्ट्रीयता का एक रूप है, ब्रिटेन के लिए दूसरा। व्हिअर के शब्दों में "यद्यपि उच्चायुक्तों को वही दर्जा दिया जाता है जो राजदूतों का है, फिर भी उनका विशेष पदनाम यह बताने के लिए कायम रखा गया है कि वे वही नहीं हैं जो विदेशी राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं।" (दि कामनवेल्थ आफ नेशन्स एट वर्क आफ

दि कामनवेल्थ, पृ. १३७)। ब्रिटिश सम्राट् (या साम्राज्ञी) को कामनवेल्थ का मुखिया मानकर भारत अपनी राष्ट्रीयता के सम्यालोकी स्वरूप की पुष्टि करता है।

कल्पना कीजिये, हिन्द महासागर मे भारत और सोवियत संघ के समुद्री बेड़े मिलकर सैनिक अभ्यास करते है। इस पर भारत मे और फ्री-वर्ल्ड के तमाम देशों में तटस्थता भंग होने की बात को लेकर कितना हल्ला मचेगा, कल्पना पर जोर दिये बिना ही आप समझ सकते हैं। किन्तु यदि किसी महासागर में ब्रिटेन और भारत के युद्धपोत सम्मिलित सैनिक अभ्यास करें तो इससे तटस्थता में बट्टा नही लगता, तटस्थता के प्रहरी हल्ला मचाने के बदले शान्त रहते है। जनवरी और मार्च १६५१ के बीच आस्ट्रेलिया के सिडनी बन्दरगाह के पास ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, भारत और पाकिस्तान के बेड़ो ने सम्मिलित सैनिक अभ्यास किया। इस अभ्यास के आखिरी दौर मे दक्षिण अफ्रीका और कनाडा ने भी एक-एक जहाज़ भेजकर अभ्यास में भाग लिया। ऐसे सैनिक अभ्यासों पर टिप्पणी करते हुए कामनवेल्थ पर अपनी पुस्तक में वाकर ने लिखा है: कामनवेल्थ के अनेक देशों के सैन्यदलों ने सैनिक कार्यवाही और अभ्यासों में सहयोग किया; ये स्वतन्त्र सैन्यदल अपने शस्त्रों, अभ्यास के मानदण्डों और व्यक्तिचयन (personnel) में जो घनिष्ठ समानता बनाये हुए थे, वह उक्त सहयोग द्वारा प्रकट होती थी। कामनवेल्थ के सिपाही, मल्लाह और हवाबाज़ बड़े पैमाने पर व्यक्तिगत रूप से एक-दूसरे से मिलें-जुलें, इसके लिए उस सहयोगसे प्रेरणा मिली, वह मेलजोल उस सहयोग से और गहरा हुआ। (Peatrick Gardon Walker : 'The Commonwealth' लन्दन, १६६२, पृ. ३०३)।

साम्राज्यवाद की रक्षा और विस्तार के लिए अंग्रेजो और अमरीकियों ने मिलकर यूरुप मे नाटो का सैनिक संगठन खड़ा किया था, इधर एशिया में उन्हें कामनवेल्थ का भरोसा था कि उसके सदस्य अपनी सैन्यशक्ति का उपयोग साम्राज्यवाद के हित मे करेंगे। वाकर ने ध्यान दिलाया है कि भारत के प्रधान-मन्त्री ने नाटो की आलोचना की किन्तु कामनवेल्थ के प्रति दूसरा रुख अपनाया। १६५२ मे नेहरूजी ने पहली बार नाटो संगठन की आलोचना की; उसी भाषण में उन्होंने साफ-साफ़ भारत के लिए कामनवेल्थ-सम्बन्ध के महत्व की पुष्टि की। (उप., पृ. ३१७)। पाश्चात्य उपनिवेशवाद की आलोचना करते हुए नेहरू ने मलाया में ब्रिटिश स्थिति के प्रति समझदारी दिखाने के लिए विशेष यत्न किया और आस्ट्रेलिया की आप्रवासी नीति (immigration policy) के बारे में बराबर चुप्पी साधे रहे। "अनेक पाश्चात्य नीतियों से असहमति के इस दौर मे कामनवेल्थ के प्रति भारत के दृष्टिकोण का परिचायक सुरक्षा-विज्ञान सम्बन्धी कामनवेल्थ सम्मेलन था जो मार्च १६५३ मे दिल्ली में हुआ था। इस सम्मेलन के लिए भारत की महमाननवाजी ही महत्वपूर्ण नहीं थी, उस सम्मेलन का विषय भी महत्वपूर्ण था; इस क्षेत्र में सहयोग कामनवेल्थ की सुरक्षा-संरचना का अभिन्न अंग था।" (उप., पृ. ३१७)।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रभाव से भारत सरकार को अपनी कामनवेल्थी सुरक्षानीति मे काफी परिवर्तन करना पड़ा। फ्रांसीसी

साम्राज्यवादियों—और आगे चलकर उनके अमरीकी उत्तराधिकारियों—के विरुद्ध वियतनामी जनता के वीरतापूर्ण स्वाधीनता-संग्राम ने भारतीय जनता पर गहरा असर डाला। सन् ४८-४९ के सरकारी दमन की आंच से बाहर निकलकर कम्युनिस्ट पार्टी नयी शक्ति से भारत के साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थी। भारत से सैनिक सहायता की आशा न रहने पर ही सितम्बर १९५४ में साम्राज्यवादियों ने दक्षिण-पूर्वी सन्धि संगठन (Seato) नाम से अमरीका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, फ्रांस, फिलिपीन्स और श्याम (थाई देश) का सैनिक गठबन्धन खड़ा किया था। यद्यपि भारत इस गठबन्धन में शामिल नहीं हुआ, किन्तु उसने कामनवेल्थ से अपना सैनिक सम्पर्क पूरी तरह तोड़ा नहीं। बाकर ने लिखा है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन में प्रतिवर्ष कामनवेल्थ के सेनाध्यक्षों का सम्मेलन होने लगा। १९५७ में कामनवेल्थ के जलसेनाध्यक्षों का सम्मेलन ब्रिटेन में हुआ। सितम्बर १९५९ में रणनीतिक समस्याओं के अध्ययन के लिए पहला सम्मेलन हुआ। इसमें सभी कामनवेल्थ देशों के १८० वरिष्ठ अफसरों ने भाग लिया; विषय था आणविक युग में कामनवेल्थ की सुरक्षा। (उप., पृ. ३०२)। बाकर ने सभी कामनवेल्थ देशों के इस सम्मेलन में भाग लेने की बात कही है; सभी में भारत भी आ जाता है। इस सैनिक सम्पर्क की एक विशेषता यह थी कि ब्रिटेन सेना और विज्ञान से सम्बन्धित गुप्त जानकारी अमरीका को ही देता था और अमरीका इस बात पर ज़ोर देता था कि यह जानकारी कामनवेल्थ के किसी अन्य देश को न दी जाये। (उप.)। इससे ज़ाहिर हुआ कि विश्व पैमाने पर साम्राज्यवादी सैन्य-व्यवस्था की धुरी था ब्रिटेन और अमरीका का सहयोग। दोनों में जो अन्तर्विरोध था, उसे अमरीका अधिकाधिक अपने हित में ब्रिटिश स्वार्थों की बलि देकर कम करता रहा। किसी समय इसराईल ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में था। अक्तूबर १९५६ में इसराईल ने मिस्र पर हमला किया। सुरक्षा समिति में अमरीका ने प्रस्ताव रखा कि इसराईल मिस्र से बाहर निकले; ब्रिटेन और फ्रांस ने इस प्रस्ताव को वीटो कर दिया। नवम्बर में ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र पर हमला किया; हमला असफल हुआ। साबित हो गया कि अमरीकी समर्थन के बिना ब्रिटेन अब कहीं युद्ध करने की स्थिति में नहीं है। फाकलैण्ड द्वीपसमूह पर ब्रिटेन ने १९८२ में हमला किया; हमला सफल हुआ। सफलता का कारण यह था कि उसे अमरीकी समर्थन प्राप्त था। इसराईल अब अमरीकी प्रभाव क्षेत्र में है; फाकलैण्ड द्वीप पर भी अमरीकी नियन्त्रण किसी न किसी रूप में रहेगा, यह निश्चित है। फाकलैण्ड युद्ध में ब्रिटिश सेना के अन्तर्गत गुरखा पलटनें भी लड़ी थीं; ब्रिटिश-अमरीकी हितों के लिए लड़ने को पड़ोसी नेपाल के ये नागरिक भारत की धरती से होकर बाहर गये थे।

भारतीय जनता के लिए यह बात दिलचस्प है कि हिन्द महासागर में ब्रिटिश सैन्यव्यवस्था से परम भारतहितैषी लार्ड माउण्टबाटन का प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। १९५८ में हर काम लायक एक ब्रिटिश बेड़ा हिन्द महासागर में कायम किया गया। फर्स्ट सी लार्ड के रूप में लार्ड माउण्टबाटन ने घोषणा की कि जहाजी बेड़े के लिए रसद जुटानेवाले छोटे अड्डे मोम्बासा और सिंगापुर में होंगे; समुद्र में लम्बी

अवधि तक रहने के लिए वह सैन्यदल बारी-बारी से उनका उपयोग करेगा और रसद पहुँचाने के लिए तीन द्रुतगामी पोत (टैंकर) काम में लाये जायेंगे। (उप., पृ. ३२२)।

(ख) कामनवेल्थ और स्टर्लिंग क्षेत्र

विश्वबाज़ार में पहले महायुद्ध तक ब्रिटेन की जो आर्थिक स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसकी सैनिक व्यवस्था थी। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण में दुनिया के औद्योगिक माल की तिहाई पैदावार अकेले ब्रिटेन में होती थी। उस समय विश्व की वित्तीय व्यवस्था का केन्द्र लन्दन था। विनिमय के अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर जिस मुद्रा का व्यवहार होता था, वह ब्रिटेन का पाउण्ड स्टर्लिंग था। दूसरे देशों से कच्चे माल और खाद्य सामग्री का आयात करना और उन्हें अपना तैयार माल भेजना, ब्रिटेन की यह आर्थिक स्थिति थी। कच्चा माल और खाद्य सामग्री भेजनेवाले देश अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के लिए उद्योगप्रधान ब्रिटेन की मुद्रा का व्यवहार करते थे। लन्दन-केन्द्रित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से संसार के प्रायः सभी देश सम्बद्ध थे। ब्रिटेन के आर्थिक साम्राज्य में मुगल बादशाह के सूबेदारों की तरह उसके उपनिवेश थे। क्रमशः आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड और दक्षिण अफ्रीका ने अपनी स्वतन्त्र वित्तीय संस्थाओं का निर्माण आरम्भ किया। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दो दशकों में अमरीका आर्थिक विकास में ब्रिटेन के निकट पहुँच रहा था और बीसवीं सदी के प्रथम दो दशकों में जर्मनी भी ब्रिटेन का प्रतिद्वन्द्वी बनकर आ गया। प्रथम विश्वयुद्ध के पहले ब्रिटिश उपनिवेशों की अलग-अलग सेनाएँ वास्तव में एक ही कमान में थीं और यह कमान अंग्रेज़ों के हाथ में थी। साम्राज्यवादी सैन्यव्यवस्था की विशेषता यह थी कि अंग्रेज़ उपनिवेशों से कहते थे, स्थल सेना बढ़ाओ, जल सेना के लिए हम पर निर्भर रहो। वाकर के शब्दों में ब्रिटिश सरकार ने उपनिवेशों पर स्थल सेनाएँ जुटाने के लिए तो दबाव डाला था, किन्तु "उसका प्रयत्न था कि जल सेनाएं तैयार करने से उन्हें निरुत्साहित करे। जल सेना विभाग की नीति अनेक इम्पीरियल कान्फ्रेंसों में पेश की गयी थी और वह यह थी कि जल सेना एक ही होनी चाहिए, कामनवेल्थ के दूसरे देशों का कर्तव्य है कि उसके खर्च का भार वे भी उठायें।" (उप., पृ. २६३)। इस प्रकार ब्रिटेन अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए उपनिवेशों की धनशक्ति और जनशक्ति का उपयोग करता था। जहाँ तक पराधीन भारत का सम्बन्ध है, वह अन्य सभी उपनिवेशों की सम्मिलित धन जनशक्ति से अधिक साम्राज्य की सहायता करने का साधन था। १६११ में आस्ट्रेलिया और कनाडा ने अपनी स्वतन्त्र जल सेनाएँ बनायीं, फिर भी वे ब्रिटिश बेड़े का ही एक हिस्सा मानी गयीं। बीसवीं सदी में ब्रिटेन पूंजी निर्यात करनेवाला मुख्य देश था। १६१३ में उसने अन्य देशों में ३७,६२० लाख पाउण्ड पूंजी लगायी थी। इसका ४७ प्रतिशत भाग ब्रिटिश साम्राज्य में, २० प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका में, २० प्रतिशत लैटिन अमरीका में, और ६ प्रतिशत भाग यूरुप में लगाया गया था। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय हाट में पाउण्ड स्टर्लिंग का बोलबाला था।

प्रथम विश्वयुद्ध में पाउण्ड स्टर्लिंग की स्थिति कमज़ोर हुई। उसी

में अमरीकी डालर की स्थिति मजबूत हुई। १९१३ में संयुक्त राज्य अमरीका पर ३० करोड़ डालर कर्ज था; १९१९ में युद्ध के दौरान पैसा कमाने के बल पर वह महाजन बन गया और उसने दूसरों को ४० करोड डालर कर्ज के रूप में दिये। (यह विवरण 'Commonwealth Perspectives' नाम के निबन्ध संकलन में Brinley Thomas के निबन्ध 'The Evolution of the Sterling Area and Its Prospects' मे दिया हुआ है; ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, १९५८)। अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के अब दो केन्द्र हो गये—लन्दन और न्यूयार्क। पाउण्ड के अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य का आधार लन्दन मे संचित स्वर्णराशि थी। १९२९ की मन्दी के बाद सितम्बर १९३१ मे स्वर्ण का मानक आधार (gold standard) अंग्रेज़ो को त्यागना पड़ा। टामस ने उक्त लेख मे बताया है कि देशो को अब यह तै करना था कि उनकी मुद्रा के स्थायित्व का आधार सोना होगा या स्टर्लिंग। जिन देशो की मुद्रा के स्थायित्व का आधार स्टर्लिंग बना, उनसे स्टर्लिंग गुट (स्टर्लिंग ब्लाक) का निर्माण हुआ। कनाडा ने ब्रिटिश पाउण्ड और अमरीकी डालर के बीच का मध्य मार्ग अपनाया। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य सभी देश स्टर्लिंग ब्लाक मे थे। इनके अलावा पुर्तगाल, नार्वे, स्वीडन, ईरान आदि कुछ अन्य देश भी उसमे शामिल हुए। ये देश पाउण्ड स्टर्लिंग के साथ एक निश्चित मुद्रा-सम्बन्ध कायम रखते थे, वे लन्दन मे स्टर्लिंग बैलेंस या अन्य सम्पत्ति के रूप मे धन जमा किये रहते थे और भुगतान के अन्तर्राष्ट्रीय माध्यम के रूप मे स्टर्लिंग का व्यवहार करते थे। स्वर्ण का आधार न होने पर भी पाउण्ड स्टर्लिंग संसार के एक बड़े भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय का माध्यम बना हुआ था, यह तथ्य सिद्ध कर रहा था कि प्रथम विश्वयुद्ध में कमज़ोर हो जाने पर भी ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति काफी मजबूत थी और वह ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर भी अनेक देशो को पाउण्ड स्टर्लिंग द्वारा अपने साम्राज्यवादी हितों से बांधे हुए था। टामस ने लिखा है, स्टर्लिंग ब्लाक के देश ऊपर कही हुई तीन बातें करते थे; इसके पीछे कई तरह की प्रेरणा थी किन्तु "सबसे प्रबल प्रेरणा उनका यह संकल्प था कि ब्रिटिश बाजार में उनका हिस्सा हाथ से न जाने पाये। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का जो लन्दन-केन्द्रित विशाल और व्यापक ताना-बाना १९१३ से पहले के युग मे विकसित हुआ था, वह अब भी इतना शक्तिशाली था कि सम्बद्ध राष्ट्रों को स्टर्लिंग के मान पर टिकाये रहे।" (कामनवेल्थ पर्स्पेक्टिव्ज़, पृ. १८०)। अमरीका की तुलना में ब्रिटेन ने १९२९ की मन्दी का सामना कम नुकसान उठाते हुए किया। १९२९ से १९३३ की अवधि मे संयुक्त राज्य अमरीका के औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक १०० से खिसकता हुआ ६३ तक पहुँचा किन्तु ब्रिटेन मे वह १०० से ८८ तक ही खिसका। इसी अवधि में अमरीकी आयात व्यापार में ३३ फीसदी की कमी हुई पर ब्रिटेन के आयात व्यापार मे १० फीसदी की ही कमी हुई अर्थात् जो देश ब्रिटेन को अपना माल भेजते थे, उन्हें उतनी हानि न हुई जितनी उन देशो को हुई जो अमरीका को अपना माल भेजते थे।

दूसरे महायुद्ध की तैयारी के समय यह स्थिति बदलने लगी। स्टर्लिंग गुट के देश लन्दन मे जमा किया हुआ धन वापस मँगाने लगे। ब्रिटिश सरकार ने

कानून बनाया कि उसकी अनुमति के बिना ब्रिटेन के बाहर किसी देश का भी भुगतान न किया जाय। यह नियम उन देशों पर लागू न होता था जिन्होंने विनिमय सम्बन्धी वैसा ही नियन्त्रण स्वीकार किया था जैसा ब्रिटेन में लागू था। नियन्त्रण का मतलब यह था कि जो मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का माध्यम थी, उसे हिसाब से खर्च करना था; किस हिसाब से खर्च की जाये, यह तै करना ब्रिटेन का काम था। स्टर्लिंग गुट के सभी देशों को गुट से बाहरवाले देशों के साथ व्यवसाय करते समय एक ही नीति अपनानी थी। स्वच्छन्द व्यापार का स्थान नियन्त्रित व्यापार ने लिया। ब्रिटेन जिन देशों को आर्थिक डोरी से बाँधे था, उन सबको मिलाकर स्टर्लिंग क्षेत्र बना। "इन देशों का प्रधान सामान्य लक्ष्य युद्ध मे विजय प्राप्त करना था, उनकी शस्त्रसज्जा का अपरिहार्य अंश था स्टर्लिंग क्षेत्र।" (उप., पृ. १८३)। यहाँ दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य है। पहली यह कि जिन देशों का प्रधान सामान्य लक्ष्य युद्ध मे विजय प्राप्त करना था, उनका चौधरी था ब्रिटेन। उन देशों के साथ ब्रिटेन की विजय का मतलब था ब्रिटिश साम्राज्य की विजय। इस विजय के लिए जो शस्त्रसज्जा दरकार थी, उसका अपरिहार्य अंश था स्टर्लिंग क्षेत्र। ब्रिटेन ने उपनिवेशों, पराधीन देशों आदि को जोड़-बटोरकर अपने हित में जो स्टर्लिंग क्षेत्र कायम किया था, वह न होता तो ब्रिटिश साम्राज्य की विजय भी न होती। यदि कोई पूछे कि ब्रिटेन ने यह स्टर्लिंग क्षेत्र क्यों कायम किया था, तो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का उत्तर था : सभी सम्बद्ध देशों का हित होता था, इसलिए सबने मिलकर उसे कायम किया था। ब्रिटिश पूँजीपति जितने काम करते है, वे सब विश्वहित के विचार से प्रेरित होते हैं। जैसे विश्वहित के विचार से कामनवेल्थ का निर्माण हुआ, वैसे ही विश्वहित मे स्टर्लिंग क्षेत्र का प्रादुर्भाव हुआ। इस क्षेत्र का एक अंश है भारतीय गणराज्य। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि युद्ध मे विजय प्राप्त करना संयुक्त राज्य अमरीका का लक्ष्य भी था किन्तु वह स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर था। दरअसल स्टर्लिंग क्षेत्र की रचना डालर क्षेत्र के विरुद्ध ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिए ही की गयी थी। दूसरे महायुद्ध के दौरान ब्रिटेन और अमरीका दोनो ही देश अपने-अपने साम्राज्यवादी हितों की रक्षा को तत्पर एक-दूसरे के विरुद्ध नाकेबन्दी मे लगे हुए थे।

युद्ध के बाद ब्रिटेन ने आर्थिक बहाली के लिए अमरीका से कर्ज माँगा। तब अमरीकी उद्योगपतियों के राष्ट्रीय संघ ने माँग की, ब्रिटेन ने व्यापार मे जो भेदभाव की नीति चलायी है, उसे वह खत्म करे। अमरीकी बैंकपतियों के प्रतिनिधि विन्थ्राप आल्ड्रिच ने कहा, "ब्रिटिश कामनवेल्थ को चाहिए कि वह चालू हिसाब में लागू की जानेवाली विनिमय सम्बन्धी पाबन्दियाँ हटा ले और इस तथाकथित स्टर्लिंग क्षेत्र को त्याग दे (give up the so-called Sterling area), साम्राज्यगत तरजीह (imperial preference) की व्यवस्था छोड़ दे और परिमाणगत व्यापार-नियन्त्रण (quantitative trade controls) खत्म कर दे।" (उप., पृ. १८६-८७)। अमरीकी पूँजीपति अपने बिरादराने-ब्रिटेन से कह रहे थे, हमसे डालर उधार लेना चाहते हो और अलग अपनी पाउण्ड स्टर्लिंग की जागीर भी कायम रखना चाहते हो। यह कैसे हो सकता है? कर्ज लेना है तो इस जागीर को

हदबन्दी खत्म करो, कामनवेल्थ मे हमें भी घुसने दो। कनाडा अब स्टर्लिंग क्षेत्र में नही है; उससे हमारे विशेष आर्थिक सम्बन्ध हैं या नहीं ? वैसे ही सम्बन्ध हमें कामनवेल्थ के अन्य देशों से कायम करने दो।

अमरीकी पूंजीपतियों ने ब्रिटिश पूंजीपतियों के प्रति जो रुख अपनाया था, वह उन सभी देशो के लिए शिक्षाप्रद है जो अमरीका (या ब्रिटेन या पश्चिमी जर्मनी आदि) से कर्ज़ लेकर अपना आर्थिक विकास करना चाहते हैं। सूदखोर पूंजीवाद से ज्यादा निर्दयी पूंजीवाद का और कोई रूप नहीं होता।

जब ब्रिटिश पूंजीपति युद्ध के बाद अमरीका से कर्ज़ मांगने चले, तब उन्हें महाजन की शर्तों का सामना करना पड़ा किन्तु जब युद्ध के दौरान वे स्टर्लिंग गुट के देशों मे कर्ज़ ले रहे थे, तब उन्हें ऐसी शर्तों का सामना न करना पड़ा था। जागीरदार अपने आसामी से कर्ज ले रहा था और कर्ज़ की शर्तें खुद निश्चित कर रहा था। "एशिया और मध्यपूर्व में अपने अभियान चलाने के लिए ग्रेट ब्रिटेन को जिन सेवाओं और सामान की ज़रूरत हुई, उन्हें उसने उधारखाते मे प्राप्त किया। भारत, बर्मा, मिस्र और मध्यपूर्व में सेनासम्बन्धी व्यय के नाम पर लन्दन में १७,३२० लाख पाउण्ड की धनराशि स्टर्लिंग कर्ज़ के रूप मे दर्ज की गयी।" (उप., पृ. १८४)। दूसरे शब्दों में ब्रिटेन ने साम्राज्य के साधनों का उपयोग अपने हित मे किया और दिखाने को कर्ज़दार बन गया। सबसे बड़ा चमत्कार उसने भारत के साथ दिखाया। दरिद्र भारत को उसने कर्ज़दार से साहूकार बना दिया! "अनुमान लगाया गया है कि भारत ने पिछले साठ साल में जितना कर्ज लिया था, वह सब उसने केवल छह साल में पटा दिया और वह ऋणदाता राष्ट्र बन गया।" (उप., पृ. १८५)। भारत की ब्रिटिश सरकार ने भारत के नाम पर ब्रिटेन से जो धन उधार लिया, वह वहाँ भारत को लूटकर ही एकत्र किया गया था। साठ साल में ब्रिटेन ने भारत रक्षा के नाम पर अपने साम्राज्य की सुरक्षा और विस्तार के लिए जितना धन खर्च किया था, उतना उसने छह साल में—भारत से वसूल करके—साम्राज्य की रक्षा पर फिर खर्च किया! साठ साल की शोषण प्रक्रिया छह साल मे सिमट आयी, उसकी सघनता का अनुमान इसी बात से हो जायेगा। दूसरे महायुद्ध के दौरान ब्रिटेन ने भारतीय जनता का अभूतपूर्व शोषण किया। १६४५-४७ का क्रान्तिकारी उभार इसी अभूतपूर्व शोषण का परिणाम था।

नवम्बर १६३६ में ब्रिटिश सरकार ने अपनी मातहत भारत सरकार से समझौता किया कि सुरक्षासम्बन्धी खर्च मे दोनों का हिस्सा किस हिसाब से होगा। युद्ध के बिना ही साधारण परिस्थितियो में भारत का सालाना सुरक्षा खर्च ३६ करोड़ ७७ लाख रुपये आंका गया। यह तो भारत के हिस्से मे रहेगा ही। महँगाई के कारण इस बुनियादी मूल्य मे जो वृद्धि करनी पड़े, वह भी भारत के हिस्से मे आयेगी यानी चार रुपये की चीज़ छह रुपये में मिले तो ये अतिरिक्त दो रुपये भी भारत के हिसाब में दर्ज होगे। भारत अपने हित मे कोई युद्धसम्बन्धी कार्रवाई करे तो उसका खर्च उसके ज़िम्मे होगा। साम्राज्य की सुरक्षा में जो फौज भारत से बाहर क्रियाशील थी, उसके खर्च में भारत को एक करोड़ रुपये की थोक रकम देनी होगी। जो फौज भारत में संगठित और प्रशिक्षित हो, वह जब तक यहाँ रहे,

उसका सारा खर्च भारत को देना था। जब यह फौज समुद्र पार जायेगी, तब उसके संगठन-प्रशिक्षण आदि की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार की होगी और इसका खर्च ब्रिटिश सरकार से बाद को वसूल किया जायेगा। जो विदेशी सेनाएँ भारत में थी, उनकी रसद आदि का खर्च भी ब्रिटेन ने अपने जिम्मे लिया यानी अभी भारत खर्च का सारा बोझ उठाता रहे, बाद को ब्रिटेन उसका भुगतान कर देगा। रजनी पाम दत्त ने आज का भारत मे इस समझौते पर यह टिप्पणी की है : ऊपर से देखने मे समझौता वाजिब मालूम होता था मानो अंग्रेज साम्राज्य की सुरक्षा का बोझ भारत पर न डालना चाहते हो लेकिन वास्तव मे यह भारत पर बोझ डालने की ही तरकीब थी जो ऊपर से साफ पहचान मे न आती थी। एक ही कुनबे के तीन मेम्बरो ने - बादशाह सलामत की सरकार, भारत सरकार और रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने—आपस में यह तै कर लिया कि बादशाह सलामत की सरकार के नाम पर जो खर्च आये, उसके लिए भारत में कागजी नोट जारी किये जायें; बादशाह सलामत की सरकार इसकी समतुल्य पाउण्ड स्टर्लिंगवाली धनराशि बैंक आफ इंग्लैण्ड के खाते में भारत के नाम जमा करती जायेगी। "इस प्रकार सारे समझौते का सारतत्व यह था कि भुगतान का वादा भर किया जाता है; जो भारी खर्च होगा, उसका मुख्य बोझ भारत को उठाना पड़ेगा।" (इण्डिया टुडे; १६४६, पृ. १६८)।

१६३६ से १६४६ तक भारत की सुरक्षा के नाम पर जो धन खर्च किया गया, वह १७ अरब ३६ करोड़ ७४ लाख रुपये था। जो धन भारत को वापस मिलनेवाला था, वह इसी अवधि मे १७ अरब १२ करोड़ १८ लाख था। अंग्रेजो ने भारत की रक्षा के नाम पर इस देश का जितना धन व्यय किया, लगभग उतना ही भारत का धन, भारत से बाहर, अपने साम्राज्य की रक्षा पर खर्च किया। यह दूसरा खर्च उन्होंने लन्दन मे अपने नाम कर्ज के रूप मे चढा दिया; भारत से उन्होंने कहा, तुम अब साहूकार हो, हम कर्जदार हैं, आगे-पीछे तुम्हारा कर्ज चुका देंगे, यह सब धन लन्दन में तुम्हारे नाम जमा है। लेकिन भारत की जागीर अंग्रेजों के पास थी; जब जागीरदार अपने आसामी से 'कर्ज' लेता है, तब स्थिति यह होती है : समूचे युद्ध के दौरान स्टर्लिंग पावने की सारी रकम भारतीय जनता की पहुँच से बाहर रखी गयी। किसी भी काम के लिए यह रकम भारत को सुलभ न थी, न सामग्री के रूप मे, न सोने के रूप मे। पावने की रकम दिन दूनी रात चौगुनी बराबर बढ़ती गयी लेकिन जरूरी मशीनों वगैरह के आयात के लिए भारत को छदाम भी न मिली। भारत का मालिक होने के नाते ब्रिटेन ने अपनी स्थिति मे पूरा लाभ उठाया। दूसरे देशों मे जो ब्रिटिश पूँजी लगायी गयी थी, (वह कर्ज देनेवाले देशो के हाथ मे आ गयी); उसके विपरीत भारत में जो ब्रिटिश और विदेशी पूंजी लगायी गयी थी, वह स्टर्लिंग पावने के बल पर भारत के हाथ में आने से रोकी गयी। भारत का जो सार्वजनिक ऋण (पब्लिक डेट) स्टर्लिंग रूप में था, वह भारत को वापस किया गया। यह रकम ३२ करोड़ ३४ लाख पाउण्ड थी। बाकी बचे १ अरब २७ करोड ३५ लाख पाउण्ड। युगों से चले आते इस ऋण की लगभग चौगुनी धनराशि बैंक आफ इंग्लैण्ड दबाये रहा। युद्ध के बाद किसी न किसी

बहाने इस कर्ज को बट्टेखाते में टालने अथवा उसमें छूट देने के लिए प्रयत्न हुए। इसके बारे में ब्रिटेन और अमरीका ने १६४६ में एक समझौता किया। इस सबके अलावा भारत के अंग्रेज शासकों ने भारत के डालर रिजर्व भी हड़प लिये। युद्ध के दौरान डालर कोष (डालर पूल) की व्यवस्था की गयी। इस व्यवस्था के अनुसार स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देश इस बात के लिए बाध्य थे कि अमरीका के हाथ सामान बेचकर जो भी डालर कमायें, उन्हें इस कोष में जमा करें। भारत तथा स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देश जमा की हुई डालर धनराशि (डालर रिजर्व) से कोई भी चीज सीधे अमरीका से न खरीद सकते थे। उसका उपयोग युद्ध सामग्री खरीदने के लिए केवल ब्रिटिश सरकार कर सकती थी। डालर कोष में कितनी धनराशि है, इसकी ठीक-ठीक जानकारी भी लोगों को न होने दी जाती थी; भारत के नाम इस कोष में कितनी धनराशि जमा की गयी, इसके बारे में जो अटकलें लगायी हैं, उनमें परस्पर भारी अन्तर है। (उप., पृ. १६६-७०)।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि स्टर्लिंग क्षेत्र ब्रिटेन की शस्त्रसज्जा का अपरिहार्य अंश क्यों था। स्टर्लिंग क्षेत्र के बल पर ही ब्रिटेन ने युद्ध सामग्री जुटायी थी; इस क्षेत्र के बल पर उसने दूसरों की डालर कमाई भी हथिया ली। सामान भारत का, बिका अमरीका के हाथ, डालर पहुँच गये ब्रिटेन के पास! डालर कोष में जमा की हुई भारतीय धनराशि के बारे में अनेक अटकलों का हवाला देने के बाद रजनी पाम दत्त ने लिखा है: मार्च १६४५ तक भारत ने डालर कोष में जो धनराशि जमा की थी, वह दस अरब रुपयों से बीस अरब रुपयों के बीच कुछ भी हो सकती थी। तब से बैलेन्स बराबर बढ़ता गया। (यानी भारत के नाम जमा धनराशि बढ़ती रही)। "किन्तु यह जमा की हुई धनराशि भारत की पहुँच से बाहर सफलतापूर्वक रखी गयी जिससे कि अपने उद्योगीकरण के लिए वह मशीनों का आयात न कर सके। वह धनराशि भारत को उपयोग के लिए आज भी नहीं दी जा रही।" (उप., पृ. १७०)। युद्ध का खर्च जुटाने के लिए अंग्रेजों ने बड़े पैमाने पर कागजी नोट जारी किये। भारतीय अर्थतन्त्र पर इसका घातक प्रभाव पड़ा। युद्ध के बाद भारत आर्थिक रूप से और भी कमजोर हो गया, एकदम मुफलिस बन गया। युद्ध का वास्तविक बोझ भारत की भूखी जनता पर पड़ा। (उप.)।

ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति अमरीका के मुकाबले जितना ही कमजोर हुई, उतना ही अमरीका स्टर्लिंग क्षेत्र पर हावी होता गया। १६५८ में कामनवेल्थ के देशों ने न्यूयार्क से पूंजी प्राप्त करने की कोशिशें आरम्भ की। भारत ने वहां से १२ करोड़ ५० लाख पाउण्ड की धनराशि जुटाई। इस समय ब्रिटेन ने एक कमाल और किया। उसने अमरीका से कर्ज लेकर कामनवेल्थ के देशों को कर्ज देना शुरू किया। बड़ा साहूकार अमरीका, छोटा साहूकार ब्रिटेन; छोटा साहूकार बड़े सेठ की दलाली करने लगा। वाकर ने इस स्थिति के बारे में लिखा है: अमरीकी पूंजी को कामनवेल्थ के भीतर पहुँचाने में ब्रिटेन बहुत हद तक पूंजी निवेश का दलाल (investment broker) बन गया। (दि कामनवेल्थ, पृ. २७७)। जितने भी देश स्टर्लिंग क्षेत्र में हैं, वे सब ब्रिटिश पूंजीवाद के संकट से प्रभावित होते हैं। १६४६ में ब्रिटेन ने स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया; इसके लिए उसने न तो कामनवेल्थ के देशों

से परामर्श किया, न उन्हें पहले से इसकी सूचना दी। इसके फलस्वरूप भारत को भी रुपये का *अवमूल्यन करना पड़ा*। १९५८ में टामस ने यह मत प्रकट किया था : अन्तर्राष्ट्रीय साहूकार के रूप में लन्दन की स्थिति स्पष्ट ही कमजोर हो गयी है। युद्ध के बाद स्टर्लिंग पावने की समस्या हल करने में उसकी असफलता उसका पिण्ड नहीं छोड़ती और इसकी ज़िम्मेदारी स्वयं ब्रिटेन पर है। (कामनवेल्थ पर्स्पेक्टिव्ज़, पृ. २०६)।

साम्राज्यवादी और समाजवादी देशों के बीच भारत कितना तटस्थ है, इसकी पहचान इस बात से होती है कि पाउण्ड स्टर्लिंग और रूबल के बीच रुपये की स्थिति क्या है। भारत स्टर्लिंग क्षेत्र में है, रुपया विश्वबाजार में पाउण्ड स्टर्लिंग से बँधा हुआ है। भारत ब्रिटेन से जो अर्द्ध राष्ट्रीयतावाला राजनीतिक सम्बन्ध कायम किये है, वह पाउण्ड स्टर्लिंग और रुपये के इसी आर्थिक सम्बन्ध का प्रतिफलन है।

कामनवेल्थ और स्टर्लिंग क्षेत्र से भारतीय पूँजीवाद का गहरा सम्बन्ध है, इस *सम्बन्ध के साथ-साथ दोनों के बीच गहरा अन्तर्विरोध भी है। गदर के समय* जब बम्बई, कलकत्ता, कानपुर में आधुनिक उद्योग धन्धे कायम न हुए थे, यह अन्तर्विरोध विद्यमान था। २३ जनवरी १८५८ वाले गदर सम्बन्धी लेख में मार्क्स ने इस अन्तर्विरोध की ओर संकेत किया था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने कलकत्ते में ऋणपत्र जारी किया था लेकिन यहाँ के पूँजीपति ऋण देने को राज़ी न थे। इसलिए वह योजना विफल हुई। इसका यह अर्थ नहीं कि उस समय यहाँ के व्यापारियों और महाजनों का गहरा सम्बन्ध ब्रिटिश पूँजीवाद से था नहीं। भारत के आर्थिक विकास पर अपने ग्रन्थ में वीरा ऐन्स्टे ने लिखा था कि भारत के *कच्चे माल और ब्रिटेन के तैयार माल को जहाज़ों से ढोने और बाजार में उसकी खरीदफ़रोख्त करने में पारसियों ने मुख्य हिस्सा लिया और भारत के प्राकृतिक* साधनों का उपयोग करने में उन्होंने स्वयं को छोटे साझेदार बन जाने दिया। दादाभाई नौरोजी इन्हीं पारसी पूँजीपतियों के वर्ग से सम्बद्ध थे; ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जैसी सारगर्भित आलोचना उन्होंने की है, वैसी दूसरे लोगों ने कम ही की है। अमियकुमार बाग्ची ने भारत में *निजी पूँजी के निवेश पर अपने* ग्रन्थ में टाटा के लिए लिखा है कि वह लोहे और इस्पात के धन्धे में सरकारी संरक्षण पर बहुत निर्भर थे (Amiya Kumar Bagchi, 'Private Investment in India, 1900-1939', दिल्ली, 1972, पृ. १९८); टाटा से भिन्न घनश्यामदास बिड़ला "भारतीय व्यवसाइयों के 'राष्ट्रवादी' भाग के सम्भवतः सबसे प्रभावशाली वक्ता थे।" (उप., पृ. २०९)। बाग्ची ने बिड़ला और राष्ट्रवाद के सम्बन्ध का उल्लेख करने के बाद याद दिलाया है कि वह १९३६-३७ में भारतीय-ब्रिटिश व्यापार-वार्ता में सरकार से सहयोग कर रहे थे। अंग्रेज़ों से सहयोग करनेवालों में कई तरह के पूँजीपति थे। एक वे थे जो इस सहयोग के बल पर ही फलते-फूलते थे, दूसरे वे थे जो सहयोग से लाभ उठाते हुए अपना स्वतन्त्र विकास करने को उत्सुक थे। टाटा और बिड़ला दोनों *'बड़े' पूँजीपति थे* किन्तु अंग्रेज शासकों और ब्रिटिश पूँजीपतियों से दोनों के सम्बन्ध एक से न थे। इसी तरह कुछ छोटे पूँजीपति ब्रिटिश व्यवसाइयों की दलाली करके पैसा कमाते

थे, अन्य विदेशी माल के बहिष्कार का प्रचार करते थे, स्वदेशी के समर्थक थे साम्राज्यविरोधी संग्राम के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण भेद बड़े और छोटे पूँजीपतियों का नहीं है, महत्वपूर्ण भेद साम्राज्य के समर्थक और विरोधी पूँजीपतियों का है, समर्थक और विरोधी बड़ों में थे, छोटों में भी थे।

१९४७ में जो राजनीतिक परिवर्तन हुआ, उसकी तीन विशेषताएँ महत्वपूर्ण हैं। १९४५-४७ के क्रान्तिकारी उभार का नेतृत्व कांग्रेस ने नहीं किया। कांग्रेस का नेतृत्व जनसंघर्षों का विरोध कर रहा था, साथ ही सत्ता पाने के लिए वह अंग्रेजों पर इन संघर्षों का दबाव भी डाल रहा था। दूसरी विशेषता यह है कि अंग्रेज मुस्लिम लीग के जरिये कांग्रेस पर दबाव डाल रहे थे कि वह भारत का विभाजन स्वीकार करे, *इसके लिए वे बड़े पैमाने पर नरमेध संगठित कर रहे थे।* तीसरी विशेषता यह कि भारत आर्थिक रूप से स्टर्लिंग क्षेत्र से सम्बद्ध रहा और राजनीतिक रूप से कामनवेल्थ का सदस्य बना रहा। इन विशेषताओं को भुलाकर हम भारत की वर्तमान स्थिति का विश्लेषण नहीं कर सकते। भारतीय पूँजीपति-वर्ग की भूमिका का विवेचन करते हुए १९४५-४७ के जनसंघर्षों में गैरकांग्रेसी दलों की भूमिका के बारे में चुप रहिये, कांग्रेसी नेतृत्व जनसंघर्षों का विरोध कर रहा था, इस बारे में चुप रहिये, तो भारतीय पूँजीपति वर्ग सुसंगत रूप से साम्राज्य-विरोधी होकर सामने आयेगा। अंग्रेजों ने क्रान्तिविरोधी अभियान संगठित किया, कांग्रेस ने उसके दबाव से विभाजन स्वीकार किया, इसके बारे में चुप रहिए, तो *सुधारवादी पूँजीपति वर्ग के नेतृत्व में प्राप्त आजादी और क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग* के नेतृत्व में प्राप्त आजादी में कोई फर्क न रहेगा। अंग्रेजों के क्रान्तिविरोधी अभियान को रोकने में कम्युनिस्ट पार्टी असफल रही, इसके बारे में चुप रहिए, तो क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग को सुधारवादी पूँजीपति वर्ग के पीछे चलाने में सुविधा होगी। कामनवेल्थ और स्टर्लिंग क्षेत्र से भारत के आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों के बारे में चुप रहिये, तो भारत की तटस्थ नीति को सुसंगत साम्राज्य-विरोधी नीति कहकर पेश करने में सुविधा होगी।

भारत के राष्ट्रीय पुनर्जीवन और समाजवाद का मार्ग और कम्युनिस्ट पार्टी ('Communist Party and India's Path to National Regeneration and Socialism', दिल्ली, १९६४) नाम से डा. गंगाधर अधिकारी की महत्व-पूर्ण पुस्तिका १९६४ में प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने बहुत सही लिखा है कि कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास दक्षिण-वाम भटकावों का इतिहास नहीं है, उसकी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। इन भटकावों की जड़ उनके विचार से भारतीय पूँजी-पति वर्ग और कांग्रेस के प्रति कम्युनिस्ट पार्टी का दृष्टिकोण रहा है। किसी समय पूरनचन्द जोशी राष्ट्रीय आन्दोलन से घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाने के लिए कहते थे, कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस से ही पैदा हुई है; कांग्रेस माँ की तरह है, कम्युनिस्ट पार्टी उसकी पुत्री की तरह है। इससे कुछ भिन्न दृष्टिकोण अपनाते हुए डा. अधिकारी ने लिखा है, हमारी पार्टी रूसी समाजवादी क्रान्ति के प्रभाव से राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन के क्रान्तिकारी अंग से निकलकर गठित हुई। "यह महत्वपूर्ण है कि भारत के कम्युनिस्ट गुट केवल बंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब में उभरे और ये

प्रदेश लाल, बाल और पाल (लाला लाजपतराय, बालगंगाधर तिलक और बिपिनचन्द्र पाल) के नेतृत्ववाले उग्रवादी राष्ट्रीय आन्दोलन के परम्परागत गढ़ थे।" (पृ. ५६)। यदि इनका चलाया हुआ राष्ट्रीय आन्दोलन उग्रवादी था, तो गांधीजी का आन्दोलन इनकी तुलना मे नरमदली रहा होगा या फिर वह और भी उग्रवादी हो गया होगा। जो भी हो, राष्ट्रीय आन्दोलन का विवेचन करते हुए अधिकारी अपना ध्यान महात्मा गांधी और कांग्रेस के प्रमुख नेतृत्व पर ही केन्द्रित रखते है, उग्रवादी कांग्रेसजनों की बात नही करते। कम्युनिस्टो का पहला अखिल भारतीय सम्मेलन कानपुर में हुआ; उसमे उग्रवादी कांग्रेसी नेता हसरत मोहानी की महत्वपूर्ण भूमिका थी। उन्होने कानपुर के मजदूरो को महात्मा गांधी और पं. जवाहरलाल के सामने ला खड़ा किया था, कम्युनिस्ट पार्टी के जन्म पर विचार करते हुए इस तथ्य को भुला न देना चाहिए। पार्टी को जन्म देने का श्रेय सबसे पहले मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं और कानपुर के मजदूरो को है।

युद्धकाल में कम्युनिस्ट पार्टी के सुधारवादी भटकाव के बारे मे अधिकारी ने लिखा है कि उसकी जड़ है १९४२ के राष्ट्रीय संघर्ष के प्रति गलत रवैया। उनका कहना है कि राष्ट्रीय नेतृत्व कुल मिलाकर फासिस्टविरोधी और साम्राज्य-विरोधी था। "जब साम्राज्यवाद ने राष्ट्रीय सरकार बनाने की मांग अस्वीकार कर दी, तब उसका दृष्टिकोण उसे स्वभावतः 'भारत छोडो' संघर्ष की ओर ले गया।" (पृ. ८३)। कम्युनिस्ट पार्टी ने सन् ४२ के आन्दोलन के प्रति गलत रवैया अपनाया, यह सही है किन्तु स्वयं कांग्रेसी नेतृत्व ने उसके प्रति कौन-सा रवैया अपनाया था? आन्दोलन वामपक्षी कांग्रेसजनों और सोशलिस्टों ने चलाया, कांग्रेसी नेतृत्व ने 'हिंसा और तोडफोड़' की जिम्मेदारी लेने से इन्कार किया। जो पूंजीपति इस नेतृत्व से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध थे, वे अंग्रेजो के साथ धन्धा कर रहे थे और मुनाफा कमाने मे लगे थे। दरअसल सन् ३४ के बाद कांग्रेसी नेता जिस राह पर चलते आये थे, उसी पर वे सन् ४२ मे भी चल रहे थे। उन्हें विश्वास था कि आन्दोलन की धमकी से अंग्रेज उन्हें सत्ता मे भागीदार बना लेंगे पर अंग्रेजों ने सन् ३५ के कानून में भारत विभाजन के जो बीज बोये थे, उन्हें खूब पुष्पित और पल्लवित करके जाना चाहते थे। यदि ये नेता सन् ४२ मे अंग्रेजों के भारत छोड़ने को इतना जरूरी समझते थे, तो सन् ४७ में माउण्टबाटन को यहां बनाये रखने को इतने उत्सुक क्यों थे?

कांग्रेस अंग्रेजों पर सीमित और नियन्त्रित आन्दोलन का दबाव डालकर हमेशा समझौता करती आयी थी। सन् ४२ का आन्दोलन उसके नियन्त्रण में नहीं था, सन् ४५-४७ का आन्दोलन उसके नियन्त्रण में और भी नही था। कम्युनिस्ट पार्टी के नेता अक्सर यह समझते आये थे कि कांग्रेसी नेतृत्व के बिना भारत मे कोई आन्दोलन चल ही नही सकता। सुधारवाद की जड यह थी। कम्युनिस्ट पार्टी की साम्राज्यविरोधी भूमिका को प्रभावशाली बनाने के लिए किसानों को संगठित करना, उनके सामन्तविरोधी संघर्ष चलाना जरूरी था। सुधारवाद और संकीर्णतावाद दोनों की जड़ किसानों के सामन्तविरोधी आन्दोलन की उपेक्षा है। डा. अधिकारी ने १९४५-४७ के क्रान्तिकारी उभार के बारे में ठीक लिखा है,

[illegible] उभार से लाभ उठाने को अनिच्छुक नहीं था किन्तु आमतौर [illegible] उसी [illegible] करता था, जहाँ वह उभार तेज होता था, वहाँ उसका [illegible] और भीतर से उसे तोड़ता था, कांग्रेस के किसी भी हिस्से को उसका नेतृत्व करने से रोकता था।" (पृ. ६१)। यह नेतृत्व १५ अगस्त १९४७ के बाद अचानक इतना क्रान्तिकारी कैसे हो गया कि वह आर्थिक स्वाधीनता को पूर्ण स्वाधीनता बना दे और स्टर्लिंग क्षेत्र में रहते हुए स्वतन्त्र आर्थिक विकास के मार्ग पर बढ़ चले? डा. अधिकारी का मत है राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग सरकार चला रहा था, उसे इस बात से दिलचस्पी थी कि राजनीतिक स्वाधीनता को सुदृढ़ करे और आर्थिक स्वाधीनता की ओर बढ़े। (पृ. ६३)। संघर्ष की मूल दिशा अब भी साम्राज्यवाद और सामन्तवाद के विरोध में थी। (पृ. ६४)। राष्ट्रीय नेतृत्व, राष्ट्रीय पूंजीवादी राज्यसत्ता उस ओर साम्राज्यवाद के खेमे में नहीं थी, इस ओर जनता के साथ थी और उसका उपयोग साम्राज्यविरोधी षड्यन्त्र को विफल करने के लिए किया जा सकता था। (पृ. ६५)।

क्या यह जरूरी है कि पूंजीवादी नेता या तो जनता के खेमे में हो या साम्राज्यवाद के खेमे में हों? इनसे भिन्न कोई और स्थिति नहीं है? ढुलमुल समझौतावादी नेतृत्व किसे कहते हैं? क्या यह सम्भव नहीं है कि उसका एक पैर इस खेमे में हो, दूसरा उस खेमे में हो? जो नेतृत्व कामनवेल्थ और स्टर्लिंग क्षेत्र से बँधा हुआ है, वही ब्रिटेन और अमरीका के विरोध के बावजूद बांग्ला देश की जनता की सहायता के लिए वहाँ फौज भेजता है। जो नेतृत्व भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के धन्धे संगठित करता है, वही निजी क्षेत्र के धन्धों को फूलने-फलने का अवसर देता है। निस्सन्देह कांग्रेसी नेतृत्व—और गैरकांग्रेसी पार्टियों का पूंजीवादी नेतृत्व—देश को आर्थिक रूप से मजबूत बनाना चाहता है लेकिन स्टर्लिंग क्षेत्र से कौन अलग होना चाहता है?

जवाहरलाल नेहरू ने आत्मकथा में डोमीनियन स्टेटस पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, "इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिक स्वाधीनता का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता है; उसमें किसी तरह का सामाजिक परिवर्तन या आम जनता के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता शामिल नहीं है। किन्तु उसका यह अर्थ अवश्य था कि जो वित्तीय और आर्थिक जंजीरें हमें सिटी आफ लन्दन से बाँधे हुए है, उन्हें हटा दिया जाये, और इससे सामाजिक ढाँचे में तब्दीली करना आसान हो जायेगा।" (पृ. १३६)। नेहरूजी ने बिलकुल सही बात कही थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता आर्थिक स्वतन्त्रता से भिन्न है किन्तु उसमें एक चीज शामिल है: सिटी आफ लन्दन से भारत को बाँधनेवाली आर्थिक और वित्तीय जंजीरें हटा दी जायें। ऐसा नहीं होता तो राजनीतिक स्वतन्त्रता भी अधूरी है। इन जंजीरों को हटाने से समाज का ढाँचा न बदल जायेगा किन्तु तब उसे बदलने में आसानी होगी। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक ढाँचे को बदलने के लिए जो पहला कदम उठाना जरूरी है, वह भारत को स्टर्लिंग क्षेत्र से बँधनेवाली जंजीरों को तोड़ना है। इसके बिना भारतीय समाज में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता।

ooo